707

आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान

M.T. & R.C.S.
LIBRARY
Medical College, Kharghar

: लेखक :

वैद्य हरीदास श्रीधर कस्तुरे

एम० ए०

जी० सी० ए० एम० (हैदराबाद) , एच० पी० ए० (जामनगर)

काव्यतीर्थ, सुपरिन्टेंडेंट, श्रीमती मणिबेन अमृतलाल

हरगोवनदास सरकारी आयुर्वेदिक हॉस्पिटल,

अहमदाबाद (गुजरात राज्य)

: प्रकाशक :

श्री *बैद्यनाथ* आयुर्वेद भवन लि०

कलकत्ता * पटना * झाँसी * नागपुर * नैनी (इलाहाबाद)

प्रथम संस्करण	: १९७०	नवम् संस्करण	: २००६
द्वितीय संस्करण	: १९७९	दशम् संस्करण	: २००७
तृतीय संस्करण	: १९८५	एकादश संस्करण	: २००८
चतुर्थ संस्करण	: १९९३	द्वादश संस्करण	: २००९
पंचम् संस्करण	: १९९७	त्रयोदश संस्करण	: २०१०
षष्ठम् संस्करण	: २०००	चतुर्दश संस्करण	: २०११
सप्तम् संस्करण	: २००२	पंचदश संस्करण	: २०१२
अष्टम् संस्करण	: २००५	षोडश संस्करण	: २०१३

सप्तदश संस्करण : २०१४

मुख्य वितरक

१. किताब महल एजेन्सीज
२२, सरोजनी नायडू मार्ग
इलाहाबाद - २११००१
फोन : ०५३२-६५४४१५४

२. किताब महल पब्लिशर्स
८, हरि सदन, (ग्राउण्ड फ्लोर)
२०, अंसारी रोड, दरियागंज
नई दिल्ली - ११०००२
फोन : ०११-२३२७३२३०; ०९३११९८०१२१
फैक्स : ०११-२३२८९२८५
E-mail : kitab_mahal@hotmail.com

३. किताब महल एजेन्सीज
अशोक राजपथ
पटना-८००००४
फोन : ०६१२-२३०३५३१

मूल्य : ₹ २६०.०० रुपये

प्रकाशक : श्री बैद्यनाथ, आयुर्वेद भवन लिमिटेड, नैनी, इलाहाबाद।
(रजि. कार्यालय १, गुप्ता लेन, कलकत्ता-६)

मुद्रक : किताब महल प्रिन्टिंग डिवीजन, २२, सरोजनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद।

A.M.I. & R.C.S.
LIBRARY
Ayurvedic Medical College, Kharghar

शुभकामना

मुझे यह जानकर बहुत प्रसन्नता हुई कि **"आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान" प्रकाशित** होने जा रहा है। पंचकर्म का इस प्रकार का बढ़ावा वास्तव में आयुर्वेद की उन्नति है, आयुर्वेद की पूजा है।

आयुर्वेद का शास्त्र विस्तृत होते हुए भी आज जटिल रोगों को मिटाने की समस्या चिंताप्रद है। यह चिंता निवारण के लिये श्रेष्ठतम उपचार कराने की शक्ति पंचकर्म में है।

भाई कस्तुरे गुजरात की सुप्रसिद्ध अखंडानंद आयुर्वेद अस्पताल में पंचकर्म विभाग के सफल चिकित्सक रहे हैं। पंचकर्म विभाग की प्रतिष्ठा उनकी देन है। पंचकर्म विज्ञान की सैद्धांतिक दृष्टि और क्रियात्मक अनुभव के बल पर पोलियो (बाल लकवा) जैसे जटिल व्याधि का अनुसंधान (Rescarch) का आपका कार्य सराहनीय है।

आयुर्वेद समाज के चिरपरिचित श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि० के मैनेजिंग डायरेक्टर पंडित रामनारायण शर्मा वैद्यजी ने यह ग्रंथ प्रकाशित करने के लिये जो उत्तरदायित्व लिया है, मैं उनको शतशः हार्दिक बधाई देता हूँ। अपनी शुभ कामना के साथ मैं आशा करता हूँ कि यह ग्रंथ आयुर्वेद के छात्रगण और वैद्य समाज के लिये अतीव महत्त्वपूर्ण होगा।

गोविंदप्रसाद वैद्य
आयुर्वेद परामर्शदाता, गुजरात सरकार, अहमदाबाद

LIBRARY
7073
Ayurvedic Medical College, Khargher

शुभसम्मति

"आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान" नामक, वैद्य ह० श्री कस्तुरेजी द्वारा लिखित ग्रंथ अवलोकनार्थ मिला। जिस प्रकार अष्टांगहृदय और माधवनिदान ग्रंथ के पढ़ने में एक अनुभूति होती है वैसी विशेष अनुभूति इसमें होती है। "नाना मुनीनां वचनैः" संकलित माधवनिदान "नाना तंत्र विहीनानां भिषजामल्पमेधसाम्" के लिये जैसा अत्युपयुक्त समझा जाता है वैसे ही पंचकर्म विषय पर ऋषियों के वचनों को संकलित कर सरल भाषा में लिखा हुआ यह ग्रंथ उपयुक्तता में अग्रसर रहेगा ऐसा लगता है।

यह ग्रंथ आयुर्वेद के सब प्रकार के समाज के लिये प्रत्युपयोगी सिद्ध होगा। आजकल विद्यार्थियों को पंचकर्म विषय स्वतंत्र विषय के रूप में रखा गया है। इस ग्रंथ की रचना योजनाबद्ध है और सभी विषय शास्त्रीय आधार पर स्पष्ट रूप से विवरण किये गये हैं। इससे स्नातक कक्षा के विद्यार्थियों को पाठ्य विषय का ज्ञान उपलब्ध होगा। स्नातकोत्तर शिक्षण तथा अन्वेषण में लगे हुए छात्रों को प्रत्येक अध्यायान्त में चरकादि ग्रंथ से दी हुई संदर्भ आदि, तथा कार्मुकता का विवरण इन समस्या को समझने में और हल करने में एक पथ-प्रदर्शक के रूप में उपर्युक्त सामग्री होगी। इसी तरह प्रत्यक्ष कर्मा भिषग् को प्रत्येक विषय क्रमानुसार समझाया गया है जिससे नितांत उपयोगी होगा।

अन्ततः, मैं समझता हूँ कि रोगी को रोगमुक्त करने के लिये जो सही उपाय आयुर्वेद संहिता में निर्दिष्ट किये गये हैं उनका उचित दिग्दर्शन इस ग्रंथ में किया गया है। जिससे मैं आशा रखता हूँ कि सब कार्यक्षेत्र में लगे हुए वैद्य महानुभाव इस ग्रंथ का एकबार जरूर अध्ययन करेंगे।

खं० छ० बारोट
डायरेक्टर ऑफ आयुर्वेद
अहमदाबाद (गुजरात राज्य)

प्राक्कथन

"आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान" नामक यह ग्रंथ विज्ञ एवं विज्ञानप्रेमी वाचकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे परम संतोष होता है। गत एक तप तक पंचकर्म विषय में कृत अध्ययन अध्यापन, तथा प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर लिखित यह ग्रंथ इस विषय पर संभवतः प्रथम ही अनोखा वैशिष्ट्यपूर्ण ग्रंथ होगा ऐसा कहने में आत्मश्लाघा का दोष नहीं आयेगा ऐसी आशा है—किंतु वैसी वस्तुस्थिति है। विगत वर्षों में ऐसे ग्रंथ की त्रुटि मुझे भी कठिनाइयों में डालती रही है। ईश्वर की कृपा से और सद्भाग्य से मुझे स्नातक, स्नातकोत्तर रिफ्रेशर, अन्वेषक तथा नर्सेस इन सब स्तर के छात्रों को इस विषय का अध्यापन करने का मौका मिला है। इसी तरह आतुरालय कार्य और अन्वेषण कार्य की कुछ उत्तरदायित्व निभाने का सुअवसर प्राप्त हो सका है। एक तप—अर्थात् बारह वर्ष-यद्यपि बहुत अधिक काल नहीं है—तथापि एक अत्यंत भीडवाले आतुरालय-विशाल अंतरंग विभाग के कार्य का यह काल अल्प भी निश्चित नहीं है। इस अधिकार को ग्रहण कर मैंने आपके समक्ष यह ग्रंथ प्रस्तुत करने की चेष्टा की है।

इसके लेखन में प्रधानतया तीन उद्देश्य सामने रखे थे। एक वैद्यकीय छात्र को पंचकर्म का शास्त्रीय परिचयात्मक पाठ्यग्रंथ प्राप्त हो। दूसरा-प्रत्यक्ष कर्म में जो वैद्य व्यवसाय में लगे हुए हैं उन्हें प्रत्यक्षकर्मों की वैज्ञानिक पद्धति मिल जाए तथा तीसरा उद्देश्य—स्नातकोत्तर छात्रों को एवं अन्वेषकों को अपने विषय में समस्याएं, समस्याओं को सुलझाने की विचारपद्धति इस बारे में अल्प-स्वल्प सहाय्यभूत हो सके। इसमें कितनी सफलता प्राप्त हुई है यह निर्णय विज्ञ मर्मज्ञों को तथा उपर्युक्त तीन अधिकारियों को स्वयं करना है।

इस ग्रंथ के लेखन में एक और ध्यान इसका रखा गया है कि यह ग्रंथ हाथ में होने पर पंचकर्म संबंध में सहाय्यार्थ अन्य किसी ग्रंथ की आवश्यकता न पड़े। एतदर्थ-तद्विषयक द्रव्यगुणशास्त्र, भैषज्य कल्पना शास्त्र, रसशास्त्र, शारीर विज्ञान, प्राणिशास्त्र इत्यादि का जहां संबंध आता हो, उस विषय की उपयोगी सामग्री इसी ग्रंथ में प्रस्तुत की है। जिससे यह अपने में स्वयंपूर्ण ऐसा ग्रंथ हो सके ऐसा प्रयास किया गया है। पंचकर्म विषय में जो जो सामग्री संहिता ग्रंथों में मिल सकी उसे 'बुद्धियोग' 'स्वानुभूति' के निष्कर्ष पर रख इसमें प्रस्तुत किया है। प्रत्येक कर्म को प्रत्यक्ष करने में सुविधा—तथा उसके पीछे रहा हुआ शास्त्र भी अवगत हो—इस प्रकार—पूर्वकर्म, प्रधानकर्म और पश्चात्कर्म—शीर्षकों के द्वारा विशद किया गया है। शास्त्रीय परिभाषाओं का ध्यान इसलिये रखा है कि छात्रगण, वैद्यगण, तथा अनुभूति से आतुरगण-जन-संमर्द—इनमें ये शब्द सर्वश्रुत हो जाये। पंचकर्म के विषय में मुझे जो कुछ कहना था वह मैंने "विषय प्रवेश विज्ञान" नामक प्रथम अध्याय में कह दिया है। यहां तो कुछ और ही कहना है।

इस ग्रंथ के निर्माण में मुझ पर अनेक महानुभावों का ऋण है। जामनगर के स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केंद्र तत्कालीन पंचकर्म विभागाध्यक्ष, और वर्तमान—भारत सरकार के आयुर्वेद परामर्शदाता **डॉ० पी० एन० वासुदेव कुरुप साहब** जैसे **"दक्षस्तीर्थाप्त शास्त्रार्थी दृष्टकर्मा शुचिर्भिषक्"** के मार्गदर्शन के नीचे आपके सहायक के रूप में काम करने का सद्भाग्य मुझे मिला। आपके प्रवचनों, अध्यापन, मनन, निदध्यास के इस यज्ञ में आहुति डालने के लिये मेरा दैव यदि बलवत्तर न होता तो संभवतः मैं इस विषय पर कदापि अधिकार लेखनी से लिखने में क्षम न होता, तथापि आप मेरे लिये न केवल विभागाध्यक्ष और साहब रहे हैं अपितु एक बंधु और स्वकीयजन—आप्त होकर रहे हैं। अतएव

स्वकीय और आप्तजनों के ऋण में निर्देश से मुक्त होने का प्रश्न ही नहीं है। बेहतर यही है कि ऐसे ऋण में बारंबार रहने का सद्भाग्य प्राप्त होता रहे ऐसी कामना करना।

अखंडानंद आयुर्वेदिक सरकारी हॉस्पिटल और कॉलेज के अधीक्षक तथा **प्राचार्य वैद्य श्री० के० सदाशिव शर्माजी** एक ऐसे ही आप्त हैं—जिनके बारे में, "वाचमर्थोनुधावति" यह उक्ति आयुर्वेद क्षेत्र में चरितार्थ होती है। इस ग्रंथ के शास्त्रीय चर्चा में, समस्याओं में अपने निरलस चर्चा करने का सुअवसर मुझे दिया जिसका अतीव मौलिक लाभ हुआ है। मैं आपका और इसलिये भी कृतज्ञ हूँ कि आतुरालयीन अन्वेषणार्थ आपने मुझे हर प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की हैं।

गुजरात राज्य के आयुर्वेद निर्देश—**वैद्यराज श्री खंडुभाई बारोट साहब** का मैं अत्यंत कृतज्ञ हूँ—जो निरतिशय प्रेमपूर्वक विभागीय कामकाज में मुझे सुविधाएं परामर्श देकर मेरा उत्साह सतत बढ़ाते रहे हैं।

इस ग्रंथ लेखन के कार्यकाल में मैंने अनेक वैद्यवर्यों के साथ प्रत्यक्ष अथवा पत्राचार से परामर्श प्राप्त किया है तथापि स्नातकोत्तर प्रशिक्षण केन्द्र के भूतपूर्व **स्व० भास्कर विश्वनाथजी गोखले**, भू० पू० प्राचार्य **श्री द० अ० कुलकर्णी, प्रा० श्री वासुदेवभाई द्विवेदी, प्रा० श्री विश्वनाथजी द्विवेदी तथा प्रा० श्री द्वारकानाथ जी** जिनके प्रवचनों का मेरे आयुर्वेदीय दृष्टिकोण के निर्माण में महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहा है मैं आपको आजीवन भूल नहीं सकता। **वैद्यराज श्री गोविंद प्रसादजी—आयुर्वेद परामर्शदाता— गुजरात राज्य, वैद्य नटवर प्रसादजी शास्त्री**—प्रमुख गुजरात वैद्य सभा, अहमदाबाद आदरणीय **वैद्य मनिषी नारायण हरि जोशी—बम्बई, वैद्य त्र्यं म० गोगटे अमरावती** इन सभी महानुभावों का मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने मुझे सदा ही अभीप्सित सहाय्य किया है। इस ग्रंथ के कलेवर निर्माण में मेरे अनेक मित्रों का अमूल्य सहाय्य हुआ है—जिनमें **वैद्य श्री एस० बी० गुप्ता** का व्यक्तिमत्व अविस्मरणीय है। **श्री यशवंत सोनेवणेजी** ने ग्रंथ के चित्र निर्माण में तथा 'संदेश' पत्र के फोटोग्राफर **श्री कल्याणभाई शाहजी** ने विज्ञानोपयोगी फोटोग्राफ तैयार करने में जो तत्परता दिखाई है मैं उनका अभारी हूँ।

अंत में श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन के संचालक आदरणीय **वैद्य श्री रामनारायण जी शर्मा**, जो उदारतत्व और आयुर्वेद के एकनिष्ठ सेवक हैं—प्रधान अधिष्ठाता हैं—आपका मैं बहुत कृतज्ञ हूँ—न केवल इसलिये कि आपने इस ग्रंथ का समयोचित प्रकाशन किया है—बल्कि बारंबार सहृदय पत्रों द्वारा मुझे लेखन कार्य में प्रवृत और प्रोत्साहित किया है। आपके उदार आश्रय तथा मनोनीत कार्य में आपने जो परम्परा कायम की है वैद्य समाज उससे हमेशा कृतज्ञ है।

और अंत में इस ग्रंथ की त्रुटियों, उपयुक्त सुधारों, सूचनाओं के लिये सभी विद्वज्जनों को आवाहन करते हुए मैं आश्वासित करता हूँ कि ऐसे परामर्शों का मैं इस विषय के विद्यार्थी के नाते सतत् स्वागत करूँगा।

२४-८-७०
अहमदाबाद

वैद्य विनम्र
वैद्य हरीदास श्रीधर कस्तुरे

Y.M.T. & R.C.S.
LIBRARY
Ayurvedic Medical College, Kharghar

चतुर्थ संस्करण का प्रकाशकीय निवेदन

विद्वान् पाठकों के समक्ष प्रस्तुत ग्रन्थ का 'चतुर्थ संस्करण' प्रस्तुत करके हमें काफी सन्तोष हुआ है। यद्यपि इस ग्रन्थ का पूर्व संस्करण काफी पहले ही समाप्त हो गया था, परन्तु समयाभाव के कारण नया संस्करण निकाल पाना सम्भव नहीं हो सका—इसका हमें हार्दिक खेद है। इसके लिए हम क्षमा चाहते हैं। आज ग्रन्थ का चतुर्थ संस्करण विद्वज्जनों के करकमलों में प्रस्तुत है। ग्रन्थ के मूल्य में जो आंशिक वृद्धि हुई है वह इसके प्रकाशन व्यय का लागतमात्र ही है। हमारा काम तो आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति का प्रचार-प्रसार करना ही है। हमें आशा है कि विद्वद् वर्ग ग्रन्थ को पूर्ववत् समादृत करके हमारी आयुर्वेदीय उत्थान परम्परा में अपना स्नेह सहयोग प्रदान करेंगे।

नागपुर
माघकृष्ण अमावस्या सं० २०४९
२२ जनवरी १९९३

विनम्र
प्रकाशन विभाग
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

पांचवाँ संस्करण

आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान का पांचवा संस्करण सन् १९९७ में प्रकाशित किया जा रहा है। सन् १९७० में प्रथम संस्करण से लेकर आजतक के इस अवधि में आयुर्वेद के प्रति कितनी लोकप्रियता और विश्वास है यह पांचवें संस्करण के माध्यम से साकार होता है। इस संस्करण में और भी सुधार किया है। परिशिष्ट विमर्श द्वितीय भाग द्वारा जनता को महत्त्वपूर्ण सविस्तार रूप से जानकारी दी है।

आयुर्वेद का उत्तरोत्तर विकास तथा ग्रंथ के बढ़ती माँग को देखकर इस ग्रन्थ के प्रकाशन से हमें अतिहर्ष हो रहा है, साथ ही यह हमारा सौभाग्य है।

नागपुर-९
२६ जनवरी, गणतंत्र दिन
सन्—१९९७

विनम्र
प्रकाशन विभाग
श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन लि०

आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान

विषयानुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ
१.	**प्रथम अध्याय**	
	विषय प्रवेश विज्ञान	**१-३७**
	ग्रंथ प्रयोजन	१
	पंचकर्म का सामान्य परिचय–	
	'कर्म' विचार	२
	'पंच' का विचार	३
	'पंचकर्म' का सामान्य विचार	५
	पंचकर्म और शोधन	७
	पंचकर्म का विस्तार	७
	पूर्वकर्म	९
	प्रधानकर्म	९
	पश्चात्कर्म	१०
	'पंचकर्मचिकित्सा' का मूलस्रोत	१०
	पंचकर्म प्रयोग विषय	१४
	संशोधनार्हों में भी संशोधन कब न करें?	१५
	पंचकर्म प्रयोजन	१६
	१. स्वस्थ मनुष्यों में पंचकर्म	१६
	२. रसायनादि असाधारण गुण प्राप्ति के लिये पंचकर्म	२०
	३. रोगानुसार पंचकर्म	२०
	पंचकर्म क्रम में आवश्यक काल का विचार	२०
	पंचकर्म में परिहार क्या है?	२२
	अष्ट महादोषकर वर्ज्य विषय	२२
	पंचकर्माभ्यास के उपाय	२४
	पंचकर्म चिकित्सक कैसा हो ?	२४
	पंचकर्म का महत्त्व	२५
	चिकित्सा शास्त्र में पंचकर्म का स्थान : एक ऐतिहासिक अवलोकन	२८
२.	**द्वितीय अध्याय**	
	स्नेह विज्ञान	**३८-१३४**
	व्याख्या	३८
	स्नेह का सामान्य परिचय	३९
	स्नेह द्रव्यों के गुण	३९
	स्नेह द्रव्यों का भौतिक संगठन	४१
	स्नेह भेद	४२
	स्नेहाशय द्रव्यों की परिचय तालिका	४५
	उत्तम स्नेह	४८
	उत्तम स्नेहों के गुण एवं उपयोग	५१
	स्नेह्यास्नेह्य का विचार : स्नेह्य या स्नेहन योग्य	५५
	अस्नेह-स्नेह के लिये अयोग्य	५६
	स्नेहपाक विधि	५७
	स्नेहपाक लक्षण	५८
	स्नेहपाक भेद	५८
	पाक भेद से प्रयोग भेद	५९
	स्नेहन विधि	६०
१.	**पूर्वकर्म**	
	१. आतुर परीक्षा	६०
	२. स्नेहन कालावधि तथा मात्रा का निर्णय	६१
	३. स्नेहपूर्व भोजनादि की व्यवस्था	६५
	४. स्नेहनार्थ द्रव्य संग्रह	६६
२.	**प्रधानकर्म**	
	१. स्नेह प्राशन विधि	६६
	२. स्नेह जीर्ण लक्षणों का निरीक्षण	६८
	३. स्निग्धास्निग्ध लक्षणों का निरीक्षण	६९
	४. स्नेह व्यापद एवं प्रतिकार	७१
३.	**पश्चात्कर्म**	७२
	स्नेह का आनुषंगिक विचार	७४
	१. अच्छपेय स्नेह	७४
	२. स्नेह विचारणाएं	७४
	३. सद्यः स्नेह	७६
	४. स्नेह में ऋत्वादि का विचार	७७
	५. स्नैहिक धूम	७७
	६. स्नेहोत्तर-स्वेदन वमनादि का विचार	७७
	आधुनिक स्नेह द्रव्य	७८
	बाह्य स्नेह	८२
	अभ्यंग	८३
	लेप	८७
	उद्वर्तन-उत्सादन	८८
	मर्दन-उन्मर्दन	८९
	पादाघात	८९
	परिषेक	९०
	संवाहन	९१
	गंडूष	९१
	मूर्ध तैल-शिरस्तर्पण	९२
	१. शिरोभ्यंग	९३
	२. सिर : सेक	९३
	तक्रधारा	९५
	तक्रधारा के गुण	९६
	३. पिचु	९६
	४. शिरोबस्ति	९६
	अक्षितर्पण	९८
	नासा तर्पण	१००
	कर्णपूरण	१००
	मस्तिष्क्य	१००
	स्नेहावगाहन	१००
	स्नेह की कार्मुकता	१०१
	स्नेह पूर्वकर्म की दृष्टि से कार्मुकता	१०३
	स्नेह शरीर	१०४
	चरकोक्त कतिपय स्नेह प्रयोग	१०८
३.	**तृतीय अध्याय**	
	स्वेद विज्ञान	**१३५-१९७**
	स्वेद की व्याख्या	१३५
	स्वेद का सामान्य परिचय	१३५
	स्वेदन द्रव्यों के गुण एवं कर्म	१३६
	स्वेदन द्रव्यों का परिचय	१३८
	स्वेद के प्रकार	१४५
	स्वेदन योग्यायोग्यों का विचार	१५०
	स्वेदनार्ह	१५०
	अस्वेदनार्ह	१५१
	भिन्न-भिन्न स्वेद की विधि	१५२
	संकर स्वेद	१५२
	षष्टिक शाली पिंडस्वेद	१५३
	षष्टिक प्रायोगिक विधि	१५३
	अन्नलेपन	१५५
	बालुका स्वेद	१५६
	प्रस्तर स्वेद	१५७
	नाड़ी स्वेद	१५७
	बाष्पस्वेद के अन्य प्रकार	१५९
	परिषेक स्वेद	१६०
	धारा कल्प में वर्णित स्नेहधारा स्वेद	१६०
	पिषिंचिल स्वेद की प्रायोगिक विधि	१६२
	अवगाह स्वेद	१६५
	जेन्ताक स्वेद	१६६
	अश्मघन स्वेद	१६७
	कर्षु स्वेद	१६८
	कुटी स्वेद	१६८
	भू-स्वेद	१६८
	कुंभी स्वेद	१६८
	कूप स्वेद	१६८
	होलाक स्वेद	१६९
	तापादि चार प्रकार के स्वेद :	
	१. ताप स्वेद	१६९
	२. ऊष्म स्वेद	१७०
	३. उपनाह स्वेद	१७०
	४. द्रव स्वेद	१७२
	स्वेद विधि-विधान	१७२
	१. पूर्वकर्म	१७२
	२. प्रधानकर्म	१७४
	३. पश्चात्कर्म	१७६
	स्तंभन चिकित्सा	१७७
	स्वेद की कार्मुकता	१७८
	स्वेद के अन्य कार्य	१७८
	स्वेद शरीर	१८०

क्रम	विषय	पृष्ठ
	रोगावस्थानुसार चरकोक्त कतिपय स्वेद संदर्भ	१८२
४. चतुर्थ अध्याय		
	वमन विज्ञान	**१९८-२७३**
	व्याख्या	१९८
	वमन का सामान्य परिचय	२००
	वामक द्रव्यों के गुणकर्म	२००
	वमन द्रव्य	२०१
	मदनफल	२०२
	चरकोक्त वामक द्रव्य	२०४
	अन्यान्य संदर्भों से वमन द्रव्य	२०४
	सुश्रुतोक्त वामक द्रव्य	२०५
	वाग्भटोक्त वामक द्रव्य	२०६
	वमन द्रव्यों का सामान्य परिचय दर्शक तालिका	२०७
	प्रमुख प्रयोग भेद	२१५
	वम्य तथा अवम्य का विचार : तालिका	२१६
	अयोग्यों में वमन कराने से संभाव्य विकार	२२०
	वमनविधि-विधान	२२१
	१.पूर्वकर्म	
	१. संभार संग्रह	२२२
	२. आतुर परीक्षा	२२३
	३. वमनयोग-मात्रा विनिर्णय	२२४
	४. आतुर सिद्धता	२२६
	२.प्रधानकर्म	
	१. मदनफलयोग का सेवन	२२८
	२. आतुर परिचर्या एवं निरीक्षण	२२९
	३. वमन वेगों का विनिर्णय एवं कर्तव्य	२३२
	४. सम्यक्-हीन तथा अतिवांत के लक्षणों का निरीक्षण तथा कर्तव्य	२३३
	५. वमनव्यापत निरीक्षण एवं तत्प्रतिकार	२३६
	३. पाश्चात्कर्म	
	१. धूम्रपान	२४०
	२. आतुर के परिहार्य विषय	२४०
	३. संसर्जन क्रम	२४१
	४. संतर्पण चिकित्सा	२४३
	५. वमनोत्तर शोधन की चिकित्सा	२४४
	चरकोक्त वमन कल्प	
	१. मदनफल के वामक योग	२४५
	२. जीमूतक के वामक योग	२४८
	३. ईक्ष्वाकु के वमन योग	२४९
	४. धामार्गव के वमन योग	२५०
	५. कुटज के वमन योग	२५१
	६. कृतवेधन (कोशातकी) के वमन योग	२५२
	रोगावस्थानुसार चरकोक्त कतिपय वमन संदर्भ	२५३
	वमन का कार्मुकत्व	२५६
५. पंचम अध्याय		
	विरेचन विज्ञान	**२७४-३४३**
	विरेचन व्याख्या	२७४
	विरेचन का सामान्य परिचय	२७४
	विरेचन द्रव्यों के गुणकर्म	२७५
	विरेचन द्रव्य :	
	चरकोक्त विरेचन द्रव्य	२७५
	सुश्रुतोक्त विरेचन द्रव्य	२७७
	वाग्भटोक्त विरेचन द्रव्य	२७८
	विरेचन के भेद	२७८
	विरेचन द्रव्यों का सामान्य परिचय दर्शन तालिका	२७९
	विरेचन द्रव्यों के प्रयोग भेद	२८७
	विरेचन योग्यायोग्यों का विचार	२८९
	अविरेच्य तालिका	२८९
	विरेच्य तालिका	२९१
	विरेचन विधि विधान	२९४

क्रम	विषय	पृष्ठ
	१.पूर्व कर्म	
	१. संभार संग्रह	२९४
	२. आतुर परीक्षा	२९४
	३. आतुर सिद्धता	२९५
	४. मात्रा विनिश्चय	२९६
	२.प्रधान कर्म	
	१. विरेचन योग का सेवन	२९८
	२. आतुर परिचर्या एवं निरीक्षण	२९८
	३. वेग विनिर्णय	३००
	४. सम्यक योग-अयोग तथा अतियोग लक्षणों का निरीक्षण	३००
	५. विरेचन व्यापत् एवं प्रतिकार	३०४
	३.पश्चात्कर्म	
	१. संसर्जन क्रम	३११
	२. तर्पण एवं शमनौषध	३११
	३. परिहार्य विषय	३११
	४. विरेचनोत्तर कर्म का विचार	३१२
	विरेचन उपयोगी कतिपय योग	**३१२**
	सुश्रुत के कतिपय योग	३१२
	काश्यप के कतिपय विरेचन योग	३१३
	शार्ङ्गधर के कतिपय विरेचन योग	३१३
	चरकोक्त विरेचन योग	**३१३**
	१. श्यामा त्रिवृत के विरेचन योग	३१४
	२. चतुरंगुल (आमलतास) के विरेचन योग	३१७
	३. तिल्वक (लोध्र) के विरेचन योग	३१८
	४. सुधा (स्नुही) के विरेचन योग	३१९
	५.सत्पला शंखिनी के विरेचन योग	३१९
	६. दंती द्रवंती के विरेचन योग	३२०
	रोगावस्थानुसार चरकोक्त कतिपय विरेचन संदर्भ	३२३
	विरेचन औषधि का कार्मुकत्व	३२८
	विसृष्ट द्रव्यों का शारीर विचार	३३२
६. षष्ठ अध्याय		
	बस्ति विज्ञान	**३४४-४४४**
	व्याख्या	३४४
	सामान्य परिचय	३४४
	बस्ति प्रकार	३४५
	बस्त्युपयोगी द्रव्यों का विचार	३५०
	बस्ति योग्यायोग्यों का विचार	३५३
	अनास्थाप्य	३५५
	अनास्थाप्यों में आस्थापन देने से संभाव्य विकार	३५६
	आस्थाप्य	३५७
	अननुवास्य	३६०
	अनुवासन अयोग्यों में अनुवासन से संभाव्य विकार	३६०
	बस्तियंत्र-विचार	३६१
	बस्ति नेत्र	३६१
	बस्ति पुटक	३६६
	बस्तिदान विधि	३६८
	१.निरुह या आस्थापन बस्ति	३६८
	१.पूर्वकर्म	
	१. दोषविचार	३६९
	२. औषध	३७०
	३. देश	३७३
	४. काल	३७४
	५. सात्म्य	३७४
	६. अग्नि	३७४
	७ सत्व	३७४
	८. ओक	३७४
	९. वय	३७४
	१०. बल	३७५

क्रम	विषय	पृष्ठ
	२. प्रधानकर्म	३७६
	१. बस्ति प्राणिधान	३७६
	२. बस्ति प्रत्यागम एवं निरीक्षण	३७८
	३. योगायोगति लक्षणों का निरीक्षण	३७८
	३. पश्चात्कर्म	३७९
	१. बस्त्युत्तर तुरंत विचारणीय विषय	३७९
	२. पथ्यादि तथा अन्य बस्ति विचार	३७९
	३. बस्ति व्यापत् तथा प्रतिकार	३८१
	२.६ अनुवासन बस्ति	३९०
	अनुवासनपूर्व विचारणीय नियम	३९०
	अनुवासन विधि विधान	३९२
	१. पूर्वकर्म	
	१. अभ्यंगादि कर्म	३९२
	२. भोजन	३९२
	३. चक्रमणादि	३९२
	२. प्रधानकर्म	
	बस्ति प्रणिधान	३९३
	३. पश्चात्कर्म	
	१. बस्ति प्रत्यागम	३९३
	२. पथ्य एवं अन्य बस्ति विचार	३९४
	३. स्नेह बस्ति व्यापद तथा चिकित्सा	३९४
	मात्राबस्ति	३९६
	३. उत्तरबस्ति	३९७
	उत्तरबस्ति नेत्र	३९७
	उत्तरबस्ति पुटक	३९७
	उत्तरबस्ति विधि विधान	३९८
	१. पूर्वकर्म	
	१. आतुर परीक्षा एवं उत्तरबस्ति विनिश्चय	३९८
	२. आतुर सिद्धता	४००

क्रम	विषय	पृष्ठ
	२. प्रधानकर्म	
	१. बस्ति प्राणिधान	४००
	२. निरीक्षण	४००
	३. पश्चात्कर्म	४०१
	रोगानुसार चरकोक्त कतिपय बस्ति संदर्भ	४०२
	बस्ति का कार्मुकत्व	४०५
	बस्ति के प्रयोगार्ह कतिपय कल्प	४११
	निरुह कल्प भिन्न-भिन्न कल्प	४११
	यापन बस्तियाँ	४१५
	रसायन एवं बाजीकरण बस्तियाँ	४१७
	अनुवासन बस्ति कल्प	४१८
	वृष्यतम स्नेह	४१९
	उत्तरबस्ति कल्प	४१९
	७. सप्तम अध्याय	
	नस्य विज्ञान	**४४५-४९२**
	व्याख्या एवं सामान्य परिचय	४४५
	नासा शारीर	४४५
	नस्य में प्रयुक्त द्रव्य	४४६
	नस्य के प्रकार	४५०
	नावननस्य	४५२
	शमनीड नस्य	४५४
	धूपन अथवा प्रधमन नस्य	४५५
	धूमनस्य	४५५
	मर्श-प्रतिमर्श नस्य	४५६
	प्रतिमर्श नस्य में काल विचार	४५७
	नस्य योग्यायोग्यों का विचार	४५८
	अनस्यार्ह तालिका	४५८
	अयोग्यों में नस्य देने से संभाव्य विकार	४५९
	नस्यार्ह-नस्य के योग्य	४६०
	नस्य विधि-विधान	४६१
	१. पूर्वकर्म	
	१. संभार संग्रह	४६१

क्रम	विषय	पृष्ठ
	२. आतुर वय एवं काल विचार	४६२
	३. आतुर सिद्धता	४६४
	२. प्रधानकर्म	
	१. नस्य आसन तथा नस्य कर्म	४६४
	२. नस्योत्तर परिचर्या एवं निरीक्षण	४६५
	३. व्यापद प्रतिकार	४६६
	३. पश्चात्कर्म	
	१. नस्योत्तर तत्कालीन पश्चात्कर्म	४६७
	२. धूम्रपान	४६७
	३. केवलग्रह तथा गंडूष	४७२
	४. नस्योत्तर भोजनादि का विचार	४७३
	५. परिहार्य विषय तथा नस्योत्तर कर्म का विचार	४७३
	चरकोक्त कतिपय नस्य प्रयोग संदर्भ	४७४
	नस्य के कतिपय योग	४७७
	नस्य की कार्मुकता	४७८
	८. अष्टम अध्याय	
	रक्तमोक्षण विज्ञान	**४९३-५८८**
	सामान्य परिचय	४९३
	रक्त वर्णन	४९३
	रक्त की उत्पत्ति एवं कार्य	४९४
	शुद्धरक्त के गुण एवं लक्षण	४९५
	रक्त के कार्य	४९६
	रक्तसारता	४९७
	रक्त दुष्टि के हेतु	४९७
	दुष्ट रक्त के लक्षण	४९८
	रक्तप्रदोषज विकार (रक्त मोक्षणार्ह रोग)	४९९
	रक्तमोक्षण के लिये अयोग्य	५०१
	रक्तमोक्षण योग्यकाल	५०१

क्रम	विषय	पृष्ठ
	रक्तमोक्षण के प्रकार	५०१
	१. जलौकावचारण	५०४
	जलौका परिचय	५०४
	सविष जलौकाएं	५०७
	निर्विष जलौकाएं	५०७
	जलौकावचारण विधि	५०९
	१. पूर्व कर्म	
	१. जलौका संग्रहण तथा पोषण	५०९
	२. जलौकावचारण विधि जलौका साध्य आतुरों की परीक्षा	५१०
	३. रक्तमोक्षण पूर्व जलौका शोधन	५११
	४. आतुर सिद्धता	५११
	२. प्रधानकर्म	५११
	१. प्रयोग	५११
	२. निरीक्षण	५१२
	३. पश्चात्कर्म	
	१. जलौका का उपचार	५१२
	२. आतुर का उपचार	५१३
	३. जलौकावचारण में अवधान	५१४
	२. सिराव्यध	५१५
	सिरावर्णन	५१५
	वेध्यावेध्य सिराएं तालिका	५१८
	सिराव्यध विधि	५१९
	१. पूर्वकर्म	
	१. सिराव्यध योग्य अयोग्य आतुरों का विचार	५२०
	२. उपकरण सिद्धता	५२१
	३. आतुर सिद्धता	५२२
	२. प्रधानकर्म	
	१. सिराव्यध में आसन	५२२
	२. रोगानुसार वेध्य सिराओं का विचार	५२३

क्रम	विषय	पृष्ठ
	३. सिरावेधन में निरीक्षण एवं उपचार	५२६
	४. दुष्ट विद्ध सिराओं का निरीक्षण	५२८
	३. पश्चात्कर्म	
	१. उपद्रवों की चिकित्सा	५३०
	२. परिहार्य विषय	५३०
	३. शमनौषधि चिकित्सा	५३१
	४. प्रच्छान विधि	५३१
	५. शृंगावचारण विधि	५३१
	६. अलाबु अवचारण विधि	५३२
	७. घटीयंत्र अथवा घटिका प्रयोग	५३४
	८. सूचि आदि साधनों द्वारा रक्तमोक्षण	५३५
	सुश्रुतोक्त रोगानुसार	
	रक्तमोक्षण का कार्मुकत्व	५३
	कतिपय रक्तमोक्षण संदर्भ	५३६
९. नवम अध्याय		
	उपकल्पनीय विज्ञान	**५५६-५९०**
	चरकमत	५५६
	१. भैषज्य की उपकल्पनाएं	५५९
	१. बला तैल अथवा धान्वंतर तैल	५५९
	२. क्षीरबला, क्षीरबला शतपाकी, क्षीरबला सहस्रपाकी तैल	५५९
	३. सहचर तैल	५५९
	४. प्रसारणी तैल	५५९
	५. नारायण तैल	५६०
	६. माष तैल	५६०
	७. विषगर्भ तैल	५६०
	८. चंदनबला लाक्षादि तैल	५६१
	९. पिंडतैल	५६१
	१०. शतपाकी यष्टीमधु तैल	५६१
	११. अष्टकट्वर तैल	५६१
	१२. रास्ना तैल	५६१
	१३. अस्थिमज्जा स्नेह प्रयोग	५६१
	१४. वेदनाहर तैल	५६१
	१५. सैंधवादि तैल	५६२
	१६. दशमूल तैल	५६२
	१७. अश्वगंधा तैल	५६२
	घृतयोग	
	१. तिक्तकघृत, महातिक्त पंचतिक्त घृत	५६२
	२. पंचतिक्त घृत गुग्गुल	५६३
	३. महा खदिर घृत	५६३
	४. इंदुकांत घृत	५६३
	५. सारस्वत घृत	५६४
	६. पंचगव्य घृत	५६४
	७. त्रिफला घृत	५६४
	८. अश्वगंधादि घृत	५६४
	९. कल्याण घृत	५६४
	अन्यघृत-उपयोग तथा अधिकार	५६४
	अन्य भैषज्य संग्रह	५६५
	१. इच्छाभेदी रस	५६५
	२. नाराच रस	५६५
	३. जलोदरादि रस	५६५
	४. आरग्वध हरीतकी फांट	५६५
	५. विरेचन कषाय	५६६
	६. बाल रेचन	५६६
	७. गंधर्व हस्तादि क्वाथ	५६६
	८. राजयापन बस्ति क्वाथ	५६६
	९. फलवर्ति	५६६
	२. आहार तथा पथ्य की उपकल्पनाएं	५६६
	१. मंडपेया विलेपी	५६६
	२. यूष निर्माण	५६७
	३. कृत और अकृत यूष	५६७
	४. मांसरस की कल्पना	५६८
	५. प्रमथ्या	५६८
	६. उष्णोदक	५६८
	७. भेषजसिद्ध जल	५६८
	८. मंथ	५६८
	९. सीधु	५६८
	१०. सुरा	५६८
	११. शुक्त कल्पना	५६८
	१२. कांजी वा कांजिक की कल्पना	५६९
	३. यंत्रादि उपकरण की उपकल्पनाएं	५६९
	१. अभ्यंग टेबल	५६९
	२. वाष्पस्वेदन	५७२
	३. अवगाह कोष्ठक	५७२
	४. तैल द्रोणी	५७५
	५. धारा टेबल	५७६
	६. धारा पात्र	५७९
	७. गलंती	५७९
	८. शिरोबस्ति यंत्र	५८१
	९. बस्ति नेत्र	५८१
	१०. उत्तरबस्ति यंत्र एवं उपयोगी उपकरण	५८१
	११. वमन पीठ	५८७
	१२. नस्य पीठ	५८८
	१३. कुठारिका शस्त्र	५८८
	१४. व्रीहिमुख शस्त्र	५८८
	मान परिभाषा	५८८
१०. दशम अध्याय		
	प्रतिरोग-पंचकर्म विवेचनीय विज्ञान	**५९१-६१२**
	प्रयोजन	५९१
	१. ज्वर	५९२
	२. रक्तपित्त	५९३
	३. गुल्म	५९४
	४. प्रमेह	५९५
	५. कुष्ठ	५९५
	६. राजयक्ष्मा	५९६
	७. उन्माद	५९६
	८. अपस्मार	५९७
	९. श्वयुथ (शोथ)	५९७
	१०. उदर	५९७
	११. अर्श	५९८
	१२. ग्रहणी	५९९
	१३. पांडु	६००
	१४. कामला हलीमक	६००
	१५. हिक्का श्वास	६००
	१६. कास	६००
	१७. अतिसार	६०१
	१८. च्छर्दि	६०१
	१९. विसर्प	६०२
	२०. तृष्णा	६०२
	२१. विष	६०२
	२२. मदात्यय	६०३
	२३. द्विव्रणीय	६०४
	२४. त्रिमर्मीय : उदावर्त-मूत्रकृच्छ्रदि	६०४
	२५. उरुस्तंभ	६०७
	२६. वातव्याधि	६०७
	२७. वातरक्त	६१०
	२८. योनिव्यापत्	६१०
	२९. शुक्रदोष	६११
	३०. स्तन्यदोष	६११
	३१. संदर्भ ग्रंथसूची	६१२
	३२. आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान **परिशिष्ट विमर्श-१**	**६१३-६३२**
	३३. आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान **परिशिष्ट विमर्श-२**	**६३३-६५४**

चित्र-सूची

क्रम	विवरण	पृष्ठ संख्या
१.	समर्पण-श्रीधर शास्त्री कस्तुरेजी	१
२.	अभ्यंग-अवस्था क्रमांक १	८०
३.	अभ्यंग-अवस्था क्रमांक २	८०
४.	अभ्यंग-अवस्था क्रमांक ३	८१
५.	अभ्यंग-अवस्था क्रमांक ४	८१
६.	अभ्यंग-अवस्था क्रमांक ५	८५
७.	शिरोधारा अवस्था	८६
८.	षष्टिकशाली पिंडस्वेद-एकांग	९५
९.	शिरोबस्ति विधि	९७
१०.	बाष्पस्वेदन १	१५८
११.	बाष्पस्वेदन २	१५९
१२.	पिषिंचल अथवा स्नेहधारा स्वेद	१६१
१३.	बस्ति प्रणिधान	३७५
१४.	नस्यविधि	४६३
१५.	जलौका (अ)	५०५
१६.	जलौका (ब)	५०५
१७.	अभ्यंग टेबल	५७०
१८.	बाष्पस्वेदन यन्त्र	५७१
१९.	अवगाह कोष्ठक	५७३
२०.	तैल द्रोणी	५७४
२१.	धारा टेबल	५७७
२२.	शिरोधारा पात्र	५७८
२३.	उपकल्पनीय विज्ञान	५८०
२४.	शिरोबस्ति यन्त्र	५८३
२५.	बस्तिनेत्र	५८४
२६.	विविध यन्त्र शस्त्र	५८६; ५८७

प्रथम अध्याय

विषय प्रवेश-विज्ञान

ग्रन्थ प्रयोजन

आयुर्वेद शास्त्र में पंचकर्म चिकित्सा पद्धति का एक अतीव गौरवास्पद स्थान है। चिकित्सा के आठ अंगों में—काय, बाल, ग्रह, ऊर्ध्वांग, शस्य, दंष्ट्रा (विष), जरा (रसायन) एवं वाजीकरण चिकित्सा तंत्रों में वैसे ही कायचिकित्सा का महत्त्वपूर्ण स्थान है और कायचिकित्सा साध्य रोगों में पंचकर्म एक प्रमुख साधनोपाय है। यह केवल कायचिकित्सा का एक अंग ही नहीं, प्रस्तुत चिकित्सा का एक स्वतंत्र विज्ञान है, ऐसा कहना अनुचित न होगा। उपर्युक्त सभी अंगों में पंचकर्म चिकित्सा को अंगीकार किया गया है, यह आगे स्पष्ट किया है। अतः इसे केवल कायचिकित्सा का अंग समझना एक भूल होगी और उस विषय के गौरव को कम करना होगा। इस चिकित्सा पद्धति का वैज्ञानिक विवेचन यही ''आयुर्वेदीय-पंचकर्म विज्ञान'' नामक इस ग्रंथ का विषय है एवं योग्य पंचकर्म चिकित्सा, अन्वेषक, पाठक तथा अध्यपकों को यष्ट्यावलम्बनरूप सहायभूत होना इसका प्रयोजन है।

पंचकर्म चिकित्सा विषय में प्रवेश करने के पूर्व कुछ महत्त्वपूर्ण बातों को समझना अत्यंत आवश्यक है। क्योंकि पंचकर्म प्रयोग के बारे में दुर्दैव से अनेक भ्रांतियाँ फैली हुई हैं और चिकित्सक गणों में भी इस सद्यः फलप्रद, चिरःस्वास्थ्यानुबंधिनी चिकित्सा का अपेक्षाकृत कम प्रचार है। इसमें चिकित्सा पद्धति का सम्यक् ज्ञानाभाव, दुष्टकर्मता का अभाव और संभवतः रोगी एवं वैद्य के मन में चिकित्सा पद्धति के बारे में भ्रांतियाँ ये कारण रहे हों। कुशल वैद्य वही है जो सूत्रार्थ को बराबर जानता है, उनका प्रयोग करने में कुशल है, और जिसे आयुष्य का यथार्थ ज्ञान है। जो खूब पठन, श्रवण और मनन कर सकता है, प्रत्यक्ष कर्म का अभ्यास जिसने किया है, कार्य में दक्ष है, जो आचार में पवित्र है, जिसे पास हस्त-कौशल्य है, सर्व साधन सामग्री है, जिसकी सभी इंद्रियां प्राकृत है, जिसे प्रकृति का ज्ञान है और समयानुसार कहां क्या करना चाहिये ऐसी प्रत्युत्पन्न बुद्धि है, वही वैद्य धातुसाम्यकारक चिकित्सा में सफल हो सकता है, ऐसे योग्य चिकित्सक के गुण एवं लक्षण शास्त्र में निर्दिष्ट किए गए है,[१] वही चिकित्सा के अधिकारी हैं। अतएव इन गुणों को आत्मसात करना यह प्रत्येक भिषग् या भिषग् बुभूषु (विद्यार्थी) का कर्तव्य है और इसमें जो प्रयत्नशील हैं, वे इस पंचकर्म विज्ञान नामक ग्रन्थ के अधिकारी हैं।

पंचकर्म का सामान्य परिचय

पंचकर्म क्या हैं ? ये पांच ही क्यों हैं ? पांच से कम या अधिक है या नहीं ? इनका प्रयोजन, प्रयोग-विषय, क्षेत्र (scope) इत्यादि का विचार करेंगे। पंचकर्म शब्द में पंच और कर्म ये दो शब्द हैं, जिसका अर्थ है पांचकर्म। इनमें प्रथम 'कर्म' का विचार करें।

कर्म विचार— 'कृ' धातु में 'मनिन्' प्रत्यय अर्ध्दचादि सूत्र से 'कर्म' शब्द बना हैं, जिसका अर्थ है कार्य। ''कर्तुःईप्सिततमं'', कर्तु क्रियया आप्तुमिष्टतमं कर्मसंज्ञं स्यात्'' ऐसा कहा गया है।[२] अर्थात् कर्ता को जो इष्ट कार्य है— वह कर्म कहलाता है यह सामान्य शब्दार्थ हुआ। आयुर्वेद में 'कर्म' को संदर्भ वशात् भिन्न अर्थ प्रयोग में उपयोग किया गया है। जिनमें से महत्त्वपूर्ण कतिपय प्रयोग निम्नलिखित प्रकार के हैं।

१. **दैव या पौर्वदैहिक कर्म**[३]—एक 'कर्म' वह है, जो पौर्वदैहिक कर्म दैव के अर्थ में प्रयुक्त है। प्रत्येक जन्म में व्यक्ति जो सुकृत या दुष्कृत करता है, उसके अनुसार अपर जन्म प्राप्त होता है। यह भारतीय संस्कृति की तात्विक परंपरा है और आयुर्वेद में भी अनेक रोगों के बिना कारण उत्पत्ति, अल्प कारण से महान रोग की उत्पत्ति, उत्पन्न रोगों का यथा योग्य चिकित्सा से प्रशम न होना तथा कालांतर से कर्म क्षय के अनंतर उनका स्वयं प्रशम, यह देखकर यह तत्वज्ञान कुछ मर्यादा तक स्वीकृत है। जो जो 'कर्म' पूर्वजन्म में किया जाता है वह दैव है, और इस जन्म में जो किया जाता है वह कर्म 'पुरुषकार' है। उस कर्म के उत्तम, मध्यम तथा हीन ऐसे तीन प्रकार बलाबल से होते हैं। कर्म पाक तथा रोग का विस्तारपूर्वक विचार भी मनीषियों ने किया है।

२. **द्रव्य का कार्यार्थ वाचक 'कर्म'**— कार्म शब्द का अन्यत्रोपयोग द्रव्य के कार्य के लिए किया गया है। द्रव्य अपने गुण प्रभाव से, द्रव्य प्रभाव से, या द्रव्यगुण प्रभाव से, जिस जिस काल में, जिस जिस अधिष्ठान में, जो जो युक्ति के आश्रय से जो कुछ काम करता है उसे 'कर्म' कहते है।[४] इसमें द्रव्यों के शमन शोधनादि सभी कर्मों का समावेश होता है। यह कर्म द्रव्य के आश्रय से रहता है तथा संयोग और विभाग में कारण बनता है।[५] कर्म का लक्षण खास कर 'कर्म' से दैव अर्थ का निषेध करने के लिए किया है। चक्रपाणि कहते हैं, ''अथ कर्म शब्देन वमनादीनां तथाऽदृष्टस्य तथा क्रियायाश्च-भिधीयमानत्वात् कस्य कर्मणः इदं लक्षणं ? इत्यत आह 'कर्तव्यस्य क्रिया कर्मेति..'। एतेन क्रिया रूपस्य कर्मण इदं लक्षणं नादृष्टादेः।'' इससे कर्म का और एक अर्थ स्पष्ट हैं।

३. **'प्रयत्न' अर्थ में कर्म**— आयुर्वेदावतरण समझाते हुए चरक ने कहा है कि दीर्घ जीवन की इच्छावाले ऋषियों ने ज्ञानचक्षु से यथावत् आयुर्वेद के विषयों को देखा। कौन-कौन विषयों को ? ये विषय हैं— सामान्य, विशेष, गुण द्रव्य, कर्म और समवाय।[६] इन छः पदार्थों का यथार्थ ज्ञान उनको प्राप्त हुआ। ये आयुर्वेद के प्रसिद्ध छः पदार्थ हैं जिनका तंत्र में विस्तार किया गया है। इस कर्म की व्याख्या 'प्रयलादि कर्म चेष्टितमुच्यते' ऐसी की है। प्रयत्न का अर्थ है प्रयास, चेष्टा। इस प्रयत्न में गुर्वादि गुणों द्वारा संस्कार, अभ्यासादि गुणों द्वारा जो जो चेष्टायें की जाती हैं वे सब समाविष्ट हैं। प्राणियों के कार्य

व्यापार को चेष्टा कहा है। इस चेष्टा से सभी कर्मों का बोध होते हुए भी चक्रपाणि वमनादि कर्म का निषेध कर अन्य प्राणि व्यापार को 'कर्म' कहते हैं। जिसमें संकोच प्रसारण, उत्क्षेपण, अपक्षेपण इत्यादि चेष्टाएँ आती हैं तथापि इसी 'प्रयत्न' अर्थ के चरकोक्त पर्याय शब्दों से प्रस्तुत ग्रंथोक्त 'कर्म' का भी अर्थ सिद्ध होता है। वह इस प्रकार है।

४. **चिकित्सा अर्थ में 'कर्म' शब्द** कार्य करने के लिए जो कुछ किया जाता है उसे प्रवृत्ति कहते हैं। उसे ही क्रिया कर्म यत्न कार्य समारंभ ये पर्याय हैं। इस प्रवृत्ति को 'प्रतिकर्म समारंभ' ऐसा कहते हैं। प्रति कर्म का अर्थ है चिकित्सा और केवल 'कर्म' शब्द को भी चिकित्सा अर्थ में प्रयुक्त किया है।[७] 'प्रवृत्ति' या कार्य समारंभ या चिकित्सा यह चिकित्सा में कार्य कारण, कार्य योनि, कार्यफल, अनुबंध देश, काल इत्यादि अत्यावश्यक प्रकरणों में से एक है। चिकित्सा वह है जो धातुसाम्य करती है और पुनः धातुवैषम्य कैसे न हो इसका उपाय दर्शाती है। सुश्रुत ने इसे 'क्रिया' शब्द से कहकर तदंतर्गत च्छेद्यादि कर्म तथा स्नेहादि कर्म ऐसे दो भेद किये है[८] और स्नेहादि में आदि शब्द से डल्हण ने स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, धूप, नस्य, कवल ग्रह, गंडूष तथा दीपन पाचनादि संशमनादि क्रिया का ग्रहण करते हैं। यह चिकित्सार्थ वाचक 'कर्म' ही 'पंचकर्म' में वक्तव्य कर्म है जिसका आगे विशद वर्णन किया है।

'पंच' का विचार

पंच का अर्थ है पाँच। पाँच ही क्यों ? कुछ कम या अधिक क्यों नहीं ? ये प्रश्न निरर्थक हैं। ग्रंथकार अपने विषय चयन पद्धति के अनुसार विषय को भिन्न-भिन्न पद्धति से समझाते रहते हैं। आयुर्वेद में संख्या कह कर विवरण करना यह एक खास पद्धति है। उदाहरण— रोग वर्णन में अष्टोदरीय अध्याय में चरक ने संख्या को प्राधान्य देकर विवरण दिया है। आठ संख्यावाले रोग उदर, मूत्राघात, क्षीरदोष, रजोदोष, सात प्रकारवाले — कुष्ठ, पिडका, विसर्प, छः प्रकारवाले अतिसार, उदावर्त पांच प्रकारवाले गुल्म, प्लीहा, कास, श्वास, हिक्का, तृष्णा, च्छर्दि, शिरोरोग, हृद्रोगादि। इसी तरह चार कौन से है, तीन संख्या में कौन से हैं, दो कौन से हैं और एक कौनसा है ? ऐसा संख्या प्राधान्य देकर विचार किया है।[९] संख्या की दृष्टि से दोष ३, धातु ७, मल ३, अग्नि १३, महाभूत पांच, पांच पंचक, छः रस, विरेचन ६०० कल्प (षड् विरेचन शताश्रतीय), आयुर्वेद के आठ अंग, शरीर के षडंग इत्यादि प्रकार का वर्णन किया गया है। ये विषय वक्ता और प्रकरण संदर्भ से निश्चित होते हैं। अतः कर्म में भी पांच ही क्यों ? यह प्रश्न नहीं हो सकता। इसका उत्तर है — 'बस ऐसा ही है।' यह हमारा स्वशास्त्र सिद्धांत है। वे पाँच कर्म कौन से हैं यह प्रश्न हो सकता है। पाँच क्यों यह नहीं और संभव है कि पांच सात, नव इत्यादि संख्या में कुछ मंगलवाचक अर्थ हों— जैसे पंचायतन, पंच परमेश्वर में हैं— और जिसका आस्तिकवादी आग्रह रखते हों।

'पंचकर्म' ऐसा शब्द प्रयोग चरक ने ही बाहुल्य से प्रयोग किया है। सुश्रुत और वाग्भट ने इस शब्द पर आग्रह नहीं रखा है। चरक के टीकाकार चक्रपाणि, सुश्रुत के टीकाकार डल्हण और वाग्भट के टीकाकार अरुणदत्त, हेमाद्रि इन्होंने 'पंचकर्म' शब्द का प्रयोग मूल पर स्पष्टीकरण में जहां-तहां किया है। पंचकर्म विषयों का वर्णन तो सभी

संहिताओं मे हैं किंतु 'पंचकर्म' ऐसा नाम देकर विशेष विवरण चरक ने ही स्पष्टतः किया है। संहिता के कतिपय संदर्भ इस दृष्टि से यहां उद्धृत किये जाते हैं।

चरक संहिता

१. सूत्र स्थान के द्वितीय अध्याय में जिसका नाम अपामार्ग तंडुलीय है– आरंभ में पंच कर्मांगभूत द्रव्यों का वर्णन कर अंत में कहते है कि— जिसके दोष उत्क्लिष्ट हुए हों उसे स्नेह, स्वेद कराकर, मात्रा और काल को ध्यान में रख 'पंचकर्म' करावे।[१०] इस अध्याय के उपसंहार में अध्यायोक्त विषयों को समेटते हुए कहा है कि इस अध्याय में 'पंचकर्म' विषय के औषधियों का विवरण किया है।[११] यहां चक्रपाणि ने वमनादि कर्मों में यह संज्ञा निर्धारित की है। वे कहते हैं कि प्रथम अध्याय में दीर्घ जीवितीय में मूलिनी, फलिनी ऐसे द्रव्य पंचकर्म के लिए बताए हैं इसके अतिरिक्त और भी पंचकर्मांगभूत द्रव्य हैं, जिनको यहां स्पष्ट किया है। वैसे ही प्रथम अध्याय में वहां पर 'पंचकर्म' विषय से वे द्रव्य नहीं बताए, अतः यहां पंचकर्म प्रवृत्ति विषय के साथ उनका अभिधान किया है।[१२]

२. ऋतुचर्याध्याय में जिसका नाम 'तस्याशितीय' है— ऋतु के अनुसार शोधन समझौते हुए वसंत ऋतु में 'वमनादि' 'कर्म' करने को कहा है। यहां दोष संचय और पंचकर्म प्रवृत्ति के अनुसार ऋतु का प्रावृडादि क्रम है और वसंत—फाल्गुन चैत्र में न कि वैशाख में यह 'पंचकर्म' विषयानुसार निर्दिष्ट किया है।[१३]

३. सूत्रस्थान के २८ अध्याय 'विविधाशितपितीय' नामक मे रसज, रक्तज, मांसज, मेदोज, अस्थिज,मज्जाजन्य और शुक्रज व्याधियों का वर्णन किया है। वहां 'अस्थि' के आश्रय से रहनेवाले व्याधियों में 'पंचकर्म' करना चाहिए ऐसा निर्देश है।[१४]

४. सूत्रस्थान के २९वें अध्याय में 'दश प्राणयतनीय' में वैद्य के प्राणाभिसर और रोगाभिसर ऐसे दो भेद बताए है। प्राणाभिसर वे हैं जो रोगों को नष्ट कर प्राणों की रक्षा करते हैं और तद्विपरीत रोगाभिसर वे हैं— जो प्राणों को नष्ट कर रोगों की रक्षा करते हैं। प्राणाभिसर का लक्षण देते हुए कहते हैं कि 'पंचकर्माश्रय' औषधियों का सम्यक् प्रयोग करनेवाले प्राणभिसर होते हैं।[१५]

५. चिकित्सा स्थान में अनेक जगह 'पंचकर्म' शब्द प्रयोग का उल्लेख मिलता है। अपस्मार चिकित्सा में 'कर्मभिर्वमनादिभिः' चिकित्सा सूत्र दिया है। उन्माद में संसर्जन क्रम के साथ सभी 'वमनादिभिः' कर्म निर्दिष्ट हैं। रक्तस्थ दूषिविष चिकित्सा में सिरा से रक्तमोक्षण और 'पंचकर्म' करने को कहा है।[१६] उरुस्तंभ चिकित्सा (चि. अ. २७) के प्रारंभ में अग्निवेश के द्वारा जिज्ञासा बताई है कि 'पंचकर्म' चिकित्सा पृथक्-पृथक् तथा समस्त रूप से भी अनेक रोगों की चिकित्सा में बताई है। अब यह बताइए कि क्या दोषज ऐसा कोई रोग है जिसमें पंचकर्म न करें। इसके उत्तर में कहा है कि – 'उरुस्तंभ' ऐसा रोग है जिसमें यह चिकित्सा नहीं कीं जा सकती।[१७] इत्यादि।

६. सिद्धस्थान के प्रथम 'कल्पना सिद्धि' के अध्याय में 'का कल्पना' 'पंचसुकर्मसूक्ता क्रमश्च कः ?' ऐसी प्रश्नमालिका देकर पंचकर्म विषयों का क्रमशः विवरण दिया है।

७. सिद्धिस्थान के द्वितीय अध्याय का नाम ही पंचकर्मीया सिद्धि' रखा गया है और इस अध्याय में अत्यंत विस्तारपूर्वक पंचकर्म विषयों को स्पष्ट किया है।

सुश्रुत तथा **वाग्भट** ने चरक की अपेक्षा 'पंचकर्म' शब्द का प्रयोग कम किया है। यद्यपि शब्द में एक साथ 'पंचकर्म' ऐसा स्पष्ट न कहा हो, फिर भी पंचकर्म विषयों का चरक के जैसा ही विस्तारपूर्वक वर्णन दिया गया है। सुश्रुत ने मधुमेह चिकित्सा अध्याय में कहा है कि पंचकर्म चिकित्सा के द्वारा ठीक करने योग्य न हो ऐसे मधुमेह के इन योगों द्वारा (शिलाजतु, माक्षिक, गुगुलु इत्यादि) जिजीविषु (जीने के इच्छुक) आतुरों की चिकित्सा करे।[१८] यहां डल्हण ने 'पंचकर्म' पर टीका में वमनादि पांच कर्म ऐसा एक अर्थ, संशोधन, संशमन, अभ्यंग, गुग्गुलु प्रयोग शिलाजतु प्रयोग ये पांच कर्म ऐसा दूसरा अर्थ और पूर्व रूप में करने का कर्म, रसगत व्याधि, रक्तगत व्याधि, मांसगत व्याधि और मेदोगत व्याधि में करने के उपाय से पांच कर्म ऐसा तीसरा अर्थ, ऐसे तीन व्याख्यान किए है।[१९] इनमें प्रथम युक्तियुक्त है यद्यपि डल्हण इसे अंगीकार नहीं करते। सुश्रुत सूत्रस्थान का ३९वां अध्याय संशोधन संशमनीय नामक हैं जिसमें डल्हण ने 'पंचकर्म' शब्द स्पष्ट किया है– वे कहते हैं कि इस अध्याय में दोष प्रत्यनीक पंचकर्मोपयोगी शोधन द्रव्यों का तथा वातादि संशमन द्रव्यों का वर्णन किया है।[२०] एवं अन्यत्र द्रष्टव्य हैं।

वाग्भट ने अष्टांग हृदय में 'सिराव्यधविधि' अध्याय में कहा है कि जिसने अभी अभी स्नेह पिया हो, जिसका 'पंचकर्म' पूर्ण कर दिया हो उसका सिरा द्वारा रक्तमोक्षण न करे।[२१] यहां मूल में 'पंचकर्म' ऐसा निर्देश है। टीका में अरुणदत्त ने यहां वमनादि पंचकर्म ऐसा स्पष्टार्थ किया है। वैसे ही नस्याध्याय के प्रारंभ में अरुणदत्त ने कहा है कि पंचकर्म के प्रस्ताव में वमन, विरेचन, निरूह अनुवासन कहकर अब नस्य कह रहे है।[२२] इस तरह कुछ संदर्भ मिलते हैं।

'पंचकर्म' का सामान्य विचार

चरक ने जिन पांच कर्मों का 'पंचकर्म' के अंतर्गत समावेश किया है, वे ये हैं—

१. वमन,
२. विरेचन,
३. निरूह-आस्थापन,
४. अनुवासन,
५. शिरोविरेचन या नस्य।

इन्हीं को आगे शार्ङ्गधर और भावप्रकाश ने पंचकर्म को मान्यता में लिया है।[२३] चरक ने इनको पंचकर्म कहा है इस विधान में निम्नोक्त संदर्भ है।

१. अपामार्ग तंडुलीय अध्याय में पीछे जिसका संकेत किया है—क्रमशः नस्य, वमन, विरेचन, निरूह और अनुवासन के उपयोगी द्रव्यों का निर्देश किया और अंत में कहा गया है कि वे पंचकर्मोपयोगी द्रव्य हैं।

२. सिद्धिस्थान का द्वितीय अध्याय 'पंचकर्मीया सिद्धि' नामक है जिसमें पंचकर्म किसको करना चाहिये किसको नहीं करना चाहिये इत्यादि सांगोपांग विचार किया है। इस अध्याय में प्रथम पंचकर्म की प्रस्तावना फिर पंचकर्म विषय और अंत में उपसंहार में पंचकर्म कह दिये हैं। इस विधि से अध्याय रचना है, जिससे स्पष्ट है कि इन दोनों के बीच

का विषय पंचकर्म होगा। यहां भी वमन, विरेचन, निरूह, अनुवासन और नस्य इनको पंचकर्म कहा है।

३. सिद्धिस्थान के प्रथम अध्याय में 'कल्पना सिद्धि' में पंचकर्म का क्रम दिया है। पहले स्नेहन और स्वेदन ये पूर्व कर्म कर, पश्चात् वमन, विरेक, अनुवासन, निरूह और नस्य करने का क्रम यहां स्पष्ट किया गया है। यही पंचकर्म का क्रम है न कि अपामार्ग तंडुलियोक्त शिरोविरेचनादि क्रम। चक्रपाणि ने टीका की है कि पंचकर्म के अंगस्वरूप ही स्नेहन और स्वेदन का वर्णन किया है और वमनादि पाँच का ही प्रधान कर्म में बोध होता है। स्नेहन और स्वेदन में निर्हरण शक्ति का प्रकर्ष न होने से और पंचकर्म में दोष निर्हरण प्रधान है। अतः पंचकर्म में उनका समावेश नहीं होगा। स्वयं चरक ने भी स्नेह स्वेद को पूर्वकर्म कहा है और वमनादि कर्मों के पहले स्नेहन और स्वेदन करने का तथा वमनादि कर्मों के बाद भी स्नेहन करने का निर्देश किया है।[२४]

यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अनुवासन भी तो निर्हरण करने में प्रधान नहीं है। बल्कि बृंहण प्रभाव ही प्रसिद्ध है। फिर अनुवासन को पंचकर्म में किस तरह समाविष्ट किया गया ? इसी तरह नेत्रांजन, गंडूष, निष्ठीव और कर्णधावण, आश्चोतन, नेत्र तर्पण आदि में भी दोष निर्हरण किया जाता है। फिर शोधन प्राधान्य से उन्हें भी पंचकर्म में समाविष्ट कर यह संख्या क्यों न बढ़ा दी जाये ? इसका उत्तर यह है कि अनुवासन यद्यपि बृंहण प्रधान है, तथापि पक्वाशयस्थ प्रभूत पुरीष का निर्हरण करता ही है। निष्ठीवन, नेत्रांजनादि में इतनी शोधन कर्तव्यता नहीं है। अतः उनमें 'पंचकर्मत्व' बोधन नहीं होता।[२५] इस तरह उत्तरबस्ति में स्नेह का प्रयोग प्रधानतः होते हुए भी 'स्नेह बस्ति' के अंतर्गत लेकर 'पंकज' शब्दवत् उसे पंचकर्म में रूढ़ समझना चाहिए।[२६] नेत्रांजन निष्ठीवनादि को अनतिशोधनकारकत्व से पंचकर्म बाह्य है ऐसा टीकाकार कहते हैं। इस दृष्टि से 'मूत्रल' औषधियां जो प्रभूत मात्रा में 'मूत्रशोधन' करती हैं—उनका पंचकर्म में समावेश हो सकता है या नहीं। मूत्रल का आभ्यंतर प्रयोग है और इनमें कर्म (Process) का प्राधान्य नहीं है—ऐसा कहा जाये तो भी ठीक नहीं। क्योंकि वमन—और विरेचन में भी औषधि सेवन का ही प्राधान्य है और कर्म प्राधान्य (Process) का विचार यदि उपादेय हो तो शलाकावचारण कर मूत्रनिर्हरण जहां किया जाता है, वहां कर्म प्राधान्यता से समावेश होगा ? यहां उत्तर यह है कि वमन और विरेचन में शोधन के साथ दोष व्यवस्था संबद्ध है। पंचकर्म को 'दोष प्रत्यनीक प्रायत्व' कहा है। मूत्र निर्हरण में रुका हुआ मूत्र निकाला जाता है, वहां दोष व्यवस्था नहीं हैं। वैसे ही मूत्र निर्हरण प्रक्रिया के आधार पर यदि कर्म व्यवस्था हो तो आध्मान में प्रयुक्त 'फलवर्ति' भी 'कर्म' (Process) के अंतर्गत आ सकेगी। इस तरह दीपन, पाचन, स्तन्य, शोधन, शुक्र शोधन, विरेचन आदि सभी को समाविष्ट करना होगा जिसमें स्थानिक कुछ मर्यादा तक शोधन होता ही हैं। अतएव उन कर्मों का जिनका समावेश किया गया है उनको 'पंचकर्म' संज्ञा रूढ़ ही समझना चाहिए।

सुश्रुत—सुश्रुत ने कर्म तीन प्रकार का कहा है। एक है पूर्वकर्म, दूसरा है प्रधान कर्म और तीसरा है पश्चात्कर्म।[२७] प्रधानकर्म के पहले और बाद में जो किया जाता है उसे क्रमशः पूर्वकर्म और पश्चात् कर्म कहते हैं। इनका विस्तार डल्हण ने नीचे लिखे हुए प्रकार से किया है।

१. **प्रथम मत** यह है कि लंघनादि विरेक पर्यन्त अर्थात् लंघन, पाचन, दीपन,

स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन ये पूर्वकर्म हैं और व्रण का पाटन, रोपणादि ये प्रधान कर्म है तथा बल, वर्ण अग्नि को बढ़ाने की चिकित्सा ये पश्चात्कर्म है।[२८]

२. **द्वितीय मतानुसार**—दोषों का संचय, प्रकोष, प्रसर, स्थान संश्रय होता है और पूर्व रूपोत्पत्ति होती है। उस प्रत्येक अवस्था में योग्य उपाय—पूर्व कर्म और रोगोत्पत्ति के बाद में किया जानेवाला उपाय प्रधान कर्म है और रोगोत्पत्ति के बाद पुनरुद्भव न होने के लिए जो उपाय किया जाता है यह पश्चात्कर्म है।[२९]

प्रथम मत में शल्यकर्म प्राधान्यता को ध्यान में रखकर किया गया है। द्वितीय मत में सभी रोगों के अनुसार विभाजन किया है अतः ये दोनों प्रस्तुत अप्रज्योज्य हैं।

३. **तृतीय मतानुसार**—शोधन के पूर्वकर्म पाचन, स्नेहन और स्वेदन ये तीन पूर्वकर्म हैं। वमन, विरेचन, बस्ति, नस्य और शिरामोक्ष (रक्तमोक्षण) ये प्रधान कर्म हैं, और पेया, विलेपी, यूषादि अन्न द्वारा संसर्जन क्रम यह पश्वात्कर्म[३०] है।

प्रस्तुत ग्रंथ के विषय में यही मत ग्राह्य है और पंचकर्म का प्रायशः शोधनत्व प्रसिद्ध है अतः यह व्याख्या उचित है। इस मत का विशेषता यह है कि इसमें 'बस्ति' शब्द लिखकर दोनों बस्तियों का ग्रहण कर रक्तमोक्षण को समाविष्ट किया है—जिसको आगे विशद करेंगे।

वाग्भट ने अष्टांग हृदय में ये पांच पंचकर्म हैं, ऐसा उल्लेख नहीं किया है तथापि अरुणदत्त ने कर्मों का उल्लेख किया है। वाग्भट ने पांच प्रकार के शोधन निर्दिष्ट किए हैं जिसका नामतः पंचकर्म विषयत्व है, तथापि वे शोधन मात्र हैं। इस संदर्भ की चर्चा आगे की है।

पंचकर्म और शोधन—उपर्युक्त संदर्भों से यह स्पष्ट होता है कि आचार्यों ने 'पंचकर्म' का उल्लेख वारंवार शोधन के उद्देश्य से किया है और प्रभूत शोधन कर्मों का इसमें समावेश किया है, अल्प शोधनवाले उपाय समाविष्ट नहीं किये तथापि प्रश्न यह है कि क्या पंचकर्म केवल शोधन मात्र ही है ? इसका शास्त्रीय उत्तर यह है कि पंचकर्म प्रायशः शोधन है, केवल शोधन मात्र नहीं। क्योंकि वक्ष्यमाण निरूह, नस्य, इनमें भी बृंहण बस्ति, तृंहण नस्य, ऐसे भेद हैं। अनुवासन का प्रायशः बृंहणत्व प्रसिद्ध हैं। बस्ति में शमन बस्ति है, लेखन बस्ति है, जिससे उसका शमन और लंघनत्व स्वभाव होता है। नस्य में भी शमन नस्य है। अतः 'पंचकर्म' के कर्म केवल शोधन नहीं अपितु प्रायशः शोधन है, और यह एक व्यापक चिकित्सा पद्धति है। चरक ने भी शोधन वर्णन में अनुवासन छोड़कर शेष चार को शोधन माना है।[३१] इसका अर्थ उनमें शोधन कर्म है, केवल शोधन नहीं। फिर शोधन में भी बल्य, रसायनादि गुण होते ही हैं।

पंचकर्म का विस्तार—पूर्वकर्म, प्रधान कर्म और पश्चात्कर्मानुसार पंचकर्म विषयों का निश्चय करने के उपरांत, यहां पंचकर्म का क्षेत्र विस्तार (scope) का विचार किया जाता है। सर्वप्रथम यह प्रश्न है कि पंचकर्म यदि शोधन प्रधान है तो रक्तमोक्षण का इसमें समावेश क्यों नही किया गया ? चरक ने तो स्पष्टतः पांच कर्म गिनाए है। सुश्रुत वाग्भट ने भी कहीं रक्तमोक्षण का 'पंचकर्म' में उल्लेख नहीं किया। नेत्रांजन, गंडूषादि प्रभूत शोधन का अभाव है, किंतु रक्तमोक्षण में शोधन की भूयिष्ठता है। इसे समाविष्ट न करने के निम्नोक्त कारण हो सकते हैं।

१. कार्य चिकित्सा प्रधान ग्रन्थों में रक्तमोक्षण को शल्य प्रधान समझकर महत्त्व न दिया हो।

२. आयुर्वेद के मुख्य सिद्धांतानुसार मुख से प्रयुक्त औषधि आमाशय के रोगों को, गुद से प्रयुक्त औषधि पक्वाशय के रोगों को और नासा से प्रयुक्त औषधि ऊर्ध्वजत्रुगत रोगों को दूर करती है।[३२] स्थान सामीप्य से औषधि प्रयोग और निर्हरण करना उचित है। इस तरह आमाशय के लिए वमन और विरेचन, पक्वाशय के लिए विरेचन और बांस्ति, उत्तमांग के लिए नस्य, योनी, गर्भाशय और मूत्राशय के लिए उत्तरबस्ति के कर्म तत्तद् सिद्धांत में बैठते हैं। इनमें प्राकृत स्त्रौतों द्वारा शोधन होता है। रक्तमोक्षण में ऐसा प्राकृत स्त्रोत नहीं है। कृत्रिम मार्ग करना पड़ता है।

३. वमन, विरेचनादि में दोष व्यवस्था है। कफ के लिए वमन पित्त के लिए विरेचन और वात के लिए बस्ति ये प्रधान चिकित्सा है।[३३] रक्तमोक्षण यह रक्त के लिए उपाय है। यहां दोष व्यवस्था नहीं है। इस तरह दुष्ट रक्त और प्राकृत रक्त इसमें शोधन समय भेद नहीं कर सकते। जब कि वमनादि में दुष्ट दोषों का निर्हरण सदैव होता है।

उपर्युक्त तीन मतों का पुनः विचार करें। प्रथम मत है यह कि चरकादियों का दृष्टिकोण कायचिकित्सा प्रधान है और रक्तमोक्षण शल्योपाय होने से उल्लेख न करना। इसमें यह स्पष्ट सिद्ध है कि नस्य भी शिरोरोग में और उर्ध्व जत्रुगत रोगों में पीनस, गलशालूक, तिमिर, वर्त्मरोग, उपछिद्रिका मुखरोग, कर्णशूल, अक्षिशूल इत्यादि शालाक्य रोगों में प्रयुक्त है, फिर उसका उल्लेख क्यों किया ? बस्ति-गुल्म, भगंदर, ब्रध्न इत्यादि शल्य रोगों में प्रयुक्त है। इसी तरह रक्तमोक्षण भी प्लीहा, यकृत, गृध्रसी, विश्वाची, ज्वर, प्रवाहिका इत्यादि कायचिकित्सा के रोगों में प्रयुक्त हैं। किसी कर्म की विशेष रोग में विशेषता हो सकती है, लेकिन यह विशेषता तो हरीतकी, शुण्ठी, आमलकी, आरग्वध शिलाजतु, लोह, ताम्र आदि द्रव्यों में भी है। अतः इनका तंत्रानुसार भेद नहीं हो सकता। यह भी स्मर्तव्य है कि चरक ने विस्तारपूर्वक रक्तमोक्षण का सभेद वर्णन किया है।

मार्गसामीप्य और प्राकृति मार्ग का विचार भी ऐसा ही त्रुटियुक्त है। रक्त के लिए त्वक्स्थ छिद्र (स्त्रोत) से प्राकृत मार्ग और समीपवर्ति मार्ग हो जाते हैं। इन छिद्रों के द्वारा आलेपनादि द्रव्यों का शोषण भ्राजक पित्त करता है। दोष व्यवस्था के मत में औचित्य जरूर है तथापि रक्तमोक्षण में पित्त का शोधन आश्रयाश्रयी भाव से होता है और दुष्ट रक्त की भी व्यवस्था है। रक्त के साथ पित्त का अल्पशः ही स्त्रवण होता है यह कहा जाये तो उचित नहीं है। क्योंकि नस्य में स्त्रवित कफ और उदक धातु, विरेचन में शोधित पदार्थों में पित्त और पुरीष, बस्ति द्वारा शुद्ध—वात मल में भी प्रमाण के अनुसार ऐसी ही व्यवस्था हैं।

अतएव रक्तमोक्षण को पाँचवाँ कर्म मानना उचित है, ऐसा प्रतीत होता है। फिर सुश्रुत और वाग्भट ने इसका शोधन में उल्लेख किया ही है। जिससे प्रायशः शोधन पंचकर्म में इसका समावेश युक्तियुक्त है और बस्ति शब्द से निरूह और अनुवासन् दोनों का शोध होता है, जिससे रक्तमोक्षण का समावेश करने पर संख्यातिवर्तन नहीं होता। जिनका यह आग्रह है कि निरूह और अनुवासन में कर्मवैशिष्ट्य से पृथकत्व अवश्य हैं-- उनको 'उत्तरबस्ति का पंचकर्म समावेश में समस्या रहेगी। संक्षेप में 'पंचकर्म' विचार में

ग्रंथोक्त सिद्धांत को बाधा न पहुंचाते हुए रक्तमोक्षण का समावेश किया जा सकता है। इस ग्रंथ के वर्ण्य विषयों में १. वमन, २. विरेचन, ३. बस्ति, ४. नस्य, ५. रक्तमोक्षण इनका विवेचन किया जायेगा।

इनका विस्तार निम्नलिखित प्रकार का है।

१. **पूर्वकर्म**—पूर्वकर्म तीन हैं।

१. पाचन

२. स्नेहन और

३. स्वेदन। इनमें से

१. **पाचन**—यह आम पाचन औषधियों से किया जाता है और दीपन पाचन औषधियों का प्रयोग ग्रंथोक्त प्रकार से किया जाना चाहिए। पाचनार्थ पेया, चूर्ण, क्वाथ, वटी आदि का यथायोग्य प्रयोग करें।

२. **स्नेहन**—स्नेहन के दो प्रकार हैं। आभ्यंतर और बाह्य। आभ्यंतर स्नेहन विचारणा तथा अच्छपेय दो प्रकार का है। फिर स्थावर, जांगम दो प्रकार का है। फिर कार्मूक भेद से अनेक प्रकार है। विचारणा में ओदन, मांसरस, यूषादि अनेक प्रकार हैं।

३. **स्वेदन**—स्वेद प्रथम अनग्नि और अग्नि (साग्नि) ऐसे दो प्रकार का है। अनग्नि स्वेद व्यायाम, उष्ण सदन, गुरु प्रावरण क्षुधा बहुपान, भय, क्रोध, उपनाह, आहव (मुष्टियुद्ध) आतपभेद से इस प्रकार है। साग्नि स्वेद ताप, उपनाह, उष्मा और द्रवस्वेद भेद से मुख्य चार प्रकार का हैं, जिसमें अनेक उपभेद हैं।

२. **प्रधानकर्म**—वमन, विरेचन, बस्ति, नस्य और रक्तमोक्षण ये पांच प्रधानकर्म हैं।

१. **वमन**—ऊर्ध्व मार्ग (मुख) से दोष निर्हरण वमन कहलाता है। वह कार्मुक भेद से प्रवर, मध्य-अवर कहा जा सकता है।

२. **विरेचन**—अधोमार्ग से दोष निर्हरण विरेचन कहलाता है जो औषधियां मन का शोधन रकती हैं वे विरेचक या रेचक कहलाती हैं। विरेचन भी कार्मुकता से अनुलोमन, स्रंसन, भेदन और रेचन ऐसा चार प्रकार का है।

३. **बस्ति**—प्राणियों के मूत्राशय को बस्ति (Urinary bladder) कहते हैं। बस्ति की सहायता से औषधि क्वाथ, तैलादि द्रव्यों का गुद से पक्वाशय में पहुंचाना बस्ति कहलाता है। यह विधि भी मार्ग भेद से गुद से पक्वाशयगत योनि और अप्रत्ययपथ से गर्भाशयगत और मूल मार्ग से मूत्राशयगत ऐसे तीन प्रकार की है। फिर द्रव्यभेद से निरूह और अनुवासन ऐसे दो प्रकार की है। निरूह बस्ति भी शोधन, लेखन, उत्क्लेशन, बृंहण, शमन, रसायन, वाजीकरण इत्यादि कार्मुकता से अनेक प्रकार की है। निरूह में क्वाथ या कषाय का प्राधान्य रहने से इसे कषाय बस्ति भी कहते हैं। इसी का पर्याय आस्थापन भी है। स्नेह बस्ति में घृत तैलादि स्नेहों का प्रयोग किया जाता हैं। यह भी स्नेह बस्ति, अनुवासन बस्ति और मात्राबस्ति ऐसी यात्रानुसार त्रिविध है।

'**उत्तर बस्ति**' संज्ञा उत्तर मार्ग से दी जाने के कारण दी जाती है। 'उत्तर का अर्थ यहां गुदा से उत्तरवर्ति मार्ग यानी मेढ्र या योनि ऐसा होता है। उत्तर बस्ति में भी निरूह और अनुवासन दो भेद है।

४. **नस्य**—या शिरोविरेचन नासा से प्रविष्ट औषधि प्रयोग का नाम है। नस्य के मुख्य तीन भेद हैं।

१. विरेचन या रेचन,

२. बृंहण (वा). इसे चरक ने तर्पण कहा है।

३. शमन ये कार्मुक भेद हैं। दानविधि से नावन, प्रधमन, मर्श, प्रतिमर्श, धूम और अवपीड़नादि प्रकार होते हैं।

५. **रक्तमोक्षण**– शरीरस्थ रक्त का निर्हरण रक्तमोक्षण कहलाता है। इसे 'अन्नविस्रुति' ऐसा पर्याय है। रक्तमोक्षण के छः प्रकार का उपाय हैं।

१. शृंग प्रयोग,
२. जलौकावचारण,
३. अलाबु प्रयोग,
४. प्रच्छान प्रयोग,
५. शिरामोक्षण या शिरा व्यध,
६. घंटीयंत्र का प्रयोग

३. **पश्चात्कर्म**—प्रधान कर्मों के अनन्तर शरीर क्षोभ से शरीर को प्राकृतावस्था में लाने के लिए, तथा प्रधान कर्म के बाद जो अन्य औषधि प्रयोग करना है— उसे पश्चात्कर्म कहते हैं। इनमें तीन मुख्य हैं।

१. **संसर्जन क्रम**—वमनादि के बाद आमाशयस्थ अग्निमांद्य के कारण प्राकृत आहार का सेवन अहितकर होता है। अतः अग्निबल वर्धनार्थ पेया, विलेपी, अकृत यूष, कृत यूष, अकृत मांस रस, कृत मांस रस और फिर प्राकृत भोजन इस क्रम से शनैः शनैः भोजन दिया जाता है उसे संसर्जन क्रम कहते हैं।

२. **रसायनादि क्रम**—यदि रसायन-वाजीकरण प्रयोग के लिए शोधनोद्दश से पंचकर्म किया गया हो तो तदनंतर रसायन वाजीकरण प्रयोग करना यह उसका 'पश्चात्कर्म' होगा।

३. **शमन-प्रयोग**—जिस रोग की शोधन चिकित्सा की है, उसकी शमन चिकित्सा बाद में करनी चाहिये। यह तीसरा पश्चात्कर्म है। इस ग्रन्थ में प्रत्येक कर्म का वैज्ञानिक विवेचन किया है। पश्चात्कर्म प्रधान कर्म से संलग्न होने से उसका विवेचन तत्तद अध्याय से ही किया है।

'पंचकर्म चिकित्सा' का मूलस्त्रोत

चिकित्सा पद्धति का एक वैशिष्ट्यपूर्ण आविष्कार इस स्वरूप में पंचकर्म को स्वतंत्र पद्धति भाग लेने पर अब यह आवश्यक होगा कि इसका मूल स्त्रोत कहां से है यह देखें। इस चिकित्सा का आगम-उद्भव चिकित्सा के किन प्रकरणों के संदर्भ से हुआ है ? प्रायः पंचकर्म के संदर्भ में वाग्भट का प्रसिद्ध संदर्भ जो उपक्रम्य पर आधारित है, दिया जाता है तथापि यह उचित नहीं है। वाग्भट ने चिकित्सा पुरुष-उपक्रम्य-आतुर को दो प्रकार का मानकर चिकित्सा भी दो प्रकार की निर्दिष्ट की है। एक है संतर्पण और दूसरी है अपतर्पण। बृंहण और लंघन ये दोनों इसके पर्याय माने है।[३४] वाग्भट आग्रह रखते हैं कि आतुर का या तो कर्षण करना पड़ता है या तर्पण। अपने समर्थन में भौतिक सिद्धांत का उल्लेख कर वे कहते हैं कि महाभूत भी दो प्रकार के स्वभाववाले हैं। अग्नि, वायु और आकाश से कर्षण या लंघन करनेवाले महाभूत है और पृथ्वी तथा जल ये बृंहण करनेवाले हैं। अतएव

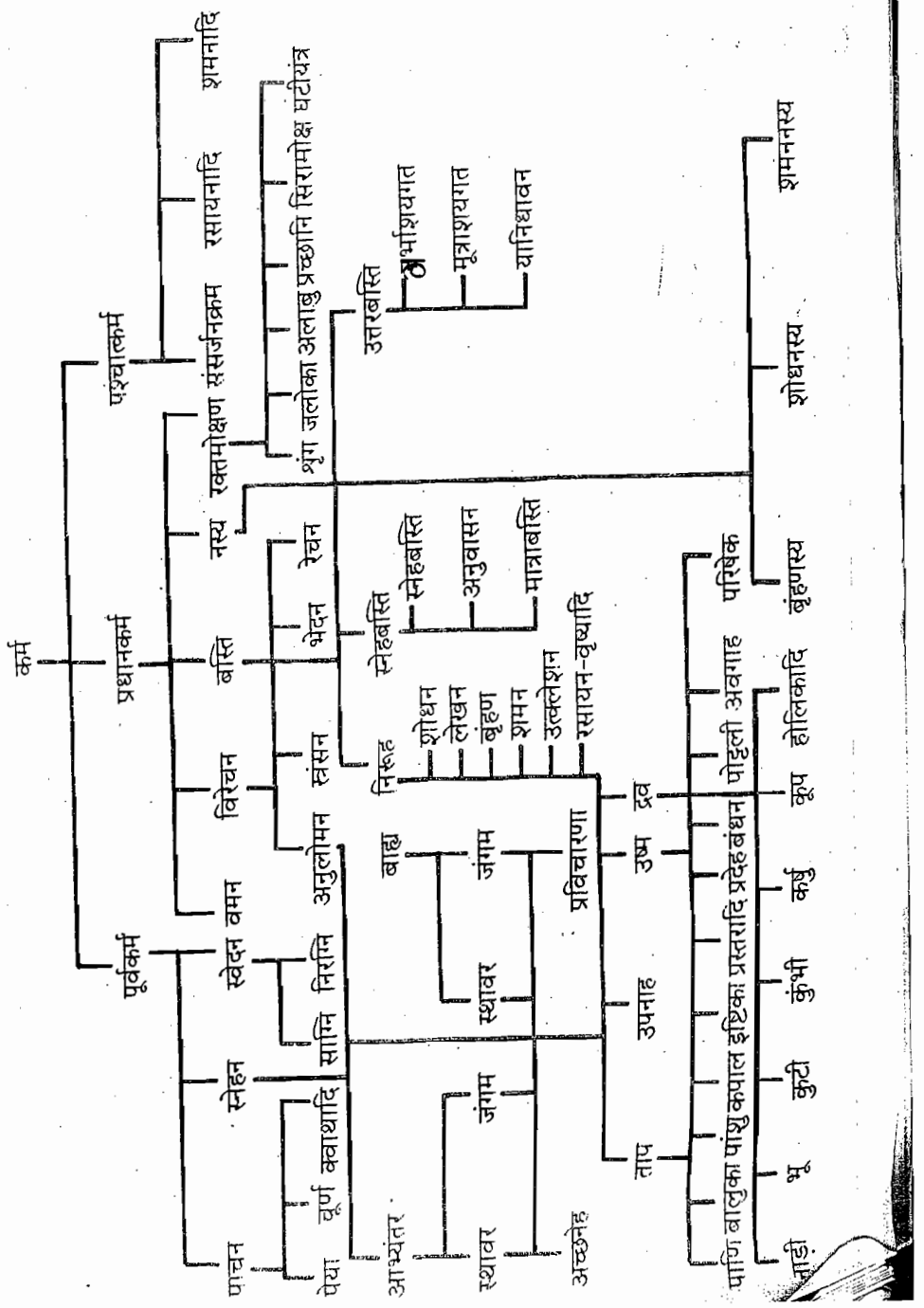

तंत्रांतरोक्त (चरक) जो लक्षण, स्नेहन, स्वेदन-स्तंभन और लंघन बृंहण से चिकित्सा प्रकार हैं वे इन दो प्रकार के अंतर्गत ही समाविष्ट हैं।[३५] इनका समावेश होता है या नहीं और लंघन-बृंहण क्रमशः अपतर्पण-संतर्पण के पर्याय हो सकते हैं या नहीं इसकी विशद चर्चा आगे की है। प्रस्तुत पंचकर्म संदर्भ में इसका विचार करेंगे।

वाग्भट ने अपतर्पण या लंघन को दो में (शोधन और वमन में) विभक्त किया है। शमन के दीपन, पाचन, क्षुध्, तृषा, व्यायाम आतपसेवन और वायु सेवन ये सात प्रकार हैं और शोधन के वमन, विरेक, निरूह, शिरोविरेचन और अस्रविस्रुति ये पांच प्रकार होते है।[३६] इसी को पंचकर्म का संदर्भ बताया जाता है तथापि यह युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि इनमें पंचर्कम के सभी कार्मुकता का समावेश नहीं होता और खुद वाग्भट के सिद्धांत से भी वदतोव्याघात होता है। देखिए—प्रथम लंघन और बृंहण में चिकित्सा विभक्त होने से लंघन यह आधी चिकित्सा हुई। फिर लंघन के शोधन और शमन दो प्रकार में एक एक में चिकित्सा का चतुर्थांश हुआ। इसमें पंचकर्मों का चिकित्सा के चतुर्थांश में केवल शोधन रहना और केवल लंघन रहना तथा शमन रहित रहना अनिवार्य हुआ। फिर नस्य के बृंहण-शमन-तर्पण भेदों का, बस्ति के शमन, बृंहण, रसायन, दृश्य भेदों का इसमें समाहार नहीं हो सकता। पुनः वाग्भट ने 'निरूह' ऐसे नामतः निर्देश किया है— जिससे अनुवासन, उत्तरबस्ति का भी समाहार नहीं होता। वाग्भट और सुश्रुत ने भी बस्ति तथा नस्य प्रकरण में तत्तद् भेद और कार्मुकता तो मानी ही है। अतः स्पष्ट है कि यहाँ वाग्भट ने केवल 'शोधन' का ही संदर्भ दिया है न कि पंचकर्म का। पंचकर्मोक्त विषयों को आगे सूत्रस्थान के सोलहवें अध्याय से बीसवें अध्याय तक तथा सत्ताईसवें अध्यया में विस्तारशः वर्णन किया है। जिसमें पंचकर्म का लंघन बृंहणत्व दोनों सिद्ध हैं। सुश्रुत ने क्रिया को (चिकित्सा को) स्नेहादि क्रिया और च्छेद्यादि क्रिया ऐसे दो भागों में विभक्त किया है और सुश्रुत के इस संदर्भ से 'स्नेहादि क्रिया' प्रकार में पंचकर्म का मूलस्त्रोत देखा जा सकता है।

चरक के अनुसार चिकित्सा के जो मूल उपक्रम है उनमें इस पद्धति का मूल स्त्रोत है। चरक ने उपक्रमों को छः प्रकार में विभक्त किया है। सूत्रस्थान के २२वें अध्याय 'लंघन बृंहणीय' नामक में इनका वर्णन किया है। लंघन, बृहण, रुक्षण, स्नेहन, स्वेदन और स्तंभन ये चिकित्सा के छः उपक्रम हैं, इनको जो अच्छी तरह से जानता है वही वास्तव में भिषग् या वैद्य कहलाता है।[३७] इनका समावेश वाग्भटोक्त के दो प्रकार में नहीं हो सकता। क्योंकि इनमें सूक्ष्म भेद है। जिनको 'स्नातक' बनकर तुरन्त चिकित्सा जगत में प्रवेश करना हो, उनके लिए चिकित्सा के स्थूल मात्र से लंघन, बृंहण दो भेद पर्याप्त हैं। जिनको चिकित्सा में नैपुण्य-पारंगतता-वैशिष्ट्य प्राप्त करना हो उनको (कायचिकित्सा तज्ञ) छः भेदों का अध्ययन जरूरी है। जैसे काय चिकित्सकों को व्रण चिकित्सा के ३६ व्रण उपक्रमों के ज्ञान से चल सकता है[३८] किन्तु शल्य विज्ञों को सुश्रुत के ६० प्रकार के व्रण उपक्रमों का ज्ञान आवश्यक होता है,[३९] वैसे ही यहाँ समझना चाहिए। वाग्भट ने काय-और शल्य अंगों का समाहार की संक्षेपता के उद्देश्य से उपक्रमों को कम किया है, लेकिन इनमें सैद्धान्तिक और प्रत्यक्ष भी अन्तर होता है। संतर्पण वह हैं जिसमें सम्यक्

तर्पण किया जाता है। तृप्तिकारकता यह तर्पण का अर्थ है[४०] और बृंहण वह है जो 'बृहत्य' उत्पन्न करता है,[४१] अर्थात् शरीर धातु के अणुओं को आकार से बड़ा करनेवाली चिकित्सा बृंहण है और रस रक्तादि धातु के पोषण घटकों को तावन्मात्र प्रमाण में जिससे धातु की तुप्ति हो देना संतर्पण है। संतर्पण में रुक्ष संतर्पण भी किया जाता है। चरक ने रुक्ष संतर्पण का –सक्तु का उल्लेख किया है।[४२] इसी तरह मधुर, अम्ल रस के कुछ मंथ भी रुक्ष होकर संतर्पण करते हैं। इस तरह बृंहण कभी भी रुक्ष नहीं हो सकता। बृंहण से विशेषतः मांस, मेद का अधिक बृहत्व होता हैं, जहां संतर्पण यह रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थिमज्जा एवं शुक्र के लिए अलग-अलग प्रकार का होता है। मांस मेद के तर्पण करनेवाले पदार्थ बृंहण के अंतर्गत आ सकते हैं, लेकिन इससे सभी संतर्पण का बृंहण में समावेश नहीं हो सकता। संतर्पण में वात, मूत्र, मल, कफ, पित्त के अनुलोमन, तर्पण, मूत्रकृच्छ्रहर तर्पण, मद्यविकारनुत् तर्पण इत्यादि अनेक प्रकार हैं–जिससे इसका कार्य मल और दोषों पर भी स्पष्ट है,[४३] किन्तु बृंहण यह केवल धातु बृंहण ही है। अतएव चरक ने लंघन बृंहणीय अध्याय के अतिरिक्त स्वतंत्ररीत्या 'संतर्पणीय' नामक (सू. २३) अध्याय की रचना की है। इसी तरह लंघन और अपतर्पण भी एक नहीं हो सकते। लंघन से लघुता-कार्श्य होगा– और अपतर्पण से भी होगा, किन्तु अपतर्पण से हमेशा कार्श्व अवश्य नहीं है। रसादि धातुओं में जो अधिक तत्व हैं उनको निकाल देना अपतर्पण होगा किन्तु उससे लंघन होना जरूरी नहीं है। मांस, मेद-अस्थि-संधि मज्जा दुष्टि में तिक्त धृत का प्रयोग अपतर्पण होता है किन्तु लंघन नहीं होता। लंघन का मुख्य प्रभाव मेद पर होता है। संदर्भवशात् गद्य पद्य भेद से कभी लंघन अपतर्पण, बृंहण संतर्पण का कहीं-कहीं छूट से प्रयोग किया हो तो भी उससे उसका पर्याय न समझे। लंघन बृंहणादि के अर्थ चरक के तत्तद् प्रकरण में निर्दिष्ट संदर्भ से ही लेना चाहिए। स्वेदन, स्तंभन और स्नेहन इनमें तो क्रिया वैशिष्ट्य हैं ही। रुक्षण से लंघन हो सकता है लेकिन हमेशा होना जरूरी नहीं है। लेप, प्रदेह, उद्वर्तनों में प्रयुक्त रुक्षण तो सर्वथा पृथक् ही है। अतः छः उपक्रम ये अपने विशिष्ट स्थान के गौरवास्पद उपक्रम हैं। उनको कम करने का प्रश्न ही नहीं है। बल्कि सूक्ष्म अध्ययन कर इनको और विकसित स्वरूप में समझना चाहिए। यहां वाग्भटोक्त द्विविधोपक्रम की न्यूनता बताने का उद्देश्य नहीं है। स्नातकों को जहां भीड़वाले आतुरालय में काम करना हो, सामान्य दैनंदिन रोगों की चिकित्सा करनी हो वहां केवल दो उपक्रमों का विचार करने से चल सकता है, इतना ही यहां मन्तव्य है और स्नेहन बृंहणादि का समावेश दो में होता है– यह वाग्भट जो कहते हैं, वह इसी उद्देश्य से कि सामान्य व्याधियों में इन दो को प्रयोग करते समय स्वयं हि छः का फल मिलता है तथापि तज्ञों को छः उपक्रमों का क्षेत्र, प्रयोग कौशल्य और उदर्क (उत्तरकालीनं फलं) का यथोचित ज्ञान आवश्यक है।

उपक्रम के इन छः प्रकारों में ही पंचकर्म चिकित्सा पद्धति का मूल स्त्रोत (Source) है। लंघन में पूर्वोक्त पाचन तथा वमन, विरेचन, निरूह के कुछ प्रकार, नस्य के कुछ प्रकार, पश्चात्कर्म के पेया, विलेपी इत्यादि और शमनौषधि प्रयोगों का समावेश होता है। बृंहण में–बृंहणबस्ति, बृंहण नस्य, रसायन बस्ति इत्यादि का स्नेह और स्वेदों को

पृथक् उपक्रमों में गिना ही है और रुक्षण में रुक्षण बस्ति, वमन, विरेचन, नस्य के प्रकारों का तथा स्तंभन बस्ति और स्तंभन नस्यादि का समावेश होता है।

सारांश—षडुपक्रम ये चिकित्सा के मूल भेद हैं और उनके साधन 'पंचकर्म पद्धति' हो सकते हैं। अतः इन मूलस्त्रोतों से ही 'पंचकर्म' का आविष्कार हुआ हैं।

पंचकर्म प्रयोग विषय

पंचकर्म प्रायशः शोधन है। जब शोधन की दृष्टि से प्रयोग करना हो तब शोधन के सामान्य सिद्धान्त ध्यान में रखना चाहिए। शोधन के सामान्य सिद्धान्त ये हैं।

१. **दोष**—बहुदोष, मध्यदोष और हीनदोष ऐसी तीन अवस्थाओं में रहता है। इसमें बहुदोष हो तब शोधन करना चाहिए। मध्यदोष में व्यायाम, दीपन, पाचन चिकित्सा और हीनदोष में लंघन चिकित्सा करें। इनके लक्षण निम्नोक्त प्रकार के हैं।

(अ) **बहुदोष के लक्षण**—अविपाक, अरुचि, स्थौल्य, पांडुता, गौरव, क्लम, पिडका, कोठ, कंडु, स्तंभ, अरति, आलस्य, श्रम, दौर्बल्य, दौर्गन्ध्य, अवसाद, कफोत्क्लेश, पित्तोत्क्लेश, निद्रानाश, अतिनिद्रा, तंद्रा, क्लैव्य, अबुद्धि, अप्रशस्त स्वप्नों का दर्शन, बलनाश, वर्णनाश, अतिपुष्ट शरीर ये बहुदोष के लक्षण है।[४४] इनमें संशोधन हितकर होता है। ये सामान्य लक्षण हैं। रोगानुसार भिन्न-भिन्न अवस्था में भिन्न-भिन्न लक्षण उत्पन्न होते हैं। उनको ठीक तरह देखकर शोधन करना चाहिए जैसे पल्लव (केदार या तालाब में) में अधिक जल संचय होने पर उसका बंध तोड़ जल को बहाना यही उपाय होता है, वैसे ही दोषाधिक्य में शोधन उपाय ही करना आवश्यक होता है।[४५]

(आ) जो मध्यबल युक्त दोष है उनमें व्यायाम, आतपसेवन, वायुसेवन, पाचन इस तरह लंघन पाचन चिकित्सा करनी चाहिए।[४६] जिनके कफ और पित्त का उल्लेख हुआ हैं, च्छर्दि, अतिसार, हृद्रोग, विषूचिका, अलसक ज्वर, विबंध, गौरव, उद्गार, अरुचि, हृल्लास ये लक्षण दिखाई देते हों, उनमें पाचन करना चाहिए।[४७] पाचन यह एक पूर्वकर्म है। अतः इन रोगों में पाचन का विचार किया है। लंघन और पाचन से मध्य बल युक्त दोष उसी तरह प्रशमित होते हैं जैसे केदार या तालाब में मध्यम प्रमाण में जल संचय होने पर सूर्य किरणों का ताप और बाहर से मिट्टी इत्यादि डालने से पानी सूख जाता है।[४८]

(इ) जहां दोषबल हीन या अल्प हो वहां केवल लंघन, उपवास, तृष्णा को रोकना इत्यादि उपाय से शांति होती है। जैसे केदार या तालाब में अल्प जल संचय होने पर केवल सूर्य संताप से ही जल सूख जाता है वैसे ही यहां उपवासादि लंघन काम करते है।[४९]

इस तरह त्वचा के रोग, प्रमेह, अतिस्निग्ध शरीरवाले अभिष्यंदी, बृंहित शरीरवाले, रोगियों में एवं शिशिर ऋतु में तथा वात विकारों में लघंन करना चाहिए।[५०]

२. **बहुदोष में सामावस्था में शोधन का उपाय**—जब दोषों का बाहुल्य हो और दोष 'सामेन संपृक्त' हो सर्व शरीर में दोष प्रसूत हो वहां तत्काल शोधन नहीं कर सकते। साम दोष, शरीरस्थ रस, रक्तादि धातु में लीन होकर ऐसे चिपक कर रहते हैं कि कच्चे फल में उनका रस रहता है। ऐसी स्थिति में शोधन करने से अनुत्क्लिष्ट दोष रस, रक्तादि आश्रय का नाश कर वैसे ही अल्प प्रमाण में स्त्रवित होते हैं जैसे कच्चे फल का रस

निकालने की कोशिश करने पर फल का नाश होकर रस अल्प प्रमाण में ही निकलता है।[५१] इसलिए साम और सर्व शरीर प्रसृत दोषों में पहले पाचन, दीपन, स्नेहन और स्वेदन करना चाहिए और दोष शिथिल होने पर शोधन का प्रयोग करना चाहिए।[५२] अतएव प्रायः देखा जाता है कि जहाँ आशुकारी व्याधि है, लक्षणों के सर्व संपूर्ण प्रकर्ष से उपस्थित हैं, वहां प्रायः शोधन नहीं किया जाता। बल्कि दीपन पाचनवाली दवाइयां बरती जाती हैं। कोई विद्वान दीपन पाचन युक्त घृत देना चाहिए ऐसा श्लोकार्थ करते हैं।

संशोधनाहों में भी संशोधन कब न करें ?

संशोधनार्ह होते हुए भी निम्नलिखित प्रकार के आतुरों में शोधन या पंचकर्म करना नहीं चाहिए।[५३]

१. **अनपवाद प्रतिकारी**—जो आतुर वैद्य वचन का पालन न करता हो उसका शोधन न करें। क्योंकि शोधनोत्तर पथ्य, परिहार काल, परिहार्य विषय इनका बड़ा ही महत्त्व है। इनका पालन न कर ऐसे आतुर वैद्य को अपयश देते हैं।

२. **अधन**—यह चिकित्सा खर्चीली है, अतः चिकित्सा व्यय के लिए पर्याप्त धन न हो तो उसकी चिकित्सा न करें। यह देखा जाता हैं कि उचित धन के अभाव में कोई प्रक्रिया बीच में ही छोड़ देनी पड़ती है। अतएव यह धनी राजाओं तथा राजसदृश् लोगों की चिकित्सा कही गई है।

३. **अपरिचारकवाले**—जिनके पास परिचारक न हो, उनकी शोधनोत्तर उचित देखभाल नहीं हो सकती। इसलिए अपयश भय से इनकी चिकित्सा न करें। शासकीय आतुरालय में धन और परिचारक के विषय गौण हैं। तथापि वहां धन से सर्व सामग्री एवं औषधिसज्जता और परिचारक से कुशल एवं रोगी की सेवा में आलस्य न करनेवाले दत्तचित्त परिचारक ऐसा अर्थ करना चाहिये।

४. **वैद्यमानी**—जो वैद्यत्व का वृथाभिमान करते हैं वे भी कहे हुए आदेश का ठीक तरह से पालन नहीं करते अतः वे भी पंचकर्म के योग्य होते हुए भी त्याज्य है। यहां 'सद्वैद्य' का तो चिकित्सा योग्यत्व सिद्ध ही है।

५. **चंड**—अति पराक्रमी और साहस करनेवालों का भी पंचकर्म न करें। क्योंकि इनका मन स्थिर नही होता। कभी भी कोई साहस करने की प्रबल इच्छा मन में उत्पन्न होती है और उचित काल तक वे शांत नहीं रह सकते।

६. **असूयक**—जो दूसरों से द्वेष करते हैं, जराजरा से बात पर बिगड़ जाते हैं, अतः व्यापद युक्त इस चिकित्सा में त्याज्य हैं।

७. **तीव्र धर्मारुचिवाले**—धर्म में जिनकी तीव्र अरुचि है, उनकी चिकित्सा करना पाप है ऐसा चरक कहते हैं। यहां अमुक एक धर्म में अरुचि ऐसा नहीं कहा है। जो जिस धर्म को मानते हैं वे उसमें रह सकते हैं, यह एक उदार चित्त संस्कृति का दर्शक है। यहां दूसरा अर्थ हम पंचकर्म धर्म करते हैं। इनको पंचकर्म में तीव्र अनिच्छा है, उनकी चिकित्सा जबरदस्ती से न करें। बहुत से आतुर, वमन, विरेचन, बस्ति इत्यादि के लिए भय से, लज्जा से, या अन्य किसी कारण से तीव्र अनिच्छा बताते हैं। उनमें इन कर्मों का आग्रह न रखें।

८. अति क्षीण बल मांस रक्तवाले रोगी—जिनका बल, मांस और रक्त का अत्यधिक मात्रा में क्षय हुआ है उनका शोधन न करें। वे अत्यंत दौर्बल्य से कर्म क्षोभ को सहन नहीं कर सकते।

९. असाध्य रोग से पीड़ित—जिनको ऐसा रोगा है जिसे असाध्य समझा गया है, उनका भी पंचकर्म न करें।

१०. मुमुर्षुलिंगान्वित—जिनमें मृत्यु सूचक लक्षण उत्पन्न हुए हो, ऐसे अरिष्ट या मुमुर्षुलिंगान्वितों की चिकित्सा न करें। क्योंकि इनमें मरण निश्चित है। अपयश क्यों मोल लेवे।

उपर्युक्त सभी इस प्रकार के लोगों में पंचकर्म चिकित्सा या, शमन चिकित्सा या कोई भी चिकित्सा न करने का चरक का मन्तव्य है। क्योंकि ये वैद्य की दुष्कीर्ति और अपयश में कारण होते हैं।[५७]

पंचकर्म प्रयोजन

पंचकर्म जिन जिन हेतुओं से किया गया है, वह प्रोयजनवता निम्नलिखित प्रकार से तीन में विभक्त है।

१. स्वस्थ मनुष्यों में पंचकर्म।
२. रसायनादि असाधारण गुण प्राप्ति के लिए पंचकर्म।
३. रोगानुसार पंचकर्म।

१. स्वस्थ मनुष्यों में पंचकर्म— स्वस्थों में पंचकर्म के तीन प्रयोजन बताए जा सकते हैं।

१. दिनचर्या में
२. ऋतुचर्या में और
३. वेगावरोधादि जन्य आवस्थिक लक्षणों में।

१. दिनचर्या में पंचकर्म— दिनचर्या प्रकरणानुसार प्रतिदिन अभ्यंग, उद्धर्तन, शिर पर तैल रखना (मूर्ध्नि तैल निवेषणं) नस्य, ये कर्म नित्य विहित है। नस्य का भेद प्रतिमर्श नस्य है जिसको आगे नस्य प्रकरण में स्पष्ट किया है— दिन में भिन्न-भिन्न काल में सेवन योग्य है। प्रातः नींद से उठने के बाद दंतधावन के बाद घर से बाहर जाते समय, व्यायाम के बाद, व्यवाय के बाद, मार्ग क्रमण के बाद मूत्रविसर्ग, मलविसर्ग के बाद, अंजन के बाद तथा भोजन के बाद, दिन में सोकर उठने के बाद, ऐसे दिन के प्रत्येक कार्यक्रम के बाद लेने योग्य है और वह स्वास्थ्य को बढ़ाता है। वैसी ही मात्रा बस्ति भी नित्य सेवनीय है, स्नेहन के कर्णपूरण, नासापूरण, शिरपर पिचु धारणादि में नित्य सेव्य है।

२. ऋतुचर्या में पंचकर्म— आचार्यों ने काल को आदानकाल और विसर्गकाल ऐसे दो भागों में विभक्त किया है। आदानकाल में सूर्य प्रभाव से शरीर का बल कम होता है और विसर्गकाल में बल बढ़ता है। ये दोनों काल या संवत्सर पुनः छः ऋतु में भिन्न है। अर्थात् एक एक ऋतु दो दो महीने तक होती है। ऋतु का वर्णन उन उन दिनों के वर्षा, शैत्य, उष्णता, वायु, जल, अन्न तथा औषधि द्रव्यों का प्रकर्ष, दोषों के चय

प्रकर्षोपादि विषय, शरीर बल, अग्नि बल इनकी सापेक्षता से किया गया है। प्रत्येक ऋतु में स्वास्थ्य रक्षण हेतु जिस प्रकार का आहार, विहार करना चाहिए, उस विचार को ऋतुचर्या कहते हैं। ऋतुचर्या में पंचकर्म के कुछ कर्मों का खास महत्त्व है। इनका विचार करने के पूर्व ऋतुओं के नाम तथा उनके मास और तत् संबंधित सिद्धांतों का यहाँ स्पष्टीकरण अवश्यक है। ऋतुवर्णन में चरक में ही दो भिन्न प्रकार का वर्णन है। यह वर्णन तीन जगह आया है। सूत्रस्थान के छठे अध्याय में (तस्याशितीय में) ऋतुचर्या वर्णित है। यहाँ उत्तरायण (आदानकाल) के शिशिरादि ग्रीष्मांत और दक्षिणायन के वर्षादि हेमंतांत (विसर्गकाल) ऐसे क्रम से ऋतु दिए हैं। अर्थात् उत्तरायण में या आदानकाल में शिशिर, वसंत, ग्रीष्म यह क्रम हैं और दक्षिणायन में या विसर्गकाल में वर्षा, शरद, हेमंत यह क्रम है।[५५] वाग्भट ने इसी का आगे अनुसरण किया है। दूसरा वर्णन विमानस्थान के आठवें अध्याय में है। यहाँ पर हेमंत, ग्रीष्म और वर्षा इनको क्रमशः (अति) शीतकाल, उष्णकाल और वर्षा का काल कहा है और इनके बीच साधारणकालवाले क्रमशः प्रावृड् शरद और वसंत ऋतु होते हैं।[५६] प्रावृट् यह वर्षा का पूर्वकाल है। तत्पश्चात् वर्षा ऋतु है। शरद ऋतु हेमंत के पूर्व और वसंत ऋतु ग्रीष्म के पूर्व का है। इस तरह यहाँ प्रावृड्, वर्षा, शरद, हेमंत, वसंत और ग्रीष्म यह ऋतु क्रम है जिसमें शिशिर छोड़ दिया है। तीसरा वर्णन सिद्धि स्थान के छठे अध्याय में है। यहाँ प्रावृड् ऋतु के आषाढ़ श्रावण मास, शरद ऋतु के कार्तिक मार्गशीर्ष मास, वसंत ऋतु के फाल्गुन चैत्र मास गिनाए हैं और संशोधन के योग्य ऋतु कहे है।[५७]

इन सब पर टीका करते हुए चक्रपाणि कहते हैं कि विमान स्थान ८वें में और सिद्धि स्थान छठे अध्याय का यह वर्णन शोधनानुकलता के अनुसार ही किया गया है, न कि पारमार्थिक दृष्टि से। यहाँ शिशिरादि क्रम नहीं है। कुछ लोग गंगा के दक्षिण तीर पर प्रावृडादि क्रम और उत्तर तीर पर शिशिरादि क्रम मानते हैं, क्योंकि गंगा के दक्षिण तीर पर जलवृष्टि अधिक है और वहाँ वर्षादि क्रम होता है तथापि यहाँ चरक को वह अभिप्रेत नहीं है। वह पारमार्थिक क्रम होता है। सुश्रुत ने और वाग्भट ने प्रत्येक ऋतु को मास और क्रम स्पष्टतः गिने हैं। ऋतु और मास को नीचे तालिका में स्पष्ट किया जाता है।[५८] स्वस्थ वृत्तों में तो शिशिरादि क्रम ग्राह्य है।

तालिका

क्र.	ऋतुमान	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१	वर्षा	भाद्रपद आश्विन	भाद्रपद आश्विन	श्रावण भाद्रपद
२	शरद	कार्तिक मार्गशीर्ष	कार्तिक मार्गशीर्ष	आश्विन कार्तिक
३	हेमंत	पौष माघ	पौष माघ	मार्गशीर्ष माघ
४	शिशिर	*	*	माघ मार्गशीर्ष
५	वसंत	फाल्गुन चैत्र	फाल्गुन चैत्र	चैत्र वैशाख
६	ग्रीष्म	वैशाख ज्येष्ठ	वैशाख ज्येष्ठ	ज्येष्ठ आषाढ़
७	प्रावृड्	आषाढ श्रावण	आषाढ श्रावण	—

*चरक एवं सुश्रुत ने प्रावृडादि क्रम में शिविर को छोड़ दिया है।

शोधन की दृष्टि से आषाढ़, श्रावण, कार्तिक, मार्गशीर्ष, फाल्गुन और चैत्र ये उत्तम मास हैं। इसी तरह चैत्र, श्रावण और मार्गशीर्ष इनमें हमेशा शोधन करना चाहिये। इनके पूर्ववर्ति महीनों में अर्थात् फाल्गुन, आषाढ़, कार्तिक इनमें योग्य रीति से दोष संचय नहीं होता अतएव शोधन ठीक नहीं होता।[५९] ऋतुचर्या में जिस जिस ऋतु में जो जो कर्म पंचकर्म की दृष्टि से अपेक्षित हैं उनको नीचे स्पष्ट किया जाता है।

हेमंत ऋतु में—

१: अभ्यंग
२. उत्सादन
३. मूर्ध तैल
४. जेंताक स्वेद
५. आतप स्वेद
६. भूमिगृह (उष्ण स्वेद) इनका उपयोग सुखावह होता है।

वसंत ऋतु में— कफ का संचय और प्रकोप होता है और अग्निमांद्य में अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। अतः कफ जयार्थ वमन और तीक्ष्ण विरेचन देना चाहिए। यदि कफ का उत्क्लेश हो तो वमन पित्त संसृष्ट कफ हो तो तीक्ष्ण विरेचन करावें। यह आदान का मध्यकाल है। अतः वातपित्त प्रकोप हो तो विरेचन और आस्थापन, अनुवासन भी करना चाहिए और कफ के लिए नस्य तो देना ही चाहिए।[६०]

शरद ऋतु में— पित्त का प्रकोप होता है। तिक्तघृत का पान कराकर विरेचन करावें तथा पुनः तिक्त घृत पान कराकर रक्तमोक्षण करावे।[६१] शरद ऋतु में वसादि स्नेह वर्ज्य है। क्योंकि केवल पित्त में घृत और वसा ये स्नेह नहीं दिये जाते तथापि तिक्त घृत शोधनोद्देश्य से देना हानिकर नहीं है।

शिशिर ऋतु में— हेमंत के समान विधि है। अधिक शैत्य के कारण अधिक रुक्षता उत्पन्न होती है। अतः अभ्यंगादि तथा अधिक उष्णगृह का सेवन करें। वर्षा ऋतु में वात प्रकोप होता है। वात के शोधन के लिए बस्ति परम चिकित्सा है।

इस तरह यह ऋतु के अनुसार पंचकर्म प्रयोजन की रूपरेखा है।

३. वेगावरोधादि जन्य आवस्थिक लक्षणों में पंचकर्म—मल मूत्रादि प्राकृतवेगों का स्वस्थ वृत्त में बहुत महत्त्व है। मूत्रवेग, पुरीषवेग, वातविसर्ग का वेग, शुक्रविसर्ग वेग, उलटी का वेग, क्षवणु (छिक्का), उद्गार वेग, जृंभा (जंभाई) वेग, क्षुधा वेग, पिपासा वेग, वाष्प (अश्रु) वेग, निद्रावेग और श्रमश्वास ये तेरह वेग हैं जिसका धारण न करें। इनका रोगोत्पत्ति में इतना बड़ा महत्त्व है कि वाग्भट ने इन वेगों को धारण न करने का उपदेश जिस अध्याय में दिया है उसे 'रोगानुत्पादनीय' अध्याय नाम दिया है। अर्थात् रोग उत्पन्न न हो, ऐसी इच्छा रखनेवालों को चाहिए कि वे वेगों का धारण न करें। वाग्भट ने अश्रुवेग जिसे कहा है, उसे चरक ने 'वाष्प' कहा है और वाग्भट के श्रमश्वास को निश्वास कहा है। इन वेगों का, बहुत बार अनिवार्यतया धारण करना पड़ता है। सभा में, प्रवास में, मलमूत्रादि वेगों को, दुःखावेग श्रेष्ठत्व से सांत्वन करनेवालों के अश्रु का, कार्यवश निद्रा का काल एवं आर्थिक स्थिति से क्षुधा का, इत्यादि प्रकार से अधारणीय वेगों को धारण करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। वेगावरोध बारंबार करने से रोगोत्पत्ति होती है किन्तु आवस्थिक ढंग से कभी वेगावरोध हो तो लक्षण उत्पन्न होते हैं। रोगोत्पत्ति में तत्तद् चिकित्सा का महत्त्व है किन्तु जब वेगावरोधादि से लक्षणोत्पत्ति हो

तो उनमें कहे हुए उपाय करना श्रेयस्कर है ताकि आगे रोग बढ़े नहीं। उन उपायों में पंचकर्मोक्त विषय जहाँ जहाँ पर आए हैं उनको यहाँ स्पष्ट किया जाता है। वेगावरोध, तज्जन्य लक्षण एवं निर्दिष्ट पंचकर्म चिकित्सा के लिए नीचे की तालिका देखें।

वेगावरोधजन्य विकार और पंचकर्म तालिका

क्र.	वेगनाम	उत्पन्न लक्षण	पंचकर्मोक्त चिकित्सा
१.	मूत्रवेग	बस्ति, मेढ्रशूल, मूत्रकृच्छ्र, शिरःशूर, शरीर का विनामन, वंक्षणानाह अंगमर्द अश्मरी।	अवगाह स्वेद, अभ्यंग, घृत का नस्य, बस्तिकर्म।
२.	पुरीष वेग	पक्वाशयशूल, शिरःशूल, वात और पुरीष का अवरोध, पिंडिकोद्वेष्टन, आध्मान, प्रतिश्याय, हृदयोपरोध और मुख से विड्प्रवृत्ति।	स्वेद, अभ्यंग, अवगाह, वर्ति, बस्ति, विरेचन।
३.	वातवेग	गुल्म, उदावर्त, क्लम, वात, मूत्र मल का संग, दृष्टिनाश, अग्निमांद्य हृद्ग्रह।	स्नेहन, स्वेदन, वर्ति, बस्ति, अनुलोमन, विरेक।
४.	शुक्रवेग	मेढ्रशूल, वृषणशूल, अंगमर्द, हृदय, शूल, शोथ, ज्वर, मूत्रसंग, अंग-भंग, वृद्धिषंढता।	अभ्यंग, अवगाह, स्वेद, बस्ति।
५.	च्छर्दिवेग	कंडु, कोठ, अरुचि, व्यंग, शोध, पांडु, ज्वर, कुष्ठ, हृल्लास, विसर्प अक्षिरोग, कास, श्वास।	वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण, तैलाभ्यंग।
६.	उद्गारवेग	अरुचि, कंप, उदरगौरव, हृदय-गौरव, हिक्का, श्वास, आध्मान।	स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन (तथा हिक्का के योग)
७.	क्षवथु	मन्यास्तंभ, शिरःशूल, अर्दित, अर्धावभेदक, इंद्रिय दौर्बल्य।	अभ्यंग, स्वेद, नावन, नस्य, घृतपान।
८.	जृंभा	विनाम (झुकना) आक्षेप, संकोच, सुप्ति, कंप, वेपथु।	क्षवयुवत्-अभ्यंगादि और वातघ्न औषधि।
९.	निद्रावेग	जृंभा, अंगमर्द, तंद्रा, शिरोरोग, अक्षिगौरव।	मर्दन, (तैल), निद्रा।

क्षुधा, तृष्णा, निःश्वास और वाष्प (अश्रु) वेगों में पंचकर्म का खास निर्देश न होने से उनका तालिका में उल्लेख नहीं किया गया।

२. **रसायनादि असाधारण गुण प्राप्ति के लिए पंचकर्म**—रसायन और वाजीकरण ये आयुर्वेद के विशिष्ट तंत्र है। रसादि धातु के लिए प्रशस्त, स्वस्थों का उत्साह बढ़ानेवाली जो चिकित्सा है उसे रसायंन कहते है।[६२] जिस चिकित्सा से वीर्य का प्रकर्ष होता है, स्त्रियों के साथ संभोग करने की शक्ति बढ़ती है, मेद्र दृढ होता है, संतानोत्पत्ति होती है और नर को 'वाजी' के समान शक्तिशाली बनाया जाता है उसे वाजीकरण कहते हैं।[६३] इन दोनों चिकित्सकों के पूर्व पंचकर्म कराने का शास्त्रकार निर्देश करते हैं। यह देखा है कि कोई भी अल्प और धातुप्रसादक औषधि शरीर शोधनोत्तर ही अधिक अच्छा काम करती है।

रसायन चिकित्सा दो प्रकार की है। कुटी प्रावेशिक और वातातपिक[६४] जिसमें खास प्रकार की कुटी तैयार कर नियतकाल तक कुटी में रहकर रसायन सेवन करना होता है, उसे 'कुटी प्रावेशिक' कहते हैं और जिसमें पथ्यापथ्य की खास जरूरत नहीं होती, साधारण वायु और धूप के वातावरण में रहकर जो किया जा सकता है, उसे 'वातातपिक' रसायन कहते हैं। इसमें कुटी प्रावेशिक विधि में, कुटी प्रवेश के पूर्व दमन, विरेचन और निरूह से शोधन करना चाहिये। शोधन के बाद जब बलप्राप्त हो तब कुटी में प्रवेश किया जाता है।[६५] शोधन के लिए यहाँ हरीतकी, सैंधव, गुड़, बचा, विडंग, हरिद्रा, पिप्पली, शुंठी इनका चूर्ण गरम जल के साथ स्नेह स्वेदपूर्वक देना चाहिए। यह विरेचन ३ से ७ दिन तक देकर कोष्ठ शुद्धि के बाद रसायन देवे।[६६] वाग्भट ने रसायन चिकित्सा के पूर्व स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, निरूह और रक्तमोक्षण ये सभी कर्म करने का निर्देश किया है।[६७] बाजीकरण चिकित्सा के पूर्व भी इसी तरह पंचकर्म आवश्यक होता है। बाजीकरण के पूर्व वमन, विरेचन, निरूह, अनुवासन देना चाहिए, ऐसा स्पष्ट निर्देश है।[६८] विशेषतः क्षीर, घृत, मांसरस, तैल शर्करा, मधु इनसे संयुक्त बस्तियां दे।[६९] आचार्य कहते हैं कि जैसे मलिन वस्त्र पर रंग चढ़ाने से वह चमकदार हो नहीं सकता, उसे धोकर स्वच्छ पर रंगाने से अच्छी तरह रंगा जाता है और सुन्दर लगता है, वैसे ही शोधन के बिना मैले शरीर में रसायन बाजीकरण काम नहीं कर सकते। शोधन से स्त्रोतस निर्मल होने पर वे अच्छी तरह लाभ पहुँचाते है।[७०]

३. **रोगानुसार पंचकर्म**— रोगानुसार पंचकर्म के कौन-कौन से कर्म किस-किस व्यवस्था में किए जाते हैं इनका विस्तृत निर्देश आगे तत्तद् अध्याय में किया गया है। ज्वर, अतिसारादि कायचिकित्सा के रोगों में पंचकर्म चिकित्सा तो निर्दिष्ट की ही है, अपितु अस्थिभग्न, व्रणादि जैसे शल्य तंत्र तथा ग्रह व्याधि इत्यादि में भी पंचकर्म का प्रयोग होता है।

पंचकर्म क्रम में आवश्यक काल का विचार

यदि रसायन, बाजीकरण या अन्य किसी (शरीर शुद्धि) उद्देश्य से किसी व्यक्ति को संपूर्ण पंचकर्म करना हो, तो उसकी विधि कैसी होगी और इसमें कितना काल लग सकेगा यह एक विचारार्ह प्रश्न है। इसका निश्चित निर्णय करना कुछ कठिन ही है, तथापि

यहां एक प्रयास ग्रंथोक्त संदर्भ और तर्कानुसार किया जाता है। यहाँ प्रवर या उत्तम मात्रा में सब कर्मों की दृष्टि से प्रथम कालगणना करेंगे।

१. प्रथम ७ दिन तक स्नेहन करें। ८वें दिन अभ्यंग और स्वेदन करें। वमन दें। इस तरह कुल ९ दिन लगेंगे।[७१]

२. वमनोत्तर ७ दिन संसर्जन क्रम करें। फिर पुनः स्वेदपान कर विरेचन। यदि ९वें दिन से स्नेहपान करें तो ३ दिन स्नेहपान ११वें दिन तक, १२, १३, १४वें दिन तक (३ दिन) द्रव, उष्ण, यूष, रस, कफ वृद्धि न करनेवाले भोजन देकर १५वें दिन विरेचन दें। वमन के १५ दिन विरेचन देना चाहिए।[७२] इस तरह ९ + १५ = २४ दिन।

३. विरेचन के बाद ७ दिन पुनः संसर्जन क्रम करें और ९वें दिन अनुवासन बस्ति दें। बस्ति में कर्मबस्ति ३०, कालबस्ति १६ और योगवस्ति ८ बस्तियाँ देनी होती हैं। बस्ति के लिए अनेक प्रकार से ग्रंथ में निर्देश है, वात विकार में ९ से ११, पित्त विकार में ५ से ७ और कफ विकार में १ से ३ बस्ति देने का निर्देश है तथापि 'बस्ति संख्या कितनी दे ?' इस अग्निवेश के प्रश्न पर चरक ने ३०, १६ और ८ कर्म, काल और योग संज्ञक बस्ति को निर्दिष्ट किया है। अतः यहाँ वही अभीष्ट है। अतः विरेचन के बाद ९वें दिन अनुवासन पकड़कर[७३] कर्म बस्ति को शेष २९ बस्तियाँ दे। इस तरह २४ + ९ = ३३वें दिन अनुवासन + २९ = ६२वें दिन बस्ति कोर्स पूरा होगा। बस्ति में कितनी बस्तियां दी जाती हैं, उससे दुगुना परिहार काल है।[७४] अतः ६२ + ६० = १२२ दिन।

४. बस्ति के बाद नस्य है। नस्य कितने दिन देना चाहिए इसका निश्चित निर्देश नहीं है तथापि धातुपाक क्रम ७ दिन को ध्यान में रखकर संसर्जन क्रम, स्नेहपानादि ७-७ दिन की मर्यादा है-- वैसी ही नस्य ७ दिन करें। नस्य के पूर्व पुनः ७ दिन स्नेह की आवश्यकता में मतभेद हो सकता है। तथापि नस्य में स्थानिक-उत्तमांग पर स्नेहन स्वेदन कर १२३ वें दिन से ७ दिन तक रोज नस्य दें। इसी तरह १२२ + ७ = १२९ दिन। यहाँ चरकोक्त पंचकर्म पूर्ण हुए। जिसमें १२९ दिन लगेंगे।

१. रक्तमोक्षण करना हो तब पुनः ७ दिन स्नेहपान कर ८वें दिन अभ्यंग स्वेद कर ९वें दिन रक्तमोक्षण करें। रक्तमोक्षण में, स्नेहपान में मतभेद है। सस्नेहपान से १२९ + ९ इस तरह = १३८ दिन और स्नेहपान रहित में ३३० वें दिन रक्तोक्षण कर कुल १३० दिन का कार्यकाल होगा।

२. मध्यम शोधन में स्नेहपान ३ से ५ तक करना है। इसमें स्नेहपान ५ दिन, वमन ७ वें दिन, विरेचन ७ + १५ = २२वें दिन। विरेचन के ९वें दिन बस्ति कोर्स। अतः २२ + ९ = ३१ वें दिन से बस्ति। + कालबस्ति की १६ बस्तियां जिसमें एक ९वें दिन दी है। अतः ३१ + १५ = ४६ दिन + ३२ दिन बस्ति परिहार काल = ७८ दिन। फिर ५ दिन नस्य और ७वें दिन रक्तमोक्षण ७८ + २ + ५ = ८५ दिन लगेंगे।

३. अवरशोधन करना हो तब ३ दिन स्नेहन, ४ थे दिन स्वेद, ५वें दिन वमन। ५ + १५ दिन विरेचन = २० दिन। २० + ९वें दिन बस्ति प्रारंभ = २९ दिन। बस्ति में योग बस्ति ८ देनी है जिसमें एक २९ वें दिन दी गई। अतः २९ + ७ = ३६ + १६ दिन बस्ति

परिहारकाल = ५२ दिन, फिर नस्य ३ दिन = ५५ दिन। ५६ वें दिन विराम, ५७ वें दिन रक्तमोक्षण। इस तरह ५७ दिन लगेंगे।

यहाँ सामान्य विचार किया है। इसमें मतभेद की गुंजाइश है। रक्तमोक्षण और नस्य के पूर्व स्नेहन करना हो तो उतने दिन अधिक लगेंगे इसी तरह सुश्रुत ने वमन के १५वें दिन विरेचन ऐसा कहा है, किन्तु मध्य और अवर वमन में अल्पकाल स्नेहन कर उसके पूर्व भी विरेचन किया जा सकता है। डल्हण ने कहा है कि आस्थापन के लिए (निरूह के लिए) गयदास ने स्नेहपान, अनुवासन देकर निरूह करने को कहा है। यह उचित नहीं लगता। अनुवासन स्वयं स्नेहन है, तत्पूर्व स्नेहन जरूरी नहीं है और एक ही समय मुख और गुद से स्नेहन करने का शास्त्र में निषेध ही है। बस्ति के पूर्व स्नेहपान आवश्यक नहीं है। निरूह के पहले और बाद में हमेशा अनुवासन दिया जाता है। अतः दूसरा स्नेहन अनावश्यक है। उपर्युक्त क्रम में तत्तद् कर्म की व्यापत उत्पन्न हो तो, उसकी चिकित्सा करने में पुनः समय अधिक लग सकता है। उपर्युक्त सामान्य विचार ध्यान में रखकर उहापोह से स्वयं तर्क कर अवस्थानुसार कालगणना करें।

पंचकर्म में परिहार क्या है ?

वमन-विरेचनोत्तर पेयादि संसर्जनक्रम किया जाता है। जिससे शोधनोत्तर शरीर पूर्ववत् होने में सहायता होती है। बस्ति के बाद भी परिहार काल होता है। परिहार का अर्थ है उतने दिन तक संयम से रहे और अहितकारक आहार विहारादि का सेवन न करें। इसे परिहार विषय या वर्ज्य विषय कहा जाता है। बस्ति में तथा अन्य कुछ कर्मों में परिहार्य विषयों का उल्लेख किया है, किन्तु कहीं-कहीं उल्लेख नहीं है। अतः पंचकर्म के सामान्य परिहार्य विषयों को यहां स्पष्ट किया जाता है। पंचकर्मोपचार के बाद आतुर प्राकृत अवस्था को प्राप्त हुआ या नहीं इसकी परीक्षा करनी चाहिए।

प्रकृतिस्थ पुरुष के लक्षण— जो सब प्रकार के रसों को सेवन कर सकता है, जिसके मलमूत्रादि वेग प्राकृत ढंग से विसर्जित होते हैं, सभी विषयों में जिसको रुचि उत्पन्न हुई हो, जिसके चक्षुरादि ज्ञानेन्द्रिय; हस्त पादादि कर्मेंद्रिय, उभयेंद्रिय मन स्थिर होकर अपने कार्य में रत हो; आत्मा प्रसन्न हो और जो सभी चेष्टाओं को सहन करने के लिए बल प्राप्त कर चुका हो, उसे 'प्रकृतिस्थ' या आरोग्य को प्राप्त व्यक्ति समझना चाहिए।[७५] जब तक ये लक्षण उत्पन्न न हों तब तक महादोषकर आठ प्रकार के विषयों को वर्ज्य करें। इन्हें ही परिहार्य विषय कहते हैं। यदि इनका त्याग न करें और सेवन किए जाए तो उनसे कफ, आमादि सर्व शरीर में पीड़ा, कफज, आमज, क्षयज, अनेक प्रकार क रोग उत्पन्न होते हैं।[७६] ये महादोषकर आठ वर्ज्य विषय और उनके द्वारा उत्पन्न विकारों को नीचे स्पष्ट किया जाता है।

अष्ट महादोषकर वर्ज्य विषय[७७]

१. ऊच्चैर्भाष्यम्— बहुत ऊंचे स्वर से भाषण न करें। यदि किया जाए तो सिर गरम होता है, शंख प्रदेश में तोद, कान में कुछ अटक गया हो ऐसी प्रतीति, मुंह, गला, तालु का सूखना, तिमिर दर्शन (अंधेरा छाना), तृष्णा, ज्वर, हनुग्रह मन्यास्तंभ, निष्ठीव, उरःशूल, पार्श्वशूल, स्वरभेद, हिक्का, श्वासादि विकार उत्पन्न होते हैं।[७८]

२. रथक्षोभ— रथ, हाथी, घोड़ा इत्यादि और उपलक्षण से सायकल, स्कूटर, मोटर, रेल, विमान इत्यादि वाहनों से प्रवास न करें। इनके करने से संधि शैथिल्य, पर्व शैथिल्य हनु, नासा, कर्ण, शिरःशूल, तोद, कुक्षिक्षोभ (पेट दुखना), आटोप, आंत्रकूजन, आध्मान, हृदय ग्रह, इन्द्रिग ग्रह (जकड़ाहट), स्फिग वंक्षण पार्श्व, कटि वेदना, मन्या दौर्बल्य, स्कंध दौर्बल्य, अंगाभीताप (अंग गरम होना), हाथ पाव में सुप्ति (सूने होना), हस्तपाद हर्ष (झनझनाहट), ये विकार उत्पन्न होते हैं।[७९]

३. **अति चंक्रमण**— परिहार काल में बहुत ज्यादा घूमना नहीं चाहिये। अधिक चंक्रमण से पांव, जंघा, जानु, वंक्षण, पृष्ठ और श्रोणि में शूल होता है। सक्थि साद (पांव भारी पड़ना), सुप्ति (स्पर्श ज्ञान का अभाव, सूनापन) पिंडिकोद्वेष्टन, अंगमर्द, अंगाभिताप, सिरा, धमनी में हर्ष (स्पंदन), श्वास और कासादि विकार उत्पन्न होते हैं।[८०]

४. **अत्यासन**— एक ही आसन पर अधिक देर तक न बैठे, इसका पालन न करने से (बैठने से), रथक्षोभ में ऊपर कहे हुए विकार, स्फिग-पार्श्व-वंक्षण शूलादि उत्पन्न होते हैं।[८१]

५. **अजीर्णाध्यशन**— अजीर्ण और अध्ययन न हो इसका ध्यान रखें। बहुत भोजन करने से अजीर्ण होता है और खाने पर खाने से अध्यशन (परिणामतः अजीर्णादि) होता है। इसके सेवन से मुखशोष, आध्मान, शूल, निस्तोद, पिपासा, अंगसाद, मूर्च्छा, च्छार्दि, अतिसार, ज्वर, प्रवाहिका और आमविषादि विकार उत्पन्न होते हैं।[८२]

६. **विषमाहिताशन**— विषम और अहित भोजन न करें। इनके सेवन से भोजन में अरुचि, दौर्बल्य, वैवर्ण्य, कंडु, पामा, अंगसाद, वातप्रकोप, ग्रहणी, अर्शादि विकार होते हैं।[८३]

७. **दिवास्वप्न**— दिन में सोना नहीं चाहिए। दिन में सोने से अरुचि, अजीर्ण, अग्निमांद्य, स्तैमित्य, पांडु, पामा, कंडू, दाह, छर्दि, अंगमर्द, हृदयस्तंभ (जकड़ाहट), शरीर जाड्य, तंद्रा, निद्रा, ग्रंथि, दौर्बल्य, रक्तमूत्रता, रक्तवेगता, तालु में लेप किए समान प्रतीति होना और प्यास ये विकार उत्पन्न होते हैं।[८४]

८. **व्यवाय**— मैथुन न करें। मैथुन से तुरन्त बलनाश होता है। उरुसाद, शिर, बस्ति, वंक्षण, गुद, मेंढ्र, शूल, उरु, जानु, जंघा, पादशूल, हृदय की धड़कन बढ़ना, नेत्रपीड़ा, अंग शैथिल्य, शुक्र के साथ रक्त निकलना, कास, श्वास, रक्तष्ठीवन, स्वरसाद, कटि दौर्बल्य, एकांग रोग, सर्वांग रोग, वृषणकोष में शोध अधोवायु का संग, मूत्र संग, शुक्र विसर्ग में कठिनता, शरीर कंप, कर्ण बाधिर्य, और विषाद (दुःख) इत्यादि विकार उत्पन्न होते हैं। गुदा में कोई काटता हो ऐसी वेदना, मेढ्र को मरोड़ता हो ऐसी वेदना, मन में विषण्णता, हृदयकंप, संधिपीड़ा और आंख के सामने अंधकार ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।[८५]

शोधनोत्तर शरीर बल गिर जाता है और शोधनजन्य क्षोभ के कारण उपर्युक्त अपचार का शरीर पर तुरन्त खराब असर होता है। इसलिए इनका त्याग करना श्रेयस्कर है।

उपर्युक्त विकारों की चिकित्सा[८६]

१. ऊंचे बोलने से उत्पन्न विकारों में अभ्यंग, स्वेद, उपनाह, धूम नस्य, स्नेहपान करें। मांस रस, दूध का सेवन करें। वात के नाशक उपचार कर मौन पालन करें।

२. रथ क्षोभ, अति चंक्रमण और अत्यासन से उत्पन्न विकारों में स्नेहन, स्वेदन, वातहर उपचार और रथ क्षोभादि निदान का त्याग करें।

३. विषम भोजन, अहित भोजन से उत्पन्न विकारों में यथाविकार चिकित्सा करें।

४. दिवा स्वप्नजन्य विकारों में धूम्रपान, लंघन, वमन, व्यायाम, रुक्षभोजन, आसवारिष्ट का प्रयोग, दीपन, पाचन औषधियाँ बरते। प्रघर्षण, मर्दन, परिषेकादि कफहर उपाय करें।

५. व्यवाय जन्य विकारों में जीवनीय गण से सिद्ध दूध, घृत, वातहर, स्वेद, अभ्यंग, उपनाह, वृष्य भोजन, (अंडा, मांस रस, दूध, घी) स्नेह और यापन बस्तियों का प्रयोग करें, अनुवासन दें। मूत्र विकारों में तथा बस्ति विकारों में (शूल में) विदारिगंधादि गण तथा जीवनीय गण में उक्तौषधियों से सिद्ध तैलों की उत्तर बस्ति दें। यापन बस्ति का वर्णन इस ग्रन्थ के बस्ति अध्याय में देखें।

पंचकर्माभ्यास के उपाय— पंचकर्म एक शास्त्र है, विज्ञान है और कला भी है। किसी भी कला को आत्मसात करने के लिए खास प्रयत्न करना आवश्यक होता है। शास्त्राध्ययन ग्रन्थ पठन से होता है, विज्ञान को मनन और प्रत्यक्ष दर्शन से जाना जाता है और कला को बार बार प्रत्यक्ष प्रयोग कर, प्रत्यक्ष कार्य के सदृश अन्य प्रयोजनों में प्रयोग कर आत्मसात किया जाता है। विद्वान वैद्य के पास शास्त्राध्ययन करना चाहिए, 'कृतकर्मा' के पास प्रत्यक्ष कर्माभ्यास करना चाहिए। अभ्यंग, स्वेद, वमन, बस्ति, शिरो बस्ति, उत्तर बस्ति, रक्तमोक्षणादि को बार बार प्रयोग कर जान लेना चाहिए। सुश्रुत ने नए अभ्यासकों के लिए कहा है कि उदक पूर्ण घट में, अलाबु मुख में तथा तत्सदृश् वस्तुओं में बस्ति नेत्र प्राणिधान, बस्ति पुटक पीड़नादि का अभ्यास करें।[५७] इस तरह प्रत्येक कर्म का विश्वास उत्पन्न होने पर गुरु के समक्ष स्वयं प्रयोग करें और नैपुण्य उत्पन्न होने पर अपनी जिम्मेदारी पर प्रयोग प्रारंभ करें। बहुत पढ़ने पर भी कर्माभ्यास रहित शिष्य अयोग्य होता है।[५८]

पंचकर्म चिकित्सक कैसा हो ? — प्रारंभ में ही इस ग्रंथ के अधिकारी के लक्षण बताते हुए भिषग् गुणों को बताया है। वे गुण—पर्यवदातश्रुतता, परिदृष्ट कर्मता, व्युत्पन्नमतिता आदि गुण प्रत्येक वैद्य में होना चाहिए। इसके सिवाय पंचकर्म में व्यापद् भय अधिक रहता है— अतः वैद्य में निरीक्षण कुशलता, सौहार्द, सहानुभूति, प्रसन्न चित्तता का प्रकर्ष होना चाहिए। प्रेम, सहानुभूति और आत्मीयता से आतुर को देखना चाहिए। व्यापद भय से, परिहार काल में तथा प्रधान कर्म में अत्यंत जागरूक रहना चाहिए। आचार्यों ने यहां निम्नोक्त दृष्टांत से वैद्य की सतर्कता को समझाया है।

१. जिस तरह कच्चे अंडे (तरुणांड) को पकने तक, कहीं बीच में फूट न जाए इसकी सावधानी लेनी होती है, (अथवा कच्चे अंडे को मुर्गी या पक्षी जितने प्रेम, चिन्ता और सावधानी से उबाते हैं) उसी तरह वमनादि क्षोभ में असंपूर्ण बल को प्राप्त (अपक्व आतुर) आतुर का वैद्य सावधानी से रक्षण करे।[५९]

२. तैल से भरे हुए पात्र को लेकर चलने में तैल गिर न जाए, इसमें जो दक्षता लेनी पड़ती है, वैसी दक्षता से आतुर का रक्षण करें।

३. गायों को चरानेवाले गोपाल जैसे गाय इधर उधर न जाए इसमें कार्यमग्न होता है, वैसी ही वमनादि क्षोभ से कृशाशय आतुर किसी दूसरे रोग के पंजे में चला न जाए इसका ध्यान रखकर पालन करें।

प्रथम दृष्टांत में तरुणांड को पकाने में लगनेवाले श्रम, आवश्यक प्रेम, चिन्तादि का रहना, दूसरे में—पांव-पांव पर चलने में दक्षता से प्रत्येक कदम (अगला कार्य) पर सावधानी और तीसरे दृष्टांत से सतत् निरीक्षण का महत्त्व समझाया है। पंचकर्म चिकित्सकों को यह गुण आत्मसात करना चाहिए, भिषग् के गुण, प्राणाभिसर के गुण आत्मसात करना चाहिए और सर्व साधनों से युक्त रहकर पंचकर्म विज्ञान में पदक्षेप करना चाहिए।

पंचकर्म का महत्त्व

वमनादि पंचकर्म का प्राचीन काल से खूब महत्त्व रहा है, इतना कि चरक संहिता में विमान स्थान के आठवें अध्याय में जहां संघाय संभाषा और विगृह्य संभाषा के कुछ पारिभाषिक शब्द और विवाद के उपाय बताए हैं, वहाँ वैद्य से वैद्य चर्चा करते समय यदि ''यूं पूछे कि...'' इस वाक्य के उदाहरण में पंचकर्म के वमनादि का ही उदाहरण दिया है। इससे स्पष्ट होता है कि उस काल में पंचकर्म की संभाषा परिषदों में चर्चा होती थी, वादविवाद होते थे और कौन वैद्य कितना कुशल है, कितना अनुभवी एवं अधिगत शास्त्र है इसका विचार उसके पंचकर्म शास्त्र के ज्ञान पर निर्धारित करते थे। ये प्रश्न भी बड़े महत्त्व के हैं। इससे व्यक्ति के गंभीर अध्ययन का पता चलता है। वे प्रश्न निम्नोक्त प्रकार के हैं।

१. वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, नस्य के प्रयोगेच्छु वैद्य को कितने प्रकार से रोगी की परीक्षा करनी चाहिए।

२. इसमें क्या क्या परीक्षा विषय होते हैं ?

३. इस परीक्षा की विषेषता क्या है ?

४. और यह विशेषता कैसी परीक्षा करें ?

५. इन परीक्षाओं का प्रयोजन क्या है ?

६. वमनादि को प्रवृत्ति कब तक करें ? वमनादि से कब निवृत्ति होवें ?

८. प्रवृत्ति निवृत्ति के संयोगकाल में अर्थात् एक कर्म की निवृत्ति और दूसरे कर्म की प्रवृत्ति इनमें क्या नैष्ठिकता है ? क्या क्या करना चाहिए ?

९. वमनादि प्रयोग के कौन से द्रव्य होते हैं ?

''यह पूछे जाने पर इसका उत्तर इस प्रकार देना चाहिए .....'' ऐसा कहकर चरक ने विस्तृत वर्णन किया है।[६०]

१. अष्टांग आयुर्वेद और पंचकर्म

आयुर्वेद के काय, बाल, ग्रह, ऊर्ध्वांग, शल्य, दंष्ट्रा, जरा और वृषान चिकित्सा इन आठों अंगों में पंचकर्म का महत्त्व है। इनके द्वारा चिकित्सित अनेक रोगों में पंचकर्म केवल उपयोगी चिकित्सा नहीं प्रत्युत अनिवार्य चिकित्सा का स्वरूप धारण करता है।

काय चिकित्सा के रोगों का विचार करने का कारण नहीं है। रसायन एवं बाजीकरण चिकित्सा में पंचकर्म के महत्त्व का प्रतिपादन पहले कर दिया है। अब शेष अंगों का उदाहरणस्वरूप विचार करेंगे।

बालरोग— बाल रोगों में स्तन्य दुष्टिजन्य रोग, कुकूणक, पारिगर्भिक रोग, तालुकंटक, महापद्य (शिशु विसर्प), बालज्वर इत्यादि विकारों का समावेश होता है। इनमें धात्री को स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, संसर्जन क्रम द्वारा स्तन्य रोगों की चिकित्सा की जाती है।

ग्रहव्याधि में— रेवती ग्रह, पूतना ग्रह, शीत पूतना, कटपूतना, अंधपूतना, स्कंध ग्रह इत्यादि का वर्णन आता है। इनमें रेवती ग्रह में अश्वगंधा, अजशृंगी, अनंतमूल, पुनर्नवा, कटेरी, माषपर्णी, विदारकंद के कषाय से, परिषेक, गुग्गुलु, रास, सुरा, मंजिष्ठ, देवदारु, तिल तैल, दालचिनी से सिद्ध तैलों का अभ्यंग अश्वकर्ण के फूल, धाय के फूल, अनार, वंशलोचन, यष्टीमधु इनसे सिद्ध घृत का पान से चिकित्सा की जाती है। पूतना ग्रह में भी अभ्यंग, परिषेक और घृतपान, शीतपूतना, कटपूतना, अंधपूतना, स्कंध में भी अभ्यंग परिषेक स्वेद और घृतपान का निर्देश है।

विषतंत्र—इसमें तो शोधन का अतीव महत्त्व है। स्थावर विष के प्रथम वेग में वमन, द्वितीय में वमन-विरेचन, तृतीय में नस्य, चतुर्थ में स्नेहपान, सप्तम में मूर्धा से रक्तमोक्षण करने को कहा है। सर्पदंश विष में भी रक्तमोक्षण, नस्य, वमन का निर्देश है। अनेक विष प्रकरणों में वमन का उल्लेख आधुनिक शास्त्र भी करता है।

शालाक्यतंत्र में—नेत्ररोग, कर्णरोग, नासारोग, मुखरोग और शिरोरोगों का समावेश होता है। इनमें पूयालसक, वातविपर्यय, अधिमंथ, स्यंद (नेत्ररोग), में शिरावेध कहा है। वात अभिष्यंद (नेत्र) में स्नेहन, स्वेदन, नस्य, परिषेक, शिरोबस्ति, घृतपान कहा है। पित्ताभिष्यंद में रक्तमोक्षण, विरेचन, कफाभिष्यंद में सिरामोक्षण, स्वेदन, तिक्तघृत पान, रक्ताभिष्यंद, सिरोत्पात, हर्ष इनमें रक्तमोक्षण, विरेचन, परिषेक, नस्य, पक्ष्मकोप में विरेचन, दृष्टिगत रोग में नस्य, परिषेक, विरेचन, रक्तमोक्षण, घृतपान इत्यादि का उल्लेख है। कर्णरोगों में घृतपान, वातहर स्वेदन, स्नेह, विरेचन, पिण्डस्वेद, बस्ति, नस्य, शिरोविरेचन, कृमिकर्ण में वमन, कर्णस्वेद में, नाड़ीस्वेद, वमन, नस्य, कर्ण प्रतीनाह में स्नेह, स्वेद करने को कहा है। नासा रोगों में पूतिनस्य में स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, नस्य (अवपीड़), पूयरक्त में वमन, नस्य, मूर्धस्वेद, नासानाह में स्नेहपान, शिरोबस्ति, नासास्राव में तीक्ष्ण अवपीड़ नस्य, प्रतिश्याय में स्वेद, वमन, अवपीड़ नस्य, विरेचन, आस्थापन का निर्देश है। शिरोरोगों में–घृतपान, तैलपान, स्वेदन, नस्य, बस्ति का निर्देश है। कफज शिरोरोग में नस्य, तीक्ष्ण वमन, अच्छस्नेह, त्रिदोषज में पुराण सर्पि का नस्य, सूर्यावर्त में नस्य, अनंत वात में सिराव्यध कृमिज में नस्य इत्यादि का उल्लेख है।

शल्य तंत्र में— व्रण चिकित्सा में व्रण के ६० उपक्रम कहे हैं जिसमें स्नेहन, स्वेदन, परिषेक, वमन, विरेचन, बस्ति, नस्य का उल्लेख है। भग्न में कटि अस्थि भग्न में बस्ति, हनुच्युति में स्वेदन नस्य। भग्न में ऊर्ध्व काय भग्न हो तो नस्य प्रशाखा भग्न में अनुवासन का निर्देश है। वातार्श में स्नेहन, स्वेदन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन (मना नहीं है याने तथा योग्यतया करें) पित्तज में विरेचन, भगंदर में विरेचन, ग्रंथि, अपचि, अर्बुदादि

में घृतपान, तैलपान स्वेद, संशोधन, वृद्धि में विरेचन, निरूह इत्यादि ढंग से चिकित्सोपदेश हैं।

२. सामान्य चिकित्सा सिद्धांत और पंचकर्म

आयुर्वेद का प्रसिद्ध सिद्धांत है कि दोष कोष्ठ से शाखा में जाकर रोग उत्पन्न करते हैं। व्यायाम द्वारा प्रक्षोभ से, उष्णता से, तीक्ष्णाधिक पदार्थों के सेवन से तथा अहितकारक आहार विहार से वायु के द्रुत गुण के कारण से, दोष कोष्ठ से–रसादि धातु में (शाखा में) चले जाते हैं। वहां वे अनुकूल हेतु की प्रतीक्षा करते हैं और अनुकूलता प्राप्त होने पर प्रकुपित होकर रोग उत्पन्न करते हैं। इनकी शाखा से पुनः कोष्ठ में लाना और नजदीक के मार्ग से निकाल देना यह चिकित्सा का सिद्धांत है।[६१] कोष्ठ में लाने के पांच उपाय हैं।

१. दोषों में वृद्धि करा कर
२. विष्यंदन या विलयन कराकर
३. दोषपाक करा कर
४. स्त्रोतों के मुखों को खोलू कर
५. वायु का नियंत्रण कर।[६२]

ये सब उपाय पंचकर्म के द्वारा ही संभव होते हैं। प्रथम स्नेहन किया जाता है। स्नेहन यह विष्यंदन करता है, दोषों को मृदु करता है और क्लेद को बढ़ाता है। जिससे आप्य द्रव्य का प्रमाण बढ़ने से सर और द्रवगुण से स्रवण होने में सहायक होता है। फिर स्वेदन करने से उष्ण गुण से दोष पाक होता है। आम दोष स्त्रोतों में धातुओं में चिपक कर बैठते हैं। दोषपाक से वे ढीले होकर स्थान छोड़ते हैं। स्वेद से स्त्रोतों के मुखों का (The pores of the walls of the cell membrane) विकास होता है जिससे स्त्रोतों को मुख पर से चिपके धातु और मल हटकर शोधन होता है। स्नेहन और स्वेदन से वात का भी नियंत्रण होता है ''वातस्योपक्रमः स्नेहः स्वेदः संशोधन मुदुः'' ऐसा कहा ही गया है। इन कारणों से दोष शाखा से पुनः कोष्ठ से आते हैं, जहां वमन, या विरेचन कराकर इन्हें शरीर से बाहर कर दिया जाता है।

३. शोधन से चिकित्सित रोगों का अपुनर्भव

संशोधन का वैशिष्ट्य यह है कि–शमन से चिकित्सा की जाने पर दोषों का प्रशम तो होता है, किन्तु पुनः प्रकोप होने की संभावना रहती है, जहां संशोधन से शोधन करने पर मूल से दोष नष्ट होता है, जिससे उसका पुनरुद्भव नहीं होता।[६३]

संशोधन के गुण— विशुद्ध पुरुषों को निम्नोक्त गुण प्राप्त होते हैं।[६४]

१. कायाग्नि तीक्ष्ण होती है।
२. व्याधियां प्रशमित होती हैं।
३. स्वास्थ्य का अनुवर्तन होता है।
४. इंद्रियाएँ प्रसन्न रहती हैं।
५. मन और बुद्धि के कार्यों का प्रकर्ष होता है।
६. वर्ण प्रसादन होता है।
७. बल बढ़ता है।
८. शरीर पुष्ट होता है।
९. अपत्य या संतानोत्पत्ति होती है।
१०. वीर्य की वृद्धि होती है।
११. वृद्धावस्था देर से आती है।
१२. रोग रहित दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है।

यहां तक इस ग्रंथ में वक्ष्यमाण विषय में प्रवेश करने के लिए जिन जिन महत्त्वपूर्ण बातों का स्मरण चिकित्सकों को हमेशा रहना चाहिए उनका विचार किया है। अब पंचकर्म चिकित्सा में कहे हुए सिद्धान्तों का ऐतिहासिक दृष्टि बिंदु से विवरण किया जाता है। वस्तुतः जो अति प्राचीन है वह सब अच्छा है– इत्यादि कोई भी पूर्वग्रह रखने का कोई कारण नहीं है। परम्परानुसार आनेवाली प्रक्रिया को केवल परम्परा से आयी है एतदर्थ सत्कारने का लेखक का आग्रह नहीं रखता। यहाँ केवल जिज्ञासुओं के ज्ञान के लिए पंचकर्म का भारतीय चिकित्सा पद्धति में तथा संसार की चिकित्सा पद्धति में ऐतिहासिकता से क्या स्थान रहा है इतना ही देखने का हेतु है।

चिकित्सा शास्त्र में पंचकर्म का स्थान : एक ऐतिहासिक 'अवलोकन'

अवलोकन—आयुर्वेद शास्त्र वैसे ही एक अति प्राचीन शास्त्र है। अग्निवेश का काल इ. स. पूर्व एक शताब्दि का कम से कम माना जाता है। आत्रेय का काल यद्यपि अनिश्चित है तथापि करीब उसी बीच में अग्निवेश के शिष्यत्व के कारण उसका काल माना जाता है। इस संहिता के पूर्व चिकित्सा शास्त्र का सम्यक् विकास हुआ था ऐसा विद्वान मानते हैं।

भारतीय संस्कृति का इतिहास 'वैदिक काल' से प्रारंभ किया जाता है। 'वेदों में आयुर्वेद के' उपलब्धि दर्शक अनेक मंत्र प्राप्त है। पंचकर्म की चिकित्सा पद्धति उस समय अस्तित्व में थी यह कहना तो साहसिक होगा किन्तु औषधि, रोग, भिषग् इत्यादि के प्राप्त मंत्रों के अर्थ में जैसे तर्क से पुष्टि की जाती है वैसे तर्क से कहा जा सकता है कि, 'यथासन्न विनिहरेत्' नजदीक के रास्ते से रोग को निकाल देने का सिद्धांत उनको ज्ञात था और उसका वे चिकित्सा में आचरण करते थे। ऋग्वेद में आया हुआ निम्नलिखित मंत्र देखिए—

"अक्षिभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां चुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षण्य मस्तिष्काज्जिह्वाया विवृहामि ते।।" ऋ. १०-१६-४-१

इसका अर्थ है— हे रोग से पीड़ित मनुष्य, तेरी आंखों से, कानों से, चिबुक से, सिर से और जिह्वा से मैं रोग को 'पृथक' करता हूँ। यह मंत्र अथर्ववेद में भी है। यहाँ आँख, नाक, कान आदि से रोग को 'पृथक' करता हूँ ऐसा कहा है यह पार्थक्य असन्नस्थान के विशिष्ट कर्म का दर्शक है और 'भ्या' यह प्रत्यय हैं। अतः कर्म से–सम्भवतः नासा में नस्य का प्रयोग भी तर्क्य है न कि उनके रोग के लिए। ऋग्वेद का एक और मंत्र देखें।

"ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनुक्यात्।
यक्ष्म दोषाण्य मांसाभ्यां बाहुभ्यां विवृहामि ते।।" ऋ. १०-१६४-२

अर्थ— रोग से पीड़ित मनुष्य, तेरी ग्रीवा से, उष्णिहा (धमनियों) से, अस्थियों से, दोष्णों से, बाहु से, अंस से, रोग की जड़ को निकाल देता हूँ। यहां धमनियों के द्वारा रोग को निकालने की बात है जो संभवतः रक्तमोक्षण की दर्शक हो। अन्यत्र भी लोम से, त्वचा से, पर्वों से रोग निकलने का विषय है वह स्थानिक अनेक कर्म और शस्त्र कर्म के बोधक हैं। सूर्य की उपासना के मंत्र ऋग्वेद में आते हैं उनसे स्वेद का महत्त्व उनको ज्ञात था ऐसा अर्थ विद्वान वैद्य करते हैं। 'सूर्य से हमारा वियोग न हो, सूर्य स्थावर जंगम

की आत्मा है' इस मंत्र पर से 'प्रांग् मुखं, उदंग् मुखं कूटागारं कारयेत्' इस जेतांकोक्त स्वेद ग्रह से तुलना की जाती है।[६५] अथर्ववेद के कुछ मंत्रों में धमनी की प्रार्थना की है कि उनसे स्रवित होनेवाला रक्त वे रोक कर रखें और रक्त बंद हो जाये। इस तरह उर्ध्व अधो मध्य धमनियों की प्रार्थना की है। वैदिक काल में घृत का तथा स्नेहों का उपयोग किया गया है।

ब्राह्मण ग्रंथ में श्रौत सूत्रों में— हिरण्य केशी में अग्नि से रोग नाश होता है ऐसा कहा है। संभवतः अग्नि से स्वेदन अर्थ हो। अथवा अग्नि स्तुति हो। कौशिक सूत्रों में मंत्रों द्वारा जल, औषधि को आमंत्रित करके औषधि पिलाने के उपाय कहे हैं, जिसमें वातिक तक्म रोग में मांस और मेद (वसा का पान अब के ग्रंथों में) का पान, वातपित्तज रोग में तैलपान, धनुर्वात, अंग कंप में, शरीर भंग में घृत का नस्य एवं पान का निर्देश है। कुष्ठ शिरोरोग गंडमाला में जलौका से रक्तमोक्षण, रक्त के न निकलने पर सैंधव नमक का रगड़ना यह उपाय निर्दिष्ट है।[६६]

उपर्युक्त काल के बाद बौद्ध साहित्य में कुछ कथाएं मिलती है जो जिज्ञासुओं को मनोरंजक प्रतीत होगी। बौद्ध काल लगभग १४२५ से ३६३ इ. स. पूर्व का माना जाता है। यदि चरक का तब तक प्रणयन मान लिया जाये तो इस कथा से जानपद में भी पंचकर्म प्रसार समझा जाए और प्रणयन न मान ले तो पूर्वकाल में शोधन की सार्वत्रिकता माननी होगी। बौद्ध का एक मुख्य ग्रन्थ है 'विनयपिटिक'। इसमें निम्नोक्त कथाएं हैं।

स्वेद— आयुष्यमान पिलिंदवच्छ के शरीर में वात व्याधि उत्पन्न हुई थी। भगवान बुद्ध को यह कहा जाने पर उन्होंने उसको स्वेद चिकित्सा करने को कहा। स्वेद के चार प्रकार इस ग्रंथ में निर्दिष्ट हैं।

१. **संभार स्वेद**— पसीना लानेवाले पत्तों के बीच सोना।

२. **महास्वेद**— इसमें पुरुष प्रमाण का गड्ढा खोदकर उसमें अंगार, मिट्टी, बालू भरकर, वातहर पत्र बिछाकर तेलावत गात्र पुरुष को उस पर बिठाया जाता था।

३. **उदक कोष्ठ**— गरम पानी से भरे हुए उदक कोष्ठ में (अवगाह) बैठकर स्वेदन करना।

४. **भंगोदक**— पत्तों का क्वाथ कर उससे परिषेक करना।

जंताघर—विनयपिटिक में 'जंताघर' नामक स्वेद का वर्णन है जो चरक के 'जेंताकस्वेद' से मिलता जुलता है। इसमें एक मकान में आतुर का धूमनेत्र के द्वारा स्वेदन करते थे। रक्तमोक्षण-पिलिंदवच्छ को पर्ववात (संभवतः वातरक्त) रोग हुआ था तब भगवान बुद्ध ने सींग से रक्त निकालने को कहा था।

'जीवक' नामक प्रसिद्ध वैद्य की कथाएं यहां आती हैं। जो इस प्रकार हैं।

१. साकेत नगर श्रेष्ठि की भार्या को शिरःशूल के लिए औषधसिद्ध घृत का नस्य दिया।

२. उज्जैन के राजा प्रद्योत को घृतपान कराकर वमन करवाया।

३. उसके सेवक काकदास को आधा आँवला (औषध संस्कृत) खिलाकर वमन करवाया।

४. भगवान बुद्ध को दोषग्रस्त होने पर विरेचन देना था। तब सामान्य की भांति दवा न देकर 'तीन उत्पल हस्त' लेकर उन्हें औषधि संस्कारित कर उसको सुंघाकर (नस्य) विरेचन करवाया। एक-एक उत्पन्न हस्त के सुंघने से दस विरेचन होते थे ऐसा कहा है।

इसके बाद के काल में चरक संहिता का काफी प्रचार हुआ था। अतः तदुपरांत की कथाओं का विशेष प्रयोजन नहीं है। चरक और सुश्रुत में पंचकर्म के सभी विषय अति विस्तार से वर्णित हैं। वाग्भट जो संभवतः इ. स. ४०० में हुए, के काल में इस शास्त्र का अच्छा प्रकर्ष हुआ मिलता है। भेलसंहिता, काश्यप संहिता, हारीत संहिता, भावप्रकाश, शार्ङ्गधर इत्यादि सभी आयुर्वेद ग्रंथों में पंचकर्मोक्त विषयों का स्वतंत्र अध्यायों द्वारा विवरण उपलब्ध है, जो तत्तद कालीन लोगों में इसका प्रचार प्रदर्शित करता है।

अन्य चिकित्सा इतिहास और पंचकर्म—आधुनिक चिकित्सा शास्त्र जिस परंपरा से आविष्कृत हुआ है– उसकी प्राचीन परंपरा में हमें पंचकर्म सिद्धांतों का बार-बार दर्शन होता है। चिकित्सा इतिहास में ग्रीक, इजिप्त, मेसापोटेमिया, परेशिया, दक्षिण अमेरिका इत्यादि के चिकित्सक भिन्न-भिन्न हेतुओं से पंचकर्मोक्त विधियों का प्रयोग करते थे यह इतिहास ग्रंथों से स्पष्ट होता है।

मेसापोटेमिया में प्राचीन चिकित्सक तैल, घृत, मोम, मधु और क्षीर का प्रचुर मात्रा में उपयोग करते थे।[६७] उदरशूल के लिए वमन और विरेचन का प्रयोग करते थे।[६८] उनको कोष्ठ के शुद्धि का महत्त्व उचित ढंग से स्वीकार्य था और उसके लिए वे तैल बस्ति का प्रयोग करते थे और पचन तंत्र के विकारों में वमन देते थे और इससे वे अच्छे होते हैं इस पर उनका विश्वास था।[६९] हिप्पोक्रेटस काल (Hippocratus) में बस्ति का देना केवल मल निकालने के लिए नहीं अपितु–आंत्र में बस्ति का शोषण और बृंहण गुण प्राप्त हो इस हेतु अनेक द्रव्यों से युक्त बस्तियां दी जाती थीं।[१००] गुदा पर स्वेदन भी किया जाता था। स्वेदन के लिए गरम ईंटें और गरम स्थानकों को कपड़ों में लपेट कर प्रयोग करते थे।[१०१] इतना ही नहीं बल्कि सात ईंटों को गरम कर उस पर ठंडा पानी आदि डालकर निकलनेवाली भाप पर आतुर का स्वेदन करते थे इसका उल्लेख है।[१०२] इसी तरह नस्य में उपयोग करने के लिए नस्य यंत्र का भी उल्लेख मिलता है।[१०३] विरेचन में स्वर्णपत्री और इंद्रायण का उपयोग किया जाता था।[१०४] दक्षिण अमेरिका में 'भूत' चिकित्सा के लिए रक्तमोक्षण सिरावेध कराकर किया जाता था ऐसा उल्लेख है।[१०५]

इन सबके अतिरिक्त पंचकर्म में जो शोधन के सिद्धांत मान्य है उनकी भी रूपरेखा हिप्पोक्रेटस के काल में मिलती है। इस युग को 'ग्रीक चिकित्सा शास्त्र का स्वर्ण युग' कहा जाता है अतः इसे उन्हीं शब्दों में उद्धृत करते हैं।

"The Golden Age of Greek medicine (page 242).

The Book also has a chapter on vomiting and the taking of Enemas, as a matter of Hygiene. For more than two thousands years people evacuated the body by way of stomach and bowels, to Librate it from superfluiets. This was a Greek heritage, the result of Greek Physiological and Pathological theories as we find them first expressed them in Hippocratic writtings. Vomiting was recommended during the six winter months, because at the time. Phlegm dominated in the upper part of the body. During the summer hear, however the Enemas were recommended, because the body then became bilious with heavyness in the Lumber region and knees".

A History of medicine. Volume II P-242

अर्थात्—ग्रीस चिकित्सा शास्त्र का स्वर्णयुग इस ग्रंथ में (हिप्पोक्रेटस के) एक वमन और बस्ति पर भी अध्याय है, जो स्वस्थ वृत्त के अनुसंधान में है। करीब दो हजार से अधिक साल तक लोग आमाशय तथा पक्वाशय से कोष्ठ शुद्धि कराते रहें। जिसका उद्देश्य था कि कोष्ठ की दुष्टि से मुक्ति हो। यह ग्रीस की परंपरागत देन थी जो ग्रीस के शारीर विज्ञान और विकृति विज्ञान का परिणाम थी, इसका सुबूत है कि हिप्पोक्रेट ने सब से प्रथम अपने लेखन से यह स्पष्ट किया। शीतकाल के छः मासों में वमन निर्दिष्ट किया, क्योंकि इस समय प्लेगम (कफ) शरीर के ऊर्ध्व भाग में दुष्टि करता है। उष्णकाल में शरीर बिलियस (पैत्तिक दुष्ट) बनता है जिससे पृष्ठ और जानुसंधि में भारीपन होता है– अतः बस्ति अभिष्ट है।

उपर्युक्त में कफ के लिए वमन और पित्त के लिए बस्ति कही है। आयुर्वेद पित्त के लिए विरेचन और वात के लिए बस्ति कहता है, तथापि पित्त में बस्ति चिकित्सा भी उपयोगी होती ही है और यहां जानु पृष्ठ का गौरव कहा है, आयुर्वेद में भी बस्ति साध्य है। अस्तु।

इन दिनों में १७वीं सदी में डॉ. हेंडरसन महोदय ने अपनी मानसशास्त्र की पुस्तक में लिखा कि उन्माद के सैकड़ों आतुरों पर वमन, विरेचन, रक्तमोक्षण (जलौका) करने की प्रथा चिकित्सा शास्त्र में थी, तथापि आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में शोधन पूर्व स्नेहपान की विधि नहीं थी, और स्नेहपान के बिना शोधन का कार्य बराबर नहीं होता और फल भी नहीं मिलता। संभवतः इसी कारण से धीरे-धीरे इसका प्रचार कम हुआ।

संक्षेप में यह इतिहास है। पंचकर्म शास्त्र एक प्रत्युपयोगी शास्त्र है इसका निर्णय अनुभव के बाद वैद्य स्वयं कर सकते हैं। इस शास्त्र का यथावत् विवरण आगे के अध्यायों में किया है।

संदर्भ

१. भिषग नाम यो भिषज्यति, यः सूत्रार्थ प्रयोग कुशलः, यस्यचायु सर्वथा विदितम् यथावत्। तत्र इमे भिषग् गुणाः यैरुपपन्नो भिषग् धातुसाम्याभिनिर्वर्तने समर्थनो भवति। तद्यथा पर्यवदात श्रुतता, परिदृष्ट कर्मता, दार्क्ष्य, शौवं, जितहस्तता, उपकरणवत्ता, सर्वेन्द्रियोपपन्नता, प्रकृतिज्ञता, प्रतिपत्तिज्ञता चेति।। च. वि. ८।८६

२. ''वाचस्पत्यम्'' ले० तर्कवाचस्पति श्री तारानाथ भट्टाचार्य प्र० चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस-वाराणसी, पृ. १७३०

३. दैवमात्मकृतं विद्यात्कर्म यत् पौर्वदैहिकम्।।
१. स्मृतः पुरुषकारस्तु क्रियते यदिहापरम्। च. वि. ३-३६

२. निर्दिष्टं दैवं शब्देन कर्म यत्पौर्व देहिकं।। च. शा. १-११६
हेतुस्तदपि कालेन रोगाणामुपलभ्यते।।

४. द्रव्याणि हि द्रव्य प्रभावात् गुणप्रभावात् द्रव्यगुण प्रभावाच्च तस्मिन् तस्मिन् काले तत्तदधिष्ठानमासाद्य तां तां युक्तिमर्थच तमभिप्रेत्य यत् कुर्वन्ति तद् कर्म।। च. सू. २६-१३

५. संयोगे च विभापेच च कारणं द्रव्यमाश्रितम्।
कर्तव्यस्य क्रिया कर्म कर्म नान्यदपेक्षते।। चे. सू. १-५१

६. महर्षयस्ते ददृशुर्यथावज्ज्ञानचक्षुषा।
सामान्यं च विशेषं च गुणान्द्रव्याणि कर्मच।
समवायं च तज्ज्ञात्वा.....।। च. सू. १-२८, २६

७. (अ) प्रवृतिस्तु खलु चेष्टा कार्यार्था। सैव क्रिया कर्म यलः कार्यसमारंभश्च।
च. वि. ७-८७

(आ) ततोऽनंतरं कार्यार्था प्रवृतिरिष्टा। तस्माद् भिषग् कार्य चिकीर्षुः प्राक्कार्य समारंभात्परीक्षया केवलं परीक्ष्यं परीक्ष्याथकर्म समारंभेत् कर्तुम्।।
च. वि. ८-७६

(इ) प्रवृत्तिः प्रतिकर्म समारंभ।। च. वि. ८-८४
प्रतिकर्म–चिकित्सा। च. पा.

(ई) नौ मारुतवशेनैव भिषग् चरित 'कर्मसु'। च. पा.
कर्मसु चिकित्सासु। च. सू. ६-१६

८. क्रिया ग्रहणात् च्छेद्यादीनि स्नेहादीनि च कर्माणि व्याख्यातानि।। सू. सु. १-२७

९. अष्टोदरीय अध्याय–च. सू. १६

१०. तान्युपस्थित दोषाणां स्नेह स्वेदोपपादनैः।
पंचकर्माणि कुर्वीत मात्रा कालौ विचारयन्।। च. सू. २-१५

११. पंचकर्माणि चाश्रित्य प्रोक्तो भेषज संग्रहः।। च. सू. २-३४
पूर्व मूल फलज्ञान हेतोरुक्तं यदौषधम्।
पचकर्माश्रय ज्ञान हेतोस्तद्व कीर्तितं पुनः।। च. सू. २-३५

१२. दीर्घजीवितीये मूलिन्यश्च पंचकर्मांगभूता उक्ता। अपराण्यपि च पंचकर्म साधनानि भवंति। तथा पंचकर्मप्रवृत्ति विषयोऽपि तत्र नोक्तः। तेनानंतरं शेष पंचकर्मोपयोगिद्रव्य पंचकर्म प्रवृत्ति विषयाभिधायकोऽपामार्ग तंडुलीयोऽभिधीयते। च. पा. च. सू. २-१ पर

१३. तस्माद् वसंते कर्माणि वमनादीनि कारयेत्। च. सू. ६-२३ च. पा.-दोष चयाद्यर्थं 'पंचकर्म' प्रवृत्त्यर्थचाभिघातव्य प्रावृडादि ऋतुक्रमेण फाल्गुन चैत्रो वसंतो भवति। न वैशाखः।

१४. अस्थ्याश्रयाणां व्याधीनां 'पंचकर्माणि' भेषजम्।। च. सू. २८-४१

१५. शिरोविरेचनादेश्च 'पंचकर्माश्रयस्यौषध गणस्यः.....प्रयोषतारः।। च. सू. २६-७

१६. दूषिविशेऽथ रक्तस्थे सिरा, कर्मपंचविधम्।। २३-६३

१७. भगवन् पंचकर्माणि समस्तानि पृथक् तथा।
निर्दिष्टान्यामयानां हि सर्वेषामेव भेषजम्।।
दोषजोऽस्त्यामयैः कश्चित् यस्य तानि भिषग्वर।
नस्युः शक्तानि शमने साध्यस्य क्रियया सतः।
अस्त्यूरूस्तभं इत्युक्ते गुरुणा तस्य कारणम्...।। च. चि. २७-५-६, ७

१८. पंचकर्म गुणातीतं श्रद्धावंतं जिजीविषुम्।
योगेनानेन मतिमान् साधयेदपि कुष्ठिनम्।। सू. चि. १३-१६

१९. पंचकर्म गुणातीतं इत्यत्र वमनादीनां पंचकर्म गुणानाम प्राप्त फलैरित्येके। तत्र कुष्ठिनमपि इत्यपि शब्दार्थः। डल्हण उपर्युक्त पर

२०. संशोधनसंशमनीये तु दोष प्रत्यनीकप्रायाः पंचकर्मोपयोगिनः शोधन द्रव्य संग्रहगणा, वातादि शमन द्रव्यगणाश्च कथयितव्या इति शेषः। सु. सू. ३६-१ पर डल्हण

२१. स्नेहपीते प्रयुक्तेषु तथा पंचसु कर्मसु। अ. हृ. सू. २७-८
अ. द.–तथा पंचसु वमनादिषु अर्मसु।

२२. पंचकर्मोक्तिप्रस्तावे वमन विरेकान्वासन निरूहानुक्त्वा नस्यविधिमाह।
अ. द., अ. हृ. सू. २०-१ पर

२३. (१) इह वमनादिषु कर्म लक्षणं बह्वितिकर्तव्यता योगि दोष निर्हरण शक्तिज्यायस्त्वम्। तेन तंत्रांतरेण स्नेहस्वेदौप्रक्षिप्य सप्त कर्मणि इति यदुच्यते तन्न स्यात्। नहि स्नेहस्वेदौ दोष बहिर्निस्सरणं कुरुतः। दोष संशमनं तु कुरुतः। च. सू २-१५ पर च. पा.

(२) वमनं रेचनं नस्यं निरूहश्चानुवासनम्।
ऐतानि पंचकर्माणि कथितानि मुनीश्वरैः।। श. उ. ८-७०

(३) प्रथमं वमनं पश्चात् विरेकश्चानुवासनम्।
एतानि पंचकर्माणि निरूहो नावनं तथा।। भा. प्र. पू. खं.

२४. कर्मणां वमनादीनां पुनरप्यंतरेतरे।
स्नेहस्वेदौ प्रयुंजीत स्नेहं अंते बलाय च।। च. सि. ६।७

२५. अनुवासनं तु वमनादिवन्न बहुदोष निर्हरण कारणं भवति तथापि पुरीषस्य पक्वाशयगत वातस्य च बहिर्निर्हरकत्वात् कर्म लक्षण व्याप्तमेव। निष्ठीवनं नेत्रांजनादौ तु स्नेह स्वेदादिवत् वह्वितिकर्त्तव्यता योगो, न च बहु निर्हरकत्वं तेन न तत्कर्म शब्दवाच्यम्।।
च. पा., च. सू. २-१५ पर

२६. उत्तरबस्तिस्तु स्वेदरूपोऽनिरूह स्नेहबस्तावेवांतर्भवति। यदिवेह वमनादिषु पंचकर्मसु पंकज शब्दवत् योगरूढेयं संज्ञा। तेन न स्नेह स्वेदानिष्ठीवनादिषु वर्तते।
च. पा., च. सू. २-१५ पर

२७. त्रिविधं कर्म-पूर्व कर्म प्रधानकर्म पश्चात्कर्मेति।। सू. सु. ५-१

२८. तत्रैके लंघनादि विरेकपर्यंत पूर्वकर्म। व्रणस्य पाटन रोपणं यच्च प्रधानं कर्म। बलवर्णाग्निकार्य तु पश्चात्कर्मेति समादिशेत्। डल्हण उपर्युक्त पर

२९. अपरे तु चयादीनां पूर्वरूपांतानां आतंकोत्पत्तेः प्राक् यत् क्रियते तत्पूर्व कर्म, आर्तकोत्पतौ यत् तत्प्रधानं कर्म, निवृत्तातंकस्यानुबंधोपचारणाय यत् यत् पश्चातकर्म। डल्हण

३०. अन्ये संशोध्यस्य पाचन स्नेहन स्वेदनानि पूर्व कर्म विरेचन बस्ति नस्य शिरा मोक्षणानि प्रधानं कर्म, पेयाद्यन्न संसर्जनं पश्चात्कर्म। डल्हण-उपर्युक्त पर

३१. चतुष्प्रकारा संशुद्धि।। च. २२-१८
च. पा.–चतुष्प्रकारा संशुद्धिः इति अनुवासनं वर्जयित्वा तस्य बृंहणत्वात। ६३ यथा क्रम देखे।

३२. हत्यांशु युक्तं चक्त्रेण द्रव्यमामाशयान्मतान्।
घ्राणेन चोर्ध्वजत्रूत्थान पक्वाधानात् गुदेन च।। अ. हृ. सू. १३।३१

३३. शरीराजानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम्।
बस्तिविरेको वमनं तथा तैलं घृतं मधु।। अ. हृ. सू. १-२५

३४. उपक्रम्यस्य हि द्वित्वात् द्विधैवोपक्रमो मतः।
एक संतर्पणश्चात्र द्वितीयश्चापतर्पणः।।
बृंहणो लंघनश्चैव तत्पर्यायावुदाहृतो।। अ. हृ. सू. १४, १, २

३५. स्नेहनं रुक्षणं कर्म स्वेदनं स्तंभनं च यत्।
भूतानां तदपि द्वैध्यात द्वितयं नातिवर्तते।। अ. हृ. सू. १४।३

३६. शोधनं शमनं चेति द्विधा तत्रापि लंघनम्।
पंचधा शोधनं च तत्-निरूहो वमनं काय शिरोरेकास्त्रविस्रुतिः।
शमनं तच्च सप्तधा–पाचनं दीपनं क्षुत्तृद् व्यायामातपमारुतः।। अ. हृ. सू. १४-४ से ७

३७. लंघनं बृंहण काले रुक्षण स्नेहनं तथा।
स्वेदनं स्तंभनं चैव जानीते यः स वै भिषग्।। च. सू. २२-४

३८. इति षट्त्रिंशत् उद्दिष्टा व्रणानां समुपक्रमाः।। च. वि. २५-४३

३९. तस्य व्रणस्य षष्टरूपक्रमा भवंति तद्यथा... सु. चि. १-२२

४०. भवति हि तृप्तिकारके संतर्पण शब्द प्रयोगः। च. सू. २३-३ पर च. पा.

४१. बृहत्वं यद् शरीरस्य जनयेतच्च बृंहणं। च. सू. २२-१०

४२. सक्तूनां षोडश गुणो भागः संतर्पणं पिबेद्। च. सू. २३-२१
च. पा.–संतर्पणं इति जलालोडित सक्तुरूपतया, तेन संतर्पणस्याप्यपतर्पणता ज्ञेया।....अत्र रुक्ष सक्तुकृतस्यापि मंथस्य द्रवत्व शैत्य देहानुसारित्वैः सद्यस्तर्पकत्वं भवत्येव।।

४३. शर्करा पिप्पलीमूल. . . मद्यविकारनुत्।। च. सू. २३-३५ से ३८

४४. अविपाकोऽरुचि स्थौल्यं पांडुता गौरवं क्लमः। पिंडका कोठ कंडूनां संभवोऽरतिरेव च।
आलस्य श्रम दौर्बल्यं दौर्गंध्यमवसादकः। श्लेष्मपित्त समुत्क्लेशो निद्रानाशोऽतिनिद्रता।
तंद्राक्लैव्यमबुद्धित्वमशस्त स्वप्नदर्शनं। बलवर्ण प्रणाशश्च तृप्यतो बृंहणैरपि। बहुदोषस्य लिंगानि तस्मै संशोधनं हितं।। च. सू. १६-१३ से १६

४५. बहु दोषाणां पुनर्दोषावसेचनमेव कार्यम्। ह्यभिन्ने केदारसेतौ पल्वल प्रसेकोऽस्ति, तद्वत् दोषावसेचनम्।। च. वि. ३-५३

४६. रोगान् जयेत् मध्यबलान् व्यायामातपमारुतैः।
बलिनां किं पुनर्येषां रोगाणामवर बलम्।। च. सू. २२-२३

४७. येषां मध्यबला रोगाः कफपित्त समुत्थिताः।
वम्यतीसार हृद्रोग विसूच्यालसकज्वराः।।
विबंध गौरवोद्गार हल्लासा रोचकाद्वयः।
पाचनैस्तान् भिषग् प्राज्ञः प्रायेणादावुपाचरेत्।। च. सू. २२-२१

४८. लंघन पाचने मध्यबलदोषाणां। लंघनपाचनाभ्यां हि सूर्य संतापमारुताभ्यां पांशुभस्मावकिरणैव चानति बहूदकं मध्यबलदोषः प्रशोषमापद्यते।। च. वि. ३-४६

४९. लंघनं अल्प बल दोषाणां। लंघनेन ह्यग्नि मारुत वृद्धया वातातपपरीतमिवाल्पमुद्रकमल्पो दोषः प्रशोषमापद्यते।। च. वि. ३-५१

५०. त्वग् दोषाणां प्रमीढांनां स्निग्धाभिष्यंदि बृंहिणाम्।
शिशिरे लंघनं शस्तमपि वातविकारिणाम्।। च. सू. २२-२४

५१. सर्व देह प्रसूतान् सामान् दोषान्न निहरेत्।
लीनान् धातुष्वनुत्क्लिष्टान् फलदामाद्रसानिव।
आश्रयस्य हि नाशाय ते स्युः दुर्निहरत्वतः। च. हृ. सू. १३-२८, २९

५२. पाचनैः दीपनैः स्नेहैः तान् स्वेदैश्च परिष्कृतान्।
शोधयेत् शोधनैः काले यथा सन्नं यथा बलम्।। अ. हृ. सू. १३-३०

५३. दोषावसेचनं तु खलु अन्यद्वा भेषजं प्राप्तकालमप्यातुरस्य नैत्रं विधस्य कुर्यात्। तद्यथा अनपवादप्रतीकारस्याधनस्यापरिचारकस्य वैद्य मानिनश्चंडस्यासूयकस्य तीव्रधर्मारुचेः अतिक्षीणबलमांसशोणितस्यासाध्य रोगोपहतस्य मुमूर्षुलिंगान्वितस्य चेति। एवंविध ह्यातुरमुपचरन् भिषग् पापीयसाऽयशसा योगमृच्छतीति।। च. वि. ३-५३

५४. दोषावसेचनं तु . . . . . भिषग् पापीयसा अयशसा योगमृच्छतीति।।

५५. तत्रादित्यस्योद्गमनमादानंच त्रीनृतून शिशिरादीन् ग्रीष्मांतान् व्यवस्येत्। वर्षादीन् पुनर्हेमंतान् दक्षिणायनं विसर्ग च। च. सू. ६-४

५६. हेमंतो ग्रीष्मो वर्षाश्चेति शीतोष्ण वर्षा लक्षणत्रयः ऋतुवो भवंति। तेषामंतरेष्वंतरेष्वितरे साधारणलक्षणस्त्रय प्रावृड्शरद्वसंताः इति। च. वि. ८-१२७

५७. प्रावृड शुचि नभी ज्ञेयौ शरदुर्ज सहौपुनः।
तपस्यश्च मधुश्चैव वसंतः शोधनं प्रति।
ऐतानृतून् विकलप्यैव दद्यात् संशोधनं भिषग्।। च. सि. ६-५, ६
शुचि नभौ आषाढश्रावणौ। उर्ज सहौ कार्तिकमार्गशीषो, तपस्याः फाल्गुना, मधुश्चैत्रः।

५८. रसोत्पाद बल चिंतायां स्वस्थ वृत्तानुष्ठानेषुच शिशिरादि क्रमो भवति, संशोधन व्यवस्थायांतु प्रावृडादिरित प्रावृडादि क्रमोऽयं संशोधनानुकूलतयाचार्येण कल्पितो, न पारमार्थिकः।
च. पा., च. सि. ६-५, ६ पर

५९. च. पा. च. सू. ७-४६ पर।

६०. तस्मांद्वसंते कर्माणि वमनादीनि कारयेत्। च. सू. ६-२३
च. पा.–वमनादीनि वमन प्रधानानि। तेन आमानध्यत्वेन यदि वातपित्त प्रकोपस्तथाविधो भवति तदा विरेचनास्थापनानुवासनमपि प्रवृत्तिर्भवति। शिरोविरेचनंतु कफजयार्थ कर्तव्यमेव।

६१. तिक्तस्य सर्पिषोपानं विरेकी रक्तमोक्षणम्।। च. सू. ६-२४

६२. स्वस्थस्योर्जस्करं यत्तद् तद् वृष्यं तद्रसायनं। च. चि. १-१-४
लाभोपायो हि शस्तानां रसादीनां रसायनं। च. चि. १-१-७

६३. अपत्यसंतानकरं यत्सद्य संप्रहर्षणम्।
वाजीवातिबलो येन यात्यप्रतिहतः स्त्रियः।
वाजीकरणमेव तत्।। च. चि. १-१-८ से ११

६४. रसायनानां द्विविधं प्रयोगमृषयो बिंदुः।
कुटीप्रावेशिकं चैव वातांतपिक मेव च।। च. चि. १-१-१६

६५. ततस्तां प्राविशेत् कुटीम्।
तस्यां संशोधनैः शुद्धः सुखी जातबलः पुनः।
रसायनं प्रयुंजीत तत्प्रवक्ष्यामि शोधनम्।। च. चि. १-१-२४

६६. शुद्धकोष्ठंतु तं ज्ञात्वा रसायनमुपाचरेत। च. चि. १-१-२८

६७. पूर्ववयसि मध्ये चा तत्प्रयोज्यं जितात्मनः।

स्निग्धस्य स्नुतरक्तस्य विशुद्धस्य च सर्वथा।। अ. हृ. उ. ३६-३
अ. द.—. . . . तथा सर्वथाऽधः उपरिष्टाच्च शुद्धस्य।

६८. अविशुद्धे शरीरे हि . . . बाजीकरो वा मलिने वस्त्रे रंग इवाफलः।। अ. हृ. उ. २६-४

६९. स्त्रोतःसु शुद्धेष्वमले शरीरे . . . बलप्रदं च।
तस्मात् पुरा शोधनमेव कार्य . . . च. चि. २-१-५०, ५१
पूर्व शुद्ध शरीराणां निरूहैः सानुवासनैः।
बलापेक्षी प्रयुंजीत शुक्रापत्य विवर्धनान्।।
घृत तैल रसक्षीर शर्करा मधु संयुताः।
बस्तयाः संविधातव्या क्षीरमांस रसाशिनः।। च. चि. २-४-६, १०

७०. नहि वृष्य योग . . सिद्धयन्ति देहे मलिने प्रयुक्ताः क्लिष्टे यथा वाससि
देखें उद्धरण – ६७. रागयोगः। च. चि. २-१-५०, ५१

७१. त्र्यहावरं सप्तदिनं परंतु स्निग्धो नरः स्वेदयितव्य उक्तः।
ग्राम्यौदकानूपरसौ समासैः उत्क्लेशनीयः पयसा च वाम्यः।। च. सि. १-६
. .....एकाहो परतस्तद्वत् भुक्त्वा प्रच्छर्दनं विबेत्।। च. सू. १३-८०

७२. स्नेहात्प्रस्कंदनं जंतुस्त्रिरात्रोपरतः पिवेत्।।
स्नेहवद्द्रवमुष्णंच त्र्यहं भुक्त्वा रसौदनम्।। च. सू. १३-८०
वमनानंतरं यदि विरचनं कर्तव्यं तदा नवमोद्धित सर्पिपानं। च. पा., च. सि. १-२० पर
पक्षाद् विरेको वांतस्य ततश्चापि निरूहणम्। सु. चि. ३६-५१

७३. संसृष्ट भक्तं नवमेद्धि सर्पिस्तं पाययेद्वाप्यनुवासयेत् वा।
तैलाक्त गात्राय ततो निरूहं दद्यात् त्र्यहान्नाति बुभुक्षिताम्।। च. सि. १-२
विरेचितस्तु सप्तरात्रात्परतो अनुवास्यः नार्वाक्।। सु. चि. ३६-५१ पर डल्हण
सद्योनिरूढश्चान्वास्यः सप्तरात्रात् विरेचितः। सु. चि. ३६-५१

७४. कालस्तु बस्त्यादिषु याति यावान्।
तावान् भवेद् द्विः परिहार कालः।। च. सि. १-५४

७५. सर्वक्षमो हयसंसर्गो रतियुक्तः स्थिरेंद्रियः।
प्रसन्नात्मा सर्वसहो विज्ञेयः प्रकृति गतः।। च. सि. १२-६

७६. तज्जा देहोर्ध्वसर्वाधोमध्म पीडामदोषजाः।
श्लेष्मजाः क्षयजाश्चैव व्याधयस्युर्यथांक्रमम्।। च. सि. १२-१२

७७. एतां प्रकृतिम प्राप्तः सर्व वर्ज्यानि वर्जयेत्। महादोष कराण्यष्टौ इमानि तु विशेषतः।।
उच्चैर्भाष्यं रथक्षोभमतिचंक्रमणासने। अजीर्णाहित भोज्ये च दिवा स्वप्नं समैथुनं। तज्जा
देहोर्ध्व ... ।। च. सि. १२-१०, ११

७८. से ८२ = च. सि. १२-१४ तत्रोच्चैर्भाष्यातिभाष्याभ्यां . . . प्रवाहाणामविषादयस्युः।।

८३, ८४, ८५. च. सि. १२-१४ विषमाहिताशनाभ्यां . . . तमः प्रवेश्यते इव च।

८६. तेषां सिद्धि . . . सर्वकालं च देयाः।। सि. १२-१५

८७. उदक पूर्ण घटं पार्श्व स्त्रोतस्यालाबु मुखादिषु च।
नेत्र प्राणिधान बस्ति व्रण बस्ति पीडन योग्यमिति। सु. सु. ६-४

८८. सुबहुश्रुतोऽप्यकृतयोग्यो कर्मस्वयोग्यो भवति। सु. सु. ६-३

८९. शून्यदेहं प्रतिकारंसहिष्णुं परिपालयेत्।
यथांडं तरुणं पूर्णं तैलपात्रं यथैव च।
गोपाल इव दंडीगाः सर्वस्मादपचारतः।। च. सि. १२-४, ५

९०. तत्र चेत् भिषग् कश्चिदेव खलु पृच्छेत् . . . च. वि. ८-८०, ८१

९१. ज्ञात्वा कोष्ठ प्रपन्नाश्च यथासन्नं विनिर्हरेत्।। अ. हृ. सू. १३-२३

९२. वद्धया विष्यन्दनात्पाकात् श्रोतो मुख विशोधनात्।
शाखान्मुक्त्वा मलाः कोष्ठं यांति वायोश्च निग्रहात्।। च. सू. २८-४७

९३. दोषाः कदाचित्कुप्यंति जिता लंघन पाचनैः।
जिताः संशोधनैर्यषु न तेषां पुनरुद्भवः।। च. सू. १६-२०

९४. एवं विशुद्ध कोष्ठस्य कायाग्निरभिवर्धते। व्याधयोश्चोपशाम्यते प्रकृतिश्चानुवर्तते।।
इंद्रियाणि मनोबुद्धि वर्णश्चास्यप्रसीदति। बलं पुष्टिरपत्यंच वृषता चास्य जायते।। जरां
कृच्छरेण लभते चिरंजीवत्यनामयः।। च. सू. १६-१७, १८, १६

९५. विस्तार देखें—आयुर्वेद का बृहद् इतिहास—ले. अत्रिदेव विद्यालंकार
पृ. २५, २६, २७।

९६. देखें – आयुर्वेद का बृहत इतिहास।

९७. 'History of Mankind' by Jacqueeta Hawks and Sir Leonard Wooley, volume I, page 693.

९८. उपर्युक्त ग्रंथ पृ. ३९५

९९. उपर्युक्त ग्रंथ पृ. – ६९५

१००. 'Enemas were usually from 1 to 3 pints and contain all kinds of mild drugs, so that in the number of cases the intention must have been, to have them kept and absorbed, rather than to have cause an evacuation'. A History of medicine by Henry E. Sigerist. (page 338 volume I)

१०१. उपर्युक्त ग्रंथ पृ. ३३८

१०२. 'Seven bricks were heated and the cold drug was pored over, one after another while the pt. was held over the developing fumes., *Ibid.*

१०३. We also have an interesting description of an apparatus use for inhalation. *Ibid.*

१०४. उपर्युक्त ग्रंथ

१०५. उपर्युक्त ग्रंथ

द्वितीय अध्याय

स्नेह-विज्ञान

व्याख्या—स्नेह का सामान्य अर्थ है स्निग्ध। जिसके द्वारा स्निग्ध किया जाता है वह क्रिया स्नेहन कहलाती है। स्नेह तथा स्नेहन की व्युत्पत्ति इस प्रकार संभावित होती है—'स्निग्ध में घञ्' प्रत्यय से स्नेह यह (पुल्लिंग) शब्द बनता है। जिसका अर्थ प्रेम, तैलादि रस भेद तथा न्यायशास्त्र के 'दाहानुकूल' गुणभेद में होता है। यह स्नेह ऐसा गुण है जो जल महाभूत का है – और पदार्थ के पिंडीभाव में हेतु कहा है। स्नेहन यह नपुंसक लिङ्गी शब्द है, जो 'स्निह में-णिच् ल्युट्' प्रत्यय से बनता है और इसका अर्थ होता है तैलादि द्वारा अभ्यंग करना।[१]

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि स्निग्धता उत्पादक प्रक्रिया स्नेहन है और स्नेह द्रव्यों से यह किया जाता है। स्नेहन के व्याकरणार्थ से यद्यपि तैलादि अभ्यंग किया गया हो, आयुर्वेद में आभ्यंतर स्नेहपान के लिए भी 'नातः परं स्नेहनमादिशांति' इत्यादि वाक्यों से किया हुआ स्पष्टतः मिलता है। चरक ने स्नेहन की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है –

''स्नेहनं स्नेह विष्यन्द मार्दवं क्लेद कारकम्।'' च. सू. २२-११

अर्थात् जिस प्रक्रिया से स्नेहन, विष्यंदन, मृदुता एवं क्लेदन उत्पन्न होता है उसे स्नेहन कहते हैं। यह एक चिकित्सा प्रकार है। रुक्षण चिकित्सा में कहा है, ''रौक्षं खरत्वं वैशद्यं यत्कुर्यात् तद्धि लक्षणं।'' (च. सू. २२-१०) । अर्थात् जो रूखापन, खरता, विशदता उत्पन्न करती है यह चिकित्सा रुक्षण है, स्नेह की विपरीत चिकित्सा है। रुक्षण को स्पष्ट करते हुए चक्रपाणि कहते हैं – ''विरुक्षणस्य हि मुख्यः स्नेहाभावः साध्यः।'' अर्थात् स्नेहभाव यह निरुक्षण है। यहां यह बात अवश्य समझनी चाहिये कि स्नेहाभाव यह रुक्षण हो सकता है – लेकिन रुक्षणाभाव यह स्नेह होगा ही ऐसा नहीं है। रुक्षण को नष्ट करने से हमेशा स्निग्ध लक्षणों का मिलना संभव नहीं है। अपितु स्नेहन प्रक्रिया से ही स्नेहलक्षणों की प्राप्ति होगी। अतः वह एक सकारात्मक (Positive) क्रिया है। इसकी नकारात्मक व्याख्या (Negative) करना उचित नहीं है।

स्नेहन की व्याख्या में स्नेहन, विष्यन्दन, मार्दव और क्लेदन करनेवाली प्रक्रिया को स्नेहन कहा है, यह ऊपर स्पष्ट किया है। स्नेहन का लौकिक अर्थ लुबाब है विष्यंदन वह है जिसमें विलयन क्रिया होकर स्राव उत्पन्न होता है। मार्दव-कोमलता को कहते हैं और क्लेद को उत्पन्न करनेवाली प्रक्रिया क्लेदन कहलाती है। क्लेद यह एक शरीर का आप्य घटक है। स्वेद से क्लेद का धारण होता है और मूत्र से क्लेद का वहन होता है। क्लेदन से क्लेद या शरीर का आप्य घटक का प्रमाण बढ़ने से चिपचिपापन उत्पन्न होता है।

स्नेह का सामान्य परिचय— स्नेह विधान पंचकर्म में एक प्रमुख पूर्वकर्म है। पंचकर्म के वमन, विरेचनादि के पहले स्नेहन आवश्यक होता है। चरक संहिता में सूत्रस्थान के १३वें अध्याय में स्नेह का विस्तृत वर्णन है। यहां चक्रपाणि कहते हैं कि वमनादि प्रवृत्ति में पहले स्नेहन किया जाता है तथा वात के व्याधियों में स्नेह प्रधान औषधि है, अतः स्नेह का अध्याय पहले कहा जाता है।[२] इसी तरह स्थान-स्थान पर यह स्पष्ट किया गया है कि पहले स्नेहन करना चाहिए फिर स्वेदन और स्निग्ध और स्विन्न शरीरवाले को शोधन (वमन या विरेचन) दे।[३] स्नेहन या स्वेदन की प्रक्रिया शोधन के लिए कृताकृत नहीं है अपितु अनिवार्य है। यदि स्नेहन या स्वेदन न कर कोई संशोधन प्रयुक्त करने का प्रयास करें तो उस आतुर का शरीर ऐसे विदीर्ण होगा जैसे सूखी लकड़ी को बिना तेल लगाए उसे नमाने का प्रयास करने पर वह टूट जायेगी। इस तरह स्नेहन एवं स्वेदन की प्रक्रिया में आचार्यों में बहुत सचेतता रखी है।

वमनादि क्रियाओं के द्वारा दोषों को शोधन किया जाता है। तत्पूर्व दोषों को स्थान विचलित करने के लिए, उनमें स्नेहन, विष्यंदन और क्लेदन करने के लिए स्नेहन आवश्यक होता है, तथापि पंचकर्म के पूर्वकर्म के स्वरूप में ही इसका महत्त्व है ऐसा नहीं है। जहां शोधन प्रयोजन से स्नेहन किया जाता है वहां वह पूर्वकर्म है और जहां रोगोक्त उपक्रम के लिए स्नेह प्रयुक्त होता है, वहां यह प्रधानकर्म (षडुपक्रमोक्त) का स्वरूप धारण करता है। स्नेहन प्रक्रिया में आप्य तथा पार्थिव महाभूतों के द्रव्यों का प्राधान्य है। विशेषतः आप्य घटकों का।

स्नेह द्रव्यों के गुण— जिन द्रव्यों के द्वारा स्नेहन किया जाता है उस स्नेह द्रव्यों में निम्नलिखित गुण होते हैं[४]—

१. स्निग्ध	२. गुरु	३. शीत
४. मृदु	५. द्रव	६. पिच्छिल
७. सर	८. मंद	९. सूक्ष्म

इन गुणों से युक्त द्रव्य प्रायः स्नेहन करते हैं। इन द्रव्यों से स्नेहन कैसे होता है, यह स्नेह का कार्मुकत्व समझने के लिए स्नेह द्रव्यों के गुणों का अर्थ, इनकी परिभाषा और गुणों के कर्म समझना चाहिए जिसका विचार नीचे किया है।

१. स्निग्ध गुण— स्निग्ध का सामान्य अर्थ है चिकनाहट। यह चक्षु से देखा जा सकता है।[५] यह आप्य महाभूत का विशेष गुण है,[६] तथापि भूत संगठन की दृष्टि से यह आप्य और पार्थिव है।[७] हेमाद्रि के अनुसार क्लेदन करनेवाला गुण स्निग्ध है।[८] सुश्रुत ने स्निग्ध गुण के चार कर्म (अ) स्नेहकृत् (आ) मार्दवकृत् (इ) बलकृत् (ई) वर्णकृत् दिये हैं।[९]

स्नेह के कार्मुकता में सबसे प्रधान यही गुण है। इसी के कर्म से इस प्रक्रिया को 'स्नेहन' नाम भी आन्वित हुआ है अन्य गुण इसके कार्य के सहाय्यकारी समझना चाहिए, किम्बहुना स्निग्ध गुण जहां होगा वहां ये गुण रहते हैं। स्निग्ध गुण वातहर है, कफकर है और वृष्य है। यह गुण संग्रह पिंडीकरण तथा मृजा-शोधन-शुद्ध करने में भी सहाय्य करता है। इससे शरीर के अणुस्तर पर स्नेहन, क्लेदन, विष्यंदन और मृजा-शोधन ये कार्य होते हैं।

२. गुरुगुण[१०] — गुरुगुण का सामान्य अर्थ है भारीपन। यह भारीपन आयुर्वेद में केवल वजन देखकर निश्चित किया जानेवाला नहीं है। अपितु कर्म सापेक्ष्य है। जिन द्रव्यों का जठराग्नि के द्वारा चिरकाल से पाक होता है उनको गुरु कहते हैं। गुरु गुण में ये कर्म होते हैं—

१. सादकृत् २. उपलेपकृत् ३. बलकृत्
४. तर्पणकृत् ५. बृंहणकृत्।

साद का अर्थ है शरीर में ग्लानि करना। गुरु द्रव्यों के सेवन से अग्निसाद और अंगसाद उत्पन्न होता हैं। उपलेप का अर्थ मल की वृद्धि करना है। डल्हण ने कफ वृद्धिकर ऐसा भी अर्थ किया है। गुरु से बल और कफ दोनों की वृद्धि होती है। तर्पण 'तृप्तिजनक' को कहते हैं और बृंहण देह वृद्धिकर को कहते हैं। हेमाद्रि ने गुरु को 'देह को पुष्ट करनेवाला' इस एक स्थूल कार्य से स्वीकार किया है। गुरु को भाव प्रकाश ने वातहर, कफकर, पुष्टिकर और देर से पचनेवाला ऐसा कहा है। यह पृथ्वी और अप् की प्राधान्यता से रहता है, तथापि पृथ्वी महाभूत का गुरुगुण में विशेष प्राधान्य समझना चाहिये।

३. शीतगुरु[११] — शीत का सामान्य अर्थ ठंडापन। शीत गुण के द्वारा

१. ह्लादन २. स्तंभन ३. मूर्च्छा हरण
४. तृषा प्रशमन ५. स्वेद हरण ६. दाहप्रशमन

ये कार्य होते हैं : अर्थात् जो आनंद और उत्साह को बढ़ाता है, शरीर में संकोचादि स्तंभन के कार्य करता है, मूर्च्छा को दूर करता है, स्वेद को कम करता है, तृषा और दाह को कम करता है वह शीत है। भौतिक गुण शीत स्पर्शोपलभ्य है। शीत गुण आप्य और वायव्य है। अतः जो स्निग्ध और शीत है उसे आप्य समझना चाहिये और जो रुक्ष और शीत है उसे वायव्य समझना चाहिये। स्नेहन द्रव्य का शीत गुण यह आप्य है— क्योंकि वैसे ही स्नेह द्रव्यों में आप्य का प्राधान्य कहा गया है। यहां स्तंभन करनेवाला गुण शीत है तथापि इसके द्वारा अवरोध का अर्थ न करें। स्तंभन का अर्थ शरीर के मांसपेशी तथा अन्य गात्रों को दृढ़, स्थिर बननेवाला ऐसा करें।

४. मृदुगुण[१२] — मृदु का सामान्य अर्थ है कोमलता और नाजुकपन। जिसके द्वारा मृदुता-कोमलता उत्पन्न हो वह मृदु गुण हो। यह कठिन के विपरीत गुण है। अवयवों को दृढ़ एवं संघातयुक्त करनेवाला कठिन गुण होता है। इसके विपरीत अर्थात् शिथिलतादिकारक गुण मृदु है। अरुणदत्त ने 'शिथिलावयत्वं मृदुत्वं' ऐसा कहा है। मृदु का भौतिक गुण स्पर्शग्राह्य है। मृदु यह आप्य, तथा नाभस गुण है। मृदु को सूश्रुत ने 'तीक्ष्ण' का विपरीत गुण कहा है। तीक्ष्ण गुण दाह, पाक और स्राव करता है। मृदु से इनका प्रशम होता है। स्नेह द्रव्यों में मृदु गुण का अरुणदत्त तथा हेमाद्रि का कहा हुआ ''शिथीलीकरण'' यह कार्य अधिक उचित है। स्रोतस के स्तर पर दोनों को मृदु करना यह इससे होता है।

५. द्रवगुण[१३] — द्रव का सामान्य अर्थ है तरल। जो गुण क्लेदन का कर्म करता है उसे द्रव कहते हैं। यह सांद्र के विपरीत गुण है, सांद्र गुण बंधकारक होता है। द्रव से आर्द्रभाव उत्पन्न होता है। इसको 'व्यापि' अर्थात् शीघ्रता से शरीर में प्रसरण करनेवाला

भी कहा गया है। हेमाद्रि ने द्रव को आलोडनकारक कहा है। आलोडन का अर्थ घोल करना है। इसे 'स्यंदनकारक' भी कहा है। संक्षेप में द्रवगुण के द्वारा स्नेह द्रव्यों का शरीर से शीघ्रता से प्रसरण, दोषों को विलयन करना और स्रवणशक्ति बढ़ाकर स्थान से प्लावित करना, ये कार्य होते हैं। यह अप् महाभूत प्रधान गुण है और इसके भौतिक स्वरूप का चक्षु से ज्ञान होता है।

६. पिच्छिल गुण[१४] — पिच्छिल का सामान्य अर्थ है चिपचिपापन। पिच्छिल गुण चक्षु से तथा स्पर्श से ग्राह्य (गम्य) है। इसमें अप् महाभूत का प्राधान्य होता है। पिच्छिल के पांच कार्य सुश्रुत ने दिये हैं।

१. **जीवन**— जीवन का अर्थ हैं आयुष्य का अनुबंधन करना। यह इस क्तादि धातु में यह कार्य करता है। २. बल वृद्धि करना। ३. संघात निर्माण-अवयव समूहों को अणु स्तर पर इकट्ठा रखना यह संघात है। ४. श्लेष्म वर्धक-कफ को बढ़ाता है जिससे बल बढ़ता है। ५. गुरुता निर्माण करना। अरुणदत्त ने गुण सांद्र, चिक्कण या चकचकायमान कहा है, हेमाद्रि ने लेपकारक कहा है।

७. सरगुण[१५] — सर का सामान्य अर्थ है सरकना, खिसकना, गतिशीलता, प्रसरणशीलता। जिससे अनुलोमन होता है उसे सर कहते हैं। अरुणदत्त ने इसे प्रवृतिशील तथा हेमाद्रि ने प्रेरणशील कहा है। सर वात एवं मल का इन कार्यों से प्रवर्तन करता है। सर गुण आप्य है। वाग्भट ने सर के स्थान में चल का निर्देश किया है। दोनों में समानता कही जा सकती है— तथापि चल गुण वायव्य है— और सर आप्य। अतः जो आकाश में चलन करते हैं उन द्रव्यों को चल प्रधान वायव्य समझे और जो प्रसरणशील-माध्यम के द्वारा स्रवित होते हैं— वे सर समझे।

८. मंदगुण[१६] — मंद का सामान्य अर्थ है धीमापन सुस्त। जो देर से कार्य करता है, धीरे-धीरे कार्य करता है वह मंद गुण है। अरुणदत्त इसे चिरकारित्व और हेमाद्रि 'शमन' करनेवाला गुण कहते हैं। इससे स्नेह द्रव्य धीरे-धीरे शरीर में प्रसृतः होते हैं और शमन का काम करते हैं। स्नेह द्रव्यों का दोष, धातु और मलों के साथ अधिक काल तक संपर्क में रखने का काम मंद गुण से होता है। यह आप्य भूयिष्ठ है।

९. सूक्ष्मगुण[१७] — सूक्ष्म का सामान्य अर्थ है बारीक। यह स्थूल गुण का विपरीत गुण है। सूक्ष्म उसे कहते हैं जो बारीक-बारीक स्रोतों में और छिद्रों में प्रवेश करता है। हेमाद्रि ने सूक्ष्म को विवरणशील कहा है। जिसका अर्थ है— घटकों को अलग-अलग करना। स्नेह द्रव्यों में सूक्ष्म गुण का बहुत महत्त्व है। इससे धातुस्त्रोतों में प्रवेश क्षमता प्राप्त होती है। यह आग्नेय, नाभस तथा वायव्य है, तथापि इसमें आकाश-महाभूत का प्राधान्य समझना चाहिये।

संक्षेप में स्नेह द्रव्यों के गुणों का यह परिचय है। स्नेह द्रव्य आप्य प्रधान है। उपर्युक्त गुणों के आधार पर इनका भौतिक संगठन देखा जा सकता है।

स्नेह द्रव्यों का भौतिक संगठन

स्नेह द्रव्यों के भौतिक संगठन को स्पष्ट करने के लिए आगे तालिका दी जाती है। इससे स्पष्ट होता है कि स्नेह में प्रायः आप्य गुणों की प्रधानता हैं। स्निग्ध, सर, शीत,

मृदु, पिच्छिल, मंद ये गुण आप्य हैं। सूक्ष्म एवं मृदु ये गुण नाभस हैं। गुरु यह पार्थिव गुण है। स्नेहों में अग्निगुण की अल्पता देखी जाती है, किन्तु अभाव नहीं समझना चाहिये। वस्तुतः स्नेह को पहले ही व्याख्या में 'यद्वशात् दाहानुकूलम्' ऐसा न्याय का आधार देकर दहनशील बताया है। प्रत्यक्ष में भी स्नेह से दीप जलाना, स्नेह से अग्नि वृद्धि ये देखे जाते हैं। स्नेह का आप्य प्रधान होते हुए तेजसांश रहना कुछ विरुद्ध प्रतीत होता है। वस्तुतः जल और तेज में स्थूलतः विरोध होते हुए भी सिद्धांततः तत्वतः अंततोगत्वा विरोध नहीं है। पंच–पंचीकरणानुसार आकाश-वायु और अग्नि का जल में अधिष्ठान होता ही है। स्नेहों को उष्ण संस्कार से अग्नि गुणाभिभूत कर प्रयोग किया जाता है। स्नेह गुणों के कार्य पीछे स्पष्ट किये हैं। तालिका में इन कार्यों का अधिष्ठान भूत जो जो शरीर घटक, स्नेह द्रव्यों के द्वारा निर्माण होता हैं— उनका भी निर्देश किया है। इन घटकों का आगे 'स्नेह कार्मुकत्व' का विचार करते समय पुनः विमर्श किया गया है। तालिका देखें। (पृ० ४३)

स्नेह भेद— स्नेहों के अनेक प्रकार है। भेत्ता हि भेद्य अन्यथा भिनत्ति इस चरक सूत्र के अनुसार इसके अनेक दृष्टिकोण में से भेद किये जाते हैं।

१. योनि भेद[१८] — योनि उत्पत्ति हेतु को कहते हैं। तदनुसार स्नेह दो प्रकार के हैं।

१. स्थावर स्नेह, २. जांगम स्नेह।

१. स्थावर स्नेह— जो वनस्पति के द्वारा उत्पन्न होते हैं उन्हें स्थावर स्नेह कहते हैं। स्थावर स्नेहों में तिल का तैल सब से प्रधान है। तैल संज्ञा भी 'तिलोद्भव' जो तिल से उत्पन्न होता है वह तैल इस अर्थ में दी गयी है और बाद में पंकजवत् सभी तैलों में रूढ़ हुई है। जिन वनस्पतियों से स्नेह प्राप्त होता है उन्हें 'स्नेहाशय' कहते हैं। चरक ने १८ स्नेहाशयों के नाम गिनाए हैं, वे ये हैं।[१९]

१. तिल	२. प्रियाल (चिरौंजी)
३. अभिषुक (औत्तर पथिकः)	४. विभीतक (बहेड़ा)
५. चित्रा (एरंड प्रकार)	६. एरंड
७. मधूक (महुआ)	८. सर्षप
९. कुसुंभ (करड)	१०. बिल्व
११. अरुक (भल्लातक भेद)	१२. मूलक
१३. अतसी (अलसी)	१४. निकोठक (अंकोठ)
१५. अक्षोड (अकरोड)	१६. करंज
१७. शिग्रु (सहिंजन)	१८. अभया (हरड़)

उपर्युक्त स्नेहों के आश्रयों से स्नेह निकालने की भिन्न भिन्न पद्धति है। तिल को निचोड़कर, भल्लातक को जलाकर ऐसे उपायों से स्नेह निकालते हैं। प्रायः बीज, बीज मज्जा इनके अंदर से स्नेह प्राप्त होता है। उपर्युक्त औषधि के अतिरिक्त और भी स्नेहाशय हैं, जिनका तिलादि उपलक्षण से ग्रहण होता हैं। वे हैं—जयपाल, मालकांगनी, बादाम, शीशम, निंब, जैतून, निलगिरी, लवंग, अम्लवृक्ष (कोकम) मूंगफली इत्यादि। इनमें लवंग-निलगिरी इत्यादि कुछ में स्नेहापेक्षा वेदना हरत्व ही प्रधान गुण है। निंब में त्वग्रोगशामकत्व, मालकांगनी का बुद्धि— मेधा-वाचा पर प्रभाव है। कदाचित् इन औषधि

स्नेह द्रव्यों के गुणों का भौतिक संगठन तथा शारीर कार्मुकता दर्शक तालिका*

क्र.	गुण	भौतिकता	भौतिक शारीर द्रव्य	शारीर कार्य
१.	स्निग्ध	आप्य	रस, रक्त, मांस, मेद, मज्जा, शुक्र, वसा, कफ, मूत्र इत्यादि।	स्नेहन, आह्लादन, क्लेदन, बंधन, विष्यंदन।
२.	गुरु	पार्थिव	नख, मांस, अस्थि, दंत वर्च; (मल), केश, श्मश्रु, लोम, कंडरादि।	स्थैर्य, संघात, बल, उपचयादि।
३.	शीत	आप्य वायव्य	रस, रक्तादि, आप्य, अस्थि, मांस, वायु, त्वक् आदि	ह्लादनादि आप्य, वैशद्य, लाघव, श्वासप्रश्वास, आकुंचन, प्रसारणादि।
४.	मृदु	नाभस	अणु स्रोतस, महान स्रोतस, श्रोत्र, आमाशय पक्वाशयादि मृदु अवयव।	मार्दवता, शैथिल्यकर, लाघवकर।
५.	द्रव	आप्य	रस, रक्त, मूत्र, शुक्रादि।	प्रक्लेदन, आलोडन।
६.	पिच्छिल	आप्य	रस, मेद, वसादि ..... मज्जा, शुक्रादि।	बल, संघात, जीवन गौरवकर।
७.	सर	आप्य आग्नेय	रसादि। रक्त, पित्त, प्रभादि।	स्नेहनादि, पचन, वर्ण, प्रकाशनादि।
८.	मंद	आप्य	रसादि।	स्नेहनादि।
९.	सूक्ष्म	नाभस	सूक्ष्म, स्रोतस, महान स्रोतस, इंद्रिय।	सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयवों में प्रवेश, सौषीर्यकर।

*भौतिक शारीर द्रव्य तथा कार्य का आधार देखें—च. शा. ७-१६ सु. सू. ४१-३ से ७

गुणों के प्राधान्य से यहाँ उल्लेख न हुआ हो। चक्रपाणि ने कहा भी है कि यहाँ तिलादि आविष्कृत तम हैं अतः गिनाये गये हैं। इससे न कहे हुए निंबादि के स्नेह भी बौद्धव्य है।[२०]

सुश्रुतोक्त स्थावर स्नेह— सुश्रुत ने स्थावर स्नेहों को कार्मुकता के आधार पर निरेचनोपयोगी, वमनोपयोगी इत्यादि प्रकार से विभक्त कर वर्णन किया है।

१. **विरेचनोपयोगी स्थावर स्नेह—** तिल्वक, एरंड, कोशाम्र, जमालगोटा द्रवंती (मोगलाई एरंड), (सातला), शंखिनी (यवतिक्ता), ढाक विषाणिका (मेषश्रृंगी) गावाक्षी (इंद्रायण), कमीला, आमलतास और नीलिनी ये विरेचनोपयोगी स्नेह हैं।[२१]

२. **वमनोपयोगी स्थावर स्नेह—** जीमूतक, कूड़ा कृतवेधन, इक्ष्वाकु (कडवौतुंबी), धामार्गव (घिया तुरई), मदनफल ये वमनोपयोगी स्नेह हैं।[२२]

३. **शिरोविरेचनपोयगी स्नेह—** विडंग, चिरचिटा, मीठा सहिंजन, सूर्यवल्ली (हुलहुल), पीलु, सरसों, मालकांगनी इनका स्नेह शिरोविरेचन (नस्य) में उपयोगी है।[२३]

४. **दुष्ट व्रणोपयोगी स्नेह—** करंज, पूति करंज, आमलतास, बिजौरा, हिंगोट, चिरायता, इनका स्नेह दुष्ट व्रण में रोपणोपयोगी है।[२४]

५. **महाव्याध्युपयोगी स्थावर स्नेह—** तुवरक, कैथ, कमीला, भिलावा, पटोल इनका स्नेह महाव्याधि (कुष्ठादि) में उपयोगी हैं।[२५]

६. **मूत्रसंग में उपयोगी स्थावर स्नेह—** खीरा, ककड़ी, कर्कारी (फूट), तुम्बी, पेठा ये मूत्रसंग में उपयोगी स्नेह हैं।[२६]

७. **अश्मरी में उपयोगी स्थावर स्नेह—** ब्राह्मी, बाकुची, हरड़ इनका स्नेह शर्करा और अश्मरी में उपयोगी है।[२७]

८. **प्रमेहोपयोगी स्थावर स्नेह—** कुसुंभ, सरसों, अलसी, नीम, माधवी लता, भांडी, कड़बी तुंबी और नीली अपराजिता इनका स्नेह प्रमेह में उपयोगी है।[२८]

९. **पित्त संसुष्ट वायु में उपयोगी स्नेह—** ताल, नारियल, कटहल, केला, प्रियाल, बेल, महुआ, लसूढ़ा, अंबाडा इनके फल स्नेह पित्त संसृष्ट वायु में उपयोगी है।[२९]

१०. **कृष्णीकरणोपयोगी स्थावर स्नेह—** बहेड़ा, भिलावा, मैनफल इनका स्नेह श्वेत व्रण को काला बनाने में उपयोगी है।[३०]

११. **पांडुकरणोपयोगी स्थावर स्नेह—** श्रवण, कंगुक (प्रियंगु) और श्योनाक ये स्नेह काले को श्वेत बनाते हैं।[३१]

१२. **दद्रु किटिभ कुष्ठ में उपयोगी स्थावर स्नेह—** चीड़, देवदारु, शीशम, अगुरु इन लकड़ियों के सार का स्नेह दद्रु, किटिभ और कुष्ठ में उपयोगी है।[३२]

चरकोक्त स्थावर स्नेहों का चिकित्सोपयोगी सामान्य परिचय तालिका में दिया जाता है।

स्नेहाश्रय द्रव्यों की परिचय तालिका

क्र.	चरकोक्त द्रव्य	प्रचलित नाम	लैटिन नाम	रस-विपाक	प्रधान गुण धर्म
१.	तिल	तिल	Sesamus indicum	कटु-तिक्त, मधुर, कषाय, विपाक-कटु स्वादु, गुरु	उष्ण, ककपित्तनाशक, त्वच्य, वातघ्न।
२.	प्रियाल	चिरौंजी	Buchania Latifolio	मधुर, विपाक, मधुर	स्निग्ध, विष्टंभी, आमवर्धक, हृद्य, पित्तवात शामक।
३.	अभिषुक	औत्तरपथिकः (च. पा.) संभवतः काबुल से आनेवला कोई द्रव्य (पिस्ता) ?	—	—	—
४.	विभीतक	बहेडा	Terminaia beleria	कषाय, विपाक-मधुर	उष्णवीर्य, लघुभेदन, वातकफहर।
५.	चित्रा	१. लोहित एरंड २. जयपाल बीज (च. पा.)	Recinus communis Baliospermum Axillare	मधुर, कषाय विपाक-मधुर रस,-कटु, विपाक-कटु	उष्ण, गुरु, वातघ्न शूलघ्न, विड्भेदन तीक्ष्ण, उष्ण, सारक, दीपन, पित्त रक्तघ्न।
६.	अभया	हरीतकी हरड़े	Terminalia citrina	लवणवर्ज्य, पंचरसयुक्त, कषाय विशेष, विपाक-मधुर	उष्ण, रुक्ष, अनुलोमन, बृंहणादि।
७.	एरंड	क्र. ५-१ देखें	—	—	—
८.	मधुक	महुआ	Basia-Latifolia	मधुर	शीत, गुरु, वातपित्तनुत, बृंहण।
९.	सर्षप	सरसों	Bassia-cam pistris	कटु	स्निग्ध, तीक्ष्ण, उष्ण, कफवात नाशक, पित्तकर।

तालिका अगले पृष्ठ पर भी

क्र.	वनस्पति का नाम	प्रचलित नाम	लैटिन नाम	रस-विपाक	प्रधान गुणधर्म
१०.	कुसुंभ	करे, कंरड	Carthamus Tinctorius	कटु, तिक्त	वातकारक, कफ-नाशक, रक्तपित्त शामक।
११.	बिल्व	बेल	Aegle-Marmelos	कषाय	रुक्ष, लघु, उष्ण, वातकफनाशक, बल्य, पाचन।
१२.	अरुष्क	औत्तरपश्चिक (व. पा.) भल्लातकफल (गणपाल)	Semicarpus Anacardium	कषाय, मधुर	लघु, उष्ण, वात-कफहर।
१३.	मूलक	मूली	Raphanus Satirvus	कटु	तीक्ष्ण, उष्ण, लघु पाचन, विदोषहर।
१४.	आरग्वधी	अलर्क, तिरसी	Linum Usita Tisbimum	मधुर, तिक्त, पाक-कटु	स्निग्ध, उष्ण, कफ-पित्तहर।
१५.	निकोठक	अंकोट, ढेरा, टेरा	Alangium Lamareku	कटु, तुवर	स्निग्ध, उष्ण, लघु, रेचन, कफपित्तापह, शूलहर।
१६.	अक्षोट	अखरोट	Jugians Regia	—	कफपित्तहर।
१७.	कांस्य	कांस्य	Pongasmia Cebra	कटु	उष्ण, तीक्ष्ण, कफापह, भेदन।
१८.	शिग्रु	सहिजन	Moringa Pterygos-Perma	कटु, मधुर	तीक्ष्ण, उष्ण, लघु, दीपन, कफवातहर।

वरकोक्त स्नेहोपग गण— स्थावर स्नेहों में वरक के स्नेहोपग गण का भी समावेश होता है। स्नेहोपग गण में १० वनस्पतियों का समावेश होता है[१]— द्राक्षा, यष्टिमधु, मद्वीका, मेदा, विदारी गंधा, काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभी और शतावरी इनको स्नेहोपग गण कहते हैं।

* मृद्वीका मधुक मधुपर्णी मेदा विदारी काकोली क्षीर काकोली जीवक ऋषभी शतावर्यौ इति दशेमानि स्नेहो पगानि भवन्ति।।
च. सू. ४-२२

स्नेह-विज्ञान ४७

१. जांगम स्नेह[३३] — जो स्नेह प्राणियों के द्वारा प्राप्त होता है उसे जांगम स्नेह कहते हैं। जांगम स्नेहों में मछलियाँ, हिरन तथा अन्य पशु पक्षियों के दूध, दही, घृत, मांस, वसा एवं मज्जा का प्रयोग किया जाता है। वाराह, व्याघ्र आदि की चरबी, मछलियों के तेल, गोक्षीर, घृत, माहिषक्षीर, घृत, इनके दही, नवनीत, छांछ इन सबका प्रचुर प्रमाण में उपयोग किया जाता है।

२. कार्मुकता के आधार पर भेद— स्नेहों के सुश्रुत ने कर्म के आधार पर विरचनोपयोगी, वमनोपयोगी, शिरोविरेचनोपयोगी, दुष्टव्रणोपयोगी इत्यादि भेद से बारह प्रकार किये हैं। उनको पीछे देखा गया है। इन सब कर्मों को तीन मूल कर्मों में विभक्त कर तीन प्रकार किये हैं।

१. शोधन स्नेह— शरीरस्थ दोषों को ऊर्ध्व, अधो मार्ग से बाहर निकाल देना शोधन है। इसमें विरेचनोपयोगी, वमनोपयोगी, शिरोविरेचनोपयोगी स्नेहों का समावेश होता है। शोधन स्नेह का दूसरा अर्थ है— शोधन के उद्देश्य से दिया जानेवाला स्नेह। पूर्व दिन सायंकाल का भोजन किया हुआ अन्न अच्छी तरह पचन हो जाए, तब प्रातःकाल में बहुत अधिक मात्रा में दिया हुआ स्नेह शोधन कहलाता है।[३४] इस तरह स्नेह मात्रा बढ़ाकर सम्यक् स्निग्ध हो जाने पर वमनादि शोधन किया जाता है।

२. शमन स्नेह— जो दोषों को न बढ़ाए, बढ़े हुए दोषों को कम करें वह शमन चिकित्सा है। शमन के लिए दिया हुआ स्नेह शमन स्नेह है। इसमें सुश्रुतोक्त कुष्ठ, किटिभादि में उपयोगी, दुष्ट व्रणों में उपयोगी, मूत्रसंग में उपयोगी, अश्मरी शर्करा में उपयोगी प्रमेहोपयोगी इत्यादि भेद से वर्णित स्नेह समाविष्ट होते हैं। शमन के लिए, भूख लगने पर, अभुक्त को मध्यम मात्रा में स्नेह दिया जाता है।[३५]

३. बृंहण स्नेह— जिस चिकित्सा से शरीर को बृहत् किया जाता है, पुष्ट किया जाता है उसे बृंहण कहते हैं। बृंहणार्थ दिया हुआ स्नेह बृंहण स्नेह है। एतदर्थ मांस, मद्य तथा भोजन के साथ मिश्रित कर अल्प मात्रा में स्नेह देना चाहिये।[३६]

३. मात्रा के आधार पर भेद— वस्तुतः मात्रा यह वर्ण्य क्रम में अपेक्षित विषय है। वह स्नेह भेद का आधार नहीं हो सकती, तथापि मात्रानुसार स्नेहों को खास रोगों में खास उद्दिष्टों से स्नेह देने का उपदेश मिलता है। अतः एक भेद कल्पित किया है। स्नेह इस तरह चार मात्रा में विभक्त होता है।

१. हसीयसी मात्रायुक्त स्नेह　　२. ह्रस्व मात्रायुक्त स्नेह
३. मध्यम मात्रायुक्त स्नेह　　४. उत्तम मात्रायुक्त स्नेह

इनका विस्तृत विचार योग्य स्थान में आगे किया है।

४. पाक भेद से स्नेह प्रकार— स्नेह निर्माण की प्रक्रिया में, पाक के आधार पर विशिष्ट पाक का विशिष्टोपयोग किया जाता है : पाक भेद से स्नेह तीन प्रकार के हैं।[३७]

१. मृदु पाक　　२. मध्य पाक　　३. खर पाक

५. उपयोग पद्धति से स्नेह भेद— स्नेह उपयोग बाह्य और आभ्यंतर दो प्रकार से किया जाता है।[३८]

१. बाह्य[३९] — बाह्य स्नेह निम्नलिखित प्रकार से उपयोग किया जाता है।

१. अभ्यंग	२. लेप	३. मर्दन
४. उद्वर्तन	५. संवाहन	६. पादाघात
७. मूर्धतैल	८. गंडूष	९. कर्णपूरण
१०. अक्षितर्पण	११. परिषेक	१२. पिचु-योन्यादि में

२. आभ्यंतर— आभ्यंतर प्रयोग

१. भोजन २. पान ३. नस्य ४. बस्ति प्रकार से ४ प्रकार का है।

नस्य, बस्ति से स्नेह का प्रचुर आभ्यंतर शोषण मानने से उसे आभ्यंतर में लिया है।

६. विशिष्ट संज्ञा के भेद— ग्रंथों में स्नेह प्रयोग में विशिष्ट नाम देकर जिनका बोध किया है ऐसे तीन स्नेह हैं।

१. अच्छपेय २. सद्यः स्नेह ३. पांच प्रसूतिकी पेया

७. संयोग के आधार पर भेद— एक स्नेह का दूसरे के साथ संयोग कर उपयोग करने का विधान बार-बार आता है। उस मिश्र स्नेह के विशिष्ट नाम दिये गये हैं।[४०]

१. यमल स्नेह— दो स्नेहों का मिश्रण।

२. त्रिवृत्त स्नेह— तीन स्नेहों का मिश्रण।

३. महास्नेह— चार स्नेहों का मिश्रण।

सारांश— भेद में यद्यपि अनेक प्रकार का वर्णन किया गया है, तथापि शास्त्र में मुख्य दो भेद होते हैं। एक स्थावर स्नेह व दूसरा है जंगम स्नेह। बाकी भेद भेत्ता पर निर्भर है।

उत्तम स्नेह—स्नेह यद्यपि अनेक प्रकार के हैं, प्रयोग में चार स्नेहों का अत्यधिक महत्त्व हैं। वे हैं— घृत, तैल, वसा और मज्जा। ये चार 'उत्तम स्नेह' माने जाते हैं।[४१] इनमें भी घी सबसे श्रेष्ठ है। क्योंकि घी में संस्करण से गुण को बढ़ाने की क्षमता है। घी को चित्रकादि अन्य द्रव्यों के साथ मिलाने पर वह अपने गुणों को न छोड़ते हुए उनके गुणों का वहन करता है।[४२] इसे संस्कारानुवर्तन कहते हैं। संस्कारानुवर्तन का अर्थ अन्य टीकाकार उपघात न करते हुए दूसरे के गुणों का वहन करना यह करते हैं, एवं यह घृत में न रहकर तैल में है ऐसा कहते हैं। तैल में संस्कारानुवर्तन से स्वभावतः उष्ण तैल शीत होता है। उदाहरण—दाह प्रशमनार्थ ज्वरोक्त चंदनादि तैल। यहाँ घी संस्कारानुवर्तन के बारे में चक्रपाणि ने कुछ हेतु तथा मतांतरों को बताया है। वे कहते हैं कि— चित्रकादि के साथ घी को मिलाने पर घी अपने गुणों को शैत्य, स्निग्धादि को छोड़ता नहीं है और उसके गुणों का अनुवर्तन करते हैं। वह पहले अपने गुणो को प्रभावित कर फिर संस्कारक के गुणों का अनुवर्तन करता है। जैसे कि कहा है-- घी स्निग्ध है जिससे वात का शमन करता है, मधुर है और शीत है जिससे पित्त का शमन करता है और कफ के साथ वह समान गुण युक्त होते हुए भी संस्कार से कफ शमन करता है। यहाँ यह भी कहा नहीं जा सकता

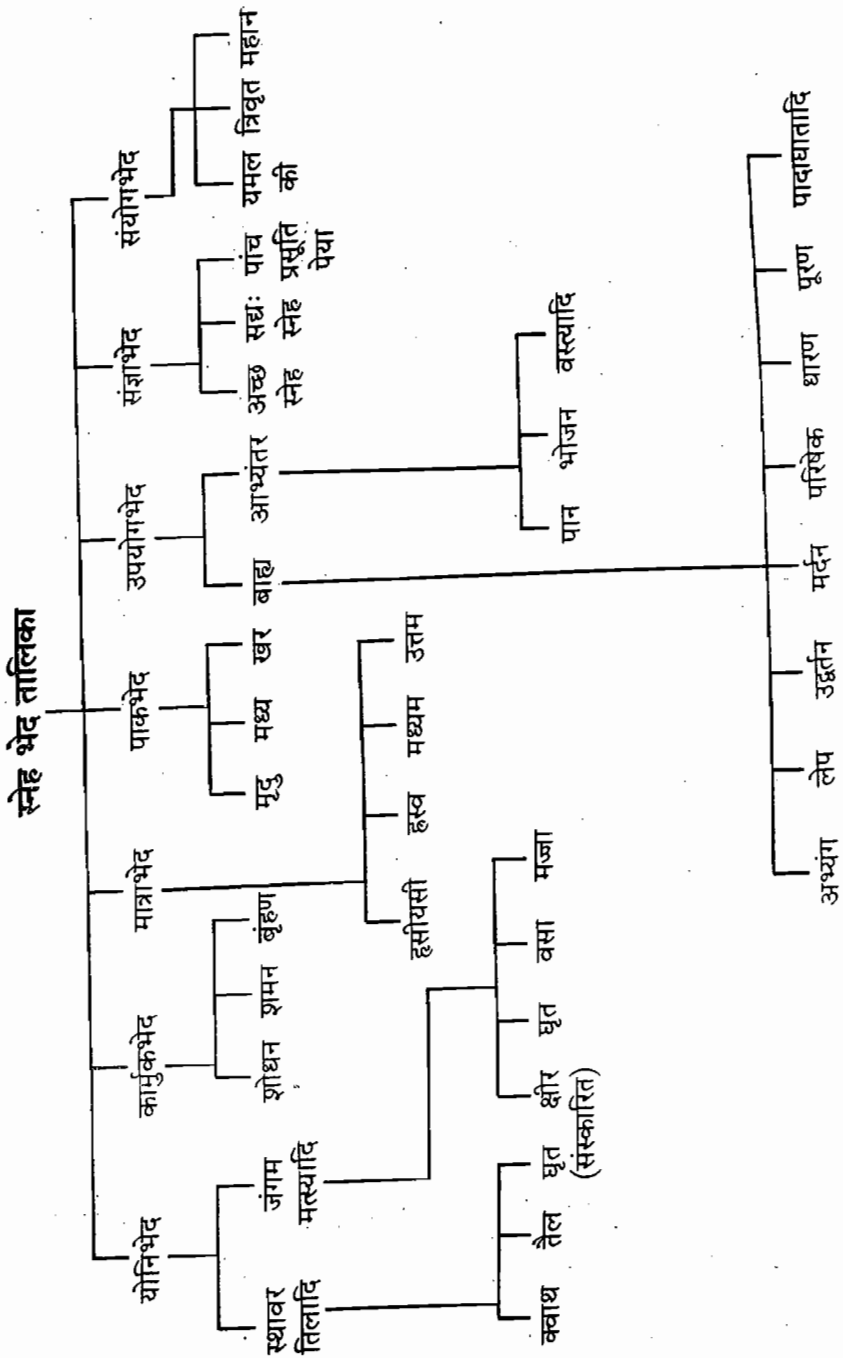

कि रुक्ष, उष्ण गुण युक्त चित्रकादि के संस्कार से वह रुक्ष होकर कफ को जीतता है, क्योंकि घृत से विरुद्ध गुण (शैत्य, स्निग्ध के विरुद्ध) उसके अंदर कैसे रहेंगे ? इसका अर्थ है कि घृत के साथ रहनेवाले चित्रक में ही रुक्ष-उष्ण ये गुण रहते हैं। इस तरह गुण विरुद्ध चित्रक का भी वह अनुवर्तन करता है। दूसरों का मत है कि संस्कारानुवर्तन अनुपघात से दूसरे के गुण वहन को कहते हैं और वह तैल में है न कि घी में, घृत में जो संस्कारानुवर्तन कहा है वह घी में, संस्कार के गुण से किसी एक के उपघात से होता है। (?) वैसे ही दाह प्रशमनार्थ ज्वरोक्त चंदनादि तैल-उष्ण स्वभाव होते हुए चंदनादि संस्कार से शीत होता ही है। इस चर्चा में परस्पर विपरीत मत और उनके सिद्धि में बौद्धिक कसरत है। कोई भी द्रव्य दूसरे से विरुद्ध गुणों को बढ़ाने में किस तरह सहायक होता है और उनमें अपने गुणों को न छोड़ते हुए वह कार्य संपन्न करता है, यह विषय जटिल है। उपर्युक्त सिद्धांत की वैज्ञानिक अन्वेषण की आवश्यकता है।

हेतु कुछ भी हो, लेकिन घी की श्रेष्ठता चरक, सुश्रुत, वाग्भट सभी ने स्वीकार की है। वसा का उल्लेख उत्तम स्नेहों में है। वसा यह मांस का उपधातु है। वस्तुतः मेद मूल धातु है जो स्नेहन का कार्य करता है। उसका स्नेहपान में उल्लेख होना चाहिये था। पहले जमाने में 'मेद' पान का उल्लेख पीछे किया है। कदाचित मेद का शरीर से बाहर निकलने का रूप 'वसा' में हो। प्रमेह में वसामेह का उल्लेख है। वसा मेद से कुछ पतली और मांस तथा मेद की बीच की स्थिति है। प्राणियों की वसा लेते समय वसा या मेद में भेद करना दुष्कर है। मज्जापान का प्रचुर उपयोग है। मज्जा स्वतंत्ररीत्या उपलब्ध होती है। इन उत्तम स्नेहों का पानार्थ, अभ्यंगार्थ, नस्यार्थ तथा वस्त्यर्थ प्रयोग किया जाता है। इनके उपयोग से शरीर में स्नेहन, जीवन, वर्णप्रसादन, बलोपचय होता है।[४३]

स्नेह संज्ञाएं— इन चारों स्नेहों की, दो को मिलाने पर यमक, तीन मिलाने पर त्रिवृत और चारों को मिलाने पर महास्नेह ये संज्ञाएं होती हैं यह ऊपर कहा है।

यमक स्नेह—
१. सर्पि + तैल
२. सर्पि + वसा
३. सर्पि + मज्जा
४. तैल + वसा
५. तैल + मज्जा
६. वसा + मज्जा

त्रिवृत स्नेह—
१. सर्पि + तैल + वसा
२. सर्पि + तैल + मज्जा
३. तैल + वसा + मज्जा
४. सर्पि + वसा + मज्जा

महा स्नेह—
१. सर्पि + तैल + वसा + मज्जा

इन सब स्नेहों का वाग्भट ने सर्पि, मज्जा, वसा और तैल यह क्रम दिया है और इनको यथापूर्व पित्तघ्न तथा यथोत्तर वात कफघ्न बताया है।[४४] अर्थात् घी सबसे अधिक पित्तघ्न है, फिर मज्जा और वसा सबसे कम पित्तघ्न है, तैल पित्तघ्न नहीं है। यथा पूर्व में तैल किसी का पूर्ववर्ति नहीं है। उत्तरोत्तर में मज्जा वातघ्न, मज्जा से अधिक वसा और वसा से अधिक तैल वातघ्न है। इसमें उत्तरवर्तित्व के अभाव में घी को छोड़ दिया है। इसको यूं कहा जा सकता है— वसा पित्तघ्नी, मज्जा पित्तघ्नतर और घी पित्तघ्नतम है। मज्जा वातश्लेष्मघ्न, वसा वातश्लेष्मघ्नतर और तैल वातश्लेष्मघ्नतम है।[४५] इसी तरह घृत से तैल गुरु है, तैल से वसा गुरु है, वसा से मज्जा गुरु होती है।[४६]

M.A.R.C.S. LIBRARY ..... 7079 ..... Ayurvedic Medical College, Khargha

उत्तम स्नेहों के गुण एवं उपयोग

१. सर्पि (घृत) के गुण एवं उपयोग— घृत यह क्षीर को विकृति (तज्जन्य पदार्थ) है। दूध से दही, छाछ, मक्खन, मलाई, मावा, घी, दधिमस्तु इत्यादि अनेक स्नेह द्रव्य तैयार किये जाते हैं। दूध के भेदों के अनुसार घी के भी गो, महिषी, अजादि भेद होते हैं। प्रयोग में गव्यघृत (गाय का घी) श्रेष्ठ समझा गया है। घृत पर स्थावर वनस्पतियों के संस्कार किये जाने पर तत्तद् नाम से नामाभिधान किया जाता है। चिकित्सा में त्रिफलाघृत, शतावरी घृत, तिक्तक-घृत आदि अनेक संस्कारित घृतों को बरता जाता है।

घृत के गुण— घृत पित्त एवं वात को शमन करता है। दाह को कम करता है। स्वर और वर्ण का प्रसादन करता है। गात्रों को मृदु करता है। एवं रस, शुक्र, ओज को बढ़ाता है।[४७] बुद्धि, स्मृति, धारणाशक्ति, अग्नि एवं शरीर बल को बढ़ाता है। घी नेत्र के विकारों में हितकर है। वयःस्थापन है। क्षतक्षीण, शोषादि में हितकर है। पित्तशामक होने के कारण शरद ऋतु में सेवन से लाभ पहुँचाता है।[४८]

घृत से स्नेहनार्ह— घी से स्नेहन निम्नलिखितों को करना योग्य होता है।[४९]

१. जिनकी प्रकृति वातपित्त प्रधान है।
२. जिनको वातपित्त भूयिष्ठ विकार उत्पन्न हुए हैं।
३. नेत्रों की दृष्टिक्षमता बढ़ाने के जो इच्छुक हैं।
४. क्षतक्षीण से पीड़ित आतुरों में।
५. वृद्धों में।
६. बालकों में।
७. स्त्रियों में।
८. आयुष्य वृद्धि के इच्छुकों में।
९.) बल, वर्ण, स्वरार्थियों में।
१०. पुष्टि के इच्छुक।
११. संतानेच्छुक ।
१२. सुकुमारता के इच्छुक।
१३. दाह शस्त्र विष से पिड़ितों में।
१४. घी धृति स्मृति मेधाकांक्षियों में।
१५. रुक्ष व्यक्तियों के लिए।
१६. उन्माद अपस्मार शूल ज्वर पीड़ितों में।

२. तैल गुण एवं उपयोग— सर्व स्नेहों में तैल का प्रयोग अधिक किया जाता है। घृत, वसा, मज्जा की अपेक्षा सस्ता, बिना प्रयास प्राप्त होने के कारण तथा तैल से स्नेहनार्हों की विषय प्रभूता के कारण इसका उपयोग सर्वसामान्य हुआ है। इतना सामान्य है कि केवल अभ्यंग कहने से तैलाभ्यंग का ही बोध होता है। तैलों में तिल का तैल सबसे श्रेष्ठ है। अन्य स्थावर स्नेहों में तिल तैल के गुण एवं संस्कार से निर्मिति के कारण तैल संज्ञा दी जाती है।[५०] अथवा तिल से जिस प्रकार से स्नेह निकलता है उसी तरह अन्यों से निकलता है इस कारण उसे तैल कहा जाता है। तैल का सेवन प्रावृड् ऋतु (वर्षा का पूर्ववर्ति) में करना चाहिये।[५१]

तैल आग्नेय है अर्थात् उष्ण है, तीक्ष्ण है, मधुर और मधुर विपाकी है। व्यवायी, सूक्ष्म, विशद, विकासी, गुरु, सर, इन गुणों से युक्त है। यह लेखन है, इसका अनुरस तिक्त और कषाय है। वात और कफ का नाशक है। त्वच्य है, नेत्र के लिए हितकारी है, कृमिघ्न है। योनि, शिर, गर्भाशय, शूलघ्न, कर्णशूलघ्न है, मूत्र को रोकनेवाला है, शरीर मार्दवकर है तथा

मांसबल्य है। छिन्न, भिन्न विद्ध (सूई आदि से विंधा), उत्पिष्ट (चूर्णित) च्युत (स्थान से भ्रष्ट), मथित, क्षत, पिच्चित (चपटा हुआ), भग्न (टूटा हुआ), स्फुटित (फूटा), क्षारदग्ध, अग्निदग्ध, विश्लिष्ट, अभिहत, दुर्भग्न, मृग, व्याल (सर्प आदि) के काटने पर परिषेक, अभ्यंग, अवगाहन, आदि कार्यों में तिल तैल उत्तम तैल है।[५२] तैल का उपयोग बस्ति, स्नेहपान, नस्य, कर्णपूरण, अक्षिपूरण तथा अन्नपान के विधि में करना चाहिये।[५३] भिन्न-भिन्न घृतों और तैलों के गुण तालिका में देखें।

तैल से स्नेहनार्ह[५४] — तेल से स्नेहन करना योग्य होता है वे निम्नलिखित प्रयोजन हैं।

१. जिनका कफ और मेद बहुत बढ़ा हुआ है।
२. जिन्हें वातव्याधि हुई है।
३. जिनकी प्रकृति वातप्रधान है।
४. बलवर्धनार्थ।
५. शरीर को पतला बनाने के लिए।
६. शरीर में लघुता लाने के लिए।
७. शरीरावयवों में दार्ढ्य के लिए।
८. गात्र स्थिरता के लिए।
९. त्वचा को स्निग्ध, तनु, श्लक्ष्ण बनाने के लिए।
१०. क्रूरकोष्ठी के लिए।
११. नाडिव्रणों में रोपण के लिए।

३. वसा के गुण एवं उपयोग— वसा मांस की उपधातु है। इनमें ग्राम्य (गाय, उंट, महिषादि), आनूप, औदक (मछली इत्यादि) प्राणियों की वसा, मेद (मज्जा) गुरु, उष्ण, मधुर रस, वातघ्न होती है। जांगल (हिरन इत्यादि) एकशफ (घोड़े इत्यादि) क्रव्याद (व्याघ्रादि) की वसा शीत, लघु कषाय रस, रक्तपित्त नाशक प्रतुद (कबूतर इत्यादि) विष्किर (बटेर आदि) की वसा कफनाशक है।[५५]

वसा से स्नेहनार्ह— निम्नलिखितों में वसा से स्नेहन हितकर है।[५६]

१. जो हमेशा वायु और धूप में घूमते हैं।
२. अतिरुक्ष शरीरवाले।
३. अतिभार उठाकर क्षीण हुए।
४. बहुत चलकर थके हुए।
५. शुक्र और रक्तक्षयवाले।
६. कफ और मेद का क्षय वाले।
७. अस्थि, संधि, सिरा, स्नायु, मर्म, कोष्ठ में तीव्र रुजावाले।
८. वात से स्रोतस संग हुआ हो उनमें।
९. जिनकी अग्नि बहुतही तीक्ष्ण है।
१०. जिन्हें वसा सात्म्य हैं।
११. विष और भग्न से पीड़ित।
१२. योनिशूल वाली स्त्रियों में।
१३. कर्णशूल वाले।
१४. पौरुषोपचय के इच्छुक।
१५. व्यायाम सेवियों के लिए।

४. मज्जा के गुण एवं उपयोग— मज्जा अस्थि के अंदर रहती हैं इसका मुख्य कर्म पूरण है। यह सब स्नेहों में गुरु है। मज्जा बल को बढ़ानेवाली रस, कफ और मज्जा को बढ़ानेवाली तथा अस्थि को दृढ़ करनेवाली होती है। मज्जा के गुण वसा के गुण के साथ कहे गये है।[५७]

मज्जा के स्नेहनार्ह— निम्नलिखितों में मज्जापान योग्य है।

१. जिनकी अग्नि अत्यंत प्रदीप्त है।
२. जो बहुत शारीरिक कष्ट का काम करते हैं।
३. घस्मर— जो बहुत खाते हैं।
४. वात से पीड़ितों के लिए।
५. क्रूर कोष्टिओं के लिए।

ऋतु के अनुसार—घृत शरद ऋतु में, वसा एवं मज्जा वैशाख में, तैल वर्षा या प्रावृड् में देना चाहिए।[५८] वसा और मज्जा धातु पर बृंहणकारक है। मांस अत्यंत श्रेष्ठ मांसवर्धन द्रव्य है। काल क्रम से वर्षा, शरद हेमंत यह विसर्ग काल बलोपचय का है और इसमें अग्नि भी तीक्ष्ण होती है। अतः वसा और मज्जा का पान करावे।

वातपित्त प्रधान दोषों में तथा ग्रीष्म में स्नेह रात को देवे, वातकफ प्रधान दोषों में, शीत ऋतु में दिन में स्नेह दे। वातपित्ताधिकों में उष्ण स्नेह दिन में देने से मूर्च्छा, पिपासा, उन्माद, कामला, इत्यादि रोग होते हैं। कफ प्रधानता में शीत स्नेह रात में देने से आनाह, अरुचि, शूल, पांडु इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं।[५९]

भिन्न-भिन्न घृत और तैलों के गुण तथा उपयोग

नाम	गुण	उपयोग
१. गाय का घी	शीत, मधुर, विपाकी वातपित्त, विषनाशक।	नेत्रविकारों में, विषपीड़ितों में, बलवर्धन में।
२. बकरी का घी	विपाक-लघु।	अग्निदीपन, चक्षुष्य, बल्य, कास, श्वास, क्षय में उपयोगी।
३. भैंस का घी	मधुर, शीत, कफवर्द्धक वातपित्त शामक।	रक्त पित्त में।
४. ऊंटनी का घी	कटुविपाक, कफवातघ्न	शोथ, कृमि, कुष्ठ, गुल्म, उदर रोग में उपयोगी। दीपन।
५. भेड़ का घी	विपाक-लघु, कफ वायुशामक।	योनिरोग, शोथ, कंपवात नें हितकर।
६. घोड़ी का घी	विपाक-लघु, उष्ण, कषाय-रस, कफनाशक।	दीपन मूत्र रोकनेवाला।
७. स्त्री का घी	विपाक-लघु।	चक्षुष्य, विषघ्न, अग्निदीपन, शरीर वृद्धिकर।
८. हथिनी का घी	कषाय, तिक्त, लघु, कफघ्न।	मल मूत्रावरोधक, अग्निकारक कुष्ठ, कृमि में उपयोगी।

नाम	गुण	उपयोग
९. एरंड तैल	मधुर, उष्ण, तीक्ष्ण कषायानुरस, मधुर विपाकी, वातकफघ्न, विरेचन।	अग्निदीपन, स्रोतों का शोधक त्वच्य, वृष्य, वयः स्थापन योनि एवं शुक्रशोधन, कांति मेधा, स्मृति, बलकारक।
१०. निंद, अतसी कुसुंभ, मूलक, देवदाली, कमीला अर्क, पीलु, करंज, इंगुदी, शिग्रु, सर्षप, सुवर्चला, विडंग, ज्योतिष्मती	तीक्ष्ण, लघु, कटु, कटुविपाकी, सर, वातकफघ्न।	कृमि, कुष्ठ, प्रमेह और शिरोरोग में उपयोगी।
११. अलसी तैल	वातघ्न, कटु; स्निग्ध उष्ण, गुरु, पित्तकर।	आंखों के लिए अहितकर।
१२. सरसों का तैल	लघुः कफघ्न, वातघ लेखन, कटु विपाकी।	कृमि, कंडु, कुष्ठ में हितकर मेदघ्न, अग्निदीपन।
१३. इंगुदी तैल	तिक्तरस, लघु।	कृमि, कुष्ठनाशक, दृष्टि, बल शुक्र को कम करता है।
१४. कुसुंभ तैल	कटु विपाक, त्रिदोष प्रकोपक, विदाही।	रक्तपित्तकारक, आंखों को अहितकर।
१५. चिरायता, बहेड़ा, जीवंती, त्रपुस, पेठादि	मधुर, वातपित्तशामक, शीत, अभिष्यंदी।	मूत्रविरेचक, अग्निमांद्यकारक।
१६. महुआ, पलाश (बीज) तैल	मधुर, कषाय रस।	कफपित्तनाशक।
१७. तुंवरक तैल भिलावा तैल	उष्ण, मधुर, कषाय, तिक्त, अनुरस, वातकफघ्न।	कुष्ठ, मेद, प्रमेह, कृमिनाशक। वामक विरेचक।
१८. सरल, देवदार अगरु आदि के तेल (सार का)	तिक्त, कटु, कषाय।	व्रणशोधक कृमि, कुष्ठवातघ्न।

नाम	गुण	उपयोग
१९. तुंबी, दंती, सप्तला, नीलिनी, यवतिक्ता का स्नेह	तिक्त, कटु, कषाय। विरेचन।	कृमि, कुष्ठ, कफ वायुनाशक। व्रणशोधक।
२०. कालमेघ का तैल	त्रिदोष शामक, तिक्त, लेखन।	अग्निदीपन, मेध्य, पथ्य। मेद को कम करता है।

स्नेह्यास्नेह्य विचार

स्नेह्य या स्नेहन योग्य[६०] — स्नेहन जिनके लिए उपयुक्त चिकित्सा होती है, वे स्नेह आतुर निम्नोक्त प्रकार के गिनाए गये हैं।

१. जिनका स्वेदन करना हो वे प्रायः स्नेहयोग्य होते हैं। कुछ स्वेद बिना स्नेह के भी किए जाते हैं, जैसे रुक्ष स्वेद-बालुकास्वेद।
२. जिनका वमन या विरेचन से शोधन करना है उन्हें भी स्नेहन योग्य समझना चाहिये।
३. रुक्ष शरीरवाले।
४. वात व्याधि से पीड़ित।
५. जो नित्य और अधिक व्यायाय करते हैं।
६. जो अति मद्यपान करते हैं।
७. जो अधिक व्यवाय करते हैं।
८. जो चिंतन करते हैं। चिंतन का मतलब है, बौद्धिक कार्य। कवि, लेखक, विवेचक, प्राध्यापक, राजपुरुष आदि सभी चिंतन करते हैं अतः वे सब स्नेहपानर्ह होते हैं।
९. युद्ध करनेवाले।
१०. अति वृद्ध तथा स्त्रियाँएं।
११. कृश व्यक्ति।
१२. जिनका बहुत अधिक रक्तक्षय और वीर्य क्षय हुआ है।
१३. अभिष्यंदी।
१४. तिमिर से पीड़ित।
१५. दारुण प्रतिबोधिनः-निद्रा से जो जल्दी जागते नहीं हैं वे, या जिनकी पलकें जल्दी खुलती नहीं हों वे।

स्वेदन के पूर्व स्नेहन करना यह सामान्य नियम है। रुक्षस्नेह इसमें अपवाद है। शोधनपूर्व— 'शोध्यो' को देने का स्नेह अधिक मात्रा में देने का विधान है। रुक्षों के लिए स्नेहन यह उपक्रम ही है। अतएव अति व्यायाम, व्यवाय, मद्यपान इत्यादि से धातुक्षय जन्य रुक्षता निवारणार्थ स्नेहन आवश्यक होता है। स्नेह बुद्धि, स्मृति, धारणादि शक्ति के लिए उपयुक्त होने के कारण चिंतनशील में देना हितकर होता है। वृद्धों में क्षीणधातु के लिए तथा बालकों को धातुवर्धनार्थ स्नेहन कहा है। स्त्रियों को गात्रमृदुता उत्पन्न करने

के हेतु स्नेह विहित है। कृशों में स्नेह से बृंहण होता है। नेत्र रोगों में अति रुक्षता से जब पलकों में निमेषोन्मेष विकृत होता है तो स्नेह से उन्हें स्निग्ध रखना आवश्यक होता है। नेत्र के प्रयोग में विशेषतः घृत हितकर होता है। उपर्युक्त 'स्नेह्यो' के आदि में घृत से स्नेहनार्ह, तैल से स्नेहनार्ह इत्यादि के योगों का तथा वक्ष्यमाण उत्तममात्रा से स्नेहनार्ह, मध्यम मात्रा से स्नेहनार्ह. ह्रस्व मात्रा से स्नेहनार्ह इत्यादि का समावेश तत्तद् स्थान से पढ़कर पाठकों को कर लेना चाहिये।

अस्नेह-स्नेह के लिए अयोग्य[६१] — जिनके लिए स्नेहन करना योग्य न हो उन्हें अस्नेह्य कहा जाता है। निम्नलिखितों में स्नेहन नहीं करना चाहिये।

१. रुक्षणार्ह	२. कफमेद बुद्धिवाला को
३. अभिष्यण्णाननः अर्थात् मुखसे लालास्त्राव निकलता हो उनमें	४. अभिष्यण्णगुदः— जिनके गुदा से कफ एवं द्रव स्रवित होता हो (प्रवाहिका)
५. मंदाग्नि	६. तृष्णा पीड़ित
७. मूर्च्छित	८. गर्भिणी
९. तालुशोष	१०. अन्न पर रुचि न रखनेवाले
११. छर्दि से पीड़ित	१२. आम प्रधान विकारों में
१३. विष विकारों में	१४. अत्यंत दुर्बल
१५. प्रताँत–जिनके शरीर से द्रव धातु अधिक प्रमाण में वह निकला हो	१६. स्नेह से ग्लानि उत्पन्न हुई हो
१७. अजीर्ण	१८. तरुणज्वर
१९. अरुचि	२०. मद्य पीड़ित
२१. अविश्रांत	२२. जिन्हें बस्ति दी गई हो
२३. जिन्हें विरेचन दिया हो	२४. जिनको वमन दिया गया हो
२५. अकाल प्रसूता	२६. गलरोगी
२७. उदररोगी	२८. उरुस्तंभ
२९. अतिसारी	३०. अति तीक्ष्णाग्नि।

अस्नेह्यों का उपर्युक्त वर्णन देखने पर प्रतीत होता है कि इनमें निम्नलिखित पांच प्रकार के हेतु हैं जिनमें से कोई एक ही उपस्थिति हो तो स्नेहन नहीं किया जाता।

१. रुणमार्हता— जिनकी रुक्षण चिकित्सा करना योग्य होता हो वे अस्नेहनार्ह हैं। इसमें उत्पन्न कफ मेद, अभिष्यण्णानन, अभिष्यण्य गुद, आम प्रधान विकार, उरुस्तंभादि का समावेश किया जा सकता है।

२. स्त्रोतोरोध प्रधानता— जिनमें स्त्रोतोरोध प्रधान है ऐसी आत्ययिक अवस्थाएँ— उदाहरण तरुण ज्वर, उदर रोग, उरुस्तंभ, इनमें स्नेहन से स्त्रोतोरोध बढ़ जाता है।

३. आम एवं अग्निमांद्य प्रधानता— जिनमें आम की और अग्निमांद्य की प्रधानता है। उदाहरण छर्दि, अरुचि, अजीर्ण, अन्नद्वेवी, विषपीड़ित, वमित, विरेचित (इनमें अग्निमांद्य प्रधान होता है)। इनमें स्नेहन से आम और अग्निमांद्य अधिक बढ़ जाता है।

४. दौर्बल्य— ऐसी व्याधियां जिनमें दुर्बलता बढ़ी हुई हो, अथवा ऐसी अवस्था

जिनमें प्राकृत बल क्षीण हो उनमें अपचारभय से स्नेहन नहीं किया जाता, इनमें स्नेहग्लानि, अविश्रांत, प्रतांत, गर्भिणी, अकाल प्रसूतादि का अंतर्भाव होता है।

५. विषलक्षण— विषपीड़ित या आमविष से उत्पन्नावस्था में स्नेह निषेध है। स्नेह यह व्यवायि और सूक्ष्म है जिससे शीघ्रता से सूक्ष्म स्त्रोतों में प्रवेश योग्य होता है। विष भी आषुकारी, व्यवायि, सूक्ष्मादि गुणयुक्त होता है। स्नेहगुणों से इसका शरीर में शीघ्रता से प्रसरण होता है। इनमें गरार्दित, विष पीड़ित, मद पीड़ितों का अंतर्भाव होता है।

डल्हण ने कहा है कि— अजीर्ण में अजीर्णान्न का ही अग्नि पचन करता है। स्नेह का कम पाचन करता है। दुर्बलों में अंगग्लानि, अरुचि में अरुचि वृद्धि, स्थूल में स्थौल्य वृद्धि तथा स्त्रोतोरोध, मूर्च्छितों में मूर्च्छा वृद्धि, वमित, विरेचित, दत्त बस्तियों में अग्निमांद्य के कारण और अग्निमांद्य, तृष्णा, क्लमोत्पत्ति ये संभाव्य भय रहते हैं। अकाल प्रसूता के गर्भाशय में स्थित रक्तक्लेद मल स्नेहन से अनेक व्याधियाँ उत्पन्न करते हैं। उदर में पहले कुछ अवस्था में स्नेहन किया जा सकता है। छिद्रोदर, जलोदर में स्नेह निषेध है।[६२]

स्नेहपाक विधि[६३] — स्नेहपाक यह भैषज्य कल्पना का विषय है, तथापि पाक भेद से स्नेह प्रयोग में भिन्नता होती है, इस कारण स्नेहपाक कल्पना यहां वर्णन की जाती है। घृत, तैलादि द्रव्यों को क्वाथ, स्वरस, जल, दूध, आदि द्रव्यों के साथ औषधि कल्कों के साथ पका कर जो घृत, तैलादि सिद्ध किए जाते हैं उनको 'स्नेहपाक' कहते हैं। स्नेहपाक क्रम में अनेक मतांतर हैं। यहां स्व. यादवजी त्रिकमजी आचार्यजी का तज्ञ अनुभूत और शास्त्रीय विचार उद्धृत किया जाता है।

स्नेहपाक में स्नेह, कल्क और द्रव ये मुख्य पदार्थ हैं। जहां इनका प्रमाण लिखा गया न हो वहां, कल्क स्नेह एवं द्रव इसका १ : ४ : १६ यह प्रमाण लेना चाहिए। अर्थात् कल्क १ भाग, स्नेह ४ भाग और द्रव १६ भाग लेना चाहिये। जहां एक से चार द्रवों का उल्लेख हो वहां सर्व मिलित स्नेह चतुर्गुण लेना चाहिये। यदि ग्रंथ में कोई भी द्रव लिखा न हो, केवल औषधि के साथ स्नेह पाक करना लिखा हो तो औषधि द्रव्यों के चूर्ण का जल में कल्क बनावे और कल्क का सम्यक् पाक होने के लिए स्नेह से चार गुना जल देकर स्नेहपाक करना चाहिये। जहां एक द्रव पदार्थ हो वहां एक स्नेह से ४ गुना, दो द्रव पदार्थ लिखे हों वहां दोनों द्रव अलग-अलग स्नेह से दुगने मिलाकर, स्नेह से चार गुने देकर जहां तीन द्रव पदार्थ हो वहां तीनों द्रव समभाग मिलाकर, स्नेह से ४ गुना देकर चार द्रव हो वहां प्रत्येक द्रव स्नेह के समभाग मिलाकर चार गुना देकर पाक करना चाहिये। जहां चार से अधिक द्रव पदार्थ (पांच, छः इत्यादि) लिखे हो वहां प्रत्येक द्रव स्नेह के समभाग लेकर पांच छः प्रभृति जितने द्रव लिए हों उतने गुने द्रव पदार्थ लेकर स्नेह पकाना चाहिये।

सुश्रुत ने कषाय स्नेहपाक क्रम में मतांतर का इस प्रकार निर्देश किया है। कोई कहते हैं कि द्रव्य के त्वक्, पत्र, फल, मूल आदि का १ भाग, इसमें ४ गुना पानी, मिलाकर उसे चतुर्थांश शेष क्वाथ करें। स्नेह के छः प्रसृति लेकर इसमें चार गुना जल मिलाकर चार अक्ष (तोला) मात्रा में कल्क मिलाकर पाक करें। यह स्नेहपाक क्रम है, तथापि यह बराबर नहीं है क्योंकि शास्त्र इसको स्वीकार नहीं करता। योग में निर्दिष्ट त्वक्, पत्र, फल, मूल आदि जो धूप में सुखाये हों, उनको लेकर काटने योग्यों को काटकर,

तोड़ने योग्यों को तोड़कर सबको कूटकर ८ गुना या १६ गुना (अधिक कठिन द्रव्यों में १६ गुना) जल डालकर पात्र में रखकर पकायें। एक चतुर्थांश शेष रखें। स्नेह से चार गुना द्रव, स्नेह से चतुर्थांश औषधि कल्क मिलाकर पकाये। यह स्नेहपाक कल्प है। अथवा एक द्रोण जल में (४ आढक) छाल, पत्ते, फल, मूल आदि की एक तुला (१०० पल) मिलाकर चौथाई रह जाने तक क्वाथ करें। यह कषायपाक विधि है। स्नेह के कुडव (४ पल) में औषधि एक पल पीसकर कल्क बनाकर मिलाये। इनमें स्नेह के चार गुना द्रव डालकर पाक करें। यह कषायपाक विधि हैं।[६४]

कल्क, स्नेह और द्रव पदार्थ सबको एक साथ नीचे मिट्टी का लेप किये हुए कलईदार ताम्र या पीतल के भीतर से चिकने लोहे के या मजबूत मिट्टी के बर्तन में डालकर, बर्तन को चुल्हे पर चढ़ाकर धीमी आँच पर पकावे। पकाते समय बड़े आसन पर सुखपूर्वक बैठकर बड़े कर्च्छे या खोचे से हिलते रहें और चारों ओर से एक सी अग्नि लगती है या नहीं इसका ध्यान रखे और स्नेहपाक करें।

स्नेहपाक के लक्षण[६५]— जब पकते हुए स्नेह में पानी का शब्द बंद हो जाए एवं कल्क से स्नेह अलग होकर स्पष्ट दिखने लगे, अंगुली से मर्दन करने पर क्वाथ अंगुली को न लगे, नाति मृदु नाति कठिण ऐसा पाक हो, कल्क की बत्ती बनती हो तथा आग पर कल्क को डालने से चटपट शब्द न आता हो, तैल में फेन आने लगे तथा घृत में फेन आना बंद हो जाए तब स्नेहपाक बराबर हुआ ऐसा समझना चाहिये। तंत्रांतर में स्नेह का जल में डूबना तथा अग्नि में डालने पर सुगंध का आना ये लक्षण कहे हैं। स्नेहपाक क्रम में पांच दिन लगते हैं ऐसा योगरत्न समुच्चयकार का मत है। शार्ङ्गधर का कथन है कि जहां केवल क्वाथ से ही स्नेहपाक करना लिखा हो जहां भी उन औषधियों के कल्क डालना चाहिये। क्योंकि कल्क के बिना स्नेहपाक की ऊपर लिखी हुई परीक्षा नहीं की जा सकती।[६६] शार्ङ्गधर ने काल के बारे में कहा है कि घृत तैल आदि को एक दिन में तैयार न करें, किन्तु पहले दिन थोड़ासा पकाकर वैसा ही रख दे और दूसरे दिन पाक पूरा करें। क्योंकि एक रात पड़े रहने से स्नेह विशेष गुणकारक होते हैं।[६७]

स्नेह पाक भेद— पाक भेदानुसार स्नेह तीन प्रकार के हैं, जिसका पहले उल्लेख किया गया था। ये पाक हैं—

१. मृदुपाक २. मध्यपाक तथा ३. खरपाक।

इन तीन के अतिरिक्त शार्ङ्गधर ने 'आमपाक' और सुश्रुत ने 'दग्धपाक' ऐसे दो पाक कहे हैं।[६८] वस्तुतः इनमें स्नेह के लक्षण और प्रयोजन घटते नहीं हैं और किसी भी प्रयोग में वे उपयोगी नहीं होते। अतः इनका महत्त्व नहीं है। स्नेहपाक लक्षण की यह क्रमशः प्रारंभिक और अंतिम अवस्था मात्र है। इन पाकों के लक्षण नीचे स्पष्ट किये जाते हैं।

चरक मतानुसार मृदु पाक उसे कहते हैं, जिसमें अवशिष्ट भाग में कल्क और स्नेह की तुल्यता होती हैं, मध्यपाक में मिट्टी कोमल और सान्द्र होती है तथा कर्च्छे को चिपटती नहीं है, खरपाक उसे कहते हैं जिसमें मिट्टी को दबाने से उसकी बत्ती बन जाती है।[६९] सुश्रुत ने मृदुपाक के लक्षण में औषधि और स्नेह का पृथक् रहना, मध्यपाक में औषधि मोम के समान निर्मल, चिपटनेवाला होना और खरपाक में औषधि काला, जला हुआ,

विषद और चिक्कण होना ये लक्षण कहे हैं। इसके बाद यदि स्नेहपाक बंद न करें तो वह जल जाता है जिसे दग्धपाक कहते हैं।[७०] शार्ङ्गधर ने मृदुपाक के पहले जो कच्चा स्नेह होता है उसे 'आमपाक' कहा है। इससे अग्निमांद्य बढ़ता है और उसमें औषधिवीर्य भी नहीं उतरता। यह पचने में गुरु होता है। दग्धपाक के सेवन से दाह होता है।

वाग्भट ने पाक तीन प्रकार के ही दिये हैं लेकिन उनके नाम उपर्युक्त न देकर अलग दिये हैं। वे हैं— १. मंदपाक, २. चिक्कणपाक, ३. खरचिक्कण पाक। मंदपाक के लक्षण मृदुपाक के समान हैं, अर्थात् औषधि और कल्क का समान रहना और अंगुली से ग्रहण न होना यह कहा है। चिक्कण पाक में स्नेह हलुवे के समान अंगुली ग्राहकता होती है और काले रंग का और कुछ जला हुआ पाक खरचिक्कण है।[७१] अरुणदत्त ने इन तीनों में चरकादि के लक्षण घटाए हैं। वाग्भट ने भी दग्धपाक कहा है जो अग्निमांद्यकारक निष्प्रयोज्य कहा है। ऊपर के पाकों में केवल नामांतर मात्र है, न कि इनके लक्षणों में कोई अंतर है। शार्ङ्गधर ने इन पाकों का लक्षण सरल भाषा में इस तरह किया है— जिस पाक में कल्क द्रव्य जलीयांश समन्वित होता है वह मृदु जब कल्क द्रवांशरहित हो किन्तु मृदु हो वह मध्यपाक और जब कल्क खरदरा एवं कठिन हो वह खरपाक होता है।[७२]

पाक भेद से प्रयोग भेद— स्नेह का अभ्यंग, पान, नस्य, बस्ति आदि में प्रयोग होता है। विशेष प्रयोजन से विशेष पाक का स्नेह निर्दिष्ट किया है। चरक ने अभ्यंग के लिए खरपाकवाला, स्नेह, नस्य के लिए मृदुपाकवाला स्नेह, पान तथा बस्ति के लिए मध्यपाक वाला स्नेह प्रयोगार्ह माना है।[७३]

सुश्रुत ने अभ्यंग के लिए मध्य, पान में मृदु, नस्य में मध्य, बस्ति में खर तथा कर्णपूरण में खरपाक का उपयोग बताया है।[७४]

वाग्भट ने— नस्य में मृदुपाक, अभ्यंग में खरपाक और पान तथा बस्ति में चिक्कण पाक का उपयोग कहा है।[७५]

शार्ङ्गधर ने नस्य में मृदु और बाकी सब में मध्यपाक का उपयोग करने को कहा है।[७६] पाक भेद से उपयोग भेद की तुलनात्मक तालिका नीचे दी जाती है।

पाक भेद से प्रयोग भेद दर्शक तालिका

प्रयोग	चरकोक्त पाक	सुश्रुतोक्त पाक	वाग्भटोक्त पाक	शार्ङ्गधरोक्त पाक
अभ्यंग	खर	मध्य	खर	मध्य
पान	मध्य	मृदु	चिक्कण (मध्य)	मध्य
नस्य	मृदु	मध्य	मृदु	मृदु
बस्ति	मध्य	खर	चिक्कण (मध्य)	मध्य
कर्णपूरण	—	खर	—	मध्य

तालिका से स्पष्ट है कि अभ्यंग में खर या मध्य का उपयोग किया है किन्तु मृदु का नहीं किया। अतः मध्य या खर दोनों के बीच की अवस्था अभ्यंगार्थ चल सकती है। लेकिन मध्य से कम पका नहीं चलेगा। पान में मध्य और मृदु का उपयोग हो सकता है

लेकिन खर का नहीं। नस्य में मृदु और मध्य का उपयोग होगा लेकिन खर का नहीं। बस्ति में खर और मध्य का हो सकता है किन्तु मृदु का नहीं। कर्णपूरण में मध्य और खर का, मृदु का नहीं। कर्णपूरण से नासा,योनि इत्यादि का पूरण भी उक्त है। सब में मध्यपाक का उपयोग करना उचित है।

स्नेहन विधि— जैसा कि पहले कहा है कि स्नेह का प्रयोग आभ्यंतर तथा बाह्य दो प्रकार से होता हैं। यहां प्रथम आभ्यंतर स्नेहन अर्थात् स्नेहपान का विचार किया जाता है। सुश्रुत ने स्नेहपाक की विधि को बड़े सुन्दर और प्रायोगिक ढंग से रखा है। सुश्रुत कहते हैं—

''अत ऊर्वं स्नेहपानकर्म उपदेक्ष्यामः। अथ खलु लघुकोष्ठायातुराय कृतमंगलस्वस्तिवाचनाय उदयगिरिशिखरसंस्थिते प्रतप्तकनकनिकरपीतलोहिते सवितरि यथाबलं तैलस्य घृतस्य वा गांत्रां प्रासुं प्रयच्छेत। पीतमात्रे चोष्णोदकेनोपस्पृश्य सोपनत्को यथा सुखं विहरेत।'' सु. चि. ३१-१४

इस पर डल्हण का विमर्श देखिये—

''अथशब्दीयं पंचकर्मादौ मंगलार्थः। ..... लघुकोष्ठत्वं जीर्णाहार प्रदर्शनार्थम्। ..... कृतमंगलं पूर्णोदकं कुंभादि सर्वलोक प्रसिद्धं स्वस्ति वाचनं च यस्य स तथा, तस्मै ... प्रातर्हि संशोधनार्थं स्नेहपानं तंत्रांतरेप्युक्तं ''शुद्ध्यर्थ पुनराहारे नैसे जीर्णे पिवेन्नरः। पिवेत् संशमनार्थाय ह्यन्नकाले प्रकांक्षितः'' इति। यथा बलमिति दोषपुरुषामयानां हीन मध्योत्तम बलमाश्रित्य..'' इत्यादि।

अर्थात्— जिसको शोधन विधि से स्नेहन करना है उस आतुर का रोग, शरीर बल तथा दोष बल जानकर, पूर्व दिन सायंकाल का खाया हुआ भोजन अच्छी तरह पच जाने पर, प्रातः कोष्ठ लघु होने पर, जलपूर्ण कुंभादि रख मंगल वाचन कर, रक्त ताम्र पित्त वर्णवाले सूर्य के समय (सूर्योदय के बाद १५ मिनट से २०-२५ मिनट तक) उसे तैल या घृत की मात्रा पिला दें। पश्चात् वह आतुर गरम पानी से मुख को स्वच्छ कर पादत्राण पहनकर विहरण करें। इत्यादि। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता हैं कि, स्नेहपान के पहले कुछ विधि है, मुख्य विधि का विशेष प्रकार है तथा स्नेहपान के बाद भी कुछ कर्म करने होते हैं। अतएव इसी प्रकार से 'पूर्व कर्म प्रधान कर्म और पश्चात् कर्म की विधि से' शोधन स्नेह का यहां विचार किया जाता है।

१. पूर्वकर्म— स्नेहपान के पूर्व निम्नोक्त विषयों का वैद्य को ध्यान रखना चाहिये।

१. आतुर परीक्षा।

२. स्नेहन कालावधि तथा मात्रा का निर्णय।

३. स्नेहपूर्व भोजनादि की व्यवस्था।

४. स्नेहकार्य द्रव्य संग्रह।

१. आतुर परीक्षा— आतुर स्नेह्य है या नहीं इसे विधिवत् परीक्षा कर जान लेना चाहिये। चरक ने वमनादि प्रयोजन के लिए आतुर की परीक्षा अत्यंत सूक्ष्म प्रकार से वर्णन की है। प्रत्यक्ष अनुमान और आप्तोपदेश इनके द्वारा आतुर देखें। आतुर की परीक्षा में दो मुख्य प्रयोजन हैं। एक है उसके आयुष्य का प्रमाण का ज्ञान करना, अर्थात् पीछे कहे हुए

मुमुर्षु लक्षणान्वित एवं अरिष्ट लिंगान्वित आतुर को छोड़ देना। दूसरा प्रयोजन है आतुर के रोग, दोष और शरीर बल का प्रमाण मालूम कराना।[७७] इसके ज्ञान से औषधि मात्रा निश्चय होता है। आतुर परीक्षा में आतुर की प्रकृति की परीक्षा, विकृति की परीक्षा तथा सार, संहनन, प्रमाण, सात्म्य, सत्त्व, आहारशक्ति, व्यायाम शक्ति, वय इन दो भावों की विधिवत् परीक्षा करें।[७८] इनमें क्या क्या परीक्षा विषय है इसका विस्तार मूलतः चरक विमान स्थान ८वें अध्याय से देखना चाहिये। प्रकृति परीक्षा से संभाव्य रोगों की कल्पना होती है, विकृति में रोग ज्ञान निश्चित किया जाता है। सार संहनन तथा प्रमाण से स्नेहपान तथा आगे वमनादि कर्मजनित क्षोभ वह सहन कर सकेगा या नहीं इसका ज्ञान होता है। सात्म्य से परिहार काल तथा संसर्जन क्रम में आहार का निश्चय होता है तथा योगों की भिन्न-भिन्न कल्पना (घृत, तैल, अवलेह, क्वाथादि) में से विचारणा निश्चित की जा सकती है। सत्व से मन की प्रवरावरता से आगे के कर्म में सावधानी रखी जा सकती है। आहारशक्ति से संसर्जन क्रम की व्यवस्था तथा व्यायाम शक्ति से परिहार काल के नियम इसमें मार्गदर्शन कर सकते हैं।

इनके द्वारा स्नेह्य रोग की तथा आतुर की बलादि परीक्षा होने के बाद स्नेहन मात्रा कालादि का निश्चय करें। इसके बाद आतुरालय में (या अन्यत्र) प्रतिदिन नाड़ी, मूत्र, मल, जिह्वा, शब्द, स्पर्श, चक्षु और आकृति इनकी परीक्षा करें, क्योंकि यह संभव है कि स्नेह्य रोगी में भी कभी कोई दिन (स्नेह काल में) अस्नेहनार्ह रोग उत्पन्न हो। जिस दिन स्नेहपान करना हो उस दिन तथा आगे सम्पूर्ण स्नेह काल में नाड़ी आदि से आवस्थिक परीक्षा करें। यदि नाड़ी अधिक तेज हो तो ज्वर, पित्त रोगादि का संदेह करें। मानसिक उद्वेग या भय भी हो सकता है। मूत्र या जल की अप्रवृत्ति, अतिप्रवृत्ति का ज्ञान करा लेवें। जिह्वा साग हो तो आम, अग्निमांद्य समझकर स्नेहपान न करावे, शब्द परीक्षा में उदर आकोटन से आनाह, आध्मान, कूजन, फुप्फुस के शब्द, हृदय के शब्द इनका प्रतिदिन ज्ञान करावे। चक्षु यह मनुष्य की स्थिति का परिचायक शीशा है। कोई भी विकृति, वेदना हो तो उसका प्रत्यावर्दन चक्षु में होता है। बहुत कम लोग, जो उच्च कोटि की संज्ञा में आते हैं, अपने वेदनादि भावों को आंखों में प्रकट नहीं होने देते। इसी तरह नेत्र विकार, नेत्र पीतादि वर्ण से कमलादि की प्रवृत्ति का इनसे ज्ञान करा लें। आतुर परीक्षा में घृत स्नेहनार्ह, तैल स्नेहनार्ह, वसा, मज्जा स्नेहनार्ह इत्यादि का भी निश्चय कर लेना चाहिये।

२. स्नेहनकालावधि तथा मात्रा का निर्णय— शोधनार्थ प्रयुक्त स्नेह अधिक मात्रा में और अधिक दिन देना होता है। स्नेहपान की अंतिम मर्यादा सात दिन है। लघुकोष्ठी में तीन दिन में स्नेहन होता है, मध्यकोष्ठी ४, ५ या ६ दिन में स्नेहन होता है और क्रूर कोष्ठी में सात दिन स्नेहन के लिए आवश्यक होता है।[७९]

चरकादि आचार्यों ने स्नेहन कालावधि तीन से लेकर सात दिन माना है। तथापि तीन दिन से कम दिन तक स्नेहन नहीं करना चाहिये या सात दिन के बाद स्नेहन नहीं करना चाहिये ऐसा कोई सख्त नियम किसी ने माना नहीं है। स्नेहपान के विषय में कितने दिन स्नेहन करना है यह निर्णय करना आवश्यक है अतः इस विषय पर जो भिन्न-भिन्न मत शास्त्र में हैं उसकी समग्र चर्चा की जाती है।

यदि सात दिन से अधिक दिन स्नेहन करें तो वह सात्म्य होता है। सात्म्य हुआ

स्नेह शरीर में शोधन का कार्य नहीं कर सकता। वह स्नेहन कोष्ठापेक्षी है। कोष्ठ यह अग्नि की अपेक्षा रखता है। अतएव सूश्रुत ने तीन, चार, पांच या छः दिन और अधिक से अधिक सात दिन स्नेह पीने को कहा है तो वाग्भट ने 'स्निग्ध लक्षण उत्पन्न होने तक स्नेह पीना चाहिये' ऐसा माना है।[८०]

यहां चक्रपाणि का कथन है— स्नेह का प्रकर्ष सात दिन का है। सात दिन के अनन्तर सात्म्यीभूत मात्रा शरीर में अधिक कान नहीं करती तथापि सात दिन के स्नेहन में जो मात्रा सात्म्य हुई है, उसके अतिरिक्त अधिक मात्रा जो सात्म्य न हुई हो वह दी जा सकती। अतः वैद्य लोग सात दिन में स्निग्ध लक्षण उत्पन्न न होने पर कुछ दिन विश्राम कर पुनः अधिक मात्रा में स्नेह प्रयोग करते हैं। यह विषय मृदु कोष्ठादि पर निर्भर है अगर क्रूर कोष्ठी को हीन मात्रा से प्रारंभ करें तो उसका ७ दिन में स्नेहन नहीं होगा। तंत्रांतर में तीन, छः और नव दिन भी स्नेहपान कहा है। अतः सात दिन से अधिक या तीन दिन से कम भी स्नेह दिया जा सकता है। सद्यस्नेह में एक दिन में स्नेहन होता ही है।[८१] तथापि जो ये अर्थ लगाते हैं कि मृदुकोष्ठ में भी तीन दिन से अधिक स्नेह देने पर वह सात्म्य होता है, अतः न दे, यह हमें (च. पा. को) उचित नहीं लगता। क्योंकि सात्म्यीभाव सात दिन के बाद ही आचार्य को अभिमत है। मध्यकोष्ठ की दिनसंख्या दी नहीं है तथापि मध्यविधि के अनुसार पांच दिन प्रकर्षकाल समझे।

अष्टांग हृदय में वाग्भट ने यह कालमर्यादा तो स्वीकृत की किन्तु आगे कहा कि स्निग्ध लक्षणों की उत्पत्ति तक स्नेहन करना चाहिये। अतः दिनों का महत्त्व नहीं है। यहां अरुणदत्त ने कहा है, ''अथवा नैष नियम, सम्यग्स्निग्ध लक्षणोंत्पत्तिरेव नियमः अतः सप्ताहादप्ययूर्ध्व स्नेह पेयो यावत् स्निग्ध लक्षणं स्यात्। .. सात्म्यीभूतेहि कुरुते न मलानामुरणम्। अतियोगेन वा व्याधीन् यथांभो ह्यति योजनात् इति। यदि तु सप्ताहेनापि स्नेह लक्षणं नोत्पद्यते तदा दिनमेकं विश्राम्य पुनः स्नेहो योज्य इति सद्वैद्याः।।''

अर्थात्— सम्यग् स्निग्ध लक्षणोत्पत्ति तक स्नेह पान करावें। सात दिन के बाद भी अधिक मात्रा में स्नेह दिया जा सकता है। अष्टांग संग्रह में सात्म्यीभूत मात्रा के दोष कहते हुए कहा है कि यह मलों का उदीरण नहीं कर सकती अथवा अतियोग से अनेक योग उत्पन्न करती है, जैसे अधिक जल खेतों में करता है।

इस समय चर्चा का सार यह है—

१. सामान्यतया स्नेह का प्रकर्ष तीन दिन, पांच दिन और सात दिन का है।

२. मृदुकोष्ठ में तीन दिन में मध्यकोष्ठ में पांच दिन में और क्रूर कोष्ठ में सात दिन में स्नेहन होता है।

३. सात दिन के बाद स्नेहन—सात्म्य होता है। सात्म्य स्नेह दोष और मलों को शुद्ध नहीं करता। वैसे ही वह अति मात्रा के दोष उत्पन्न करता है।

४. सात दिन के बाद यदि स्नेहन न हो तो अधिक मात्रा में स्नेह दे और स्निग्ध लक्षण मिलने तक स्नेहन करें।

५. तीन दिन से पहले भी स्निग्ध लक्षण मिल सकते हैं।

६. तीन दिन के बाद स्नेह देने से मृदु कोष्ठी को स्नेह सात्म्य होता है यह बात ठीक नहीं है।

७. क्रूर कोष्ठ को पहले से ही ऐसी मात्रा निश्चित करें कि सात दिन में वह स्निग्ध हो जाए।

८. मृदु कोष्ठ को यदि अधिक मात्रा से स्नेहन करें तो वह तीन दिन से जल्दी भी स्निग्ध होगा, या तो स्नेहाजीर्ण होगा। वैसे ही क्रूर कोष्ठ को अल्प मात्रा में स्नेह दे तो वह सात दिन में भी स्नेहन नहीं करेगा। अतः यह विषय कोष्ठ पर निर्भर है।

यहां 'सात्म्यता' का स्वरूप समझना चाहिये। प्रत्यक्ष में यह देखा जाता है कि असात्म्य विष द्रव्यों को भी धीरे-धीरे देने से वे सात्म्य होते हैं और फिर ज्यादा प्रमाण में भी नुकसान नहीं करते। स्नेह द्रव्य आहार द्रव्य है। बृंहण है। उनका देने का उद्देश्य यदि शोधन हो तो सात दिन में उसे पूरा करना उचित है। धातु पोषण क्रम में भी आहारसेवनोत्तर धातु उत्पत्ति काल पांच से सात दिन माना है। प्रति दिन का स्नेह रस के साथ निक्षेपित होकर रक्तादि धातु में पहुंचकर वहाँ क्लेदनादि कार्य करता है, किन्तु सात दिन में उसका धातु निर्माण चक्र पूर्ण होता है, अतः स्नेह से धातुओं का निर्माण प्रारंभ हो तब वह शोधन कार्य नहीं कर सकता। संभवतः उसे ही 'सात्म्य' कहा हो। प्रयोगशाला अध्ययन पद्धति से (Laboratory methods) स्नेह काल में रक्त की परीक्षा करने पर वह अपने प्राकृत प्रमाण से (350 mg. to 480 mg. Per 100 ml.) दुगना तक बढ़ा हुआ मिला है। इस क्रम से अधिक दिन चलने पर धातु निर्माण कर शरीर उसे व्यवस्थित (Adjustment) करने लगता है। अस्तु इसकी चर्चा आगे—'स्नेह का कार्मुकत्व' के विचार में की है।

इस विषय की चर्चा पूर्व कर्म करने का कारण यही है कि प्रत्येक आतुर में कितने दिन तक स्नेहन करना होगा इसका निर्णय पहले करना चाहिये और स्निग्ध लक्षणों का निरीक्षण करना चाहिये। इसे ठीक न समझने पर स्नेहन ठीक नहीं होगा, या तो काकतालीय न्याय से होगा, या अति स्नेहन के परिणाम भोगने पड़ेंगे। काल निर्णय के लिए कोष्ठ की परीक्षा करनी चाहिये। कोष्ठ भी मृदु, मध्य और क्रूर ऐसे तीन प्रकार के हैं। जिनमें गुड़, इक्षुरस, दूध, दही, दधिप्रस्तु, पायस, खिचड़ी, घृत, द्राक्षारस, मद्य, उष्ण जल इनके सेवन से भी विरेचन होता है, उसे मृदुकोष्ठ कहते हैं। इससे जिनको विरेचन नहीं होता उन्हें क्रूरकोष्ठ करते हैं।[८२] इनसे जिनको विरेचन (अधिक टट्टियां) तो नहीं होता किन्तु एक बार सम्यक् मलशोधन होता है, उसे मध्यकोष्ठ कहते हैं।

मात्रा निर्णय— मात्रा का निर्णय बड़ा महत्त्व रखता है। अमात्रा युक्त स्नेहपान कराने से शोथ, तंद्रा, स्तंभ, संज्ञाहानि, कंडु, ज्वर, क्लेश, शूल, आनाह, भ्रम आदि रोग उत्पन्न होते हैं।[८३] मात्राएं, ह्रस्वमात्रा, मध्यमात्रा तथा उत्तम मात्रा ऐसी तीन प्रकार की है।[८४] किन्तु स्नेहपान में आगे की मात्रा निश्चित करने के लिए ह्रस्व से भी कम मात्रा दी जाती है उसे हृसीयसी मात्रा कहते हैं। इसका प्रायोगिक दृष्ट्या बहुत महत्त्व है। अतः चार मात्राएं होती हैं।

१. हृसीयसी मात्रा— सुश्रुत कहते हैं कि स्नेह अधिक मात्रा में देने पर प्राणसंशय उत्पन्न करता है। अतः पहली मात्रा अग्नि को देखकर देनी चाहिये।[८५] अतएव वाग्भट भी मानते हैं कि दोष (दूष्य, शरीर बल) आदि देखकर बुद्धिमान वैद्य पहले 'हृसीयसी' मात्रा का ही प्रयोग करें।[८६] हृसीयसी का अर्थ है बहुत अल्प मात्रा। ह्रस्व मात्रा की कल्पना हृसीयसी मात्रा से की जाती है। यह एक प्रकार से परीक्षणमात्रा (Test Dose) है। अमुक

आतुर में यह ह्रस्व है; यह उससे भी ह्रस्व है, वह उन सबसे ह्रस्व है ऐसा अनुमान कर ह्रसीयसी मात्रा निश्चित करें। कोई लोग दो पल (८ तोला), चार पल (१६ तोला) और छः पल (२४ तोला) को ह्रसीयसी मात्रा कहते हैं, किन्तु अग्निबल की परीक्षा किए बिना दी हुई ह्रसीयसी मात्रा भी हानिकारक हो सकती है। अतः यह मत स्वीकार्य नहीं है।[५७] प्रायः प्रारंभिक मात्रा २।। तोला दी जा सकती है, इसे ह्रसीयसी मात्रा कहना उचित है। २।। तोला से बढ़ाकर प्रतिदिन क्रमशः अग्निबल की अपेक्षा स्नेह बढ़ाये।

२. ह्रस्व मात्रा— जिनका कोष्ठ मृदु हैं, अग्निबल अल्प है उनमें ह्रस्व-मात्रा से स्नेहपान किया जाता है। जो मात्रा छः घंटों में (दो यामों में) जीर्ण होती है, उसे ह्रस्व मात्रा कहते हैं। यह मात्रा अल्पदोषों में दी जाती है।[५८] यह अग्नि को प्रदीप्त करती है। ह्रस्व मात्रा अति वृद्धों में, अति बालों में, जो सुकुमार हैं उनमें, जो अपना जीवन सुखपूर्वक लालनपालन में बिताते हैं उनमें अग्निमांद्य वाले व्यक्तिओं में तथा चिरकाल से ज्वर पीड़ितों में काम, अतिसारवालों में, दुर्बल आतुरों में प्रशस्त होती है।[५९] यह मात्रा परिहारकाल के लिए अच्छी होती है, क्योंकि इसमें अधिक दिन परिहार और पथ्यापथ्य करना नहीं पड़ता। यह स्नेहन करती है, बृंहण करती है, वाजीकरण करती है तथा चिरकाल तक बिना व्यापद के ली जा सकती है।[६०]

३. मध्यम मात्रा— जो स्नेहमात्रा बारह घंटों में (चार यामों में) जरण होती है उसे मध्यम मात्रा कहते हैं। यह मध्यबलवाले दोषों में देनी चाहिये। यह मात्रा अरुष्क (अरुंषिका—सिर में होनेवाली छोटी पिड़काए), स्फोट, पिड़का, कंडु, पामा, कुष्ठ, प्रमेह, वातरक्त में जिनका आहार बहुत अधिक नहीं है, तथा जिनका कोष्ठ मृदु है उनमें प्रशस्त होती है। यह मात्रा शरीर बल का अधिक क्षय नहीं करती, इनमें ज्यादा व्यापद् भय नहीं होता और सुखपूर्वक स्नेहन और शोधन करती है।[६१]

४. उत्तम मात्रा— इसी को प्रधान मात्रा भी कहा जाता है। जो स्नेहमात्रा चौबीस घंटे में (आठ याम में) पचन होती है उसे उत्तम मात्रा कहते हैं।[६२] यह अत्यधिक दोषबल में दी जाती है। प्रधान मात्रा–कुष्ठ, उन्माद, विषविकार, ग्रह, अपस्मार को नष्ट करनेवाली कही गई है। जो हमेशा स्नेह सेवन करते हैं, जो भूख, प्यास इनके वेगों को सहन कर सकते हैं, जिनमें वात की प्रधानता होती है तथा गुल्म, सर्पदंश, विसर्प, उन्माद, मूत्रकृच्छ्र एवं अत्यंत कठिन मल प्रवृत्तिवालों में यह मात्रा देनी चाहिये। यह मात्रा तीक्ष्णाग्नि में खास देनी चाहिये।

उपर्युक्त मात्राओं के अतिरिक्त सुश्रुत ने १८ घंटे में पचन होनेवाली मात्रा भी निर्दिष्ट की है जो बहुदोष में दी जाती है।[६३] सुश्रुत ने ६ घंटे में, १२ घंटे में, १८ घंटे में तथा २४ घंटे में पचन के आधार पर चार मात्राएं दी हैं।

चरक ने उत्तम मात्रा की खूब प्रशस्ति की है। यह विकारों को तुरन्त प्रशम करती है, ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक सभी मार्गों में प्रसरण करती है, दोषों का क्षय करती है और शरीर बल को बढ़ाती है, तथा शरीर इंद्रिय और मन इनको नवचैतन्य देती है ऐसा कहा है। सभी मात्रा का तुलनात्मक अध्ययन तालिका में देखें।

स्नेहमात्रा विवरण तालिका

क्र. मात्रा नाम	लक्षण	गुण एवं उपयोग
१. ह्रसीयसी मात्रा	ह्रस्व से भी ह्रस्व	परीक्षण मात्रा है।
२. ह्रस्व मात्रा	छः घंटे में जरण होती है।	वृद्ध, बाल, सुकुमार सुखोपचित, मंदाग्नि, ज्वर, अतिसार, कास, अवरबल में दे।
३. मध्यम मात्रा	१२ घंटे में जरण होती है।	अरुष्क स्फोट, पिड़का, कंडु, पामा, कुष्ठ, प्रमेह, वातरक्त मृदु कोष्ठी, मध्यम शरीरबल और अग्निबलवालों में दे।
४. उत्तम मात्रा	१.१८ घंटे में जीर्ण होती है।	नित्य स्नेहोपयोगी, कुष्ठ, अपस्मार, उन्माद, सर्पदंश, मूत्रकृच्छ्र विसर्प, विबंध गुल्म में दे।
	२.२४ घंटे में जीर्ण होती है।	बहुदोष, तीक्ष्णाग्नि उत्तम शरीर बल में।

ये सभी मात्राएं अग्नि सापेक्ष्य हैं और स्नेह जीर्ण होने के समय के अनुसार निश्चित की गई है। अतः किस आतुर में कितने दिन में स्नेहन होगा इसके लिए अनुभवी वैद्य निम्नलिखित प्रकार से निर्धारण करते हैं। समझ लीजिए कि ह्रसीयसी (Test dose) मात्रा २। तोला प्रातः ७ बजे दी और उसे पचन होने के लिए ३ घंटा लगा, तो २४ घंटे में जरण के लिए उसे १६ तोला मात्रा लगेगी जो सातवें दिन की होगी। अब २।। तोला से १६ तोला के बीच प्रतिदिन मात्रा ऐसी बढ़ाए कि ७वे दिन तक स्नेहाजीर्ण न होते हुए १६ तोला की मात्रा आए। यह गणित है। शरीर में यह बिल्कुल वैसा ही काम करेगा ऐसा नहीं है। अग्नि तथा सात्म्यता के अनुसार इसमें फरक होगा। लेकिन इससे अंदाजा आ सकता हैं। इसी तरह मध्य और ह्रस्वमात्रा का निर्णय कर सकते हैं।

३. स्नेहपूर्व भोजनादि की व्यवस्था— स्नेहपान के पूर्व दिन भोजन निम्नोक्त गुण युक्त तथा दोष से रहित देना चाहिए।

तालिका

प्रशस्त गुण	चरक	वाग्भट	वर्ज्य दोष	चरक	वाग्भट
द्रव्य आहार	+	+	अभिष्यंदी आहार	+	+
उष्ण आहार	+	+	संकीर्ण भोजन	+	+
प्रमाण युक्त	+	+	अतिस्निग्ध भोजन	+	+

आहार द्रव प्रायः उष्ण, प्रमाण में योग्य हो तथा अभिष्यंदी न हो, अति स्निग्ध न हो और संकीर्ण भोजन (अर्थात् जिसमें एक दूसरे के विरुद्ध गुण हो ऐसा भोजन न

देवे।[६४] आहार में द्रव पदार्थों का प्रमाण अधिक होने से उनका पचन जल्दी होता है और कोष्ठ भारी नहीं रहता। स्नेह देने के पहले, रात का भोजन पचना और कोष्ठ हल्का होना आवश्यक होता है अतः द्रव भोजन करें। उष्ण आहार का भी पचन जल्दी होता है, उष्ण से स्वाद बढ़ता है, अग्नि दीप्त होती है, वात का अनुलोमन होता है और कफ कम होता है इसलिए गरम भोजन देना चाहिये।[६५] प्रमाणयुक्त या मात्रायुक्त भोजन से वात, पित्त और कफ तीनों दोष सम रहते हैं, आयु बढ़ती है, अग्नि मंद नहीं होता, सुखपूर्वक भुक्तान्न का किट्ट गुद तक पहुँचता है और सारभाग का पचन और शोषण बिना तकलीफ से होता है।[६६] आहार का प्रमाण भिन्न-भिन्न लोगों में भिन्न-भिन्न होगा। अग्नि, काल तथा खाद्य द्रव्य की अपेक्षा से प्रमाण बदलता है। असंकीर्ण अथवा अविरुद्ध वीर्यवाला भोजन करने से विरुद्धान्न पान के द्वारा संभाव्य अनेक रोग उत्पन्न होने का भय नहीं रहेगा।[६७] विरुद्धाहार अनेक प्रकार का होता है। चरक ने देश, काल, मात्रा, सात्म्य, संस्कार, वीर्य, कोष्ठ, अवस्था, क्रम, परिहार, पाक, संयोग, संपद् एवं विधि भेदों से विरुद्धाहार का वर्णन किया है।[६८] इसका विस्तार सूत्रस्थान अध्याय २६ में देखना चाहिये। अतिस्निग्ध आहार का जल्दी पचन नहीं होता, स्निग्धता से कफ बढ़ता है और अग्निमांद्य उत्पन्न होता है, अतः स्नेहपान के पूर्व अतिस्निग्ध आहार न करें।

४. **स्नेहनार्थ द्रव्यसंग्रह—** जिस स्नेह से स्नेहपान कराना हो उसका पर्याप्त प्रमाण में संग्रह करना चाहिये। अन्यथा ऐसा होता है कि प्रारंभ में एक स्नेह दिया गया और बीच में वह खतम होने से स्नेह बदलना पड़ा। यह अच्छा नहीं है। इससे अग्नि पर खराब असर होता है, दोष दूष्य और रोग बल पर भी परिणामकारक उपाय नहीं हो सकता। अतः प्रारंभ में निश्चय किया हुआ स्नेह सातत्यपूर्वक रखने के लिए पर्याप्त संग्रह करें। घृत, तैल, वसा, मज्जा में से रोग; ऋतु और आतुर के अनुकूल स्नेह चुने। स्नेहों की उपयोगिता की चरकोक्त नामावली का इस अध्याय के अंत में दी है, उससे तथा तपकल्पीय विज्ञान में कही हुई कोई औषधि संग्रहीत करें। फिर स्नेहपान में संभाव्य व्यापद का ख्याल रखकर उसकी उचित प्रतिकारक औषधि तैयार रखे।[६९] इसमें अग्निमांद्य, अरुचि, शूल, भ्रम, मूर्च्छा, अतिसार और छर्दि के लिए प्रतिकारक औषधियां संग्रहीत करें। प्रायः संजीवनी बटी, आमपचन बटी, शंख बटी, शिवाक्षारपाचन चूर्ण, चित्रकादि बटी, सूतशेखर, प्रवालपिष्टी, शंखमस्म, हेमगर्भ रस, कुटजघनबटी इत्यादि का संग्रह उपयोगी होता है। अनुपानार्थ उष्णोदक, मंड, यूष, निंबूक रस प्रतिदिन तैयार करें।

प्रधान कर्म—स्नेह्य आतुर को पूर्वकर्म में कही हुई सभी बातों का ध्यान रखकर, विशिष्ट दिन स्नेह पिलाने के लिए प्रारंभ करना यह प्रधान कर्म है। स्नेहपानक्रम में निम्नलिखित विषयों का ध्यान रखना चाहिये।

१. स्नेह प्राशन विधि
२. स्नेहजीर्ण लक्षणों का निरीक्षण
३. स्निग्धास्निग्ध लक्षणों का निरीक्षण
४. स्नेहव्यापत् का निरीक्षण तथा प्रतिकार।

१. **स्नेह प्राशन विधि—** सुश्रुत का उद्धरण जो पहले दिया गया था, तदनुसार

लघुकोष्ठी आतुर को मंगल वाचन कर प्रातःकाल में सामान्यतया सूर्योदय के १५ मिनट से ३० मिनट के अंदर स्नेह पिलावे। मंगलवाचन आतुर को मानसिक शांति देता है। आगे वमन विरेचन प्रकरण में भी मंगलवाचन तथा औषधि का मंत्रपूर्वक (स्तुति) दान आता है, भारतीय परंपरा तो आस्तिक-प्रधान हैं ही, किन्तु दुनिया के सब कोने कोने में आदिकाल से औषधि देते समय मंगलवाचन, ईश्वर की प्रार्थना की जाती थी ऐसा इतिहास मिलता है। स्नेहपान के प्रथम दिन २।। तोला (लगभग एक औंस) स्नेह पिलावे। स्नेहों में रोगानुसार कौनसा स्नेह देना है, इसका निर्णय वैद्य करें। उदाहरण त्वग्रोगों में तिक्तघृत, महातिक्त घृत, पंचतिक्त घृत, गुग्गुलु, श्वास में वसादि घृत उन्मादापस्मार में कल्याणक घृत, सास्वत घृत, ब्राह्मी घृत वातव्याधि पक्षाघात में तिल तैल आदि ढंग से निश्चय करें। अध्यायांत में चरकोक्त अनेक प्रयोग ससंदर्भ दिये हुए हैं उनमें से सुविधानुसार चुन सकते हैं।

कोई भी शोधन मात्रा में (बहुत मात्रा में) देते समय उद्वेग होता है और आतुर को आश्वासन देकर विश्वास में लेकर, धैर्यपूर्वक उत्साहित कर पिलाना पड़ता है। विशेषतः स्त्रियों में स्वभावतः ही किसी गंध के प्रति उद्वेग और किसी स्वाद के प्रति अरुचि होती है और उनकी घ्राणेन्द्रिय भी तेज रहती है। अतः स्नेह द्रव्य जो गन्ध और स्वाद से तीव्र होते हैं, पिलाते समय मन को उत्साहित कर पिलाना पड़ता है। अब यह थोड़ासा पी लो, अब थोड़ासा रहा, यह तुम्हारे रोग को जरूर दूर करेगा, आदि हितकर आश्वासन देवे।

प्रभूत गंध, वर्ण के कारण उद्वेग हो तो अच्छा तरीका यह है कि आतुर के नाक और आँख पर पट्टी बांध दे और स्नेह पिलावे। प्रारंभिक २।। तोला के बाद सामान्यतः अग्नि को देखकर निम्नलिखित प्रकार से स्नेह मात्रा बढ़ावे। (उत्तम स्नेह मात्रा में) प्रथम दिन २ औंस या ५ तोला दे। दूसरे दिन ३ औंस या ७।। तोला, तीसरे दिन ४ औंस या १० तोला, चौथे दिन ६ औंस या १५ तोला, पांचवें दिन आठ औंस या २० तोला, छठे दिन १० औंस या २५ तोला और सातवें दिन १२ औंस या ३० तोला स्नेह पिलाया जा सकता है। उपर्युक्त प्रमाण में अग्निबल अल्प होने पर कम प्रमाण में बढ़ाकर सातवें दिन १६ तोला से २५ तोला तक आए ऐसा कर सकते हैं और अधिक अग्निबल हो तब इससे भी अधिक प्रमाण में बढ़ाया जा सकता है। प्रतिदिन स्नेह लक्षणों को देखते रहना चाहिये। आतुरालय में एक कुष्ठी को २४ औंस तक तिक्त घृत सातवें दिन दिया गया, हमने प्रत्यक्ष किया है। मध्यमकोष्ठ हो तो सामान्यतः पांच छः दिन में स्निग्ध लक्षण मिलते हैं। बहुत बार आतुर को केवल स्नेहपान से ही अतिसार शुरू होता है। उसे मृदुकोष्ठ समझकर, शमन, स्नेह, बृंहण स्नेह प्रकार से चिकित्सा करें।

स्नेहपान के समय हल्लास, छर्दि, अरुचि उद्गार ये लक्षण उत्पन्न हो तो स्नेह को निंबुक शर्बत के साथ पिलावे। साधारणतः तीसरे चौथे दिन से जब कि स्नेहमात्रा बढ़ जाती है, निंबुक शर्बत के साथ पिलावे। एतदर्थ एक ग्लास (या आठ औंस) पानी में शर्करा एक पूरा निंबू निचोड़ कर तैयार करें। निंबुक शर्बत के तीन चार घूंट और घृत के ३-४ तोला इस तरह करके घी या स्नेह पिलावे। कोई भी घृत पिलाना हो तो उसे सुखोष्ण कर पिलावे। ग्रंथ में मंड, उष्णोदक और यूष ये अनुपान वर्णित हैं, वे भी दिए जा सकते हैं। ये अनुपान इस प्रकार के हैं।[१००]

१. उष्णोदक— सभी स्नेहों में अनुपात है। विशेषतः घृत में। तुवर का तैल और भल्लातक तैल में न दे। शीतल जल दे।
२. यूष— तैल पान में अनुपान है।
३. मंड— वसा एवं मज्जापान में अनुपान है।

दोषानुसार भी स्नेहपान समय अनुपान भेद वृद्ध वाग्भट ने और सुश्रुत ने किया है। वात के प्राधान्य में लवण के साथ घी देने का, पित्त के प्राधान्य में केवल घी, कफ के प्राधान्य में क्षार और त्रिकटु के साथ घी पिलने का निर्देश किया है।[१०१] अन्यत्र केवल पित्त में घृतपान कराने का निषेध है यह भी स्मर्तव्य है।[१०२]

२. स्नेह जीर्णलक्षणों का निरीक्षण— स्नेह पिला देने के बाद, स्नेह का पचनकाल, पच्यंमानावस्था के लक्षण तथा जीर्ण लक्षणों का अच्छी तरह निरीक्षण करें। यह बात ध्यान में रखे कि स्नेह पचनकाल को ध्यान में रखकर ही दूसरे दिन मात्रा कितनी बढ़ानी है यह निश्चित किया जाता है, अतः इनके निरीक्षण में सावधानी होनी चाहिये। स्नेह के जीर्यमाण (पच्यमान) और जीर्ण लक्षण निम्नलिखित प्रकार है।[१०३]

जीर्यमाण—जीर्ण लक्षण—तालिका

क्र.	जीर्यमाण लक्षण	क्र.	जीर्ण लक्षण
१.	शिरोरुजा	१.	शिरोरुजादि जीर्यमाण लक्षणों का प्रशम
२.	भ्रम	२.	शरीर लघुता
३.	लालास्त्राव	३.	वातानुलोमन
४.	मूर्च्छा	४.	क्षुधा प्रवृत्ति
५.	साद	५.	तृष्णा प्रवृत्ति
६.	क्लम	६.	उद्धार शुद्धि
७.	तृषा		
८.	दाह		
९.	अरति		

स्नेह जीर्ण लक्षण में अजीर्ण लक्षणों की शांति और भूख-प्यास की प्राकृत प्रवृत्ति यह मुख्य लक्षण है। स्नेहपान के बाद प्रतिदिन भूख कितने बजे लगती है इसकी जानकारी रखे। अगर स्नेह जीर्ण हुआ या नहीं इसमें संदेह हो तो गरम पानी पिलावे। इससे शुद्ध डकार आये तो स्नेह जीर्ण हुआ ऐसा समझना चाहिये और स्नेहमिश्रित डकार आये तो स्नेह का जरण नहीं हुआ ऐसा समझना चाहिये।[१०४] स्नेह यदि प्रभूत मात्रा में मल से निकल आये तो भी स्नेह का अजीर्ण समझना चाहिये। बिना पचन से मल में गया हुआ स्नेह शरीर को स्निग्ध नहीं कर सकता। अगर स्नेह पाचनकाल में तृष्णा लगे तो उसे स्नेह जीर्ण लक्षण की तृष्णा न समझे। जीर्ण लक्षण की तृष्णा के साथ लघुता, भूख आदि अन्य लक्षण मिलेंगे जो जरण लक्षण तृषा में नहीं होंगे। इस तरह अगर बहुत प्यास लगे तो गरम पानी पिलावे। गरम पानी पीकर भी प्यास न बुझे तो गरम पानी से स्नेह वमन करावे, शीतल चंदन आदि का शिर पर लेप करावे तथा शीतल जल से अवगाहन (Tub Bath) करावें।[१०५]

जब स्नेह जीर्ण हो जाए तो गरम पानी से स्नान करने की अनुमति दे। फिर चावल कम और पानी ज्यादा डालकर बनाई हुई पतली यवागु खाने को दे। सुगंध और स्नेह से

रहित यूष, मांस रस अथवा अत्यंत कम प्रमाण में घी डालकर बनाई हुई विलेपी खाने को देवे।[१०६]

इस तरह निरीक्षण के बाद, यथावश्यक उपचार के बाद अगर कोई व्यापद्-ज्वर, अतिसार, छर्दि, आध्मान आदि उत्पन्न न हो, तो दूसरे दिन प्रातः पुनः लघु कोष्ठादि देकर स्नेहपान क्रमार्थ स्नेह पिलावे।

३. स्निग्धास्निग्ध लक्षणों का निरीक्षण—जिस प्रयोजन से स्नेहपान किया जाता है, उसकी सिद्धि के लिए यह आवश्यक है कि स्निग्ध, अस्निग्ध, अतिस्निग्धादि लक्षणों का अच्छी तरह निरीक्षण करें। अन्यथा अस्निग्ध आतुर का ही आगे स्वेदन और शोधन होगा, या अतिस्निग्धता से उपद्रव उत्पन्न होंगे और प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा।

सम्यक् स्निग्ध के लक्षण[१०७] — जिसका स्नेहन ठीक हुआ है, उस आतुर की अग्नि प्रदीप्त होती है, उसे स्नेह से द्वेष होने लगता है, उसका मल गाढ़ा और कठिन नहीं होता, शरीर में लघुता उत्पन्न होती है। उसके गात्र मृदु बनते हैं। मल स्निग्ध होता है। त्वचा स्निग्ध होती है। वात का अनुलोमन होता है।

असम्यक् स्निग्ध लक्षण[१०८]— जिसका स्नेहन ठीक न हुआ हो, उसका मल कठिन होता है और रुक्ष होता है, अग्नि मंद होती है, वायु प्रतिलोम होती है और शरीर में रुक्षता होती है। यहां शरीर की रुक्षता और पुरीष की रुक्षता का कारण असम्यक् स्नेह नहीं होता। बल्कि रोगी के शरीर में ये लक्षण पहिले से ही होते हैं जिन्हें सम्यक् प्रयुक्त स्नेह ठीक करता है। असम्यक् प्रयुक्त स्नेह से उनमें सुधार नहीं होता ऐसा अर्थ करें, अन्यथा अनर्थ होगा। स्नेह अल्पमात्रा में प्रयोग करने पर भी वह कभी भी रुक्षता तो उत्पन्न नहीं कर सकता।

अतिस्निग्ध के लक्षण[१०९] —स्नेह बहुत ज्यादा मात्रा में प्रयास करने पर पांडु, शरीर गुरुता, जाड्य, पुरीष अपक्वता, तंद्रा, अरुचि उक्लेश, मुखस्त्राव, गुदस्त्राव और गुद दाह ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। स्निग्ध लक्षणों की तुलनात्मक तालिका देखें।

सम्यक् स्निग्ध लक्षण-तालिका

क्र.	लक्षण नाम	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१.	अग्नि दीप्ति	+	+	+
२.	स्नेहोद्वेग	+	–	+
३.	असंहत वर्चा (मल पतला होना)	+	+	+
४.	अंग लाघव	+	+	–
५.	गात्र मार्दव	+	+	–
६.	गात्र स्निग्धता	+	+	+
७.	पुरीष स्निग्धता	+	+	+
८.	त्वग् स्निग्धता	–	+	–
९.	वातानुलोमन	+	–	+
१०.	अधोमार्ग (गुद) से स्नेह निकलना	–	+	+
११.	क्लमः	–	+	+
१२.	शैथिल्य	–	+	–

निम्नलिखिक तालिका में जहां + (धन) चिह्न है वहाँ उस संहिता का सकारात्मक लक्षण मात्र समझना चाहिये। जहां – (ऋण) चिह्न है वहां उस लक्षण का उस संहिता में निषेध न समझे। केवल पारिभाषिक शब्दों की जिज्ञासा से तालिका उपयोगी है। उदाहरण वाग्भट ने केवल 'सुस्निग्ध लक्षण विपर्यय' ऐसे एक ही लक्षण में अस्निग्ध लक्षण कह दिये हैं। अतः पुरीष रुक्षतादि सभी समाविष्ट होते हैं। कोष्ठक के लक्षण अन्यत्र गुदस्त्राव, पुरीष अपक्वतादि में समाविष्ट होते हैं।

अस्निग्ध लक्षण-तालिका

क्र.	लक्षण नाम	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१.	ग्रथित पुरीषता	+	+	–
२.	रुक्ष पुरीषता	+	+	–
३.	अग्निमांद्य	+	+	–
४.	वायु प्रतिलोमता (अप्रगुण)	+	+	–
५.	गात्र खरता	+	–	–
६.	गात्र रुक्षता	+	–	–
७.	उरोविदाह	–	+	–
८.	दौर्बल्य	–	+	–
९.	दुवर्णता	–	+	–
१०.	कृच्छ्रता से अन्नपचन	–	+	–
११.	सुस्निग्ध लक्षण विपर्यण	–	–	+

अतिस्निग्ध लक्षण-तालिका

क्र.	लक्षण नाम	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१.	पांडुता	+	–	+
२.	गौरव	+	–	–
३.	जाड्य	+	–	–
४.	पुरीष अपक्वता	+	+	–
५.	तंद्रा	+	–	–
६.	अरुचि	+	+	–
७.	उत्क्लेश	+	–	–
८.	मुखस्त्राव	+	+	+
९.	गुदस्त्राव	–	+	+
१०.	घ्राणस्त्राव	–	–	+

११. गुद दाह	+	+	–
१२. (भक्तद्वेष)	–	+	–
१३. (प्रवाहिका)	–	+	–
१४. (पुरीषाते प्रवृत्ति)	–	+	–

स्निग्धास्निग्ध लक्षण स्नेहन कालावधि के लक्षण हैं। प्रत्येक दिन उनकी बराबर परीक्षा करें। स्नेह काल में पुरीष परीक्षा करें। यदि जल में पुरीष डालने से ऊपर स्नेह का तवंग दिखाई दे तो स्निग्ध पुरीषता समझे। इस तरह उचित लक्षण मिलने पर तीन, पांच, छः या सात दिन के बाद स्नेहपान बंद करें और स्वेदन तथा शोधन की तैयारी करें।

४. स्नेह व्यापद् एवं प्रतिकार—स्नेहपान में प्रमादवश उपद्रव उत्पन्न होते हैं उन्हें व्यापद कहते हैं। वैद्य तथा आतुर दोनों के प्रमाद से व्यापद उत्पन्न होती हैं। स्नेह का उचित निर्णय न करना, मात्रा का उचित निर्णय न करना तथा काल का निर्णय न करना और स्नेह्यास्नेह्य में योग्य निर्णय न करने से वैद्य प्रमाद द्वारा व्यापद् उत्पन्न होती है।[११०] स्नेहोत्तर 'उष्णोदकोपचारी स्यात्' इत्यादि परिहार में पथ्य न संभालने से आतुर निमित्त व्यापद उत्पन्न होती है। व्यापदों में सामान्यतः आशुचिकित्स्य जिनकी तुरन्त चिकित्सा करनी चाहिये, ऐसी और चिरचिकित्स्य जिनको दीर्घकाल तक चिकित्सा करनी चाहिये ऐसी दो प्रकार की व्यापत्तियां निर्माण होती हैं। स्नेह व्यापद् निम्नोक्त प्रकार की है।[१११]

आशु चिकित्स्य— १. अजीर्ण २. तृष्णा ३. संज्ञानाश ४. तंद्रा ५. उत्क्लेश ६. आनाह ७. ज्वर ८. स्तंभ ९. अरुचि १०. शूल ११. आमप्रदोष

उपर्युक्त उपद्रवों में अजीर्ण के बारे में कहा गया है कि बहुत अधिक प्रमाण में स्नेह देने से अथवा स्नेहपानोत्तर मिथ्याचार करने से स्नेह का अजीर्ण होता है और अपचित स्नेह विष्टंभ (व्यापद क्र. ८) उत्पन्न कर धीमे-धीमे पचता है। इसे गरम पानी देकर वमन करावें।[११२] वातपित्त भूयिष्ठ आतुर में उष्ण ऋतु में स्नेह देने से मूर्च्छा, तृष्णा (क्र. २), उन्माद हो सकते हैं।[११३] चरक कहते हैं कि पित्ताधिक्य में केवल घी (असंस्कृत) देने से संज्ञानाश करता है[११४] तथा ज्वर, स्तंभ उत्क्लेश आनाह करता है।

इनकी चिकित्सा में उष्णोदक मुख्य औषधि है। गरम पानी स्नेह को पचाता है, आम को पचाता है और वात को अनुलोमन करता है। तृष्णा बहुत ज्यादा हो तो वमन करावें। तक्र प्रयोग, अरिष्ट प्रयोक, रुक्ष अन्नपान, गोमूत्र, त्रिफला ये स्नेह व्यापद में औषधियां कही गई हैं।[११५] भूख लगने पर भोजन न करना, वमन, स्वेदन, रुक्ष अन्नपान,

तक्रारिष्ट, कोद्रव, यव, श्यामाक (सामा), पिप्पली, त्रिफला, मधु, हरीतकी, गोमूत्र, गुग्गुलु इनके द्वारा यथायोग्य चिकित्सा करने का वाग्भट निर्देश करते हैं।[११६] अर्थात् इनमें लंघन, रुक्षण, वमन, पाचन औषधि और अनुलोमन का प्राधान्य है। भावप्रकाश ने स्नेहजन्य तृष्णा में ठंडा दूधपाक (पायस) पिलाने को कहा है।[११७] उपर्युक्त आशु चिकित्स्य व्यापद में शंखवटी, शिवाक्षार पाचन चूर्ण, सूतशेखर, शंख भस्म, संजीवनी इत्यादि का प्रयोग करें।

चिर चिकित्स्य व्यापद— स्नेह व्यापद के कारण चिर चिकित्स्य स्वरूप के निम्नलिखित रोग उत्पन्न हो सकते हैं—

१. कुष्ठ	२. कंडु	३. पांडु
४. शोथ	५. उदर रोग	६. ग्रहणी
७. अर्श	८. स्तैमित्य	९. वाक् ग्रह

कुष्ठ, कंडु, आदि, असम्यक् स्निग्ध से पांडु, जाड्य (स्तैमित्य), ग्रहणी (पुरीष अपक्व) ये अति स्निग्धता से उत्पन्न होते हैं। शोथ, उदर भी अतिस्नेहन से होते हैं। इन रोगों में तत्तद् रोगों की चिकित्सा करनी चाहिये।

पश्चात्कर्म—स्नेहनोत्तर काल में जो पथ्यापथ्य संभालना चाहिये, उनका पालन करना यह स्नेह का पश्चात्कर्म है। स्निग्ध आतुर को चाहिये कि वह निम्नलिखित विषयों का ध्यान रखें।[११८] जितने दिन स्नेहन करें, उतने ही दिन आगे ये आचार पालन करना चाहिये।[११९]

१. उष्णोदकोपचार—खाने में, पीने में गरम पदार्थों का महत्त्व है। सतत गरम पानी पीवें; गरम पानी से स्नान करें। ठंडा जल अभिष्यंती होता है और स्नेह पचाने में देर करता है। यवागु यूष रस, विलेपी इनका सेवन करें।

२. ब्रह्मचर्य का पालन करें। ब्रह्मचर्य को एक उपस्तंभ (जिसके आधार पर बलादि युक्त शरीर की स्थिति रहती है) माना है। इससे शरीर बल, वर्ण, उपचयादि कायम रहते हैं।

२. क्षपाशय— रात में ही सोना चाहिये। दिन में सोने से कफ वृद्धि होती है। जो स्नेहपान काल में अग्निमांद्य, गुरुतादि व्यापद करता है।

२. वेगावरोध न करें। मल, मूत्र, वात, डकार, इनके आए हुए वेग धारण न करें।

५. जोर से बोलना नहीं चाहिये। इससे वाग्ग्रह होता है।

६. गुस्सा न करें और अधिक दुःख न करें। ये मानसिक भाव पचन तंत्र पर बुरा असर कर स्नेहपाचन नहीं होने देते।

७. शीत (ठंडी) और गरमी से अपने को बचायें।

८. खुली हवा में घूमना नहीं चाहिये।

९. व्यायाम और परिश्रम नहीं करना चाहिये।

१०. शय्या पर लेटे रहे, या बैठकर विश्राम करें।

११. ज्यादा पैदल चलना, या सवारी पर घूमना नहीं चाहिये।

१२. बहुत ऊँचा या नीचा सिरहाना नहीं लेवे।

१३. धुलि एवं धुएँ से बचे। धूम्रपान न करें।

१४. अधिक सोना नहीं चाहिये।

१५. रात में जागरण न करें।

१६. अनभिष्यंदी, रुक्षान्न पान का सेवन न करें।

शमन एवं बृंहण स्नेह—यहां तक शोधन प्रकार से दिया जानेवाला 'स्नेह विधान' का विचार प्रस्तुत किया। स्नेह शमन और बृंहण विधि से भी दिया जाता है यह पहले कहा गया है।

शमन स्नेह—उसे कहते हैं जो रोग शमनार्थ दिया जाता है। इसमें भूख लगने पर, भोजन न देकर स्नेह ही दिया जाता है। अर्थात् क्षुत्काल में पहले स्नेह देवे। शोधन स्नेह भोजनोत्तर भोजन के पाक के बाद देने का विधान है। क्षुत्काल में दिया हुआ यह स्नेह सर्व शरीर में जल्दी व्याप्त होकर प्रकुपित दोषों का शमन करता है। यह मध्यम मात्रा में दिया जाता है अगर इसे जीर्णान्न के काल में (शोधन सदृश) दिया जाए, जीर्णान्न का उदीरित कफ स्रोतोमुख पर लिंपित किए रहता है, जिससे स्नेह का सर्व शरीर प्रसरण जल्दी नहीं हो सकता और उसका शमन कार्य भी जल्दी नहीं होगा। इसे भक्ष्यान्न की विचारणा के बिना देना चाहिये। अर्थात् अच्छपेय प्रकार से दें। मध्यम मात्रा के कारण ६ घंटा के बाद, १२ घंटा के बाद स्नेहपचनोत्तर भोजन करने की विधि जो भोजन स्नेह में है, इसमें अपेक्षित नहीं है। अतएव शमन स्नेह में लघु भोजन दे। सायंकाल में मांस रस, भात आदि का भोजन दे। शमन स्नेह में विरेचनोत्तर जो कर्म करने को कहा गया है, वह अर्थात् पेया, विलेपी यूषादि से भोजन देने का क्रम उपयुक्त कहा है।[१२०] प्रायः शमन स्नेह के लिए संस्कारित स्नेह प्रातः ६ से १० बजे तथा सायं ५ से ६ बजे के बीच ४ तोला से ८ तोला की मात्रा में देना चाहिये। कोई भी स्नेह २ तोला दिन में ३ बार देने से भी शमनकार्य होता है।

यहां अरुणदत्त ने यद्यपि रात्र्यारंभ या रात्रि के मध्य में भोजन करने को कहा है, तथापि यहां रात्रि से यह अर्थ नहीं करना चाहिये। रात्रि का अर्थ २४ घंटे से युक्त एक दिन लेना चाहिये। 'मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निह्यत्यच्छोपसेवया। स्निह्यति क्रूर कोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानवः।' (च. सू. १३) तथा 'त्रिषट्क नवरात्रेण स्नेहपानं विधीयते। इत्यादि में रात्रि शब्द का प्रयोग 'रात' अर्थ में नहीं लेकिन 'दिनरात' के अर्थ में देखा ही गया है। अतएव यहां रात्रि प्रारंभ में इसका अर्थ स्नेह ६-१० बजे देने के बाद १० से ११ के बीच में दिन में तथा मध्यरात्रि का अर्थ—सायंकाल में भोजन करना चाहिये। सारांश भूख के समय स्नेह दे और तदनंतर एक डेढ़ घंटे के बाद भोजन की अनुज्ञा दे।

बृंहण स्नेह—बृंहण स्नेह भोजन के बाद मांस रस, मद्य अथवा अन्य भोजन कल्पों के साथ अल्पमात्रा में देना चाहिये। जहां पर 'रस' कहा हो और दूसरा विशेष रस नामान्वित न किया हो वहां मांस रस लेने की प्रथा है, तथापि दूध, खांड़, दही, यूषादि किसी द्रव

के साथ मिलाकर स्नेह दिया जा सकता है। इसी तरह भात, रोटी इत्यादि के साथ भी स्नेह दे सकते हैं। यह स्नेह 'हसीयसी' स्नेह मात्रा से भी प्रमाण में अल्प देना चाहिये।[१२१] हसीयसी स्नेह की चर्चा में एक औंस की सामान्य मात्रा पीछे निर्धारित की है। अतः बृंहण स्नेह उससे कम दे। सामान्यतः १ से २ तोला स्नेह बृंहणकर्म में प्रशस्त होगा। यह प्रतिदिन भोजन के समय प्रायः सभी लिया करते हैं। भात पर, रोटी को चुपड़कर, दाल (यूष) में डालकर, चटनी (षाडव), खिचड़ी इत्यादि में यह स्नेह विधान घर घर में प्रचलित है।

स्नेह का आनुषंगिक विचार

अब तक स्नेहपान का विस्तारतः वर्णन किया गया है। आगे बाह्य स्नेहन का विचार करना है, तत्पूर्व आभ्यंतर स्नेहन में कुछ आनुषंगिक (स्नेह संबंधित अवांतर विचार यहां प्रस्तुत किया जाता है। ये निम्नलिखित विषय हैं।

१. अच्छपेय स्नेह
२. स्नेह विचारणाएं
३. सद्यः स्नेह
४. स्नेह में ऋत्वादि विचार
५. स्नैहिक धूम
६. स्नेहोत्तर स्वेदन वमनादि का विचार।

१. अच्छपेय स्नेह— अच्छपेय स्नेह उसे कहते हैं जिसमें केवल शुद्ध स्नेह का प्रयोग किया जाता है और भोज्यादि किसी वस्तु की कल्पना के साथ स्नेह नहीं दिया जाता। यह श्रेष्ठ प्रकार का स्नेहन है। जिनको स्नेह जल्दी पच जाता है, स्नेह सात्म्य होता है, जो शारीरिक कष्ट सहन करने में समर्थ होते हैं, उनको अच्छपेय स्नेह देना चाहिए। अत्युष्ण एवं अति शीतकाल न हो तब अच्छपेय स्नेह देवे। यह जल्दी स्नेहन करता है, इसलिए श्रेष्ठ समझा गया है।[१२२] चक्रपाणि ने अच्छ शब्द का अर्थ केवल स्नेह ऐसा कर भोज्य कल्पना को विचारणा कहा है[१२३] और उनसे रहित स्नेह अच्छ कहा है, लेकिन अरुणदत्त ने केवल पीने का स्नेह अच्छ मानकर मूर्ध तर्पण वस्त्यादि को (चरकोक्त) विचारणा माना है।[१२४] यहां विचारणा का अर्थ वक्ष्यमाण २४ विचारणा कर उसके सिवाय देनेवाला केवल स्नेह 'अच्छ' समझना उचित है।

२. स्नेह विचारणाएं— जिनकी स्नेहपान के लिए स्वाभाविक अरुचि है, जिनका कोष्ठ मृदु रहता है, जो मद्यपान के आदि हैं, उन लोगों में भोज्य अन्न के साथ मिश्रण कर स्नेह दिया जाता है उसे स्नेह की विचारणा कहते है।[१२५] स्नेह की २४ धारणाएं होती हैं जो निम्नलिखित प्रकार की हैं।[१२६]

१. ओदन-भात	२. विलेपी	३. रस
४. मांस	५. दूध	६. दही
७. यवागु	८. सूप	९. शाक
१०. यूष	११. कांबलिक	१२. खड (कढ़ी)
१३. सक्तु	१४. तिलपिष्ट	१५. मद्य
१६. लेह	१७. भक्ष्यान्न	१८. अभ्यंग
१९. गंडूष	२०. कर्ण पूरण (तर्पण)	२१. नासातर्पण
२२. अक्षितर्पण	२३. बस्ति	२४. उत्तरबस्ति

उपर्युक्तों में क्र. १८ से २४ तक जो विचारणाएं हैं वे वस्तुतः स्नेहपान नहीं कही जा सकती। अतः स्नेहन द्विष्ट, मृदु कोष्ठादि में अन्य द्रव्य के साथ मिश्र कर स्नेहपान कराने का मुख्य उद्देश्य इनमें स्पष्ट नहीं है, तथापि ओदनादि कल्पों के साथ भी जिन्हें स्नेहन करना संभव न हो उन्हें अभ्यंग, गंडूष, बस्ति इत्यादि उपायों द्वारा स्नेहन करना चाहिये ऐसा इसका अर्थ करें।

मांसरस—मांस में जल डालकर सारभाग अलग होने तक पकाना मांसरस है। गाढ़ मांस रस बनाना हो तो ३२ तोला (लगभग ३२० ग्राम) मांस और ६४ तोला (६४० मि. लि.) जल डालकर पकावे, अगर मध्यम मांसरस बनाना हो तो मांस २४ तोला (लगभग २४० ग्राम) और पतला मांसरस बनाना हो तो १६ तोला (लगभग १६० ग्राम) मांस लेकर ६४ तोला जल में पकावे। इस सारभाग को मांसरस कहते हैं।

यवागु—इसके मंड, पेया और विलेपी तीन प्रकार है। सिक्थ को छोड़कर ऊपर द्रवभाग को लेना मंड है, सिक्थ भाग अधिक और द्रवभाग कम हो तो वह यवागु पेया कहलाती है, और जिस यवागु में सिक्थ अधिक हो और द्रव कम हो तो वह विलेपी कहलाती है। यवागु के लिए भोजन में एक समय आवश्यक चावल के चौथाई चावल लिया जाता है। मंड बनाना हो तो उसमें १४ गुना पानी डालकर पकावे। चावल पकने पर ऊपर का पानी (मंड) पीने को देवे। पेया के लिए छः गुना पानी डालकर चावल पकावे। द्रवांश अधिक सिक्थ कम ऐसा पकावे। विलेपी बनानी हो तो चावल में ४ गुना पानी डालकर सिक्थ अधिक और द्रव कम ऐसा पकावे।

यूष— जल, छाछ, क्वाथ आदि पदार्थ और औषधि द्रव्य के साथ मूंग, मसूर, मीठ, आदि शिंवी धान्य पकाकर जो कल्प किया जाता है, उसे यूष कहते हैं। यूष अगर तीक्ष्ण वीर्य औषधि से बनाना हो तो औषधि कल्क १ तोला मध्यवीर्ण औषधि से बनाना हो तो २ तोला और मृदुवीर्य औषधि से बनाना हो तो चार तोला कल्क, चार से आठ तोले मूंग आदि शिंबी धान्य और ६४ तोला पानी डालकर पकावे। आधा या चौथाई शेष रहने पर, या मूंग इत्यादि अच्छी तरह पक जाने पर कपड़े से छानकर पीने को दे।

कांबलिक—सुपक्व खड यूष को कांबलिक कहते हैं। दही में लवण, तिल, मांस डालकर काम्बलिक बनाते हैं।

सक्तु—चने की दाल, गेहूँ (चना दाल १ भाग : २ भाग) इनको अच्छी तरह भून कर उसमें जीरा १ तोला, धनिया १ तोला डालकर उसे पीसकर आटा बनाया जाता है— इसे सक्तु कहते हैं। यह रुक्ष संतर्पण है, लघु है और भूख को शमन करने के लिए अच्छा खाद्य है। केवल पानी में आटा मिलाकर गुड़ या शक्कर मिलाकर सक्तु खाया जाता है। शेष विचारणाएं स्पष्ट हैं।

विचारणाओं के प्रमुख चरक ने इस प्रकार दिये हैं—

१. लाव, तीतर, मोर, हंस, सूअर, मुर्गा, गाय, बकरा, मेंढ़ा, मछली इनके मासों के रस के साथ दे।[१२७] इसके साथ यव, कोल, कुलत्थ, दही, त्रिकटु ये मांस रस में मिला सकते हैं।

२. भोजनपूर्व तिलों को कूटकर खाने से तथा फाणित (गुड़ की राब) स्नेह के साथ देने से, अधिक स्नेह मिश्रित चावल, तिल या उड़द को खिचड़ी ये स्नेहनार्थ दे।[१२८]

३. मद्य के साथ-मद्य में फाणित, सोंठ और तैल मिलाकर पीवे। पचन होने के बाद मांस का रस का भोजन करें।[१२९]

४. सुरा (मद्य) के मंड (ऊपर का भाग) तथा तैल को, वसा या मज्जा को मिलाकर सेवन करावे अथवा दूध और फणित मिलाकर पीवे। यह वातिक मनुष्य का स्नेहन करता है।[१३०]

५. धारोष्ण (तत्काल निकाला हुआ दूध) दूध और खांड़ मिलाकर पीने से तथा दही के मलाई में फाणित मिलाकर सेवन करने से स्नेहन होता है।[१३१]

रसभेदों के अनुसार विचारणा—आहार कल्पों के ऊपर आधारित तथा अभ्यंगादि के अतिरिक्त, विचारणाएं रसों के भेद के अनुसार ६४ प्रकार की होती हैं। इसके एक स्वतंत्र अभ्यंगादि में प्रयुक्त विचारणा और ६३ रसभेद में प्रत्येक स्नेह मिलाकर तैयार की हुई विचारणा, इस तरह कुल ६४ कल्पनाएँ होती है। इनका प्रयोजन, ओक, सात्म्य, ऋतु, व्याधि, शरीर बलादि देखकर भिन्न-भिन्न प्रकार को स्नेह योजना कर सके यह है।[१३२]

३. सद्यः स्नेह— जब किसी विशिष्ट अवस्था में जल्दी से स्नेहन करना अपेक्षित हो, तीन, पांच, सात आदि दिन मर्यादा तक न रुकते हुए शीघ्र शोधन करना हो, उस समय जिस प्रकार से स्नेह दिया जाता है उस स्नेह को 'सद्यःस्नेह' कहते हैं। यह सद्यःस्नेह तुरन्त यानी एक ही दिन में स्नेह करता है।[१३३] सद्यःस्नेह में कुछ खास द्रव्ययोगों के साथ स्नेह दिया जाता है। इनमें कुछ योग उपर्युक्त चरकोक्त योग के सदृश ही है। वाग्भट और सुश्रुत के 'सद्यस्नेह' शीर्षक से वर्णित योग नीचे दिये जाते हैं, उनमें से उनका यथा योग्य उपयोग करें।

वाग्भटोक्त सद्यःस्नेह के योग—वाग्भट कहते हैं कि छोटे बच्चों में अधिक वृद्धों में, जिनमें स्नेह परिहार काल नियमों का पालन करना संभव न हो उनमें उद्वेग न करनेवाले निम्नांकित सद्यःस्नेह के योग देना चाहिये।[१३४]

१. प्रचुर मांस से बनाए हुए मांस रस पीने को दे।

२. घी में भूनी हुई पेया पिलावे।

३. स्नेह + तिल चूर्ण + फाणित मिलाकर देवे।

४. स्नेह + तिल + फाणित + कृशरा (खिचड़ी)

५. घी मिलाई हुई दूध की पेया।

६. दही की मलाई + गुड़ इनका प्रयोग।

७. पांच प्रसृति की पेया[१३५] — चारों स्नेह प्रत्येक एक प्रसृति (अर्थात् ८ तोले) और चावल एक प्रसृति इनकी पेया पांच प्रसृति की पेया कहलाती है जो सद्यःस्नेहन है।

कोई भी स्नेह लवण के साथ मिलाकर देने से, तथा ऊपर लिखे हुए सात योग तुरन्त स्नेहन करते हैं।

चरक ने पांच प्रसृति की पेया और पायस (दूध पाक) जिसमें उड़द मिलाया हो, इसे देने से तुरन्त स्नेहन होता है ऐसा कहा है।[१३६]

सुश्रुत ने सद्यः स्नेह के योग— सुश्रुत ने 'सद्यःस्नेहन; मुच्यते इस तरह वर्णन कर निम्नांकित प्रयोग दिये हैं।[१३७]

१. पिप्पली, लवण, घी, तैल, वसा, मज्जा, चारों स्नेह, दधि, मस्तु इनको मिलाकर पिलाने से तुरन्त स्नेहन होता है।

२. मांसरस में भूनी हुई स्निग्ध यवागु और राब मिलाकर पिलावे।

३. थोड़े से चावल और दुग्ध मिश्रित यवागु और ज्यादा प्रमाण में घी मिलाकर सेवन करावे।

४. पिप्पली, सैंधव, घी, तिल पिष्ट, सूअर की वसा इनको मिलाकर पिलावे।

५. दोहनपात्र में घी और खांड़ रखकर दूध का दोहन करें और वह दूध पिलावें।

६. जब, बेर, कुलत्थ इनका क्वाथ, पिप्पली कल्क मिलाकर, दूध; दही, सुरा और घी मिलाकर घी सिद्ध करें। यह घृत तुरन्त स्निग्ध करता है। राजाओं तथा श्रीमंतों और वैभवशाली लोगों को यह घी देने का निर्देश है।

सद्यः स्नेहनार्थ प्रायः देने जैसा योग्य सैंधव लवण मिश्रित स्नेह यह है। सैंधव अरुक्ष तथा अभिष्यंदी होने से सूक्ष्म, उष्ण और व्यवायी गुण युक्त होने से तुरन्त स्नेहन करता है।[१३८] एतदर्थ—उपर्युक्त घी और सैंधव एक से ३ माशा मिलाकर देना चाहिये। संभवतः इसी कारण से प्रायशः बस्तिकल्पों में भी स्नेह जहां है, वहां लवण भी मिलाने का निर्देश मिलता है।

४. स्नेह में ऋत्वादि का विचार—सामान्यतः जिस दिन सूर्य प्रकाश स्वच्छ हो, आह्लादकारक हो, ऐसे समय स्नेह दिया जाता है। जिनकी वात पित्त कफ की साम्यावस्था हो उन्हें साधारण ऋतु में स्नेहन उपर्युक्त प्रशस्त दिन में दे। कफाधिक्य में तथा वातकफ में दिन में स्नेह दे, वात में, वातपित्त में रात में स्नेह दे ऐसा वृद्धवाग्भट का मत है।[१३९] चरक ने भी वातधिक्य में तथा उष्णकाल में रात में, कफाधिक्य में तथा शीतकाल में दिन में स्नेह देने को कहा है।[१४०] वर्षा ऋतु में तैल का, शरद में घृत का, तथा वसंत ऋतु में वसा और मज्जा का प्रयोग प्रशस्त है।[१४१] यदि अत्यावश्यक हो तो तैल को शीत ऋतु में तथा घृत को ग्रीष्म ऋतु में रात में दे सकते हैं। पित्त प्रकोप में वात प्रकोप में तथा पित्ताधिक्य संसर्ग में ग्रीष्म में रात में घी दे। अन्यथा शीतकाल में रात में घी पिलाने से वात कफज रोग और ग्रीष्म काल में दिन में स्नेह पिलाने से पित्त रोग संभव होते हैं।[१४२]

५. सैहिक धूम—औषधि धूम्रपान दिनचर्या में स्वस्थ वृत्त कर कर्म बताया गया है। धूम्रपान के प्रायोगिक, सैहिक और वैरेचनिक ऐसे तीन भेद हैं। जिसमें, वसा, घी, मोम इनके साथ जीवनीय गणों की औषधियां मिलाकर वर्ति बनाकर धूम्रपान करना सैहिक धूम कहलाता है।[१४३] यह वस्तुतः आभ्यंतर पान नहीं हैं तथापि अनेक आभ्यंतर रोग का शामक होने से तथा विशेष प्रकार होने से यहां उल्लेख मात्र किया है। धूम्रपान का विस्तृत विचार आगे योग्य स्थान में किया है।

नेत्तर स्वेदन—वमनादि का विचार[१४४]—अवर स्नेहन में तीन दिन स्नेहन के

बाद चौथे दिन स्वेदन करें, मध्य स्नेहन में पांच दिन के स्नेहन के बाद छठे दिन स्वेदन करें और उत्तम या प्रवर स्नेह में ७ दिन के स्नेहन के बाद आठवें दिन स्वेदन करें। इसी तरह वमन देना हो तो स्नेहन के बाद एक दिन छोड़कर वमन देना चाहिये। अर्थात् अवरस्नेह में ४थे दिन स्वेदन तथा द्रव, मांसरसादि युक्त भोजन करावे और पांचवें दिन वमन करावे। मध्यम स्नेह में छठे दिन स्वेदन और उपर्युक्त भोजन कराकर ७वें दिन वमन करायें और उत्तम स्नेहन में ७वें दिन स्वेदन, योग्य भोजन कराकर ९वें दिन वमन करावें। स्नेहोत्तर विरेचन देना हो तो तीन दिन ठहरकर विरेचन देने का नियम है। इन तीन दिन में रोज स्वेदन और योग्य भोजन करावें। अर्थात् अवर स्नेह में, ७वें दिन विरेचन, मध्य स्नेह में ९वें दिन विरेचन और प्रवर स्नेह में ११वें दिन विरेचन देना चाहिये। प्रायः वमनादि के बाद ही आगे के बस्त्यादि कर्म किये जाते हैं, उनका काल विचार आगे करेंगे। लेकिन वमनादि के बिना बस्ति आदि करना हो तो क्या विधि है। ग्रंथ में मुख और गुद से एक साथ स्नेह मना किया है और सभी बस्तियों में स्नेह दिया जाता है, अतएव बस्ति पूर्व स्नेहन की आवश्यकता नहीं होती, तथापि इस विषय में मतभेद हो सकता है। बस्ति पूर्व 'स्निग्ध' को देने का उल्लेख है वह स्थानिक अभ्यंग है, ऐसे ही नस्य में भी समझे। रक्तमोक्षण पूर्व भी स्नेहपान का बहुत अधिक निर्देश नहीं है। स्नेहपीत का सिरामोक्षण मना ही किया है। वमन विरेचन की दिनावधि तालिका में स्पष्ट की है।

स्नेहोत्तर-स्वेदनादि कर्म-दर्शिका

क्र.	स्नेहन प्रकार	स्वेदन-दिन	वमन-दिन	विरेचन-दिन
१.	अवर स्नेह (ह्रस्व)	४थे दिन	५वें दिन	७वें दिन
२.	मध्य स्नेहन	६वें दिन	७वें दिन	९वें दिन
३.	प्रवर स्नेहन (उत्तम)	८वें दिन	९वें दिन	११वें दिन

आधुनिक स्नेह द्रव्य— चरकादि संहिता के अनुसार भिन्न-भिन्न स्नेह द्रव्यों का वर्णन पीछे कर दिया गया है। अब आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में दिन तैलों का स्नेह समान उपयोग निर्दिष्ट किया हैं उनका वहां संक्षेप में विचार करेंगे। चरकादि वर्णित स्नेहों में स्नेहन, बृंहण और शोधनोपयोगिता अधिक है, जहां आधुनिक स्नेहों में औषधि–उपयोगिता की (Medicinal Value) प्रमुखता है। इनके नाम, उपयोग और मात्रा का तालिका में निर्देशन किया जाता है।

ये स्नेह ३ प्रकार के हैं—

१. **स्निग्ध तैल**— इनमें उन तैलों का समावेश होता है जो वायु के संपर्क में आने पर उड़ नहीं जाते और अपनी स्थिति स्थिर बनाये रखते हैं, इन्हें स्थिर तैल (Fixed Oil) कहा जाता है। यहां ग्यारह स्थिर तैल वर्णित हैं।

२. **अस्थिर तैल**— जिन तैलों का स्वभाव उड़नशील होता है और हवा के संपर्क से वे उड़ जाते हैं उन्हें अस्थिर तैल या उड़नशील तैल (Volatile oil) कहा जाता है। इनकी संख्या दस हैं।

३. **मिश्र तैल**— इनमें वे तैल हैं जो उड़नशील और मिश्र तैलों के संयोग से बनते

हैं। इन्हें मिश्र तैल या संसृष्ट तैल (Compound oils) कहा जाता है। इनका निर्माण दो प्रकार से किया जाता है। स्थिर तैल वानस्पतिक द्रव्यों के बीजों को निचोड़कर प्रपीड़न द्वारा तैयार किये जाते हैं, चरकोक्त तिल तैल इत्यादि इसी प्रकार किये जाते हैं। दूसरे उड़नशील तैल हैं उन्हें तीर्यक्पातन द्वारा (Distillation) निर्माण किया जाता है। इनमें शतपुष्पा (सौंफ) का तैल, लवंग तैल इनका समावेश होता है। तालिका देखें।

आधुनिक स्नेह

क्र.	तैल नाम	उपभोग	मात्रा
	स्थिर तैल		
१.	ऑईल ऑफ एमेग्डेली oil of amygdali बादाम तैल	स्नेहनार्थ	१ औंस तक
२.	ऑईल ऑफ एरिकस मूंगफल्ली का तैल	त्वचा को मृदु करने में	१ औंस तक
३.	ऑईल ऑफ गॅसीपाई सेमिनिस कार्पस बीज तैल	स्नेहन, त्वक् मार्दवकर	१ औंस तक
४.	ऑईल ऑफ हिडनो कर्पाई तुवरक तैल oil of Hydnocarpi	त्वग्रोग कुष्ठ में, बाह्य आभ्यंतर	आभ्यंतर ५ से १५ बूंद
५.	ऑईल ऑफ हाईपो ग्लासाई हॅलीबट मछली का तैल	पोषण, यकृत रोग में	१ से ५ बूंद
६.	ऑईल ऑफ लिनिआई। अलसी तैल	स्नेहन, त्वक् मार्दवकर	१ औंस तक
७.	ऑईल ऑफ मारहवी कॉड लीवर तैल	पोषण, बल्य, रसायन	६० से १८० बूंद
८.	ऑईल ऑफ ऑलिवी जैतुन तैल	त्वक् मार्दवकर	१ औंस तक
९.	ऑईल ऑफ रिसीनाई एरंड तैल	विरेचन	६० से २४० बूंद
१०.	ऑईल ऑफ सिसेमाई तिल तैल	मृदुकरण,	१ औंस तक
११.	आईल ऑफ थियाब्रोमेटिस कोकोबटर-तैल	मृदा में वर्ति डालने में (Suppository)	—
	अस्थिर तैल (Volatile oil)		
१२.	ऑईल ऑफ एमेग्डेली वोलेटाईल प्यूरी फिकेटस (oil of Amygdali Volatile purificatum)	अन्य योगों में उपयोग किया जाता है, जिससे सुस्वादुकरण हो।	—
१३.	ऑईल ऑफ एनिथाई अनीसू तैल	वातानुलोमन,	१ से ३ बूंद

अभ्यग : अवस्था क्र. १

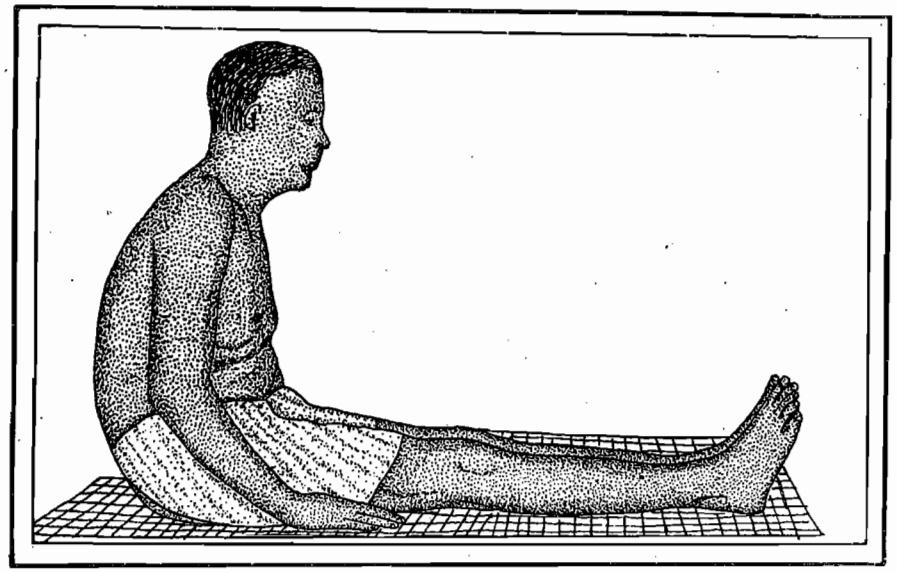

विशेष—आतुर को अभ्यंग टेबल पर दोनों पाँव सीधे रखकर बिठाया है। पृष्ठ—कटिगत वात के कारण पृष्ठ में ईषत् विनमन हुआ है। इस अवस्था में कर्मचारी बाहु, उभय अंग, पृष्ठ, मन्या तथा पाँव के पुरोवर्ति भाग पर अच्छी तरह अभ्यंग कर सकता है। पिंड स्वेद के लिये भी वह अवस्था दी जा सकती है।

अभ्यंग : अवस्था क्र. २

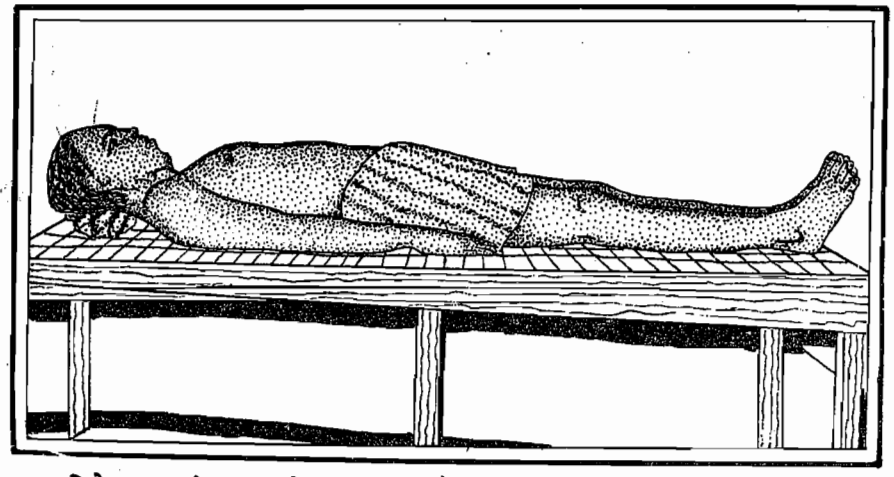

विशेष—पृष्ठ के बल सीधे लिटाया गया है। इस अवस्था में वक्ष, पार्श्व, बाहु, उरू का सामने का भाग तथा जंघा पर अच्छी तरह अभ्यंग अथवा स्वेद कर सकता है।

अभ्यंग : अवस्था क्र. ३

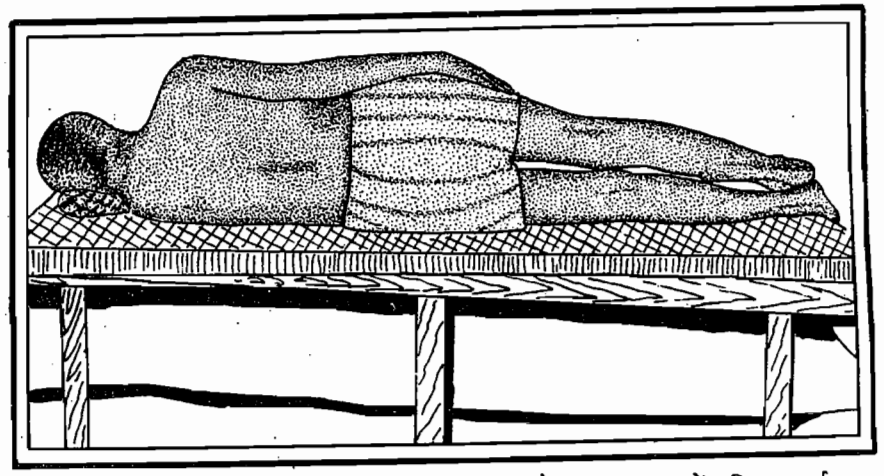

विशेष—आतुर को वामपार्श्व पर सीधे सुलाया गया है। इस अवस्था में दक्षिण पार्श्व दक्षिण बाहु का पार्श्व भाग, ऊरू, जंघा, पार्ष्णि का बाह्यवर्ती भाग, पृष्ठ इत्यादि अवयवों पर अभ्यंग—स्वेद अच्छी तरह किया जा सकता है।

अभ्यंग : अवस्था क्र. ४

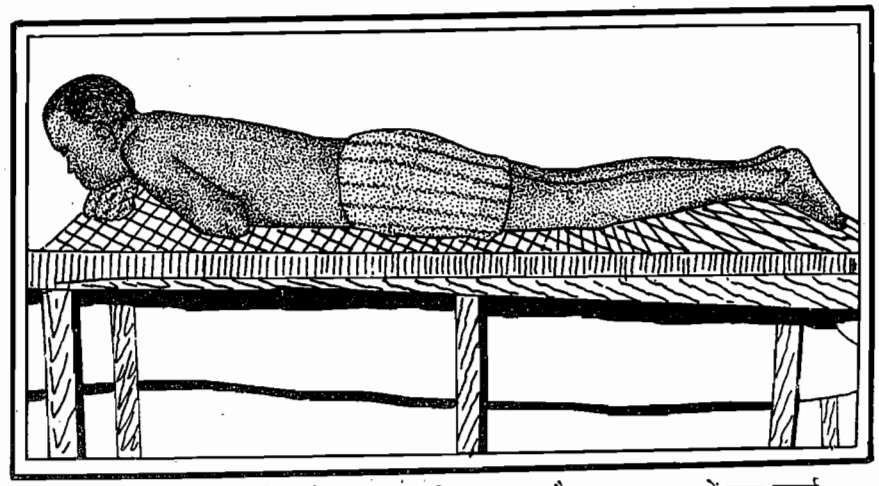

विशेष—इसमें आतुर को वक्षोदर बल पर लिटाया गया है। इस अवस्था में पृष्ठ, पार्श्व, श्रोणि, स्फिग्, ऊरू, जंघा का पार्श्ववर्ती भाग—इन अवयवों का अभ्यंग—स्वेद अच्छी तरह किया जा सकता है।

क्र.	तैल नाम	उपभोग	मात्रा
१४.	ऑईल ऑफ केडिनम अलकतरा तैल	त्वग्रोग में, रक्त विक्षेपण को बढ़ाने के लिये	—
१५.	ऑईल ऑफ काजपुटाई कायपुटी का तैल	उद्वेष्टन हर	१ से ३ बूंद
१६.	आईल ऑफ केरेबी द्वीपांतर कृष्ण जीरक का तैल	उद्वेष्टन हर	१ से ३ बूंद
१७.	ऑईल ऑफ केरियो फिलाई लवंग तैल	उद्वेष्टन हर, शूलहर	१ से ३ बूंद
१८.	आईल ऑफ चिनापोडाई सुगंधी बथुवां का तैल	वातव्याधि तथा अंकुश मुखी कृमि में	३ से १५ बूंद
१९.	ऑईल ऑफ सिनेमामाई दालचिनी का तैल	उद्वेष्टन हर	१ से ३ बूंद
२०.	ऑईल ऑफ कोरियेंड्राई धान्यक तैल	उद्वेष्टन हर	१ से ३ बूंद
२१.	ऑईल ऑफ युकेलिप्टाई	दुर्गंध नाशक, जीवाणु विरोधक	१ से ३ बूंद
२२.	आईल ऑफ हिडनो कार्पाई एथेलिकम चालमोगरा के समान वृक्ष के बीज का तैल	कुष्ठ में	५ से १५ बूंद
२३.	ऑईल ऑफ लेबेडूली	औषधि निर्माण में	—
२४.	ऑईल ऑफ लाईमोनिस निंबूफल के छिलके का तैल	सुगंधित द्रव्य	—
२५	ऑईल ऑफ मेंथीपिंपरेटी पिपरमेंट तैल	वातानुलोमन उद्वेष्टन हर	१ से ३ बूंद
२६.	ऑईल ऑफ रिस्टेकी जायफल का तैल	वातानुलोमन	१ से ३ बूंद
२७.	आईल ऑफ रोजमेरीनाई	त्वक् प्रसादन	१ से ३ बूंद
२८.	ऑईल ऑफ टरबेंथिनी	त्वचा में रक्त वर्ण निर्माण, कृमिनाशक	१२० से २४० बूंद

बाह्य स्नेह

आभ्यंतर स्नेहपान का अब तक समय विचार प्रस्तुत किया गया। इसके आगे बाह्य स्नेहन का विचार किया जाता है। बाह्य स्नेहन में अभ्यंगादि का समावेश होता है। बाह्य स्नेहन के अभ्यंगादि प्रकारों का उल्लेख चरकादि आचार्यों ने स्नेहाध्याय के प्रकरण में नहीं किया है, तथापि स्नेह का अभ्यंग, गंडूष, शिरोबस्त्यादि विधि से उपयोग करना चाहिए, इसका निर्देश किया है। अभ्यंग, उद्वर्तनादि प्रकारों का दैनंदिन जीवन में स्वस्थवृत्त

पालनार्थ भी अधिक महत्त्व होने के कारण इनका वर्णन दिनचर्या, ऋतुचर्या आदि प्रकरण में किया गया है। बाह्य स्नेहन के निम्नलिखित प्रकार आयुर्वेद में वर्णित है।

१. अभ्यंग	२. लेप	३. उद्वर्तन-उत्सादन
४. मर्दन-उन्मर्दन	५. पादाघात	६. परिषेक
७. संवाहन	८. गंडूष	९. मूर्ध तैल-शिरस्तर्पण
१०. अक्षितर्पण	११. नासा तर्पण	१२. कर्णपूरण
१३. मास्तिष्क्य	१४. स्नेहावगाहन।	

१. अभ्यंग— अभ्यंग का अर्थ है— शरीर पर तैलादि लगाना। वस्तुतः अन्य सब लेप-उद्वर्तन-मर्दनादि विधि में कुछ फरक से अभ्यंग ही किया जाता है। 'अंग्' धातु गति के अर्थ में प्रस्तुत है— उसमें 'अभि' उपसर्ग से अभ्यंग शब्द बनता है। इसका शब्दशः अर्थ होगा कुछ गतियां कराना। तैल, वसा, मृतादि स्नेहों को शरीर पर रगड़कर, हाथ से उन स्नेहों को अच्छी तरह शोषणार्थ 'गतियां' ही की जाती है। अभ्यंग स्वस्थों में स्वास्थ्य रक्षणार्थ प्रति दिन प्रशस्त हैं। अभ्यंग में कोई भी स्नेह उपयोग किया जा सकता है, लेकिन सस्ता होने से सुलभ होने से, और गुणकारी होने से तैल का ही अधिक प्रचार है। अतएव 'तैलाभ्यंग' भी कहा जाता है। वृद्ध वाग्भट ने ऋतु के अनुकूल, वातघ्न और सुगंधित तैलों से नित्य अभ्यंग करने को कहा है।[१४५] सुश्रुत ने तैल, घी या अन्य किसी भी स्नेह से, प्रकृति, ऋतु, सात्म्य, दोष, देश और रोग इनका विचार करते हुए अभ्यंग करने का निर्देश किया है।[१४६] वात व्याधि प्रकरण में घृत के अभ्यंग का निर्देश मिलता है। सामान्यतः तैल, घृत और वसा इनका उपयोग किया जा सकता है। (चित्र देखें)

अभ्यंग किसका न करें ?— जिनको कफ रोग या कफप्रधान रोग हुआ हो, जिन्हें वमन या विरेचन दिया गया हो, जो अजीर्ण से पीड़ित हो उनको अभ्यंग नहीं करना चाहिये। जो आम से पीड़ित हैं, या दोषों की सामावस्था है, उनमें भी अभ्यंग न करें। तरुणज्वर से पीड़ित, निरूढ़ (दत्तबस्ति) का भी अभ्यंग न करें, तथा संतर्पण के द्वारा उत्पन्न रोगों में अभ्यंग न करें। इनमें अग्निमांद्य उत्पन्न होता है और तत्तद रोगों की वृद्धि होती है, अतः अभ्यंग मना है।[१४७] आगे जैसा कि कहा जायेगा कि अभ्यंगादि से त्वचा में स्रोतोमुख विकास होता है— उपर्युक्त रोगों में प्रारंभ से ही त्वचा के स्रोतों में कफ, आम का संचय होता है— जिससे इनमें सामान्य गुण से सामान्य की वृद्धि होकर व्याधि कृच्छ्रसाध्य या असाध्य हो जाती है।

अभ्यंग विधि— सुखोष्ण, सुगंधी, वातघ्न,, ऋतु, दोषादि के अनुकूल तेल लेकर सुखपूर्वक, धीरे-धीरे अनुलोम गति से शरीर पर मलना अभ्यंग है। अभ्यंग सिर में, पांव में और कान पर (या कर्णपूरण से) विशेषतः करना चाहिये।[१४८] सिर में अभ्यंग के लिए शीत स्नेह या सुखोष्ण स्नेह का उपयोग करें। सिर इंद्रियायतन है और प्रधान मर्म है, अतः उसे उष्णता से बचाना चाहिये। हाथ-पांव इत्यादि भागों पर उष्ण स्नेहों से अभ्यंग करें। इसी तरह शीत ऋतु में उष्ण तैलों से और उष्ण ऋतु में शीत तैलों से अभ्यंग करना उचित है। दीर्घाकारवाले अवयवों पर हाथ, पांव पर अनुलोमतः ऊपर से नीचे की ओर; संधिस्थान में कूर्पर, अंस, जानु, गुल्फ, कटी में वर्तुलाकार अभ्यंग करें। अभ्यंग का मुख्य उद्देश्य भीतर के अवयवों की गतियों को उत्तेजित करना है। इसलिए कर्मचारी को प्रत्येक अवयव

के कर्मों का ज्ञान सिखाना चाहिये। तत्तद् मांस पेशी के कार्यों में अनुकूल गतियों से अभ्यंग करावें। प्रत्येक अवयव को अभ्यंग अच्छी तरह हो। इसलिए अभ्यंग में निम्नोक्त सात अवस्थाओं में आतुर को रख कर अभ्यंग करना चाहिये।

१. पांव सीधा रख बैठाकर
२. पीठ के बलपर लिटाकर
३. वामपार्श्व पर लिटाकर
४. वक्ष-उदर के बल पर लिटाकर
५. दक्षिण पार्श्व पर लिटाकर
६. पुनः पीठ के बल लिटाकर
७. पुनः बिठाकर।

अभ्यंग काल— अभ्यंग कितनी देर तक करना चाहिये इसके बारे में व्रण ने एकीय मत का संदर्भ दिया है।[१४६] तीन सौ मात्रा तक अभ्यंग करने से (१ मात्रा = १९/६० सेकंड अतः लगभग ६५ सेकंड) स्नेह त्वचा के रोमान्त में पहुंच जाता है। ४०० मात्रा तक (लगभग १३३ सेकंड) करने से त्वचा में पहुंच जाता है। ५०० मात्रा तक (लगभग १६० सेकंड) करने से स्नेह रक्त में पहुंचता हैं। ६०० मात्रा तक (लगभग १९० सेकंड) करने से मांस में पहुंचता है। ७०० मात्रा (२२८ सेकंड) तक अभ्यंग करने पर मेद में पहुंचता है, ८०० मात्रा तक करने से (लगभग २४० सेकंड) अस्थि में स्नेह पहुंचता हैं, ९०० मात्रा तक (लगभग २८५ सेकंड) करने पर अस्थि में स्नेह पहुंचता है। इस क्रम से अभ्यंग में कुल लगभग पांच मिनिट लगते हैं अतः सर्व शरीर में अभ्यंग अच्छी तरह हो इसलिए उपर्युक्त प्रत्येक अवस्था में २ मिनिट से ५ मिनिट तक अभ्यंग करें। इस तरह कुल १५ मिनिट से ३५ मिनिट तक अभ्यंग करना हितकर है। यदि एकांग पर, हाथ-पांव-सिर इत्यादि पर भी अभ्यंग करना हो तो कम-से-कम १५ मिनिट तक अवश्य करना चाहिये। पांच मिनिट का यह क्रम प्रतिदिन स्नानादि पूर्व स्वस्थों में अभ्यंग के लिए अनुकूल है। रोगावस्था में इससे अधिक अपेक्षित हैं। अभ्यंग के बाद १५ मिनिट तक विश्राम करें। फिर नेपकिन साईज का (या १८" × १८" का) कपड़ा या टॉवेल गरम पानी में डुबोकर, पानी निचोड़कर–अभ्यक्त भाग पर धीरे-धीरे रख कर स्नेह पोछ ले। फिर उष्णोदक से स्नान करें। स्नान के लिए चने के आटे का उपयोग करें। साबुन न लगाए। साबुन से स्रोतोमुख में प्रविष्ट तैल भी घुल जाने की संभावना होती है। (चित्र देखें)

अभ्यंग के गुण[१५०] — अभ्यंग तत्तद्रोगानुसार तो अनेक प्रकार लाभप्रद होना ही है, तथापि स्वस्थों में अनेक गुणों को करता है। इसके प्रधान गुण इस प्रकार के हैं।

१. **जराहर**— नित्य अभ्यंग से बुढ़ापा देरी से आता है। धातुओं को बल प्रदान करने से यह गुण मिलता है।

२. **श्रमहर**—अधिक काम, व्यायामादि से मांसपेशियों में उत्पन्न होनेवाली थकावट अभ्यंग से दूर होती है।

३. **वातहर**—स्नेह गुणों से यह वात को नष्ट करता है।

४. **दृष्टि प्रसादकर**—आंखों की रोशनी बढ़ाता है।

५. **पुष्टिकर**— सभी धातुओं को बढ़ाकर शरीर को पुष्ट करता है।

६. **आयुष्यकर**— धातुदार्ढ्यकर होने से आयु बढ़ाता है।

अभ्यंग : अवस्था क्र. ५

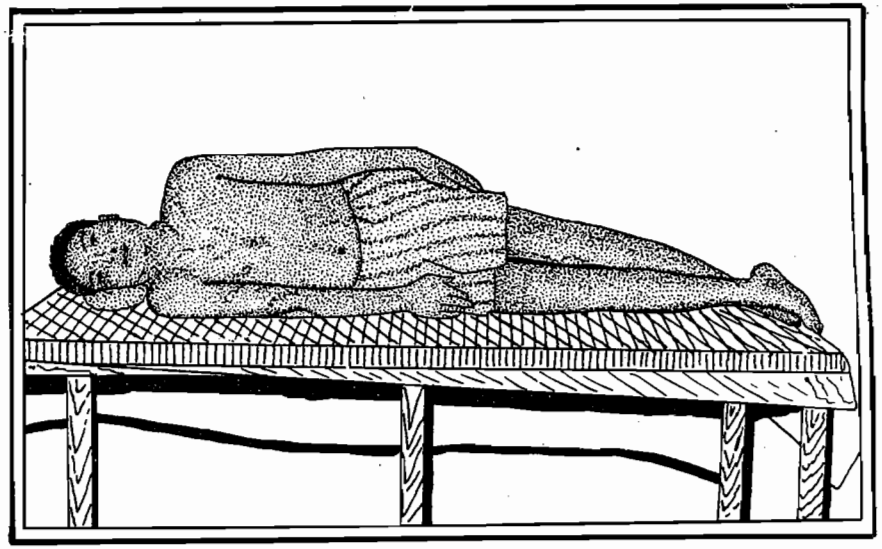

विशेष—इसमें आतुर को दक्षिण पार्श्व पर सीधे लिटाया गया है। इस अवस्था में वाम बाहु, वाम पार्श्व भाग, पृष्ठ, वाम ऊरू, जंघा का बाह्यवर्ती भाग—इत्यादि अवयवों का अभ्यंग अथवा स्वेद अच्छी तरह किया जा सकता है।
अवस्था क्र. १ और अवस्था क्र. ७ समान है, तथा अवस्था क्र. २ और अवस्था क्र. ६ समान है, एतदर्थ तत्तद् चित्रानुसार समझ लें।

७. **स्वप्नकर**— अभ्यंग से अच्छी नींद आती है।

८. **त्वक् दार्ढ्यकर**— त्वचा को कोमल तथा दृढ़ बनाता है।

९. **क्लेश सहत्व**—अभ्यंग से दृढ़शरीर अनेक कष्टों को सहन करने में समर्थ होता है।

१०. **अभिघात सहत्व**—नित्य अभ्यंग करनेवालों को अभिघात (चोट लगना इत्यादि) से कोई विशेष तकलीफ नहीं होती।

११. **कफवात निरोधन**—सुश्रुत ने अभ्यंग को कफ और वात दोनों को कम करनेवाला बताया है।

१२. **मृजावर्ण बलप्रद**— अभ्यंग से त्वचा शुद्ध होती है, मनुष्य का रंग निखर उठता है और बल बढ़ता है। रूप प्रिय लगता है।

चरक ने कहा है कि स्पर्शनेंद्रिय में वायु का स्थान रहता है और स्पर्शनेंद्रिय का अधिष्ठान त्वचा है। अभ्यंग त्वचा— (त्वचा के लिए हितकर) होने के कारण उसका हमेशा उपयोग करना चाहिये।[१५१] जिस तरह से चमडे को स्नेह लगाने से वह दृढ़ होता है, घड़े (कुंभ) को स्नेह लगाने से वह दृढ़ होता है और रथ या गाड़ी की आंख में स्नेहन करने से वह मजबूत बनती है वैसे ही अभ्यंग करने से मनुष्य का शरीर दृढ़ होता है।[१५२]

शिरोधारा : अवस्था क्र. ६

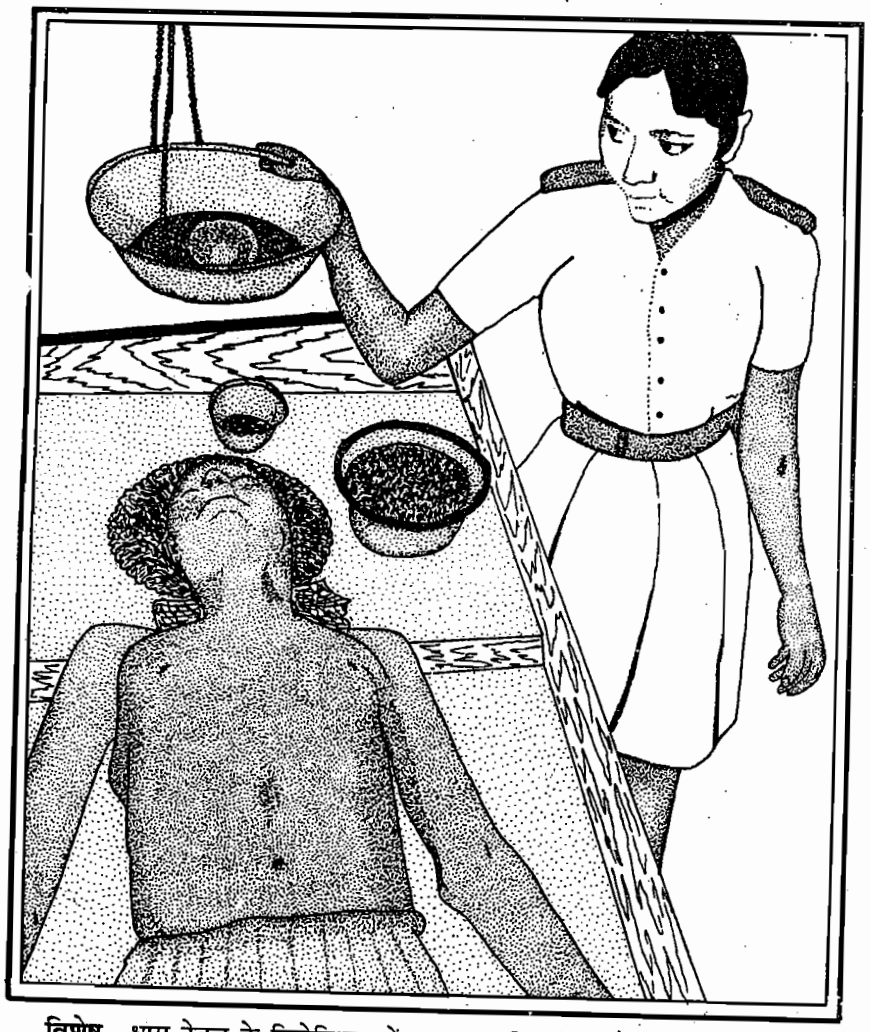

विशेष—धारा टेबल के शिरोविभाग में आतुर का सिर स्थित है। धारापात्र, तदंतर्गत तैल, तथा शिरोभाग के तैल विस्रावनार्थ स्रोत दर्शनीय है।

१. **पादाभ्यंग**[१५३]— पांव पर अभ्यंग करने वे पांव की खरता-तल-पांव में दर्रे पड़ना, स्तब्धता, रुक्षता दूर होती है, पांव की थकावट दूर होती है, सुप्ति (स्पर्शज्ञान न होना) दूर होती है और पांव स्थिर और बलवान होते हैं। पांव कोमल रहते हैं, दुष्टि प्रसादयुक्त रहती है, पादाभ्यंग करनेवालों को कभी गृध्रसी (कटि से जो वेदना प्रारंभ होकर उरु, जानु, जंघा, प्रपद तक जाती है उसे गृध्रसी कहते हैं) नहीं होती। उसके पांव कभी नहीं फूटते तथा सिरा और स्नायु का संकोच कभी नहीं होता।

शिरोऽभ्यंग का वर्णन आगे 'मूर्ध तैल' शीर्षक में किया है। अभ्यंग के कार्मुकत्व के चरक ने ऊपर जो तीन दृष्टांत दिये हैं— उससे केवल अभ्यंग के कार्य न समझकर मर्दनादि कार्यों का बोध होता है ऐसा कुछ लोग मानते हैं। अष्टांग संग्रह में इंदु की टीका में किया है—

'रथाक्षादि वदभ्यंगाद् गुणाः भवंति। रथाक्षं चक्रनाभिः। तस्य चर्म घटयोश्च यथाभ्यंगेन श्लक्ष्त्वं, यथा मार्दवं यथा च दार्ढ्य तथा शरीरस्यापि। यथा रथाक्षस्य स्नेह स्पर्शन मात्रेण, चर्मणो मर्दनेन, घटस्य स्नेह संस्कारेणेति एवमाह।।

इस तरह अभ्यंग, मर्दनादि विविध उपयोग यहां बोद्धव्य है ऐसा समझना अनुचित नहीं है।

२. **लेप**[१५४] — किसी औषधि का शरीर के अवयव पर लिंपन करना लेप कहलाता है। यह प्रलेम, प्रदेह और आलेप ऐसे ३ प्रकार का होता है। जब स्नेह द्रव्यों का तावन्मात्र उपयोग किया जाता है— यावन्मात्रा में लेपन हो तब उसे स्नैहिक लेप कहा जायेगा। स्नेह द्रव्यों से लेपन के अनेक प्रयोजन कहे गये हैं। लेप यह अभ्यंग से कम गुणवाला है। इसमें दबाना, भार देना, गति करना ये क्रियाएं नहीं हैं। केवल विशिष्ट समय तक गात्र को स्नेह से युक्त रखना यह इसका प्रयोजन है। प्रलेप शीतल, पतला तथा शोषी या अविशोषी होता है। स्नेह प्रलेप अविशोषी (न सुखनेवाला) होता है। प्रदेश उष्ण या शीत, जाड़ा और अविशोषी होता है। आलेप मध्यम होता है। सुश्रुत ने त्वग्गत वात में, मांसगत वात में, स्नायु रोगों में अनेक लेपों का वर्णन किया है। चरक और सुश्रुत दोनों ने कुछ वातव्याधि तथा वातरक्त में स्नेहलेपों का उल्लेख किया है। जिनमें से कुछ निम्नलिखित प्रकार के हैं।

१. दाह और राग तथा वेदनायुक्त स्थान में, रक्तमोक्षण के अनंतर लेप करें— यह लेप—मधुयष्टी, पीपल, दालचीनी, जटामांसी, खिरनी, उदुंबर इनके चूर्ण में दूध और घी मिलाकर करें, या केवल यव को दूध और घी के साथ लेप करें या मधुयष्टी को घी और दूध में मिलाकर लेप करें।

२. जीवनीय घृत का लेप रुजा और दाह का प्रशम करना है।

३. तिल, चिरौंजी, मधुयष्टी, कमलबिस, बांस के मूल इनको बकरी के दूध में पीसकर लेप करें। दाह और राग को कम करता है।

४. वाताधिक्य में— वातघ्न द्रव्यों के लेपों को (घी के साथ या तैल के साथ) स्निग्ध कर क्षार, मूंग का पायस, तिल, सरसू इत्यादि के साथ मिलाकर लेप (उपनाह) करें।

५. घृत, तैल, वसा, मज्जा के साथ अनेक योगों का लेप खंज, अर्दित, वातरक्त विकार में वर्णित है।[१५५]

६. माषपर्णी, सहदेवी, चंदन, मूर्वा मुस्ता, चिरौंजी, शतावरी, कसेरू, पद्माख, मुलेठी, सौंफ, विदारी, कुष्ठ इनको दूध में पीसकर घृतमंड मिलाकर प्रदेह करें।[१५६] (वातरक्त) में—

७. झिंटी, अडूसा, वसा, अतिबला, जीवंती, सुषवी इनके कल्क का बकरी के दूध में पीस कर लेप करें। (स्नेह = बकरी का दूध)

८. गांभारी, मुलेठी, जौ का सत्तू इनको गाय के दूध के साथ लेप करें।

९. पित्त प्रधान वात में— साठी चावल, नस, जलवेतस, तालीस सिंघाड़ा, कमलबीज, हल्दी, गेरू, सरवाल, पद्माख, कमलपत्र आदि को कांजी में पीसकर घी के साथ लेप करें।[१५७]

१०. शार्ङ्गधर ने केशवर्धनार्थ, केश दृढ़ीकरणार्थ, रोमोत्पादननार्थ अन्यान्य द्रव्यों के साथ स्नेहमिश्रित लेप कहे हैं।

३. उद्वर्तन-उत्सादन— प्रतिलोम गति से कुछ अधिक भार या पीड़न के साथ अभ्यंग करना उद्वर्तन है। ग्रंथ में चूर्णोद्वर्तन का उल्लेख किया है। यह स्निग्ध एवं रुक्ष दो प्रकार का होता है। चरक ने स्थौल्य चिकित्सा में रुक्ष उद्वर्तन और कृशों की चिकित्सा में स्निग्ध उद्वर्तन करने को कहा है। उद्वर्तन के लिए चरक ने 'शरीर परिमार्जन' ऐसा पर्याय दिया है। जिसकी टीका में चक्रपाणि ने शरीर परिमार्जन का अर्थ उद्वर्तन किया है।[१५८] सुश्रुत ने उद्वर्तन उद्घर्षण और उत्सादन ऐसे तीन कर्म दिये हैं। इनमें उद्वर्तन का अर्थ है— ऐसे द्रव्यों का उपयोग जो प्रविलापन और विम्लापन करते हैं। उद्घर्षण का अर्थ हैं— अस्निग्ध द्रव्यों का शरीर पर घर्षण और स्नेह कल्कों का उद्घर्षण उत्सादन कहा है।[१५९]

उद्घर्षण में ईंट, चुरा, रीठा इत्यादि से घिसना यह विधि कही है जिससे वह रुक्ष है यह स्पष्ट है। उत्सादन और उद्वर्तन में फरक प्रतीत नहीं होता। उद्वर्तन और उत्सादन के द्वारा सिरा मुखों का विकास होता है, त्वचा के अग्नि का (रंजक पित्त) दीपन होकर वर्ण प्रसादन होता है। अतएव विशेषतः स्त्रियों में सौंदर्य बढ़ाने के लिए उत्सादन का उपयोग प्रशस्त है। उद्वर्तन के निम्नलिखित गुण होते हैं।[१६०]

१. उद्वर्तन से कफ का शमन होता है।
२. मेद का विलयन होता है।
३. शरीरावयव स्थिर और दृढ़ होते हैं।
४. त्वचा का प्रसादन होता है— रंग खुलता है।
५. वात का प्रशमन करता है।
६. उत्सादन से शिरा मुखों का अवरोध दूर होता है।
७. त्वगगत अग्नि का दीपन होता हैं जिससे लेप, प्रदेह-अभ्यंगादि प्रयुक्त द्रव्यों का शोषण अच्छी तरह हो सकता है।
८. शरीर में लाघव उत्पन्न होता है।
९. शरीर की दुर्गंधि दूर होती है।
१०. तंद्रा नष्ट होती है।
११. कंडू प्रशमन होता है।
१२. स्वेद से उत्पन्न मलों को दुर्गंधता को उद्वर्तन दूर करता है।

अभ्यंग और उद्वर्तन में भिन्न-भिन्न द्रव्यों का प्रयोग किया जा सकता है। दोष, रोग, ऋतु, अवस्था के अनुसार भिन्न-भिन्न तेल, घी, वसा तथा दूध, मांस, पायस और अन्य स्निग्ध द्रव्यों का प्रयोग कहा गया है।

४. मर्दन-उन्मर्दन— अभ्यंग, लेप तथा उद्वर्तन में तैल लगाकर अधिक पीड़न नहीं किया जाता। मर्दन उसे कहते हैं जिसमें तैल लगाकर जोर से पीड़न (Pressure) किया जाता है। अष्टांग हृदय में तैलाभ्यंगादि विधि के बाद 'मर्दन' करना चाहिए ऐसा निर्देश किया जाता है।[१६१] दिनचर्या के क्रम में अभ्यंग फिर व्यायाम का वर्णन कर तत्पश्चात् यथा सुखशरीर को धीरे-धीरे दबाना (मर्दन) हितकर है ऐसा उल्लेख है। यद्यपि यहाँ मर्दन में तैलादि स्नेहों का मर्दन में ऐसा स्पष्ट निर्देश नहीं है तथापि अभ्यंग से पहले ही तैलादि प्रयोग शरीर पर किया गया होता है अतः पुनरुल्लेख अनावश्यक समझा गया होगा, यही इसका कारण है। फिर भी मात्र मर्दन स्नेहों के द्वारा और बिना स्नेह से दोनों प्रकार से किया जा सकता है, ऐसा इसका अर्थ जरूर होगा। सुश्रुत ने वातव्याधि चिकित्सा प्रकरण में त्वग्गत वात, मांसगत वात, रक्तगत वात, सिरागत वात, इनमें रक्तमोक्षण तथा स्नेहाभ्यंग, स्नेहोपनाह, स्नेहमर्दन और स्नेहलेप करने को कहा है, तथा स्नायु-संधि-अस्थिगत वात में स्नेहाभ्यंग, उपनाह, अग्निकर्म बंधन और मर्दन-उन्मर्दनादि (यथायोग्य) चिकित्सा कही है।[१६२] यहां डल्हण ने बाह्यस्नेह के प्रकार में आदि शब्द से मर्दन उन्मर्दन को भी बाह्यस्नेह में लिया है। मर्दन का अर्थ है—गात्रों को धीरे-धीरे नीचे दबाना और उन्मर्दन इसके विपरीत है। अर्थात् नीचे दबाए हुए अवयव को 'उत्' ऊपर करना यह उन्मर्दन है। प्रायः मर्दन करते समय उन्मर्दन होता ही है--तथापि एक एक पेशी को पकड़कर उन्मर्दन किया जा सकता है। स्नेह द्रव्यों को सुखोष्ण कर मर्दन और उन्मर्दन करें। यह पेशी थकावट, स्नायु शूल को कम करती है और शरीर में लघुता करता है।

५. पादाघात—पादाघात का अर्थ है-- पांव के द्वारा पीड़न करना या दबाना। मर्दन से भी अधिक पीड़न पादाघात में होता है, वाग्भट ने 'पादाघात' का वर्णन ऋतुचर्या प्रकरण में किया है। हेमंत ऋतुचर्या में कहा है कि-- बला-तैल जैसे वातनाशक तेल पहले शरीर पर लगावे। शिर पर तैल का अभ्यंग करें और फिर (तैल से) शरीर मर्दन कर, पांव के द्वारा शरीर पर पीड़न करावे।[१६३] यहां भी तैल से पादाघात ऐसा उल्लेख नहीं है फिर भी जिस क्रम से पादाघात करने को कहा गया है उसमें तैल अभ्यंग और मर्दन पहले होता है और स्निग्ध गात्र पर पादाघात किया जाता है। अतएव तैल का शरीर में और अच्छी तरह मर्दन होना यही इसका प्रयोजन प्रतीत होता है। सुश्रुत ने दिनचर्या क्रम में पहले अभ्यंगादि कर व्यायाम करने को कहा है। व्यायाम के द्वारा पसीना आने के बाद अर्थात् अर्ध शक्ति में व्यायाम कर, पांव से उन्मर्दन करने को कहा है। अर्थात् पादाघात करने को कहा है। इस तरह से ऐसा करनेवाले का शरीर दृढ़ होता है। जिससे, हिरन जैसे सिंह से दूर भागते हैं वैसे ही व्याधियां इससे दूर भागती हैं और आक्रमण नहीं करतीं।[१६४] यहां डल्हण कहते हैं कि— ''पद्भ्यां उन्मर्दितस्य' से पांवों के द्वारा अच्छी तरह से मर्दन करना यह अर्थ लेना चाहिए।[१६५]

पादाघात दक्षिण भारत में प्रचलित हैं। इसके लिए जो व्यक्ति पांव से पीड़न करेगा उसके पांव स्वच्छ हो, अकठोर हो, फूटे हुए फटे हुए परुष न हो, और व्यक्ति न ज्यादा वजनवाला न ज्यादा कृश ऐसा हो। शयनस्थान से ऊपर एक शृंखला बांधकर उसमें एक चक्र लगा रखे जिसको पकड़कर कर्मचारी रुग्णशरीर के (या स्वस्थ पुरुष से) अवयव पर सुखपूर्वक पादाघात करें।

६. परिषेक— औषधि क्वाथ, दूध, तैल, घी, तक्र, मांस रसादि द्रव्यों की आतुर के शरीर पर धारा छोड़ना यह परिषेक है। परिषेक को सेंक, सेचन, परिसेचन, इन पर्यायों से भी कहा गया है। जब स्नेह द्रव्यों के साथ परिषेक किया जायेगा तो वह बाह्यस्नेहन में समाविष्ट होगा। चरक ने वातरक्त चिकित्सा अनेक परिषेकों का वर्णन किया है। वाग्भट ने शिर पर जो तैलविधान का वर्णन किया है उस 'मूर्ध तैल' का 'सेंक' यह एक प्रकार दिया है। वाग्भट ने वातव्याधि चिकित्सा में शरीर परिषेक दिया है। जिसमें कुलत्थ, यव, कोल, देवदार्व्यादि गण इनके क्वाथ में अनूप मांस रस, अम्ल, कांजी, दूध, मधुर स्कंध के प्रक्षेपण द्रव्य डालकर 'महा स्नेह' तैयार कर उसका परिषेक, अभ्यंगादि में उपयोग करने को कहा है।[१६६] सुश्रुत ने प्रतिदिन के करने योग्य कर्मों में भी सेंक का समावेश किया है और इसे डल्हण ने सर्वांग पर परिषेक करना यही सेंक है, ऐसा कहा है[१६७] और परिषेक के गुण में बताया गया है कि इससे थकावट दूर होती है और वात का प्रशमन होता है। भग्न संधियों को जोड़ने में मदद मिलती है। क्षतों में, अग्निदग्ध में, अभिघातज व्रणों में, विपुष्ट व्रणों में रुजाशमन् होता है।[१६८] सुश्रुत ने व्रणकर्मों में भी परिषेक यह एक उपक्रम माना है और भिन्न-भिन्न दोषानुसार भिन्न-भिन्न औषधि से संयुक्त सस्नेह परिषेक वर्णित किये हैं।[१६९] यहां केवल स्नेहपरिषेकों का ही प्रयोजन है। सुश्रुत कहते हैं कि जैसे जल सींचने पर वृक्षों के मूलों से अंकूरों की वृद्धि होती हैं वैसे ही स्नेहद्रव्यों के परिषेक से धातुवृद्धि होती है।[१७०] इस स्नेह परिषेक का ही इस ग्रंथ के प्रस्तुत पंचकर्म विषय में महत्त्व है।

परिषेक के लिए धारापात्र की सहायता ली जा सकती है और सर्वांग परिषेक करना हो तो केवल १८" × १८" प्रमाण के कपड़े स्नेहादि में भिगोकर शरीर पर निचोड़कर परिषेक किया जा सकता है। धारापात्र की पद्धति मूर्ध तैल में और दूसरी पद्धति पिंडस्वेद नामक स्वेद प्रकरण में आगे निर्दिष्ट की है। स्वेद में उष्ण स्नेह का प्रयोग वांछित है और स्नेहन में अनुष्ण। परिषेक के लिए आतुर को तैल द्रोणि (विशिष्ट अवगाहन पात्र) में गिराया जाता है। जिसका वर्णन उचित स्थान में किया है। चरक ने जो अनेक परिषेक संदर्भ कहे हैं उनमें से कुछ यहां दिये जाते हैं।[१७१]

१. वातरक्त में परिषेक यह सामान्य चिकित्सा सूत्र में कहा गया है। दशमूल क्वाथ से सिद्ध क्षीर का वातरक्त में शूल निवारणार्थ उपयोग करें।

२. वात प्रधान वातरक्त में सुखोषण घृत का परिषेक करें।

३. मधुर गण की औषधियों के क्वाथ में चारों स्नेह मिलाकर उनका परिषेक करें।

४. गाय एवं बकरी के दूध में तैल मिलाकर परिषेक करें।

५. जीवनीय गण के क्वाथ अथवा पंचमूल के क्वाथ में द्राक्षा, इक्षुरस, मद्य, दही का पानी, अम्लकांजी डालकर सेंक करें।

६. सुश्रुत ने भी वातरक्त प्रकरण में—देवदार्व्यादि गण की औषधियां, वातघ्न गण की औषधियां यव, कोल, कुलत्थ,आनूप मांसरस पंचवर्ग (कूलचर, प्लव, कोषस्थ, पांववाले तथा मत्स्य इनके मांस रस) इनका क्वाथ बनाकर, कषाय, अम्ल, क्षीर, सर्पि, तैल, वसा, मज्जा चारों स्नेह मिलाकर मधुर गण औषधियों के प्रक्षेप द्रव्यों के साथ स्नेह सिद्ध करने को कहा है। इस स्नेह से अपतानक में परिषेक करने का निर्देश है। इसी तरह मूलक, उरुवक, फणिञ्झक, अर्क, सप्तला, शंखिनी इनके स्वरस में सिद्ध तैल से परिषेक करने को कहा है।[१७२]

७. संवाहन—संवाहन 'सुखकारक स्पर्श' को कहते हैं। हाथ से धीरे-धीरे अधिक बल प्रयोग न करते हुए, जिसमें केवल सुखानुभूति हो उतने प्रमाण में स्नेहों को मलना स्नेह संवाहन हैं। संवाहन में भी स्नेह का उपयोग करना ही चाहिये ऐसा नहीं है। सुश्रुत ने अभ्यंगादि दिनचर्या प्रकरण में इसका निर्देश किया है, वहां पर अभ्यंग तैल, मर्दन इत्यादि क्रम पहले हो जाने के कारण संवाहन भी अभ्यक्त व्यक्ति का ही होता है। सुश्रुत कहते हैं कि— संवाहन प्रीति (सुख) उत्पादक है, निद्राकार हैं, वृष्य हैं और कफवात को नष्ट करता है। इससे थकावट दूर होती है। मांस, रक्त और त्वचा को संवाहन प्रसन्न रखता है। यहां डल्हण ने संवाहन से सुख स्पर्श अर्थ किया है और अमितप्रभ टीकाकार का मत दिया है कि वे हाथ से धीरे-धीरे थपकी मारने (आहनन) को संवाहन कहते हैं।[१७३]

सुश्रुत ने वातरक्त में संवाहन का उपयोग बताया है और वहां डल्हण ने संवाहन का अर्थ हाथ से मर्दन करना यह किया है।[१७४] यहां खास कर सुश्रुत ने 'मृदु संवाहन' करने को कहा है। जिसमें संवाहन के संभाव्य मृदु और तीव्र ऐसे दो भेद हो सकते हैं।

८. गंडूष — द्रव्यों को मुख में धारण करने की विधि गंडूष कहलाती है। यह स्नेह द्रव्यों से किया जाए तो स्नेह गंडूष कहलाता है। सुश्रुत ने गंडूष और कवल ग्रह ऐसे दो पारिभाषिक शब्द प्रयोग किये हैं। वाग्भट ने भी गंडूष और कवल ग्रह में दो अलग प्रक्रियाएं दी हैं। जिस विधि में मुंह में इतनी मात्रा में द्रव भरा जाए जो कि आसानी से मुख के अंदर घुमाई-फिराई जा सके उसे केवल ग्रह कहते हैं और यह विधि जिसमें मुखांतर्गत द्रव को फिराया नहीं जा सके (इतनी मात्रा में भरे), केवल कुछ समय तक रखकर निकाल दे, उसे गंडूष कहते हैं।[१७५] दोनों को बोलचाल की परिभाषा में 'कुल्ले' करना कहा जा सकता है। शार्ङ्गधर में गंडूष में द्रव का उपयोग और कवलग्रह में कल्क का उपयोग बताया है।[१७६]

वाग्भट ने गंडूष के चार प्रकार किये हैं। स्निग्ध गंडूष, शमनगंडूष, शोधन-गंडूष और रोपण गंडूष। इनमें वातदोष में स्निग्ध, पित्त में शमन, कफ में शोधन और व्रण में रोपण गंडूष का प्रयोग होता है। इसमें स्निग्ध गंडूष में मधुर, अम्ल और लवण के साथ स्नेहों का प्रयोग होता है। गंडूष में स्नेह दूध, मधु और पानी, शुक्त, मद्य, मांसरस, मूत्र, धान्य की कांजी, इनके साथ कल्क द्रव्य का सिद्ध क्वाथादि का उष्ण या शीत प्रयोग किया जाता है। नित्य गंडूष के लिए तैल और मांस रस प्रशस्त कहा है।[१७७] सुश्रुत ने कवल ग्रह के स्नेही, प्रसादी, शोधी और रोपण ऐसे चार भेद किये हैं कि जिसमें वात में स्निग्ध और उष्ण कवल ग्रह दिया जाता है। प्रसादन (शमनवत्) स्वादु शीत द्रव्य से, कटु अम्ल लवण से पित्त में शोधन तथा रुक्ष उष्ण से कफ में शोधन कवल ग्रह कहा गया

है।[१७८] वृद्ध वाग्भट ने स्नैहिक शमन, शोधन तथा रोपण चार भेद कर शमन गंडूष में–स्तंभन, प्रसादन, निर्वापण इन प्रकारों का समावेश किया है।[१७९]

गंडूष के गुण और उपयोग— चरक-सुश्रुत ने स्नेह गंडूष धारण के निम्नलिखित लाभ बताए हैं।[१८०]

१. स्नेह गंडूष से हनुवटी बलवान बनती है।
२. स्वर घोषवान् और प्रसादयुक्त होता है।
३. मुख का उपचय-पुष्टि होती है।
४. अन्न में रुचि बढ़ती है।
५. रसज्ञान में जिह्वा का प्रकर्ष होता है।
६. स्नेह गंडूष धारण करनेवाले का गला कभी नहीं सूखता।
७. ओंठ कभी नहीं फटते।
८. स्नेह गंडूष धारण करनेवाले के दांत कभी नहीं गिरते (देर से गिरते हैं) दांत के मसूड़े मजबूत होते हैं। दांतों में कभी शूल नहीं होता और खट्टे पदार्थों के खाने पर दंतहर्ष भी नहीं होता।
९. दांत ऐसे मजबूत बनते हैं कि खूब कठिन वस्तुओं को भी चबा जाते हैं।

वाग्भट ने भिन्न-भिन्न रोगों के लिए भिन्न-भिन्न गंडूष बताए हैं। उनमें जिनका स्नेहयुक्त उपयोग है वे निम्नोक्त हैं।

१. दंतहर्ष, दंतचाल, मुखरोग (वातिक) में सुखोष्ण या शीत तिलकल्क मिश्र जल से गंडूष।

२. दाह, पाक, आगंतुक क्षत में, विष अग्नि क्षार से जल जाने पर दूध या घी का गंडूष धारण।[१८१]

कवलग्रह से मन्याशूल, शिरःशूल, कर्ण रोग, अक्षिरोग, लालास्राव, कंठरोग, मुखशोष, हृल्लास तंद्रा, अरुचि, पीनस इनका प्रशम होता है।[१८२]

गंडूष कवलग्रह की कालावधि— एकाग्र मन से तब तक गंडूष धारण करें जब तक गले में दोष न भर जाये और नाक और आँख से पानी न जाए। फिर द्रव निकालकर दूसरा द्रव मुख में भरें।[१८३]

गंडूष के योगायोग के लक्षण— रोग का घटना, मुख की प्रसन्नता, निर्मलता, मुख में लघुता, इंद्रियों की निर्मलता, ये सम्यक् शुद्ध कवल के लक्षण हैं और मुख में पाक, शोष, प्यास, अरुचि क्लम ये शोधनकवल के अतियोग होते हैं। हीन कवलयोग में जाड्य, कफ का उत्क्लेश, रसज्ञान की अप्रतीति ये लक्षण होते हैं।[१८४]

९. मूर्ध तैल शिरस्तर्पण— मूर्धा--अर्थात् शिर पर तेल को विशिष्ट समय तक धारण करना 'मूर्ध तैल' कहलाता है। वाग्भट ने मूर्धतैल चार प्रकार में विभक्त किया है।

१. शिरोऽभंग,
२. शिरःसेंक,
३. शिरः पिचुधारण
४. शिरोबस्ति[१८५]

इनके प्रत्येक के अपने-अपने गुण और उपयोग हैं। चरक ने मूर्धतैल के सामान्य गुण-उपयोग में कहा है कि—प्रतिदिन शिर पर तैलधारण करने से शिरःशूल नहीं होता। बाल नहीं पकते और गिरते नहीं हैं। सिर की हड्डियां मजबूत बनती हैं और केश लंबे, दृढ़मूल और काले होते हैं। इंद्रियाएं प्रसन्न रहती हैं। मुंह की त्वचा सुंदर बनती है। सुखपूर्वक नींद आती है।[१८६]

सिर में अधिक से अधिक समय तक स्नेह रखना यही मूर्धतैल का उद्देश्य है। अतएव वाग्भट ने चार प्रकार में उत्तरोत्तर अधिक गुणवत्ता बताई है। अर्थात् शिरोऽभंग से शिरःसेंक अधिक गुणकारक हैं और शिरसेंक से पिचु और पिचु से शिरोबस्ति गुणकारक कही गई है। यहां पर अधिक गुणवत्ता का सामान्य अर्थ ही लेना उचित हैं। अन्यथा प्रत्येक के अपने-अपने गुण और अपनी रोगघ्नता भी निर्दिष्ट है जो पृथक्-पृथक् है। शिर के रोमांत छिद्र भाग से तैल का अंशतः शोषण आवश्यक है और शोषण के लिए उसको समय मिलना चाहिये। वह इन विधि में दिया जाता है।

१. शिरोऽभ्यंग— सिर पर तैल की मालिश करना शिरोऽभंग है। इसमें शीत या मंद सुखोष्ण तैल का उपयोग करें। प्रायः सर्वांगाभ्यंग में भी सिर का ही अभ्यंग प्रारंभ किया जाता है। शिर यह इंद्रियों का मूल हैं और प्रधान मर्म है। शिर पर अभ्यंग करने से शिरोरोग दूर होते हैं। बालों की कोमलता होती हैं, बाल लंबे होते हैं। बाल का बहुत्व होता है अर्थात् बाल खूब घने हो जाते हैं तथा काले और स्निग्ध रहते हैं। शिर का पोषण होता है, मुख की त्वचा कोमल सुन्दर होती है, इंद्रियों का तर्पण होता है।[१८७] सुश्रुत ने शिर के अभ्यंग के लिए खास चक्रतैल प्रयोग करने को कहा है। चक्रतैल यंत्र से दबाकर निचोड़कर निकाला जाता है— जिससे चक्रतैल नाम कहा जाता है।[१८८] यष्टीमधु, विदारी सरल का काष्ठ, देवदारु और लघुपंचमूल इनको समान मात्रा में लेकर इनके कल्क और क्वाथ से कोल्हू का ताजा (चक्र से निष्पीड़ित) तैल डालकर तैल तैयार करें। इस तैल को ठंडा ही शिर पर लगावे।[१८९] डल्हण ने चक्रतैल विधि दी है— वह इस प्रकार है। यष्टीमधु आदि द्रव्य एक सौ पल (४०० तोला) ले। इसमें ५१२ पल (२०४८ तोला) पानी डालकर ११० पल (४०० तोला) शेष रहने तक उबालकर पाचन करें। कपड़े से छानकर इसमें उपर्युक्त यष्टीमधु आदि द्रव्यों में कल्क ८ पल (३२ तोला) डाले, तिल तैल (चक्र से पीड़ित ताजा तैल) ३२ पल (१२८ तोला) डालकर तैलपाक विधि से (तैल शेष) तैल तैयार करें। यह तैल अभ्यंग के लिए प्रशस्त हैं। वाग्भट ने सिर की रुक्षता सिर में खुजली और मल के जमा होने पर शिर का अभ्यंग करने का निर्देश किया है।[१९०]

२. सिरः सेंक— सिर पर विशेषतः कपाल प्रदेश पर औषधि-क्वाथ, दूध, छाछ, इक्षुरस, घी, तैल इत्यादि से विशिष्ट प्रकार से धारा छोड़ना शिरः सेंक कहलाता है इसे शिरोधारा भी कहते हैं। वाग्भट ने मूर्ध तैल के भेद में जहां 'सेंक' का उल्लेख किया है वहां अरुंषिका–सिर में उत्पन्न होनेवाली पिड़काएं, शिर में सूई चुभने की सी वेदना, दाह, पाक और व्रण में इसका उपयोग बताया है।[१९१] इससे यह धारा कपाल पर न गिराकर बिल्कुल सिर पर गिरानी चाहिये ऐसा लगता है। अन्यत्र शिरोरोग, प्रकरण में भी वाग्भट

ने दशमूल सिद्ध क्षीर, वातघ्न द्रव्यों के सिद्ध क्षीरों से परिषेक करने को कहा है जिससे यह परिषेक कपाल पर भी निर्दिष्ट होता है।[१६२] चरक और सुश्रुत ने भी भिन्न-भिन्न शिरोरोगों में शिर पर परिषेक करने का विधान किया है। उदाहरण शंखक रोग में चरक ने शिरो-विरेचन (नस्य) और शिरःसेंक करने को कहा है।[१६३] पित्तज शिरोरोग में घी या दूध से शिरःसेंक कहा है।[१६४] सुश्रुत ने वातज शिरोरोग में वातघ्नसिद्ध दूध से परिषेक, पित्तज तथा रक्तज शिरोरोग में घी से परिषेक करने को कहा है।[१६५]

विधि—शिरोधारा या परिषेक करने के लिए एक विशिष्ट पात्र का उपयोग किया जाता है उसे धारापात्र कहते हैं। यह धारापात्र एक चौड़े मुखवाला पांच से छः इंच गहरा और नीचे की ओर सिकुड़ा–दो प्रस्थ या ६४ औंस द्रव भरा जा सके ऐसा एक धातु-मृत्तिका या काष्ठ निर्मित पात्र है जिनके तल में करांगुली (कनिष्ठिका) प्रमाण का छिद्र होता है और इस छिद्र में वर्ति लगाई जाती है जो तैलादि को समप्रमाण में गिराती है। धारापात्र का प्रयोगार्ह वर्णन उपकल्पना विज्ञान अध्याय में किया है, धाराकल्प नामक पुस्तक में कहा हैं— सुवर्ण-लोह–अथवा मिट्टी से यह पात्र बनाए। यह दो प्रस्थ द्रव्य भरने की क्षमता का हो। पात्र के मध्य में कनिष्ठिका गुल परिगाह (रोगों की) का एक छिद्र रखे जिसमें वर्ति लगाई जाती है–ऐसे घट का शिरःसेंक में उपयोग करें।[१६६]

परिषेक से वात या वातप्रधान दोष हो तो सुखोष्ण औषधिद्रव प्रयोग करें और पित्त-रक्त का प्राधान्य हो तो शीत द्रव का प्रयोग करें। सामान्यतः सिर पर उष्ण-स्वेद की मनाई है। लेकिन उष्ण जल के स्नान में जैसे सुखोष्ण जल होता है उतना गरम द्रव बाधक नहीं हैं। शास्त्र में दशमूलादि तथा वातहर क्वाथ से सिद्ध दूध, घी, तैल, ईख का रस, कांजी, दधिमस्तु (तक्र), मधु और शर्करोदक— (खांड का पानी) इनका उपयोग बताया है। केरलीय वैद्य संतत ज्वर के संताप को कम करने के लिए ''स्त्री दुग्ध'' की धारा भी कहते हैं।

शिरोधारा योग्य आतुर को धाराटेबल या द्रोणी में (उपकल्पना विज्ञान का अध्याय देखें) लिटावें। उसका शिर इस टेबल के खास 'शिरोधारा' के लिए निर्मित विभाग की ओर रहें। इस विभाग में एक काष्ठ पट्टिका आढ़ि लगाई होती हैं— जिस पर नरम तकिया रखकर शिर को उन्नत ऐसा रखे की धारापतित द्रव–उसके नीचे की गर्त में जाए और वहां से पुनः प्राप्त कर सके। प्रथम तैल का अभ्यंग सर्वांग में करना चाहिये। आतुर जिस टेबल पर लिटाया जाता है, उसके सिर के ठीक ऊपर धारापात्र मजबूत डोरी या लोह श्रृंखला की सहायता से लटकता रहेगा ऐसी व्यवस्था करें। आतुर की आँखों पर कपास के बड़े-बड़े पैड रख दे–और आवश्यक हो तो हलका बंधन बांध दें, ताकि तैलादि औषधि आँख में न जाएँ। इसी तरह–औषधि द्रव्यों के वर्ण-रूप इत्यादि से अक्षम आतुर को उत्तेजना न होने पाये। अब धारापात्र में तैलादि भर दे। धाराविधि में दो कर्मचारियों की आवश्यकता होती है। एक कर्मचारी टेबल के शिरांत भाग में ठीक बीच में खड़ा रहकर धारापात्र को हाथ से पकड़कर (लटका हुआ) उसके वर्ति में से धारा बराबर कपालप्रदेश पर गिराता रहे। यह गिरा हुआ द्रव टेबल के छिद्र में से नीचे स्रवित होता है– जो उसके ठीक नीचे स्टूल पर रखे हुए एनेमेल पात्र में पुनः जमा किया जाता है। यह प्राप्त तैल दूसरा कर्मचारी

ठीक ध्यान रखकर पुनः धारापात्र में डालता रहे। इस तरह यह विधि एक से डेढ़ घंटे तक करनी चाहिये। **षष्टिकशाली पिंडस्वेद : एकांग**

धाराकल्प में— वात दोष में तिल तैल से, पित्त और रक्त में घृत से, कफ में तिल तेल से, वात और रक्त संसृष्टि में तथा वातपित्तरक्त संसृष्टि में तेल और घी को समभाग लेकर उससे, कफ संसृष्टि में तेल और आधे भाग घृत मिलाकर धारा करने का निर्देश किया है।[१६७]

शिर में धारा करते समय ४ अंगुल ऊँचाई से वर्ति से धारा गिरनी चाहिये।[१६८] एक अंगुल लगभग ३-४ इंच का होता है– अतएव धारा तीन से चार इंच पर से गिरावे। बहुत बंद धारा न होनी चाहिये। मंद धारापातन से रोगवृद्धि होती है। धारा के लिए योग्य समय प्रातःकाल का है। जब अधिक धूप न हो तब प्रातः ७ से १० बजे तक धारा करें। मध्याह्न में और रात में परिषेक न करें।[१६९] धारा काल में परिहार तथा अन्यविधि पिंचिल के निर्दिष्ट प्रकारानुसार करें। धारा कर्म पूर्ण होने पर तत्तद्रोगानुसार घी सेवन करावे और प्रसन्न मन से विश्राम करावे। शरीर को कष्ट न दे, चिह्नालौल्य न रख ब्राह्मज्ञ के समान आवश्यक करें।[२००] (चित्र देखें)

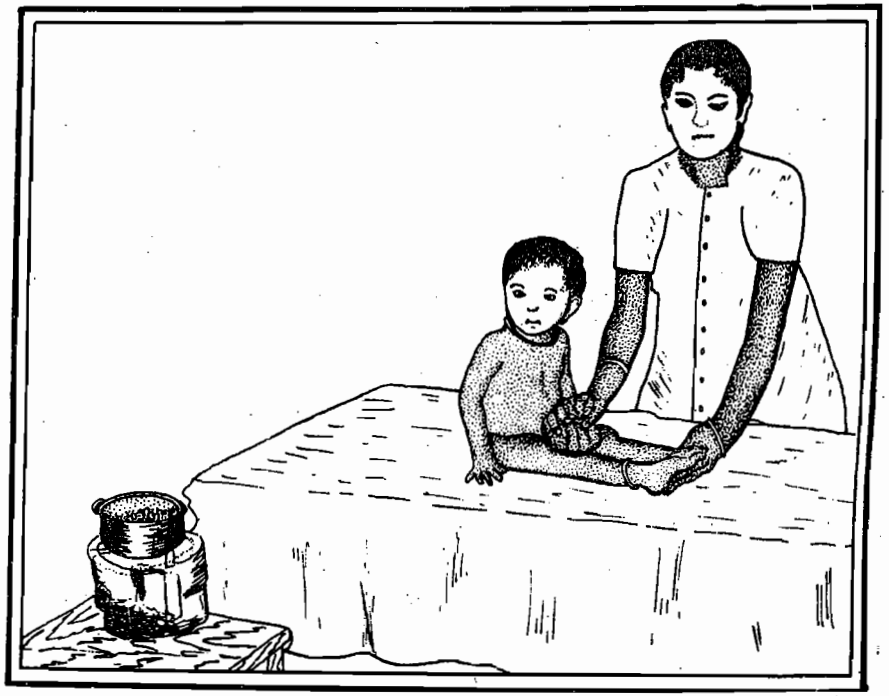

षष्टिकशाली पिंडस्वेद : एकांग

तक्रधारा— एक वर्ष तक धूप और वायु में सुखाये हुए आंवले का चूर्ण १। प्रस्थ (८० तोला) लें, जिसमें आंवलों का बीज न हो। इसमें १८ कुडव (१६ × १८ = २२८ तोला) जल डालकर षष्ठांश अर्थात् ३८ तोला के लगभग शेष रहे ऐसा क्वाथ बना लें।

इसमें ३८ तोला खट्टा छाछ डालकर इसको उपर्युक्त विधि के अनुसार क्षिरोधारा करें।[२०१] डॉ. मूस ने ४० पल (१६० तोला) आंवले में ६ प्रस्थ (५७६ तोला) जल में पकाकर १।। प्रस्थ (६६ तोला) शेष रखने को कहा है। इसमें समभाग तक्र डालकर धारा की जाती है। प्रत्यक्ष प्रयोगार्ह विधि के लिए उनका कहना है कि २ प्रस्थ (१२८ तोला) गाय का दूध लेकर ८ प्रस्थ जल (५१२ तोला) और दो पल मुस्ता चूर्ण (८ तोला) डालकर तब तक पकावे जब तक दुग्ध शेष (२ प्रस्थ = १२८ तोला) रह जाये। ठंडा होने पर इसमें खट्टी छाछ थोड़ी मात्रा में डालकर उसका दही बनावे। इसमें १ प्रस्थ आमल की क्वाथ (४ पर आमलकी में ४ प्रस्थ जल डाल कर १ प्रस्थ शेष क्वाथ) डालकर छाछ बनाकर उसकी धारा शिर पर करें।[२०२]

तक्रधारा के गुण— तक्रधारा से केशों का सफेद होना बंद होता है। शरीर की थकावट दूर होती है। शिरःशूल प्रशमित होता है। दोष प्रकोप का शमन होता है। ओजक्षय दूर होता है। हाथ और पांव के तलवे में दरार पड़ने को तक्रधारा दूर करती है। मूत्र रोग दूर करती है। संधियों का शैथिल्य कम होता है। हृद्रोग, अग्निमांद्य, अरुचि, कर्णरोग, नेत्ररोग में लाभ होता है।[२०३]

तैलधारा तथा घृतधारा के गुण— तैल और घी की धारा की जाने पर वाचा और मन की स्थिरता होती है। शरीर का बल बढ़ता है। भोजन में रुचि लगती है। धृति-धारणा शक्ति बढ़ती है। स्वर माधुर्ययुक्त होता है। त्वचा कोमल होती है। आंख के तिमिरादि रोग में लाभ होता है। शुक्र, रक्त, इन धातुओं का पोषण होता है। रतिकर्म में प्रीति होती है। शरीर की गरमी कम होती है। नींद अच्छी आती है और आयुष्य बढ़ता है।[२०४]

तैलधारा में चंदनबला लाक्षादि तैल, क्षीरबला तैल, धान्वंतर तैल, शतावरी तैल, यष्टीमधु तैल, ये प्रशस्त तैल हैं, इनका यथावसर उपयोग करें।

३. **पिचु**— कार्पास खंड या गोंजपीस तैलाक्त या घृताक्त कर शिर पर रखना पिचु धारण है। (ब्रह्मरंध्र पर Anterior Frontinale) इसका धारण करावें। केशपात (सिर के बाल गिरना), सिर की त्वचा फटना, सिर के बाल पकना तथा व्रण में नेत्रस्तभं में, पिचु रखना चाहिये।[२०५] शिर की तरह योनि पिचु, गुद पिचु, नासा पिचु भी रखा जा सकता है। यौनितः रक्तस्राव में पद्यकादि तैल से पिचु धारण करें, गुदा में अर्श में– काशीसादी तैल का पिचु, रक्तस्राव-व्रण-भगंदर में जात्यादि और पद्यकादि तैल का पिचु और नासागत रक्तस्राव में पद्यकादि तैल का सौराष्ट्री मिश्र पिचु रखना चाहिये। कभी-कभी स्नेययुक्त प्लोत रखने का शास्त्र में निर्देश मिलता है। प्लोत बड़े कपड़े के द्वारा या गाजपीस के लिए कहा जा सकता है। पिचु को वाग्भट ने परिषेक से भी गुणतर माना है। संभवतः धीरे-धीरे स्नेह के शोषण करने में उपयोगी होने से कहा होगा।

४. **शिरोबस्ति**—सिर पर तैल धारण करने का चौथा प्रकार शिरोबस्ति है। बस्ति शब्द से इसे बस्ति प्रकार में लेने का भ्रम पैदा नहीं होना चाहिये। बस्ति में जिस तरह प्राणियों के बस्तियों का प्रयोग किया जाता है, वैसे इसमें तेल धारण कराने के लिए प्राणियों के चर्म से बनाये हुए 'शिरोबस्ति यंत्र' का उपयोग किया जाता है। यह चमड़े की टोपी के सदृश होता है जो शिर के आकार का परिणाह में तथा १२ अंगुल विस्तीर्ण ऊँचा होता है। यह ऊपर और नीचे दोनों बाजू में खुला होता है। (चित्र देखें)

शिरोबस्ति विधि

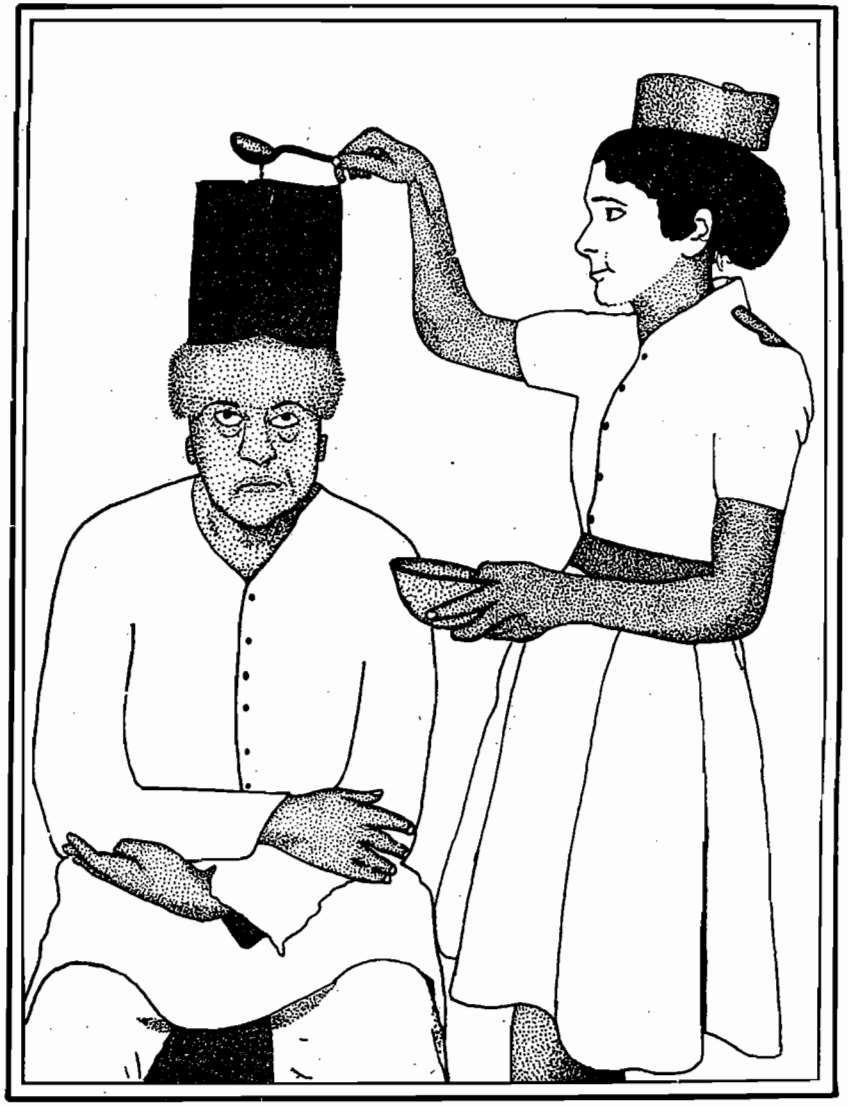

विशेष—शिरोबस्ति यंत्र आतुर के सिर पर रखकर माषकल्क के अंतर्बाह्य लेप कर; बाह्यतः वस्त्र द्वारा बंधन बांधा गया। उपचारिका सुखोष्ण तैल सिर पर डाल रही है।

विधि[२०६] — जिस आतुर की शिरोबस्ति करनी है उसे स्नेहन-स्वेदन कर शोधन करें। यहां स्वेदन शिर का अपेक्षित नहीं है। शोधन में वमन या विरेचन का यथायोग्य शोधन करें। फिर अपराह्न काल में या सायंकाल में आतुर को बस्ति दें। एतदर्थ जानु के जितनी ऊंचाईवाली (सामान्यतः १।। फीट) एक कुर्सी पर आतुर को (देखें—उपकल्पना विज्ञान अध्याय) बिठाकर उसके सिर पर चमड़े का यह यंत्र व्यवस्थित रखकर बेंडेज से बांधकर उसे फिट कर दे। फिर आभ्यंतर भाग में रोमांत के स्थान में माषकल्क (उड़द के आटे को पानी में गूंथ कर) को भरकर अवकाशरहित कर दें। यदि आवश्यक हो तो बाहर भी उड़द से लिंपित कर कोई भी स्थान से तैल स्रवित न होने पाये व्यवस्था करें। बंधन ऐसा लंबा हो कि वह कान के बाजू से सिर पर घूमते हुए सात-आठ बार स्तर करें इतना पर्याप्त हो। गाँठ कनपट्टी पर आवे। शिरोबस्ति यंत्र अच्छी तरह सिर पर बैठ सके इसलिए पुरुष आतुर का पहले से मुंडन करना अच्छा होता है। फिर आतुर को सूचना दे कि वह सिर को हिलावे नहीं। व्याध्यनुसार उचित तैल लेकर सुखोष्ण कर दर्वि-या पली-- (चमचा) के द्वारा चमड़े के बाजू से धीरे-धीरे अंदर भरे। केशभूमि के ऊपर दो अंगुल ऊंचाई तक (लगभग १।। इंच) तैल पर दे और इसका भलीभांति तब तक धारण करें जब कि वेदना प्रशम हो या मुंह, नाक से क्लेदन होने लगे। यह बस्ति समय पूर्ण करने का लक्षण है।[२०७] बीच बीच में तैल अधिक ठंडा न हो, एतदर्थ चमचे से थोड़ा थोडा तैल निकालकर उतना गरम तैल डालते रहें। जब शिरोबस्ति समय पूर्ण हो जाए जब तैल निकालकर, चर्मपट्ट निकालकर सिर को स्वच्छ करें। फिर कंधे, पृष्ठ, सिर, मन्या, ग्रीवा इनका सहेलाई से मसलना चाहिये। फिर गरम पानी से उसको स्नान करावें। पीडस्वेदादि में कहे हुए परिहारादि का पालन करें।

शिरोबस्ति में कालमर्यादा— वातज रोगों में १००० मात्रा तक, पित्तज रोगों में ८००० मात्रा तक, कफज रोगों में ६००० मात्रा तक और स्वस्थों में १००० मात्रा तक शिरोबस्ति धारण करें।[२०८] एक अक्षिनिमेष एक चुटकी या एक लघु अक्षर उच्चारण के लिए जितना समय लगता है वह एक मात्रा है। इसका काल लगभग १६/६० सेकंड माना गया है। इस तरह—

वातज रोगों में— लगभग ५३ मिनिट, पित्तज रोगों में लगभग ४३ मिनिट, कफज रोगों में ३१ मिनिट और स्वस्थों में ५ से ६ मिनिट तक शिरोबस्ति करें। इस तरह ७ दिन शिरोबस्ति दें।

गुण और उपयोग— शिर में और शरीर में प्रसुप्ति— (स्पर्श ज्ञान का अभाव) अर्दित, नींद का न आना, नासाशीष, आस्यशीष, तिमिर शिरोरोग, दारुण (सिर पर उत्पन्न पिड़का) में शिरोबस्ति लाभप्रद कही गई है।[२०९] चरक ने अर्धावभेदक में शिरोबस्ति विधान कहा है।[२१०]

१०. अक्षितर्पण— आँख में स्नेह धारण करने के लिए जो विधि की जाती है उसे अक्षितर्पण कहते हैं। आँख का तर्पण निम्नलिखित रोगों में करना चाहिये।[२११]

१. आँखों के सामने अंधेरा छा जाना
२. आँख स्तब्ध होना
३. आँख सूख जाना—और रूखी होना
४. नेत्राभिघात
५. नेत्र के वातपित्तज रोग
६. नेत्र जिम्हता (आँख टेढ़ी होना)
७. शीर्णपक्ष्म
८. अविलेक्षण-आँख की आविल मैली दृष्टि होना—अंधुक नजर होना
९. कृच्छोन्मीलन—पलके ठीक बंद न होना और ठीक न खुलना
१०. शिरा हर्ष—नेत्ररोग
११. शिरोत्पात नेत्ररोग
१२. अर्जुन (नेत्र रोग)
१३. अभिष्यंद
१४. अधिमंथ
१५. अन्यतोवात
१६. वातपर्याय
१७. शुक्र
१८. जिसकी आंख से पानी न आता हो, शूल हो, वर्णनाश हो, संरंभ (टकटकी) हो।

विधि[२१२] — नेत्र तर्पण के पूर्व आतुर का वमन, विरेचन और नस्य से शोधन करें। फिर साधारण काल में प्रातः निवासस्थान में उसे शय्या पर चित्त लिटावें। यव और उड़द के चूर्ण को गूंथकर उससे नेत्रकोष के ऊपर ब्राह्मतः पाली (आलवाल) तैयार करें। यह दो अंगुल ऊंचा हो। टूट न जाये ऐसा हो। फिर इसमें यथोक्त सिद्ध घृत तप्तजल में भांड रखकर पिघलाकर सुखोष्ण आंख बंद किये हुए नेत्र में डाल देवे। अगर रात्र्यंधत्व हो, आंख जल्दी न खुलती हो, तो वसा का प्रयोग करें। फिर बार-बार धीरे-धीरे आतुर को आंख खोलने और बंद करने को कहे। इस तरह विशिष्ट समय तक स्नेह धारण करें, फिर अपांग की ओर से आलवाल को छेद कर स्नेह निकाल दें।

पश्चात्कर्म—धूम्रपान करावें। एकदम प्रकाश में न जाये, भास्वर (तेजस्वी) रूपों को न देखें और आकाश की ओर न देखें।

अक्षितर्पण काल— वर्त्म रोग, संधि रोग, सित-असित-दृष्टि रोगों में क्रमशः वर्त्म रोग में १०० मात्रा (३०-३२ सेकंड), संधिरोगों में ३०० मात्रा (लगभग ६५ सेकंड –१।। मिनिट) सित रोग में ५०० मात्रा (लगभग ३।। मिनिट), असित रोग में ७०० मात्रा (लगभग ३ मिनिट), दृष्टिरोग में ८०० मात्रा (लगभग ४।। मिनिट) और अधिमंथ रोग में १००० मात्रा (लगभग ५ मिनिट ४ सेकंड) तर्पण करें। इसी तरह वात रोगों में १०० मात्रा, पित्त रोग में ६०० मात्रा और स्वस्थों में ६०० मात्रा तर्पण करें। वातरोगों में प्रतिदिन तर्पण करावें, पित्त में एकांतर से तर्पण करें, कफरोग में और स्वस्थों में दो-दो दिन के अंतर से तर्पण करावें, अथवा सम्यक् तृप्तिलक्षण उत्पन्न होने तक तर्पण करावें।[२१३]

सम्यग् तृप्त में (तर्पण) लक्षण— जिनका तर्पण बराबर हो गया हो उसकी आंख में प्रकाश को सहन करने की क्षमता, वैशद्य और हल्कापन ये लक्षण उत्पन्न होते हैं और तर्पण ठीक न होने पर इसके विपरीत लक्षण अर्थात् प्रकाश को सहन करने की अक्षमता, आंखों का मैला होना, आंखें भारी पड़ना और अतितृप्ति में कफ के रोग उत्पन्न होते हैं।[२१४] स्नेह तर्पण के बाद दृष्टि कुछ क्लांत होती है अतः पुटपाक करना चाहिये। वात में स्नेहन पुटपाक, कफवात में लेखन और दृष्टि रोगों में प्रसादन पुटपाक करें। पुटपाक में मांस रस, दूध-घी-वसा का पुटपाक तर्पण के समान डाला जाता है।

११. नासातर्पण— नासा में स्नेह डालकर नासा तथा शिरस्थ इंद्रियों का तर्पण

करना नासा तर्पण है। सुश्रुत ने स्नेह को नस्य विधि में खास निर्दिष्ट किया है।[२१५] चरक ने 'दद्यात् नासापुटे स्नेह तर्पणं बुद्धिमान भिषग्' (नि. ६-१००) ऐसा कहकर तर्पण नस्य और सुश्रुत ने स्नेहन नस्य में स्नेह का प्रयोग लिखा है। वाग्भट ने अभ्यंगाति दिनचर्या में नावन नस्य करने को कहा है जो नासातर्पण ही है।

१२. कर्णपूरण— कान में तैल भरना कर्णपूरण है। कान में तैल डालनेवालों को वातज कर्ण रोग उत्पन्न नहीं होते। मन्या और हनु की जकड़ाहट नहीं होती। कर्ण बाधिर्य नहीं होता।[२१६] वाग्भट ने अभ्यंग का वर्णन करते हुए कान पर अभ्यंग करने को कहा है।[२१७] सुश्रुत ने कर्णपूरण से हनुशुल, मन्या शूल, शिरःशूल और कर्ण शूल नष्ट हैं ऐसा कहा है। कान में डालने के लिए निर्गुंडी तैल, बिल्व तैल, लशुन सिद्ध तैल, पंचगुण तैल, अपामार्ग क्षार तैल इत्यादि का प्रयोग प्रशस्त हैं। स्नेह के कर्णपूरण १०० मात्रा तक धारण करें।

१३. मास्तिष्कय— मस्तिष्क पर स्नेह, स्नेह मिश्रित कल्क आदि का प्रयोग करना 'मास्तिष्क्य' कहलाता है। सुश्रुत ने मस्तिष्क और मास्तिष्क्य ऐसे दो प्रयोग मिलते हैं।[२१८] डल्हण कहते हैं कि मस्तिष्क यह शिरोबस्ति का एक प्रकार हैं। शिरोबस्ति में जैसे टोपादि से तैल धारण करते हैं, वैसी ही रचना (बिना टोप को) मस्तिष्क कहलाती है। यहां किसी ने 'मस्तिष्क्य' ऐसा पाठ पढ़ा है— उसका अर्थ है मस्तिष्क के लिए हितकर अभ्यंग तैल--पिचुधारण, शिरोबस्ति इत्यादि। यह सिर पर करने का विशिष्ट द्रव्यों का सस्नेह लेप है।[२१९] सिर पर शिरोरोग प्रकरण में अनेक लेप बताये हैं। उसमें प्रदेह लेप और उपनाह ऐसे शब्द बारंबार प्रयुक्त किये है। उपनाह उष्ण द्रव्यों से किया जाता है और लेप शीत द्रव्यों से। केरल में उष्ण द्रव्यों से किये जानेवाले शिरोलेप को 'पोतिच्चिल' ऐसी संज्ञा है। वातघ्न औषधि से सिद्ध क्षीर पायस इत्यादि के द्वारा सिर पर शिरोरोग (वातज) में लेप का उल्लेख है। सुश्रुत ने द्वारा निर्दिष्ट कुछ मस्तिष्क्य प्रयोग दिये जाते हैं।[२२०]

१. वातघ्न शिरोरोग में वातघ्न द्रव्यों से सिद्ध खीर का लेप।

२. मछली का मांस गरम कर सिर पर लेप।

३. पित्तज शिरोरोग में नडसर (नल), वेतस, शैवाल, लालकमल, चंदन, उत्पल, पद्माख, बास, शौ. मुलेटी, मुस्ता इनको घी में पीसकर सिर पर लेप करें।

केरल में शिरो लेपन यह एक विशिष्ट चिकित्सा मानी जाती है। एक कुडव आंवले (१६ तोला) लेकर उसे २ कुडव (३२ तोला) गाय के दूध से बनी छाछ और ३२ तो. जल डालकर पकावे। जब द्रवांश बिल्कुल समाप्त हो जाए तब इस कल्क को श्लक्ष्ण पीस ले। आतुर के सिर पर अभ्यंग कर इस आमलकी कल्क (स्नेहसिद्ध) का १/४ से १/३ इंच ऊंचा स्तरयुक्त लेप सर पर करें। आतुर का मुंडन करना लेपक्रिया में आवश्यक है। यह १ से १।। घंटा रखा जाता है। फिर निकालकर सिर को कपड़े से साफ कर पुनः शिरोऽभ्यंग करें। ७ दिन तक यह क्रिया की जाती है। इसके गुण तक्रधारा के समान, किन्तु कुछ कम हैं।[२२१]

१४. स्नेहावगाहन— अवगाहन का अर्थ हैं मज्जन। स्नेह में डूबना—मज्जन करना स्नेहावगाहन है। स्नानार्थ उपयुक्त अवगाह कोष्ठ (Tub) में स्नेह भर कर गले तक उसमें बैठना या लेटना स्नेहावगाहन कहलाता है। स्नेहावगाहन से शरीर का बल बढ़ता है।[२२२]

१. स्नेह की कार्मुकता

स्नेह एवं स्वेद पंचकर्मों के सभी कर्मों के लिए पूर्वकर्म तरीके से किये जानेवाले आवश्यक कर्म है। स्नेहन से शरीर में स्निग्धता, विष्यंदन, मृदुता और क्लेदन होता है। स्नेह द्रव्य अपने सूक्ष्म, स्निग्धादि गुणों के द्वारा शरीर के अणु परमाणु तक पहुंचकर ये कार्य करते हैं। सुश्रुत ने कहा है कि— मनुष्य स्नेहमय ही है और प्राण भी स्नेह के आधार से रहते हैं।[२२३] इसका यह अर्थ है कि शरीर के सब अवयवों में स्नेह होता ही है और स्नेह प्राण का धारण करता है। प्राण शब्द की सुश्रुत की व्याख्या व्यापक है। वह है— अग्नि, सोम, वायु, सत्व, रज, तम, पंचेन्द्रिय और भूतात्मा इनको प्राण कहते हैं।[२२४] डल्हण ने कहा है— यहां अग्नि से पाचक, रंजक, साधक, आलोचक, भ्राजक ये (पित्त) अग्नियां पांच-- भौतिक अग्नि, धातुगत अग्नि इनके शक्तिरूप में अधिष्ठित अग्नि समझना चाहिये। सोम शब्द से कफ, शुक्रादि जलीय भाव, रसनेंद्रिय की शक्ति रूप अवस्थित सोम समझे और वायु प्राणादि भेद से पांचों प्रकार का समझे। सत्व, रज तमादि प्रकृति के आठ गुण इंद्रियों में चक्षु, श्रवण, रसन, घ्राण-स्पर्शन से पांच और भूतात्मा कर्म पुरुष है-- इनका सबका प्राण से बोध होता है। क्योंकि अग्नि आहारपाक कर्म से प्राणन करते हैं। सोम सौम्य धातु के पोषण से सत्वादि मन के कार्य के हेतुत्व से चक्षुरादि रूप ग्रहणादि कार्य से और भूतात्मा चेतना रूप से प्राणन करते हैं। इस तरह यह प्राण का अर्थ व्यापक है और इसमें शरीर की सभी क्रियाएं आती है। वास्तव में स्नेह का महत्त्व ऐसा ही है। स्नेह आप्य द्रव्य है-- और शरीर में आप्य घटकों से अत्यंत महत्त्वपूर्ण भाग बना हुआ है। सभी धातुओं में आप्य घटक पर्याप्त प्रमाण में रहते हैं। अतएव स्नेहन कर्म केवल एक पूर्वकर्म ही नहीं है-- अपितु चिकित्सा में प्रधानकर्म भी है। इस तरह स्नेह कार्मुकता को देखते समय हमें उसके

१. प्रधानकर्म की दृष्टि से तथा

२. पूर्वकर्म की दृष्टि से कार्मुकता देखनी चाहिये।

१. स्नेह-प्रधान कर्म की दृष्टि से कार्मुकता— स्नेह शरीर में निम्नोक्त गुण उत्पन्न करता है।[२२५]

१. स्नेह वात को नष्ट करता है।

२. दोषों को मृदु करता है।

३. जाठराग्नि तथा सभी अग्नियों को दीप्त करता है।

४. कोष्ठ को शुद्ध रखता है।

५. मल संघात को नष्ट करता है।

६. शरीर में अहर्निश नये नये धातुओं का निर्माण करता है-- जिससे शरीर की पुष्टि होती है।

७. शरीर का बल बढ़ाता है।

८. शरीर-वर्ण का प्रसादन करता है।

९. इंद्रियों को दृढ़ बनाता है-- जिससे वे अपने-अपने काम में अत्यंत कार्यक्षम रहती है।

१०. स्नेह से धातुबल बढ़ता है जिससे बुढ़ापा देरी से आता है।

११. दीर्घायु–एकसौ वर्ष की प्राप्ति होती है।

१२. व्याधि पीडित मंदाग्नि युक्त दुर्बलों को स्नेह द्वारा चिकित्सा की जाने पर उनका बल ऐसा बढ़ता है कि बाद में अपथ्यादि भोजन भी उनको रोगाक्रांत एकदम नहीं कर सकता। अर्थात् शरीर की व्याधिक्षमता को बढ़ाता है।

स्नेह का भी धातुओं के निर्माण में आप्यत्व के कारण महत्त्वपूर्ण भाग है। रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और शुक्र सब धातुओं में स्नेह होता है। विशेषतः रस, मांस, मेद, मज्जा और शुक्र में तो स्नेह का प्रकर्ष होता है। मज्जा सभी अस्थियों में पूरण करने का कार्य करती है और मस्तिष्क रचना मज्जा से ही बनती है। सुश्रुत ने मस्तिष्क के लिए मस्तुलुंग कहकर उसका आकार जमे हुए घी के सदृश बताया है।[२२६] इसे चरक ने मस्तिष्क कहा है— और इसका प्रमाण अर्धांजली बताया है। चक्रपाणि कहते हैं कि मस्तिष्क यह शिर में रहने वाला स्नेह है।[२२७] इस तरह सिर (Brain) की रचना में स्नेह का अधिक भाग होता है यह स्पष्ट है। शिर इंद्रियायतन है और वातव्याधि के अनेक रोगों का अधिष्ठान है। चरक ने कहा है कि शिर में सभी इन्द्रिय, इन्द्रियों के प्राणों का वहन करने वाले स्त्रोतस, ऐसे स्थित हैं जैसे सूर्य में किरणें आश्रित रहती हैं। इंद्रियों के प्राण इंद्रियार्थ हैं-- और उनके भी केन्द्र सिर में हैं। शिरोभिघात होने से मन्धास्तंभ, अर्दित, चक्षुर्विभ्रम, मोह (मूर्च्छा), उद्वेष्टन, चेष्टानाश, कास, श्वास, हनुग्रह, मूकत्व, गद्गदत्व, अक्षिनिमीलन, गंडस्पंदन, जृंभा, लालास्त्राव, स्वरहानि, बदन जिह्मता इत्यादि रोग उत्पन्न होते हैं।[२२८] इनमें स्नेह की प्रधान उपयोगिता स्पष्ट है-- क्योंकि उसी से शिर बनता है-- और रचना वैगुण्य ठीक होने पर उन व्याधियों का प्रशम होता है। अतएव स्नेह को वातनाशक कहा है। त्वचा भी वायु का मुख्य स्थान है वहां स्नेहन करने से वहां स्नायुओं, सिराओं, वातवाहिनियों और मज्जा का पोषण होता है।

स्नेह के द्वारा दोषों का मृदुकरण, शरीर का क्लेदन इत्यादि विचार स्नेहगुणों को स्पष्ट करते समय कर आये हैं। स्नेह से अग्निदीप्ति कही हैं। स्नेह आप्य होते हुए भी अग्निदीपन है। ''घृतं अग्निमेधे करोति'' ऐसा कहा है। वह अग्नि और मेधा को (मस्तिष्क की शक्ति) बढ़ाता है। बाह्य सृष्टि में भी हम स्नेह को अग्नि बढ़ाते हुए देखते हैं। स्नेह की व्याख्या करते समय उसके दाहानुकूल गुणभेद का उल्लेख किया गया है। वस्तुतः आप्य प्रधान स्नेह अग्निकर कैसे हो सकता है, यह प्रश्न है। स्नेहों से दीप जलाये जाते हैं, यज्ञ में आहुति प्रज्वलित होती है-- फिर भी शरीरस्थ अग्नि पर स्नेह का कार्य कैसे होता है यह विचारणीय विषय हैं। ग्रहणी यह अन्न का मुख्य आधार स्थान है और वहां अन्न का पचन, शोषण, सारकिट्ट विभाजन होता है। स्नेहों के द्वारा ग्रहणी को बल मिलकर अग्निवर्धन हो सकता है। ग्रहणी को पित्तधरा कला कहा गया है और जो पित्तधरा कला है वही मज्जाधरा कला है ऐसा कहा गया है।[२२९] इस तरह मज्जाधराकला से ग्रहणी की रचना का बोध होता है। यह स्पष्ट है कि ग्रहणी में मज्जा का प्राधान्य है और मज्जा स्नेह से बढ़ती है। संभवतः इसी कारण से ग्रहणी का (मज्जा का) शिरस्थ मज्जा से संबंध होकर वातव्याधि में स्नेहों का कार्य हो। उसी तरह ग्रहणी के अनेक पाचक स्त्राव, जिनकी उत्तेजना शिरस्थ मज्जा केंद्रों से संबंध रखता है, संभवतः स्नेहों से नियमित होकर अग्नि कार्य होता हो।

आधुनिक शरीरक्रिया विज्ञान के अनुसार स्नेहों द्वारा प्रथम आमाशय में अग्निकार्यों का क्षय होता है। फिर जब स्नेह ग्रहणी (Duodeaum) में पहुंचते हैं, उस समय भी पहले अग्निस्त्रावों को कम करता है। अगर व्हेगस नर्व्ह (Vagus nerve) के कोष्ठ के संपर्क तोड़ दिये जाएं तो यह अग्निमांद्यकर कार्य नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि पहले उस पर कार्य होता है। लेकिन दूसरी अवस्था में (Second phase) इन स्नेहों से अग्निकार्य उत्तेजित होने लगते हैं। स्नेह द्रव्य टूट कर उनके घटक ग्लिसरोल (Glycerol) का विशेष कार्य नहीं होता, किन्तु फैट्टी एसिड (Fatty acids-स्नेहाम्ल) और उत्पन्न सोप (Soaps-- साबुन के घटक) ये घटक आमाशयिक ग्रंथियों को उत्तेजित कर अग्निस्त्रावों को बढ़ाते हैं।[२३०]

स्नेह का तीसरा कार्य है कोष्ठशुद्धि। यह स्निग्धता से कोष्टांगों को स्निग्ध रख, मल को ढीला बनाकर वहां से निकालता है। इंद्रियों की शक्ति बढ़ाने का कार्य शिरस्तर्पण (Brain की रचना में मदद कर) कर किया जाता है, इस विषय को स्नेह शरीर में और स्पष्ट किया है।

२. स्नेह पूर्वकर्म की दृष्टि से कार्मुकता—पंचकर्म में पूर्वकर्म की दृष्टि से स्नेहन की जगह जगह महत्ता बताई है। वमनादि कर्मों में पहले स्नेहन और स्वेदन तथा अंत में बल वर्धनार्थ पुनः स्नेहन करने को कहा गया है।[२३१] स्नेह का यह कार्य शोधन में सहायक होने से होता है। स्नेहन और स्वेदन से चिकित्सा की जाने पर वात जीता जाने से मल, मूत्र और शुक्र की गतियां का संग कभी नहीं होता।[२३२] शरीर शोधन कार्य में स्नेह की कार्मुकता बताते हुए आचार्यों ने विविध दृष्टांत दिये हैं।

१. जिस तरह, किसी पात्र को स्नेहाक्त कर उसमें जल भर दिया जाये और उसको फिर औंधा कर खाली करने पर जरा भी जल पात्र के दीवारों में नहीं लगता, संपूर्णतः खाली हो सकता है, वैसे ही स्नेहन स्वेदन के द्वारा उत्क्लेशित शरीर में कोई दोष धातुओं में विहीन नहीं होता-- अपितु शोधन से निकल जाता है।[२३३]

२. गंदे कपड़े को स्वच्छ करने के लिए जैसे स्नेहादिं (साबुन) प्रयोग से मल को उत्क्लिष्ट (स्थान से च्युत) कर, जल से धोना होता है-- वैसे ही शरर के मल को साफ करने के लिए स्नेहों द्वारा उत्क्लेशन करना आवश्यक होता है।[२३४]

३. जिस तरह कोई वस्त्र को जल में डुबाने पर वह कुछ जल का ग्रहण करता है और निचोंड़ने पर अधिक जल को छोड़ देता है– वैसे ही शरीर भी स्नेह प्रयोग में अग्नि बल के अनुसार कुछ स्नेह को जरण कर अधिक स्नेह को छोड़ देता है।[२३५] यहां केवल जाठराग्नि ऐसा अर्थ न कर धात्वग्नि भी करना संगत है और जरण का अर्थ पाचन न कर, पाचन, शोषण ये अग्निकार्य करना संगत है। क्योंकि अधिक स्नेह यदि अजीर्ण होकर निकल जाये तो उसका कुछ लाभ नहीं है। यहां धात्वग्नियों के द्वारा आवश्यक स्नेहों को लेकर अधिकस्नेह धातु से च्युत होकर (Metabolism के बाद) कोष्ठ में आकर निकल जाता है यह संगत कल्पना हैं-- जिससे धातुगत अनेक मल भी उसके साथ निकल जाते हैं। 'यथाग्निजीर्याति स्नेहः'। इसके टीका पर चक्रपाणि कहते हैं कि यहां अग्नि से

अधिक स्नेह का निकल जाना कहा है-- वह चरक के सम्यक् स्निग्ध लक्षण के 'अधस्ताद् स्नेह दर्शनम्' लक्षण से संगत है।[२३६] सम्यक् स्निग्ध लक्षण तो स्नेहाजीर्ण लक्षण नहीं है। अतः यहां जाठराग्नि से अपाचित स्नेह निकल जाता है ऐसा अर्थ न कर धातुओं से अधिक स्नेह निकल कर पुरीष से यह शरीर के बाहर निकल चला जाता है यह अर्थ उचित है और तभी स्नेह को बंद भी किया जाता है। इसका विचार आगे शारीर में किया है।

४. यदि किसी मिट्टी के ढेले पर बहुत-सा जल जल्दी से गिराने से वह उसे भिगाए बिना या अल्पमात्रा में भिगोकर बह जाता है वैसे ही एक दिन में अधिक मात्रा में स्नेहन करने पर वह जाठराग्नि से ही पचन न होकर निकल जाता है।[२३७] यहां पर सद्यस्नेह के एक दिन में होनेवाले स्नेहन का संभाव्य दुष्परिणाम बताया गया है।

संक्षेप में स्नेहन के द्वारा धातुओं के दोषों का उत्क्लेश होता है। क्लेद-आप्य द्रव्यों का बाहुल्य होने पर दोष उसमें घुल जाते हैं। वैसे ही स्नेहद्रव्यों को अच्छे दर्जे के घोल करनेवाले माना गया है। मार्ग में स्निग्धता होती है, और स्वेदादि से स्त्रोतों का विकास होने पर ये स्नेह द्रव्य स्त्रवण प्रक्रिया से कोष्ठ में आते हैं— जहां से शोधन द्वारा उनको निकाल दिया जाता है।[२३८]

इस तरह स्नेहन के मुख्य तीन कार्य स्पष्ट हुए हैं, जो ये हैं—

१. **बृंहण**— मांस, मेद, मज्जा शुक्रादि धातु को बढ़ाकर, सिर के मस्तुलुंग को व्यवस्थित कर, धातुओं को पुष्टकर और अग्नि को प्रदीप्त कर स्नेह शरीर बृंहित करता है।

२. **शोधन**— दोषों को स्निग्ध कर, विलयन कर, उत्क्लेशन कर धातुओं में से कोष्ठ में लाकर मल के साथ निकाल कर यह कार्य सम्पन्न होता है।

३. **शमन**— स्निग्ध, शीत, गुर्वादि गुणों के द्वारा तत्तद् दोषों के शमन में मदद करता है। ये कार्य भलीभांति समझ में आये, तथा स्नेहपान प्रक्रिया में उपयुक्त स्नेह की मात्रादि प्रयोग विषय अच्छी तरह समझ में आये— इसलिए 'स्नेहों का शारीर' — शारीर में जाने पर क्या क्या होता है-- उसका विचार करना अत्यन्त आवश्यक है। जो संक्षेप में यहां प्रस्तुत करते हैं।

स्नेह शरीर[२३९] — स्नेह यह एक अन्न द्रव्य है। शरीर में प्रतिदिन अन्न में स्नेह जाता है। शरीर निर्माण में स्नेह द्रव्यों का एक महत्त्वपूर्ण भाग हैं। आहार्य स्नेह द्रव्य अनेक प्रकार के होते हैं उनमें शरीरविचार से निम्नलिखित वर्गीकरण किया जाता है।

१. फॅट Fats (स्नेह)— इसमें फैटी एसिड (स्नेहाम्ल) के ईस्टर (Esters) और ग्लिसरोल (Glycerol), के ईस्टर (Esters) का समावेश होता है।

२. लायपॉईडस् (Lypoids)—लायपॉईड में फास्फो लाइपिड (Phaspho lipid), सेरिब्रोसाईड (Cerebrosides), वेक्स (Waxes)— मोम का समावेश होता है।

३. स्टीरोल (Sterol) और

४. हाइड्रो कार्बन (Hydrocarbon) — इनका एक वर्ग है। फास्फो लाईपिड में फास्फोरस और फैटी एसिड इनका संयोग होता है। सेरिब्रो साईड में फैटी एसिड और शर्करा इत्यादि का संयोग होता है। वेक्स में ईस्टर और फैटी एसिड का अलकोहल के

साथ संयोग होता है। स्टीरोल में मुक्त कोलीस्टीरोल इत्यादि होते हैं, फास्फो लाईपिड में शरीर में लिसिथिन (Lecithin-स्नेहघटक), सिफॅलिन (Cephalin—स्नेहघटक) और स्फिंगोमाइलीन (Spningomyline– स्नेहघटक) ये घटक महत्त्वपूर्ण होते हैं।

जब स्नेह द्रव्यों के पाचन का विचार किया जाता है तो इसका अर्थ जो स्थूल स्नेह (Neutral Fat) उनका ही पचन का संबंध है ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि स्नेहों के उपर्युक्त कई प्रकार हैं जो कोष्ठ में से बिना पचन के ही शोषित हो जाते हैं। प्रथम आमाशय में स्नेह का पचन होता है। वहां (आमाशयिक स्नेह पाचक स्त्राव) गैस्ट्रिक लैपेज और हायड्रोक्लोरिक एसिड से पचन होता है। यहां स्नेह का विभाजन होकर फैटी एसिड अलग करने का काम होता है। वहां से आंत्र में आने पर बाईल (Bile--याकृत पित्त) इंटस्टाइनल लैपेज और एजिटेशन (Agitation) का कार्य होकर स्नेहों का सूक्ष्म विलयन योग्य इमलसी फाईड फैट तैयार होती है। इस पर पैनक्रियाटिक लैपेज, एंटिक लाईपेज पाचन कार्य कर स्नेह के अंतिम घटक--फैटीएसिड, ग्लिसरोल और ग्लिसराईड तैयार होते हैं। जिनका आंत्र के व्हिलाई (अन्नवह स्त्रोतस) में से शोषण होता है। इसे आधुनिक ग्रंथ में इस प्रकार स्पष्ट किया हैं—

$$\text{Fat—Gastric lipase + Hel} = \begin{cases} \text{Fats} \\ \text{Fatty Acides} \\ \text{Glycerol} \end{cases}$$

$$\text{Emulsified Fat} \xrightarrow[\text{Einteric lipase}]{\text{Fat—Bile + Agitation Emulsified Fat pancreatic lipse}} = \begin{cases} \text{Fatty acids 50\% ?} \\ \text{Glycerol} \\ \text{Glycerids 50\% ?} \end{cases}$$

कुछ संशोधनकर्ता मानते हैं कि स्नेह में बहुतसी मात्रा पूर्णतः पचन न होकर केवल सूक्ष्म स्नेह कणों में परिणत होकर उनका बिना पचे ही शोषण हो जाता है। स्नेह जल में अघुलनशील होने से उसका शोषण कैसे होता है इसका निश्चित ज्ञान अब तक हुआ नहीं हैं, तथापि माना जाता है कि विलाई (Villi) में सतत संकोच विकास के गति से उनको शोषित किया जाता है। शोषित स्नेह लिंफ (लसीकावह) चैनेल में मिलकर उनके द्वारा रक्त में पहुँच जाते हैं। लिंफ में जो स्नेह रहते हैं उनको काइलो माइक्रीन (Chulomicrons) कहा जाता है। यह अति सूक्ष्म स्नेह है। इसका परिणाह १ माइक्रोन से भी कम होता है। रक्त में पहुंचने पर इनका प्रमाण वहां बढ़ते रहता है। अगर प्रभुत स्नेह लिया जाये तो दो से चार घंटे तक इनका प्रमाण रहता है और ८ से १० घंटे रक्त से निकलकर स्नेहाशयों में या अन्य धातु में चला जाता है।

स्नेह शरीर में यकृत, स्नेहाशयों में (Fat tissue) रहते हैं। इसका मुख्य कार्य है— शरीर में शक्ति उत्पन्न करना, रचनात्मक अवयव उत्पन्न करना और अवसर आने पर शरीर के दूसरे तत्वों में (कार्बोहाइड्रेड) परिणति में भाग भजना।

स्नेहों के शरीर में मेदधातु (Fat cells) में जो स्थिति रहती है वह महत्त्व की है। प्रायः १० से २० दिन में स्नेह द्रव्यों का एक-एक सेल में से संपूर्ण परिवर्तन होता है।

इसका यह अर्थ हुआ की भुक्तान्न का स्नेह शरीर में १० से २० दिन तक कार्य करता है। फिर उसके स्थान में नया स्नेह जाता है। संभवतः इसीलिए सात दिन में स्नेह को खूब बढ़ाकर शोधन करना उचित माना गया है। यह स्नेह शरीर में से स्रवित होकर पुरीष में से निकल जाते हैं। शोषित स्नेहों में से ही पुरीष में स्नेह जाता है और उसका प्रमाण करीब ६ से १२ प्रतिशत होता है। कुत्ते पर प्रयोग कर यह सिद्ध किया गया है कि उसे पांच या अधिक सप्ताह तक उपवास पर रखने के बाद भी उसके मल में पर्याप्त स्नेह निकलते हैं। यह इस बात का समर्थक है कि मल के स्नेह केवल अन्न के स्नेह नहीं होते लेकिन उसमें अधिक स्नेह शरीर के शोषण (Metabolism) के बाद जाते हैं। मल में प्रतिदिन आनेवाले स्नेहों में न्यूट्रल फैट (Neutral Fat) ६० प्रतिशत और ४० प्रतिशत फैटी एसिड होते हैं।

फैट के फास्फो लाईपिड और कोलीस्टीरोल से सेल में ब्रेन (कोषों की दीवारें) बनती हैं। इसी तरह सेल के अंदर जानेवाले अन्य द्रव्यों को स्रवण कराने की क्षमता में भी फास्फोलाईपिड भाग भजते हैं। इसका मस्तिष्क के निर्माण में भी महत्त्व का भाग होता है।

शरीर के प्रधान घटकों में स्नेह का कितना महत्त्व है यह समझने के लिए स्नेहों का भिन्न-भिन्न अवयवों में रहनेवाला प्रमाण नीचे दिया जाता है।

लाईपिड के लिसिथिन, सिफेलिन और स्फिंगोमाईलीन प्रकार कहे गये हैं। उनका शरीर अवयवों में प्रमाण देखिये।

तालिका

अवयव नाम	लेसिथिन	सिफॅलिन	स्फिंगो माईलीन
१. मस्तिष्क	४.८१	२०.४२	५.६६
२. फुप्फुस	३.८५	२.००	१.४५
३. प्लीहा	३.५४	४.१६	०.८६
४. वृक्क	५.१०	३.२६	०.७२
५. यकृत	४.८१	४.६२	०.३८
६. हृदय	४.४७	२.०६	०.३४

उपर्युक्त प्रमाण मिलिग्राम का है और प्रति एक सौ मि. ग्रा. में उतनी मात्रा समझें। इसी तरह कोलिस्टीरोल नामक स्नेहद्रव्य का प्रमाण देखिये :

तालिका

अवयव	प्रमाण
१. एड्रिनल ग्लैंड	४.७४
२. मस्तिष्क	१.६३
३. त्वचा	०.६३
४. वृक्क	०.३३
५. प्लीहा	०.३६
६. यकृत	०.३२

अवयव	प्रमाण
७. केश	०.१७
८. रक्त–	०.१७
१. प्लाझमा (रस)	०.२३
२. कार्पसल्स	०.१२
९. हृदय	०.१४
१०. मांसपेशी	०.०७

उपवास की स्थिति में लाईपिड रक्त के प्लाझमा में जितने प्रमाण में रहते हैं वह देखिये :—

तालिका

स्नेह द्रव्य	प्रमाण
१. टोटल लैपिड	५३० मि. ग्रा. प्रति १०० मि. ग्रा.
२. टोटल फैटी एसिड	३१६ मि. ग्रा. प्रति १०० मि. ग्रा.
३. न्यूट्रल फैट	१४२ मि. ग्रा. प्रति १०० मि. ग्रा.
४. फास्फोलाईपिड	१६५ मि. ग्रा. प्रति १०० मि. ग्रा.
५. टोटल कोलिस्टीरोल	१५२ मि. ग्रा. प्रति १०० मि. ग्रा.

उपर्युक्त स्नेह शारीर से आयुर्वेद में कहे हुए स्नेह के इस कार्मुकता की पुष्टि होती है।

१. स्नेह सभी शरीर में महत्त्वपूर्ण (प्राण धारक) अवयवों में व्याप्त और शरीर का उपचय, बल इनका निर्माण करता है। चरकाचार्य ने स्नेह की इस महत्ता को बराबर समझ लिया था और इसी दृष्टि से स्नेहाध्यायों के अतिरिक्त अन्यत्र भी स्नेहों ने अनेक गुणों की अनेक बार प्रशस्ति उन्होंने की है। आधुनिक शरीर से हृदय, मस्तिष्क, फुप्फुसादि अवयवों में तथा त्वचा इत्यादि में स्नेहों का प्रमाण पर्याप्त है, यह देखा गया है और ये सब अवयव महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं। शरीर के रचनात्मक घटकों में भी स्नेह होता है। सेल की भित्तियां स्नेह से बनती हैं। चरक ने ग्रंथ के प्रारंभ में प्रथम अध्याय में दीर्घजीवितीय नामक में ही स्नेह के गुणों को बताते हुए उसके जीवन, वर्णकर, बलकर, उपचयकर कार्य स्पष्ट किये हैं।[२४०] ये जीवन के आवश्यक घटकों को निर्माण करता है, त्वचा में रहकर वर्ण का प्रकाशन करता है, मांसपेशी, मेद के द्वारा बल उत्पन्न कर शरीर को पुष्ट करता है। चरक ने एतदर्थ प्राणिज स्नेहों का विपुल प्रयोग किया है, मस्तिष्क सुषुम्ना कांड और वातवाहिनियां बनती हैं और मज्जा धातु की पुष्टि के लिए प्राणिज स्नेह उत्तम होते हैं। वातव्याधि चिकित्सा में चरक ने एक प्रयोग बताया हैं, जिसमें कहा है—ग्राम्य-आनूप-औदक (बकरें-गाय-मत्स्य इत्यादि) प्राणियों की हड्डियां (ताजी-स्नेह युक्त) लेकर उनको तोड़कर पानी में डालकर खूब पकावे। जिससे अस्थि मज्जा का स्नेह उनमें प्राप्त होगा–यह स्नेह

दशमूल क्लाथ में मिलाकर पुनः पकावे। फिर जीवक, ऋषभक, विंदारी, कपिकच्छ, वातघ्न गण और जीवनीगण के कल्क और दुगुना दूध डालकर स्नेह सिद्ध करें। यह स्नेह नस्य, अभ्यंग, पान, अनुवासन में प्रयोग करें। यह सिरा–पर्व अस्थि के वात को नष्ट करता है और जिनकी मज्जा क्षीण हुई है, शुक्र, ओजोक्षय हुआ है उनके लिए यह अत्यंत बलप्रद होता है।[२४१] इस तरह नक्र (मगर मच्छ), मछली, कछुआ, उल्लू इनके वसा को (चरबी को) सिद्ध कर प्रयोग करने का निर्देश है।[२४२] इसी तरह स्नेहों की अग्नि बढ़ाने के लिए अनेक बार प्रशस्ति की गई है। स्नेहों से तुर्त अग्निमांद्य होता है यह स्नेह व्यापद से आयुर्वेद में भी स्पष्ट है। तथापि जैसे सारवाली अच्छी लकड़ियां धीमे-धीमे जलकर अग्नि की चिरकाल तक प्रदीप्त रखती हैं वैसी ही स्नेह धीरे-धीरे अग्नि को चिरकाल तक प्रदीप्त रखता है ऐसा कहा गया है।[२४३]

२. स्नेह द्रव्य सभी धातुओं में अपने-अपने कार्य करते हुए अंत में पुरीष में से निकल जाते हैं। यदि अधिक स्नेहों का सेवन करें तो रक्त में कुछ काल तक स्नेहांश बढ़ते हैं। १० दिन के भीतर स्नेहाशयों में नया स्नेह जाता है। अर्थात् अधिक स्नेह देने पर यह नया स्नेह पुराने स्नेहों को निकाल देगा जो पुरीष से बाहर निकलता है। स्नेह जब वहां से स्रवित होता है तो उसके साथ दूसरे अनेक शरीर को आबाधकर द्रव्य भी निकल जाते हैं।

अधिक स्नेह लेने पर फैटीलीवर इत्यादि कुछ विकृतियां भी उत्पन्न होती हैं। आयुर्वेद में अधिक स्नेहन करनेपर, प्रमेह, कंडू, पिड़का, कोष्ठ, पांडु, ज्वर, कुष्ठ, आमप्रदोय, मूत्रकृच्छ्र, अरुचि, तंद्रा, क्लैव्य, अति स्थौल्य, आलस्य, गुरुगात्रत, इंद्रिय और स्त्रोतों के मुखों का उपलेप, बुद्धिकार्यों की मंदता, शोथ ये रोग उत्पन्न होते हैं। ऐसा कहा गया है।[२४४]

संक्षेप में स्नेह यह अमृतोपम चिकित्सा है किन्तु इसका प्रयोग अत्यंत सावधानी से और वैज्ञानिक उहापोह के साथ करना चाहिये।

चरक, सुश्रुत—वाग्भट में भिन्न-भिन्न स्नेहों का भिन्न-भिन्न अवस्था में उपयोग किया गया है। सूत्रों के संदर्भों के लिए चरक के कतिपय स्नेह प्रयोग तालिका में दिये जाते हैं। उनका यथायोग्य उपयोग करें।

चरकोक्त कतिपय स्नेह प्रयोग— 'चरकस्तु चिकित्सते' इस उक्ति के अनुसार चरक का चिकित्साक्रम श्रेष्ठ है। अतः चरक से स्नेह प्रयोगों को संदर्भ और अवस्था के अनुसार यहां उद्धृत किया जाता है। वैसे तो वाग्भट और सुश्रुत के भी स्नेह प्रयोग अध्ययनीय है किन्तु उनमें अनेक प्रयोग तीनों में सामान्य हैं और ग्रंथविस्तार भय से एक प्रायोगिक निर्देशिका के तौर पर ही तालिकाबद्ध विवरण दिया जाता है, जिज्ञासुओं को चाहिये कि मूल ग्रंथ देखकर यथायोग्य उनका प्रयोग करें।

चरकोक्त कतिपय आभ्यंतर स्नेह प्रयोग-तालिका

क्र.	स्नेहनाम	अधिकार	संदर्भ
१.	घृतपान	ज्वर	चि. ३-१६४
२.	पिप्पल्यादि घृत	ज्वर (जीर्ण)	चि. ३-२१६

क्र.	स्नेहनाम	अधिकार	संदर्भ
३.	वासाघृत	ज्वर	चि. ३-२२२, २२३
४.	द्राक्षाघृत	ज्वर	चि. ३-२५६
५.	त्रायमाणादि घृत	रक्तपित्त	चि. ४-६०
६.	वासाघृत	रक्तपित्त	चि.४-८८
७.	शतावर्यादि घृत	रक्तपित्त	चि. ४-६६
८.	घृतपान	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चि. ५-६०
९.	त्र्यूषणादि घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चि. ५-६५, ६६
१०.	हिंगुसौवर्चलादि घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चि. ५-७०
११.	हपुषादि घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चि. ५-७१ से ७३
१२.	पिप्पल्यादि घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चि. ५-७४
१३.	तैल पंचक	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चि. ५-६६
१४.	नीलिन्यादि घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चि. ५-११४ से ११७
१५.	त्रायमाणादि घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चि. ५-११८ से १२१
१६.	आमलक्यादि घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चि. ५-१२२
१७.	द्राक्षाद्य घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चि. १२३ से १२५
१८.	वासा घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चि. ५-१२६, १२७
१९.	दशमूली घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चि. ५-१४२
२०.	भल्लातकादि घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चि. ५-१४३ से १४६
२१.	क्षीरषट्पलक घृत	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चि. ५-१४७, १४८
२२.	मिश्रक स्नेह (घृत + एरंड तैल + त्रिवृतादि)	गुल्म-सामान्य चिकित्सा	चि. ५-१४९, १५१
२३.	घृतपान	प्रमेह	चि. ६-३७ से ४०
२४.	तैलपान	प्रमेह	चि. ६-४०
२५.	श्वेतकरवीर तैल	कुष्ठ	चि. ७-१०६, १०७
२६.	तिक्त इक्ष्वाकु तैल	कुष्ठ	चि. ७-१०८, ११०
२७.	तिक्त षट्पल घृत	कुष्ठ	चि. ७-१४० से १४३
२८.	महातिक्त घृत	कुष्ठ	चि. ७-१४४ से १५०
२९.	महा खदिर घृत	कुष्ठ	चि. ७-१५२ से १५६
३०.	चतुःस्नेहपान	राजयक्ष्मा-में शिरः शूल, पार्श्वशूल में	चि. ८-७६
३१.	कल्याणक घृत	उन्माद	चि. ९-३३ से ४९
३२.	महाकल्याण घृत	उन्माद	चि. ९-४२ से ४४
३३.	महापैशाचिक घृत	उन्माद	चि. ९-४५ से ४८
३४.	पंचगव्य घृत	अपस्मार	चि. १०-१६, ९७
३५.	यमक स्नेह-तैल + घृत + जीवनीय गण	अपस्मार	चि. १०-८
३६.	अमृतपाश घृत	क्षतक्षीण	चि. ११-४१ से ४३
३७.	श्वदंष्ट्रादि घृत	क्षतक्षीण	चि. ११-४४ से ४७

क्र.	स्नेहनाम	अधिकार	संदर्भ
३८.	सर्पिर्गुडा १, २, ३, ४	क्षतक्षीण	चि. ११-४६ से ६६
३९.	सर्पिर्मोदक	क्षतक्षीण	चि. ११-७० से ७७
४०.	चित्रक घृत	श्वयथु	चि. १२-५८ से ५९
४१.	स्नेहपान-सामान्य निर्देश	उदर	चि. १३-५९
४२.	रोहितक घृत	उदर	चि. १३-६०
४३.	दशमूल षट्पल घृत	उदर	चि. १३-११३, ११४
४४.	नागरादि यमक (घृत + तैल)	उदर	चि. १३-११५
४५.	यवाद्य घृत	उदर	चि. १३-११६
४६.	स्नुही क्षीर घृत	उदर	चि. १३-११८ से १४०
४७.	पिप्पल्यादि यमक	अर्श	चि. १४-८६, ९०
४८.	चव्यादि घृत	अर्श	चि. १४-१०३ से १०६
४९.	पिप्पल्यादि घृत	अर्श	चि. १४-११३ से ११८
५०.	हिबेरादि घृत	अर्श	चि. १४-२३० से २३३
५१.	दशमूलाद्य घृत	ग्रहणी	चि. १५-८२ से ८६
५२.	त्र्यूषणाद्य घृत	ग्रहणी	चि. १५-८७
५३.	पंचमूलादि घृत	ग्रहणी	चि. १५-८८ से ९३
५४.	पंचमूलादि तैल	ग्रहणी	चि. १५-९२, ९३
५५.	क्षार घृत	ग्रहणी	चि. १५-२४२ से २४५
५६.	दाडिम घृत	पांडु	चि. १६-४४ से ४६
५७.	कटुकादि घृत	पांडु	चि. १६-४४ से ४६
५८.	पथ्या घृत	पांडु	चि. १६-५०
५९.	दंती घृत	पांडु	चि. १६-५१
६०.	हरिद्रा घृत	पांडु	चि. १६-५३
६१.	पिप्पली घृत	हिक्का श्वास	चि. १७-११२
६२.	दशमूलादि घृत	हिक्का श्वास	चि. १७-१३५ से १४०
६३.	तेजोवत्यादि घृत	हिक्का श्वास	चि. १७-१४१ से १४४
६४.	मनः शिलादि घृत	हिक्का श्वास	चि. १७-१४५ से १४६
६५.	कंटकारि घृत	कास	चि. १८-३५
६६.	पिप्पल्यादि घृत	कास	चि. १८-३६ से ३८
६७.	त्र्यूषणादि घृत	कास	चि. १८-३९ से ४२
६८.	रास्ना घृत	कास	चि. १८-४३ से ४६
६९.	दशमूलादि घृत	कास	चि. १८-१२३ से १२४
७०.	कंटकारि घृत	कास	चि. १२६ से १२८
७१.	कुलत्थादि घृत	कास	चि. १८-१२९
७२.	द्विपंचमूलादि घृत	कास	चि. १८-१५८ से १६०
७३.	गुडूच्यादि घृत	कास	चि. १८-१६१, १६२
७४.	चांगेरी घृत	अतिसार	चि. १९-४६, ४७

I.M.T. & R.C.S. LIBRARY ....111... Ayurvedic Medical College, Kharghar

क्र.	स्नेहनाम	अधिकार	संदर्भ
७५.	चव्यादि घृत	गुदभ्रंश में	चि. १९-४८
७६.	सौवीरक तैल	त्रिमर्मीय चिकित्सा-आनाह गुलमादि में	चि. २६-११
७७.	पुनर्नवासिद्ध तैल	त्रिमर्मीय	चि. २६-८२
७८.	सर्पिःपान	पित्त हृद्रोग	चि. २६-९०
७९.	द्राक्षादि घृत	त्रिमर्मीय	चि. २६-९४
८०.	स्थिरादि घृत	त्रिमर्मीय	चि. २६-९५
८१.	मायूर घृत	शिरोरोग	चि. २६-१८३, १८५
८२.	महामायूर घृत	शिरोरोग	चि. २६-१७४
८३.	सैंधवादि तैल	उरुस्तंभ	चि. २७-३९, ४०
८४.	अष्टकट्वर तैल	उरुस्तंभ	चि. २७-४७
८५.	महास्नेह पान	वातव्याधि	चि.२८-७६
८६.	दशमूलादि घृत	वातव्याधि	चि. २८-११८ से १२१
८७.	चित्रकादि घृत	वातव्याधि	चि. २८-१२२
८८.	बलादि घृत मंड	वातव्याधि	चि. २८-१२३
८९.	अस्थिस्नेह प्रयोग	वातव्याधि	चि. २८-१२४ से १२७
९०.	वसा प्रयोग	वातव्याधि	चि. २८-१२८
९१.	निर्गुण्डी तैल	वातव्याधि	चि. २८-१३४, १३५
९२.	मूलकादि तैल	वातव्याधि	चि. २८-१३६, १३७
९३.	पंचमूलादि तैल	वातव्याधि	चि. २८-१३९
९४.	सहचरादि तैल	वातव्याधि	चि. २८-१४२ से १४५
९५.	श्वदंष्ट्रादि तैल	वातव्याधि	चि. २८-१४७
९६.	बला तैल	वातव्याधि	चि. २८-१४८ से १५६
९७.	रास्नादि तैल	वातव्याधि	चि. २८-१९७
९८.	महास्नेह	अस्थिमज्जा-गत वात	चि. २८-१९७
९९.	पारुषक घृत	वातरक्त	चि. २९-५८ से ६०
१००.	जीवनीय घृत	वातरक्त	चि. २९-६१ से ७०
१०१.	जीवकादि महास्नेह	वातरक्त	चि. २९-७१ से ७५
१०२.	मधुयेष्टयदि स्नेह	वातरक्त	चि. २९-९१ से ९५
१०३.	सुकुमार तैल	वातरक्त	चि. २९-९६ से १०२
१०४.	अमृतादि तैल	वातरक्त	चि. २९-१०३ से १०९
१०५.	शतपाकी मधुपर्णी तैल	वातरक्त	चि. २९-११५ से ११८
१०६.	शतपाकी बला तैल	वातरक्त	चि. २९-११९ से १२१
१०७.	सहस्त्रपाकी बला तैल	वातरक्त	चि. २९-११९ से १२१
१०८.	बलाद्य यमक	योनि व्यापद्	चि. ३०-४९ से ५१
१०९.	काश्मर्यादि घृत	योनि व्यापद्	चि. ३०-५२ से ५४

क्र.	स्नेहनाम	अधिकार	संदर्भ
११०.	बृहत् शतावरी घृत	योनि व्यापद्	चि. ३०-६४ से ६८
		बाह्य स्नेहन प्रयोग	
१.	सहस्रधौत घृताभ्यंग	ज्वर	चि. ३-२५८
२.	चंदन तैल अभ्यंग	ज्वर	चि. ३-२५९
३.	अगुर्वादि तैल अभ्यंग	ज्वर	चि. ३-२६७
४.	क्षीर परिषेक	ज्वर	चि. ३-२५९
५.	दधि-परिषेक	ज्वर	चि. ३-२५९
६.	घृत-परिषेक	ज्वर	चि. ३-२५९
७.	अभ्यंग सामान्य चिकित्सा	रक्तपित्त	चि. ४-९१
८.	घृत प्रदेह	रक्तपित्त	चि. ४-१०५
९.	तैल प्रदेह	रक्तपित्त	चि. ४-१०५
१०.	परिषेक	रक्तपित्त	चि. ४-१०५
११.	घृताभ्यंग	गुल्मे-दाहे	चि. ५-१३१
१२.	चंदन तैल अभ्यंग	गुल्मे-दाहे	चि. ५-१३१
१३.	यष्टीमधु तैल अभ्यंग	गुल्मे-दाहे	चि. ५-१३१
१४.	अभ्यंग	राजयक्ष्मा	चि. ८-९५
१५.	घृत आलेपन	शिरःशूल	चि. ८-७७
१६.	कनकक्षीरी तैल अभ्यंग	कुष्ठ	चि. ७-१११ से ११६
१७.	विपादिकाहरघृत तैल अभ्यंग	कुष्ठ	चि. ७-१४० से १४१
१८.	सर्षप तैलाभ्यंग	अपस्मार	चि. १०-१६, १७, ३२, ३३
१९.	पलंकषादि तैल अभ्यंग	अपस्मार	चि. १०-३४ से ३६
२०.	पलंकषादि लेपन	अपस्मार	चि. १०-३४ से ५६
२१.	शैलेयादि तैल अभ्यंग	श्वयथु	चि. १२-६४ से ६७
२२.	शैलेयादि प्रदेह	श्वयथु	चि. २-६४ से ६७
२३.	शैलेयादि परिषेक	श्वयथु	चि. २-६४ से ६७
२४.	लवणतैल अभ्यंग	हिक्का श्वास	चि. १७-७१
२५.	स्नेह-सेंक	हिक्का श्वास	चि. १७-८३
२६.	स्नेहाभ्यंग	कास	चि. १८-३३
२७.	स्नेहाभ्यंग परिषेक	कास	चि. १८-३३
२८.	सघृत-प्रदेह सघृत-प्रलेप	विसर्प	चि. १२-७२, ७४, ७७, ७८, ८०, ८१, ८४, ८५, ९२, ९३
२९.	घृत-परिषेक	विसर्प	चि. २१-९४, ९५
३०.	दशमूलसिद्ध तैल परिषेक	विसर्प	चि. २१-१२२
३१.	अभ्यंग सामान्य चि.-त्रिमर्मीय	(मूत्रकृच्छ्र)	चि. २६-४५
३२.	प्रदेह	(मूत्रकृच्छ्र)	चि. २६-४६

क्र.	स्नेहनाम	अधिकार	संदर्भ
३३.	परिषेक	(मूत्रकृच्छ्र)	चि. २६-४९
३४.	घृत परिषेक	शिरःशूल	चि. २६-९७६
३५.	दुग्ध	शिरःशूल	चि. २६-९७६
३६.	प्रदेह	शिरःशूल	चि. २६-९७६
३७.	क्षारतैल कर्णपूरण	त्रिमर्मीय	चि. २८-२२१ से २२६
३८.	क्षारतैल नासापूरण	त्रिमर्मीय	चि. २८-२२१ से २२६
३९.	महानील तैल शिरपर अभ्यंग	त्रिमर्मीय (पालित)	चि. २६-२७१ से २७५
४०.	अभ्यंग-सामान्य चिकित्सा	वातव्याधि	चि. २८-७२ से ८२
४१.	मूर्ध तैल	वातव्याधि अर्दित	चि. २८-६९
४२.	त्रिफला महास्नेह अभ्यंग	वातव्याधि	चि. २८-१२९ से १३३
४३.	निर्गुण्डी तैल अभ्यंग	वातव्याधि	चि. २८-१३४, १३५
४४.	सहचरादि तैल अभ्यंग	वातव्याधि	चि. २८-१४२, १४५
४५.	श्वदंष्ट्रादि तैल अभ्यंग	वातव्याधि	चि. २८-१४७
४६.	बला तैल अभ्यंग	वातव्याधि	चि. २८-१४८ से १५६
४७.	अमृतादि तैल अभ्यंग	वातव्याधि	चि. २८-१५७ से १६४
४८.	रास्नादि तैल अभ्यंग	वातव्याधि	चि. २८-१६५
४९.	रास्नादिमूलक तैल अभ्यंग	वातव्याधि	चि. २८-१७३, १७६
५०.	मधुयष्टी तैल अभ्यंग	वातव्याधि	चि. २८-१८७
५१.	मधुयष्टी तैल परिषेक	वातव्याधि	चि. २८-१८७
५२.	बला तैल-घृत परिषेक	वातव्याधि	चि. २८-१८७
५३.	अभ्यंग परिषेक	वातरक्त	चि. २९-४२ से ४५
५४.	लेप सा. चि.	वातरक्त	चि. २९-१२३
५५.	पिंड तैल अभ्यंग	वातरक्त	चि. २९-१२३
५६.	कोष्ण सर्पिः परिषेक	वातरक्त	चि. २९-१२४
५७.	महास्नेह परिषेक	वातरक्त	चि. २९-१२५
५८.	क्षीरतैल मिश्र परिषेक	वातरक्त	चि. २९-१२६
५९.	लवण तैल अभ्यंग	योनिव्यापद्	चि. ३०-४८
६०.	उदुंबरादि तैल पिचु	योनिव्यापद्	चि. ३०-७७
६१.	धातक्यादि तैल योनिधावन	योनिव्यापद्	चि. ३०-७८ से ८३
६२.	स्नेह पिचु	योनिव्यापद्	चि. ३०-१०८

संदर्भ

१. '**वाचस्पत्यम्**' लेखक तारानाथ भट्टाचार्य पृष्ठ भाग, पृष्ठ ५३-६५ देखें।

२. अत्रापि वमनादि प्रवृत्तौ स्नेहस्यैव प्रथमं विधीयमानतया दोष प्रधानस्य वातस्य प्रधान भेषजत्वाच्य तत्प्रतिपादक एव स्नेहाऽध्यायोऽमिधीयते।। च. सू. १३-२ पर च. प.

३. स्नेहमग्रे प्रयुंजीत ततः स्वेदमनंतरम्।
स्नेह स्वेदोपपन्नस्य संशोधनमथेतरत।। च. सू. १३-६६
स्नेह स्वेदावनभ्यस्य कुर्यात्संशोधनं तु यः।
दारु शुष्कमिवाऽऽनामे शरीरं तस्य दीर्यते।। अ. हृ. सू. १८-५६
दारु शुष्कंमिवास्विन्नं नाम्यमानं यथा भवेत्।
तथा विरेचनं हन्यात् स्नेह स्वेदानुपस्कृते।। भेल सू. १४-३

४. द्रवं सूक्ष्मं सरं स्निग्धं पिच्छिलं गुरु शीतलं।
प्रायो मंदं मृदु च यत् द्रव्यं स्नेहनमुच्यते।। च. सु. २२-१५
गुरु शीत सर स्निग्धं मंद सूक्ष्म मृदु द्रवं। औषधं स्नेहनं प्रायो...।। अ. हृ. सु. १६-१

५. स्निग्ध रुक्षौ जक्षुषा। सु. सू. ४१-११

६. स्नेहोऽपां गुण विशेषः । प्र. प्रा. भा.

७. पृथिव्यम्बु गुण भूयिष्ठः स्नेहः। सु. सू. ४१-११

८. यस्य क्लेदने शक्तिः स स्निग्धः। हेमाद्रि

९. स्नेहमार्दवकृत स्निग्धो बलवर्णकरस्तथा।। सु. सू. ४६-५१६

१०. १. सादोपलेप बलकृत् गुरुस्तर्पण बृंहण। सु. सू. ४६-५१९
२. सादोंऽग ग्लानिः उपलेपो मलवृद्धिः, बलं श्लेष्मा, तर्पणः तृप्तिजनकः। बृंहणो देह वृद्धिकरः। डल्हण
३. यस्य द्रव्यस्य बृंहणे शक्तिः स गुरु। हे.।।
४. गौरवम् पार्थिवं आप्यं च। र. वै. अ. ३ स. ११६
५. तत्र द्रव्यं गुरु ... पार्थिवं ।। अ. सं., अ. हृ. सू. ६-१०
६. तत्र स्थूल गुरु मधुरमिति पार्थिवं। सु. सू. ४१-४
७. गुरुर्वातहरं पुष्टि श्लेष्म कृच्चिरपाकि च। भा. प्र.

११. १. ह्लादनः स्तंभनः शीतः मूर्च्छा तृट् स्वैददाहजित। सु. सू. ४६-५१५
२. दाहनाशकत्वं शीतत्वं।। आ. द.
३. स्तंभने हिमः ।। हे.।।
४. तेषां मृदु शीतोष्णाः स्पर्शग्राह्या।। सु. सू. ४१-११
५. द्रव शीत रस बहुलानि आप्यानि वायव्यानि। च. सू. २६-११
लघु शीत स्पर्श गुण बहुलानि वायव्यानि। च. सू. २६-११

१२. १. शिथिलावयत्वं मृदुत्वं ।।अ. द.।।
२. यस्य द्रवस्य श्लयने शक्तिः स मृदुः ।।हे.।।
३. .. मृदुरन्यथा (तौक्ष्णादन्यथा)। सु. सू. ४६-५१८
४. तेषां मृदु शीतोष्णाः स्पर्शग्राह्या।
५. .. मृदु बहुलानि आप्यानि .. मृदु बहुलानि आकाशात्मकानि। च. सू. २६-११

१३. १. द्रवः प्रक्लेदनः प्रोक्तः। सु. सू. ४६-५२०।।
२. द्रवत्वं स्यंदनं कर्म कारणं ।।प्र. भा. भा.।।

३. स्यंदनकारकत्वं द्रवत्वं ।।अ. द.।।
४. द्रवः क्लेदकरो व्यापि ।।भा. प्र.।।
५. यस्य विलोडने शक्तिः स द्रवः ।। हे. ।।
६. द्रवगुण बहुलानि आप्यानि ।। च. सू. २६-११ ।।

१४. १. पिच्छिलो जीवनो बल्यः संघातः श्लेष्मलोगुरुः ।। सु. सू. ४६-५१७
२. पिच्छिलः विशदो चक्षुः स्पर्शाभ्यां ।। सु. सू. ४१-११
३. सांद्र चिक्कणत्वं पिच्छिलत्वं। चकचकायमानं बा। आ. द.
४. यस्य लेपने शक्तिः स पिच्छिलः। हे.
५. पिच्छिलं आप्यम्।। र. वै.सू. ३-११-१२
६. द्रवं पिच्छिलं ... प्रायः आप्यम्।। सु. सू. ४१-४
७. द्रवं पिच्छिल रस गुणबहुलानि आप्यानि ।। च. सू. २६-११

१५. १. सरोऽनुलोमनः प्रोक्तः ।। सु. सू. ४६-५२२
२. अनुलोमणो वातमल प्रवृत्तिः ।। डल्हण ।।
३. सरस्तेषां (वातमलानां) प्रवर्तकः ।। भा. प्र. ।।
४. यस्य प्रेरणे शक्तिः स सर; ।। हे. ।।
५. शीत सर ... आप्यम् ।। सु. सू. ४१-३ ।।

१६. १. मंदो यात्राकरः स्मृतः ।। सु. सू. ४६-५२२।।
२. चिरकारित्वं मंदत्वम् ।। आ. द. ।।
३. यस्य शमने शक्तिः स मंदः ।। हे. ।।
४. तत्रद्रव्याणि द्रव मंद ... गुण बहुलानि आप्यानि ।। च. सू. २६-११

१७. १. सूक्ष्मस्तु सौक्ष्म्यात् स्रोतः स अनुचरः स्मृतः ।। सु. सू. ४६-५२४
२. देहस्य सूक्ष्म छिद्रेषु विशेद्यत् सूक्ष्ममुच्यते।। भा. प्र.
३. यस्य विवरणे शक्तिः स सूक्ष्मः। हे. ।
४. उष्ण सूक्ष्म ... ।। तैजसं ।। सु. सू. ४१-४
५. उष्ण सूक्ष्म बहुलानि आग्नेयानि। ... लघु सूक्ष्म बहुलानि ... वायव्यानि।
च. सू. २६-११
६. लघु सूक्ष्म बहुलानि वायव्यानि ... मृदु सूक्ष्म बहुलानि आकाशात्मकनि।
च. सू. २६-११

१८. १. स्नेहानां द्विविधा चासौ योनिः स्थावर जंगमा।। च. सू. १३-६
२. तत्र द्वियोनिः चतुर्विकल्पोऽभिहतः स्नेहः स्नेह गुणाश्च। तत्र
जंगमेभ्यो गव्यं घृतं प्रधानं, स्थावरेभ्यो तिल तैलं प्रधानमिति।। सु. चि. ३३-३
३. डल्हण–द्वियोनिः द्वि प्रकारकः।

१९. तिल प्रियालाभिषुकौ बिभीतकश्चित्राभयैरंड मधूक सर्षपाः।
कुसुंम बिल्वारुक मूलकातसी निकोठकाक्षोड करंज शिग्रुकाः।
स्नेहाशया स्थावर संज्ञिता स्युः ... ।। च. सू. १३-१०, ११

२०. एते चाविष्कृत तमेन उक्ताः । तेन निंब तैजादयोपि बोद्धव्याः ।। च.पा.

२१. तत्व बिल्वकैरंड कोशाम्र दंती द्रवंती सप्तला शंखिनी, पलाश, विषाणिका, गवाक्षी, कंपिल्ल, शंपाक नीलिनी स्नेहाः विरेचयति।

२२. जीमूत कुटज कृतवेधनेक्ष्वाकु धामार्गव मदन स्नेहाः वामयंति।

२३. विडंग खरमंजरी, मधुशिग्रु, सूर्यवल्ली, पीलु, सिद्धार्तक, ज्योतिष्मती स्नेहाः शिरोविरेचयंति।

२४. करंज-पूतिक-कृतमाल मातुलुंग इंगुदी किरात स्नेहाः दुष्ट व्रणेषु उपयुज्यते।। सु. चि. ३१-५

२५. तुवरक कपित्थ कंपिल्लक भल्लातक पटोल स्नेहाः महाव्याधिषु।

२६. त्रिपुषैर्दारुककर्कारु तुंबी कूष्मांड स्नेहाः मूत्रसंगेषु।

२७. कपोतवंका, अवल्गुज हरीतकी स्नेहाः शर्कराश्मरीषु।

२८. कुसुंभ सर्षपातसौ पिचुमर्दाति मुक्तक भांड कट्टुतुंबी कटभी स्नेहा प्रमेहेषु।

२९. ताल, नारिकेल पनस मोच प्रियाल बिल्व मधुक श्लेष्मांतका भ्रातक फल स्नेहा पित्तसंसृष्टे वायौ।

३०. विभीतक भल्लातक पिंडीतक स्नेहाः कृष्णीकरणे।

३१. श्रवण कंगु कंटुक स्नेहाः पांडुकरणे।

३२. सरल पीत दारु शिशपागुरुसार स्नेहाः बद्धकुष्ठ किटिभेषु। सु. चि. ३१-५

३३. स्युजंगमा मस्यमृगाः स पक्षिणः ।
तेषां दधिक्षीर घृतामि षं वसा।
स्नेहेषु मज्जा च तथोपदिश्यते ।। च. सू. १३-११

३४. ह्यस्तने जीर्ण एवान्ने स्नेहोच्छः शुद्धये बहुः।
शुद्धयर्थ पुनराहारनैशे जीर्णे पिवेन्नरः। अ. ह. सू. १६-१६ च. सू. १३-६१

३५. शमनः शुद्धतोनन्नो मध्यमान्नश्च शस्यते ।। अ. ह. सू. १६-१६
पिबेत्संशमनं स्नेहं अन्नकाले प्रकांक्षितः ।। च. सू. १३-६१

३६. बृंहणो रस मद्याद्यैः स भक्तोऽस्पो हितः स च ।। अ. ह. सू. १६-२०

३७. स तु त्रिविधः मृदुर्मध्यः खर इति ।। सु; चि. ३१-११

३८. उपयोजनं उपयोगः बाह्याभ्यांतरश्च।
तत्र बाह्यो अभ्यंगादि आभ्यंतरो पानादि। सु. चि. ३१-२ में डल्हण

३९. स्नेहो हि पानानुवालन मस्तिष्क शिरोबस्त्युत्तर बस्ति नस्य कर्ण पूरण गात्राभ्यंग भोजनेषूपयोज्यः ।। सू. चि. ३१-२
युक्त्यावचारयेत्स्नेहं भक्षाद्यन्नेन बस्तिभिः।
नस्याभ्यंजन गंडूष मूर्धकर्णाक्षि तर्पणैः। अ. ह. १६-१४

४०. द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिर्यमकः त्रिवृतो महान्।। अ. ह. सू. १६-२

४१. सर्पिस्तैल वसा मज्जा सर्वस्नेहोत्तमाः मताः।
तत्रापि चोत्तमं सर्पिः संस्कारस्यानुवर्तनात्। अ. ह. सू. १६-११

४२. संस्कारो गुणान्तरारोपणम्। तस्यानुवर्तनं अनुविधानं स्वीकरणं ग्रावत्। एतदुक्तं भवति। यत्-न तथा तैलादयो द्रव्यांतर संस्कृताः संस्कार गुणान्वहंति यथा सर्पिरिति। 'अतएवोक्तं नान्यः स्नेहस्तथा कश्चित् संस्कारस्यानुवर्तते। यथा सर्पिरतः सर्पिः सर्वस्नेहोत्तमं मतं।' अतएव संस्कार द्रव्य चित्रकादिगुणानुविधानेऽपि सर्पिः न स्वगुणान् स्नेह शैत्यादीन् जहति। किंच स्वगुणान् तद् गुणाश्च वहति। अनुशब्देन पश्चाद् वाचिना स्वगुण वर्तनस्य पश्चात् संस्कारक गुणवर्तनमुच्यते।। चक्रपाणि। च. सु. १३-१३ पर

४३. सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहोदिष्टश्चतुर्विधः। पानाभ्यंजन बस्त्यर्थ नस्यार्थ चैव योगतः।।
स्नेहना जीवना वर्ण्या बलोपचय वर्धनाः। स्नेहाः येते च विहिताः वातपित्त कफापहाः।।
च. सु. १-८७, ८८

४४. सर्पिमज्जा वसा तैलं स्नेहे, षु प्रवरं मतं .... ।
पित्तघ्नास्ते यथा पूर्वमितघ्नास्ते यथोत्तरम्। अ. ह. सू. १६-२, ३

४५. अ. व. टीका, उपयुक्त पर।

४६. घृत्तातैलं गरु वसा तैलात्मज्जा ततोऽपि च ।। अ. ह. सू. १६-३

४७. घृत पित्तानिलहरं रसशुक्रौजसां हितं। निर्वापर्ण मृदुकरं स्वरवर्ण प्रसादनं।।
मारुतघ्नं न च श्लेष्मवर्धनं बलवर्धम्। च. सू. १३-१४, १५

४८. तत्र धो स्मृति मेधा कांक्षीणां शस्यते घृतं ।। अ. ह. सि. १६-८
सर्पिः शरदि पातध्यम। च. सू. १३-१८

४९. वातपित्त प्रकृतयो वातपित्त विकारिणः। चक्षुकामाः क्षतक्षीणा वृद्धा बाला स्तयाबलाः।
आयः प्रकर्षकामाश्च बलवर्णस्मरार्थिनः। पुष्टिकामा प्रजा कामा सौकुमार्यार्थिनश्च ये।
दीप्त्यौजः स्मृतिमेधाग्नि बुद्धीन्द्रिय बलार्थिनः। पिबेयु सर्पिरार्ताश्च दाह शस्त्रविषादिभिः।
च. सू. १३-४१, ४३
रुक्ष गीत विषार्तानां वातपित्त विकारिणां।
हीनमेधास्मृतीनां च सर्पिष्पानं प्रशस्यते।। सु. चि. ३१-१५

५०. सर्वेभ्यस्तिवह तैलेभ्यस्तिलतैलं प्रशस्यते।
निष्पत्तेः तद् गुणात्वाच्च तैलत्वमितरेषु च ।। सु. सू. ४५-१३०

५१. तैलं प्रावृषि ।। च. सु. १३-१८

५२. १. तैलंतु आग्नेयं उष्णं तीक्ष्णं मधुरं मधुरविपाकं बृंहणं प्रीणनं व्यवायि सूक्ष्मं विशदं गुरु सरं विकासी वृष्यं त्वक्प्रसादनं मेधा मार्दवं मांस स्थैर्य वर्ण बलकरं चक्षुष्यं ...,
सु. सू. ४५-११२
२. कषायनुरसं स्वादु...सर्वरोगापहं मतं ।। च. सू. २७-२८८, २९०

५३. तद्वद् बास्तिषुपानेषु नस्ये कर्णाक्षि पूरणे।
अन्नपानविधौचादि प्रयोज्यं वातशांतये ।। सु. सू. ४५-११३

५४. १. प्रवृद्ध श्लेष्म मेदस्कः चल स्थूल गलोदराः। वातव्याधिभिराविष्टा वातप्रकृतयश्च ये। बलं तनुत्वं लघुतां दृढ़तां स्थिरगात्रताम्। स्निग्ध श्लक्ष्ण तनुत्ववक्तां ये च कांक्षंति देहिनः। कृमिकोष्ठाः क्रूरकोष्ठाश्च तथा नाडीभिरर्दिता। पिवेयुः शीतले काले तैलोचिताश्च ये।। च. सू. १३-४४, ४५, ४६

२. ग्रंथि नाडि कृमि श्लेष्म मेदो मारुतरोगिषु। तैलं लाघव दार्ढ्यार्थं क्रूर कोष्ठीषु देहिनाम्। अ. ह. सू. १६-६

५५. ग्राम्यानूपौदकानांच वसा मेदोमज्जान; गुरुष्ण मधुरा वातघ्ना, जांगलैकशकक्रव्यादादीनां लघु शीत कषाया रक्तपित्तघ्ना, प्रतुद विष्कीराणां श्लेष्मघ्नाः।। सु. सू. ४५-१३१

५६. वातातपसहा ये च रुक्षा भाराध्व कर्षिता। संशुष्क रेतोरुधिराः निष्पीत कफमेदसः । अस्थि संधिसिरा स्नायु मर्मकोष्ठ महारुजः। बलवान् मारुतो ह्येषां खानिचावृत्य तिष्ठति। महच्चाग्नि बलं ह्येषा वसासात्म्याश्च ये नराः। तेषां स्नेहयितव्यानां वसापानं विधीयते।। च. सू. १३-४७ से ४९

५७. बलशुक्र रसश्लेष्म मेदो मज्जा विवर्धनः।
मज्जा विशेषतोऽस्थ्नां च बलकृत् स्नेहन हितः ।। च. सू. १३-१७

५८. दीप्ताग्नयः क्लेशसहा घस्मरा स्नेह सेविनः।
वातार्ताः क्रूरकोष्ठाश्च स्नेह्या मज्जानमाप्नुयुः ।। च. सू. १३-५०

५९. सर्पिः शरदि पातव्यं वसा मज्जा च माधवे।
तैलं प्रावृषि नात्युष्ण शीते स्नेहं पिबेन्नरः । च. सू. १३-१८
वातपित्ताधिको रात्रौ उष्णे चापि पिबेन्नरः।
श्लेष्माधिको दिवा शीते, पिबेच्चामल भास्करे।। च. सू. १३-१९
अत्युष्णे वा दिवा पीते वातपित्ताधिकेन वा। मूर्च्छा पिपासां उन्मादं कामलां दा समीरयेत्।
शीते रात्रौ पीवेत् स्नेहं नर श्लेष्माधिकोऽपिवा आनाहमरुचिं शूलं पांडुतां वा समृच्छति।।
च. सू. १३-२०. २१

६०. स्वेद्या; शोधयितव्याश्च रुक्षा वातविकारिणः।
व्यायाममद्यस्त्रीनित्याः स्नेह्यास्युर्येच चिंतका।। च. सू. १३-५२
स्वेद्यसंशोध्य मद्यस्त्री व्यायामाहव चिंतकाः। वृद्धा बालाबला रुक्षा कृशा क्षीणास्त्ररेतसः।
वातार्तस्यंद तिमिर दारुण प्रतिवोधिनः।। अ. ह. सू. १६-५६
(कुछ परिवर्तन के साथ यही श्लोक शार्ङ्गधर में तथा भावप्रकाश में है।)

६१. १. संशोधनादृते येषां रुक्षणं संप्रचक्षते। न तेषां स्नेहनं शस्तं उत्सन्नकफ मेदसां।।
अभिष्यण्णानन गृदा नित्य मंदाग्नयश्च ये। तृष्णामूर्च्छा परीताश्च गर्भिण्यस्तालु शोषिणः। अन्नाद्विषश्चर्दयंतो जठरामगरार्दिताः दुर्बलाश्च प्रतांताश्च स्नेहग्लाना मदातुराः। त स्नेह्या वर्तमानेषु न नस्तो बस्तिकर्मसु। स्नेहपानात्प्रजार्यते तेषां रोगाः सुदारुणाः ।। च. सू. १३-५३ से ४८

२. विवर्जयेत् स्नेहपानं अजीर्ण तरुण ज्वरी ...।
अकाले च प्रसूता स्त्री ... स्नेहपानं विवर्जयेत्। सू. चि. ३१-४६ से ४८

३. न त्वतिमंदाग्नि तीक्ष्णाग्नि नस्ये ... बस्तौ विरेचने। अ. ह. सू. १६-६ से ७

६२. विवर्जयेदित्यादि। अजीर्ण अजीर्णमेव च पचन अग्निः स्तोकं स्नेहं पचति तरुण ज्वरे ... पुनश्च निषेधः।। डल्हण सु. चि. ३१-४६-४८ पर

६३. १. जल स्नेहौषधानां तु प्रमाणं यज्ञ नेरितम्। तत्रस्यादौषधात् स्नेह स्नेहात्तोयं चतुर्गुणं।।
च. क्र. १२-६८

२. स्नेह भेषजतोयानां प्रमाणं यत्र नेरितं। तत्रायं विधिरास्थेयो निर्दिष्टे तद्वदेव तु। अनुक्ते द्रव्य कार्ये तु सर्वत्र सलिलं मतं। कल्कक्वायावनिर्देशे गणातस्मात्प्रयोजयेत्।।
सु. चि. ३१-६, १०

३. स्नेहाच्चतुर्गुणो द्रवः, स्नेह चतुर्थांशों भेषजकल्कः, तदैकथं विपचेत् इत्येषः स्नेहपाककल्प। सु. चि. ३१-६-१०

४. स्नेहपाके त्वमानोक्ते चतुर्गुण विवर्धितं। कल्क स्नेहद्रवं योज्यं अधीते शौनकः पुनः।।
योगरत्नं समुच्चय।

५. स्नेहे सिद्धयति शुद्धांबु निष्क्वाथ स्वरसैः क्रमात्।
कल्कस्य योजयेदंशं चतुर्थं षष्टमष्टकम्।। अ. हृ.

६. पंच प्रभूति तु द्रवं पृथक् स्नेह समं कुर्यात्, निरूपितं कल्पनं च भैषज्यं कल्की कुर्यात्।। संग्रहे। यो. र. सं.

७. न मुंचति रसं द्रव्यं क्षीरादिभिरुपस्कृतं। तोयं चतुर्गुणं तत्र वीर्यादानार्थं भावयेत्।
औषधानि स्ववीर्याणि जले मुंचत्यशेषतः।। यो. र. स.

६४. १. तत्र केचिदाहुः त्वक्पत्र फल मुलादीनां भागस्तच्चतुर्गुणं चलं चतुर्भागावशेषं निष्क्वाथ्यापहरेदित्येषः कषायकल्पः। स्नेहप्रसृतिषु षट्सु चतुर्गुणं द्रवमावाप्य चतुरश्चाक्ष समान भेषज्ञ पिंडानित्येषः स्नेहपाक कल्पः। ऐतत्तु न सम्यक् कस्मात् ? आगमासिद्धत्वात्। सु. चि.३१-६

२. तत्रान्यतम परिमाण संमितानां यथायोगं त्वक्पत्र फल मूलादीनां आतप परिशोषितानां छेद्यानि खंडशश्छेदयित्वा भेद्यान्यणुशो भेदयित्या .... इत्येष स्नेहपाककल्पः।।
सु. चि. ३१-८

६५. १. स्नेहपाक का विस्तृत वर्णन देखें— ''द्रव्यगुण विज्ञानम् उत्तरार्धे-प्रथमः परिभाषा खंडः'' लेखक आचार्य यादवजी त्रिकमजी पृष्ठ ५५ से ६१

२. वर्तिवत्स्नेह कल्कः स्यात् अंगुल्या च विमर्दितः। शब्दहीनोऽग्नि निक्षिप्तः स्नेहः सिद्धो भवेत्तदा। यदा फेनोद्गमस्तैले ऐनशांतिश्च सर्पिषि गंधवर्ण रसोत्पत्तिः स्नेह सिद्धिस्तदा भवेत्।। शा. म. अ. ९-१२, १३

६६. क्वाथेन केवलेनैव पाको यत्रेरितः क्वचित्।
क्वाथ्य द्रव्यस्य कल्कोपि तत्र स्नेहे प्रयुज्यते।। शा. म. अ. ९

६७. घृत तैल गुडादींश्च साधयेन्नैक वासरे।
प्रकुर्वत्युषिता ह्येते विशेषाद्गुण संचयम्।। शा. म. अ. ९

६८. अतऊर्ध्वं दग्धस्नेहो भवति ।। सु. चि. ३१-११
आमपाकश्च निर्वीर्यो वह्निमांद्यकरो गुरुः ....।
तदूर्ध्वं दग्धपाकः स्यात् दाह कृन्निष्प्रयोजनः।। शा. म. ९-१६

६९. स्नेहपाकस्त्रिधाज्ञेयो मृदुर्मध्यः खरस्तथा।
तुल्य कल्केन निर्यासे भेषजानां मृदुः स्मृतः।।
संयाव इव निर्यासे मध्यो दर्वी विमुंचति।
शीर्यमाणे तु निर्यासे वर्त्यमाने खरस्तथा ।। च. क. १२-१९, १००

७०. तत्र स्नेहौषध विवेक मात्रं यत्र भेषजं स मृदुरिति मधूच्छिष्टमिव विशदमविलेपि यत्र भेषजं स मध्यमः, कृष्णमवसन्नमीषद् विशदं च यत्रभेषजं स खर इति।। सु. ३१-११

७१. पाकस्तु त्रिविधो मंद चिक्कणः खर चिक्कणः।
मंदः कल्क समे किंचित् चिक्कणो मदनोपमे।
किंचित् सीदति कृष्णे च वर्तमाने च पश्चिमः।
दग्धोथ ऊर्ध्व निःकार्यः स्यादामस्त्वग्निमादकृत्।। अ. हृ. क. ६-१६, २०

७२. स्नेहपाकस्त्रिधा प्रोक्तो मृदुर्मध्यो खरस्तथा।
ईषत्सरस कल्कस्तु स्नेहपाको मृदुर्भवेत्।।
मध्यपाकस्य सिद्धिश्च कल्के नीरस कोमलः।
ईषत्कठिन कल्कश्च स्नेहपाको भवेत्खरः।। शा. म. ६-१४, १५

७३. खरोभ्यंगः स्मृतः पाको मृदुर्नस्तः क्रियासु च।
मध्यपाकं तु पानार्थे बस्तौ च विनियोजयेत्।। च. क. १२-२०१

७४. पानाभ्यवहारयोः मृदुः।
नस्याभ्यंगयोर्मध्यमः। बस्ति कर्णपूरणयोस्तु खर इति।। सु. चि. ३१-११

७५. मृदुर्नस्ये खरोभ्यंगे पाने बस्तौ च चिक्कणः।। अ. हृ. क. ६-२१

७६. नस्यार्थ स्यान्मृदुपाको मध्यमः सर्व कर्मसु ।। शा. म. ६-१७

७७. आतुरस्तु खलु कार्य देशः। तस्य परीक्षा आयुषः प्रमाण ज्ञान हेतोर्घा स्यात् बल दोष प्रमाण ज्ञान हेतोर्वा।। च. वि. ८-६४

७८. तस्मादातुरं परीक्षेत प्रकृतिश्च विकृतितश्च सारतश्च संहननतश्च, प्रमाणतश्च सात्म्यतश्च, सत्वतश्च, आहारशक्तितश्च, व्यायामशक्टिततश्च दयतश्चेति बलप्रमाणविशेष ग्रहण हेतोः।। च. वि. ८-६६

७९. त्र्यहावरं सप्तदिनं परन्तु स्निग्धो नरः स्वेदयितव्य उक्तः।
नातः परं स्नेहनमादिशंति सात्म्यीभदेत्सप्तदिनात्परं तु ।। च. सि. १-६
मृदुकोष्ठस्त्रिरात्रेण स्निह्यत्यच्छोप सेवया।
स्निह्यति क्रूरकोष्ठस्तु सप्तरात्रेण मानवः।। च. सू. १३-८५
पिबेत-यहं चतुरहं पंचाहं षडहं तथा।
सप्तरात्रात्परं स्नेहः सात्म्यी भवति सेवितः। सु. चि. ३१-३६

८०. त्र्यहमच्छं मृदुकोष्ठे क्रूरे सप्तदिनं पिबेत्।
यग् स्निधौगऽथवा यावत अतः सात्म्यीभवेत्परं ।। अ. हृ. सू. १६-२६

८१. चक्रपाणि—परमिति स्नेह प्रकर्ष कालादधिना सप्तदिनं व्याप्य स्निग्धः। ततश्च काल प्रकर्षात् क्रियमाण शोधनांग स्नेहनपक्षे सप्तदिनं यावत् स्निग्धः। कालाप्रकर्षे तु त्र्यहं स्निग्ध। उक्तं सप्तदिन स्नेहन कालानतिक्रमं सोपपात्तिकमाह नातः परं आदि ... । सप्तरात्रात्परेण क्रियमाण स्नेहः सप्तरात्रप्रयोगेण सात्म्यीभूतत्वान्न स्नेहमधिकं शरीरे करोति इत्यर्थः। तेल यावन्मात्र स्नेह प्रयोगेण सप्तदिन प्रयोगेण स्नेहनं वृत्तं सा मात्रा सात्म्यीभूतैव, अधिक मात्रा या सात्म्यतां न गता सा सप्तरात्रात्परेणापि कर्तव्या एव, वैद्यास्तु सप्तरात्राद स्निग्धे पुरुषे किंचित् विश्रामं कृत्वा पुनरधिकमात्रया स्नेहनं प्रत्युज्यते। एतच्च त्र्यह स्नेहनं सप्तरात्रस्नेहनं मृदूक्रूरकोष्ठविषय भेदेन। ..... क्रूर कोष्ठः सप्तरात्रेणैव सिद्धयति। परं क्रूर

कोष्ठतामत्पेक्ष्य कृतया स्नेहमात्रया स्निह्यति, यदा तु हीनमात्रा प्रयुयते, तदा सप्तरात्रेणापि स्निह्यति। यत्तु तत्रांतरे "त्रिषटक नवरात्रेण स्नेहपानं विधीयते" इत्यलेन सप्तरात्रादूर्ध्वमपि स्नेहनं विहितं। तदाचार्यानाभिमतमेव किंवा सप्तरात्रादूर्ध्व असात्म्यो भूताधिकमात्रा प्रयोगाभिप्रायेण तद्वर्णनीयम्। अन्न च सप्तरात्रादूर्ध्व स्नेहप्रयोगस्य निषेधात् त्र्यहादर्वाक् प्रयोगस्य वा अनिषेधात् सद्यस्नेहन प्रयोगेणैक दिनेनापि स्नेहमुप-जानीत इति ह्युवते। मध्यकोष्ठांतरं प्रतिस्नेहनं प्रकर्षकालो यद्यपि नोक्तः तथापि मध्यविधया पंचदिनेन मध्यकोष्ठस्य स्नेहनं ज्ञेयं। यतु कैश्चित् मृदुकोष्ठं प्रति त्र्यहादूर्ध्व स्नेहनं न कर्तव्यं सात्म्यीभावादिती चार्यो लभ्यते इति व्याख्यायते, तन्न नः प्रीणाति, यतः सात्म्यीभावः सप्तदिन निर्वर्तयैवाचार्येणोक्तः।। च. सि. १-६ पर

८२. गुडभिक्षुरसं मस्तु और क्षीर मूल्लोडितं तथा। पायसं कृशरां सर्पिः काश्यर्म त्रिफला रसं।
द्राक्षा रसं पीलुरसं जलमुष्णमथापि वा। मद्यं वा तरुणं पीतं मृदुकोष्ठी विरिच्यते। विरेचयंति नैतानि क्रूरकोष्ठं कदाचन्।। च. सू. १३-६६, ६७

८३. अमात्रयाहिते काले मिथ्याहार विहारतः। स्नेहः करोति शोफार्शोतंद्रा स्तंभ विसंज्ञिताः।
कंडू कुष्ठ ज्वरोक्लेशः शूलानाह भ्रमादिकान्।। अ. हृ. सू. १६-३२

८४. द्वाभ्यां चतुर्भिरष्टाभिर्यार्मैर्जीर्यंति या क्रमात्।
ह्रस्वमध्योत्तमाः मात्राः। अ. हृ. सू. १६-१७

८५. यथाग्नि प्रथमां मात्रां पाययेत् विचक्षिणः।
पीतो ह्यति बहुस्नेहो जनयेत् प्राण संशयम्।। सु. चि. ३१-३०

८६. वाम्यां च ह्रसीयसीम्।।
कल्पयेद्वीक्ष्य दोषादीन् प्रागेव तु बुद्धिमान्।। अ. हृ. सू. १६-१७

८७. प्राक्पूर्वमेवाज्ञातकोष्ठे पुरुषे उत्तममात्राविषये पूर्वह्रसीयसीं कल्पयेत्। ततो ह्रस्वां, ततोमध्यमां तत उत्तमांच प्रकल्पयेत। एवं मध्यममात्रा विषये ह्रसीयसीम्, मध्यम मात्रा विषये ह्रसीयम्, ह्रस्वमात्रा विषयेऽपि ह्रसीयसीं प्राक्कल्पयेत् अन्यथा प्रत्यवाय भयं स्यात्। इयं ह्रस्वा, इयं ह्रस्वत अनयोरतिशयेन ह्रस्वा इति ह्रसीयसीम्। अन्येस्तु पलद्वयं पलचतुष्टयम् पलषट्क संख्यादच्छिन्ना मात्रा उक्ता। न चेतन् युज्यते यतो जठरानल शक्तिमनपेक्ष्य प्रयुज्यमाना स्नेहमात्रा अनर्थायैव, अतोऽस्माभिः पलद्वयादि संख्यावच्छिन्ना नोक्ताः।। अ. द. अ. हृ. सू. १६-१७

८८. १. द्वाभ्यां चतुर्भिरष्टाभिर्यामैः जीर्यन्ति याः क्रमात्ः।
ह्रत्व मध्योत्तमः मात्रा ... ।। अ. हृ.सू. १६-१७
२. अहोरात्रमहः कृत्स्नंअर्द्धाहं च प्रतीक्षते। प्रधाना मध्यमा ह्रस्वा स्नेह मात्रा जरां प्रति।
इति तिस्रः समुद्दिष्टामात्रा स्नेहस्य मानतः। च. सू. १३-२६

८९. येतु वृद्धाश्च बालाश्च सुकुमार सुखोचिता। रिक्तकोष्ठत्वमहितं येषां मंनाग्नयश्च ये।
ज्वरातीसार कासश्च येषां चिर समुत्थिताः। स्नेहमात्रा पिंयेतुस्ते ह्रस्वां ये चावरा बले।
च. सू. १३-३८, ३९

९०. परिहारे सुखः चैयामात्रा स्नेहन बृंहणी।
वृख्या बल्या निराबाधा चिरं वाप्यनृवर्तते। च. सू. १३-४०

९१. १. अरुष्क स्फोट पिडका कंडु पामाभिरर्दितर। कुष्ठितश्च प्रमीढाश्चदात-शोभितकाश्च
ये। नाति बह्वाशिनश्चैव मृदुकोष्ठास्तथैवच। पिबेयुर्मध्यभा मात्रां मध्यमाश्चापि ये

बले। मात्रंषा मंद धिभ्रांशा न वातिबलहारिणी सुखेन न स्नेहयति शोधनार्थे च युज्यते। च. सू. १३-३५, ३६, ३७

२. या मात्रा परिजोर्येति तदार्थ विवसे गते। सा वृष्या बृंहणी या च मध्य दोषे च पूजिता।। सु. चि. ३१-२६

९२. १. प्रभूतस्नेह नित्याश्च क्षुत्पिपासा सहा नराः। पावकश्चोतमबलो येषा ये चोत्तमा बले। गुल्मिन सर्पदष्टाश्च विसर्पोपहताश्च ये। उन्मत्ताकृच्छ्र मूत्राश्चगाढवर्चस एव च। विपेयुरुत्तमां मात्रा तस्याः पाने पुणान् शृणु। दोषानु कर्षिणी मात्रा सर्व मार्गानुसारिणी। वल्या पुनर्नयकरी शरीरेंद्रिय चेतसां। च. सु. १३-३१ से ३४

२. या मात्रा परिजीर्येत तथा परिणतेऽहनि।
ग्लानि मूर्च्छामदान् हित्वा सा मात्रा पूजिता भवेत्।
सा तु कुष्ठ विषोन्माद ग्रहापस्मार नाशिनी ।। सु. चि. ३१-२७

९३. या मात्रा परिजीर्येत चतुर्भागादशेषिते।
स्नेहनीया च सा मात्रा बहुदोषे च पूजिता।। सू. चि. ३१-२८

९४. १. द्रवोष्णमनभिष्यंदी भोज्यमन्न प्रमाणतः।
नाति स्निग्धमसंकीर्णश्वः स्नेहं पातुमिच्छता।। च. सू. १३-६०

२. भोज्योन्नं मात्रया पास्यन् स्वः पिबन् पीतावानपि।
द्रवोष्णमनभिष्यंदी नातिस्निग्धसंकरम्।। अ. हृ. सू. १६-२५

९५. उष्णमश्नीयात्। उष्णं हि भुज्यमानं स्वदते, भुक्तं चाग्निमौदर्य उदीरयति, क्षिप्रं जरां गच्छति, वातं चानृलोमयति, श्लेष्माणं च परिहासयाति।। च. वि. १-३७

९६. मात्रावदश्नीयात्। मात्राबुद्धि भुक्तं वातपित्तकफानपीडयन् आयुरेव विवर्धयति केवलम्। सुखं गुदमनुपर्येति। न चौष्माणमुपहंति। अव्यथं च परिपाकमेति। च. वि. १-३६

९७. वीर्यविरुद्धमश्नीयात्। अविरुद्धवीर्यमश्नन् हि न विरुद्धवीर्याहारजैः विकारैः अयमुपसृज्यते।। च. वि. १-४१

९८. यच्चापि देश कालाग्नि मात्रासात्म्यानिलादिभिः।
संस्कारतो वीर्यतश्च कोष्ठावस्था क्रमैरपि।।
परिहारोपचाराभ्यां पाकात्सयोगतोऽपि च।
विरुद्धं तच्च न हितं हत् संपत् विधिभिश्च यत्। च. सू. २६-९१, ९२

९९. स्नेहादिषूपयोगाय तद् व्यापद् शमनाय च।
कुर्यात्प्रागेव तद्योगी द्रव्यसंभार संग्रहम्।। अ. सं. सू. २५

१००. वार्युष्णमच्छेनुर्पिबेत् स्नेहे तत्सुख पक्तये।
आस्योपलेय शुद्धौ च तौवरारुष्करे न तु।। अ. हृ. सु. १६-२३
जलमुष्णं घृतेपेयं युषः तैलेऽनुशस्यते।
वसा मज्जोस्तु मंडः स्यात् सर्वेषूष्णमबांबु वा।। च. सू. १३-२२

१०१. वाते सलवणं सर्पिः पित्ते केवलम भिष्यते।
वैद्यो दद्यात् बहुकफे क्षारात्रिकटुकान्वितम्।। अ. सं. सू. २५
केवलं पैत्तिके सर्पिः वातके लवणान्वितं।
देयं बहुकफे चापि कोषक्षार समन्वितम्।। सू. चि. ३१-१९

१०२. न सर्पिः केवलं पैते पेये सामे विशेशतः।। च. सू. १३-७४

१०३. शिरोरुक भ्रम निष्ठीव मुर्च्छा सादारति क्लमैः।
जानीयात् भेषजं जीर्यत् ... ।। अ. सं. सू. २५
..... जीर्ण तद् शांति लघवात्।
अनुलोमोनिलः स्वास्थ्यं क्षुतुष्णोद्गार शुद्धिभिः ।। अ. सं. सू. २५
स्युः पच्यमाने तृड्दाह भ्रम सादारति क्लमाः ।। सु. चि. ३१-३३

१०४. जीर्णाजीर्ण विशंकायां पुनरुष्णोदकं पिबेत्।
तेदोद्गार विशुद्धः स्यात् ततश्च लघुता रुचिः। अ. हृ. सू. १६-२४

१०५. स्नेहपीतस्य चेतुष्णा पिवेदुष्णोदकं नरः।
एवं चानुपशाम्यं तां स्नेहमुष्णाम्बुना वमेत्।।
दिह्यात् शीतैः शिरः शीतं तोयं चाप्यवगाहयेत्।। सु. चि. ३१-२४, २५

१०६. परिषिच्याद्भिरुष्णाभि जीर्ण स्नेहं ततो नरम्।
यवागूं पाययेच्योष्णां कामं क्लिन्नाल्प तंडुलाम्।
देयै यूषरसो वापि सुगंधि स्नेह वर्जितौ।।
कृतौ वाऽत्यल्यप सर्पिष्कौ विलेपी वा विधीयते।। च. सू. ३१-३४, ३५

१०७. १. वातानुलोम्यं दीप्ताग्निः वर्चः स्निग्धमसंहतम्। मार्दवं स्निग्धतां चांगे स्निग्धानामुपजायते।। च. सु. १३-५८

२. सुस्निधात्वक् विट् शैथिल्य दीप्तोग्निर्मृदुगात्रता।
ग्लानिलाघव मंगानां अधस्ताद् स्नेह दर्शनम्।। सु. चि. ३१-५३

३. वातानुलोम्यं दीप्तोग्निवर्वर्चः स्निग्धमसंहतम्।
स्नेहोद्वेगः क्लमः स्निग्धे सम्यग् रुक्षे विपर्ययः।। अ. हृ. सु. १६-३०

१०८. १. पुरीष ग्रथितं रुक्षं वायुरप्रगुणो मृदुः।
पक्ता खरत्वं रौक्ष्यं च गात्रस्या स्निग्ध लक्षणं।। च. सु. १३-५७

२. पुरीष ग्रथितं रुक्षं कृच्छ्रादन्नं विपच्यते। उरो विदह्यते वायुः कोष्ठावृपरि धावति। दुर्वर्णा दुर्बलाश्चैव रुक्षो भवति मानवः।।
सु.चि. ३१-५१, ५२

१०९. १. पांडुतां गौरवं जाड्यं पुरीषस्याविपक्वता।
तंद्रारुचिरुत्क्लेशः स्यादतिस्निग्ध लक्षणं।। च. सू. १३-५६

२. भक्त द्वेषो मुखस्त्रायोगुददाहः प्रवाहिका।
पुरीषाति प्रवृत्तिश्च भृशस्निग्धस्य लक्षणम्।। सु. चि. ३१-५४

३. अति स्निग्धे तु पांडुत्व घ्राण वक्त्र गुदस्त्रवः।। अ. हृ. सु. १६-३१

११०. अकाले च हितश्चैव मात्रया न च योजितः।
स्नेहमिथ्योपचाराश्च व्यापद्येवति सेवितः।। च. सू. १६-७६

१११. .... तंद्रा सोत्क्लेश आनाहो ज्वरः स्तंभो विसंज्ञता। कुष्ठानि कंडूः पांडुत्वं शोफार्शास्यारुचितृषा। जठरं ग्रहणी दोषः स्तैमित्यं वाक्यनिग्रहः।
शूलमामप्रदोश्च जायंते स्नेहविभ्रमात्।। च. सु. १६-७५, ७६

११२. मिथ्याचारात् बहुत्वार्द्धो यस्य स्नेहो न जीर्यन्ति।
विष्टंभ्य चापि जीर्यन्ति वारिणोष्णेन वामयेत्।। सु. चि. ३१-३१

११३. वातपित्ताधिकस्योष्णे तृण्मूर्च्छोन्माद कारकः। सु. चि. ३१-२३

११४. .... सर्वहयुनचरेद्देहं हत्वा संज्ञांच मारयेत्।। च. सु. १६-७५

११५. तक्रारिष्ट प्रयोगाश्च रुक्ष पानान्न सेवनम्।
मूत्राणां त्रिफलयाश्च स्नेह व्यापत्तिभेषजम्।। च. सू. १३-७८

११६. क्षुत्तुष्णोल्लेखन स्वेद रुक्ष पानान्न सेवनम्।
तक्रारिष्ट खलोद्दाल यव शामाक कोद्रवम्।
पिप्पली त्रिफला क्षौद्र पथ्या गोमूत्र गुग्गुलु।
यथास्वं प्रतिरोगश्च स्नेह व्यापदि साधनम्।। अ. ह्र. सू. १६-३३,.३४

११७. स्नेहेन पैत्तिकस्याग्नियैदा तीक्ष्ण तरी कृतः।
तदास्योदीरयेत् तृष्णां विषमां तस्य पाययेत्।
शीतलं पायसं तेन तृष्णा तस्य प्रशाम्यति।। भा. प्र. पू. खं.

११८. १. उष्णोदकोपचारी स्यात् ब्रह्मचारी क्षपाशयः। शकृन्मूत्रानिलोद्गारान् उदीर्णाश्च न धारयेत् व्यायाममुच्चैर्वचनं क्रोध शोको हिमा तपौ।
वर्जत् प्रवातं च सेवेत् शयनाशनम्।। च.सू. १३-६२, ६३

२. उष्णोदकोपचारी स्यात् .....। प्रवात् यानाध्वमावात्यासन् संस्थिति। नीजात्युच्योपधानाहः स्वप्न धूम रजांसि च। अ. ह्र. सू. १३-२६, २७

३. ..... प्रजागरान् दिवास्वप्नमभिष्यंदी रक्षान्नं च विवर्जयेत्।। शा. उ. १-३५

११९. यान्यहानि पिवेतानि तार्बत्यन्यान्यपित्यजेत्।। अ. ह्र. सू. १६-२७

१२०. शमा क्षुद्धतोऽनन्नो मध्यमात्रश्च शस्यते। अ. ह्र. सू. १६-९

अ. द.—शननो यो रोगस्य शमनाय युज्यते स्नेहः स क्षुब्दतो जात बुभुक्षितस्य शस्यते, जातायां बुभुक्षायां, न जीर्णमाने एवान्ने शोधन इव शमनः स्नेहः पत्र तत्रस्थं दोषं कुपितं सर्वशरीर व्यापित्वात् शमयति। यदि पुनर्जीर्ण मात्रऐबान्ने स्नेहोऽयं अ.बुभुजितस्यैद उपयुच्यते तदानी स्त्रोतसां कफादि उपलेपनिर्यर्तनात्तत्संपृक्तोऽसो स्नेहो न सर्व शरीरं व्यापुते अध्याप्नुयंश्च न दोषं शमयेत। तस्माद् क्षुद्वतः एवायं सस्यते। स च मध्यम मात्रया अमन्नः केवल एव। ... अच्छ एव पेय इत्यर्थः। ... मध्यममात्रया स्नेहपाने तु लघु भोजिनो न पाममात्रे आकांक्षा भवति। तदा च स्नेहोपयोगे रात्र्यारंभे रात्रियामार्धे गते वा रसौकदम प्रायं भोजनं भोज्यं मात्रया एव।

१२१. १. बृंहणो रस मद्याद्यैः सभक्तोल्प। अ. ह्र. सू. १६-१९

अ. द.—बृंहणः स्नेहो रसः मद्याद्यैः सह शस्यते। रस इति अविशेषोक्तो ज्ञेयो मांसभवो रस इति तंत्रांतरोक्ता रसशब्देन मांस रसोऽत्र वोद्धव्यः। आद्य शब्देन क्षीर खंडादेः द्रवरूपस्य ग्रहणम्। तथा सहभक्तेनौदनोऽसौ वर्तते इति सभक्तः शस्येत। एष च स्नेहो हसीयसीतोपि मात्रातोऽल्पः।। अ. द. उपर्युक्त श्लोक पर।

१२२. १. अच्छपेयस्तु यः स्नेहो तामाहुर्विचारणाम्।
स्नेहस्य स भिषग्दृष्टः कल्पः प्राथम कल्पिकः।। च. सू. १३-२६

२. स्नेहे सात्म्यः क्लेशसहः काले नात्युष्ण शीतले।
अच्छमेव पिबेत् स्नेहं अच्छपानं हि पूजितम्।। सु. चि. ३१-२१

३. यथोक्त हेत्वभावाच्च नाच्छपेयो विचारणा।
स्नेहस्य कल्प स श्रेष्ठः स्नेहकर्माशसाधनात्।। अ. ह्र. सू. १६-१७

१२३. अच्छश्च पेयः अच्छपेयः ओदनाद्यसंबंधे सति पेय इत्यर्थः।। च. पा.

१२४. अच्छः केवलो यः स्नेह पीयते सा विचारणा न भवति।
मूर्धादितर्पणादिना तु केवलस्य स्नेहस्य यः उपयोगः सा च विचारणा।। अ. द.

१२५. स्नेहद्विषः स्नेहनित्याः मृदुकोष्ठश्च ये नराः।
क्लेशसहामद्य नित्यास्तेषामिष्टा विचारणाः।। च. सू. १३-२२

१२६. ओदनश्च विलेपी च रसो मांसं पयोदधि।
यवागुः सूपशाके च यूषः कांबलिकः खडः।।
सक्तवास्तिल पिष्टंच मद्यं लेहास्ताथैव च।
भक्ष्यान्नभ्यंजनं बस्तिः तथा चोत्तरबस्तयः।।
गंडूषः कर्णतैलं च नास्त कर्णाक्षि तर्पणम।
चतुर्विंशतिरित्येतः स्नेहस्य प्रविचारणाः।। च. सू. १३-२३ से २५

१२७. लावतैत्तिरमायूरहंसवाराहा रससंयोगसंग्रह। च. सू. १३-८३, ८४

१२८. स्नेहयंति तिलाः पूर्व कांबलिकास्तथा। च. सू. १३-८५

१२९. फणितं शृंगवेरं च... भोजनम्। च. सू. १३-८६

१३०. तैल सुराया मंडेन .. वातिकः। च. सू. १३-८७

१३१. धारोष्णं स्नेहसंयुतं .. दध्नः स फाणितं। च. सू. १३-८८

१३२. रसैश्चोपहितः स्नेहः समासव्यासयोगिभिः।
षड्भिस्त्रिषष्टिधा संख्यां प्राप्नोत्येकश्च केवलं।
एवमेषा चतुःषष्टिः स्नेहानां प्रविचारणा।
ओकर्तु व्याधि पुरुषान् प्रयोज्या जानता भवेत्।। च. सू. १३-२७, २८

१३३. सद्य स्नेहनमिति तदहरेव। डल्हण सु. चि. ३१-३ पर ८

१३४. बालवृद्धादिषु स्नेहपरिहारा सहिष्णुषु।
योगानिमाननुद्वेगान् सद्यः स्नेहांप्रयोजयेत्।।
प्राज्यमांसरसास्तेषु पेया या स्नेह भर्जिता।
तिलचूर्णाश्च सस्नेह फाणितः कृशरा तथा।।
क्षीरपेया घृताढ्योष्णा दध्नो वा सगुडः सरः।
पेया च पांचप्रसृतः स्नेहैस्तुंडुल पंचमैः।
सप्तैते स्नेहनाः सद्यः स्नेहाश्च लवणान्विताः।। अ. ह्र. सू. १६-४० से ४३

१३५. चरक में पांच प्रसृति की पेया—
सर्पिस्तैलवसामज्जा तंडुल प्रसृतेः शृता
पांचप्रसृतिकी पेया पेया स्नेहनमिच्छता।। च. सु. १३-६०

१३६. पांचप्रसृतिकी पेया पायसो माष मिश्रकः।
क्षीरसिद्धो बहुः स्नेहः स्नेहयेदचिरान्नरम्।। च. सू. १३-८६

१३७. पिप्पलयो लवणं स्नेहाश्चत्वारो दधि मस्तुकः।
. . . . . .
राज्ञे राज समेभ्यो वा देयमेतद् घृतोत्तमम्।। सु. चि. ३१-३८ से ४४

१३८. लवणोपहिताः स्नेहाः स्नेहयंत्यचिरान्नरम्।
तदध्यभिष्यंद्यरुक्षंच सूक्ष्ममुष्णं व्यदायि च। च. सू. १३-६८

१३९. सर्व सर्वस्य च स्नेहं युंज्यात्भास्वति निर्मले।
ऋतौ साधारणे दोषसाम्येऽनिलकफे कफे। अ. सं. सू. २५
दिवाः निश्यानिले पित्ये संसर्गे पित्तवत्यपि।। अ. स. सू. २५

१४०. वाताधिके रात्रौ उष्णे जापि पिबेन्नरः।
श्लेष्माधिके दिवा शीते पिबेच्चामलभास्करे।। च. सू. १३-१६

१४१. सर्पि शरदि पातव्यं वसा मज्जा च माधवे।
तैलं प्रावृषि नात्युष्ण शीतं स्नेहं पिबेन्नरः।। च. सू. १३-१८

१४२. तैलं त्वरायां शीतेऽपि घर्मेऽपि घृतं निशि।
नित्येव पित्ते पवने संसर्गे पित्तवत्यपि।।
निश्चन्यथा वातकफात् रोग्यास्युः पित्ततो दिवा।। अ. हृ. सू. १६-१३, १४

१४३. वसा घृत मधूच्छिष्टैर्युक्ति युक्तेर्वरौषधैः।
वर्ति मधुरकैः कृत्वा स्नैहिकीं धूम माचरेत्।। ५-२५

१४४. १. त्र्यहावरं सप्तदिनं परं तु स्निग्धो नरः स्वेदयितव्य उक्तः। च. सि. १-६
२. एकाहो परतस्तद्वत् भुक्त्वा प्रच्छर्दनं पिबेत्।। च. सू. १३-८१
३. स्नेहात्प्रस्कंदनं जंतुः त्रिरात्रोपरतः पिबेत्। च. सू. १३-८०
४. न चैव गुद कंठाभ्यां दद्यात्स्नेहमनंतरम्।। च. चि. ४-४८

१४५. अथ जातान्न पानेभ्यो मारुतघ्नैः सुगंधिभिः।
यथर्तु संस्पर्शसुखैस्तैलैः अभ्यगंमाचारेत्।। अ. सं. सू. ३

१४६. तत्र प्रकृति सात्म्यर्तु देशदोषविकारवित्।
तैलं घृतं वा मतिमान् युज्यादभ्यंगसेकयोः।। सु. चि. २४-३४

१४७. १. वर्ज्योऽभ्यंग कफग्रस्त कृत संशुद्ध्यजीर्णिभिः।। अ. हृ. सू. २-६
२. केवलं सामदोषेषु त कथंचन प्रयोजयेत्।
तरुणज्वर्यवजीर्णि च नाभ्यक्तव्यो कथंचन्।।
तथा विरिक्तो वांतश्च निरूढो यश्च मानवः।
पूर्वयोः कृच्छ्रता व्याधेरसाध्यत्वमथापि वा।।
शेषाणां तबहः प्रोक्ता अग्निमांद्यादयो गदाः।
संतर्पण समुत्थानां रोगाणां नैव कारयेत्।। सु. चि. २४-३५ से ३७

१४८. शिरः श्रवण पादेषु तं विशेषेण शीलयेत्।। अ. हृ. सू. २-६

१४९. डल्हण–अभ्यंगोऽत्र सकल शरीर कर्णादिगत स्नेहस्य शिरामुखादिभिः। शरीरसंतर्पणकाल केचिदत्र पठंति— ''रोमांतेष्वनु देहस्य स्थित्वा मात्र शतत्रयम्।
ततः प्रविशति स्नेहोश्चतुर्भिर्गच्छति त्वचम्।

रक्तं गच्छति मात्राणां शतैः पंचभिरेव तु।
षड्भिर्मासं प्रपद्येत मेदः सप्तभिरेव च।
शतैरस्टाभिरस्थीनि मज्जानं नवभिर्व्रजेत।
तत्रस्थान् शमयेत् रोगान् वातपित्त कफात्मकम्।।'' सु. चि. २४-३० पर

१५०. १. अभ्यंग आचरेन्नित्यं स जरा-श्रम-वातहा।
दृष्टिः प्रसाद पुष्ट्यायुः स्वप्न सुत्यक् दार्ढ्य कृत् ।। अ. हृ. सु. २-७
२. तथा शरीरमभ्यंगात् दृढं सुत्वक् च जायते।
प्रशांत मारुताबाधे क्लेशा व्यायाम संसहम्।। च. सू. ५-८५
न चाभिघाताभिहतं गात्रमभ्यंग सेविनः।
विकारं भजतेऽत्यर्थ बलकर्मेणि वा क्वचित्।। च. सू. ५-८८
सुस्पर्शोपचितांगश्च बलवान् प्रियदर्शिनः।
भवत्यभ्यंग नित्यत्वाद् नरोऽल्पजर एव च।। च. सू. ५-८९
३. अभ्यंगो मार्दवकरः कफवात निरोधिनः।
धातूनां दृष्टिजननो मुजा वर्ण बलप्रदः।। सु. चि. २४-३०

१५१. स्पर्शनेभ्याधिको वायुः स्पर्शनं च त्वगाश्रित्।।
त्वच्चश्च परमोभ्यंगः तस्मात्तं शीलयेन्नरः।। च. सू. ५-८७

१५२. स्नेहाभ्यंगाद्यथा कुंभश्चर्म स्नेह विमर्दनात्।
भवत्युपांग दक्षश्च दृढ क्लेश सहो यथा।
तथा शरीरमभ्यंगात् . . . . . ।। च. सू. ५-८५

१५३. खरत्वं स्तब्धता रौक्ष्यं श्रमः सुप्तिश्च पादयोः।
सद्य एवोपशाभ्यंति पादाभ्यंग निषेवणात्।।
जायते सौकुमार्यच बलं स्थैर्य च पादयोः।
दृष्टिः प्रसाद लभते मारुतश्चोपशाम्यति।।
न च स्याद् गृध्रसी वातः पादयीः स्फुटनं न च।
न शिरा स्नायु संकोचः पादाभ्यंगेन पादयोः। च. सू. ५-६० से ६२

१५४. देहे प्रलेपनार्थ तल्लेप इत्युच्यते बुधैः। परिभाषा खंड-द्रव्यगुणविज्ञान स त्रिविधः प्रलेपः प्रदेहः आलेपश्च।
तत्र प्रलेपः शीतस्तनु रविशोषी विशोषी दा, प्रदेहस्तु उष्णः, शीतो वा, बहलोऽबहलो बहुरविशोषी, मध्यऽयोत्र आलेपः।। सु. सू. १८-६

१५५. च. चि. २६-१२४ से १४६ तक में लेप, सेंक, उपनाहादि का वर्णन है।

१५६. सु. चि. ५-८, १२

१५७. शार्ङ्गधर–उत्तरखंड अ. ११

१५८. अभ्यंगपूर्वकत्वाद् उद्वर्तनस्य तमनुपरिमार्जनमुद्वर्तनं ब्रूते। च. पा. च. सू. ५-६३, ६४ पर

१५९. उद्वर्तनंचात्र प्रविलापनीय विम्लापन करम्।
उद्घर्षणमस्नेहद्यौषध चूर्णादिभिर्घर्षणम्।।
सस्नेह कल्केनोद्घर्षण उत्सादनम्।। डल्हण सु. चि. २४-५६ पर

१६०. १. दौर्गंध्यं गौरवं तंद्रा कंडूमलमरोचकम्।
स्वेद बीभत्सतां हंति शरीरपरिमार्जनम्।। च. सू. ५-९३

२. उद्वर्तनं कफहरं मेदसः प्रविलापनम्।
स्थिरीकरणमंगानां त्वक् प्रसादकरं परं।। अ. हृ. सू. २-१५

३. उद्वर्तनं वातहरं कफमेदो विलापनम्।
स्थिरीकरणमंगानां त्वक्प्रसादकरं परं।। सु. चि. २४-५१

४. सिरामुख विविक्तत्वं त्वक्स्थस्याग्मेश्च तेजसं।
उद्धर्षणोत्सादनाभ्यां जायतेतामसंशयम्।।
उत्सादनात् भवेत् स्त्रीणां विशेषात् कोंतिमत् वपुः।। सु. चि. २४-५२, ५३

१६१. तं कृत्वाऽनुसुखं देहंम मर्दयेच्य समंततः। अ. हृ. सू. २-१२

१६२. स्नेहाभ्यंगोपनाहश्च मर्दनालेपनानि च।
त्वक्मांसासृक् शिरा प्राप्ते कुर्याच्यासृग्विमोक्षणम्।। सु. चि. ४-६
स्नेहोपनाहाग्निकर्म-बंधनोन्मर्दनादि च।
स्नायु संध्यास्थि संप्राप्ते कुर्याद् वायावतंद्रितः।। सु. चि. ४-८

१६३. वातघ्न तैलैरभ्यंग मूर्ध्नि तैल विमर्दनम्।
नियुद्धं कुशलैः सार्धं पादाघातं च युक्तितः।। अ. हृ. सू. ३-१०

१६४. व्यायाम स्विन्न गात्रस्य पद्भ्यां उद्वर्तितस्य च (उन्मार्दितस्य च पाठांतरं)
व्याधयो नोपसर्पति सिंह क्षुद्र मृगा इव।। सु. चि. २४-४०

१६५. पद्भ्यां उद्वर्तितस्यैति यादाभ्यां बहुकृत मर्दनस्येत्यर्थ।
डल्हण, सु. चि. २४-४० पर

१६६. कुलत्य यव कोलनि . . . . . महास्नेह विपाचयेत।
सेकाभ्यंगावगाहान्न पान नस्यानुवासनैः। अ. हृ. चि. २१-२६

१६७. सेंकः सर्वागपरिषेकः। सु. चि. २४-२६ पर डल्हण

१६८. सेंकः श्रमघ्नोऽनिलहृत् भग्नसंधि प्रसादकः।
क्षताग्निदग्धाभिहतः विघृष्टानां रुजापहः।। सु. चि. २४-२६

१६९. सु. चि. १-२२ तथा २६, ३०, ३१, ३२।

१७०. जल सिक्तस्य वर्धते यथा मूलेंऽकुरास्तरोः।।
तथा धातु विवृद्धिर्हि स्नेह-सिक्तस्य जायते। सु. चि. २४-३०

१७१. च. चि. २६-१२४ से आगे।

१७२. सु. चि. ५-१८

१७३. प्रीति निद्राकरं वृष्यं कफवात श्रमापहम्।
संवाहनं मांस रक्त त्वक् प्रसादकरं परं।। सु. चि. २४-६१
डल्हण— संवाहनं सुखकरस्पर्शः, मर्दनं तु गाढं पादाभ्यां आरभ्य कटि पर्यंतम्।
अमितप्रभ-टीकाकारस्तु हस्ताभ्यां शनैः शनैः आवाहनं इति वदति।।

१७४. वातरक्ते प्रशस्यंते मृतु संवाहनानि च। सु. चि. ५-१६
डल्हण—संवाहनानि करमर्दनानि।

१७५. सुखं संचार्यते या तु मात्रा या कवले स्मृता।
असंचार्या तु या मात्रा गंडूषः परि कीर्तितः।। सु. चि. ४०-६२

१७६. तत्रद्रवेण गंडूषः कल्केन कवलः स्मृतः।। शा. उ. १०-४

१७७. चतुष्प्रकारो गंडूषः स्निग्धः शमनशोधनौ।
रोपणश्च त्रयस्तत्र त्रिषु योज्या चलादिषु।
अंत्यो व्रणघ्नः स्निग्धोऽत्र स्वाद्वम्ल पटु साधितैः।
. . . . . .
.तत्र क्षीर मधूदकं।
शुक्तं मद्यं रसो मूत्रं धान्याम्लं च यथायथं।
कल्कैर्युक्तं विपक्वं वा यथा स्पर्श प्रयोजयेत्।। . . . .
गंडूष धारणे नित्यं तैलं मांसरसोऽथवा। अ. हृ. सू. २२-१ से ६

१७८. चतुर्धा कवलः स्नेही प्रसादी शोधि रोपणा।
स्निग्धोष्णैः स्नेहिके वाते, स्वादु शीतैः प्रसादनम्।
पित्ते कट्वम्ल लवणैः रुक्षोष्णः शोधनः कफे। कषाय . . . .सु. चि. ४०-५८, ५९

१७९. चतुर्विधो भवति गंडूषः, स्नैहिकः शमनः शोधनो रोपणश्च।
तेषामाद्यस्त्रयाः क्रमेण वात पित्त कफघ्नाः
रोपणस्त्यास्य व्रणघ्नः।
शमनः स्तंमनः प्रसादनो निर्वापणं इति पर्यायाः।। अ. सं. सू. २१

१८०. हन्वोर्बलं स्वरवलं वदनोपचयः परः। स्यात्परं च रसज्ञानेमन्ने च रुचिरुत्तमा। न चास्य कंठ शोषः स्यान्नोष्ठयोः स्फुटनाद्भयम। न च दंता क्षयं यांति दृढमूला भवंतिच।।
न शूल्यंते न चाम्लेन हृष्यंते भक्षयंतिच। परानपिखरान् भक्ष्यान् तैल गंडूष धारणात्।।
च. सू. ५-७८ से ८०
दंतदार्ढ्यकरं रुच्यं स्नेह गंडूष धारणाम्। सु. चि. २४-१२

१८१. दंत हर्षे दंतवाले मुखरोगे च वातिके।
सुखोष्णमथवाशीतं तिलकल्कोदकं हितं।। अ. हृ. सु. २-५
उषादाहान्विते पाके क्षते वागंतु संभवे।
विषक्षाराग्नि दग्धेच सर्पिर्धार्यं पयोऽथवा। अ. हृ. सु. २-६

१८२. मन्याशिरः कर्ण मुखाक्षिरोगाः, प्रग्सेक कंठामय वक्त्र शोषाः।
हृल्लासतंद्रा रुचि पीनशाश्च, साध्या विशेषात् कवल ग्रहेण।। अ. हृ. सू. २-१२

१८३. कफपूर्णास्यता यावत् स्त्रवत् घ्राणाक्षतोऽथवा।। अ. हृ. सू. २-११
तावत् धारयितव्योऽनन्यमनसोऽन्नत देहेन यावद्दोष परिपूर्ण कपोलत्वं नासा स्त्रोतो नयन परिप्लावश्च भवति तदा विमोक्षव्यः पुनश्चान्यो गृहीतव्य इति। सु. चि. ४०-६३

१८४. व्याधेरपचयस्तुष्टिर्वैशद्यं वक्त्र लाघवं।
इंद्रियाणां प्रसादश्च कवले शुद्धिलक्षणं।।
हीनें जाड्य कफोत्क्लेशावरसज्ञानमेव च।
अतियोगान् मुखे पाक शोषस्तृष्णा रुचिक्लमाः।। सु. चि. ४०-६५-६६

१८५. नित्यं स्नेहार्द्रं शिरसः शिरः शूलं न जायते।

न खालित्यं न पालित्यं न केशाः प्रपतंतिच।।
बलं शिरः कपालानां विशेषैणाभिवर्धते।
दृढ़ मूलाश्च दीर्घाश्च कृष्णा केशा भवति हि।
इंद्रियाणि प्रसीदन्ति सुत्वग् भवति चाननम्।
निद्रालाभः सुखं च स्यात् मूर्ध्नितैल निषेवणात्।। च. सू. ५-८१ से ८३

१८६. अभ्यंग सेंक पिचवः बस्तिश्चेति चतुर्विधम्।
मूर्धतैलं बहुगुणं तद्विद्यादुत्तरोत्तरम।। अ. हृ. सू. २-२३

१८७. शिरोरोगांस्तथा रोगाच्छिरोऽभ्यंगोपकर्षति।
केशांना मार्दवं दैर्ध्य बहुत्वं स्निग्धकृष्णताम्।।
करोति शिरसस्तृप्तिं सुत्वक्त्वमपि चाननम्।
संतर्पणं चेंद्रियाणां शिरसः परिपूरणम्।। सु. चि. २४-२५, २२

१८८. मधुकं क्षीर शुक्लां च . . . इ. पर डल्हण— (क्र. ३ देखें)
चक्रतैलं यंत्रपीडितं तैलम्।। सु. चि. २४-२७, २८ पर

१८९. मधुकं क्षीर शुक्लां च सरलं देवदारु च।
क्षुद्रकं पंचनामानं समभागादि संहरेत्।।
तेषां कल्क कषायाभ्यां चक्रतैलं विपाचयेत्।।
सदैव शीतलं जंतोर्मूध्नि तैलं प्रदापयेतः। सु. चि. २४-२७, २८

१९०. तत्राभ्यंगो प्रयोक्तव्यो रौक्ष्य कंडू मलादिषु।। अ. हृ. सू. २२-२४

१९१. अरुंषिका शिरस्तोद दाह पाक व्रणेषु तु। परिषेक . . . . . अ. हृ. सू. २२-२४

१९२. वातघ्न दशमूलादि सिद्ध क्षीरेण सेचनं। अ. हृ. उ. २४-३

१९३. शिरोविरेक सेंकादि सर्ववीसर्प नृच्च यत्।। च. सि. ९-७३

१९४. पैत्ते घृतं पयः सेंकाः शीता लेपाः सनावनाः।। च. चि. २६-१७६

१९५. १. वातघ्नसिद्धैः क्षीरैश्च सुखोष्णैः सेकमाचरेत्। सु. चि. उ. २६-५
२. पित्तरक्त समुत्थानौ शिरोरोगै निवारयेत।
शिरोलेपैः स सर्पिष्कैः परिषेकैश्च शीतलैः।।
क्षीरेक्षुरसधान्याम्ल मस्तु क्षौद्रसिता जलैः।। सु. उ. २६-१२, १३

१९६. स्वर्णाद्युत्तमलोहजस्तु करको मृत्संभवो वाऽत्र तत्।
नालाग्रं तु कनिष्ठिकांगुलि परिणाहीन्मितं रोगिणः।।
द्विप्रस्थःप्रमितो निधेय इति वा मध्यस्थरंध्रादधो।
गच्छद्वर्तिरथोर्ध्वलंव्यपि घटः कार्यः शिरः सेचने।। धाराकल्प

१९७. योज्यं स्नेह चचुष्टयं च तिलजं वा तत्र शुद्धेऽनिले।
पित्तेऽत्रे च घृतं, कफे तु तिलज वातेऽस्त्र पितान्विते।।
तैलाज्यं तु समं कफेन सहिते तैलार्ध भागं घृतम्।। धाराकल्प

१९८. धारोच्यं चतुरंगुलं तु शिरसः सेंके।। धाराकल्प
अत्युष्णेऽपि च मंदकोपसमये मंदातपे शीतले।

१९९. कुर्यान्नत्वपराह्नकेऽपि च भिषग् रात्रौ तथा सेचनम्।। धाराकल्प

२००. धारायाश्चावसाने निजगदशमनप्रोक्त सर्पिश्च सेव्यम्।
तत्काले चावसंस्थः कथमपि वसतु प्रीतिमानेष रोगी।।
कायक्लेशानशेषान् मनिसि सुखहरान् वक्त्रजिह्वा सुखादीन्।
त्यक्त्वा पाटीर शुद्धाम्बर विधृत वपुर्बह्म विज्ञानतुल्यः।। धाराकल्प

२०१. धारायस्त्वेक वर्षातप हिम परि शोषातिशुद्ध प्रकीर्णम्।
धात्री प्रस्थं सपादं, भिषगथ पटुधीः संत्यजेद्वीजमस्याः।।
उत्क्वाथ्याष्टादशारव्यमित कुडव जले षष्ठभागावशिष्ठं।
तत्तुल्यं चाम्लतक्रं विधिरिति मुनिभिः प्रोक्त आत्रेयमुख्यैः।। धाराकल्प

२०२. Ayurvedic Treatment of Kerala, Page 37 to 39.

२०३. केशादीनांश्च शौक्ल्यं क्लममपि तनुतां दोषकोप शिरोरुग्बाधामोजः क्षयं
तत्करचरणपरिस्फोटनं मूत्रदोषम्। संधीनां विश्लथत्वं हृदयरुगरुची जाठराग्नेश्च मांद्यम्।
धात्री तक्रोत्थधारा हरति शिरसि वा कर्णनेत्रामयोधम्।। धाराकल्प

२०४. स्थैर्यवाग् मनसौः शरीरबल मध्यांहार कांक्षा धूतिमाधुर्य वचस्यस्त्वचोऽपि मृदुता नेत्रे
प्रकाशोऽगदः। शुक्रास्रग् परिपोषणं रतरतिर्दीघार्युरल्पोष्णता। सुस्वाप्नं घृततैलसेचन
गुणेनाऽस्तीह जाग्रत्सुखम्।। धाराकल्प

२०५. पिचुः केशपात स्फुटन धूपने-नेत्रस्तंभेच।। अ. हृ. २२-२५

२०६. विधिस्तस्य निषण्णस्य पीठे जानुसमे मृंदो।
१. शुद्धाक्त स्विन्न देहस्य दिनांते गज्यभाहिषम्।।
द्वादशांगुल विस्तीर्णं चर्मपट्टं शिरः समम्।
आकर्ण बंधन स्थानं ललाटे वस्त्र वेष्टिते।
चैलवेणिकया बद्धा माष कल्केन लेपयेतु।।
ततो यथा व्याधि श्रुतं स्नेहं कोष्णं निषेचयेत्।
ऊर्ध्वकेशभूषो यावद् द्वयंगुलं धारयेच्च तम्।। अ. हृ. सू. २२-२६ से २९
२. शिरोबस्ति विधिस्तु बस्ति सुमृदितं . . . . वा भवति।। अ. सं. सू. ३

२०७. धारयेच्च तम्। आवक्त्र नासिकोत्क्लेदात्। अ. हृ. सू. २-२९
स्कंधादि मर्दयेत् मुक्तस्नेहस्य।। अ. हृ. सू. २२-३०

२०८. दशाष्टौच चलादिषु। मात्रा सहस्राणि।
अरूजे त्वेकम्।। अ. हृ. सू. २२-३०

२०९. बास्तिस्तु प्रसुप्त्यार्दित जागरे।
नासास्य शोषे तिमिरे शिरोरोगेच दारुणे। अ. मे. सू. २२-२६

२१०. उपनाहः शिरोबस्तिर्दहनं चात्र शस्यते। च. सि. ९-७८

२११. नयने ताम्यति स्तब्धे शुष्के रुक्षेभिघातजे।
वातपित्तातुरे जिह्मे शीर्ण पक्ष्माविलेक्षणे।
कृच्छ्रोन्मीलशिराहर्ष शिरोत्पात तमोर्जुनैः।
स्यंदमंयान्यतोवात वातपर्याय शुक्रकैः।
आतुरे शांततारागाश्रुशूल संरंभ दूषिके।
निवाते तर्पणं योज्यं।। अ. हृ. सू. २४-१, २, ३

२१२. निवाते तर्पणं योज्यं शुद्धचोर्मूर्ध काययोः।
काले साधारणे प्रातः सायं चीत्तान शायिनः।।
यवमाषमयीं पालीं नेत्रकोषाद् बहिः समाम्।
द्वयंगुलीच्यां दृढा कृत्वां यथास्वं सिद्धमावपेत।
सर्पिनीमीलिते नेत्रे तृप्तांबु प्रविलापितं।
नक्तांधवात तिमिर कृच्छ्रबोधादिके वसाम्।।
आपक्ष्माग्रात् अथोन्मेषं शनकैस्तस्य कुर्वतः। अ. हृ. सू. २४-४ से ६

२१३. कृत्वाऽपांगे ततो द्वारं स्नेहं पात्रे तु गालयेत्।
पिबेच्च धूमं नेक्षेत व्योमं रूपं च भास्वरं।। श्लोक ६

१. मात्रा विगणयेतत्र वर्त्म संधि सितासिते।
दृष्टौ च क्रमशः व्याधौ शतं त्रीणि च पंच च।

२. शतानि सप्त चाष्टौ च दश मंथे दशानिले।
पित्ते षट् स्वस्थवृत्ते च बलासे पंच धारयेत्।

३. इत्थं प्रतिदिनं वायौ पित्तेत्वेकतरं कफं।
स्वस्थे च द्वयतरं दद्यादातृप्तेरिति योजयेत्।

२१४. प्रकाश क्षमता स्वास्थ्यं विशदं लघु लोचनं।
तृप्ते विपर्ययोऽतृप्तेऽति तृप्ते श्लेष्मजा रुजः। अ. हृ. सू. ४-११

२१५. औषधं औषध सिद्धो वा स्नेहं नासिकाभ्यां दीयत इति नस्यं। सु. चि. ४०-१८

२१६. न कर्णरोगा वातोत्था न मन्या हनु संग्रहः।
नोच्चे श्रुतिर्नवाधिर्य स्यान्नित्यं कर्म तर्पणात्।। च. सू. ५-८४
हनुमन्या शिरःकर्ण शूलघ्नं कर्णपूरणम्।। सु. चि. २४-२७

२१७. शिरःश्रवण पादेषु स विशेषेण शीलयेत्।। अ. हृ. सू. २-८

२१८. मस्तिष्के चैव नस्ये च तैलं वातहरं हितम्।। सु. चि. २२-२३

२१९. डल्हण—मस्तिष्कः शिरोबस्ति प्रकारः।।
शिरोबस्ति रचनवद् बद्धो मस्तिष्क इति।
अन्ये तु पठंति 'मस्तिष्क्ये चैव नस्ये च' इत्यादि।
अत्र मस्तिष्क्यं मस्तिष्के हितं अभ्यंग तैल पिचु धारणशिरो इत्यादि।

२२०. तत् सिद्धैर्षायसैः वापि सुखोष्णै लेपयेत् शिर।
स्विन्नैर्वा मत्स्य पिशितैः कृशैर्वा ससैंधवैः। . . . . .
नल बंजुर कहवार चंदनोत्पल पद्यकैः।
वंश शैबल यष्टचाह्वमुस्तांभोरुह संयुतैः।
शिरः प्रलेपै स घृतैः वैसर्पिश्च तथाविधैः।। सु. उ. ३६-६, १३, १४

२२१. देखें— The Ayurvedic Treatment of Kearal, पृष्ठ ४५

२२२. शरीरबलमाधत्ते युक्तः स्नेहावगाहने। सु. चि. २४-३१
डल्हण—अवगाहनम् भज्जनम्।

२२३. स्नेहमयोऽयं (स्नेह सारोऽयं-पाठांतर) पुरुषः।
प्राणश्च स्नेह भूयिष्ठाः स्नेहसाध्याश्च भवंति। सु. चि. ३१-१

२२४. अग्निः सोमौ वायुः सत्वं रजस्तमः पंचेन्द्रियाणि भूतात्मा इति प्राणाः। सु. शा. ४-१

२२५. १. स्नेहोऽनिलं हंति मृदु करोति देहं मलानां विनिहति संगम्। च. चि. १-७

२. दीप्ततांतराग्निः परिशुद्धकोष्ठः प्रत्यप्रधातुर्बलवर्णयुक्तः।
दृढेन्द्रियो मंदजरः शतायुः स्नेहोपयोगी पुरुषो भवेत्तु।।
स्नेहो हितो दुर्बल वह निदेहः संधुक्षणे व्याधि निपीडितस्य।
बलान्वितौ भोजन दोष जातैः प्रमर्दितौ तौ सहसा न साध्यौ। सु. चि. ३१-५६, ५७

२२६. मस्तुलुंगं व्रणात् स्त्रवेत्। सु. चि. २-६९
डल्हण —मस्तुलुंगमिति शिरसो बलाधानं स्त्यानधृताकारं मस्तुलुंगमुच्यते।।

२२७. मस्तिष्कस्यार्धाजलिः।। च. शा. ७-१५
चक्रपाणि—मास्तिष्कः शिरोगतः स्नेहः।।

२२८. शिरसि च इंद्रियाणि इंद्रिय प्राणवहानि च स्त्रोतांसि सूर्यमिव गभास्तयः संश्रितानि।।
च. सि. ९-४
शिरस्याभिहते मन्यास्तंभार्दित चक्षुविभ्रम मोहोद्वेष्टन चेष्टानाश कास-श्वासहनुग्रह मूक गदगदत्वाक्षीर्निमीलन गंडस्पंदन जृंभण लालास्राव स्वरहानि वदन जिह्मत्वादीनि।
च. सि. ९-६

२२९. यैव पित्तधरा सैव मजजधरा इति . . . . ।। डल्हण—सु. उ. ४-४० पर

२३०. When natural fat enters the stomach it inhibits the work of gastric glands during the first 2-3 hours and causes weak digestive juice during the subsequent hours. The stimulating effect of fat during the second phase of its action must be attributed to the products of fat conversion and transfarmation. In this respect glycerol has proved inactive; where is the fatty acids and the soaps stimulate the gastric glands.
"Text book of physiology by K. M. Bykov. Page 265

२३१. कर्मणां वमनादीनां पुनरप्यंतरेऽतरे।
स्नेहस्वेदौ प्रयुंजीत स्नेहमंते बलाचन।। अ. हृ. सू. १८-५७

२३२. स्नेहपूर्व प्रयुक्तेन स्वेदेनावजितेऽनिले।
पुरीष मूत्ररेतांसि न सज्जंति कथंचन।। च. सू. १४-४

२३३. स्निग्धात् पात्रात तथा तोयं अयत्नेन प्रणुद्यते।
कफादयः प्रणुद्यंते स्निग्धाद्देहात्तथौषधे।। च. सि. ६-११
स्निग्धः स्विन्नस्य भैषज्यैर्दोषस्तुक्लेदितो बलात्।
निलीयते न मार्गेषु स्निग्धं भांडे यथोदकं।। सु. चि. ३३-४०

२३४. क्लिष्टं वासो यथोत्क्लेश्य मलः संशोध्यतेऽभसा।
स्नेहस्वेदैस्तथौत्क्लेश्य शोध्यते शोधनेर्मलः।। च. सि. ६-१२

२३५. गृह्णात्यंबु यथा वस्त्रं प्रस्त्रवत्यधिकं यथा।
यथाग्निर्जीर्यति स्नेहस्वा स्त्रवति चाधिकः।। च. सू. १३-९६

२३६. च. पाः—''ननु अग्न्यधिकश्चेत्स्त्रवति, तदवधि च स्नेहलक्षणमुक्तं यदुच्यते अधस्तात् स्नेह दर्शनमिति।''

२३७. यथा चाक्लेश मृर्त्पिडमासिक्तं त्वरया जलं।
स्त्रवति, स्रंसते स्नेहस्तथा त्वरित सेवितः।। च. सू. १३-९७
२३८. स्नेहस्वेद प्रचालिता रसैस्भिग्धैदीरिता।
दोषा कोष्ठागता जातौ सुखाहंतु विशोधनैः।। सु. चि. ३३-४७
२३९. देखें—संदर्भग्रंथी की यादी के ग्रन्थ।
२४०. स्नेहना जीवना वर्ण्या वलोपचय वर्धनाः।। स्नेहाः च. सु. १-८८
२४१. ग्राम्यानुपौदकानां तु भित्वास्थिति पचेत् जले।
नं स्नेहं दशमूलस्य कषायेण पुनः पचेत्।।
जीवकर्षभका स्फीत विदारी कपिलच्छभिः।
वातघ्नैर्जीवनीयैश्च कल्कैर्द्विक्षीरभागिकं।।
तत्सिद्धं नावनाभ्यंगात्तथा पानानुवासनात्।
सिरा पर्वास्थि कोष्ठस्थं प्रणुदद्याशु मारुतम्।
ये स्युः प्रक्षीणमज्जानः क्षीण शुक्रौजसाश्च ये।।
बल पुष्टिकरं तेषां एतत् स्यादमृतोपमम्।। च. चि. २८-१२४ से १२७
२४२. तद्वत्सिद्धा वसा नक्र मत्स्य कूर्म चुलू कजा।
प्रत्यग्रा विधिना तेन नस्य पानेषु शस्यते। च. चि. २८-१२८
२४३. स्नेहमेव परं विद्याद् दुर्बलानल दीपनं।
नालं स्नेह समिद्धस्य शमायान्नं सुगुर्वपि।। च. चि. १५-२२२
यथाहि सारदार्वग्निः स्थिरः संतिष्ठते चिरम्।
स्नेहान्न विधिभिस्तद्वत् अंतरग्निर्भवेत् स्थिरः।। च. चि. १५-२१३
२४४. संतर्पयंति वः स्निग्धैर्मधुरैर्गुरु पिच्छिलैः।
रोगास्तस्योपजायंते संतर्पण निमित्तजाः।।
प्रमेहकंडू पिडकाः कोष्ठ पांड्वामय ज्वराः।।
कुष्ठान्याम प्रदोषाश्च मूत्रकृच्छ्रमरोचकः।।
तंद्रा क्लैव्यमति स्थौल्यमालस्यं गुरु गात्रता।।
इंद्रियः स्त्रोतसां लेपी बुद्धेर्मोहः प्रमीलकः।
शोफाश्चैवं विद्याश्चान्ये शीघ्रमप्रति कुर्वतः।। च. सू. २३- से ७

तृतीय अध्याय

स्वेद-विज्ञान

स्वेद की व्याख्या—जिस प्रक्रिया में शरीरस्थ स्वेद या पसीना निकाला जाता है उसे स्वेद करना या स्वेदन कहा जाता है। स्वेदन की व्याख्या करते हुए कहा गया है, जो शरीर की जकड़ाहट दूर करें, भारीपन दूर करें, शीत को दूर करें और पसीना लावे उसे स्वेदन कहते हैं।[१] स्वेद शब्द वैय्याकरणीय निरुक्ति इस प्रकार है[२] —

'स्विद् भावे घञ् पु., पाकभेदे, धर्मे गात्रादितो जलादेः निःस्यंदने। णिच् भावे अच्।'

'स्वेदन्-न, स्विद्-णिच् ल्युट्। गात्रादितो धमदिः निस्सारण व्यापारे। स्वेदशब्दे दृश्यम्।'

अर्थात् 'स्विद्' घञ् प्रत्यय से तथा भाव वाचक णिच् और अच् के द्वारा 'स्वेद' शब्द बनता है। जिसका एक अर्थ है— पाक भेद और दूसरा अर्थ है—गीष्म ऋतु में शरीर से निःस्यंदित पसीना। पाकभेद से मतलब 'पचाना' है। सामान्य बोलचाल में भी तंडुल को स्विन्न करना इत्यादि प्रयोग स्वेद पाकार्थ में प्रयुक्त है। स्वेद जो शरीर का धर्म है—उससे करणाधिकरण करण बोधक णिच् और ल्युट् प्रत्यय से स्वेदन यह नपुंसक लिंगी शब्द बनता है— इसका अर्थ है—शरीर से पसीना निकलना।

स्वेद का सामान्य परिचय— स्वेद यह एक शरीरांतर्गत मल है। मेद धातु का मल स्वेद है।[३] शरीर को मलिन करने के कारण इसकी मल संज्ञा होती है। तथापि प्रत्येक मल का अपना एक विशिष्ट कार्य भी होता है। स्वेद से शरीर के क्लेद का धारण किया जाता है।[४] क्लेद यह एक आप्य घटक है, जो शरीर के आप्यघटकों को नियत प्रमाण में रखने के लिए महत्त्वपूर्ण काम करता है। मूत्र के द्वारा क्लेद का वहन होता है और स्वेद से धारण। इस तरह शरीर के कई सारे आप्यांश क्लेद में रहकर मूत्र और स्वेद से बाहर निकल जाते हैं। शरीरस्थ उदक का प्रमाण दस अंजली बताया है और कहा गया है कि यह मूत्र में, मल में, व्रण के लसिका में, रस में, रक्त में तथा त्वचा में होता है। उष्मा के द्वारा स्त्रोतोविकास होने पर त्वचा से स्वेद के साथ निकल जाता है। अरुणदत्त का कहना है कि शरीर की मध्यम त्वचा क्लेद के बिना रह नहीं सकती। स्वेद से केश और रोमों का भी धारण होता है।[५]

स्वेद की उत्पत्ति उष्मा से होती है। स्वेद का निकलना यह शरीर की एक प्राकृत क्रिया है। अतः स्वेद प्राकृत लक्षण है। अस्वेद और अतिस्वेद रोगों के सूचक होते हैं।

शरीर में स्वेद या पसीना उत्पन्न करने की प्रक्रिया ही पंचकर्मोक्त (पूर्व कर्मोक्त) स्वेद प्रक्रिया है। जैसे वमनादि सभी कर्मों में स्नेह पूर्वकर्म है, वैसे ही स्वेद भी पूर्वकर्म है। यह वमनादि के पहले और स्नेह के बाद में किया जानेवाला कर्म है। प्रायः सभी शोधनों में स्वेद पूर्वकर्म है। प्रायः कहने का कारण कुछ खास अवस्थाओं में बिना स्वेद के भी वमनादि किये जा सकते हैं, यह है। कुष्ठ में जहां पित्त प्रधान है तथा अन्य रोगों में भी पित्त लक्षणों को देखकर स्वेद न कर वमनादि किये जाते हैं।

स्वेद यह वात और कफ के रोगों के लिए बहुत अच्छी चिकित्सा पद्धति मानी गई है।[६] वातकफात्मक रोगों का सामान्यतः स्वेद से प्रशम होता है। लेकिन कहां वातकफात्मक सभी रोग स्वेद से अच्छे होते हैं ऐसा नहीं है। अगर वातकफ के संसृष्ट विकार हो—उदर, कामलादि उनमें स्वेद का उपयोग नहीं है। अतः स्वेदसाध्यों की जो नामावली दी है उनमें वातकफात्मक रोगों पर विशेष उपयोग समझना चाहिये।

वमन-विरेचन-बस्ति इत्यादि के पूर्व स्वेद करना होता है। 'ततस्तं पुरुषं यथोक्तं स्नेहस्वेदाभ्यामुपपादयेत्।' 'ततस्तं पुरुषं यथोक्तं स्नेहस्वेदोपन्नं', ऐसे वचन बारंबार मिलते हैं। कुछ प्रक्रियाओं में प्रधानकर्म के बाद भी स्वेद-पश्चात्कर्म के रूप में करने का आदेश मिलता है। उदाहरण बस्ति के बाद सुखोष्ण जल का स्वेद या अवगाह करने का निर्देश है। यद्यपि स्वेद पूर्वकर्म है और कभी-कभी पश्चात्कर्म भी होता है, तथापि इसका 'प्रधान कर्म' की दृष्टि से भी प्रयोग वांछनीय है। चरक ने षड्उपक्रमों में इसका समावेश कर इसे चिकित्सा का मुख्य प्रकार माना है। जहां शोधन के लिए इसका प्रयोग किया जाए वहां इसे पूर्वकर्म मानना चाहिये और स्वेदसाध्य व्याधियों के लिए जहां इसका प्रयोग किया जाएगा, वहां इसे प्रधान कर्म मानना चाहिये। चरक ने षड्उपक्रम में इसका समावेश किया है यह बात इसके चिकित्सा में श्रेष्ठत्व की और महत्त्व की पूरक हैं।

स्वेद के विपरीत कर्म को 'स्तंभन' कहते हैं। षड्उपक्रम में स्तंभन चिकित्सा का भी समावेश किया जाता है। स्तंभन वह कर्म है जो गतिमान-घूमने-फिरने-वाले शरीर पदार्थों को स्थिर करता है।[७] यहां गतिमान का अर्थ केवल वायु ऐसा नहीं है— अपितु अतिसार, रक्तस्राव और विषवेग, दाहवेग, वेदनावेग इन सभी के लिए रोकनेवाली चिकित्सा स्तंभन होती है।

स्वेद का चिकित्सा शास्त्र में बहुत महत्त्व है। स्नेह के बाद स्वेद प्रयोग से (स्नेहनस्वेदन से) मल मूत्रादि की गतियां अबाधित रहती हैं, स्नेहस्वेद किया जाए तो सूखी लकड़ी भी नमाई जा सकती है, फिर स्तब्ध और संकुचित जीवित-शरीर के अवयवों को नमाया जा सकेगा इसमें क्या सन्देह ?[८] इस गुणकारी स्वेद प्रक्रिया का विचार प्रस्तुत किया जाता है।

स्वेदन द्रव्यों के गुण एवं कर्म— स्वेद द्रव्यों में प्रायः निम्नोक्त गुण होते हैं— अथवा यूं कहिए कि इन गुणों से युक्त द्रव्य प्रायः स्वेदन करते हैं[९]—

१. उष्ण	२. तीक्ष्ण	३. सर
४. स्निग्ध	५. रुक्ष	६. सूक्ष्म
७. द्रव	८. स्थिर	९. गुरु

इनमें से सर, स्निग्ध, सूक्ष्म, द्रव और गुरु ये गुण स्नेहन द्रव्यों में भी होते हैं— और इनका विचार पीछे किया गया है। शेष गुणों के लक्षण एवं कर्मों का यहां विचार करेंगे।

१. उष्ण—यह आग्नेय गुण है और स्वेदद्रव्यों का सबसे महत्त्व का गुण है। यह शीत के विपरीत गुण हैं। शीत से अल्हादन होता है, स्तंभन होता है, मूर्च्छा, तृष्णा, दाह और स्वेद कर्म होता है ऐसा कहा गया है। उष्ण से तद्विपरीतता के कारण अनुत्साह उत्पन्न करना, स्तंभ को दूर करना, मूर्च्छा, तृष्णा, दाह और स्वेद को उत्पन्न करना ये कर्म होते हैं। उष्ण का विशेष कार्य पाचन का है।[१०] यहां अनुत्साह, मूर्च्छा, दाह, तृष्णा से अतिप्रवृत्त उष्णगुण के कर्म समझना चाहिये और इस गुण से ये उपद्रव होंगे। सम्यग् प्रवृत्तस्वेद के उष्ण गुण से केवल स्वेदन होगा--मूर्च्छादि नहीं और स्वेद निकालने के बाद वह उत्साहवर्धक ही होता है। पाचन करना यह इसका दूसरा महत्त्वपूर्ण कर्म है। आयुर्वेद में पाचन से आमपाचन यह अर्थ किया जाता है। जहां आम प्रधान है वहां शोधन के पूर्व स्वेद की इसीलिए अनिवार्यता होती है। रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि इत्यादि धातुओं, अग्निमांद्य से जनित आम के लिए भी स्वेद उपयोगी समझना चाहिये। उष्ण गुण सारक प्रवृत्तिवाला होता है। उष्ण से द्रव्य में विकास और फैलाव होता है। हेमाद्रि ने— 'स्वेदनकारकत्व' यह उष्ण की व्याख्या की है। उष्ण स्पर्श ग्राह्य गुण है।[११]

२. तीक्ष्ण[१२]— तीक्ष्ण भी आग्नेय गुण है। दाह, पाक और स्राव करना ये इसके कर्म हैं। स्वेद द्रव्यों में रहनेवाला यह दूसरा महत्त्वपूर्ण गुण है। दोषों और मलों का पाक करना और उनको स्थान से स्रवित करना यह तीक्ष्ण गुण से होता है। तीक्ष्ण गुण कफ और वात को हरनेवाला तथा पित्त को प्रकुपित करनेवाला होता है। यह शरीर के मांस, मेदादि को कम करने (लेखन) का भी काम करता है। हेमाद्रि ने तीक्ष्ण को शोधन कहा है। स्रावन की प्रक्रिया से यह शोधन होता है।

३. रुक्ष—यह स्निग्ध का विपरीत गुण है। स्वेद में स्निग्ध और रुक्ष दोनों गुण बताये गये हैं। इसका अर्थ एक दूसरे का विरोधी न समझे अपितु आगे कहे गये अनुसार रुक्षस्वेद में रुक्ष गुण और स्निग्ध स्वेद में स्निग्ध गुण की आवश्यकता है ऐसा करना चाहिये। स्निग्धता, मृदुता, वर्ण उत्पादन बल उत्पादन ये स्निग्ध के कार्य हैं। तद्विपरीत रुक्ष रूखापन करता है। मृदुता को दूर कर दृढ़ता करता है। वर्ण नाश और बल नाश करता है। रुक्ष का विशेष गुण है स्तंभन करना और खतरा उत्पन्न करना।[१३] यह स्पर्शग्राह्य गुण है। वायव्य और आग्नेय प्रधान है।[१४] हेमाद्रि ने जो शोषण करें वह रुक्ष है ऐसी व्याख्या की है। यह वातकर और कफहर होता है।[१५] जहां आम का प्राधान्य हो, शोषण की आवश्यकता हो, गृदु और शिथिल अवयवों को कठिन करना हो वहां रुक्ष का उपयोग स्वेद में होगा।

४. स्थिर[१६] — स्थिर गुण सर के विपरीत कर्म वाला है। सरगुण के अनुलोमन होता है— आगे बहने की, बढ़ने की प्रवृत्ति होती है। स्थिर प्रतिलोमता कारक वात और मल को रोकने वाला गुण है। यह वास्तव में स्तंभन द्रव्यों का गुण है। यहां विपरीत होते हुए भी उसे लेने का कारण स्निग्धरुक्ष के समान प्रयोग भेद जानना चाहिये। अर्थात् जहां सर्वांग स्वेद हो वहां सर गुण प्रधान (द्रव्य सर द्रव्य) द्रव्य और जहां एकांग में स्वेद करना ही वहां स्थिर गुण प्रधान चिपक कर बैठनेवाले और बहनेवालों को रोकनेवाले द्रव्य प्रयोग (उपनाहादि) किये जायें। हेमाद्रि धारण करना यह स्थिर का लक्षण कहते हैं। सभी स्वेद गुणों की कर्मानुसार भौतिकतादर्शक तालिका नीचे दी जाती है, जो चिकित्सा में स्मरण योग्य है।

स्वेदनद्रव्य—गुणकर्म—भौतिक संगठन दर्शक तालिका

क्र.	गुण	प्रमुख कर्म	महाभूत प्राधान्य
१.	उष्ण	अनुत्साहकारक, मूर्च्छा, तृट् स्वेद, दाहकारक	अग्नि
२.	तीक्ष्ण	दाहपाककर, शोधन, स्रावन	अग्नि
३.	स्निग्ध	स्नेहकृत्, मार्दवकृत्, बलवर्णकृत्	आप, पृथ्वी
४.	रुक्ष	तद्विपरीत स्तंभन, खर	वायु, अग्नि
५.	सर	अनुलोमन, प्रेरकता, प्रवृत्तिशील	वायु, जल
६.	स्थिर	चिरकारिता, स्थिरता, स्तंभकता	पृथ्वी
७.	द्रव	क्लेदन, आलोडन, स्यंदन कारक	जल
८.	सूक्ष्म	सूक्ष्मछिद्रों में प्रवेश योग्यता, विवरणशीलता	आकाश, वायु, अग्नि
९.	गुरु	साद, उपलेप, तर्पण, बृंहण कृत्	पृथ्वी जल

स्वेदन द्रव्यों का परिचय—स्वेदनार्थ चरक, सुश्रुत और वाग्भट ने अनेक द्रव्यों का उपयोग किया है। उन सब द्रव्यों का विस्तृत परिचय देना हो तो, एक द्रव्यगुण की पुस्तक ही लिखनी पड़ेगी इतनी यह संख्या विपुल है। अतएव इनका सामान्य परिचय ही दिया जाएगा। स्नेहन, वमन और विरेचन में द्रव्यों का आभ्यंतर प्रयोग होता है और उनके रस-पाकादि की अपेक्षा होती है। जहां स्वेदन में प्रायः बाह्य प्रयोग की किया जाता है और उनके गुण-वीर्य तथा मर्यादित कार्य में रस का उपयोग होता है अतएव स्वेदन द्रव्यों का नामतः उल्लेख कर उनके प्रमुख गुण, वीर्य रस तथा दोषघ्नता का सामान्य विवरण तालिका में दिया गया है। इससे अधिक ज्ञान के लिए तत्तद् ग्रंथों का अवलोकन करना चाहिये।

१. स्वेदोपग गण[१७]— स्वेद में जो सहाय्यकारी द्रव्य होते हैं, उसे स्वेदोपग द्रव्य कहते हैं। ऐसे १० द्रव्यों का गण चरक ने गिनाया है।

१. शोभांजन-सहिंजन २. एरंड ३. वृश्चीर (श्वेत पुनर्नवा)
४. यव ५. तिल ६. कुलत्थ
७. माष-उड़द ८. बदर-बेर ९. अर्क
१०. पुनर्नवा (रक्त पुनर्नवा)

२. पिंडस्वेद में प्रयुक्त द्रव्य[१८] —

१. तिल २. माष, ३. कुलत्थ ४. ओदन ५. अम्लवर्ग के द्रव्य
६. घृत ७. तैल ८. मांस ९. पायस
१०. कृशरा (गवादि) ११. प्राणी १२. तुष १३. यव १४. वालुका।

शकृत

३. नाड़ीस्वेद तथा अवगाहस्वेदोपयोगी द्रव्य[१९] —

१. वरुण २. गुडूची ३. शिग्रु ४. मूलक
५. सर्षप ६. वासा ७. वंश-बांस ८. करंज
९. अर्क १०. अश्मंतक ११. मालती १२. शैरीय
१३. तुलसी १४. पंचमूल १५. गंधतृण।

४. उपनाहार्थ सुश्रुतोक्त काकोल्यादि गण[२०] —

१. काकोली २. क्षीर काकोली ३. जीवक ४. ऋषभक
५. मृद्गपर्णी ६. माषपर्णी ७. मेदा ८. महामेदा
९. गुडुचि १०. कर्कट शृंगी ११. वंशलोचन १२. पद्मक
१३. प्रपौंडरीक (सफेद कमल) १४. वृद्धि १५. मृद्वीका-द्राक्षा १६. जीवंती
१७. यष्टीमधु।

५. उपनाहार्थ सुश्रुतोक्त सुरसादि गण[२१]—

१. सुरसा (तुलसी) २. श्वेत सुरसा ३. फणिज्झक (मरुवा)
४. अर्जक (बर्बरिका) ५. भूस्तृण (द्रोण पुष्पी) ६. सुमूख (राजिका)
७. कालमालिका (कृष्ण मल्लिका) ८. कासमर्द ९. क्षवक (नक छिकनी)
१०. खरपुष्प (वन वर्वरिका) ११. वायविडंग १२. कायफल
१३. सुरसी (तुलसी) १४. निर्गुंडी १५. कुलाहल (मुंडिका)
१६. इंडुकर्णी (मूषिकपर्णी) १७. फंजी (भार्गी) १८. प्राचीबल (मत्स्याक्ष)
१९. काकमाची (मकोय) २०. विषमुष्ठि (कुचला)

६. उपनाहार्थ सुश्रुतोक्त एलादि गण[२२] —

१. एला २. तगर ३. कुष्ठ
४. जटामांसी ५. ध्यामक (कत्तृण या रोहिष तृण) ६. त्वक्पत्र
७. नागकेशर (नागपुष्प) ८. प्रियंगु ९. हरेणुका
१०. व्याघ्रनख (नाखूना) ११. शुक्ति (नखभेद) १२. चंढा (चोरक-चोरक पुष्पी)
१३. स्थौणेयक (थुनेरक) १४. श्रीवेष्टक १५. चोच (दालचिनी का प्रकार)
१६. चोरक (पहाड़ में होने वाला सुगंधी पदार्थ) १७. बालुक (एल बालुक) १८. गुग्गुलु

१६. सर्जरस २०. तुरुष्क (सिह्लारक) २१. कुंदरु (गोंद भेंद)
२२. अगुरु २३. स्पृक्का (गंध द्रव्य) २४. उशीर
२५. भद्रदारु २६. कुंकुम २७. पुन्नाग केशर।

७. उपनाहार्थ-चरक के अन्य द्रव्य[२३]—

१. गेहूँ के छिलके का चूर्ण २. यव चूर्ण ३. अम्ल द्रव्य
४. स्नेह ५. लवण ६. किण्व-सुराबीज।

८. प्रस्तर स्वेदोपयोगी द्रव्य[२४]—

१. शूकधान्य-लाल चावल, महाशाली इत्यादि चावल, यव, उद्दालक, कोदो, शामाक, गेहूं इत्यादि

२. शमीधान्य-- मूंग, उड़द, कुलत्थ, मोट, चना, मसूर, तिल, इत्यादि का उपयोग।

९. शाल्वणादि स्वेद में प्रयुक्त सुश्रुतोक्त वातघ्न गण[२५]— (भद्रदार्व्यादि)

१. भद्रदारु २. कुष्ठ ३. हरिद्रा
४. वरुण ५. मेषशृंगी ६. बला.
७. अतिबला ८. आर्तगल (ककुथ) ९. कच्छुरा
१०. शल्लकी ११. कुबेराक्षी (पाटल-पीटिका) १२. वीरतरु (अर्जुन)
१३. सहचर १४. अग्निमंथ (अरणी) १५. वत्सादनी (गिलोय)
१६. एरंड १७. अश्मंतक (पाषाण भेद) १८. अलर्क (श्वेत पुष्प का अर्क)
१९. शतावरी २०. पुनर्नवा २१. वसुक
२२. बशिर (सूर्यावर्त) २३. कांचनक (धत्तूर) २४. भार्गी
२५. कार्पासी (बनकपासी) २६. वृश्चिकाली (बिछूटी) २७. पत्तूर (कुचंदन)
२८. बेर २९. जौ ३०. कोल (झाड़ी का बेर)

३१. कुलत्थ-भाष आदि तथा विदारी गंधादि गण और दशमूल से वातसंशमन गण हैं।

विदारीगंधादि गण[२६] — (वातघ्न गणोक्त) —

१. विदारी गंधा (शालपर्णी) २. विदारी (भूमि कूष्मांड) ३. विश्वदेवा (श्वेत बला-गगेरन)
४. श्वदंष्ट्रा (गोखरू) ५. पृथक्पर्णी (पिठवन) ६. शतावरी
७. सारिवा ८. कृष्ण सारिवा ९. जीवक
१०. ऋषभक ११. महासहा १२. क्षुद्रसहा (मृद्गपर्णी)
१३. दोनों कंटकारिका १४. पुनर्नवा १५. एरंड

१६. हंसपादी १७. वृश्चिकाली १८. ऋषभी (कौंच का फल)।

दो पंचमूल[२७] **— वातघ्न द्रव्योक्त स्वेदोपयोगी—**

१. गोक्षुर २. छोटी कटेरी ३. बड़ी कटेरी ४. विदारीगंधा
५. पृश्निपर्णी ६. बिल्व ७. अरणी ८. श्योनाक
९. पाटला १०. काश्मरी (गंभारी) ये दशमूल हैं।

स्वेदन द्रव्य-परिचय तालिका

क्र.	द्रव्य नाम	गुण एवं रस	वीर्य	दोषघ्नता
चरक (स्वेदोपग)				
१.	शोभांजन	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण, सर रस-कटु, क्षार	उष्ण	कफवातघ्न
२.	एरंड	गुरु, स्निग्ध, तीक्ष्ण, सूक्ष्म रस-मधुर,कटु, कषाय	उष्ण	कफ वातशामक पित्तवर्धक तैल-पित्तशामक
३.	पुनर्नवा	लघु, रुक्ष, रस-मधुर, तिक्त, कषाय	उष्ण रक्तपु-शीत	त्रिदोषहर
४.	यव	रुक्ष, लघु, शीत, सर-मधुर, कषाय	शीत	कफघ्न पित्तघ्न वातकृत्
५.	तिल	स्निग्ध, गुरु, रस-मधुर	उष्ण	वातशामक कफपित्त कारक
६.	कुलत्थ	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण, रस-कषाय	उष्ण	कफवात शामक रक्तपित्त शामक
७.	माष	गुरु, स्निग्ध, रस-मधुर	उष्ण	पित्तकारक वातशामक कफवर्धक
८.	बदर	गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल रस-अम्ल, मधुर. कषाय	शीत	पित्त शामक
चरक पिंडस्वेदोपयोगी द्रव्य—				
९.	घृत	गुरु, स्निग्ध, मधुर	शीत	रक्त पित्तशामक वातशामक
१०.	तैल	स्नेहाध्याय देखें	—	—
अवगाहोपयोगी नाड़ी स्वेदोपयोगी—				
११.	वासा	लघु, रुक्ष, रस-तिक्त, कषाय	शीत	पित्त शामक

क्र.	द्रव्य नाम	गुण एवं रस	वीर्य	दोषघ्नता
१२.	वंश	रुक्ष, लघु, तीक्ष्ण, रस-मधुर, कषाय	शीत	कफपित्त शामक पित्तवर्धक (फल)
१३.	वरुण	लघु, रुक्ष, रस-तिक्त, मधुर, कषाय	उष्ण	कफवात शामक पित्तवर्धक
१४.	गुडूचि	गुरु, स्निग्ध, रस-तिक्त, कषाय	उष्ण	त्रिदोषघ्न कफपित्त शामक
१५.	मूलक	लघु-मूलक, लघु-बृहत्मूलक, गुरु, तीक्ष्ण रस-कटु	उष्ण	लघु मूलक त्रिदोषहर बृ. मू. त्रिदोषकर
१६.	सर्षप	शाक-तीक्ष्ण, रुक्ष्ण, बीज-तैल, स्निग्ध रस-कटु, तिक्त	उष्ण	कफ वातशामक पित्तवर्धक
१७.	करंज	लघु, तीक्ष्ण, रस-तिक्त, कटु, कषाय	उष्ण	कफ वातशामक पित्तवर्धक
१८.	अश्मंतक	तिक्त, कषाय	शीत	वातादि दोषहर
१९.	तुलसी	लघु, रुक्ष, रस-कटु, तिक्त	उष्ण	कफवात शामक पित्तवर्धक
२०.	भूतिक	लघु, रुक्ष, रस-तिक्त	शीत	कफपित्त शामक
२१.	लघु पंचमूल	रस-कषाय, तिक्त, मधुर	—	वातघ्न, पित्त-शामक
२२.	बृहत्पंचमूल	लघु, रस-तिक्त, मधुर	—	कफवातघ्न
सुश्रुत-वातघ्न—द्रव्य—				
२३.	देवदारु	लघु, स्निग्ध, रसतिक्त, कटु	उष्ण	कफवात शामक
२४.	कुष्ठ	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण, रस-तिक्त, कटु, मधुर	उष्ण	कफवात शामक
२५.	हरिद्रा	लघु, रुक्ष, रस-तिक्त, कटु	उष्ण	कफवात शामक पित्तरेचक पित्त शामक
२६	मेष शृंगी	लघु, रुक्ष, रस-कटु, कषाय	उष्ण	कफवात शामक
२७.	बला, अतिबाला	गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल रस-मधुर	शीत	पित्त शामक
२८.	कच्छुरा, यवासा	लघु, स्निग्ध, रस-मधुर तिक्त, कषाय	शीत	पित्तशामक कफ निःसारक
२९.	कुबेराक्षी (पाटला)	लघु, रुक्ष, रस-तिक्त कषाय	उष्ण (किंचित)	त्रिदोष शामक छाल-कफवात शामक, पुष्पफल वातपित्त शामक

क्र.	द्रव्य नाम	गुण एवं रस	वीर्य	दोषघ्नता
३०.	वीरदरु (अर्जुन)	रस-कषाय	शीत	कफपित्त शामक
३१.	सहचर	लघु, स्निग्ध रस-तिक्त मधुर	उष्ण	कफवात शामक
३२.	अग्निमंथ	लघु, रुक्ष, रस-तिक्त कटु, कषाय, मधुर	उष्ण	कफवात शामक
३३.	अर्क	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण रस-कटु, तिक्त	उष्ण	कफवात शामक कफपित्त शामक
३४.	शतावरी	गुरु, स्निग्ध, रस-मधुर, तिक्त	शीत	वातपित्त शामक
३५.	कांचनक	लघु, रुक्ष, रस-कषाय	शीत	कफपित्त शामक
३६.	भार्गी	लघु, रुक्ष, रस-कषाय	शीत	कफवात शामक
३७.	कार्पासी	लघु, स्निग्ध, रस-मधुर, कषाय	ईषदुष्ण	वात शामक पित्त वर्धक
३८.	विदारी गंधा (शालपर्णी)	गुरु, स्निग्ध, रस-मधुर, तिक्त	उष्ण	त्रिदोष शामक पित्त, कफ शामक
३९.	विदारी	गुरु, स्निग्ध, रस-मधुर	शीत	वातपित्त शामक
४०.	बदर	गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल रस-अम्ल, मधुर कषाय	शीत	पित्त शामक
४१.	सहदेवा (महाबला)	गुरु, स्निग्ध, पिच्छिल, रस-मधुर	शीत	पित्त शामक
४२.	गोक्षुर	मधुर-रस	शीत	वात शामक
४३.	पृथक्पर्णी (पिठवन)	रस-मधुर, सर		
४४.	सारिवा	गुरु, स्निग्ध, रस-मधुर, तिक्त	शीत	त्रिदोष शामक, वात शामक, पित्त शामक
४५.	जीवक ऋषभक	मधुर रस	शीत	वातघ्न पित्तघ्न
४६.	महासहा (माषपर्णी)	लघु, स्निग्ध, रस-मधुर,तिक्त	शीत	वातपित्त शामक कफवर्धक
४७.	बृहती	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण रस-कटु, तिक्त	उष्ण	कफवात शामक
४८.	हंसपादी	गुरु, स्निग्ध, रस-मधुर, तिक्त कषाय	शीत	वातपित्त शामक कफ निःसारक
एलादि तथा अन्य द्रव्य—				
४९.	एला	लघु, रुक्ष, रस-कटु, मधुर	शीत	वात शामक पित्त शामक

क्र.	द्रव्य नाम	गुण एवं रस	वीर्य	दोषघ्नता
५०.	तगर	लघु, स्निग्ध, सर, रस-तिक्त, मधुर, कषाय, कटु, कषाय	उष्ण	त्रिदोष हर कफपित्त शामक
५१.	कुष्ठ	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण रस-तिक्त, कटु मधुर, कषाय	उष्ण	त्रिदोष हर कफपित्त शामक
५२.	त्वक् पत्र	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण, रस-कटु, तिक्त, मधुर	उष्ण	कफवात शामक पित्तवर्धक
५३.	नागपुष्प	लघु, रुक्ष, रस-कषाय, तिक्त	उष्ण	कफपित्त शामक
५४.	प्रियंगु	गुरु, रुक्ष, रस-तिक्त, कषाय, मधुर	शीत	वातपित्त शामक
५५.	हरेणुका	लघु, रस-कटु, तिक्त	अनुष्ण	पित्तला, कफवातकृत्
५६.	व्याघ्रनखी	लघु, स्निग्ध, रस-कटु, तिक्त	उष्ण	कफवात शामक
५७.	श्रीतष्टक	लघु, तीक्ष्ण, स्निग्ध, रस-कटु, तिक्त मधुर	उष्ण	कफवात शामक
५८.	गुग्गुलु	लघु, तीक्ष्ण, स्निग्ध, सूक्ष्म, पिच्छिल, सर	उष्ण	त्रिदोषहर, कफ शामक
५९.	सर्जरस	लघु, रुक्ष, कषाय, कटु, तिक्त	शीत	कफनाशक
६०.	तुरुष्क (सहलक)	स्निग्ध, लघु, रस-तिक्त, मधुर, कटु	उष्ण	कफवात शामक
६१.	उशीर	रुक्ष, लघु, रस-तिक्त, मधुर	शीत	पित्त शामक
६२.	कुंकुम	स्निग्ध, लघु, कटु, तिक्त	उष्ण	त्रिदोष हर कफवात शामक
६३.	ध्यामक	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण, कटु, तिक्त रस	उष्ण	कफवात शामक
६४.	मुद्गपर्णी	रुक्ष, लघु, तिक्त मधुर	शीत	—
६५.	कर्कटशृंगी	रुक्ष, लघु, कषाय, तिक्त रस	उष्ण	कफवात शामक
६६.	कासमर्द	रुक्ष, लघु, तीक्ष्ण, रस-मधुर, तिक्त	उष्ण	कफवात शामक पित्तसारक
६७.	विडंग	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण, रस-कटु	उष्ण	कफवात शामक
६८.	निर्गुंडी	लघु, रुक्ष, रस-तिक्त, कटु, कषाय	उष्ण	कफवात शामक
६९.	कट्फल	तीक्ष्ण, रस-कटु, तिक्त, काषाय	उष्ण	कफवात शामक पित्तवर्धक

क्र.	द्रव्य नाम	गुण एवं रस	वीर्य	दोषघ्नता
७०.	काकमाची	लघु, स्निग्ध, रस-तिक्त	अनुष्ण	कफवात शामक पित्त शामक
७१.	कारस्कर	रुक्ष, लघु, तीक्ष्ण, रस-तिक्त, कटु	उष्ण	वात शामक
७२.	अगरु	लघु, कटु, तिक्त	उष्ण	पित्तजनक

स्वेद के प्रकार— स्वेद के अलग-अलग दृष्टिकोण से अनेक प्रकार संहिता-ग्रंन्थों में किये गये हैं उनका विवरण नीचे दिया जाता है।

१. स्वेद के द्वंद्वज प्रकार— जिनमें परस्पर द्वंद्व यानी एक दूसरे के विपरीत ऐसे दो-दो स्वेद कहे गये हैं, उनको द्वंद्वभेद कहा जाता है। ऐसे तीन जुड़वे (द्वंद्व) स्वेद कहे गये हैं।[२८]

(अ) अग्निभेद से द्वंद्व[२९] **—** जिस स्वेद में द्रव्यों को प्रत्यक्ष अग्नि संस्कार नहीं किया जाता उसे अनाग्नि स्वेद कहते हैं और जिसमें द्रव्यों को प्रत्यक्ष अग्नि संस्कार कर उष्ण द्रव्यों से शरीर पर स्वेदन किया जाता है उसे अग्निस्वेद या साग्निस्वेद कहा जाता है। साग्निस्वेद का ही प्रायः प्रयोग किया जाता है और इसके संकर, प्रस्तर, कुटी इत्यादि अनेक प्रकार है।

अनाग्नि स्वेद— अनाग्नि स्वेद के निम्नलिखित १० प्रकार हैं।[३०]

१. व्यायाम— व्यायाम यह स्वेद का एक उत्कृष्ट उपाय है। व्यायाम से शरीर के अवयवों में आयास से स्वयं ही उष्णता उत्पन्न होती है। शरीर में शक्ति का सतत् निर्माण और व्यय होता हैं। यह शक्ति उष्णता से गिनी जाती है जो शारीरिक मेहनत का काम करते हैं उनमें सतत् अधिक शक्यिक्षय होता है। व्यायाम से गात्रस्वेदन होता है। व्यायाम सार्वदैहिक दे सकते हैं वैसे ही किसी एक अवयव को भी दे सकते हैं। शरीर के किसी एक अवयव की मांस-पेशी को उसकी प्राकृत गतियों से घुमा फिराकर व्यायाम कराना वायव्याधि में बृहत लाभप्रद होता है। आजकल स्थानिक पेशियों के व्यायाम का शास्त्र (Physical exercise) बहुत विकसित हुआ है। व्यायाम से अवयवों में स्वेद जनन स्त्रोतों विशोधन और कार्यों की प्राकृत गति मिलती है।

सुश्रुत ने व्यायाम की व्याख्या 'शरीर आयास जनन' कर्म ऐसी की है।[३१] इसके गुण में कहा है— व्यायाम से शरीर की पुष्टि होती है, अवयव सम सुविभक्त (सुसंहत) बनते हैं अग्नि प्रदीप्त होती हैं, शरीर में स्फूर्ति रहती है, लघुता होती है, शरीर शुद्ध रहता है और श्रम, प्यास, थकावट, उष्ण शीतादि सहन करने की क्षमता बढ़ती है। स्थूलता कम करने के लिए व्यायाम सदृश अच्छा दूसरा उपाय नहीं है तथा जिनको वातपित्तज रोग हो तो बहुत छोटी उमरवाले हों, जो बूढ़े उमरवाले हों, जिन्हें अजीर्ण हुआ हो उनको व्यायाम नहीं करना चाहिये।[३२]

सुश्रुत ने व्यायाम से मांसपेशियों की स्थिरता होती है यह एक खास कर्म बताया है।[३३] अतएव जिन वात व्याधियों में मांसपेशी शिथिल (Flaceid) होती है, उनमें उनको स्थिर करने के लिए, उनके उपचय और बल के लिए व्यायाम कराना चाहिये। व्यायाम

हमेशा आधी शक्ति कम होने तक–आधे थकने तक करना चाहिये। ललाट पर पसीना आने पर व्यायाम बंद करें। शीत काल में और बसंत में अच्छी तरह व्यायाम किया जा सकता है। अन्य ऋतु में अल्प व्यायाम करें।[३४]

२. **उष्णसदन**— गरम मकान को उष्ण सदन कहते हैं। आगे कुटीस्वेद आदि साग्नि स्वेदों में अग्निसंस्कार से मकान को गरम कर स्वेद करने का आदेश है। यहां अग्नि संस्कार के बिना जो कमरा गरम होता है उसी के द्वारा स्वेदन का समावेश होता हैं। ऐसे कमरे की दीवारें खूब मोटी (जाडी) होना चाहिये और हवा के आने जाने के लिए, वातायन इत्यादि नहीं रखने चाहिये।[३५] एक ही द्वार हो जो बंद किया जाने पर आतुर का आभ्यंतर गरम हवा से स्वेदन होगा।

३. **गुरु प्रावरण**:— गरम कंबल ओढ़कर, स्वेदन कराना यह विधि ''गुरु प्रावरण'' है। उष्ण सदन सब लोगों को निर्माण करना संभव नहीं है। कंबल ओढ़कर स्वेदन करना सबको सभी अवस्थाओं में सहज शक्य होता है।

४. **क्षुधा** — भूख लगने पर भोजन न करना, क्षुद्वेग का धारण करना यह 'क्षुधा' जन्य स्वेदन है।

५. **बहुपान** — बहुपान का अर्थ अधिक मात्रा में मद्यपान है।[३६]

६. **भय** — भय-भीति उत्पादन है। मन के भयादि भावों से आक्रांत होने पर शरीर के कुछ वातवाहिनियों का कार्य बढ़कर उनका स्वेद ग्रंन्थि पर प्रभाव होता है ऐसा माना जाता है। आधुनिक शरीर क्रिया विज्ञान के अनुसार भय से सिंपथिटिक और पेरासिंपेथिटिक (Sympathetic and Parasympathetic) नर्व्ह की उत्तेजना होती है। जिनमें पेरासिंपेथिटिक उत्तेजना होती है उनमें स्वेद का निकलना, मल निःस्सरण और मूत्र विसर्जन ये प्रक्रियाएं हो जाती हैं।[३७]

७. **क्रोध**— भय की तरह क्रोध से भी स्वेद आता है, यह प्रत्यक्ष है। क्रोध से पित्त का प्रकोप होकर पित्त के उष्ण गुण से स्वेदन होता है। क्रोध से शिरस्थ (Hypothalamus) से पार्श्ववर्ति केन्द्र की उत्तेजना के लक्षण उत्पन्न होते हैं जिनमें स्वेदनादि के अतिरिक्त पाचनसंस्थान, रक्तसंवहन तथा अनेक संस्थानों पर असर होता है ऐसा माना गया है।[३८]

८. **उपनाह**— उपनाह— उपनाह स्वेद का साग्निस्वेद में भी समावेश किया गया है। यहां अग्नि के प्रत्यक्ष संबंध के बिना जिस औषधिद्रव्य का शरीर पर लेप किया जाता है उसका ही समावेश है।[३९] उपनाहों के कुछ प्रयोग आरग्वधीय अध्याय में कहे गये हैं। इनमें से कुछ उदाहरण निम्नलिखित प्रकार के हैं।[४०]

१. बेर, कुलत्थ, कुष्ठ, वचा, सौंफ, रास्ना, उड़द, अलसी का तेल, मदनफल, यवचूर्ण, देवदारु इनको कांजी के साथ मिलाकर किया हुआ प्रदेह वातव्याधि में हितकर होता है।

२. आनूप, मत्स्य, मांस बेसवार इनका उष्ण प्रदेह वातहर है।

३. घी, तेल, वसा और मज्जा से चारों स्नेह, दशमूल और अगुर्वादि औषधियों का लेप वातहर है।

४. यव चूर्ण को छाछ में मिलाकर गरम लेप उदर पर करने से उदरशूल प्रशम होता है।

५. कुष्ठ, सौंफ, यव, वचा इनका चूर्ण तेल और कांजी में मिलाकर किया हुआ प्रदेह वात व्याधिहर है।

६. रास्ना, हरिद्रा, नलद, सौंफ, देवदारु, सितोपला, जीर्वतीमूल इनको घी और तेल में मिलाकर प्रदेह करने से पार्श्वशूल प्रशम होता है।

७ गेहूं का आटा, घी और बकरी का दूध मिलाकर प्रदेह करने से वातरक्त में लाभ होता है।

८. इस तरह अनेक लेप और प्रदेहों का निर्देश इस अध्याय (च. सू. ३) में किया गया है जिन्हें चक्रपाणि अनग्नि उपनाह मानते हैं। इनमें कुष्ठ किटिभ, दद्रु, भगंदर, अर्श, अपचि, पामा, शोफ, विचर्चिका, वातव्याधि, उदरशूल, वात-रक्त, विषाक्त, शिरोरुजा आदि रोगों के लिए लेप और प्रदेह बताये गये हैं। इनमें से वातव्याधि संबंधित कुछ का ऊपर निर्देश किया है।

९. **आहत**— मुष्टियुद्ध को आहत कहते हैं। सुश्रुत ने 'नियुद्ध' ऐसा नाम दिया है। यह शरीरायासजनकारक होकर स्वेदन करता है।

१०. **आतप**—सूर्यकिरणों से स्वेदन करना आतप स्वेद है। आतप स्वेद का बहुत महत्त्व है। सूर्य के बालकिरणों में अल्ट्रा व्हायोलेट रेज (Ultra Violate Rays) होते हैं जो कुष्ठादि त्वग्रोगों में लाभप्रद होते हैं ऐसा माना जाता है। चरक ने सिध्मकुष्ठ में आतपस्वेद का प्रयोग किया है। जो इस प्रकार है—

१. कुष्ठ तमालपत्र, मरिच, मनःशिला, कासीस, तेल में मिलाकर तांबे के पात्र में सात दिन तक रखें और इसका लेप करके आतुर को आतप में (धूप में) बिठावें।[४१] इस प्रकार सात दिन करने से सिध्म-किलास दूर होता है।

२. श्वित्री को मलपू स्वरस (काकोदुंबर का रस) गुड़ के साथ पिलावे। और इसके बाद स्नेहन कर सूर्य किरणों का सेवन करायें।[४२]

सुश्रुत ने अनग्नि स्वेद का उपयोग कफ और मेद से संसृष्ट वात में करने को कहा है और अनग्नि स्वेद के निवात, आतप, गुरुप्रावरण, नियुद्ध, अध्वगमन, व्यायाम, भारहरण, अमर्ष-क्रोध, ये प्रकार बताये हैं।[४३] इनमें निवात यह उष्मसदन के सदृश है। आतप, गुरु प्रावरण, व्यायाम और क्रोध चरक में भी ऊपर कहे गये अनुसार वर्णित है। नियुद्ध-आहव है। अश्वगमन–खूब चलना, भारहरण-बोझ उठाना ये व्यायाम (शरीरायास जनन कर्म) के प्रकार हैं।

२. **गुणानुसार द्वंद्व**[४४] — स्वेद द्रव्यों के गुणानुसार स्निग्ध स्वेद तथा रुक्षस्वेद के गुणानुसार रुक्ष स्वेद इस प्रकार स्वेद के दो प्रकार होते हैं।

१. स्निग्ध स्वेद— स्निग्ध द्रव्यों से किया जाता है। वातदोष में तथा पक्वाशय प्राप्त किसी भी दोष में स्निग्ध स्वेद किया जाता है। तेल, वसा, मज्जा और घी तथा अन्य स्निग्ध द्रव्यों के संयोग से स्निग्ध स्वेद किया जाता है।

२. रुक्ष स्वेद— रुक्ष द्रव्यों से किया जाता है। कफदोष में, मेदो-दुष्टि में, क्लेद बाहुल्य में, आमदोष में रुक्ष स्वेद किया जाता है। आमाशय में वात के प्राधान्य में भी रुक्ष स्वेद किया जाता है। बालुका, ईंट, पत्थर, लोह कपाल, तुष, करीष, इनके द्वारा रुक्षस्वेद किया जाता है। इस द्रव्यों को अग्निपर तपाकर प्रत्यक्ष गात्रपर लगाकर या कपड़े की पोटली में बांधकर गात्रोंपर रखकर स्वेद किया जाता है।

३. स्थान भेद में द्वंद्व— स्थान के अनुसार स्वेद के एकांग स्वेद और सर्वांगस्वेद ऐसे दो प्रकार होते हैं।

१. एकांग स्वेद— में नाड़ी स्वेद, संकर स्वेद, बालुका स्वेद इत्यादि प्रकारों का समावेश होता है— जो एक मर्यादित स्थान में ही स्वेदन करते हैं।

२. सर्वांग्स्वेद— में प्रस्तर, कुटी, जेतांकादि लक्ष्यमाण उपायों से संपूर्ण शरीरपर एक साथ किये जानेवाले स्वेद का समावेश होता है।

२. स्वेद में त्रित्व— दो-दो प्रकार के स्वेद द्वंद्व स्वेद हैं। जैसे ही स्वेद में 'तीन-तीन' प्रकार से त्रित्व भी हो सकता है। प्रयोगानुसार ये प्रत्यक्ष प्रयोजनीय भी हैं। ये त्रित्व निम्नोक्त प्रकार के हैं।

(अ) १. रुक्ष स्वेद २. स्निग्ध स्वेद ३. स्निग्ध रुक्ष स्वेद[४५] वातदोष में स्निग्ध स्वेद और कफदोष में रुक्षस्वेद करना चाहिये। इसी तरह स्निग्ध रुक्ष स्वेद का एक साथ भी प्रयोग वांछनीय है, यह वातकफ के संसृष्टि में करना चाहिये। प्रत्यक्ष प्रयोगार्थ-विषगर्भ तैल, पंचगुण तैल इत्यादि से अभ्यंग कर बालुका स्वेद, ईंट का स्वेद करना चाहिये। यह जीर्ण आमवात में लाभप्रद होता है।

(आ) १. मृदुस्वेद या दुर्बल स्वेद २. मध्यम स्वेद और ३. महान स्वेद। यह स्वेद का दूसरा त्रित्व है।[४६]

१. जब व्याधि का बल अल्प हो, आतुर का बल अल्प हो तब मृदु स्वेद करें। वृषण, हृदय और नेत्र पर मृदु स्वेद करें। मृदु स्वेद मंदोष्ण द्रव्यों से तथा स्वेदोपयोगी मृदु गुणयुक्त द्रव्यों से करना चाहिये।

२. व्याधिबल मध्यम हो, शरीर बल मध्यम हो तब मध्यमस्वेद किया जाना चाहिये। बंक्षण प्रदेश पर मध्यम स्वेद करें। यह किंचित् अधिक उष्णता से किया जाता है।

३. महान स्वेद— व्याधिबल अधिक हो, शरीर का बल भी अधिक हो तब, तथा शीतऋतु में महान स्वेद करें। दृष्टि, हृदय, वृषण, वंक्षण पर कभी भी महान स्वेद न करें। हाथ-पांव, पीठ, कमर, स्फिग्, स्कंधादि अवयवों पर महान स्वेद होता है।

३. चरकोक्त स्वेद के तेरह प्रकार— चरक ने तेरह स्वेदों का स्वेदाध्याय में वर्णन किया है। नाम वैशिष्ट्य के कारण उनका पृथकांश यहां निर्देश किया जाता है। अन्यथा सुश्रुत और वाग्भट के अनुसार बताये गये चार प्रकार के तापादि स्वेदों में ही उनका समावेश हो जाता है। इन तेरह प्रकार के स्वेदों का मुख्य उद्देश्य द्रव्यभेद, आकार भेद, उष्णता की शक्ति में न्यूनाधिकता, ये प्रतीत होते हैं। इसी तरह रुग्ण कभी शहर में होगा, कभी गांव में होगा, कभी घर में होगा तो कभी खेती-वेती के लिए जंगल में होगा, ऐसे

सम्य यथा योग्य प्राप्त द्रव्यों को लेकर हरेक रोग में तात्कालिक स्वेद आतुर स्वयं कर सके ऐसा जानपदलाभ का उद्देश्य भी इसमें प्रतीत होता है। ये तेरह स्वेद निम्नोक्त हैं।[४७]

१. संकर स्वेद	२. प्रस्तर स्वेद	३. नाड़ी स्वेद
४. परिषेक स्वेद	५. अवगाह स्वेद	६. जेंताक स्वेद
७. अश्मघन स्वेद	८. कर्षु स्वेद	९. कुटी स्वेद
१०. भू स्वेद	११. कुंभी स्वेद	१२. कूप स्वेद
१३. होलाक स्वेद।		

इनका विवरण आगे किया जायेगा। काश्यप ने नामतः तेरह के बदले—हस्तक्षेप, प्रदेह स्वेद, नाड़ी स्वेद, प्रस्तर स्वेद, संकरस्वेद, उपनाह स्वेद, अवगाह स्वेद और परिषेक स्वेद ऐसे आठ स्वेदों का वर्णन किया है।[४८] जन्मोत्तर बालकों को हस्त स्वेद तथा आगे वयमान के अनुसार भिन्न-भिन्न स्वेद करने का निर्देश काश्यप करते हैं।

४. सुश्रुत और वाग्भटोक्त स्वेद के चार प्रकार— सुश्रुत ने मूलतः चार स्वेदों के वर्णन किये हैं। वाग्भट ने इसी का अनुसरण किया है। ये स्वेद हैं— ताप स्वेद, उपनाह स्वेद, उष्म स्वेद और द्रवस्वेद।[४९] कोई भी पदार्थ भौतिकशास्त्र के अनुसार तीन अवस्थाओ में रह सकता है। वे अवस्थाएं घन (Solid), तरल (Liquid) और वायु या वाष्प (gas) की होती हैं। इस मूल अवस्था भेद से ही उपर्युक्त चार प्रकार के स्वेद होते हैं। ताप स्वेद में घन द्रव्यों का उपयोग किया जाता है जिसमें द्रव्य प्रायः गुरु, खर, कठिन, स्थूल और संघातकर प्रकार के होते हैं। उपनाह स्वेद में नातिघन तरल द्रव्यों का उपयोग स्वेदनार्थ किया जाता है। उष्म स्वेद में वायवीय और वाष्पावस्था में द्रव्यों का उपयोग किया जाता है, जो प्रायः लघु, चल, गुणों से युक्त होते हैं और द्रवस्वेद में तरलावस्था द्रव्यों का उपयोग किया जाता है, जो द्रव, सर, मंद, क्लेदबहुल गुणों से युक्त होते हैं। सुश्रुत कहते हैं इन चार स्वेदों में ही सभी अन्य स्वेदभेदों का समावेश हो जाता है। डल्हण ने तापस्वेद में जेताक, कर्षु, कुटी, कूप, होलाक स्वेद का उष्मस्वेद में संकर, प्रस्तर, नाड़ी, अश्मघन, कुंभी, भूस्वेद का, और द्रवस्वेद में परिषेक और अवगाह स्वेद का अंतर्भाव किया है।[५०] तापस्वेद के द्रव्यभेद से पाणि (हाथ), कांसा कंदुक कपाल, बालुका, वस्त्रादि भेद होते हैं। उपनाह में प्रदेह लेप, बंधन और पोटली से स्वेदन करना ये प्रकार होते हैं। उष्म स्वेद के कपाल, पाषाण, ईंट, लोहपिंड, कुंभी, संकर, भूस्वेद, कुटी स्वेद, पांशु, तुषादि अनेक प्रकार होते हैं। इनकी विधि आगे दी जाएगी।

५. डल्हणोक्त स्वेद के कार्मुक भेद[५१]— सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने स्वेद के कार्मुकता के अनुसार और दो भेद किये हैं। १. संशमनीयस्वेद और २. संशोधनांग भूत स्वेद। संशमनीय स्वेद वह है जो साम दोषों में दोष पाचनार्थ तथा रुक्ष स्वेद किया जाता है। यह स्वेद अग्नि को (धात्वग्नि भी) प्रदीप्त करता है, त्वचा को मृदु करता है स्त्रोतों को निर्मल (शुद्ध) करता है। स्नेहपान के बाद वमन या विरेचन देने के पूर्व जो स्वेद किया जाता है उस स्वेद को संशोधनांगभूत स्वेद कहते हैं, और स्नेह के द्वारा क्लिन्न हुए दोषों को धातु में से निकालकर कोष्ठ में लाना यह इसका कार्य होता है। स्थानस्य दोषों को वहाँ से निकाल देने के कारण, तथा संशोधन पूर्व किये जाने के कारण यह संशोधनांगभूत स्वेद है।

६. स्वेद के अवांतर भेद—यहां संहिता में अप्रत्यक्ष निर्दिष्ट और दो स्वेदों का विचार अवश्य उपादेय है। वे हैं— १. बाह्यस्वेद तथा २. आभ्यंतर स्वेद। प्रायः सभी स्वेद बाह्य प्रकार के कहे गये हैं। आभ्यंतर सेवन कराने पर जो औषधियां स्वेदन कराती हैं वे आभ्यंतर स्वेद के प्रकार में आती हैं। चरक ने स्वेदन द्रव्यों के गुणों में— उष्ण, तीक्ष्ण, सर, इत्यादि जो गुण बताए हैं— वहां 'प्रायस्ताद्धि स्वेदनमुच्यते' ऐसा कहा है। जिससे आभ्यंतर स्वेद द्रव्यों का निर्देश मिलता है। इसी तरह ज्वरघ्न, दाहघ्न, तथा त्वग्रोगों में प्रयुक्त अनेक औषधियां इस प्रकार की मिलती हैं। वामक और विरेचक औषधियों की कार्मुकता बताते हुए भी— स्वेदजनन यह एक लक्षण औषधिसेवन के बाद बताया है— जो चरकमत से आभ्यंतर औषधि प्रयोग से स्वेदन कर्म को स्पष्ट करता है— आभ्यंतर प्रयोग से जो औषधियां स्वेदन करती हैं उनमें कुछ निम्नोक्त प्रकार की हैं:—

१. ज्योतिष्मती	२. अहिफेन	३. त्वचा	४. जटामांसी
५. कट्फल	६. एरंड	७. अंकोल	८. रसोन
९. देवदारु	१०. सुदर्शन	११. वत्सनाभ	१२. शोभांजन
१३. भृंगराज	१४. राजिका	१५. अजगंधा	१६. कुंकुम
१७. केतक	१८. जयंति	१९. भल्लातक	२०. बाकुची
२१. वनपलांडु	२२. वासा	२३. बोल	२४. लोबान
२५. वनपशा	२६. पुष्करमूल	२७. भार्गी	२८. चित्रक
२९. मदनफल	३०. नाडीहिंग	३१. अर्क	३२. दंती
३३. पीलु	३४. कीटमारी	३५ काकमाची	३६. अपामार्ग
३७. कालमेघ	३८. पारिजात	३९. कुष्ठ	४०. करवीर
४१. तुलसी	४२. चोपचिनी	४३. सैरेयक	४४, कर्पूर
४५. अगस्त्य।			

स्वेदन-योग्यायोग्यों का विचार

यह पहले कहा गया है कि स्वेदन वातकफ के विकारों में लाभप्रद होता है। पित्त स्वयं उष्ण तीक्ष्णादि गुण भूयिष्ठ होता है, अतः उष्ण तीक्ष्णादि गुणयुक्त स्वेद पित्त प्रकोप में कारण जाना गया है और पित्तज विकारों में स्वेद निषिद्ध किया गया है। फिर भी कुछ पित्त विकारों में स्वेद मृदुतया किया जा सकता है। इसी तरह शोधन योग्य पित्त विकारों में स्नेहोत्तर मृदुस्वेद किया जा सकता है, तथापि जो अस्वेद्य कहे गये हैं उनमें सामान्यतः स्वेद करना अहितकर ही समझना चाहिये।

स्वेदनार्ह[५२] — जिनमें स्वेदन किया जाता है, वे स्वेद योग्य निम्नलिखित प्रकार के गिनायें हैं।

१. प्रतिश्याय	२. कास	३. हिक्का	४. श्वास
५. अंगगौरव	६. कर्णशूल	७. मन्याशूल	८. शिरःशूल
९. स्वरभेद	१०. गलग्रह	११. अर्दित	१२. एकांगवांत
१३. सर्वांगवात	१४. पक्षाघात	१५. विनामक (जिसमें शरीर झुक जाता है)	१६. आनाह

T.M.T. & R.C.S. LIBRARY Ayurvedic College, Kharghar

१७. विबंध	१८. शूक्राघात	१९. जृंभा	२०. सर्वग्रह
२१. पृष्ठग्रह	२२. कटीग्रह	२३. कुक्षिग्रह	२४. हृद्ग्रह
२५. गृध्रसी	२६. मूत्रकृच्छ्र	२७. मुष्कवृद्धी	२८. अंगमर्द
२९. पादार्ति	३०. जंघार्ति	३१. जान्वर्ति	३२. ऊरु अर्ति
३३. पाद जानु जंघा उरु ग्रह	३४. शोथ	३५. रबल्ली	३६. आमदोष
३७. शैत्य	३८. वेपथु	३९. वातकटक (पार्ष्णि या गुल्फ में होने-वाली रुजा)	४०. संकोच
४१. आयास	४२. स्तंभ-अंग जकड़ जाना (Contractures)	४३. सुप्ति-स्पर्श ज्ञान का अभाव	४४. नस्यार्ह— जिनको नस्य देना है वे.
४५. बस्ति योग्य	४६. वमन योग्य	४७. विरेचन योग्य.	४८. शल्यपहृत--जिनका शल्य निकाल दिया हो उनको स्वेदन करना चाहिये-- ये पश्चात्वेद्य होते हैं।
४९. सम्यक प्रजाता स्वाभाविक प्रसूति के बाद (पश्चात्स्वेद्य)	५०. मूढ़ गर्भ	५१. भगंदर में पहले और बाद में स्वेदन करना चाहिये।	५२. अर्श-पूर्व और पश्चात्स्वेद्य
५३. अश्मरी पूर्व और पश्चात् स्वेद्य	५४. अर्बुद	५५. ग्रन्थि	५६. आढ्यवात।

उपर्युक्त का विचार करने पर स्पष्ट होता है कि इनमें तीन प्रकार के विकार हैं। एक वे हैं जो वातप्रधान हैं। इनमें मन्याशूल, अर्दित, पक्षाघात, ग्रह-स्तंभ, संकोचादि विकार हैं। दूसरे कफ प्रधान हैं जो प्रतिश्याय, कास, श्वासादि हैं। तीसरे शोध्य रोग और शल्यकर्म योग्य विकार हैं जिनमें पहले, बाद में या दोनों अवस्था में स्वेदन किया जाता है।

अस्वेदनार्ह[५३] — निम्नोक्तों का स्वेदन नहीं करना चाहिये।

१. जो हमेशा मद्यपान करते हैं।	२. गर्भिणी स्त्री	३. रक्तपित्त रोग से पीड़ित
४. अतिसार से पीड़ित	५. मधुमेही	६. पित्त प्रकृतिवाले आतुर
७. विदग्ध, जिनकी जलने से त्वचा झुलस गई है।	८. भ्रष्ट	९. ब्रघ्न अंडकोष वृद्धि
१०. विषपीत	११. मद्यज विकार वाले	१२. परिश्रम कर थके हुए
१३. संज्ञानाश वाले	१४. स्थूल शरीरवाले	१५. पित्तज प्रमेही
१६. तृष्णा रोग से पीड़ित	१७. क्षुधा से पीड़ित	१८. क्रुद्ध

१९. शोक ग्रस्त	२०. कामला से पीड़ित	२१. उदर रोगी
२२. उरःक्षत वाले रोगी	२३. आढ्य रोगी- उरुस्तंभ वाले	२४. अति दुर्बल
२५. जिनके अवयव सूख गये हैं	२६. शुक्र और ओजोक्षय वाले	२७. तिमिर
२८. पांडुरोगी	२९. अजीर्ण में	३०. जो रोग स्तंभन चिकित्सा साध्य है
३१. विसर्प से पीड़ित	३२. कुष्ठी	३३. शोषी
३४. दूध पिये हुए	३५. मद्य पिये हुए	३६. पीत दधि दही पिये हुए
३७. पीतस्नेह	३८. जिन्हें विरेचन कराया गया है	३९. गुदभ्रंश वाले आतुर
४०. ग्लानि वाले	४१. रजः स्वला स्त्रियाँ।	

उपर्युक्तों में प्रायः तीन प्रकार के रोगी हैं। एक वे जो पित्त प्रधान रोगों से पीड़ित हैं। जैसे मद्यज विकार, तृष्णा, रक्तपित्त इत्यादि। दूसरे वे जिनमें रोग की अत्यधिकता की अवस्था है जैसे उरःक्षत, संज्ञानाश (मूर्च्छा), इत्यादि। तीसरे वे जो स्वेदन प्रक्रिया दौर्बल्य से सहन नहीं कर सकते जैसे—

परिश्रांत, अति दुर्बल, शोषी, इत्यादि। उपर्युक्त रोगों में स्वेद करने से रोग वृद्धि होती है, या उनकी मृत्यु भी हो सकती है। मद्यपान के कारण शरीर अत्यंत रुक्ष हो जाता है अतः मद्यपी को अस्वेद्य कहा है। सभी प्रमेहों में शरीर धातुओं में शैथिल्य हो जाता है अतः मधुमेह में निषेध है। यहां मधुमेह कहने से अन्य सभी प्रमेह अस्वेद्य मानना चाहिये ऐसा चक्रपाणि कहते हैं। आढ्यरोगी का अर्थ वातरक्त भी किया है। उपर्युक्त सभी रोगियों में यदि अत्यावश्यक हो तो मृदु स्वेद किया जा सकता है। क्योंकि जहां पर अस्वेदों में स्वेदन करने पर ऐसे रोग की संभावना हो जो स्वेदन करने पर उत्पन्न होनेवाले संभाव्य विकार की अपेक्षा दुर्लक्ष करने योग्य हों, वहां महाव्याधि भय को ध्यान में रखकर अल्पव्याधि की अपेक्षा कर अस्वेद्य का भी स्वेदन किया जाना चाहिये।[५४]

भिन्न-भिन्न स्वेद की विधि

१. संकर स्वेद—संकर स्वेद यह आयुर्वेद में परंपरा सिद्ध नाम है : अन्वयार्थक नहीं।[५५] संकर स्वेद में कहे गये द्रव्यों की वस्त्र में पोटली बनाकर उन्हें सुखोष्ण कर स्वेदन करना यह संकर स्वेद कहा जाता है।[५६] संकर स्वेद बिना वस्त्रावगुंठित पोटली के द्रव्यों का प्रत्यक्ष भागों पर संपर्क लाकर भी किया जा सकता है। इसमें तिल, उड़द, कुलत्थादि द्रव्यों का उपयोग किया जाता है। इसे ही पिंड स्वेद भी कहते हैं। तिल, उड़द, कुलत्थादि, मांस रस तथा यथायोग्य द्रव्यों को पका कर, इनको पिंड बनाकर (पोटली), दूध, मांसरस, पायस इत्यादि में पुनः पुनः डुबाकर स्वेदन किया जाता है। वैसे ही गाय, गधा, ऊंट, सुअर, घोड़ा, इनके सूखे हुए पुरीष को गरमकर बिना वस्त्र के शरीर पर रख स्वेद किया जा सकता है। इसी तरह बालुका, बारीक रेती, पाषाण, करीष (शुष्क गोमयादि) लोहे

के गोले इन्हें तपा कर स्वेद करें। उपर्युक्त विवरण से संकर स्वेद दो प्रकार का प्रतीत होता है।

(अ) स्निग्ध संकर भेद— तिल, माष, चावल इत्यादि को पायस, मांस रस, अम्लवर्ग इत्यादि के साथ पोटली में रखकर स्वेदन करना यह स्निग्ध संकर स्वेद होगा, और इसका वातव्याधि में वात प्रधान दोषों में उपयोग लाभप्रद होता है।

(आ) रुक्ष संकर स्वेद— ऊपर लिखे हुए प्राणियों के सूखे हुए पुरीष, लोहे के पिंड, बालुका, पांशु आदि से किया हुआ स्वेद रुक्ष स्वेद है। इसका कफप्रधान दोषों में, आम में, मेद में, आमवात में, उपयोग लाभप्रद होता है। संकर स्वेद का ऐसा ही वर्णन काश्यप संहिता में भी किया गया है।

अष्टांग संग्रहकार वाग्भट ने संकर स्वेद को स्पष्टतः पिंड स्वेद से अभिन्न माना है और इसकी विधि भी कुछ अलग प्रकार की दी है। यह विधि इस प्रकार की है।[५७] मिट्टी के खर्पर, पत्थर, मिट्टी का ढेला, लोहे के गोलकों को अग्नि में लाल होने तक तपा तपा कर संदंश से पकड़कर पानी में डाल दें। वैसे ही उन्हें फिर निकालकर गीले ऊनके कपड़े में लपेटकर स्वेदन करें। यह स्वेद मेह कफ प्रधान और ग्रंथि में तथा वेदना में करें। (यह रुक्ष स्वेद है।) पांसु (रेती) बालुका, और गाय आदि के सूखे पुरीष, धान्य, बुस, (भूसा), पुलाक नामक धान्य की पसली (तृण) इन्हें, कांजी आदि अम्ल के साथ उबालकर पहले जैसे ही गीले ऊनी कपड़े में लपेटकर स्वेद करें अथवा गाय इत्यादि के ताजे पुरीष को पिंडाकार बनाकर उससे स्वेद करें। अथवा वातरोगों के उपनाह द्रव्यों सरसू, उत्कारिका, कुशरा, मांसरसादि इत्यादि के द्वारा पिंड बनाकर स्वेद करें। इसे ही संकर स्वेद भी कहते हैं।

षष्टिकशाली पिंडस्वेद—साठी के चावल से पिंड बनाकर स्वेद करना षाष्टिकशाली पिंडस्वेद है। यह एक अत्यंत उपयोग स्वेद है। शास्त्राधार से कुछ विकसित स्वरूप में इसका केरल में बड़े पैमाने पर उपयोग किया जाता है। केरल में 'अवर किषी' नाम से यह प्रसिद्ध है, जिसका अर्थ-अवर-षष्टिकशाली और किषी-पिंड से षष्टिकशाली पिंडस्वेद होता है। पिंडस्वेद के द्रव्य चरकानुसार पहले कहे गये हैं। अब इसकी प्रायोगिक विधि दी जाती है।

षष्टिकशाली पिंड स्वेद[५८] — (प्रायोगिक विधि)

औषधि सिद्धता— १२ पल (४८ तोला) बलामूल लेकर उसे अच्छी तरह पानी से धोकर स्वच्छ कर बारीक बारीक टुकड़ों में विभक्त करें। इन्हें १२ प्रस्थ ७६८ तोला) जल में डालकर उबाल कर ३ प्रस्थ (१६२ तोला) शेष रख क्वाथ बना लें। इनमें से आधा क्वाथ (९६ तोला) समान भाग दूध में मिलाकर मिश्रण तैयार कर लें। इस मिश्रण में आधा प्रस्थ साठी चावल (३२ तोला) डालकर उसे अच्छी तरह पका लें। जो चावल स्वेदार्थ उपयोग करना है वह पहले धोना नहीं चाहिये। पका हुआ चावल अच्छा घोटकर श्लक्ष्ण बनावे। अब आठ वस्त्रखंड (१८'' × १८'' आकार के) लेकर उन पर पका हुआ भात समान मात्रा में रखकर आठ पोटलियां बांध कर तैयार करें। पोटली ऐसी बांधे कि उनका ऊपर का भाग पर्याप्त चौड़ा और हाथ में पकड़ने के लिए योग्य हो। इनको स्वेदनार्थ

उपयोग के लिए रख दे। अब आधा क्वाथ जो शेष रखा गया था उसे पुनः समान भाग दूध के साथ मिलाकर सेगड़ी पर मंद अग्नि पर यह मिश्रण चढ़ा दें, और इसमें पोटलियां रख कर उन्हें गरम होने दें।

आमलकी कल्क–'तल' निर्माण — आतुर को पिंडस्वेद के पहले सिर पर तल धारण करना होता है। यह तल आमलकी कल्क से निर्माण किए औषधि का होता है। इसकी विधि ऐसी है कि-- पिंडस्वेद के पहले दिन-रात में १० तोला आमलकी चूर्ण और २० तोला छाछ को इकट्ठा कर पका लें। बिल्कुल अच्छी तरह पक कर गाढ़ा हो जाए तब उसे अच्छी तरह श्लक्ष्ण पीसकर शीत होने के लिए रख दें। यह कल्क दूसरे दिन सिर पर तलधारणार्थ उपयोग में लायें। अब आतुर को पिंडस्वेद के लिए स्वेद भवन में लाना चाहिये।

पूर्वकर्म—आतुर के सभी कपड़े उतार कर उसे कौपीन पहनावे। फिर उसे काष्ठ टेबल पर या द्रोणी में बिठावे। मंगल वाचन करावे। फिर संपूर्ण शरीर का अभ्यंग करावे। प्रथम सिर पर करें। सिर और शरीर के लिए अलग-अलग अभ्यंग तैल का प्रयोग होता है शिर के लिए क्षीरबलातैल, चंदनबला लाक्षादि तैल, शतावरी तैल, लाक्षादि तैल इत्यादि तैलों का प्रयोग होता है। शरीराभ्यंग के लिए सहचरादि तैल, क्षीरबला तैल, चंदनबला लाक्षादि तैल, धान्वन्तर तैल, कार्पासास्यादि तैल, रास्नाद्विगुण भागादि तैल, पंचगुण तैल इत्यादि को भी तेल दोषानुसार प्रयोग करें। आधा घंटा तक अभ्यंग करने के बाद–आमलकी कल्क को चक्रिकाकार बनाकर उसे सिर पर ब्रह्मरंध्र के स्थान पर रख, उसमें एक आलवाल बनाए और आलबाल में चंदनबला लाक्षादि तैल या कोई भी शीत तैल भरकर निर्गुंडीपत्र इत्यादि वातहरपत्र आलवाल पर रख स्वस्तिक बंधन ऐसा बांध दे कि गांठ कनपट्टी पर आये। यह तलधारण कहलाता है। शिरोभ्यंग और तलधारण अत्यंत आवश्यक विधि है, क्योंकि पिंडस्वेद में करीब १।। घंटे तक सतत उष्णसंस्कार संपूर्ण शरीर पर होता है। अतएव इस गरमी से शिर को बचाने के लिए शिर पर तलधारण करना होता है। यदि न करें तो मूर्च्छा, भ्रम, दाह, तिमिरदर्शन, तृष्णादि पित्तलक्षण उत्पन्न होते हैं यह अनुभव है। यदि एकांग पिंडस्वेद करना हो तो वह तलधारण के बिना भी किया जा सकता है, किन्तु अभ्यंग प्रत्येक पिंडस्वेद में करना ही चाहिये। अब आतुर पिंडस्वेद के लिए तैयार हो गया— उसका स्वेद करें।

प्रधान विधि — पिंड स्वेद में उपर्युक्त औषधि से मिश्रण में डुबाई हुई पोटली के द्वारा सेंक करते हैं। आतुर के दोनों बाजू में दो-दो कर्मचारी खड़े रहें--और एक कर्मचारी सेगड़ी पर रखें क्वाथमिश्रण के पास खड़ा रहे। ये चार कर्मचारी कर्मदक्ष, सुहृद और सहानुभूति से काम करने वाले होने चाहिये। इनको स्वेद के टेक्निक में निष्णात करना चाहिये। दो कर्मचारी कटि के ऊपर तक अर्थात् कटि, स्फिग् पार्श्व, पृष्ठ, वंक्ष, अंस, हस्त, मन्या तक के शरीर अवयव पर स्वेदन के लिए, और दो कर्मचारी कटि के नीचे अर्थात् कटि, स्फिग् उरु, जानु, जंघा, प्रपाद तक के अवयवों पर स्वेदन करने के लिए दाये और बाएं बाजू पर अनुकूल अवस्था में खड़े रहें। फिर क्वाथ से उष्ण पोटली लेकर–प्रथम अपने हाथ पर रख सहृदयासहृदयता का ज्ञान कर आतुर के गात्रों पर विशिष्ट हस्त कौशल्य से घुमा घुमा कर स्वेद करें। कटि के ऊपर के अवयवों में कर्मचारी मन्या

से नीचे कटि तक अनुलोम गति से स्वेद करें। और दूसरे दो कर्मचारी कटि से नीचे अनुलोम गति से स्वेद करें। स्वेद में गरम पोटलियों से घर्षण के साथ दक्षिण हाथ गति से आगे बढ़ाये और बाएं हाथ से उस अवयव को योग्य अवस्था में रखें। इस तरह संधियों पर वर्तुलाकार और दीर्घ अवयवों पर दीर्घाकार स्वेद करें। जब पोटलियाँ ठंडी होनी लगे तो पांचवा कर्मचारी शेष चार पोटलियों को द्रव में से उन्हें दे दे, और ठंडी पोटलियां पुनः द्रवमिश्रण में गरम करने के लिए रख दे। इस तरह पांच से दस मिनिट में बार बार पोटलियां अदल बदल कर सतत गरम पोटलियों से स्वेद करें। स्वेद करते समय यह ध्यान रहे कि त्वचा पर दग्धव्रण हो इतनी गरम पोटली न रहे और न एकदम अनुष्ण हो जाए ऐसी ठंडी हो। एक समान तापमान रखना आवश्यक है। पोटली को पकड़कर स्वेद करने की सतत् अभ्यास से ही आदत होती है। अन्यथा पहले बहुत गरम होने से पकड़ नहीं सकते, और बाद में पोटली ठंडी हो जाती है। पिंडस्वेद सर्व शरीर में अच्छी तरह हो जाये इसलिए अभ्यंगोक्त ७ अवस्थाएं इसमें भी देनी चाहिये। अर्थात् आतुर को प्रथम बिठाकर, फिर पृष्ठ पर लिटाकर, फिर वाम पार्श्वपर लिटाकर, फिर वक्षोदरपर लिटाकर, फिर दक्षिण पार्श्व पर लिटाकर, फिर पुनः पृष्ठ पर लिटाकर और पुनः बिठा कर स्वेदन करें। इन सब अवस्थाओं में १० से १५ मिनिट तक इस तरह कुल ७० से १०५ मिनिट तक स्वेदन करें। अर्थात् पिंडस्वेद एक से डेढ़ घंटा या पवने दो घंटे तक किया जा सकता है। पोटली के कपड़े से षष्टिकशाली पायस स्रवित होकर प्रत्येक स्वेद की गतियों में आतुर के शरीर पर उसका घर्षण होता है और औषधि सिद्ध, इस शाली से शरीर पर संस्कार होता है। इतने समय में प्रायः सेगड़ी पर रखा हुआ द्रव भी पूर्ण होता है। जब पिंडस्वेद पूर्ण हो जाये तो पोटलियां खोलकर उसमें रहे हुए शाली चूर्णों को हाथ में लेकर अभ्यंग उद्धर्तन प्रकार से आतुर शरीर पर उसे रगड़े। इस तरह ५-१० मिनिट करने के बाद शरीर पर से इस लेप को स्वच्छ करें।

पश्चात्कर्म— षष्टिक शाली को शरीर पर से हटाने के लिए नारियल के पत्ते, एरंड के पत्ते या कपड़े का उपयोग करें। फिर शिर से तैल निकाल कर कपड़े से सिर को साफ करें। फिर गरम पानी में नेपकिन जैसे वस्त्रखंड डुबो कर, निचोड़ कर उनसे शरीर स्नेह को स्पंज कर साफ करें। केरलीय वैद्य स्वेद के बाद पुनः तैलाभ्यंग स्नान करवाते हैं। स्नान के लिए गरम पानी का उपयोग किया जाता है।

यह चिकित्सा प्रतिदिन या एक दिनांतर से करें, और ७ दिन, ९ दिन, ११, १४ दिन, २३ दिन या २८ दिन तक यथानूकूल आगे चलावे। इस चिकित्सा काल में पिषिंचिल या स्नेहधारा के स्वेद के सभी परिहार विषय पालन करें।

यह स्वेद वातव्याधि में विशेषतः श्वास, पंगु, अवबाहुक शोष, में लाभप्रद होता है। रक्त प्रकोपज रोग में भी यह लाभप्रद है।[५९]

अन्नलेपन—अन्नलेपन यह प्रदेह-या उपनाह के प्रकार का स्वेद है। इसका भी केरल में अच्छा उपयोग किया जाता है। यह षष्टिक शालीपिंड स्वेद के समान ही है, केवल फर्क यह है कि इसमें पोटली बनाने के बदले षष्टिकशाली का प्रत्यक्ष लेपन किया जाता है।

बलामूल तीन पल (१२ तोले) लेकर स्वच्छ कर टुकड़े कर, ३ प्रस्थ (१९२ तोला) जल में डालकर उबाल कर चतुर्थांश ४८ तोला तक शेष क्वाथ करें। इसको मोटे कपड़े

से छान ले और समान भाग गाय का दूध डाल कर, इस मिश्रण में (१६ तोला) एक कुडव षष्टिकशाली पकावे। अच्छी तरह पकने पर उसे पीसकर श्लक्ष्ण बनावे।

आतुर को प्रथम, सिर पर तथा सगर्वा पर विधिवत् अभ्यंग करावे। फिर द्रोणी में या टेबल पर लिटावे। फिर दो कर्मचारी दो बाजू में खड़े रहकर श्लक्ष्ण तथा गरम चावल को थोड़ा-थोड़ा हाथ में लेकर, आतुर के शरीर पर लगाकर गरम गरम अवस्था में ही उस पर उद्वर्तन की तरह रगड़ता जाये। आतुर को किसी भी प्रकार से पीड़ा हो, या दाह हो इस तरह लेप न करें। सुखपूर्वक लेपन करावे। अंश से नीचे ही इस तरह लेपन किया जाता है। यह प्रक्रिया एक से डेढ़ घंटे तक चलावे। प्रत्येक मांसपेशी, हाथ, पांव, पृष्ठ, कटिपर भलीभांति गरम चावल से रगड़ता रहे। जब चावल पूरा हो जाये तब पिंडस्वेद के समान ही शरीर पर से लेपयुक्त भात के अवशिष्ट भाग को स्वच्छ कर पुनः तैल से अभ्यंग कराकर, गरम पानी से स्नान करावे।

यह षष्टिकशाली पिंडस्वेद के समान गुणकारी है। इसमें संस्कृत चावल का प्रत्यक्ष गात्र पर मर्दन होता है। शोष, कार्यक्षय और शूल में यह लाभप्रद है। केरलीय वैद्य वात और रक्त से दुष्ट विकारों में तथा आमवात के कुछ प्रकारों में (Rheumatuid Arthatis) और जहां दाह की प्रधानता है ऐसे रोगों में इसे उपयुक्त मानते हैं। यदि बहुत ज्यादा दाह हो तो भात पकाते समय घी मिलाना चाहिये। आमवात के प्रकारों में गोधूम की दूध में पकाकर, या दूध और गेहूं का चूर्ण इनसे भी लेपन किया जा सकता है। बलामूल क्वाथ आवश्यक नहीं है।

पिंडस्वेद की तरह यह क्रिया ७ दिन या १४ दिन तक की जा सकती हैं।

अन्नलेप, पिंडस्वेद और स्नेहधारा स्वेद के चिकित्सा काल में आतुर को प्रतिदिन गंधर्बहस्तादि क्वाथ २।। तोला दो बार पिलावे। आवश्यक हो तो सायं. क्वाथ के साथ १ से २ तोला एरंड तैल दे। कोष्ठ शुद्धि पर विशेष ध्यान रखे।

१. बालुकास्वेद—पिंडिस्वेद में ही बालुका स्वेद का समावेश होता है यह पहले देखा गया है। यह अत्यंत सरल, कहीं भी करने योग्य, और बिना व्यय का स्वेद है तथा अत्यंत गुणप्रद है। आमदोषों में और कफदोषों में तथा सशोथ शूल में इसका बहुत उपयोग होता है। आमवात रोग में आभ्यंतर स्वेद के साथ बालुकास्वेद यदि न किया जाए तो लाभ पहुंचना बहुत कठिन है।

पूर्वकर्म— शुद्ध-पवित्र स्थान की नदी की स्वच्छ, कंटकादि विरहित, नाति स्थूल, नातिसूक्ष्म बालुका पर्याप्त मात्रा में जमा करें। वस्त्रखंड- १८ × १८ इंच के पर्याप्त पोटली के लिए लें। इसी तरह वस्त्र से हाथ, पांव, पृष्ठ श्रोणि इत्यादि के आकार के दीर्घ और वर्तुलाकार थैलियां भी बनाकर रखें। सामान्यतः हाथ पर ३'' × १२'' की, जंघा पर ४'' × १२'' की, और पृष्ठ, श्रोणि के लिए ६'' × १२'' प्रकार की थैलियां बनावें जो नींद के समय बालुका भर, सुखोष्ण स्वेदपूर्वक गात्रों को आस्तरणस्वरूप (Resting) आराम से रखी जा सकती है। स्वेद के लिए रेती को सेगडी पर कड़ाही में गरम करें। मंद आंच पर उतना तपावे जितने से बालुका जल्दी ठंडी न हो जाए और खूब देर तक धीरे धीरे स्वेद हो।

आमवात टरुस्तंभ, मेदोरोग, ग्रंथि इनसे पीड़ित सशोथ आतुर हो तो स्वेद के पूर्व

स्नेह-अभ्यंग न करें, अन्य आतुरों में जहां स्निग्धरुक्ष स्वेद करना हो वहाँ, जीर्णआमवात में विषगर्भ तैल का मृदु अभ्यंग करें।

प्रधान कर्म— गरम बालुका की पोटली से सशोथ या शोथरहित गात्र पर पिंडस्वेद प्रकार से स्वेद करें। संधिस्थान में वर्तुलाकार स्वेद करें या गात्रों के नीचे थैलियां ऐसी रख दें जिससे तत्तद् अवयवों को आराम मिले और चिरकाल तक स्वेदन हो।

स्वेद के पश्चात्— शय्या से रेती इत्यादि साफ करें, पोटलियां निकाल दें। आतुर को चद्दर ओढ़ाकर सुला देवे। इसी विधि से तुष, गोधूम शकल (गेहूं का छिलका), धान्य की भूसी इत्यादि का स्वेदन करें। यह स्वेद आधे से एक घंटे तक दिन में एक या दो बार अधिक बार भी किया जा सकता है।

२. प्रस्तरस्वेद[६०]— शयन विस्तार के पाषाण पर शुक शमी धान्यादि बिछाकर आतुर को उस पर सुलाकर स्वेदन करना प्रस्तर स्वेद हैं। इसके लिये छः फीट लंबा, २।। फीट चौड़ा एक प्रस्तर (पाषाण) संग्रहीत करें। या तो यह प्रस्तर २ फीट ऊंचा हो जिससे टेबल का आकार स्वयं बन जाए, या इसके लिए एक दो फीट ऊंचा सीमेंट का ओटा तैयार कर उस पर प्रस्तर रख दें। प्रस्तर स्वेदार्थ शूकधान्य–चावल, गेहूं, जौ, इत्यादि और शमीधान्य-मूंग, मकोठ, उड़द, कुलत्थ, चणक, तुअर आदि पुलाक (क्षुद्राधान्य), बेशवार (मांस), पायस (खीर), कृशरा (तिल, चावल, उड़द की यवागु या खिचड़ी) उत्कारिका (रोटी का आकार) आदि का उपयोग किया जाता है। इन द्रव्यों को पकाकर-पत्थर पर शयनविस्तार (आतुर को सोने को जितनी जगह लगेगी उतनी) पर बिछाए हुए रेशम या ऊनके कपड़े पर बिछाकर उन पर पुनः उसी कपड़े को आवृत्त करें। या तो केवल पत्थर पर पके हुए गरम द्रव्य रखकर उस पर एरंड पत्रादि, अर्कपत्र इत्यादि ढककर उस पर अभ्यंग किये हुए आतुर को लिटा दें।

स्वेदन में अग्निदग्ध व्रण न हो इसका ध्यान रखे। प्रस्तरस्वेद विधान का उद्देश्य संपूर्ण गात्र का एक साथ औषधिसिद्ध वाष्प तथा तापस्वेद हो यह प्रतीत होता है। यह पृष्ठशूल, पार्श्वशूल, श्रोणि शूल, कटिशूल गृध्रसी, पृष्ठकटि-संकोच, खल्ली, इनके लिए लाभप्रद है।

प्रस्तरस्वेद के उपयुक्त द्रव्यों में यव-रुक्ष है, कफ शामक है शाली स्निग्ध बृंहण हैं, श्यामाक को द्रव रुक्ष कफघ्न है, गेहूं संधानकर मधुर बृंहण है। जुआर रुक्ष है। मूंग लघु कफघ्नपित्तहा है, माष वातहर स्निग्ध है, कुलत्थ उष्ण कफ वातघ्न है मकोठ रुक्ष है, आढकी कफपित्तघ्न और कफवात्तघ्न है। इनका यथायोग्य प्रयोग करें।

अष्टांग संग्रह में संस्तरस्वेद नाम से इसका वर्णन किया गया है इसको बताते हुए कहा है—यथोपयोगी स्वेदन द्रव्यों को बंद मुंह वाली हंडी में रख कर पकावें। इसमें कांजी आदि अम्लद्रव भी डालना चाहिये। पक जाने पर निवात कमरे में गेहूं आदि के तृण बिछाकर उन पर से द्रव्य फैला दे। उन पर वातहर एरंडादि पत्र रखकर या ऊन, रेशम, इत्यादि कपड़े को बिछाकर, अभ्यक्त आतुर को उस पर लिटा कर मृगचर्म या कम्बल ओढ़ा कर स्वेदन करें।[६१] इसे संस्तरस्वेद कहते हैं।

३. नाड़ीस्वेद[६२]—नाड़ीस्वेद वाष्पस्वेद का प्रकार है। नाड़ी नलिका को कहते हैं।

नलिका से वाष्प को विशिष्ट अवयव तक ले जाकर स्वेदन करना नाड़ीस्वेद है। यह अन्वयार्थक नाम है।[६३]

नाड़ीस्वेद के द्रव्य—पूर्वोक्त स्वेदोपत्र शिग्रु, पुनर्नवा, कुलत्थ माषादि, वरुण गुडूचि इत्यादि के मूल फल, पत्र, शृंग आदि के क्वाथ, हिरन आदि प्राणि या पक्षियों के सिर पैर आदि का मांस, अम्ल, कांजी, लवण, प्राणियों के पित्तस्नेह तिल, तंडुल, गोमूत्र दूध इनकी वाष्प का नाड़ीस्वेद में उपयोग होता है।

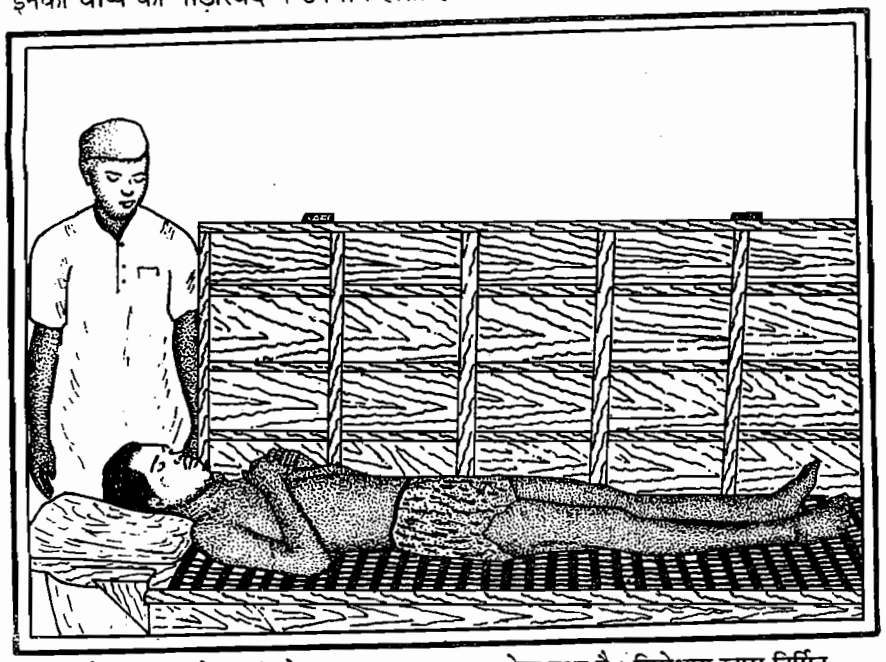

विशेष—बाष्पस्वेदन यंत्र के ऊपर अभ्यक्त आतुर लेटा हुआ है। सिरोभाग खास निर्मित सिर: फलक पर, जालीदार चौकोनों का दिखाने के लिये प्रथम चित्र में आतुर को अनावृत रखा है।

बाष्पस्वेद : १

विधि—नाड़ीस्वेद के लिए एक ऐसी कुंभी (घट या कलशी) तैयार करें जिसका मुख पेचदार ढक्कन से बंद हो, और इसके पार्श्व में एक छिद्र कर नाड़ी जोड़ दी जा सके। नाड़ी के लिए पहले शरेषिका (सरकंडा); बांस करंजपत्र की नाड़ी या अर्कपत्र की नाड़ी बनाई जाती थी। चरक ने अन्यतम अर्थात् तत्सदृश कोई अन्य साधन का उपयोग करने को कहा है। जिससे धातुनिर्मित नलिका या रबर की नलिका लगाई जा सकती है। नलिका एक व्याम लंबी अर्थात् दोनों हाथ फैलाकर जितना अंतर होता है-- लगभग छः फीट लंबी होनी चाहिये। वाष्पवेग को रोकने के लिए दो या तीन जगह नलिका टेढ़ी रखनी (मुड़ी हुई) चाहिये। नलिका की लंबाई अर्धव्याम-तीन फीट, एक चतुर्यांश व्याम १।। फीट या व्यामाप्ट भाग ६ इंच भी रखी जा सकती है। अर्थात् प्रशस्त गात्र पर व्यापक शरीर पर स्वेद करना हो तो बड़ी कुंभी और छः फीट लंबी नलिका लगावे, छोटे से

मर्यादित अवयव पर करना हो तब आवश्यकतानुसार छोटी कुंभी और ३ फीट, १।। फीट या ६'' लंबी नलिका लगाकर स्वेदन करें। कुंभी का छिद्र नाड़ी के परिणाह का होना चाहिये। कुंभी में उपर्युक्त द्रव्य जल के साथ भरकर उसे सेगड़ी पर रख दे। जब क्वाथ तैयार होकर वाष्प निकलने लगे तब नाड़ी से रुजाते गात्र का अभ्यंतोत्तर स्वेदन करें। यह स्वेद आधे से एक घंटे तक, सात से इक्कीस दिन तक किया जा सकता है। शूल और संकोच प्रधान वातव्याधि में यह अच्छा लाभ करता है।

वाष्पस्वेद का अन्य प्रकार—नाड़ीस्वेद में वाष्प से एकांगस्वेद होता है। सर्वांग में वाष्पस्वेद करना हो तब कुछ विकसित साधन वाष्पस्वेदन यंत्र द्वारा स्वेदन करना प्रशस्त होता है। इसमें प्रस्तरस्वेद, भूस्वेद, कर्षुस्वेद के सिद्धांत का वाष्पस्वेद के सिद्धांत से संयोग कर एक विकसित स्वरूप में स्वेद किया जाता है ऐसा समझा जा सकता है।

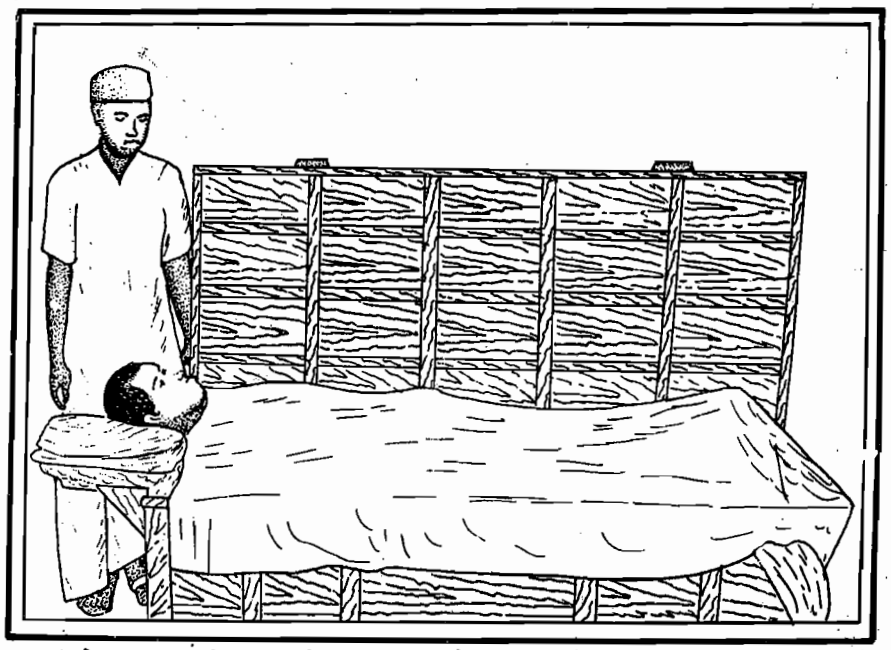

विशेष—आतुर को कम्बल से आवृत्त किया है। नीचे के कोष्ठक का बंद द्वार दर्शनीय है। आभ्यंतर कोष्ठ में अंगार धनिका एवं क्वाथ। कर्मचारी स्वेदावस्था के निरीक्षण में।

बाष्पस्वेद : २

वाष्पस्वेदन यंत्र—लकड़ी का एक विशिष्ट आकार का छः फीट लंबा, २।। फीट चौड़ा और दो फीट ऊंचा टेबल (या पेटी) है जिसका वर्णन उपकल्पना विज्ञानाध्याय में देखें। इस टेबल के नीचे, बंद कोष्ठक (Compartment) में सेगड़ी पर उबलता हुआ दशमूल क्वाथ या निर्गुंडी, रास्ना, एरंड-मूलादि वातहर क्वाथ के पात्र रख दें। टेबलपर पतली चादर या कम्बल बिछाकर उस पर अभ्यंग किये हुए आतुर को ऐसा सुला दें कि उसका

शिर-खास निर्माण किये हुए शिरः फलक पर रहे--ताकि शिर का स्वेदन न हो। अब आतुर के शरीर पर दूसरा कंबल गले तक ओढ़ा दें। जब वाष्प पात्र से बाहर आएगी तब टेबल के ऊपरी सतह पर रखे हुए जालीदार चौकनों में से ऊपर आकर आतुरगात्र का एक साथ पूरे शरीर का स्वेदन करेगी। स्वेद के समय बीच बीच में वैद्य कंबल के अंदर हाथ डालकर कितनी गरमी है यह ज्ञान करता रहे। दग्धव्रण होने से बचावे। आवश्यक हो तो वाम और दक्षिण पार्श्वपर आतुर को घुमाकर स्वेदन करें। ग्लानि, भ्रम, मोह, तिमिरदर्शन, ऐसे लक्षण उत्पन्न हो तो स्वेद तुरन्त बंद करें। स्वेद के बाद गरम पानी से स्पर्जिंग करें। टॉवेल से शरीर पोंछ लें और आधे घंटे तक निवात कमरे में कंबल ओढ़कर बैठे। फिर एक घंटे के बाद गरम पानी से स्नान करावे। वाष्पस्वेद गृध्रसी, पृष्ठगतवात, पक्षाघात, और मांसगतवात में देना चाहिए।

४. परिषेक स्वेदः[६४]— वातघ्न या वातकफघ्न औषधियों के क्वाथ से शरीर पर धारा गिराना यह परिषेक कहलाता है। आतुर शरीर का विधिवत् अभ्यंग कर दशमूलादि क्वाथ से कुंभी (छोटा सा घड़ा) भर कुंभी के सिकुड़े मुख से औषधियों की धारा शरीर पर गिरावे। अथवा वर्षूलिका— जिसे सहस्त्रधारा कहते हैं जिसमें कुंभी को एक ऐसी नाड़ी संलग्न होती है जिसके अंत में अनेक छिद्र (झारी) रहते हैं--उस में औषधि क्वाथ भरकर या केवल प्रनाडी (Dubcue) में क्वाथ भरकर उसके गात्र पर धारा करें। इस तरह क्वाथ, तैल, घी, दूध इत्यादि से धारा की जाती है— उसे परिषेक स्वेद कहते हैं।

परिषेकस्वेद का ही एक विकसित प्रकार (Modified) केरल में प्रयुक्त 'पिझिचिल' (या पिषिंचिल) नामक स्वेद है जो पक्षाघात में पहुत बड़े पैमाने पर किया जाता है। इसे कायसेंक भी कहते हैं। कायसेंक धाराकल्प नामक श्री कालीदास वैद्य विरचित पंथ में वर्णित हैं जिसमें परिषेक का बड़े ही विस्तार से वर्णन किया है। उसके कुछ खास अध्येतव्य विषय नीचे दिये जाते हैं।

धाराकल्प में वर्णित स्नेहधारा स्वेद

सर्वांगधारा के गुण[६५] —सर्वांगधारा से शरीर में दृढ़ता, वृषता, अग्नि, ओज और वर्ण बढ़ता है। इंद्रियों में स्थैर्य तथा स्वकार्य क्षमता होती है। वार्धक्य देर से आता है। अस्थिभग्न में लाभ होता है। वातादि दोष दूर होते हैं। इस तरह सुखोष्ण स्नेह का सर्व शरीर पर की हुई धारा सभी दोषों को दूर करती है।

यह धारा आतुर को द्रोणी में लिटाकर की जाती है। द्रोणी का वर्णन उपकल्पना विज्ञानाध्याय में दिया है। इसकी ग्रंथोक्त सामान्य कल्पना यहां वर्णित की जाती है।

द्रोणी—द्रोणी के लिए प्लक्ष, उदुम्बर, चंदन, वरुण, पिप्पल, देवदारु, पुन्नाग, कैथ, चोच, बकुल, अशोक, असन, आम्र, चंपक, बेल, निम्ब, खदिर, अग्निमंथ, अर्जुनादि वृक्षों में से किसी एक की लकड़ी पसंद करनी चाहिये। यह चार हाथ लंबी और १ हाथ चौड़ी होनी चाहिये। दोनों बाजू में ऊंची भित्ति होनी चाहिये। पादांत भाग में बाहर की ओर निकलनेवाला एक रंध्र होना चाहिये और शिर के बाजू में एक हाथ ऊंचा शयन विस्तार का एक गर्त होना चाहिये। द्रोणी बीच के बाजू में किंचित निम्न (Slope युक्त) होनी चाहिये और चारों बाजू में चार हत्थे लगाए हुए हों।[६६]

परिषेचन योग्य परिचारक— परिचारक कहा हुआ माननेवाले, सावधान, और पवित्र हों।[६७]

धारापात्र[६८] — शरीर पर धारा करने के लिए स्फटिक का, चांदी अथवा प्लाक्षादि वृक्षों का, या मिट्टी का पात्र या तांबे का पात्र या वराटिका (कवडी) का उपयोग करना उत्तम है। इसमें रोगी के करांगुली के नाम का छिद्र रखे। कोई लोग अंगुली पर्वों के माप का छिद्र रखना भी प्रशस्त मानते हैं। इस छिद्र से परिचारक इस तरह धारा गिराये कि आतुर को भय न लगे।

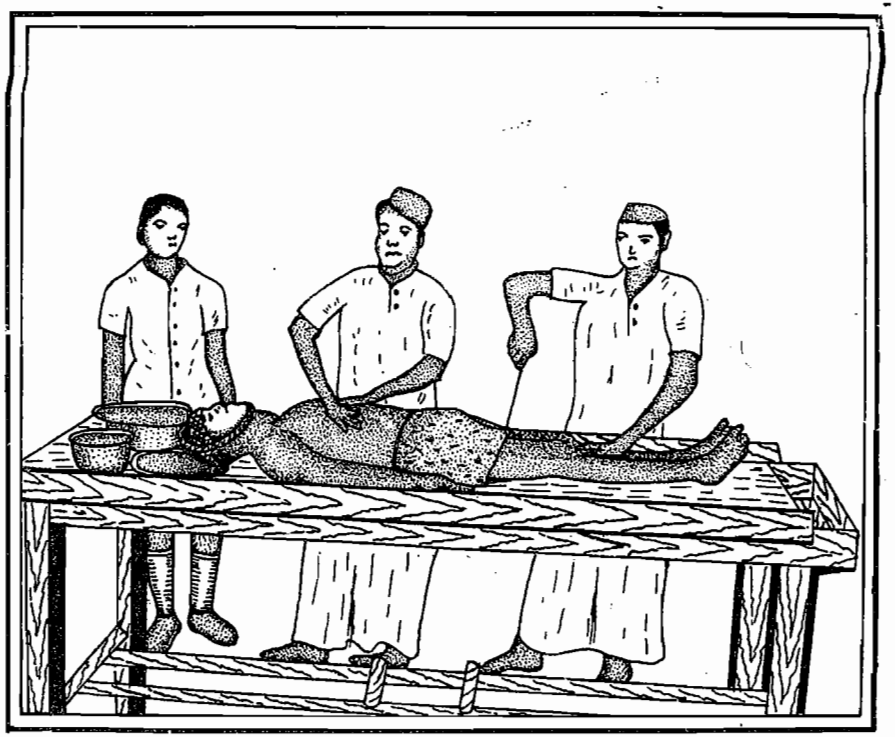

विशेष—धारा टेबल पर आतुर को लिटाया गया है। दो कर्मचारी वाम अंग पर धारा कर रहे हैं। फोटो की सुविधा के लिये दक्षिणांग के दो कर्मचारी बताये नहीं है। उपचारिका निरीक्षण कर रही है। सिरस्थ ब्रह्मरंध्र पर आमलकी कल्क तल रखकर बंधन बांधा हुआ है।

पिषिंचिल अथवा स्नेहधारा स्वेद

औषधि[६९] — व्याध्यनुकूल औषधियों के सिद्ध क्वाथ से धारा करें, या स्वस्थों में तेल और घी से मिश्रधारा करें। पित्त में कोष्ण घी या तेल से करें। वात में तेल, घी, वसा से, पित्त और रक्त में घी से, कफ में तिल तेल से, वात और पित्त रक्त के संसर्ग

में तेल और घी सम भागयुक्त तथा कफ संसृष्टि में तैल से आधा भाग घी मिलाकर धारा करनी चाहिये।

सेवनकाल[७०]—शरीर के अत्यंत रुक्ष होने पर तथा पित्तयुक्त वात में अढ़ाई मुहूर्त (लगभग ७२ मिनिट) तक धारास्वेद करें, स्निग्ध कफ मिश्रित आतुर में १। मुहूर्त (३२ मिनिट) धारा करें। अथवा सभी में स्वेदागम यह प्रमाण मानकर बाद में धारा बंद करें। शरीर धारा पर सेंक १२ अंगुल ऊपर से करें।

जब दूध से धारा की जाती है तब प्रतिदिन दूसरा दूध लेना चाहिये। धान्याम्ल तीन दिन में एक बार बदलना चाहिये। स्नेह से धारा करनी हो तब पहले दिन के बाद दूसरा स्नेह उसमें मिलाकर दोनों से सेंक करें, और ७ दिन के बाद दूसरा स्नेह उपयोगार्थ लें।[७१]

पश्चात्कर्म[७२] — यदि शीत परिषेक किया हो तो ठंडे जल से सिंचन करें, कुल्ले करें। फिर आराम कर शरीर का मंद मंद मर्दन करावे। फिर गरम जल से स्नात करावे, और धनिया से सिद्ध जल पिलावे अथवा छाछ में त्रिकटु, और घी डालकर पिये या यूष पीवे। भोजन ताजा और गरम दें। जब तक धारास्वेद किया गया हो उतने ही दिन तक और परिहार्य वस्तु का त्याग कर संयम से रहना चाहिये।

परिषेक साध्य रोग[७३]— गुल्म, आनाह, भगंदर, व्रण, तूनी, प्रतितूनी, शूल, अभिघात, तोद, उदावर्त, कोठ, मूढ़वात (आवृत वात), अष्ठीला विसर्प, प्लीहा, आध्मान, विद्रधि, इनमें एकांग सेंक करना चाहिये।

पिषिंचिल—(Pizichil) की प्रायोगिक विधि

पिषिंचल की प्रायोगिक विधि, धाराकल्प के मूल पाठ को आधार मानकर ही की जाती है। केरलीय चिकित्सा पद्धति के अनुसार यह पद्धति निम्नलिखित प्रकार की है।

कायसेक या पिषिंचल यह वह प्रक्रिया है जिसमें सतत् गरम तैलधारा के द्वारा शरीर का स्वेदन (स्वेद लाना) किया जाता है। पिषिंचिल योग्य आतुर को कोपीन पहनाकर मंगल और स्वस्तिवाचनोत्तर तैलद्रोणि में बिठावे। तैल द्रोणी प्लक्षादि काष्ठनिर्मित स्नेहधारा योग्य ऐसा प्रकोष्ठ है जिसमें से पतित तेल को पुनः जमाकर उपयोग किया जा सकता है। प्रथम औषधि सिद्ध तेल से शिर और शरीर का अभ्यंग करें। शिर पर शीततेल और शरीर पर गरम तेल का अभ्यंग उपयोग करें। तेल रोगानुसार अलग-अलग प्रकार का होता है। सामान्यतः कफ की प्रधानता में सहचरादि तैल, पित्त, प्रधानता में क्षीरबला तैल, चंदनबला लाक्षादि तैल, और वात प्रधानता में धान्वंतर तैल, महानारायण तैल इत्यादि का उपयोग करें। अभ्यंगोत्तर आतुर के शिरपर आमलकी कल्क से तलधारणकर, कपाल पर कपास का पैड रखकर स्वस्तिक बंधन ऐसा बांध दे कि वह ऊपर तल को, और कपाल के कर्पासखंड को आधार देकर पक्का रखे। 'आयुर्वेदिक ट्रीटमेंट ऑफ केरला' इस पुस्तक में तलधारण का उल्लेख नहीं है। केवल कपालपर स्वच्छ कपड़ा बांध देने का निर्देश है, जिसका उद्देश्य है-- धारा पतित तेल से आंखों को बचाना तथापि तलधारण करना परंपरा है। यदि तलधारण कर, कर्पास खंड के साथ बंधन बांधे तो, तैल से आंखों को बचाना यह उद्देश्य साध्य होता ही है, और साथ-साथ शीत कल्क तलधारण से सर्वांग

स्वेद के बीच उत्पन्न उष्मा से इंद्रियायतन--शिर का रक्षण करने का उद्देश्य भी साध्य होता है।

पिषिंचिल निरोगी रोगी को आरोग्य रक्षणार्थ भी किया जा सकता है। स्वस्थों में तिल का तैल और गाय का घी मिलाकर पिषिंचिल करें। रोगियों में पिषिंचिल के लिए तैल का चुनाव रोगानुसार चिकित्सक करें। पिषिंचिल चिकित्सा का कोर्स आतुर की शारीरिक तथा मानसिक अवस्था को देखकर निश्चित किया जाता है। अगर अच्छा स्वस्थ शरीर और स्वस्थ मस्तिष्क का व्यक्ति हो तो दो दिन में एक बार सेंक करें। प्रतिदिन भी कर सकते हैं, और यदि मन और शरीर की अवस्था मध्यम हो तो २ या ३ दिन में एक बार करें, और अवर बल में ४ से ६ दिन में एक बार करना चाहिये। पित्त प्रभुता हो तो शीत तेल से और वातव्याधि की प्रभुता हो, या कफ और वात दोष की प्रधानता हो तो सुखोष्ण तैल का प्रयोग करें। पिषिंचिल-स्नेहधारा स्वेद शरीर पर किया जाता है— किंतु इसके साथ वैद्य जरूरी समझे तो शिरोधारा (शीततेल से) भी कर सकते हैं।

आतुर को तैल द्रोणी में बिठाने के बाद चार कर्मचारी में से दो-दो आतुर के दायें और बायें ऐसे खड़े रहें कि उनमें से उभय बाजू के दो कर्मचारी अंस से स्फिग् तक, और दूसरे दो स्फिग् से प्रपाद तक धारा कर सके। धारा करने के लिए कर्मचारी झारी के आकार की छोटी कुंभियां हाथ में लेकर उनसे धारा गिरा सकते हैं, या तो अच्छा उपाय यह है कि १८'' × १८'' के आकार का वस्त्रखंड तैल पात्र में डुबाकर, किंचित निचोड़ कर, दाहिने हाथ में पकड़कर हाथ को ऐसा झुकावे कि मुट्ठी से दबाया हुआ वस्त्र निपीडित तैल अंगुठे से धारा के स्वरूप में आतुर के विशिष्ट गात्र पर पड़े। यह गिरा हुआ तेल, कर्मचारी बायें हाथ से मृदु अभ्यंग करते हुए पोंछता रहे। धारा का वेग न बहुत शीघ्र हो और न बहुत मंद हो। शरीर धारा में १२ अंगुल अर्थात् लगभग नौ इंच की ऊंचाई से धारा गिराई जाती है। बहुत नजदीक से, बहुत ऊंचाई से, बहुत वेग से या बहुत मंदगति से धारास्वेद करने से आतुर को लाभ नहीं पहुँच सकता, और नुकसान होने का भय रहता है। तेल उतना ही उष्ण हो जितना आतुर सहन कर सके। बहुत अधिक गरम तेल से दग्धव्रण होगा, और अनुष्ण तेल से व्याधि में लाभ नहीं होगा। कर्मचारियों को यह क्रिया अभ्यास द्वारा आत्मसात करनी चाहिये। अन्यथा पहले तेल बहुत गरम है इसलिए कर्मचारी उसमें डूबे वस्त्र को पकड़ नहीं सकते और कुछ देर के बाद तेल शीत ही हो जाता है। अतएव नित्याभ्यास से उष्णसहत्व की कला सीखनी होगी। वैसे ही तेल की धारा गिराने के पूर्व कर्मचारी अपने बायें हाथ पर (ऊपर) तेल गिराकर देखें कि कितना गरम है और रोगी उसे सहन कर सकेगा या नहीं। बायें हाथ के ऊपर तेल डालने का कारण यह कि हाथ के तलवे पर तो नित्याभ्यास से कुछ उष्ण-सहत्व आता ही है, जितना रोगी को नहीं होता। अतएव खुद समझकर धारा करें। धारा से द्रोणी में जो तेल गिरता है वह द्रोणी के ढलाव के कारण पादांत भाग में जाकर वहाँ के छिद्र से नीचे गिर जाएगा जिससे संलग्न नलिका से वह एक पात्र में पुनःजमा किया जाएगा। यह जमा किया हुआ तेल पाँचवा कर्मचारी फिर से गरम करके इन कर्मचारियों को धारा के लिए देता रहेगा।

समय—यह प्रक्रिया वातव्याधि में ५ नाडिका तक अर्थात् लगभग २ घंटे तक करें। वात और कफ रोगों में १ घंटा तक करें। सामान्यतः स्वेद निकलना यही पर्याप्त समय का निर्देशक है। ३ ३/४ नाडिका या १ १/२ घंटे का काल पर्याप्त माना जाता है। इस काल में अभ्यंगोक्त सभी

सात अवस्थाओं में हरेक में १० से १५ मिनिट तक पिषिंचिल करना चाहिये। धाराकल्प में कहा है कि ३०० मात्रा या लगभग आधे मिनट में तेल त्वक् स्रोतों से अन्दर चला जाता है और ३०० से ५०० मात्रा तक भिन्न-भिन्न धातु में जाता है।

अयोग्य पिषिंचिल—अधिक गरम, अधिक या कम ऊंचाई से धारा गिराना इत्यादि करने से शरीर दाह, विसर्प, थकावट, स्वरभेद, संधि में भेदनवत् पीड़ा, छर्दि, रक्तस्राव, (रक्तपित्त ?), ज्वर शीतपित्त, उदर्द, कोठ, इत्यादि विकार उत्पन्न होते हैं। ऐसे उपद्रव उत्पन्न हों तो चिकित्सा बंद करके निम्नलिखित प्रकार की चिकित्सा करें। प्रथम दिन आतुर को गंडूष और कवलग्रह करें और नस्य दे और शुंठीक्वाथ २ तोला २ या ३ बार पिलावें। उस दिन शाम को लघु भोजन दें। भात, कढ़ी, यूषादि दे। दूसरे दिन स्नेह बस्ति दे। तीसरे दिन निरूह दें, जिसमें सुखोष्ण जल और सैंधव डाला हो। चौथे दिन स्नेह व्यापद में कही हुई पूरी चिकित्सा करें, और पांचवें दिन से पुनः पिषिंचिल प्रारंभ करें। इस तरह चिकित्सा शुरू करने पर पुनः उपद्रव उत्पन्न न हो इसका ध्यान रखें। क्योंकि बारबार उत्पन्न उपद्रवों से पिषिंचिल में व्यत्यय हो कर चिकित्सा करना असंभव हो जाएगा।

औषध परिवर्तन*— क्षीरधारा की जाती हो तो दूध प्रतिदिन नया लेना चाहिये। धान्याम्ल धारा हो तो एक बार बनाये हुए धान्याम्ल से तीन दिन तक परिषेक करें और बाद में बदल दें। स्नेहधारा का तेल भी तीन दिन के बाद बदलना चाहिये। साधारणतः पहले लिया हुआ तेल तीन दिन तक चलाकर बाद में उसे सुरक्षित रखें। फिर चौथे दिन से छठे दिन तक दूसरा तेल उपयोग करें। फिर पहला सुरक्षित तेल, और दूसरे बार लिये हुए ३ दिन तक का उपयुक्त तेल दोनों मिलाकर ७वें दिन परिषेक करें। आठवें दिन से पुनः नया तेल लेना चाहिये। जिनको प्रतिदिन नया तेल लेना संभव हो उनको तेल बदलकर नया लेना ही श्रेयस्कर है, क्योंकि तेल के साथ शरीर के मल भी तेल में मिल जाते हैं, तो दूसरे दिन के धारास्वेद में पुनः शरीर पर लगाना संभव है। तथापि सामान्य लोगों में सात-सात दिन में एक बार तेल बदलना चल सकता है।

पिषिंचिल के बाद आतुर को थोड़ा व्यजन दिया जा सकता है अथवा उसके शरीर पर शीतजल से छिपका दिया जा सकता है, ऐसा केरलीय वैद्यों का मत है। यह धारा कल्प में भी कहा है, किंतु उष्णस्वेद के बाद तुरन्त शीत संपर्क शास्त्र-संमत नहीं है, और प्रत्यक्ष में भी उससे प्रतिश्याय, वातकंटक (मांसपेशी की ऐंठन), इत्यादि विकार उत्पन्न हुए मिलते हैं। थोड़ा आराम कर मृदु अभ्यंग करावें। शरीर और शिर का भी अभ्यंग करावे और गरम पानी से या तो निर्गुण्डी, दशमूल, निंबसिद्ध जल (क्वाथ नहीं) से उसे स्नान करावें। स्नान के बाद शुंठीक्वाथ, या जीरकादिक्वाथ, या गंधर्वहस्तादि क्वाथ दे। गंधर्वहस्तादि क्वाथ पिषिंचिल विधि में प्रतिदिन २ से ४ तोले प्रमाण में प्रातः सायं दें। गंधर्व हस्तादि क्वाथ अनुलोमन है, और परिषेक द्वारा जो मल स्रोतों विकास से कोष्ठ में आते हैं उनको अनुलोमन से निकालना चाहिये। परिषेक काल में विबंध जरा भी न रहे

---

* एकाहादपरं न सेचनविधौ क्षौरादिकं गृह्यते। इत्यादि ..... क्र का संदर्भ देखें।

इसका अवश्य ध्यान रखें। अन्यथा कोष्ठ में आये हुए मल आनाह, आध्मान, अग्निमांद्य, अजीर्ण, अरुचि तथा रोगवृद्धि भी करते हैं।

भूख लगने पर लघु, पाचक, शुंठी, आर्द्रक युक्त सद्रव आहार लें। पिषिंचिल काल में रोगी को मानसिकप्रसन्नता रखनी चाहिये। परिषेक के गुण पीछे कहे ही गये हैं। इसके अतिरिक्त अपतंत्रक, तथा स्त्रीरोगों में भी इसका अच्छा उपयोग होता हैं। केरलीय वैद्य इसका उन स्त्रियों में जिनकी प्रसूति प्राकृत नहीं होती, प्राकृत प्रसूति के लिए भी उपयोग मानते हैं। जिनको प्रसूति में बहुत तकलीफ होती हो, फौरसेप्स इत्यादि का उपयोग करना पड़ता हो उन स्त्रियों में दूसरी बार गर्भिणी अवस्था में नवें मास में पिषिंचिल प्रारंभ करें। दो या तीन सप्ताह तक उनको धारा चिकित्सा करने से प्रसूति में तकलीफ नहीं होती। यदि चिकित्साकाल में ही प्रसूति हो जाये तो आगे धारास्वेद बंद कर दें।

परिषेक में परिहार्य[७४]—परिषेक सात दिन, चौदह दिन, इक्कीस दिन या अठ्ठाइस दिन किया जाता है। जितने दिन परिषेक करें, उतने ही दिन आगे तक निम्नलिखित परिहार संभालें। स्त्रियों को स्पर्श भी न करें। स्त्रियों को देखना भी नहीं चाहिये, और उनका स्मरण भी न करें, क्योंकि दर्शन, स्पर्शन तथा स्मरण मात्र से ही शुक्रच्युति की संभावना होती है। व्यायाम, सूर्यसंताप, वेगावरोध, अत्यंत शीत वस्तु का सेवन तथा धूम्रपान ये वर्ज्य है। बहुत ऊँचा या बहुत नीचा सिरहना सोने के लिए न ले। बहुत अधिक सोना नहीं चाहिये। धूलि में, ठंडी हवा में बहुत अधिक समय तक खड़े न रहें। शोक, क्रोध न करें, रात्रि जागरण न करें। बहुत अधिक पैदल न चलें। बहुत जोर से और बहुत अधिक भ्रमण न करें। स्नान तथा पान में गरम पानी बरते। बहुत अधिक भोजन न करें और ब्रह्मचर्य का पालन करें।

धान्याम्ल तैयार करने की विधि, गंधर्वहस्तादि क्वाथ की विधि उपकल्पना-विज्ञान नामक अध्याय में देखें।

५. **अगवाह स्वेद**—अवगाह का अर्थ है मज्जन। वातहरपत्रों के क्वाथ, क्वाथसिद्ध दूध, तेल, घी, मांसरस, गरमपानी इत्यादि से कोष्ठक (Tub-टब) या कटाह (कढ़ाई) भरकर उसमें अभ्यंग किये हुए आतुर को गले तक डूबे हुए, बिठावे या तो लिटा दें। यह अवगाह स्वेद है।[७५] स्वेदोक्तो औषधि सुखोष्ण ही रहनी चाहिये। अवगाहार्थ टब का उपयोग प्रशस्त है। चार से छः फीट लंबे और दो फीट चौड़े तथा १।। से दो फीट ऊंचे टब जिनके एक बाजू में नीचे जलनिष्कासनार्थ रंध्र हो, ढकने के लिए पक्के ढक्कन से सज्ज रखना चाहिये। सीमेंट का हौज लोहे की कढ़ाई, या ताम्रादि धातु के पात्र या फायबरग्लास के टब लिये जा सकते हैं। इस टब को संलग्न गरम और ठंडे जल के नल हो, जो जरूरत के अनुसार कम ज्यादा जल गरम करने में सहायक होते हैं। प्राचीन काल में संभवतः घर-घर में 'अवगाह' का उपयोग स्नानार्थ किया जाता है। चक्रपाणि ने अवगाह स्नेह की टीका में लिखा है कि यह तो लोकप्रसिद्ध ही अवगाहन है। जिससे इसका पर्याप्त प्रचार सिद्ध होता है। साधारण उपयोग में दशमूल-क्वाथ या दशमूल संस्कारित जल, निंबपत्र जल, निर्गुंडी जल बलादिक्वाथ सिद्ध जल, एरंडमूलादि सिद्ध जल से अवगाहन किया जाता है। अवगाह स्वेद-अश्मरी शूल, कटिशूल, कटिपृष्ठगत वात, गृध्रसी, संधिगतवात, विनाम (झुक जाना) इत्यादि में अच्छा लाभ पहुंचाता है। यह आधे से एक घंटे तक करें।

भावप्रकाश ने कहा है कि नाभि से ऊपर छः अंगुल तक का शरीरभाग जलादि में डूबता रहे इस तरह आतुर को बिठावे, और कंधे पर गरम धार डालनी चाहिये। एक मुहूर्त (४८ मिनिट) से ४ मुहूर्त तक (१६२ मिनिट) अवगाह कर सकते हैं अथवा स्वेदागम तक अवगाह करें। इस तरह तेल, दूध, घी से एकांतर से दो दिन अंतर से अवगाह करावें।[७६]

भेलसंहिता में अवगाह के बारे में कहा हैं—अवगाहार्थ द्रोणी काठ की बनाए। इसमें वातहर क्वाथ कृशरा, दूध भरकर अभ्यक्त आतुर का अवगाहन करावें। स्वेदावगम तक अवगाह करें। इसी तरह कढ़ाई में आधे तक जल भरकर स्वेदन करें। इसे 'उदरकोष्ठ' कहते हैं।[७७]

६. जेन्ताक स्वेद[७८]— जेन्ताक स्वेद यह अनन्वयार्थक संज्ञा है। अर्थात् यह भी परंपरा सिद्ध नाम है--सार्थ नाम नहीं, तथापि प्राचीनकाल में यह स्वेद काफी प्रचलित था ऐसा बौद्धकालीन इसके किये गये प्रथम अध्यायोक्त उल्लेख से स्पष्ट होता है। जेंताक स्वेद के लिए पहले एक विशिष्ट आकार का कमरा बनाना चाहिये जिसे कूटागार कहा जाता है।

कूटागार—कूटागार निर्माण के लिए प्रशस्त भूमि की परीक्षा करनी चाहिये। कूटागार शहर या गांव के उत्तर दिशा में या पूर्व दिशा में ऐसी जगह बनावें जहां कि मिट्टी काली, या सुनहरी रंग की और स्निग्ध हो। कूटागार परिवाप (बावली) या पुष्करिणी (छोटे पोखर), आदि जलाशयों के समीप हो। जलाशय के पश्चिम या दक्षिण की ओर जहां अच्छा सा घाट हो—समतल और सुविभक्त भूमि में जल से सात या आठ अरत्नी दूर (१० से १२ फीट दूर), गोलाकार का पूर्वदिशा की ओर या उत्तरदिशा की ओर जलाशय की ओर द्वारवाला कूटागार (गोल कमरा) बनावे। इस कमरे का विस्तार १६ अरत्नी हाथ (लगभग २४ फीट) और ऊंचाई परम प्रमाण १६ हाथ होनी चाहिये। अर्थात् गोलाकार कमरा है अतः अंदर का क्षेत्र १६ हाथ व्यास का होना चाहिये। इस कूटागार की दीवार मिट्टी की तथा अच्छी तरह लिपी हुई होनी चाहिये। सभी बाजू में अनेक छोटे-छोटे छिद्र-वातायन होने चाहिये। कूटागार में दीवार को लगकर चारों बाजू में एक पिंडिका बनावें। पिंडिका एक थड़ी या ओटा है जो एक हाथ (१।। फीट) ऊंची और उतनी ही चौड़ी होती है। इसकी व्याप्ति द्वार पर्यंत होती है। अर्थात् दरवाजा छोड़कर पूर्ण गोलाकार में थड़ी होगी। यह पिंडिका आतुर को सोने के लिए होती है।

इस कूटागार के बिल्कुल बीच में अंगारकोष्ठक स्तंभ तैयार करें। यह अंगारकोष्ठकस्तंभ कंदुक (तंदुर) के आकार का, चार हाथ (६ फीट) प्रमाण का, पुरुषप्रमाण का ऊंचा जिसमें बहुत से छोटे-छोटे छिद्र वायु के आवागमनार्थ हो, ऐसा बनाये। इस स्तंभ को ऊपर से बंद करने के लिए ढक्कन होना चाहिये। यह स्तंभ अंगार के लिए होता है यह स्पष्ट है। इसमें खैर, अश्वकर्ण, इत्यादि की सूखी लकड़ी डालकर उसे भरकर आग जलायें। जब अच्छी तरह से जल जाये, और धुआं निकल जाये, और केवल अंगार से कूटागार गरम हो जाये, तब आतुर स्वेदनार्थ कूटागार का उपयोग करें।

स्वेदनविधि—आतुर का प्रथम यथोक्त औषधिसिद्ध तेल से सर्व शरीरपर अभ्यंग करें। अभ्यंग के बाद उसे मानसिक बल दिलाना चाहिये। उसे कपड़े से ओढ़कर कूटागार

में प्रविष्ट किया जाता है। प्रवेश के पूर्व उसे समझावे कि— यह स्वेद उसके कल्याण के लिए और रोग की निवृत्ति के लिए किया जा रहा है। अतः अंदर प्रवेश करो। अन्दर जानेपर पिंडिका के ऊपर कपड़ा ओढ़कर लेट जाये। स्वेद के समय जिस प्रकार से उसे अच्छा लगे उस प्रकार करवट बदल करें, तथा कूटागार का द्वार बंद होता है-- और स्वेद से दाह, मूर्च्छा आदि उत्पन्न होने पर भी वह पिंडिका को न छोड़े। अर्थात् पिंडिका के सहारे ही धीरे-धीरे बाहर आना चाहिये। पिंडिका यदि छोड़ देगा (तो बीच में जाकर) तो वह द्वार की ओर (अंधेरे के कारण) पहुंच नहीं पायेगा, तथा स्वेद मूर्च्छादि से (अंगार स्तंभ पर टकराकर) तुरन्त प्राण खो देगा। इसलिए किसी भी हालत में उसे पिंडिका को छोड़ना नहीं चाहिये। (आजकल जेंताक के कूटागार में विद्युत् प्रदीप लगाये जा सकते हैं-- जिससे भरपूर प्रकाश मिल सके)। जब उसे प्रतीत हो कि स्वेदन भलीभांति हुआ है, शरीर में अभिष्यद के (लिये हुए के समान प्रतीत) का ह्रास हुआ है, पिच्छा और स्वेद का अच्छी तरह स्त्राव हुआ हैं, शरीर हलका हुआ है, गौरव, विबंध और स्तंभ (जकड़ाहट) का नाश हुआ है, तब पिंडिका को सहारा बनाकर धीरे-धीरे चलकर द्वार के बाहर आ जाए। बाहर आते ही आंखों के रक्षणार्थ एकदम ठंडे जल का स्पर्श उसे नहीं करना चाहिये। ऐसा शीतस्पर्श उष्णशरीर में वाष्प निर्माण कर उसकी आंखों पर खराब असर कर सकता है। अतः शरीरोष्मा धीरे-धीरे शांत होने पर, थकावट दूर होने पर एक मुहूर्त (४८ मिनिट) के बाद गरम पानी से परिषेक या स्नान करें। यह जेंताकस्वेद है।

इस स्वेद में रोगी का सर्वांग में एक साथ बड़े तापमान पर स्वेदन होता है। यह वाष्पस्वेद का प्रकार समझना चाहिये न कि तापस्वेद का। इसमें वैद्य स्वयं कूटागार में रह नहीं सकता। अतएव आतुर को अनेक आवश्यक सूचनायें देकर अंदर भेजा जाता है। इस स्वेद में अधिकतर हमें आतुरपर ही निर्भर रहना होता है। अतः वह बुद्धिमान, (Intelligent) अनुरक्त (Cooperative) और वैद्यानुकारी होना चाहिये। अपस्मार उन्माद जैसे बुद्धिविभ्रमादि अवस्था में, दुष्ट नियतवाले आतुर में यह स्वेद न करें, क्योंकि वे अंगार कोष्ठक पर टकराकर खुद का और वैद्य कीर्ति का नाश करते हैं। इसी तरह सर्वांगाघात, या पक्षाघात में जहां आतुर स्वयं चल न सके, वहां बारंबार कर्मचारियों को अंदर जाकर आतुर की परिस्थिति देखकर समयानुसार उसे बाहर निकालना चाहिये। यह कूटागार इतना प्रशस्त होता है कि इसमें एक साथ तीन चार आतुरों का भी स्वेदन किया जा सकता है। केवल विशेष चिंता इस बात की करें कि प्रत्येक का सम्यक् स्वेदन अलग-अलग समय होने के कारण यथावसर उन्हें बाहर आने पर पश्चात्कर्म का प्रबंध रखना होगा। जेंताक स्वेद के बाद कुछ देर तक (४८ मिनिट) आतुर को जलसमीपवर्ति अन्य छोटे से कमरे में विश्रांति कराना हितकर है, जहां उसे प्रत्यक्ष वायु का संपर्क न हो और प्रत्यक्ष शैत्य का संपर्क न हो।

७. अश्मघन स्वेद[७९]— एक व्यक्ति से शयान प्रमाण की अर्थात् छः फीट लंबी और ढाई फीट चौड़ी ऐसी एक शिला संग्रहीत करें। इस शिला पर वातहर देवदारु आदि काष्ठों से आग जलाकर उसे गरम करें। फिर शिलापर जल डालकर आग बुझावे, और वहां से काष्ठादि को हटाकर उस पर रेशम का कपड़ा बिछाकर अभ्यंग किये हुए आतुर को उस पर लिटावें। ऊपर से सूती मोटी चद्दर, या मृगचर्म या रेशमी चद्दर गले तक ओढ़ा

दे। इस प्रकार तप्तशिला के वाष्प से स्वेदन करना अश्मघन स्वेद है। अश्मघन स्वेद और प्रस्तरस्वेद में बहुत अधिक फरक नहीं है। दोनों में शयान प्रमाण की शिला ली जाती है तथापि प्रस्तर-स्वेद में शिला की जगह, निवात कमरे में केवल शयानप्रमाण में भी स्वेद किया जा सकता है। प्रस्तर स्वेद में काष्ठशिला भी चल सकती है। उस पर शमीधान्यादि पकाकर बिछाकर स्वेद किया जाता है जो स्निग्ध स्वेद है, और अश्मघन में लकड़ी को शिलापर ही जलाया जाता है और उससे संतप्त शिला की भाप स्वेदन में प्रयुक्त होती है जो स्निग्ध स्वेद नहीं है--अपितु कुछ रुक्ष स्वेद ही है।

८. कर्षुस्वेद[८०]—कर्षु का अर्थ है ऐसा गर्त (गढ़ा) जो अंतर से विस्तीर्ण और मुख में कम चौड़ा होता है। चौपाई रखने के लिए आवश्यक जगह के नीचे ऐसा एक गड्ढा योग्य स्थान में (निवात, पवित्र) बना लें। इस कर्षु में औषधिकाष्ठों को जलाकर, कर्षु के ऊपर चौपाई पर (ऊन के कंबल पर) अभ्यक्त आतुर को लिटाकर स्वेदन करना कर्षुस्वेद है। अंगार का प्रत्यक्ष संपर्क है--जहां अश्मघन में वाष्प का संपर्क होता है। यह भी रुक्ष स्वेद है।

९. कुटी स्वेद[८१]—कुटी स्वेद के लिए गोलाकार, न बहुत बड़ी और न बहुत छोटी कुटी (झोपड़ी या कमरा) बनाये। इस कुटी की अन्दर की दिवारें कुष्ठादि उष्ण सुगंधी औषधियों के कल्क से लिंपित कर ले। इस कुटी में खिड़की या झरोका इत्यादि नहीं होना चाहिये। इसमें एक खटिया रख कर उस पर मोटा कम्बल, मृगचर्म या गोणिक (सन) का कपड़ा बिछा दें-- इस पर अभ्यक्त आतुर को लिटाकर उसके चारों बाजू में निर्धूम जलती हुई अंगीठियां रखकर स्वेदन करें। इस तरह सुखपूर्वक स्वेद करें-- यह कुटी स्वेद है। कुटी स्वेद में और जेन्ताक स्वेद में आकार भेद प्रतीत होता है। वैसे ही जेन्ताक स्वेद में बीच में अंगार और दीवार के तरफ ओटेपर आतुर का स्वेदन किया जाता है तो कुटी स्वेद में बीच में आतुर और चारों बाजू में अंगार रखकर स्वेदन किया जाता है। कुटी में अंगार से संतप्त हवा से (वाष्प स्वेद) स्वेदन होता है। अष्टांग संग्रह में भी ऐसा ही कुटी स्वेद का वर्णन है।

१०. भू-स्वेद[८२]— अश्मघन स्वेद में जो विधि बताई गई है वही विधि भूपिपर करना भूस्वेद कहलाता है। निवात स्थान में प्रशस्त और समतल भूमि पर काष्ठादि जलाकर उस पर पानी डालकर बुझा दें-- और उनको हटाकर वहाँ रेशम का कपड़ा बिछा कर आतुर को लिटा कर स्वेद करें।

११. कुंभी स्वेद[८३] —एक कुंभी—हंडी को आधे या तीसरे भाग तक जमीन में गाड़ दें। इस पर ज्यादा कदवाली न हो ऐसी चौपाई या तो बैठने की पीठिका (कुर्सी जो नीचे जालिका वाली हो) रखें। इस पर रोगी को बहुत बड़े वस्त्र से न बिछाते हुए लिटावे या बिठावे। अब कुंभी में वातहर क्वाथ भरकर लोहे के गोलों को अंगार में लाल होने तक तपा कर उसमें डाल दें। इस संतप्त गोलकों से क्वाथ में निर्मित वाष्प के द्वारा आतुर का स्वेदन करना कुंभी स्वेद है।

१२. कूपास्वेद[८४]—कूप का अर्थ कुंआ है। कूप सादृश्य से कूपस्वेद कहा जाता है। निवात और प्रशस्त स्थान में चारपाई के लंबाई एवं चौड़ाई का तथा गहराई में इससे दुगुना कूप तैयार करें। अर्थात् छः फीट लंबा, ढाई फीट चौड़ा और बारह फीट गहरा कूप

तैयार करें। इसे अंदर से मिट्टी से अच्छी तरह लीपकर साफ करें। इसमें हाथी, गधा, ऊंट, गाय, घोड़ा, इनमें सूखे हुए पुरीष भर दे और अंगार जलाये। जब धुआं निकलना बंद हो जाये तब ऊपर चारपाई पर अच्छी मोटी सी कम्बल या चद्दर—या बिछौना बिछाकर अभ्यंग किये हुए आतुर को लिटाकर स्वेदन करें। यह कूपस्वेद कर्षुस्वेद से बड़ा है। इसका मुख शयन विस्तार से बड़ा है, जो कर्षु में संकुचित मुख हैं। कर्षु में काष्ठ की अग्नि है, जहाँ कूप में प्राणि पुरीष से अग्नि जलाई जाती है। यह कर्षु की अपेक्षा ज्यादा उष्णतावाला स्वेद है। रुक्ष प्रकार का है।

१३. होलाक स्वेद[८५]—चारपाई के अंदर के प्रमाण की--एक धीतिका सेगड़ी तैयार करें। अर्थात् लगभग ५ फीट ६ इंच लंबी और दो फीट चौड़ी। इनमें हाथी, घोड़े आदि की सूखी हुई लीद भर कर, आग जलाकर, चारपाई पर बिछाने पर अभ्यंग किये हुए आतुर का स्वेदन करें। इस स्वेद में कूप स्वेद का ही छोटा सा स्वरूप है, और कहीं पर भी कभी भी करने योग्य स्वेद है। यदि शयनविस्तार की सेगड़ी न हो तो चौपाई के नीचे समांतर से ४ सेगड़ियां (छोटी) रखकर भी स्वेद किया जा सकता है।

तापादि चार प्रकार के स्वेद—सुश्रुत और वाग्भट ने ताप स्वेद, उष्मस्वेद, उपनाह स्वेद और द्रव स्वेद ऐसे चार प्रकार के स्वेद कहे हुये हैं, उनका वर्णन संक्षेप में यहाँ वर्णन किया जाता है, क्योंकि इनका विस्तार ही चरकोक्त तेरह स्वेद है।

१. तापस्वेद[८६]— तपाना यह तापस्वेद है। तपाने का मतलब प्रत्यक्ष अग्नि-संपर्क है। इसमें अग्निद्वारा गरम किये हुए--हाथ से, कांसे से, कंदुक से, कपाल-खर्पर से, बालुका से, वस्त्र से, लोहे के फलकों से गात्रपर स्वेदन किया जाता है। कंदुक को अपूपपचन भांड कहा है जो गोल होता है। यह दाल पकाने का गोल, कम चौड़े मुख का तथा पेन्दे में गोलाकार से पर्याप्तस्तर वाला पात्र होता है। अरुणदत्त ने फाल-लोहे के तवे के सदृश फलक के, तथा आदि शब्द से काष्ठ, बालुका घड़ा, कांसे के पात्र : त्यादि का उपयोग करने को कहा है। यह विशेषतः रुक्ष स्वेद है। क्योंकि इसमें केवल तपाने के माध्यम स्वरूप कपालादि वस्तुओं का सहाय्य लिया जाता है। सुश्रुत ने तापस्वेद का एक और प्रकार भी कहा है, जो कूप, कर्षु होलाक स्वेद के समान है। शय्या या खटिया के नीचे खदिरादि अंगार जलाकर खटिया पर लेटे हुए आतुर का स्वेदन करने को कहा है। डल्हण ने कहा है कि तापस्वेद में निर्दिष्ट कंदुकादि साधन को उपलक्षणमात्र समझ कर जेंताक, कर्षु, कूप, कुटी, कूप होलाक ये पांच प्रकार के (चरकोक्त) स्वेदों का इसमें अंतर्भाव होता है, तथापि यहां ध्यान देने योग्य विषय यह है कि कंदुक को तपाकर उसका प्रत्यक्ष मात्रस्पर्श ताप स्वेद में अपेक्षित है। कपाल, बालुका, इत्यादि भी इसी तरह प्रत्यक्ष त्वचापर संपर्क में आते हैं, किंतु जेंताक, कर्षु, कुटी, कूप और होलाक स्वेद में इस तरह प्रत्यक्ष अग्नितप्त द्रव्यों का गात्रपर स्पर्श नहीं होता बल्कि इन सभी में गरम हवा से ही स्वेदन किया जाता है। अतएव इनका समावेश उष्मस्वेद में करना अधिक उचित है और डल्हण ने उष्मा का अर्थ वाष्प ही किया है।[८७] सुश्रुत ने अंत में तापस्वेद में 'शयानस्य चांग तापो बहुशः खदिरांगौरेरित' वचन से जो और एक स्वेद कहा है इसी से डल्हण ने उपर्युक्त प्रकार का व्याख्यान किया है ऐसा प्रतीत होता है।

काश्यप ने चार मास के बालकों को 'हस्तस्वेद' करने को कहा है। अर्थात् यह

अत्यंत मृदु स्वेद है। शरीर की प्राकृतउष्मा से अथवा निर्धूम अग्नि पर हाथ गरम कर निवातस्थान में बैठकर बच्चों का धीरे-धीरे मृदु स्वेद करें।[८८] हाथों को एक दूसरे पर रगड़कर गरम करके भी स्वेद किया जा सकता है। वस्त्रस्वेद भी मृदु है। बालकों की सुकुमारता जैसे-जैसे कम होती जायेगी, और वयानुसार अवयवों में काठिन्य आने लगेगा वैसे-वैसे उनको उपनाहादि आगे कहे हुए स्वेद करना चाहिये।

२. **उष्मस्वेद**[८६] — उष्मा का अर्थ है वाष्प। वाष्प से स्वेद करना उष्मस्वेद कहा जाता है। सुश्रुत ने उष्मस्वेद निम्नलिखित प्रकारों से करने को कहा है।

१. खर्पर, पत्थर, ईंट, लोहे के गोले इनको आग में तपाकर इन पर ठंडा पानी या कांजी डालकर बूझावें, और गीले वस्त्र में उन्हें लपेट कर अंग का स्वेदन करें। जेज्जटाचार्य के मतानुसार गीले वस्त्र से गात्रपरिवेष्टन कर स्वेदन करें।

२. मांसरस, दूध, दही, तैल, कांजी, वातहरपत्र क्वाथ इत्यादि से कुंभी (घड़े को) भरकर द्रव्यों को खूब उबालकर उसके वाष्प का स्वेदनार्थ ग्रहण करें। चरकोक्त कुंभी स्वेद में इस क्वाथ में लोहे के गोले डालकर कुछ फरक किया है।

३. इसी कुंभी पर दूसरी कुंभी उलटी (अधोमुख) रखकर संधान करके ऊपर के कुंभी के पेन्दे में छिद्र कर उसमें हाथी के सूंड के समान नाड़ी लगाकर उस नाड़ी से वाष्प को विशिष्ट अवयव पर ले जाकर स्वेदन करें। नाड़ी अर्धव्यास (३ फीट) लंबी तथा किलिंज (कुशादि चटाई निर्माण के द्रव्य) की बनी हुई और दो तीन जगह मुड़ी हुई हो। यह स्वेद चरकोक्त नाड़ीस्वेद के समान है।

४. पुरुष के लंबाई और चौड़ाई के प्रमाण का (६'' × २।।'') एक गर्त (नाति गंभीर) खोदकर उसमें खदिरादि से आग जलाये। फिर पानी, दूध, धान्याम्ल डालकर बुझाकर उस पर वातघ्न पत्रों की शय्या (बिछोना) बना कर उस पर आतुर को लिटा कर स्वेदन करें। यह स्वेद अश्मघन और भूस्वेद के समान है।

५. किसी शिलापर खदिरादि काष्ठ जलाकर, पूर्ववत् उसे बुझा कर राख हटा कर उस पर आतुर को लिटा कर स्वेद करें। यह अश्वघन के समान है।

६. इसी तरह चार दीवार में एक-एक ऐसे चार द्वारवाली कुटी बनाकर इस कुटी में आतुर को बिठाकर या लिटाकर प्रत्येक द्वार में एक सेगड़ी रखकर स्वेदन करें। यह कुटी स्वेद के समान है।

७. कोष धान्य और शमीधान्य माष, मूंग, आदि को अच्छी तरह पका कर रेशम के वस्त्र पर, या चटाई पर बिछाकर, या, किसी अन्य साधन पर (प्रस्तर, काष्ठादि) बिछाकर उस पर आतुर को लिटाकर कपड़ा ओढ़कर स्वेदन करें। यह प्रस्तर स्वेद के समान हैं। इस तरह रेती, गवादि के पुरीष, तुष, इत्यादि का उपयोग करें।

वाग्भट ने उत्कारिका, खर्पर रेती, पत्रभंगक्वाथ, धान्य, गवादि पुरीष, बालुका, तुष इत्यादि को तपा कर अनेक प्रकार से स्वेद करने को कहा है।[९०] अर्थात् इसमें उपर्युक्त सभी उपाय करने चाहिये।

३. **उपनाह स्वेद**[९१] — जिसमें उपनाहन अर्थात् बंधन किया जा कर स्वेद किया जाता है उसे उपनाह स्वेद कहते हैं। ''णह् बंधने'' प्रकार से वंधनार्थक धातु से उपनाह शब्द बना है। उपनाहस्वेद की जो विधि सुश्रुत ने कही है, उस पर से इसके तीन प्रकार संभावित होते हैं।

१. **प्रदेह**—वातहर औषधियों के मूल, पत्र, इत्यादि को कल्क बनाकर अम्ल कांजी आदि के साथ खूब पीसकर सैंधव लवण डालकर किंचित् स्नेह मिलाकर प्रदेह या लेप से स्वेदन करना यह प्रथम प्रकार है।

२. **संकर या पिंडस्वेद**—काकोल्यादि गण, एलादि गण, सुरसादि गण में कही औषधियां, तिल, अलसी, सरसू इत्यादि के. कल्क, कृशरा पायस, उत्कारिका, बेशवार (मांसचूर्ण) इनको कपड़े में बांधकर पोटली तैयार कर स्वेदन करना यह दूसरा प्रकार है। डल्हण ने इसे संकरस्वेद कहा है, और उपनाह का भेद माना है।

३. **बंधन**—उपर्युक्त द्रव्यों को गरम कर पतले कपड़े में बांधकर रुजार्त गात्र पर रखकर पट्टी बांध देना यह तीसरा प्रकार है।

वाग्भट ने वचा, किण्व, सौंफ, देवदारु, धनिया, गंधद्रव्य, रास्ना, एरंड, जटामांसी, मांस इनमें लवण स्नेह, छाछ, दूध, अम्लचुका इत्यादि मिलाकर, चर्म पट्ट (चमड़े का पट्टा) द्वारा बंधन करने को उपनाह कहा है। चमड़े के पट्टे के अभाव में वातहर पत्रों के द्वारा, रेशम के कपड़े से या ऊन के कपड़े से ये द्रव्य गात्र पर बांधने को कहा है।[९२] इस तरह चमड़े के भिन्न-भिन्न आकार के जानु, कूर्पर, गुल्फ, पृष्ठ, असादि संधियों में तथा हाथ, पांव, जंघा, उर्वी, बाहू आदि लंबगोल आकृति के सामान्य प्रमाण के उपनाह पट्ट तैयार करना बहुत अच्छा है। चर्मपट्ट से अधिक देर तक गरमी रहती है, और अवयव को भलीभांति बांधने में मदद होती है। सुश्रुत ने साल्वणस्वेद नामक उपनाह स्वेद कहा है, इसका वातव्याधि चिकित्सा में विस्तार से वर्णन किया है। इसमें चर्मपट्टादि बंधनों से बांधने का निर्देश है।

साल्वण उपनाह स्वेद[९३] — साल्वणस्वेद यह एक रूढ़ संज्ञा है। डल्हण ने 'उल्वणेन वर्तते इति साल्वणः' ऐसी व्युत्पत्ति भी दी है। इसमें गुणाधिक्य तथा कर्माधिक्य है। सुश्रत ने लवण के प्रचुर प्रयोग के कारण साल्वण स्वेद ऐसा कहा है। अन्यथा इसे काकोल्यादि उपनाह ऐसा नाम देना चाहिये था।

साल्वण स्वेद में काकोल्यादि गण, एलादिगण, या सुरसादिगण की औषधियां, वातघ्नगण की (भद्रदार्वादि) औषधियां, सभी अम्ल द्रव (कांजी, दही, छाछ आदि), आनूप, और औद्रक मांस, तेल, घी, वसा और मज्जा ये सब मिलाकर, प्रभूतमात्रा में नमक (सैंधव) मिलाकर शरीर पर गरम लेप कर रेशम या सूती कपड़े से या बिल्ली, नेवला, चूहा, हरिण इनके चमड़े से तत्तद् आकार की थैली बनाकर गात्र पर रखकर अच्छी तरह बांध देना चाहिये।

काकोल्यादि गण और एलादि गण का उपयोग पित्तानुगात वात में करें; सुरसादि गण का उपयोग कफानुगत वात में करें और केवल वात में वेशवारादि उपनाह करें। इस तरह दोषानुसार साल्वण उपनाह निम्नोक्त प्रकार से करें।

१. **पित्तानुगत वात**—काकोल्यादि गण की औषधियां या एलादि + वातघ्न गण की औषधियाँ आनूप मांस + मत्स्यादि + अम्ल कांजी आदि + चार स्नेह घी आदि + सैंधव इनको गरम कर बांध दें।

२. कफानुगत वात—सुरसादि गण की औषधियां + वातघ्न गण की औषधियां का कल्क + आनूपमांस + मत्स्य + अम्लकांजी इत्यादि + चार स्नेह + सैंधव इनको विधिवत् बांध दें।

३. केवल वात में—वेशवार + वातघ्न गण की औषधियों का कल्क + मत्स्य + आनूप मांस + अम्ल कांजी इत्यादि + सैंधव इनका उपनाह करें।

साल्वण स्वेद किसे करें ? —वातव्याधि से पीड़ित रुग्ण जिनके शरीर में अत्यंत रुजा है, गात्रों का संकोच हुआ है, गात्र स्तब्ध (Contractures) हुए हैं, उनको सालवण उपनाह करें।

उपर्युक्त औषधियों में प्रमाण के बारे में डल्हण ने कहा हैं कि मांस और काकोल्यादि औषधि के कल्प समभाग लें, इसमें अम्ल द्रव्य उतनी मात्रा में डाले जितने से सभी द्रव्य खट्टे हो जायें, और स्नेह उतने प्रमाण में डाल दे जितने से सभी द्रव्य स्निग्ध हो जायें। इन सबको अच्छी तरह पकाकर एकत्र पीसकर उपनाह कर दे। इसी पद्धति से माषसैंधव उपनाह, निंबपत्र उपनाह, आदि किये जा सकते हैं।

४. **द्रवस्वेद**[६४]—द्रव के द्वारा स्वेद करने के कारण द्रवस्वेद कहते हैं। द्रव्यों में वातहरक्वाथ, दूध, मांसरस, यूष, तैल, धान्याम्ल घृत, वसा गोमूत्र, इनका उपयोग किया जाता है। इस स्वेद के परिषेक और अवगाह ऐसे दो प्रकार हैं। परिषेक में इन द्रव्यों की सुखोष्ण धारा गिराई जाती है और अवगाह में पूर्वोक्त प्रकार से द्रोणी या कटाह में मज्जन किया जाता है। यह अर्श, अश्मरी शूल में लाभप्रद है।

वाग्भट ने परिषेक स्वेद के लिए कुंभी, गलंती और नाड़ी का उपयोग बताया है। कुंभी और नाड़ी पहले कही जा चुकी है। गलंती यह गागर आकार का अभिषेक पात्र के समान पात्र है। जो सुवर्ण, रजत, ताम्र, इत्यादि धातु से बनाया जाता है। इसके छिद्र से धारा गिराई जाती है। विस्तृत वर्णन उप-कल्पना विज्ञान नामक अध्याय में देखें। गात्रों को कपड़े से ढक कर परिषेक करने का निर्देश वाग्भट करते हैं।

स्वेदविधि विधान

स्वेदविधियों का एकेकशः वर्णन पीछे कर दिया है। अब इस ग्रंथ के उपक्रमानुसार स्वेदविधि विधान की कुछ सामान्य बातें पूर्वकर्म, प्रधानकर्म और पश्चात्कर्म के क्रमानुसार वर्णित की जाती है।

१. पूर्वकर्म—स्वेदविधि के पूर्वकर्म में निम्नलिखितानुसार विचार करना चाहिये।

१. साधन सामग्री २. स्वेदपूर्व सामान्य नियमों का विचार

३. आतुरगत पूर्वकर्म

१. **साधन सामग्री**—स्वेद के अनेक प्रकारों का वर्णन पीछे कर चुके हैं। उनको सुचारुरूप से संपन्न करने के लिए सभी सामग्री प्रयत्नपूर्वक जमाना चाहिये। जिसमें जेंताकस्वेद का कूटागार निर्माण, कुटीस्वेद का कुटी निर्माण प्रस्तरस्वेद, अश्मघन स्वेद के लिए पत्थर, भूस्वेद के लिए निवात कोठी, कर्षु, कूप स्वेद के गर्त का निर्माण, अवगाह के कटाह, टब, परिषेक के तैल द्रोणी, कुंभियां, झारियां, गलंती, नाड़िकाएँ, वाष्पस्वेदन

यंत्र इत्यादि का समावेश होता है। रेशम के वस्त्र, सूती सफेद मजबूत कपड़ा, ऊन के कंबल, चद्दर, पतली एवं जाड़ी चद्दर, चमड़े की भिन्न-भिन्न आकार की थैलियां, कपड़े की थैलियां इन सबको संग्रहीत करें। एल्यूमिनियम, स्टील, ताम्र, पीतल या धातु के बड़े-बड़े आकार के तथा छोटे आकार के पात्र— १० पौंड, ८ पौंड, ६ पौंड इत्यादि क्रमसे द्रव रखने की क्षमता वाले संग्रह करें। जो क्वाथ निर्माण में, स्वेदन में, वाष्प प्रयोग में, तैल कांजी, मांसरस दूध आदि संग्रह करने के लिए तथा अन्यान्य प्रयोजन में आवश्यक होते हैं। बड़ी एवं छोटी आकार की अंगीठियाँ स्टोव्ह, हॉटप्लेट, तवा, दर्वी, सरोते, संदंश अंगार डबी (मेच बॉक्स), कपास, बॅंडेज, गोजपीस, रस्सी, अलग-अलग प्रकार के ढक्कन, इत्यादि छोटी-छोटी सामग्री भी जुटावें। स्वेदोपयोगी औषधियां जो पीछे कही गई हैं,— काकोल्यादिगण, सुरसादिगण, एलादिगण, वातघ्नगण, अम्लवर्ग, स्वेदोपत्र गण, शूकधान्य, शमीधान्य, पिंडस्वेद उपनाहादि के द्रव्य, मांस, मत्स्य, दूध, तेल, घी, वसा, मज्जा, बालुका, पांसु, भस्म, धान्य, गोधूमशकल, कंकड़, छोटे-छोटे पत्थर, लोहे के गोले, गाय, घोड़े, ऊँट, गधे इत्यादि प्राणियों के सूखे पुरीष, खर्पर आदि का संग्रह करें।

स्वेदोत्तर उपद्रवों को ध्यान में रखकर आवश्यक औषधि सूतशेखर रस, प्रवालपिष्टी, शंखभस्म, चंद्रकला, गोदंती, छर्दिरिपु, हेमगर्भ, दशमूलारिष्ट, जात्यादितैल, पद्मकादितैल, जात्यादि मरहम तथा कमलपत्र, उशीर, नागरमोथा कर्दलीपत्र, चंदन इत्यादि का संग्रह करें।

स्वेद के अलग-अलग प्रकारानुसार कर्मदक्ष, निपुण और वैद्यानुकारी, सुहृदकर्मचारी-स्त्री एवं पुरुष--पर्याप्त संख्या में स्वेदभवन में तैयार रखने चाहिये।

२. स्वेदपूर्व सामान्य नियमों का विचार—स्वेद की चिकित्सा सफल तभी हो सकती है जब रोग, ऋतु, व्याधित या रोगी, देश, वयादि का विचार कर अवस्थानुसार योग्य स्वेद किया जाता है।[६५] इनका संक्षेप में विचार करेंगे।

१. रोग—रोगानुसार कहाँ कौनसा स्वेद करना चाहिये, तथा अमुक रोग स्वेदनार्ह है या नहीं इसका प्रथम निर्णय करना चाहिये। अन्यथा महान अनर्थ संभव है। वातव्याधियों में शूल, संकोच स्तंभ प्रधान हो तो उपनाह करना चाहिये, कर्मक्षय प्रधान पक्षाघात, खंज, पंगु, अर्दित में पिंडिचिल, षाष्टिक शाली पिंडस्वेद, अन्नलेप इत्यादि आम प्रधान सशोथ अवस्था में लेप—प्रदेहयुक्त उपनाह, बालुकास्वेद ईंट, तुष, खर्परादि रुक्ष स्वेद करें। गृध्रसी, विश्वाची, खल्ली पृष्ठकटिगत वात इत्यादि में वाष्पस्वेद करें। अश्मरीशूल, कटिशूल इत्यादि में अवगाहस्वेद करें। इस तरह तत्तद् रोग और उनके चिकित्सा का स्पष्ट ज्ञान चिकित्सक को कर लेना चाहिये।

२. ऋतु—ऋतु के अनुसार शीत ऋतु में महान स्वेद और उष्ण ऋतु में (ग्रीष्म में) मृदु स्वेद करें।[६६]

३. व्याधित या रोगी—रोगी अगर उत्तम शरीर बलवाला, दृढ़ मानसिक बलवाला हो तो तीक्ष्ण या महानस्वेद करें, यदि मध्यम शरीर और सामान्य मनोबल वाला हो तो मध्यम स्वेद, और दुर्बल शरीर वाला तथा अवर मनोबल वाला हो तो मृदु स्वेद करें। यहां पर महान स्वेद, मध्यम स्वेद और मृदुस्वेद से कुटी, जेंताक, प्रस्तर, इत्यादि सर्वांग, एकांग स्वेद का तथा किसी एक स्वेद से तीक्ष्णाग्नि, मध्यमाग्नि और हीनाग्नितांप का ग्रहण करें। काश्यप ने रोगियों के बारे में एक विचित्र बात कही है। वे कहते हैं कि कुछ

आतुर (बालक) ऐश्वर्यवान श्रेणी के तथा धनिक लोगों के संतान होते हैं। कुछ मध्यम श्रेणी के और कुछ दरिद्र लोगों के संतान होते हैं। अतः निषेक उत्पत्ति को देखकर, उनका पालन पोषण कैसे हुआ यह सात्म्य देखकर स्वेद का प्रयोग करें।[९७] वैसे तो काश्यप मानते हैं कि रोग तो सभी को बिना भेदभाव किये होते रहते हैं, किंतु मुख्य फरक तो इसमें रहता है कि धनिक लोग सभी सामग्री बराबर जुटा सकते हैं और वैद्य को उचित (दक्षिणा) धन दे सकते हैं, वैसे ही वैद्य के कहे हुए अनुसार से सभी पथ्यों को संभाल सकते हैं।[९८] वैसे तो उपर्युक्त उक्ति अत्यंत कटु है लेकिन व्यवहार में यह सच है। काश्यप ने एक व्यवहारी मार्ग का ही यहां संकेत किया है ऐसा कहना अनुचित नहीं है। पिंडस्वेद चावल, गेहूं, शमीधान्य, शूकधान्य के किसी भी धान्य से कर सकते हैं। औषधि भी कम ज़्यादा मूल्यवाली होती है। रेती, बालुका, पुरीषादि का भी स्वेद होता है— और अवगाह में तैलादि स्नेह तथा क्वाथ और केवल गरम पानी भी उपयुक्त होता है। अतः प्रश्न यह है कि कौन रोगी कितना व्यय उठा सकेगा ? तथापि किसी भी रोगी की पैसे के लिए वंचना नहीं करनी चाहिये। धनवान है अतः बालुकादि के स्थान पर अन्य मांसादि के पिंडस्वेद, या दरिद्री हैं अतः अत्यावश्यक होने पर भी योग्य स्वेद न करना, यह रास्ता काश्यप को भी मान्य नहीं है। मानवताधर्म का पालन करने का निर्देश आयुर्वेद में जगह-जगह मिलता है। यहाँ सामान्य निर्देश ही समझना चाहिये, और शासकीय आतुरालय में उपर्युक्त विचार गौण रहता है।

४. **देश**[९९] —आतुर शरीर के भिन्न-भिन्न देश को ध्यान में रखकर स्वेद करना चाहिये। आमाशयगत वात में रुक्षपूर्वक स्वेद करें, पक्वाशयगत कफ में स्नेहपूर्वक स्वेद करें। वृषण, हृदय, नेत्र इनको हमेशा स्वेद से बचाना चाहिये। अत्यावश्यक हो तो मृदु स्वेद करें। बड़े स्वेद के समय भी इन पर कमलपत्र रखना, कार्पास, पट्टबंधन मणिमुक्तादि स्पर्श, गेहूं का आटा गूंदकर उन पर रखना, ठंडे बर्तन, ठंडे हाथ से स्पर्श करना इत्यादि उपाय करते रहें। काश्यप ने गले, कान, मन्या, शिर, नेत्र, चिबुक (हनु) उर उनके सशोथावस्था में प्रदेह प्रकार का स्वेद करने को कहा है। बंक्षण में मध्यम स्वेद करें।

५. **वय**—वयानुसार शरीर भेद होता है और पथ्यभेद होता है, इसे ध्यान में रख कर, बल, काल, और पथ्याहारादि के अनुसार मृदु, मध्यम, तीक्ष्णादि प्रकार का स्वेद करें।

३. **आतुरगत पूर्वकर्म**—आतुर को यदि वमन या विरेचन द्वारा शोधनार्थ स्वेदन करना हो तो, प्रथम स्नेहपान क्रमानुसार ३ से ७ दिन तक स्नेहन करावे और चौथे दिन या ८वें दिन स्वेदन करावें,[१००] और यदि केवल संशमन स्वेद करना हो तो यथानिर्दिष्ट उपाय करें। उदाहरण— आम, कफ और मेद के प्राधान्य में अभ्यंग न कर रुक्षण स्वेद करना अभिप्रेत होता है। अन्यत्र प्रत्येक स्वेद में पहले आतुर का विधिपूर्वक एकांग या सर्वांगाभ्यंग करके ही स्वेदन करना चाहिये।

२. **प्रधान कर्म** — 'स्वेद प्रधानकर्म' में निम्नोक्त विषयों का समाहार होता है।

१. स्वेदावचारण।

२. निरीक्षण।

१. **स्वेदावचारण**—स्निग्ध अभ्यक्त अथवा अनभ्यक्त आतुर को यथोपदिष्ट प्रकार से तत्तद् प्रकार का स्वेदन करना यह स्वेदावचारण है। स्वेदावचारण आभ्यंतर अवयव के अनुसार दीर्घ या वृत्ताकार में करना चाहिये। और आवश्यकतानुसार सात अवस्थाओं में करें।

२. **निरीक्षण**—स्वेदकाल में निरीक्षण का बहुत महत्त्व है। निरीक्षण में स्वेदन समय, सम्यक् स्विन्नादि लक्षण, तथा उपद्रवादि का सतत निरीक्षण करना चाहिये। प्रत्येक स्वेद में कहे गये अनुसार विशिष्ट समय तक स्वेदन किया जा रहा है या नहीं इसका ध्यान रखे। अत्युष्ण या अनुष्ण स्वेद होता हो तो हानिप्रद है अतः बीच-बीच में परीक्षण करता रहे। वाष्पस्वेद, परिषेक स्वेद, अवगाह स्वेद तथा संकर स्वेदादि के द्रव्यों को बार-बार चिकित्सक स्वयं स्पर्श से परीक्षा करता रहे। आतुर में स्वेद प्रवृत्ति उत्पन्न हो तब सम्यक् स्विन्न लक्षणों की परीक्षा कर स्वेद से निवृत्ति करें। यदि दाह, भ्रम, विस्फोटादि उत्पन्न हो तो भी स्वेद तुरन्त बंद करें। स्विन्नातिस्विन्न इत्यादि की परीक्षा नीचे लिखित लक्षणानुसार करनी चाहिये।

सम्यक् स्विन्न के लक्षण[१०१]— सम्यक् प्रकार से स्वेदन के ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

१. शीतोपरम—ठंडी लगना बंद होता है।

२. शूलोपरम—रुजा या शूल का प्रशमन होता है।

३. स्तंभ निग्रह—गात्रों की जकड़ाहट दूर होती है।

४. गौरव निग्रह—शरीर का भारीपन कम होता है।

५. मार्दव—शरीर में कोमलता उत्पन्न होती है।

६. स्वेद प्रादुर्भाव होता है।

७. रोग लक्षणों का प्रशमन होता है।

८. शीतसेवन की इच्छा उत्पन्न होती है।

उपर्युक्त लक्षणों में क्र. २ से ५, और ७ के लक्षण ऐसे हैं जो स्वेद के तत्समकाल के लक्षण नहीं अपितु स्वेद कोर्स के बाद उत्पन्न होनेवाले लक्षण हैं। इनका भी द्वितीय स्वेद कोर्स का निर्धारण करने के लिए निरीक्षण जरूरी है। क्र. १ और ६, ८ में ऐसे लक्षण हैं जो उसी काल में उत्पन्न होते हैं और इनके उत्पत्ति पर स्वेदन बंद करना चाहिये।

अस्विन्न लक्षण—स्वेद अल्प प्रमाण में होने से अयोग्य अथवा मिथ्या स्विन्न के लक्षण उत्पन्न होते हैं, जिसमें ऊपर लिखे हुए लक्षणों के विपरीत लक्षण मिलते हैं। अर्थात् स्वेद न आना, शैत्य कम न होना, शीत की अभिरुचि न होना, और शूल का प्रशमन न होना ये अयोग के लक्षण हैं। स्वेद प्रादुर्भाव तक स्वेदन समय लंबाता जाये। कभी-कभी बिना स्वेद प्रवृत्ति के ही भ्रम, दाहादि लक्षण उत्पन्न होते हैं जो रोगी की स्वेद सहन करने की अक्षमता दिखाते हैं उनका स्वेद बंद करें और रोगी को शारीरिक तथा मानसिक बलवर्धन कराकर पुनः स्वेदन प्रारंभ करें।

अतिस्विन्न के लक्षण[१०२]— बहुत ज्यादा स्वेदन करने से निम्नलिखित लक्षण उत्पन्न होते हैं—

१. पित्त का प्रकोप होता है। २. शरीर में जलन होती है।
३. आतुर मूर्च्छित हो सकता है। ४. शरीरावयवों में अवसाद होता है। अर्थात् थकावट होती है।
५. स्वर दुर्बल होता है। ६. अंग ढीला पड़ जाता है।
७. संधियों में पीड़ा प्रारंभ होती है। ८. त्वचा पर काले रंग के विस्फोट उत्पन्न होते हैं।
९. भ्रम होता है। १०. रक्तप्रकोप के लक्षण उत्पन्न होते हैं।
११. तृष्णा लगती है। १२. क्लम उत्पन्न होता है।
१३. ज्वर आता है। १४. छर्दि होती है।

इन लक्षणों के उत्पन्न होने पर ग्रीष्म चर्चा में कहे गये शीतोपचार करना चाहिए और मधुर तथा शीत औषधि का सेवन कराये। ग्रीष्म चर्चा में कहे हुए और अतिस्विन्न में करने योग्य उपाय इस प्रकार के हैं।

१. मधुर, शीत, द्रव, स्निग्ध अन्नपान खिलावें।
२. शीतमंथ शर्करा मिश्रित (शर्बत) पिलाये।
३. ऋतशीत जल पिलाये। भोजन में चावल ही दें।
४. मद्यपी आतुर हो तो, मद्यपान तुरन्त बंद कर दें।
५. लवण, अम्ल, कटु, उष्ण, पदार्थों को वर्ज्य करें।
६. दिन में शीतगृह (Air Contitioned Room) और रात में चंद्रकिरणों के मकान के छतपर सोयें।
७. गात्र पर चंदन का लेप करें।
८. चंदनोदक से पंखों को सींचकर उस पंखे से व्यजन करें।
९. ठंडे और रम्य बगीचों में, जलाशयों के समीप, पुष्पों से लदे हुए वेलियों के निकट बैठे या लेटे।

इसमें उपर्युक्त प्रकारों में जिसको जो संभव है, करना चाहिये। वाग्भट ने अतिस्विन्न के लिये स्तंभन चिकित्सा करने को कहा है, जिसका आगे वर्णन किया गया है।

३. **पश्चात्कर्म**—स्वेदोत्तर करने के कर्मों की सूचना तत्तद स्वेदों में दी गई है। साधारणतः एकदम खुली हवा का संपर्क, ठंडे जल का संपर्क न करना चाहिये। गरम पानी से शरीर का स्पंजिंग कर स्वेद द्रव्यों को शरीर पर से हटावे। पसीना पोंछ लेवे। आतुर को विश्राम करावे और कुछ समय बाद गरम पानी से स्नान करावें और द्रव, लघु, अवभिष्यंदी भोजन कराकर सुला देवे। ग्लानि, भ्रम, मोह, मूर्च्छा, तृष्णा उत्पन्न हों तो तत्तद उपाय करें। उपद्रवों में मुख्य शरीर पर विस्फोट होकर दग्धव्रण उत्पन्न होना और दाह-भ्रम-मूर्च्छा ये प्रायः मिलते हैं। इनमें स्फोट और व्रण हो तो स्वेदन बंद कराकर, जात्यादि तेल, जात्यादि मरहम, पद्मकादि तैल से व्रण पर लेप और बंधनकर्म करें। दाहादि में– (१) सूतशेखर २ रत्ती, प्रवालपिष्टि २ रत्ती, शंखभस्म ४ रत्ती, यह मिश्रण दो या तीन बार दिन में, खंडशर्करा और दूध के साथ दें।

स्वेद के बाद में दूसरा महत्त्वपूर्व पश्चात्कर्म होता है— वह है वमनादि शोधन का

विचार। अगर स्वेदन शोधकार्य किया हो तो आगे शोधन करावे। स्वेद के बाद वमन देना हो तो दूसरे दिन दे, और यदि विरेचन देना हो तो तीन दिन ठहरकर (३ दिन स्वेद स्नेहोत्तर कर) विरेचन दे। बस्ति, नस्य, रक्तमोक्षण तुरन्त करना चाहिये।

स्तम्भन चिकित्सा—स्तंभन यह स्वेदन की विपरीत चिकित्सा है। चरक ने इसका षड्उपक्रम में समावेश किया है। जो गतिमान, चल, पदार्थों को अवरोध कर रोक देते हैं, उसे स्तंभन कहते हैं।[१०३] जो द्रव्य शीत, मंद, मृदु, श्लक्ष्ण रुक्ष, सूक्ष्म, द्रव, स्थिर और लघु होते हैं वे प्रायः स्तंभन होते हैं।[१०४] स्तंभन और स्नेहन द्रव्यों के गुणों की तालिका तौलनिक अध्ययनार्थ दी जाती है— वह देखें। तिक्त, कषाय और मधुर रसत्व ये इनमें विशेष गुण होते हैं।[१०५]

स्वेदन स्तंभन गुणों की तालिका

क्र.	स्तंभन	स्वेदन
१.	शीत	उष्ण
२.	मंद	सर
३.	मृदु	तीक्ष्ण
४.	लघु	गुरु
५.	रुक्ष	स्निग्ध, रुक्ष
६.	सूक्ष्म	सूक्ष्म
७.	श्लक्ष्ण	—
८.	द्रव	द्रव
९.	स्थिर	स्थिर
१०.	तिक्तकषाय मधुर रसता	—

उपर्युक्त गुणों में मुख्य कार्मुक गुण शीत, मंद और मृदु हैं जिनके विपरीत गुण उष्ण, सर और तीक्ष्ण स्वेदन में होते हैं। इसी तरह कषाय रसता से द्रव्य स्तंभक होते हैं। अन्य रुक्ष, सूक्ष्म द्रव, स्थिर ये उभयतः सामान्य हैं जो उष्ण तीक्ष्णादि और शीतमृद्वादि सभी द्रव्यों में रह सकते हैं। अतः परस्पर विरोध समझने का कोई कारण नहीं है। तिक्त रस शोषण करता है, और मधुर रस बृंहण होकर धातुवृद्धि करता है। शीत गुण में विशेषतः स्तंभन होता है। लघु गुण शरीर में लाघवताकर होता है।

स्तंभनीय कौन होते हैं—जो पित्त प्रधान व्याधि से पीड़ित हैं, क्षार एवं अग्नि से दग्ध हुए हैं, वमन और अतिसार से पीड़ित हैं, विषपीड़ित हैं, स्वेदाति-योग से त्रस्त हैं उनका स्तंभन करना चाहिये।[१०६]

अति स्तंभित के लक्षण—शरीर काला पड़ना, गात्रों की जकड़ाहट, उद्वेग, हनुग्रह, हृद्ग्रह, मलविबंध, ये अतिस्तंभन से उत्पन्न होते हैं। स्नायु और त्वचा का संकोच, वाक्संग, ओष्ठश्यावता, हस्त श्यावता ये वाग्भट ने अतिस्तंभित के लक्षण कहे हैं।[१०७]

स्वेद-की कार्मुकता

स्वेद की व्याख्या में जैसा कि पहले कहा गया है, इसके द्वारा मुख्य चार कर्म शरीर में उत्पन्न होते हैं। वे ये हैं।

१. **स्तंभन**—स्वेद स्तंभ को दूर करता है। स्तंभ का अर्थ है जकड़ाहट। यह शीतता से होती है और स्तंभ करने में धातु के अग्निस्तर पर काम करनेवाला समानवायु, संधिस्थानों में रहनेवाला श्लेषक कफ और आमरस, मांस, वसा, मेद इनका महत्त्व का भाग होता है। समानवायु रुक्ष गुण प्रधान होने के कारण शोषण कारक होकर संकोच और स्तंभ करता है। श्लेषक कफ स्निग्ध और पिच्छिलता प्रधान है। इनके कर्मक्षय से स्तंभ होता है। अतः स्तंभ में स्निग्ध और उष्ण स्वेद कार्य करता है। उष्ण गुण धातुओं के अणुस्तरों में विवरण करता है, आम को पचाता है— जिससे स्तंभन दूर होता है।

२. **गौरवघ्न**—शरीर में भारीपन हो तो स्वेद से दूर होता है। स्वेदन से आप्य घटकों का स्वेद द्वारा निष्क्रमण होता है जिससे आप्यतत्वों की गुरुता कम होकर हलकापन महसूस होता है। स्वेद से पेशियों में, वातवाहिनियों में उत्तेजना मिलने से भी शरीर में लघुता लगती है।

३. **शीतघ्न**—स्वेद से ठंडापन दूर होता है। यहां शीतघ्नता का अर्थ—अगर ठंडी लगती हो तो स्वेद करने से ठंडी दूर होती है ऐसा कहना चाहिए। अन्यथा स्वेद से पसीना खूब निकलता है जिससे यह वस्तुतः शरीर के उष्मा का नाशकारक होता है।

४. **स्वेदकारकता**—स्वेद से पसीना आता है। जो एक मल है। इस मल के साथ त्वचा के सातों स्तरों पर रही हुई तथा पेशियां, वातवाहिनियां, रस, रक्त, मेद इनकी अशुद्धियाँ निकल जाती हैं। शरीर के धात्वग्नि व्यापार और भौतिकाग्नि व्यापार (Metabolism) में स्वेद, क्लेद इनका अनन्य साधारण महत्त्व है। अतएव स्वेद आने पर न केवल त्वक्स्तरीय स्वेदन समझना चाहिये अपितु वह अंतस्तरीय, धातुस्तरीय, सभी अग्नि व्यापारों से संबद्ध है ऐसा मानना चाहिए। अतएव स्वेदन का शोधन के पूर्वकर्म के तौर पर बारंबार निर्देश किया गया संहिता में मिलता है।

स्वेद के अन्य कार्य

१. **स्वेदस्तु दोषं नयनि द्रवत्वम्**[१०९]—स्वेदन के पूर्व स्नेहन किया जाता है जो दोषों को मृदु करता है और मलों के संग को दूर करता है। तत्पश्चात् किया हुआ स्वेद दोषों को द्रव करता है ऐसा कहा है। धातुओं में सूक्ष्म-सूक्ष्म स्त्रोतसों में (छिद्रों में) जब कि स्नेह से अभिष्यंदन हुए दोष लीनावस्था में रहते हैं तब स्वेद उष्ण और तीक्ष्णता से उनमें द्रवत्व करता है। यह द्रवत्व क्या है ? अगर द्रव का अर्थ तरलत्व करें तो क्या वात, पित्त और कफ अपने-अपने गुण छोड़कर द्रवीभूत हो जाते हैं ? यह प्रश्न है। पित्त में द्रवत्व रहता ही है। कफ में अधिक द्रवता दुष्टि मानी जाती है और वात तो वायवीय द्रव्य है। यह द्रवत्व यहां भौतिक द्रव गुण न मानकर कार्मुक मानना संगत है। ''द्रवः प्रक्लेदने प्रोक्ताः'' और ''आलोडने द्रव'' के अनुसार द्रव गुण घोल तैयार करने का और क्लिन्न करने का कार्य करता है। स्नेह से धातु स्तर पर जब स्नेहप्रमाण बढ़ जाता है, तो उस समय किये जाने वाले स्वेदन से दोष और मल इनमें घुल जाते हैं या ऐसे मिल जाते हैं, कि एक दूसरे

के साथ ही निष्कासित होते हैं। ऐसे समय कुछ कोष्ठ में आकर वमनादि से निकाले जाते हैं, कुछ मूत्र प्रवृत्ति से चले जाते हैं और कुछ स्वेद से निकल जाते हैं।

२. **वात का नियमन**[१०६]—स्नेहन और स्वेदन से वात को जीता जाता है। चरक ने कहा है कि स्नेहपूर्वक स्वेद करने से वात का जय न होने पर, शरीर में पुरीष, मूत्र और शुक्र का कभी भी संग नहीं होता। यहां पर पुरीष, मूत्र और शुक्र इनको उपलक्षण मात्र मानना चाहिये। क्योंकि इनमें दो मल और एक धातु जो शरीर में सतत भ्रमण करते हैं उनका बोध होता है। इसमें गतिमंतों सभी का बोध होता है। वात से ही शरीर में सभी गतियाँ होती हैं। वायु शरीर का तंत्र और यंत्रधर है। वह मन का निर्यता है, इंद्रियों को प्रेरणा देता है, और धातुओं का व्यूहन और संघान करता है। अग्नि को बढ़ाता है, मलों को बाहर निकाल देता है।[११०] इन सब कर्मों के द्वारा नियमित वायु शरीर को दृढ़ बनाता है।

वाग्भट ने वात के उपक्रम में स्नेहन, स्वेदन और मृदु शोधन करने का निर्देश किया है।[१११] वात, शीत, रुक्षादि गुण युक्त है अतः स्नेहन और स्वेदन इसको प्रशमित करने में श्रेष्ठ है। यह पहले कहा गया है कि दोषों को कोष्ठ में से शाखा में ले जाने के लिए वात का द्रुतत्व (चल गुण) बहुत काम करता है, वैसे ही कोष्ठ में उन्हें पुनः लाने के लिए वायु का महत्त्वपूर्ण भाग है। अतः वायु का नियमन कर स्वेद शरीर में व्यापक तौरपर कार्य करता है।

३. **गात्र विनामन**[११२]— स्नेहन और स्वेदन गात्रों में मृदुता उत्पन्न कर उन्हें चाहे जैसे विनामन करने में सहायक होता है। जिससे स्तब्ध, भग्न, पिच्चित, श्लिष्ट अवयवों को स्नेहन स्वेदन कर उन्हें स्वस्थान में कार्यक्षम किया जा सकता है। चरक ने कहा है कि सूखी लकड़ी भी स्नेहन स्वेदन से नमाई जा सकती है, फिर जीवित गात्रों को नमाया जा सकेगा इसमें क्या आश्चर्य ? आगे भी अर्दित खल्ली, योनिभ्रंश इत्यादि में स्नेहन स्वेदन उपक्रम दिया है, वह यह कार्यक्षमता स्पष्ट करता है।

४. **अग्निदीपन**[११३]— स्वेद से अग्नि प्रदीप्त होती है। यहां अग्नि शब्द से जाठराग्नि तथा धात्वाग्नि और भूताग्नि सभी का बोध लेना चाहिये। यह उष्ण गुण से होता है। उष्ण और तीक्ष्ण गुण से आम का पाचन कराता है जिससे क्षुद्वल भी बढ़ता है।

५. **त्वक्मार्दव एवं प्रसादन**— स्वेद क्रिया का अधिष्ठान त्वचा है, और त्वचा में रोमकूप भी स्थित है जो स्वेदवह स्त्रोतस के मूल हैं। त्वचा से स्वेद निकल जाने से, तथा मलों के निष्क्रामण से त्वक् प्रसादन होता है और त्वचा मृदु बनती है।

६. **भक्तश्रद्धा**—स्वेदन से भोजन में रुचि बढ़ती है। यह ऊपर कहे हुए अनुसार आमपचन होने से, धातुस्तरीय तथा कोष्ठाशयगत अन्न की आकांक्षा प्रारंभ होती है।

७. **स्त्रोतोशुद्धि**—स्वेद से स्त्रोतस निर्मल होते हैं। यद्यपि इसका प्रत्यक्ष प्रभाव त्वचापर स्वेदवह स्त्रोतस पर होता हैं, तथापि अप्रत्यक्षतः वात नियामन से सभी स्त्रोतों की शुद्धि होती है। क्योंकि वात से मल, मूत्र, इत्यादि की गतियाँ नियमित होती है। दूसरी बात, स्वेद यह मेद का मल है। अतः मेद से त्वक्पर्यंत सभी स्तरों के मलों का निर्हरण होना संभव है।

८. निद्रा—तंद्रा का नाश—स्वेद अतिनिद्रा को कम करता है, और तंद्रा को दूर करता है। निद्रा इंद्रियों के थकावट से आती है। स्वेद इंद्रियों को बात द्वारा प्रेरणा देता है। इस तरह नींद कम होती है। उसी तरह मेद, कफ गुरुता को दूर करने में भी वह निद्राहर होता है।

९. संधि चेष्टाकर—स्तब्ध संधियों में स्वेद चेष्टा उत्पन्न करता है। यह संधिस्थान में वात, कफ, आम के नियमन से होता है। संधिस्थ धात्वाग्नि दीपन से यह कार्य होता है।

१०. दोषशोधन—स्नेहन से दोषों का क्लेदन होने पर स्वेद उनको द्रवित कर कोष्ठ में लाता है जहां से उनका शोधन किया जाता है। यहां स्वेद का केवल कोष्ठ में आना अभिप्रेत नहीं है, अपितु सभी शरीर में से जहां-जहां से दोष निकाल दिये जाते हैं, वहां-वहां पर उनका स्थानिक शोधन ही समझना चाहिये।

सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने कहा है कि स्वेद के मुख्य दो कार्य होते हैं। एक है संशमन – जिसमें ऊपर कहे हुए अग्निदीपन, त्वक् मार्दवं, भक्तश्रद्धा इत्यादि कार्यों का समावेश होता है, और दूसरा कार्य है—संशोधनामभूत व्यापार–जिसमें स्नेहक्लिन्न दोषों को कोष्ठ में ले जाना यह कार्य समाविष्ट होता है। स्वेद के ऊपर जो कुछ कार्य कहे गये हैं उनको अच्छी तरह समझने के लिए स्वेद शरीर का विचार करना चाहिये।

स्वेद शरीर—यह कहा गया है कि स्वेद यह मेदधातु का मल है। अधिक मेदस्वी लोगों को स्वेद भी अधिक आता है यह प्रत्यक्ष है। शरीर में स्वेद का वहन करनेवाली स्वतंत्र प्रणाली (System) है उसे 'स्वेदवह स्रोतस' कहते हैं। स्वेद आप्य द्रव्य है।[११४] स्वेद का कार्य है क्लेद का धारण करना। क्वेद यह शरीर का जल तत्व है। यह ऐसा जल तत्व है जो निर्हरणीय है। जलतत्व का शोषक भाग—'अप्धातु' है, और इसका किट्ट विभाग क्लेद हैं—जो मूत्र से, स्वेद से निकाला जाता है। मूत्र और स्वेद में ज्यादा फरक नहीं है। दोनों आप्य हैं। उदकधातु ही शरीर में मल, मूत्र, स्वेद, त्वचा, लसीका, रक्त इनमें तथा अन्य शरीरधातु में रहता है और जीवन, तर्पण, आश्वासन तथा मलशोधन का कार्य करता है। यहां मलों में शरीर के वे सब भाग जो आबाधकर हैं, उनका समावेश होता है। स्वेदवह स्रोतस के दो मूल हैं। एक है मेद और दूसरा है रोमकूप।[११५] मेद से स्वेद निर्माण होता है। मांसधातु निर्माण होते समय सूक्ष्म मांस पर मांसाग्नि कार्य करके स्थूल मांस उत्पन्न करता है जिसका कार्य लेपन है। वसा उत्पन्न होती है जो उपधातु है, और त्वचा उत्पन्न होती है जो उपधातु है। खमलस्रोतों के (नेत्रादि) मल उत्पन्न होते हैं और सूक्ष्म मेद उत्पन्न होता है। इस पर—

सूक्ष्म मेद + मेदोग्नि + भूतानि = स्थूलमेद + स्नायु + स्वेद + सूक्ष्म अस्थि।

मेदोग्नि का कार्य होकर स्थूलमेद जो स्नेहन कार्य करता है, उत्पन्न होता है। स्नायु उत्पन्न होते हैं जो उपधातु है—और भारक्षमत्व का कार्य करते हैं, और मल में स्वेद उत्पन्न होता है। इसका प्रसाद भाग सूक्ष्म अस्थि है जो आगे अस्थिअग्नि से पाचित होता है। यहां यह स्पष्ट है कि त्वचा जो सूक्ष्ममेद के पहले या साथ में उत्पन्न होती हैं, और मेद के पाचन के साथ–स्वेद उत्पन्न होता है। इस क्रम में त्वक् से लेकर मेद का क्लेद के साथ में संबंध स्पष्ट होता है, क्योंकि ये सब मल क्लेद के आश्रय से रहते हैं। यह क्लेद दूसरा

कुछ नहीं बल्कि मूल और स्वेद से धारण किया हुआ आप्यद्रव्य है रोमकूप स्वेद-वह के दूसरे मूल हैं जो स्वेद को रास्ता देकर निकाल देते हैं। इस तरह मेद और रोमकूप इन दो मूलों से स्वेद का नियमन होता है। मेदोवह स्रोतस के मूल वृक्क और वपावहन होते हैं।[११६] वृक्क किडनी है जो मूत्र को निर्माण कर निकालने का कार्य करते हैं। इस तरह मूत्रद्वारा क्लेद और उदक का नियंत्रण वृक्क से होता है, जिस से स्वेद का भी नियमन होता है। वपावहन संदिग्ध अवयव है जो पैनक्रियाज के लिये विद्वान लोग मानते हैं, और इन्सुलीन निर्माण में वह कार्यकर होता है जिसकी विकृति में मधुमेह (प्रमेह) उत्पन्न होता है। मेदो दुष्टि विकारों में प्रमेह प्रमुख रोग कहा भी गया है।[११७] स्वेदवह स्रोतोदुष्टि हो जाने पर अस्वेदन, अतिस्वेदन, त्वक् पारुष्य, अति श्लक्ष्णता, दाह, रोमहर्ष ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।[११८] व्यायाम न करने से मेदोवह की दुष्टि होती है, तो अति व्यायाम से स्वेदवह स्रोत की दुष्टि होती है। इससे स्पष्ट है कि व्यायामादि से स्वेद की प्रवृत्ति होती है जो मेद का नियमन करती है और अव्यायाम से मेद दुष्टि होती है, जो स्वेदवह पर भी मूलतः कार्य करता है।

आधुनिक दृष्टिकोण से स्वेद में सोडियम क्लोराईड (नमक), यूरीया जल, लेक्टिक एसिड, और पोटेशियम ये तत्व रहते हैं। इनमें अंतिम दो का प्रमाण अल्प होता है। श्री गायटन कहते हैं कि स्वेद में वे सब तत्त्व होते हैं जो शरीर के एक्स्ट्रा सेल्यूलर फ्लूइड (extra cellular fluid=कोषों को बाह्यवर्ति उदक धातु) में होते हैं।[११९] वस्तुतः ये सेल के पोषक तत्व ही होते हैं। आयुर्वेद भी स्वेद को आप्य कहता है और जल का अधिक भाग स्वेद में मानता है यह विशेष स्मरणीय है, तथापि स्वेद जब अधिक प्रवृत्ति में निःसृत होता है तब उसमें एक्स्ट्रा सेल्यूलर फ्लूइड के घटकों का प्रमाण घट जाता है। स्वेद में अधिकतर लवण होने के कारण अतिप्रवृत्तस्वेद में लवणं का आभ्यंतर प्रयोग जरूरी होता है। संभवतः इसीलिए आयुर्वेद में भी स्वेदन द्रव्यों में लवण का प्रयोग किया है, उपनाहों में लवण का प्रयोग किया है, और स्वेद पूर्व स्नेहन में भी लवण का प्रचुर प्रयोग निर्दिष्ट किया है।

अतिस्वेदन से मांस पेशियों में ऐंठन (Cramp) होती है और ऐसी ही ऐंठन उदर मांस पेशियों में होती है। आयुर्वेद ने अतिस्वेद से संधिपीड़ा, तथा शरीरसाद ये लक्षण कहे हैं। स्वेद से शरीर की उष्मा का नियमन होता है और औदकतत्वों का भी नियमन होता है ऐसा आधुनिक शरीर क्रिया विज्ञान मानता है। स्वेदग्रंथि जो त्वचा के नीचे स्थित है, उन पर शिरस्थ केन्द्र का भी नियमन का कार्य होता है। शरीरपेशियों को सिंपेथिटिक और पेरेसिंपेथिटिक नर्व्ह का पोषण होता है। पेरेसिंपेथिटिक नर्व्ह का केन्द्र शिर में हायपोथेलेमेस के पार्श्वभाग में और सिंपेथिटिक का पुरोभाग में होता है। पार्श्ववर्ति भाग की उत्तेजना से स्वेद प्रवृत्ति बढ़ती है। बाहर से कोई गरम वस्तु का स्पर्श किया जाने पर त्वचा में उत्तेजना होती है। शरीर के उष्मा को बाहर जाने से रोकने में त्वचा की उपत्वचा, मेद (fat) का प्रमुख भाग होता है। त्वचा के नीचे ही रस, रक्त इनका वहन होता है। स्वेदन के उष्ण गुण से इन सबको उत्तेजना मिलती है। और उष्ण गुण विकास (expansion) करने में हेतु होता है जो त्वचा के अन्दर की केपलेरीज के मुखों को विकसित करता है जिससे आभ्यंतर द्रव्यों का संवहन वेग बढ़ जाता है। स्वेद के उष्ण गुण से नर्व्ह-वातवाहिनियाँ, मांसपेशियाँ भी उत्तेजित होती हैं। इनमें भी स्नेह घटक होते हैं और

उष्णता से स्नेहाणुपरमाणुओं का स्थानांतर होता है जिससे इनकी रचना में नवनिर्माण का संभव बलत्तवर होता है।

स्वेद के चरकोक्त कतिपय प्रयोग—चरक चिकित्सास्थान से स्वेद को रोगानुसार वर्णित कतिपय प्रयोग आगे ससंदर्भ तालिका में दिये गये हैं।

रोगानुसार चरकोक्त कतिपय स्वेद संदर्भ

क्र.	अधिकार	स्वेद विषय	संदर्भ
१.	ज्वर चिकित्सा	ज्वर की सामान्य चिकित्सा में स्वेद	चि. ३-१४२
२.	ज्वर चिकित्सा	जीर्णज्वर में प्रदेह, परिषेक, अवगाह इत्यादि शीतोष्ण भेद से स्वेद	चि. ३-१७४ चि. ३-२५६
३.	ज्वर चिकित्सा	शीत ज्वर में अवस्थानुसार संकर प्रस्तरादि १३ स्वेद तथा योग्य करने का निर्देश	चि. ३-२६८
४.	ज्वर चिकित्सा	कुटी स्वेद, शयन विस्तार के स्वेद, धूप अगुर्वादि प्रलेप की प्रशस्ति	चि. ३-३६९
५.	ज्वर चिकित्सा	'स्वेदन अन्नपान'—आभ्यंतर स्वेदन का उल्लेख च. पा.—स्वेदनानि उष्णानि कुक्कट मदिरा कुलत्थादीनि (अन्नपानानि) वात संसर्ग में वात प्रधान हो तब गुरु, उष्ण, स्निग्ध, भूयिष्ठ (स्वेदन) अन्न, पान, कफ बलवान हो तो लघु, उष्ण, रुक्ष अन्नपान	चि. ३-२७१
६.	ज्वर चिकित्सा	विषमज्वर में स्नेहस्वेदन कर त्रिफलादि क्वाथ देने का निर्देश	चि. ३-२९९
७.	ज्वर चिकित्सा	रक्तगत ज्वर में प्रदेह	चि. ३-३१६
८.	गुल्म चिकित्सा	वातज गुल्म में सामान्य चिकित्सा में स्वेदन	चि. ४-२२, २३
९.	गुल्म चिकित्सा	कफज गुल्म में स्वेद	चि. ४-५२
१०.	गुल्म चिकित्सा	अपक्व गुल्म में उपनाह	चि. ४-४१
११.	गुल्म चिकित्सा	आनाह, विबंध युक्त कठिन गुल्म में स्वेद	चि. ४-५१
१२.	गुल्म चिकित्सा	कफज गुल्म में स्वेदनोत्तर घटीयंत्र प्रयोग	चि. ४-१३७ से १४०
१३.	कुष्ठ चिकित्सा	स्थिर कठिन, मंडल कुष्ठ में प्रस्तर, नाड़ी स्वेद कर रक्तमोक्षण का विधान	चि. ७-५०
१४.	कुष्ठ चिकित्सा	आनूपमांस, औदक मांस से पोटली से पिण्डस्वेदन	चि. ७-५१

क्र.	अधिकार	स्वेद विषय	संदर्भ
१५.	कुष्ठ चिकित्सा	गोमय प्रदेह	चि. ७-५७
१६.	कुष्ठ चिकित्सा	कुष्ठ में भिन्न भिन्न प्रदेह-प्रलेप	चि. ७-८४ से ९६
१७.	कुष्ठ चिकित्सा	सिध्म में प्रलेप	चि. ७-११७, ११८
१८.	राजयक्ष्मा चिकित्सा	पीनस में स्वेद, परिषेक	चि. ८-६५
१९.	राजयक्ष्मा चिकित्सा	कृशरा, उत्कारिका, माषकुलत्थ यव, पायस से संकर स्वेद	चि. ८-७१
२०.	राजयक्ष्मा चिकित्सा	पत्रभंग चूर्णों से पत्रपिंड स्वेद	चि. ८-७२
२१.	राजयक्ष्मा चिकित्सा	मांस रस, पंचमूलों से नाड़ी स्वेद कंठ, शिर, पार्श्व पर	चि. ८-७४
२२.	राजयक्ष्मा चिकित्सा	जीवंती, सौंफ, वचादि द्रव्यों का तथा वेसवार का उपनाह	चि. ८-७५
२३.	राजयक्ष्मा चिकित्सा	प्रदेह	चि. ८-७७,७९
२४.	राजयक्ष्मा चिकित्सा	मृदु शोधन के लिए पूर्व कर्म में स्वेद	चि. ८-७९
२५.	उन्माद चिकित्सा	उन्माद में शोधन पूर्व स्वेद	चि. ९-३३
२६.	अपस्मार चि.	अतत्वाभिनिवेश में शोधन के लिए स्वेद	चि. १०-६०
२७.	श्वयथु चिकित्सा	वातज शोथ में परिषेक और प्रदेह स्वेद	चि. १२-६४ से ६७
२८.	श्वयथु चिकित्सा	कफज शोथ में लेप	चि. १२-७० से ७२
२९.	श्वयथु चिकित्सा	श्लीपद में सरसों का लेप	चि. १२-९८
३०.	उदर चिकित्सा	वातज उदर में स्वेद विरेचन के लिए पूर्वकर्म	चि. १३-५९
३१.	उदर चिकित्सा	कफज उदर में शोधन पूर्व स्वेद	चि. १३-७२
३२.	उदर चिकित्सा	प्लीहा दुष्टि में शोधनपूर्व स्वेद	चि. १३-८६
३३.	उदर चिकित्सा	बद्धगुदोदर में शोधनपूर्व स्वेद	चि. १३-८६

क्र.	अधिकार	स्वेद विषय	संदर्भ
३४.	अर्श चिकित्सा	शुष्क और स्तब्ध अर्श में स्वेद यव, माष कुलत्थ पुलाक इनके पोटली से पिंडस्वेद	चि. १४-३६
३५.	अर्श चिकित्सा	गाय, गदहा, इत्यादि के पुरीष से पिंडस्वेद, तिल, तुष, वचा, सौंफ के पिंडस्वेद	चि. १४-४० से ४३
३६.	अर्श चिकित्सा	अर्क, बिल्व, त्रिफलादि क्वाथ से परिषेक स्वेद	चि. १४-४४
३७.	अर्श चिकित्सा	अर्श में अवगाह स्वेद। बिल्व क्वाथ, तक्र, दही, अम्ल, कांजी, गोमूत्र इनसे अवगाह	चि. १४-४५ से ४७
३८.	अर्श चिकित्सा	प्रदेह	चि. १४-५७
३९.	हिक्का-श्वास	हिक्काश्वास की सामान्य चिकित्सा में स्वेद-नाड़ी, प्रस्तर, संकर	चि. १७-७० से ७३
४०.	कास चिकित्सा	कास चिकित्सा में सामान्य चिकित्सा के तौर पर स्वेद	चि. १८-३३
४१.	विसर्प चिकित्सा	प्रदेह	चि. २१-७१ से ९७
४२.	विसर्प चिकित्सा	ग्रंथि-विसर्प जो पाषाण सदृश कठिन हो तब स्वेद	चि. २१-१३४
४३.	द्विव्रणीय चिकित्सा	व्रण के सामान्य उपक्रम में स्वेद निर्देश	चि. २५-४०
४४.	त्रिमर्मीय चिकित्सा	उदावर्त में स्वेद	चि. २६-११
४५.	त्रिमर्मीय चिकित्सा	मूत्रकृच्छ्र में परिषेक	चि. २६-४५
४६.	त्रिमर्मीय चिकित्सा	मूत्रकृच्छ्र में उपनाह	चि. २६-४७
४७.	त्रिमर्मीय चिकित्सा	मूत्रकृच्छ्र में अवगाह, प्रदेह	चि. २६-४९
४८.	त्रिमर्मीय चिकित्सा	कफज हृद्रोग में शोधन पूर्व स्वेद	चि. २६-६६
४९.	त्रिमर्मीय चिकित्सा	प्रतिश्याय, कास में संकरादि स्वेद	चि. २६-१३७

क्र.	अधिकार	स्वेद विषय	संदर्भ
५०.	त्रिमर्मीय चिकित्सा	कफज पीनस में स्वेद	चि. २६-१४९
५१.	त्रिमर्मीय चिकित्सा	वातज शिरोरोग में स्वेद-उपनाह	चि. २६-१५०
५२.	त्रिमर्मीय चिकित्सा	कफज शिरोरोग में स्वेद	चि. २६-१००
५३.	उरुस्तंभ चिकित्सा	उरुस्तंभ में लेप और प्रदेह	चि. २७-५१ तथा आगे
५४.	वातव्याधि चिकित्सा	वातव्याधि सामान्य चिकित्सा में स्वेद नाड़ी, प्रस्तर, संकरादि	चि. २८-७५ से ७९
५५.	वातव्याधि चिकित्सा	स्वेद प्रशस्ति	चि. २८-८ से ८२
५६.	वातव्याधि चिकित्सा	वात से आवृत्त गात्रों पर माष-सैंधव उपनाह	चि. २८-९७
५७.	वातव्याधि चिकित्सा	अर्दित में नाड़ी, उपनाह स्वेद	चि. २८-९९
५८.	वातव्याधि चिकित्सा	खल्ली में उपनाह	चि. २८-१००
५९.	वातव्याधि चिकित्सा	एक्षाघात में स्वेद	चि. २८-१००
६०.	वातव्याधि चिकित्सा	अनग्निस्वरूप का प्रावरण स्वेद	चि. २८-१०४
६१.	वातव्याधि चिकित्सा	निवात स्वेद	चि. २८-१०४
६२.	वातव्याधि चिकित्सा	पंचमूल, बला, दशमूल, आनूप-मांस का उपनाह	चि. २८-१०८
६३.	वातव्याधि चिकित्सा	क्वाथ, तैल दूध से अवगाह	चि. २८-१०९
६४.	वातव्याधि चिकित्सा	नाड़ी स्वेद--आनूपमांस, दशमूल औदक मांस, शतावरी, कुलत्थ, तिलादि से	चि. २८-११० चि. ११२
६५.	वातव्याधि चिकित्सा	इन्द्रीं द्रव्यों से उपनाह, लेप प्रदेह	चि. २८-११३ से ११७
६६.	वातव्याधि चिकित्सा	मांसावृतवात में स्वेद	चि. २८-१९६, १९७

क्र.	अधिकार	स्वेद विषय	संदर्भ
६७.	वातशोणित चिकित्सा	सामान्य चिकित्सा में उपनाह	चि. २६-४३
६८.	योनिव्यापद्	वातज योनिरोग में स्वेद	चि. ३०-४३
६९.	योनिव्यापद्	दुस्थित योनि में स्वेदन	चि. ३०-४३
७०.	योनिव्यापद्	वातरोगों में नाड़ी, कुंभी, अश्मघन, प्रस्तर संकर स्वेद	चि. ३०-४६, ४८
७१.	योनिव्यापद्	क्लैव्य में स्वेद-शोधन पूर्व	चि. ३०-१६६
७२.	योनिव्यापद्	स्तन्यरोग में शोधन पूर्व स्वेद	चि. ३०-२५१

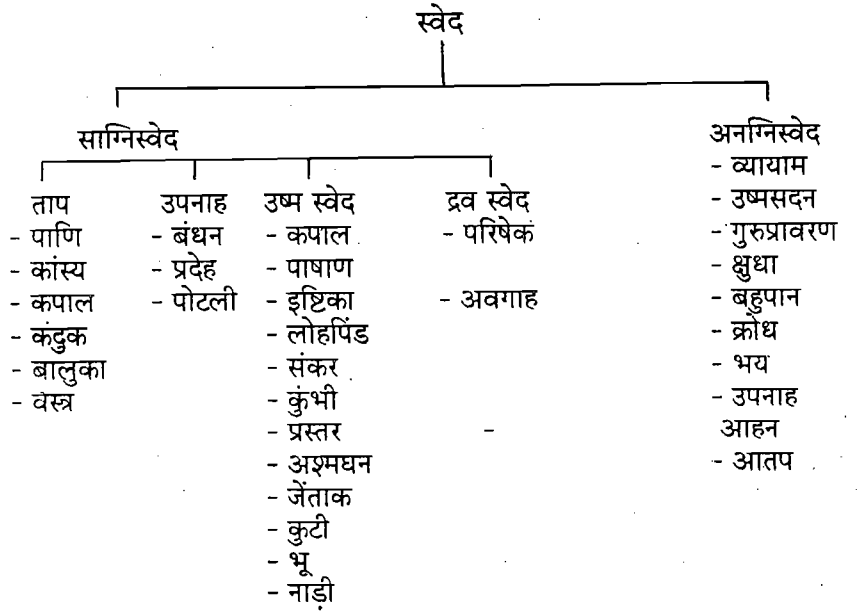

संदर्भ

१. स्तंभ गौरव शीतघ्नं स्वेदनं स्वेदकारकम्।। च. सू. २२-११

२. वाचस्पत्यम् — ले. तारानाथ भट्टाचार्य पृ. ५३-६१

३. मलः स्वेदस्तु मेदसः।। च. चि. १५-१८

४. तस्य पुरुषस्य पृथ्वी मूर्तिः, आपः क्वेदः। च. शा. ५-५
मूत्रस्य क्लेदवाहनम्। स्वेदस्य क्लेद विधृतिः।। अ. हृ. सू. ११-५

५. क्लेदाभावे हि नैव देहस्य मध्यम त्वक्।
स्वेदस्य कचरोमधारणमपि। हृ. सू. ११-५ पर

६. स्वेद साध्या प्रशाम्यमति गदाः वातकफात्मकाः। च. सू. १४-३
च. पा.—वातकफात्मका इति असंसृष्ट वातकफात्मका, वातकफजत्वेऽपि उदरादयाः स्वेदेन न प्रशाम्यंति, अतआह स्वेद स्वाध्या' इति एतेन उदरादयोऽस्वेद्या व्यावर्तन्ते।।

७. स्तंभनं स्तंभयति यद् गतिमंतं चलं ध्रुवं।। च. सू. २२-१२
च. पा.—एतच्चातिसार शोणित स्रुतिविषदाह वेदनादिषु बोद्धव्यम्।।
न तु केवल वाते।

८. शुष्काण्यपि हि काष्ठानि स्नेहस्वेदोपपादनैः।
नमयन्ति यथा न्यायं किं पुनर्जीवितो नरान्।। च. सू. १०-५

९. उष्णं तीक्ष्णं सरं स्निग्धं रुक्षं द्रवं स्थिरम्।
द्रव्यं गुरुच सद् प्रायस्तद्धि स्वेदनमुच्यते।। च. सू. २२-१६

१०. ह्लादनः स्तंभनः शीतो मूर्च्छा लृट् स्वेद दाहजित्।
उष्णस्तद्विपरीतः स्यात् पाचनश्च विशेषतः।। सु. सू. ४६-५१५
स्वेदने उष्णः ।। हे. ।। तीक्ष्णोष्णावाग्नेयौ।। सु. सू. ४१-११

११. तेषां मृदु शीतोष्णा स्पर्शग्राह्या। सु. सू. ४१-११

१२. दाहपाककरस्तीक्ष्णः स्रावणो मृदुरन्यथा।। सु. सू. ४६-५१८
शोधने तीक्ष्णः ।। हे. ।।
तैजसं औष्ण्यं तैक्ष्ण्यं च। र. वै. ३-११३
तीक्ष्णं पित्तकरं प्रायो लेखनं कफवात् हृत।। भा. प्र. पू. खं

१३. रुक्षस्तद्विपरीतः स्यात् विशेषात् स्तंभनः खरः। सु. सू. ४६-५१६

१४. द्रव्याणी रुक्ष गुण बहुलानि आग्नेयानि वायव्यानि।। च. सू. २६

१५. शोषणे रुक्षः ।।हे.।। रुक्षं समीरणकरं परं कफहरं भतं।। भा. प्र. सू. खं.

१६. स्थिरो वातमलस्तंभी ।। भा. प्र. पू. खं. ।। धारणे स्थिरः ।। हे. ।।

१७. शोभांजनकैरंडार्क बृश्चीर पुनर्नवा यव तिल कुलत्थ माष बदराणि इति दर्शेमानि स्वेदोपगानि भवति।। च. सू. ४-२२

१८. तिलमाष कुलत्थाम्ल घृत तैलमिषौदनं।।
पायसैः कृशरैर्मासैः पिंडस्वेदं प्रयोजयेत्।।
गौखरोष्ट्र वराहाश्च सकृत्र्भिः सतुषर्यवैः।
सिकताप्रांसु पाषाण करीषायास पूटकैः।। च. सू. १४-२५, २६

१९. वारुणामृतकैरंड शिग्रुमूलक सर्षपै।
बासावंश करंजार्क यत्रैरश्मंतचस्य च।।
शोभांजनक शैरीय मालती सुरसार्जकैः।
पत्रैश्चोत्क्वाथ्य सलिलं नाडी स्वेदं प्रयोजयेत्।
. . . एतएव च निर्पूहा प्रयोज्या जसकौष्ठके।। च. सू. १४-३०, ३१, ३३

२०. काकोली क्षीर काकोली जीवक ऋषभक मृद्गपर्णी माषपर्णी मेदा महामेदा च्छिन्नरुहा कर्कटशृंगी तुगाक्षिरी पद्मक प्रपौंडरीक वृद्धिका जीवंत्यो-मधुकंचेतिं।। सु. सू. ३८-३५

२१. सुरसाश्वेत सुरसा फणिज्झकार्जक भूस्तृण सुगंधक सुमुखालमालकुठेरक कासमर्द क्षवक खरपुष्प विडंग कटफल सुरसी निर्गुंडी कुलाहलोंदुर कर्णिका फंजी प्राचीबल काकमाच्यो विषमुष्टिकश्चेति।। सु. सू. ३८-१८

२२. एलाकार कुष्ठमासीध्यामक त्वक्पत्र नागपुष्प प्रियंगु हरेणुका व्याघ्रनख शुक्ति चंडा स्थौणेयक श्रीवेष्टक चोच चोरक बालुक गगुलु सर्जरस तुरुष्क कुंदरु-कागुरु स्पृक्कोशीर भद्रदारु कुंकुमानि पुन्नागकेशरं चेति।। सु. सू. ३८-३४

२३. गोधूम शकलैश्चूर्णीयवानामम्ल संयुतैः।
सस्नेह किण्व लवणैरुपनाहः प्रशस्यते।। च. सू. १४-३५

२४. शूक शमीधान्य पुलाकानां . . . . . विद्यात्।। च. सू. १४-४२

२५. भद्रदारु कुष्ठ हरिद्रा वरुणमेषश्रृंगीबलातिबलार्त्तगल कच्छुरा सल्लकी कुबेराक्षी वीरतरु सहचराग्निमंथ वत्सादन्येरंडाश्मभेदालंकार्क शतावरी पुनर्नवा वसुक वासिरकांचनक भार्गी कार्पासी वृश्चिकाली पत्तूर, बदर, यव कौल कुलत्थ प्रभूतौनि विदारिगंधादिश्च द्वे चान्ये पंचमूलादौ समासेन वातसंशमनो वर्गः। सु. सू. ३६-७

२६. विदारीगंधा विदारी सहदेवा विश्वदेवा श्वदंष्ट्रा पृथक्पर्णी शतावरी सारिदा कृष्णसारिदा जीवकर्षभकौ महासहा क्षुद्रसहा बहत्यौ पुनर्नवा एरंडो हंसपादी वृश्चिकालीं ऋषभी चेति।।
सु. सू. ३८-२

२७. तत्र त्रिकंटक बृहतीद्वय पृथक्पण्यैं। विदारिगंधाश्चेति कनीयः।
बिलवाग्निमंथ टिंटुक पाटलाः काश्मरीचेति महत्।
अनयोर्दशमूलमुच्यते।। सु. सू. ३६-६७, ६८, ६६, ७०

२८. इत्येतत् द्विविधं द्वंद्वं स्वेदमुद्दिष्य कीर्तितम्।। च. सू. १४-६६
च. पा. — द्वंद्वं परस्परं विपरीतं युग्नम्।

२६. इत्युक्तो द्विविधः स्वेदः संयुक्तोऽग्नि गुणैर्नच।। च. सू. १४-६५
च. पा. — अग्निगुणावृते साक्षात् अग्नि संबंधेन कृताःदुष्णत्वाद्बिना।।

३०. व्यायाममुष्मसदनं गुरुप्रावरणं क्षुधा।
बहुपानं भयक्रोधादुपनाहाहवातपैः।
स्वेदयंति दशैतानि नरं अग्निगुणावृते।। च. सू. १४-६४, ६५

३१. शरीरायास जननं कर्म व्यायाम् संज्ञितम्।। सु. चि. २४-३६

३२. (१) शरीरोपचयः कांतिर्गात्राणां सुविभक्तता।
दीप्ताग्नित्वमनालस्यं स्थिरत्वं लाघवं मृजा।।
श्रमक्लम पिपासोष्ण शीतादीनां सहिष्णुता।
आरोग्यंचाग्नि परमं व्यायामादुपजायते।।
न चास्ति सदृशं तेन किंचित् स्थौल्यापकर्षणम्।। सु. चि. २४-३७, ३८
(२) वातपित्तामयीबालो वृद्धोऽजीर्णीच तं त्यजेत्।। अ. दे. सू. २-१०

३३. स्थिरीभवति मांसंच व्यायामा भिरतत्य च।। सु. चि. २४-४०
डल्हण—स्थिरीभवति मांसंच इति-उपचय लक्षणस्यापिबलस्य हेतुरित्यर्थः।।

३४. शीत काले वसंते च मंदमेव ततोऽन्यदा।। अ. हृ. सू. २-२१

३५. उष्ण सदनं इत्याग्निसंताप व्यतिरेकेण निर्जालकतया घनभित्तितया यद् गृहं स्वेदयति, तत् बोद्धव्यम्।। च. पा. च. सू. १४-६४ पर

३६. बहुपानं बहुमद्यपानम्।। च. पा. च. सू. १४-६४ पर

३७. Fear probably causes very intense activity of both the sympathetic and the Parasympathetic – nervous systems, ... while at the same time promoting parasympathetic effects such as sweatting defication and urination. Text Book of Medical Physiology by Gyton, Page 646.

३८. Angers—page 646 उपर्युक्त पुस्तक।

३६. उपनाहो द्विविधः साग्निरनाग्निश्च। तत्रयः साग्निरुपनाहः स संकर एव बौद्धव्यः, यदुक्तं ''कोलंकुलत्थाः सुरदारु रास्नाः'' इत्यादिन आरग्वधीये, यस्त्वनग्नि वलेन शरीरोष्णरोधं कृत्वा स्वेदयति स इह बोद्धव्यः। च. पा. च. सू. १४-६४ पर

४०. कोलंकलत्थाः सुरदारुरास्ना भाषातसीं तैल फलानि कुष्ठं।
वचा शताह्वा यवचूर्णमम्लमुष्णानि वातामयिनां प्रदेहः।।
. . . . . इत्यादि च. सू. ३-१७ से २६

४१. कुष्ठं तमालपत्रं मरिचं स ममः शिलं सकासीसं।
तैलेन युक्तं मुषितं सप्ताहं भाजने ताम्रे।
तेनालिप्तं सिध्मं सप्ताहाद्वयेति तिष्ठतो धर्मे।। च. चि. ७-११७, ११
।। च. पाः धर्मेइत्यातपे ।।

४२. श्वित्रे स्त्रंसनमयग्रयं मलपू रस इष्यते सगुडः।
तं पीत्वा सुस्निग्धो यथाबलं सूर्यपाद संतापं।। संसेवेत . . . . च. चि. ७-१६२, १६३

४३. कफ मेदान्वितेवायौ निवातातप गुरुप्रावरण नियृद्ध व्यायामभारहरणामर्षैः
स्वेदयुत्पादयेदिति।। सु. चि. ३२-१५

४४. एकांगः सर्वांगगतः, स्निग्धोरुक्षस्तथैव च।।
इत्येतं द्विविधं द्वंद्वं स्वेदमुद्दिष्य कीर्तितं।। च. सू. १४-६६
. . . . . द्विधा स्वेदः प्रयुज्यते।।
सर्वस्मिन्नेव देहे तु देहस्यावयवे तथा ।। सु. चि. ३२-१६

४५. वातश्लेश्मणि वाते वा कफे वा स्वेद इष्यते।
स्निग्धरुक्षः तथा स्निग्धो रुक्षश्चाप्युकल्पितः।। च. सू. १४-८

४६. (१) व्याधौशीते शरीरे च महान् स्वेदो महावले।
दुबैले दुर्बलौः स्वेदः मध्यमे मध्वमो हितः। च. सू. १४-७
(२) वृषणौ हृदयं दुष्टी स्वेदयेन्मृदुनैव वा।
मध्यमं वक्षजौ शोषमंगावयवमिष्टतः ।। च. सू. १४-१०
(३) वृषणो हृदयं चक्षुर्मुदु वा स्वेदयेन्नेव वा।
शोफो वंक्षण संधीस्तु मध्यमं शेषमिष्टतः।। का. सू. २३-६

४७. संकरप्रस्तरो नाड़ी परिषेकोऽवगाहनम्।
जेताकोऽश्मघनः कर्षू कुटी भू कुंभिकैवच।।
कपो होलाक इत्येते स्वेदयंति त्रयोदश।। च. सू. १४-३८, ४०

४८. जन्मप्रभृति बालानां स्वेदमष्टविधं हितम्।।
प्रयुंजीत यथाकालं रोगदेह व्यपेक्षया।
हस्तस्वेदः प्रदेहश्च नाडीप्रस्तर संकरा
उपनाहोऽवगाहश्च परिषेकस्तथाष्टमः।। का. सू. २३-२५, २६

४६. चतुर्विधः स्वेदः तद्यथाः तापस्वेदेः उष्मस्वेदः उपनाहास्वेदो द्रवस्वेद इति।
अत्रसर्व स्वेदविकल्पावरोधः।। सु. चि. ३२-१
स्वेदस्तापोपनाहोष्मा द्रव भेदाच्चतुर्विधः।। अ. हृ. सू. १७-१

५०. डल्हण—तापनं तापः, उष्मा वाष्पः उपनाह्यते इत्युपनाहो बंधन-मित्यर्थः द्रवतीति द्रवः।।
तत्र तापस्वेदे कंदुक ग्रहणादेव जेताक कर्षु कुटी कूप होलाक इत्येताः पंचैव अंतर्भवंति।
उष्मस्वेदे संकर प्रस्तराश्मघन नाड़ी कुंभी भू स्वेदाः षडप्यंतर्भवंति। द्रवस्वेदे परिषेकावगाहावंतर्भवंतः।। सु. चि. ३२-१ पर

५१. डल्हण—द्विविधः स्वेदः संशमनीय संशोधनांग भूतश्च।
तत्र संशमीयः सामेषु व्याधिषु रुक्ष एव प्रयोज्यः।
तद्गुणः पुनराग्नेदींप्तिमित्यादि श्लोकोक्त्या ज्ञातव्याः।
संशोधनांगभूतस्तु स्नेह पूर्वो योज्यः तस्य गुणास्तु स्नेहक्लिन्ना
इत्यादि श्लोकेन प्रोक्ता इति ज्ञेयम्। सु. चि. ३२-२१ पर

५२. (१) प्रतिश्यायेच कासेच हिक्का श्वासेष्वलाघवे। कर्णमन्या शिरःशूले स्वरमेदे गलग्रहे।।
अर्दितैकांग पक्षाघाते विनामके। कोष्णानाह बिबंधेषु शुक्रधातेविजृंभके। पार्श्वपृष्ठकटो कुक्षी संग्रहे गृध्रसीषूच।। मूत्रकृच्छ्रे महत्वेच मुष्कयोरंग मर्दके। पादजानूरु जंघाति संग्रहे श्वययावपि।। खल्लीष्वामेषु शीतेच वेपथौ वातकंटके। संकोचायाम शीलेषु स्तंभगौरव सुप्तिषु। सर्वामेषु विकारेषु स्वेदनं हितमुच्यते।। च. सू. १४-२०-२४।
(२) येषां नस्यं विद्यातव्यं बास्तिश्चैवहि दो हिनां। शोधनीयाश्च से किंचित् पूर्वेस्वेंधास्तु ते मताः। पश्चात स्वेद्यादते शाल्ये मूढ़गर्भा नुपद्रवाः। सम्यक् प्रजाता कालेया पश्चात्स्वेद्या विजानता।
स्वेद्यः पूर्वेच पश्चाच्च भगंवदर्यैसनस्था।
अश्मयां चातुरो जंबुः शेषानुशास्त्रे प्रचक्ष्महे। सू. चि. ३२-१७ से ११

५३. (१) कषायमद्य नित्यानां गर्भिण्यां रक्तपित्तिनां। पित्तिनां सातिसाराणां रुक्षाणां मधुमेहिनां। विदग्ध भ्रष्ट ब्रध्नानां विषमद्य विकारिणां। श्रांताना नष्ट संज्ञानां स्थूलानां पित्तमेहिनां। तृष्यतां क्षुधितानां च क्रुद्धानां शोचतामपि। कामल्युदरिणां चैव क्षतानां आढ्यरोगिणां। दुर्बलातिविशुष्काणामुपक्षीणौजसां तथा। भिषक् तैमिरिकाणां च न स्वेंदमवतारयेत्—
२ च. सू. १४-१६ से १६
(२) पांडुर्मेही पित्तरक्ती क्षयार्तः क्षामोजीर्णो चोदरार्तो विषार्तः।
तृत् छर्द्यार्तो गर्भिणी पीतमद्यो नैते स्वेद्या यश्च मर्त्योतिसारी।। सु. चि. ३२-२५

५४. (१) एतेषां स्वेद साध्या ये व्याधयास्तेषु बुद्धिमान। मृदून् स्वेदान्प्रयुंजीत्।। सु. चि. ३२-२७
(२) च. पा.—एषु चास्वेदविषयेषु यदि स्वेदैकसाध्यः संन्यासादिभिर्भवतितदा महाप्रत्यवाय भयात् अल्पप्रत्यवायमुपेक्ष्य स्वेदो विधेयः इति न्यायसिद्धमेव, यदाहुर्न्यायविदो, ''यद् भूयो विरोधे स्वल्पमन्याय्यम्'' च. सू. १४-१६ पर

५५. संकरादि स्वेदाश्चायुर्वेदे परंपरा सिद्धाः।। च. पा. च. सू. १४-४० पर

५६. तत्रवस्त्रांतरितैरवस्त्रांतरितैर्वा पिंडैर्ययोक्तैरुपस्वेदनम् संकर स्वेद इति विद्यात्।।
च. सू. १४-४१
च. पा.—पिंडैर्ययोक्तैरिति तिलमाषादि पिंडै तथा गोखरादि ग्रंथोक्त संपुटकरूपैश्च पिंडः स्वेदनमेवोपस्वेदनम्।।

५७. तत्र मृत्कपाल पाषाणलोहपिंडानाग्निवर्णान् संदंशेन गृहीत्वांभस्यम्ले वा निमज्जयेत। तैराद्राविक वस्त्रेण वेष्टितैः श्लेष्ममेदो भूयिष्ठे ग्रंथिमद्वा सरुजमंगं स्वेदयेत्। पांसु सिकता गवादिं पुरीष धान्यबुसपुलाकपलालैर्वा अम्लोत्वक्वायितै पूर्ववद्देष्टितैः। गवादि शकृतार्द्रेण पिंडकृतेन वा उपनाह द्रव्योत्कारिका कृशरा मांस पिंडैर्वा वातरोगेष्वति पिंडस्वेदा। स एव संकराख्यः।। अ. सं. सू. २६
परंपरा से प्राप्त इस पिंडस्वेद विधि के बारे में निम्नलिखित संदर्भ प्राप्त हैं।

५८. संशोधितानां कुडवद्वयं-प्राक् संसाधितं षष्टि तंडुलानाम्।
बला कषाये पयसा युतत्वान् बिपाचयेत् षड्गुणिते यथावत्।।
पिंडान् विदध्याद् अमुनाष्टचेल खंडैषु नूत्नेषु सुसूत्र बद्धान्।
विपच्यमानें क्वचिते वलायाः क्षिपेदथैनान पयसा समेते।
अमीक्ष्ण विक्षेपकवोष्णिस्तैर्विभज्य मृदनात् यथोपदेशम्।

शुभे मुहुर्तेकृतपूज्यपूजं यथास्वतैलाक्त तनुं मनुष्यम्।।
यामार्द्धकालेन समाप्तिमेति यथा कषायः सपस्क एषः।
तथा पचेत तत्र मृदुः क्षिपेच्च पिंडान् सुखोष्णीकरणाय तेषां।
अथापनीया खिल लेपभंगाद्यथास्वतैलाजिंत सर्वगात्रः।
स्नातः सुखोष्णेन जलेन पथ्यभोजी भजेत्, स्नेहविधानचर्याम्।।
Ayurvedic Treatment of Kerala–Page–5, 6

५९. सर्वांगगाः बलयुताश्च समीररोगा।
रक्तप्रकोप जनिताश्च तथातिकृच्छ्राः।।
ये सतिदेहबलनाशकरा नराणां।
नश्यंत्यनेन विधिना सहसाखिलास्ते।
(Ayurvedic Treatment of Kerala)

६०. शूक शमी धान्य पुलाकानां वेशबार पायस कृशरौत्काः रिकादीनां वा प्रस्तरे कौशेयाविक प्रच्छदे पंचांगुलोरुषुकाकं पत्रप्रच्छेद वा स्वभ्यक्त सर्वगात्रस्यशयनस्योपस्देदन प्रस्तरस्वेद इति विद्यात्।। च. सू. १४-४२

६१. यथार्हस्वेद द्रव्याणि पिहिन मुखाया मुखायां सम्यगुपरवेद। निवात शरण शयनस्थे किलिजे प्रस्तीर्याविक कौशेय वातहर पत्रान्यतमोत्तर प्रच्छदे रौरवाजिन प्रावारादिभिः स्वयच्छन्नं स्वेदयेदिति संस्तर स्वेदः।। अ. सं. सू. २६

६२. स्वेदन द्रव्याणां पुनर्मूलफलपत्र शृंगादीना मृग शकुनि पिशित शिरः पदादीनां उष्ण स्वभावानां वा यथार्हमम्ललवण स्नेहोपसंहितानां मूत्रक्षीरादीनां वा कुंभ्यां वाष्पमनुद्वमंत्यामुक्त्वाथितानां नाड्या शरेषिकावंशदल करंजार्क पत्रान्यतम कृतया गजाग्रहस्त संस्थानया व्यामदीर्घया व्यामार्ध दीर्घया वा व्याम चतुर्भागाष्ट भागमूल मूलाग्रपरिणाह स्रोतसा सर्वतो वातहर संवृतछिद्रया द्विस्त्रर्या विनामितया वातहर सिद्ध स्नेहाभ्यक्त गात्रो वाष्पमुपहरेत्। वाष्पोह्यनृजूगामी विहत चंडवेगस्त्वचमविदहन् सुखं स्वेदयतीति नाड़ीस्वेदः।। च. सू. १४-४२

६३. तत्र क्वचिन्नाडी स्वेदादौ नाड्या प्रणीयत इत्यन्वयोऽप्यनुसरणीयः।।
च. पा. च सू. १४-४० पर

६४. वातिकोत्तर वातिकानां पुनर्मूलादीनां उत्क्वाथैः सुखोष्णैः कुंभौर्वर्षुलिकाः प्रनाडीर्वा पूरयित्वा यथार्ह सिद्ध स्नेहाभ्यक्तं गात्रं वस्त्रादच्छन्नं परिषेचयेदिति परिषेकः।।

६५. धातुनां दृढ़तां करोति वृषतां देहाग्नि वर्णोजसां।
स्थैर्य पाटवमिन्द्रियस्य जरसो मांद्यं चिरंजीवितम्।।
अस्थ्नां भग्नमापकरोति नितरां दोषान् समीरादिकान्।
सर्वस्नेहकृता सुखोष्ण सुभगा सर्वांगधारा नृणाम्।। धाराकल्प–२

६६. प्लक्षोदुंबरगंधसार वरुण न्यग्रोध देवद्रुमाः।
पुन्नगाह कपित्थ चोचबकुला शोका सनाम्रास्तथा।।
डोला चंपक बिल्व निंब खदिरामोघाग्निमंथार्जुना।।
इत्याद्यन्यतमेन सेचन विधी द्रोणी प्रकुर्याद् बुधः।
द्रोणी हस्त चतुष्क दीर्घकर मात्र व्यासतत्पाद मात्रोद्याद्धिति युता दृढा समतला
पादांतरंध्रा वहिः।
शीर्षस्थान इहोन्नतैक कर मात्रोत्ताण विस्तारका।
निम्ना किंचन मध्यतश्च चरणैहस्तैश्च युक्ता दृढैः।। धाराकल्प—३, ४

६७. ग्राह्योस्तेपरिचारकाः स्युरनुरक्ता सावधाना शुभा। ये . . . धाराकल्प–७

६८. धारायां स्फटिक प्रवर्णरजतप्लक्षादि पूर्वोक्त वृक्षायस्ताभ्र वराटिक। प्रथित मृत्पात्रं

त्वतीवोत्तमम्। केचिद्रोगि कनिष्ठिकांत निवरं शंसंति केचित्तु वा। तत्पर्वोपम विस्तृतं तु सुषिरं पात्रस्य मध्ये कृतम्।। धाराकल्प—११

६६. तत्तद्व्याधिशमोदितौषधगणैः सिद्धंव वा योजयेत्। . . . . .
योज्यं स्नेह चतुष्टयंच तिलजं।। . . . . . धाराकल्प–श्लोक–१५, ८

७०. रुक्षे पित्तयुतेऽनिलेच परमः काली मुहूर्तद्वयं।
सार्ध तत्र, तदर्धमात्रउदितः स्निग्धे कफोन मिश्रिते।
यावद् स्वेद समुद्भवो भवति तत्तावन्निवर्तेत वा।। धाराकल्प श्लो. १७

७१. एकाहादपरंच सेचनविधौ क्षीरादिकं गृह्यते।
धान्याम्लं त्रिदिनात्परं विधिरथं स्नेहस्थ तु प्रायशः।।
एकेन त्रिदिनं, परेणच तथा सिंचेत् त्र्यहं तद्वयम्।
मिश्रीकृत्य च सप्तमेहनि पुनस्त्यक्त्वैवमेनं चरेत्।। धाराकल्प–२१

७२. सेकानंतर मातुरस्तु . . . . . स्नेहोक्तमत्राखिलं।। श्लोक २३

७३. गुल्मानाह भगंदर व्रणतुनी शूलाभिद्यातास्रवा–
तोदावर्तक कोठ गुढ मरुदष्ठीला विसर्पादिषु।।
प्लीहा ध्मानक विधधी प्रतितुनीष्वेकांगसेकं तथा।
कुर्याद् हस्त तल प्रपूर्ण पिचुनां मंदं सुखोष्णं भिषग्। धाराकल्प २७

७४. स्त्रीणां स्पर्शनदर्शन स्मृतिवशात् शुक्रे स्रुते संति तत्–
संपर्केण बिनापि तद्भगवदास्तस्मात् त्यजेत् सर्वदा।
व्यायामातपवेगरोध हिम धूमात्युच्चनीचोपधा–
नाहः स्वप्नरजः प्रवातचिरकालासीनताः संस्थितीम्।
शोकं जागर पादयानगमन क्रोधादिभाष्यादिकान्।
त्यक्त्वाऽथोष्ण जलोपचार्य नति भुक् स्याद्ब्रह्माचारी सदा।। धाराकल्प श्लोक २५, २६

७५. वातहरोक्वाथ क्षीर तैल घृतपिशित रसोष्ण सलिल कोष्ठकावगाहस्तु
यथोक्त एव अवगाह। च. सू. १४-४४
च. पा.—यथोक्तेषु इति लोक प्रसिद्ध एवावगाहो अवगांहोह स्वेदः।।

७६. नाभेः षडंगुलं यावद् मग्नः क्वाथस्य धारया।
कोष्णया स्कंधयोः सिक्तस्तिष्ठेत् स्निग्धतनुर्नरः।।
मुहुर्तैकं समारभ्य यावत्स्यात् तच्चतुष्टयम्।
एकांतरो द्वयंतरो वा युक्तः स्नेहोवगाहने।। भा. प्र. पू. खं.

७७. काष्ठावगाहामच्छिद्रां तावदेवा यता समां।
द्रोणीं वातहरक्वाथ कृशरा क्षीर पूरिताम्।।
कृत्वा तस्यां सुखोष्णायामभ्यक्तं वातरोगिणां।
ज्ञात्वावगाहयेत् तावत् यावद् स्वेदागमो भवेत्।।
. . . . . ईदृशैरेव सलिलै कटाहे चार्धपूरिते।
प्रवेश्य स्वेदयेत् स्नेद्यमुदकोष्ठः प्रकीर्तितः।। भेल. सु. २३

७८. अथजेंताकं चिकीर्षुर्भूमिं परीक्षेत। — तत्र पूर्वस्यां दिशि उत्तरस्यां वा गुणवति प्रशस्ते भूमिभागे कृष्णमृत्तिके सुवर्णमृत्तिके वा परीवाप पुष्करिण्यादीनां जलाशयानामन्यतमस्य कूले दक्षिणे पश्चिमे वा सूपतीर्थे समसुविभक्त, भूमिभागे सप्ताष्टौ वा अरली रुपक्रम्योदकात् प्राङ्मुखं उदङ्मुखं वाभिमुखतीर्थ कूटागारं कारयेत्। उत्सेधविस्तारतः परमरलीः षोडश, समंतात् सुवृत्तं मृत्कर्मसंपन्न अनेकवातायनम्, अस्य कूटागारस्यान्तः, समंततो भित्तिमरालिं विस्तारोत्सेधां पिडकां कारयेत् आकपाटात्। मध्ये चास्य कूटागारस्य चतुष्किष्कु मात्रम् पुरुष प्रमाणे मृण्मयं कंदुकसंस्थानं बहुसूक्ष्मच्छिद्रं अंगारकोष्ठकस्तंभं सपिधानं कारयेत्।

तंच खदिरामश्वकर्णादीनां वा पूरयित्वा प्रदीपयेत्। स यदा जानीयात् साधुदग्धानि काष्ठानि गतधूमानि, अवतप्तंव केवलमग्निना तदग्निगृहं स्वेदयोग्येन चोष्मणा योग्यमिति तत्रैनं पुरुषं वातहराभ्यक्तगात्रं वस्त्रावच्छन्नं प्रवेशयेत्। प्रवेशयंश्चैनमनुशिष्यात्, "सौम्य, प्रविश कल्याणायारोग्याय चेति। प्रविश्यचैनां पिंडिकामधिरुह्य पार्श्वापर पार्श्वाभ्यां यथासुखं शयीथाः। न च त्वया स्वेद मूर्च्छा परीतेनापि सता पिंडिकैषा विमोक्तव्या ऽ ऽ प्राणांच्छवासात्। भ्रश्यमानौ-ह्यतः पिंडिकावकाशात् द्वारमनधिगच्छन् स्वेद मूर्च्छापरीततया सद्यः प्राणान्-जह्याः। तस्मात् पिंडिकामेनां न कथंचन मुं चेथाः। त्वं यदा जानीथाः-विगनाभिभिष्यन्दपात्मानं सम्यकसुतस्वेदपिच्छिं सर्वस्रोतोविमुक्तं लघुभूतमपगत विबंधस्तंभसुप्तिवेदनमिति, ततस्ता पिंडिकामनु सरन् द्वारं प्रपद्येथाः। निष्क्रम्य च न सहसा चक्षुषोः परिपालनार्थ शीतोदकमु-पस्पृशेथाः। अपगत संताप क्लमस्तु मुहुर्तासुखोष्णेन वारिणा परिषेकोऽश्नीयाः इति जेन्ताकस्वेदः।। च. सू. १४-४६

७६. शयानस्य प्रमाणेन घनाश्ममयीं शिलाम्।
तापयित्वा मारुतघ्नैर्वारुभिः संप्रदीपितैः।।
व्यपोक्ष्य सर्वानंगारान् प्रोक्ष्य चैवोष्ण वारिणा।
तां शिलामय कुर्वीत कौषेयाविक संस्तराम्।।
तस्यां स्वभ्यक्त सर्वांगः स्वपन् स्विद्याति नासुखं।
कौरवाजिन कौषेय प्रावाराद्यैः सुसंवृतः च. सू. १४-४७ से ५०
इत्युक्तो अश्मघनः स्वेदः . . . . !
कषुः आभ्यंतरविस्तीर्णोऽल्पमुखो गर्तः।। च. पा.

८०. . . . . कर्षु स्वेदः प्रवक्ष्यते।
रवानयेत शयानस्याद्यः कर्षू स्थानविभागवित्।
दीप्ततैरधूमैरंगारैस्ता कर्षू पूरयेत्ततः।।
तस्यामुपरि शय्यायां स्वपन् स्विद्यति ना सुखम्। च. सू. १४-५१, ५२

८१. अनत्युत्सेध विंस्तारां वृत्ताकारामलोचनाम।
घनभितिं कुटिं कृत्वा कुष्ठाद्यैः संप्रलेपयेत्।
कुटीमध्ये भिषग् शय्यां स्वास्तोर्णामुपकल्पयेत्।
प्राव राजिन कौषेय कुथ कंबल गोलकैः।
हसंतिकाभिरंगार पूर्णाभिस्तां च सर्वशः।
परिवार्यातरा रोहेदभ्यक्तः स्विद्यते सुखम्।। च. सू. १४-५२ से ५४

८२. य एवाश्मघनः स्वेदः विधिर्भूमौ स एव तु।
प्रशस्तायां निवातायां समायामुपदिश्यते।। च. सू. १४-५५

८३. कुंभी वातहर क्वाथ पूर्णा भूमौ निखानयेत्।
अर्धभागं विभागं वा शयनं तत्र चोपरि।
स्थापयेदासनं वापि नातिसार्द्र परिच्छदम्।
अथ कुंभ्यां सुसंतप्तान् प्राक्षिपेदयसो गुडान्।
पाषाणाश्चोष्मणा तेन तत्स्थः स्विद्यति नासुखं।।
सुसंवृतांगः स्वभ्यक्तः स्नेहैरतिलनाशनैः।। च. सू. १४-५६ से ५८

८४. कुपं शयनविस्तारं द्विगुणं चापि वेधतः।
देश निवाते शस्ते च कुर्यादन्तः सुमार्जितम्।
हस्त्यश्व गो खरोष्ट्राणां पुरीषैर्दग्ध पूरिते।
स्ववच्छन्नः सुसंस्तीर्णेऽभक्तः स्विद्यति नासुखं।। च. सू. १४-५६, ६०

८५. धीतिकांतु पुरीषाणां यथोक्तानां प्रदीपयेत्।
शयनान्तः प्रमाणेन शय्यामुपरि तत्र च।
सुदग्धायां त्विधूमायां यथोक्तामुपकल्पयेत्।
स्ववच्छन्नः स्वपंस्तत्राभ्यक्तः स्विद्यति ना सुखं।
होलाकस्वेद इत्येष सुखः प्रोक्तो महर्षिणा।। च. सू. १४-६१ से ६३

८६. (१) तापनं तापः।। डल्हण
(२) तत्र तापस्वेदः पाणिकांस्य कंदुककपाल बालुका वस्त्रैः प्रयुज्यते, शयानस्थ चांगतापो बहुशः खदिरांगारैरिति।। सु. चि. ३२-३
(३) कंदुकं अनूपपाचनभांडम।। डल्हण
(४) तापोऽग्नितप्तवसन फालहस्त तलादिभिः।। अ. हृ. सू. १७-१
अ. द.—फालेन अयोमयेनाग्नि तप्तेन तथाहस्त तलेनापि, आदि ग्रहणात् दारुबालुका घटिका कांस्यपात्रादयो गृह्यंते।।
(५) तत्र तापस्वेदे कंदुक ग्रहणादेव जेंताक कर्षुकुटी कूप होलाक स्वेदः। पंचैवातभवंति।। डल्हण ।।

८७. उष्मा वाष्प ।। ड. सु. चि. ३२-२ पर
जातस्य चतुरोमासान् हस्तस्वेदं प्रयोजयेत्।
अप्रमादी नितस्थो विधूमाग्न्यूष्मणा शनैः ।। का. सू. २३-२७

८८. निवर्तमाने बार्लस्य सौकुमार्ये यथाक्रमम।
प्रवर्तमाने काठिन्यं तेषां स्वेद प्रवर्धयेत्।। का. सू. २३-२८

८९. उष्मस्वेदस्तु कपालपाषाणोष्टिकालोह पंडानग्निवर्णानद्भिरसिंचेद् अम्ल द्रव्यैर्वा, तैरार्द्रालक्तपरिवेष्टितैरंगप्रदेश स्वेदयेत्। मांसपयोदधि स्नेह धान्याम्ल वातहरपत्र भंगक्वाथपूर्णावा कुंभीमनुतप्ता प्रावृत्योष्माणं गृहणीयात। पार्श्वच्छिद्रेण वा कुंभेनाधोमुखेन तस्यामुखमभिसंधाय तस्मिंश्छिद्रे हस्तिशुंडाकारां नाड़ी प्रणिधाय तं स्वेदयेत्। सु. चि. ३२-५ आगे भी देखें
व्यामार्धमात्रा त्रिर्वका हस्तिहस्त समाकृतिः।
स्वेदनार्थ हिता नाड़ी कैलंजी हस्तशुंडिका।। सु. चि. ३२-७
पुरुषायाम मात्रां च भूमिमुत्कीर्य खदिरैः।
काष्ठर्दग्ध्वा तथाभ्युक्ष्य क्षीर धान्याम्लवारिभिः।
पत्रभंगैरवच्छाद्य शयानं स्वेदयेत्ततः। सु. चि. ३२-८
पूर्ववद् स्वेदयेद्दग्ध्वा भस्मापोह्यपि वा शिलाम्। सु. चि. ३२-९
पूर्ववत् कुटीं वा चतुर्द्वारांकृत्वा तस्यामुपविष्टस्यांतश्चतुर्द्वारिंऽगारानुपसंधाय तं स्वेदयेत्।। कोशधान्यानि वा सम्यग उपस्वेद्यास्तीर्य किलिंजेऽन्यतमस्मिन् वा तत्प्रतिरूपके वा शयानं प्रावृत्य स्वेदयेत्। एवं पांशु गोशकृत्तुष घुस पलालोष्मभिः स्वेदयेत्।।
सु. चि. ३२-१०, ११

९०. उष्मा तूत्कारिका लोपालोपक पांसुभिः।
पत्रभंगेन धान्येन करीष सिकता तुषैः।
अनेकोपाय संतप्तः प्रयोज्यो देशकालतः।। अ. हृ. सू. १७-६, ७

९१. (१) उपानाह्यते इत्युपनाहो, बंधनमित्यर्थ।
उपनाह शब्दस्तु इह 'णह्, बंधने इत्यस्येति उपनाहौ बंधनम्।।
डल्हण. सु. चि. ३२, १ तथा १२ पर
(२) उपनाहस्तु वातहर मूलकल्कैरम्ल पिष्टै लवण प्रगाढैः सुस्निग्धैः

प्रविह्य स्वेदयेत्। एवं काकोल्यादिभिः एलादिभिः सुरसादिभिः तिलातसी सर्षप कल्कैः कृशरापायसोत्कारिकाभिर्वेशवारैः शाल्वणैः वा तनु वस्त्रावनद्धैः स्वेदयेत्।। सु. चि. ३२-१२
(३) संकरस्वेदमपि मप्युपनाह स्वेद एव दर्शयन्नाह एवमित्यादि।
एभिरेव पोटलिका बद्धा स्वेदयेत्।। ड., सु. चि. ३२-१२ पर

९२. उपनाहोवचा किण्व शताघ्ह्वा देवदारुभिः।
धान्यैः समस्तैः गंधैश्च रास्नैरंड जटामिषैः।।
उद्रिक्तलवण स्नेह चुक्रतक्रपयः प्लुतैः। . . . . .
स्निग्धोष्णवीर्येमृदुभिः चर्मपट्टैरपूतिभिः।।
अलामे वातजित्पत्र कौशेयाविक शाटकैः।
रात्रौ बद्धा दिवा मुंचेद् मुंचेद्रात्रौ दिवाकृतम्।। अ. हृ. सू. १७-२, ३, ४, ५

९३. (१) उल्वणेन सह वर्तते इति साल्वणः।। ड. सु. चि. ४-१४ पर
(२) काकोल्यादिः सवातघ्नः सर्वाम्ल द्रव्य संयुतः।
सानूपौदक मांसस्तु सर्वस्नेह समन्वितः।।
सुखोष्णः स्पष्टलवणः शाल्वणः परिकीर्तितः।
तेनोपनाहं कुर्वीत सदा वातरोगिणाम्।
कुंच्यमानं रुजार्त वा गात्रं स्तब्धमथापि वा।
गाढं पट्टैर्बध्नीयात् क्षौम कार्पास कौर्णिकैः।।
विडालनकुलोंद्राणा चर्मगोण्यां मृगस्य वा।
प्रवेशयेद्वा स्वभ्यक्तं शाल्वणेनोपनाहितम्।। सु. चि. ४-१४, १५, १६, १७
(३) एषांच भाग मानमाह—
''मांसे नात्रौषधं तुल्यं यावताम्लेन चाम्लता।
तावंतश्च चतुः स्नेहाः स्निग्धत्वंच यथा भवेत्।। डल्हण, चि.-४-उपर्युक्त पर

९४. द्रव्यस्वेदस्तु वातहर क्वाथ पूर्ण कोष्ण कटाहे द्रोण्यां चावगाह्य स्वेदयेत एवं पय मांसरस यूषतैल धान्याम्ल घृतवसा यूषेषु अवगाहयेत्। एतैरेव सुखोष्णैः कषायैश्च परिषिंचेदिति।।
सु. चि. ३३-१३
कुंभीर्गलंतीर्नाडीर्वा पूरयित्वा रुजार्नितं।
वाससाच्छादितं गात्रं स्निग्धं सिंचेद्यथा सुखं।। अ. हृ. सू. १७-१०

९५. रोगर्तु व्याधितापेक्षो नात्युष्णोऽतिर्मृदुर्नव।
द्रव्यवान् कल्पितो देशे स्वेदः कार्यकरो मतः।। च. सू. १४-६

९६. व्याधौ शीते शरीरेच महान् स्वेदो महाबले।
दुर्बले दुर्बलः स्वेदो मध्यमे मध्यमो हितः।। च. सू. १४-८

९७. मध्यमो मध्यमानांच दरिद्राणां च दुःखिनाम्।
निषेक देश सात्म्येन तान् विधात् पंडितो भिषग्।। का. सू. २३-३१
बलकालवयो दोषान् पथ्य चेष्टाशन स्थितीः। का. सू. १२-६

९८. अविशेषेण बाधंते सर्वे सर्वान्नरान् गदाः।
विशेषस्तु महान् दृष्टो दक्षिणाहार भेषज।। का. सू. २६-३१

९९. (१) आमाशयगते वाते कफे पक्वाशयाश्रिते।
रुक्षपूर्वोहितः स्वेदः स्नेहपूर्वस्तथैवच।। च. सू. १४-६
(२) वृषणो हृदयं दृष्टि स्वेदयेन्मृदूनेव वा।
मध्यमं वंक्षणौ शेषमंगावयवमिष्टतः।। च. सू. १४-१०

(३) सशुद्धैर्नक्तकैः पिंड्या गोधूमानामथापि वा।
पद्मोत्पल पलाशैर्वा स्वेद्यः संवृत्य चक्षुषि।।
मुक्तावलीभिः शीताभिः शीतलैः भाजनैरपि।
जलाद्रैजिलजैः हस्तैः स्विद्यतो हृदयं स्पृशेत्।। च. सू. १४-११, १२

(४) गलकर्ण शिरोमन्या कर्णाक्षि चिबुकोरसि।
अभिष्यंदात् समुच्छ्रने प्रदेह स्वेद इष्यते।। का. सू. २३-२४

१००. त्र्यहावरं सप्तदिनं परंतु स्निग्धो नरः स्वेदयितव्य उक्तः।। च. सि. १-६

१०१. (१) शीतशूल व्यूपरमे स्तंभ गौरव निग्रहे।
संजाते मार्दवे चैव स्वेदनात विरतिर्मता। सु. चि. १४-१३

(२) स्वेदस्त्रावों व्याधिहानिर्लघुत्वं शीतार्थित्वंमार्दवश्चातुरस्य।
सम्यग् स्विन्ने लक्षणं प्राहुरेतन् मिथ्यास्विन्ने व्यत्ययेनैतदेव।। सु. चि. ३२-२३

१०२. (१) पित्त प्रकोपो मूर्च्छा च शरीर सदनं तथा।
दाहः सर्वांग दौर्बल्यमतिस्थिन्नस्य लक्षणम् ।। च. सू. १५-१२

(२) स्विन्नेऽत्यर्थं संधिपीड़ा विदाहः स्फोटोत्पत्तिः पित्तरक्त प्रकोपः।
मूर्च्छा भ्रांतिदाह तृष्णा क्लमश्च कुर्यात्तूर्ण तत्र शीतं विधानं।। सु. चि. ३२-२४

(३) पित्तास्त्रकोप तृण्मूर्च्छा स्वरांगसदन भ्रमाः।
संधिपीड़ा ज्वर श्यावरक्तमंडल दर्शनम्।।
स्वेदातियोगात् च्छर्दिश्च तत्र स्तंभनभौषधम्।। अ. हृ. सू. १७-१६, १७

१०३. स्तंभन स्तंभयति यत् गतिमंतं चलं ध्रुवं।। च. सू. २२-१२

१०४. शीतं मंदं मृदु श्लक्ष्णं रुक्षं सूक्ष्मं द्रवं स्थिरं।
यद्द्रव्यं लघु चोद्दिष्टं प्रायस्तत् स्तंभनं स्मृतं।। च. सू. २२-१७

१०५. प्रायस्तिक्त कषायं च मधुरं च समासतः।। अ. हृ. सू. १७-११

१०६. पित्तक्षाराग्निदग्धा ये वम्यतीसार पीड़िताः।
विषस्वेदार्ति योगार्ति स्तंभनीयास्तथा विद्याः।। च. सू. २२-३३

१०७. श्यावतास्तब्धगात्रत्वं उद्वेगो हनु संग्रहः।
हृद्वर्चो निग्रहश्च स्याद् अतिस्तंभित लक्षणम्।। च. सू. २२-४०

१०८. स्निग्धस्य सूक्ष्मेष्वयनेषु लीनं स्वेदस्तु दोषं नयति द्रवत्वम्।। च. सि. १-७

१०९. स्नेहपूर्व प्रयुक्तेन स्वेदेनावजितेऽनिले।
पुरीष मूत्र रेतांसि ना सज्जंति कयंचल। च. सू. १४-४

११०. वायुस्तंत्रयंत्रधर . . . . नियंता प्रणेताच मनसाऽ . . . . . सर्देन्द्रियाणां उद्योजकः,
सर्वशरीर धातुव्यूहकरः, संधानकरः शरीरस्य . . . . . च. सू. १२-८

१११. वातस्योपक्रमः स्नेहः स्वेदः संशोधनं मृदुः अ. हृ. सू. १३-१

११२. शुष्काण्यपिहि काष्ठानि स्नेहंस्वेदोपपादनैः।
नमयति यथान्यायं किं पुनर्जीवितो नरान्।। च. सू. १४-५

११३. अग्नेर्दीप्ति मार्दवं त्वक् प्रसादं।
भक्तश्रद्धां स्त्रोतसां निर्मलत्वं।
कुर्यात्स्वेदो हंति निद्रां स तंद्रा।
संधीन् स्तब्धांश्चेष्टायेदाशु युक्तः।।
स्नेहक्लिन्ना (कोष्ठगा) धातु संस्थाश्च दौषाः।
स्वस्थानस्या येच मार्गेषु लीनाः।।

सम्यक् स्वेदैर्योजितैस्ते द्रवत्वम।
प्राप्ता कोष्ठं शोधनैर्यात्यशेषम्।। सु. चि. ३२।२१, २२

११४. यद् द्रव सरमद स्निग्ध पिच्छिलं रसरुधिरवसा कफपित्त मूत्र स्वेदादि तदाप्यं रसो रसनंच।।
च. शा. ७-१६

११५. स्वेदोवहानां स्त्रोतसां मेदोमूलं रोमकूपाश्च। च. वि. ५-१६

११६. मेदोवहानां स्त्रोतसां वृक्को मूलं वपावहनं च। च. वि. ५-१२

११७. मेदःसंश्रयास्तु प्रचक्ष्महे। निंदितानि प्रमेहाणां पूर्वरूपाणि यानि चं।। च. सू. २८-२६

११८. प्रदुष्टानां तु खलू एषामिदं विशेष विज्ञानं भवति।
तद्यथा अस्वेदन-मर्तिस्वेदनं, पारुष्यमति श्लक्ष्णताभंगस्य परिदाहं
लोमहर्षश्च दृष्ट्वा . . . . . च. वि. ५-१६

११९. Sweet contains same electrolytes at those found in the extra cellular fluid.
(Text Book of Medical Physiology —By Gyton)

चतुर्थ अध्याय

वमन-विज्ञान

व्याख्या–वमन का सामान्य अर्थ है उलटी कय–जिस प्रक्रिया में उलटियाँ कराई जाती हैं वह 'वमन' कहलाती है। वमन ऊर्ध्व भागहर शोधन हैं। वमन शब्द की वैय्याकरणीय उत्पत्ति इस प्रकार की है।[1]

''वम-उद्गारे, यक सेट्। वमति, अवमीत्।
वमन-वमने ल्युट् (पु.) मर्दने च्छर्दने निःसारणे
च स्वर्गाभिष्यंद वमनम्। कुमारः। आहृतौ (विश्व)
वमि (स्त्री) वम इन् च्छर्दौ च्छर्दि शब्दे।
वमथुः-वम-अथुच।''

वमन से संबंधित वम, वमन, वमि और वमथु इन चारों शब्दों का स्वरूप ऊपर वर्णित हैं। वम शब्द उद्गार के अर्थ में प्रयुक्त है और इससे 'वमति'–उद्गीरण करता है, या अवमीतत्-उद्गीरण किया ऐसे शब्द बनते हैं। वम में ल्युट् प्रत्यय से पुल्लिग वमन शब्द बनता है। जिसके चार अर्थ हैं। एक अर्थ है छर्दि या उलटी होना, दूसरा अर्थ है मर्दन करना, तीसरा है निःसारण या निकाल देना, और चौथा अर्थ है–सर्ग या अभिष्यंदन। इसका अन्य अर्थ 'आहरण'–खींच लेना यह होता है। वमि यह स्त्रीलिंगी शब्द है जो वम धातु में इन् प्रत्यय से हुआ है। अर्थ है छर्दि। वमथु शब्द वम में अथृच् प्रत्यय से बनता है जो च्छर्दि के अर्थ में उपयुक्त है। यहाँ स्पष्ट कि वम, वमथु और वमि–ये च्छर्दि (या उद्गीरण) कहलाते हैं और वमन–का अर्थ च्छर्दि करना ऐसा होता है। आयुर्वेद में भी ये चार अर्थ–च्छर्दन, निःसारण, अभिष्यंदन, और आहरण-वाचक में वमन का प्रयोग होता है। ये चारों शब्द वस्तुतः वमन की कार्मुकता को ही स्पष्ट करते हैं।

आयुर्वेद में वमन की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि दोषों को उर्ध्वमार्ग से अर्थात् मुख से बाहर निकलना यह वमन है।[2] यहाँ दोष शब्द यद्यपि तीनों दोषों का वाचक है, तथापि वमन प्रधानतया कफ दोष की चिकित्सा है। अन्यत्र दोष से वातादि दोष, मल, मूत्र, पुरीष, तथा शरीर के सभी बाधा और दुष्टि उत्पन्न करने वाले घटक 'दोष संज्ञक' मल संज्ञक कहे जा सकते हैं। वमन की व्याख्या करते हुए शार्ङधर कहते है कि–अपक्व पित्त तथा कफ को जो बलपूर्वक ऊपर ले जाकर निकाल देता है वह वमन कहलाता है, जैसे मदनफल।[3] भावप्रकाश ने भी यही व्याख्या दी है। यहाँ अपक्व शब्द से जो पित्त और कफ उचित प्रकार से तैयार नहीं

हुए हैं–वे दुष्ट पित्त और कफ ऐसा अर्थ करना चाहिए। वमन संशोधन का प्रकार है। अपने स्थान से हटाकर ऊपर या नीचे ले जाकर मुख या गुदा से दोषों को निकालना संशोधन कहलाता है।[4] संशोधन-उर्ध्वभागहर तथा अधोभागहर ऐसा द्विविध है। अधोभागहरण संशोधन विरेचन कहलता है, तथापि कभी-कभी दोनों को शरीरमल को निकाल देने के कारण 'विरेचन' कहा जाता है[5] अर्थात् वमन को ऊर्ध्व विरेचन भी कहा जा सकता है। चरक ने सूत्रस्थान का चौथा अध्याय 'षड्विरेचन शताश्रितीय' नामक दिया है। इस अध्याय में छः सौ विरेचनों का वर्णन है वस्तुतः यहाँ मदनफलादि नामक द्रव्यों के ३५५ योग कहे हैं, और २४५ योग विरेचन योग कहे गये हैं। इनके क्षीर, त्वक, मूल, पत्र पुष्प और फल ये छः आश्रय होते हैं। यहाँ चक्रपाणि कहते हैं कि विरेचन शब्द से वमन का भी बोध होता है। यहाँ दोष और मलों के विरेचन से यदि 'विरेचन शब्द' वमन में प्रयुक्त होता है, तो बस्ति, शिरोविरेचन के लिए भी विरेचन संज्ञा की जा सकेगी ऐसा न समझे। क्योंकि यह तंत्रकार की योग रूढ़संज्ञा है, और तंत्रकार ने वमन और विरेचन के लिए ही प्रयुक्त की है।[6] यहाँ पर ध्यान में रखना चाहिए कि नस्य को शिरोविरेचन कहा ही गया है। वैसे ही–संहिता ग्रंथों में 'शुक्र विरेचन' (वाजीकरण्यौषधयस्तु शीघ्रं शुक्रं विरेचयंति), तथा मूत्रविरेचन (च.सू. ४-९,४-३५) ये भी शब्द प्रयोग मिलते है। अतएव यह उचित है कि विरेचन से प्रायः अधोभाग हरण अर्थ करे और 'वमन शब्द' उर्ध्वभाग हर च्छर्दन में प्रयुक्त है, उसे वमन ही कहा जाये।

शास्त्र में वमन, वमि, च्छर्दन, च्छर्दि ऐसे शब्द भी प्रयुक्त हैं। यहाँ यह विभाजन करना कठिन है कि दोनों को पर्याय माने या अलग। 'च्छर्दि' नाम से रोग दिया गया है और 'वमन यह उपक्रम में निर्दिष्ट चिकित्सा है अतः चिकित्सक जो 'च्छर्दि' कराये उसे वमन कहना संगत है, और स्वयं जो कय होती है उसे च्छर्दि कहना चाहिये, "इह खलु राजानं राजमात्र मन्यं वा....वमनं विरेचनं वा पाययितुकामेन भिषजा..." (च.सू. १५)। इस तरह वैद्य के उपक्रम में वमन शब्द प्रयुक्त है और च्छर्दि लक्षणों में और रोग में प्रयुक्त शब्द है। वैसे तो स्वयं प्रवृत्त कय के लिए भी वमन, वमि, वमथुः शब्द और चिकित्सक के उपक्रम में भी छर्दन शब्द 'एकाहो परतस्तद्वत्भुक्त्वा प्रच्छर्दनं पिबेत्' (च.सू.१३) प्रयोग मिलते है, तथापि बाहुल्येन प्रयोग का नियम कर स्वशास्त्रसिद्धांत के अनुसार इस ग्रंथ में 'वमन'–चिकित्सक द्वारा प्रयुक्त उपक्रम के वमन के लिए और 'च्छर्दि' या छर्दन शब्द स्वयं प्रवृत्त लक्षणों के लिए सीमित रखा जाएगा।

दोषों का हरण यह शब्द केवल सीमित दोषवाचक लेना संगत नहीं है। अन्यथा वमन में जो अन्य मलों का निर्हरण होता है, उसका बोध नहीं होगा। दोषधातु और मल इनमें तीनों में तीनों संज्ञाएं अवस्थानुसार होती हैं, और 'मल विरेचन' शब्द से इनकी व्याख्या में मल शब्द का प्रयोग किया ही है। मल की व्याख्या में चरक ने कहा है कि–शरीर के लिए बाधा करने वाले, सभी घटक मल होते हैं। जिनमें शरीर के स्रोतों में चिपकनेवाले अलग से उत्पन्न तथा बाहर की ओर जानेवाले, परिपक्व धातु, वातपित्त कफ तथा जो कोई दूसरे भाव होंगे वे सब शरीर का उपघात करते हैं, उनको 'मल' ऐसा कहा जाता है।[7] इनका वमन में निर्हरण होता है यह आगे वमनकार्मुकता में स्पष्ट किया जाएगा। इस तरह, "ऊर्ध्वमार्ग से अर्थात् मुख से

प्रकुपित वातादि दोष और शरीर में बाधा करनेवाले मलों को निकालना वमन है" यह व्याख्या करनी चाहिये।

वमन का सामान्य परिचय

शरीर दोषों को बाहर निकालने के लिए–वात के लिए बस्ति, पित्त के लिए विरेचन और कफ के लिए वमन ये सर्वश्रेष्ठ उपाय कहे गया हैं।[१] कफ का स्थान उर्ध्व भाग में है, और आमाशय यह इसका प्रमुख स्थान कहा गया है और सन्निकट मार्ग से दोषों को निकालना यह स्वीकृत सिद्धान्त हैं। दोषों को तथा द्रुमों को मूलत: च्छेदन करने से उनकी पुन: प्रवृत्ति नहीं होती। कफ के लिए आमाशय मूलस्थान है। मूल में कफ का नियामन किया जाने पर वह सभी कफों का नियामन करता है। जैसे केदार में यदि अधिक जल से जगह-जगह के चावलों का अतिक्लेदन होता हो तो, सेतुभेद (बांध तोड़ना) करने पर सभी स्थानों के जल का शोधन होता है वैसे ही वमन से आमाशयस्थ पोषक दोषों का शोधन होने पर उनसे पुष्ट होनेवाले पोष्य दोषों का स्वयं शोधन होता है।

सुश्रुत ने क्षीण दोष में बृंहण, प्रकुपित दोषों में शमन और वृद्धदोष में निर्हरण करने को कहा है[१] और निर्हरण में प्रमुखत: वमन और विरेचन का समावेश किया है। यहाँ डल्हण कहते हैं कि प्रकर्ष से वृद्ध हुए और अपने स्थान से प्रचलित दोषों का निर्हरण करना चाहिये। वृद्धि दो प्रकार की होती है। चय लक्षण और प्रकोप लक्षण। जब संचय रूप वृद्धि होती है तो यह 'चय वृद्धि' है और जो विलयन रूप वृद्धि है–वह–प्रकोपवृद्धि होती है। विलयनरूप वृद्धि में निर्हरण चिकित्सा करनी चाहिये। प्रकोप भी चय प्रकोप और अचयपूर्वक प्रकोप द्विविध है। चयपूर्वक ऊपर आये हुए दोषों का निर्हरण किया जाता है। वमन विरेचन को प्रमुखता देने का कारण यह हैं कि धूम नस्यादि में बाहुल्येन शोधन नहीं होता। यहाँ कफ और पित्त दोनों का ही शोधन अपेक्षित हो तो दोषाणां क्यों कहा–'दोषयो:' कहना चाहिये। किन्तु–वायु का भी अपने आशय से च्युत होने पर वमन विरेचन से शोधन होता है अत: वह संगत है।[१]

वमन केवल रोगों में दोष निर्हरणार्थ प्रयुक्त है ऐसा नहीं है–प्रत्युत स्वस्थों में भी वसंतादि ऋतुओं में स्वास्थ्य रक्षणार्थ किया जा सकता है।

वामक द्रव्यों के गुणकर्म

वमन करने वाले द्रव्य वमन द्रव्य या वामक द्रव्य कहलाते हैं। वामक द्रव्यों में निम्नलिखित प्रकार के गुण होते हैं।[११]

१. उष्ण	२. तीक्ष्ण
३. सूक्ष्म	४. व्यवायि
५. विकाशी	६. ऊर्ध्वभाग प्रभाव

१. **उष्ण**–स्वेद द्रव्यों के वर्णन में उष्ण का विचार किया गया है। जैसा कि पहले कहा गया है, यह आग्नेय गुण है, विशेषत: पाचन करता है, दाह जनक है, स्वेदन करता है और विवरण करता है। रसों में कटु, अम्ल और लवण उत्तरोत्तर उष्ण होते हैं।[१२] उष्ण गुण के साथ वामन द्रव्यों में लवणों का अतएव प्रयोग होता है।[१३] वामक द्रव्यों में उष्ण गुण के द्वारा विष्यंदन होता है।[१४] अर्थात् दोषों को पकाकर गलाने का काम उष्णगुण से होता है जिससे उनकी कोष्ठाभिमुख प्रवृत्ति होती है।

२. **तीक्ष्ण**– तीक्ष्ण गुण भी दाह, पाक, तथा स्राव करने में हेतु होता है। तीक्ष्ण गुण से वामक द्रव्यों में शीघ्रता से कार्य करने की क्षमता होती है।[१५] तीक्ष्ण गुण शोधन होता है। यह भी आग्नेय गुण है। वमन द्रव्यों में तीक्ष्ण गुण से दोषों का पाचन और छेदन होता है, तथा दोषों को अपने स्थान से स्रावण कराने का कार्य होता है।

३. **सूक्ष्म**– जो स्रोतों में प्रवेश करने योग्य होता है उसे सूक्ष्म कहते हैं। यह आकाशीय, वायव्य तथा तैजस गुण है। सूक्ष्म गुण से वामक द्रव्यों का स्थूल और अणु स्रोतों में प्रवेश होता है। वामक द्रव्य अणुप्रवण भाव से दोषों को कोष्ठ में लाते हैं। अणुप्रवण भाव का अर्थ है–अणुत्व, तथा प्रवणत्व अणुमार्गों में प्रवेश करना अणुत्व है और कोष्ठ की तरफ आने को प्रवृत्त होना यह प्रवणत्व कहलाता है।[१६] यह गुण स्निग्धता के कारण अधिक कार्यकर होता है। सूक्ष्म गुण से अणु स्रोतों में प्रवेश के बाद उष्ण तीक्ष्णादि से पाचन, विष्यंदन और कोष्ठाभिगमन होता है।

४. **व्यवायि**– जो द्रव्य जठराग्नि के द्वारा पाक होने के पूर्व ही अपने प्रभाव से समग्रशरीर में व्याप्त होकर अपने गुणकर्म दिखलाते हैं, उन्हें व्यवायि कहा जाता है।[१७] वामक द्रव्य में व्यवायि गुण के कारण उनका पाक होने के पहले ही सर्व शरीर में व्याप्ति होकर उष्ण, तीक्ष्ण, इत्यादि गुणों का कार्य शुरू होता है।

५. **विकाशी**– विकाशी उसे कहते हैं जो धातुओं से ओज को पृथक् करते हैं, संधियों में शैथिल्य करते हैं, और सारे शरीर में तुरन्त विकसित होते है।[१८] विकाशी गुण से वामक द्रव्य धातुओं में श्लिष्ट दोषों को पृथक् करने में क्षम होते हैं।

६. **ऊर्ध्वभाग प्रभाव**–वामक औषधियों का सबसे प्रमुख गुण ऊर्ध्वभाग प्रभाव यही है। वे अग्नि और वायु महाभूत भूयिष्ठ होने के कारण, उनकी ऊर्ध्वभाग प्रवृत्ति होती है, तथापि ऊर्ध्वप्रवृत्ति और अधोभाग प्रवृत्ति यह द्रव्यों का प्रभाव ही है। प्रभाव यह अचिंत्य है। अर्थात् इसमें किसी हेतु को बताया नहीं जा सकता। यहाँ पर ऊर्ध्वभाग प्रभाव ही वमन में हेतु है ऐसा कहना संगत है। चक्रपाणि कहते हैं कि–वमन जो ऊर्ध्वभागहर प्रभाव करता है उसमें अग्नि-वायु हेतु है ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि प्रभाव तो अचिंत्य कहा है–और जिसमें उत्पत्ति कही जा सकती है वह प्रभाव नहीं हो सकता। अत: वाय्वग्निगुण का वमन प्रभाव ऐसा नहीं, अपितु वमन यह ऊर्ध्वभागहर प्रभाव से ही होता है और इसमें वायु-अग्निगुणता एक हेतु हो सकता है, न कि वमन में, वह स्वतंत्र हेतु है। यदि वाय्वग्नि गुणता को स्वतंत्र हेतु वमन में कहा जाये तो वे द्रव्य जिनमें अग्निवायु की गुणभूयिष्ठता है, किन्तु ऊर्ध्वभागहरण प्रभाव नहीं, वे भी वामक होने चाहिये। जैसे कटु रस अग्निवाय्वात्मक है–उससे वमन होना चाहिये, किन्तु सब कटु ऐसे नहीं होते। अत: प्रभाव स्वतंत्र हेतु है।[११]

वमन द्रव्य

चरक, सुश्रुत, वाग्भट ने अनेक वमन द्रव्यों का प्रयोग किया है। वमन द्रव्यों के

अतिरिक्त चरक में वमनोपग गण भी दिया है। वमनोपग शब्द से अभिहृत द्रव्य वे हैं जो वमन प्रक्रिया में सहाय्यक होते हैं। कहीं-कहीं अद्रव्यभूत वमन का भी उल्लेख किया गया है। दुर्गंधी प्रदार्थों से, वीभत्स दर्शन से, भयानक स्वरूपों को देखकर भीति उत्पन्न होने से भी वमन होता है, किन्तु यह च्छर्दि है और चिकित्सा में इसका उपयोग करना संगत नहीं है। वैसे ही कंठ में जिव्हामूलकों-उपजिविका और अन्ननलिका के प्रारंभिक भाग को अंगुली, कमलनाथ, रबर इत्यादि किसी मृदु वस्तु से स्पर्श कर यांत्रिक उत्तेजना से भी वमन किया जाता है। यह उपाय वामक तरीके से आयुर्वेद को सम्मत है, इसका आगे वमन विधि में विचार करेंगे। यहाँ वमन द्रव्यों का विचार करना है।

चरक, सुश्रुत, वाग्भट तथा उत्तरवर्ति सभी आचार्यों ने वमन द्रव्यों में एकमुख से जिसकी प्रशंसा की है वह द्रव्य है मदनफल, या मैनफल। इस मदनफल का यहाँ समर्पक विचार प्रस्तुत कर अन्य द्रव्यों का सामान्य परिचय मात्र दिया जाएगा।

मदनफल–मदनफल प्रसिद्ध वृक्ष है। सब वमन द्रव्यों में यह अपायरहित होने से श्रेष्ठ है ऐसा चरक कहते हैं। सुश्रुत ने भी मदनफल को श्रेष्ठ वामक द्रव्य कहा है।[२०] चरकादि आचार्यों ने मदनफल के ऊपर स्वतंत्र अध्याय लिखकर इसके अनेक योगों का वमन में प्रयोग किया है। मदनफल के कुल १३३ योग वमनार्थ चरक ने प्रयोग किये हैं।[२१] जिसमें कषाय के ९ योग, मात्रा के आठ, दूध और घी के ५ योग, फणित और चूर्णों के दो, ग्रेय और वर्ति के ६, अवलेह मोदक में २०, उत्कारिका के योग, शष्कुली पूप में १६ योग, षाडवादि में १० योग ऐसी भिन्न-भिन्न कल्पना योग है।[२२]

चरक ने मदनफल के लिए करहाट, राठ, पिंडीतक, फल, श्वसन से पर्याय नाम दिये है।[२३] इसका फलिनी (च.सू.१) वर्ग में समावेश किया है, और सुश्रुत ने ऊर्ध्व भागहर, आरग्ध्वादि मुष्ककादि गण में वर्णन किया है।

परिचय–इसका वृक्ष छोटा, (मध्यम आकार का), झाड़ीदार और कंटक युक्त होता है। ऊंचाई साधारणत: १५ फीट तक रहती है। शाखायें छोटी, श्वेत और कांटेदार होती हैं। प्रारंभ में समांतर होने से वृक्षरूप होती हैं, पश्चात् सीधी होती हैं। शाखाएं बहुत सरलता से टूट सकती हैं। ऊंट के सिवाय कोई प्राणी ऊंचाई के कारण इसके पत्ते खा नहीं सकता। पत्र अंडाकार अपामार्ग के पत्ते की तरह गोल रहते हैं। इन पर अक्षदेश में दोनों ओर लम्बे और तीक्ष्ण कांटे होते हैं। एक से दो इंच लम्बे रहते हैं। एक शाखा में ६ से १० जोड़ पत्ते के निकलते हैं। पुष्प श्वेत या पीताभ रहते हैं, एक या कभी-कभी दो लगते हैं। पुष्प सुगंधी, चमेली के आकार के ३ से.मी. लम्बे होते हैं। फल गोलाकार वृक्काकार और पीला रहता है। इसमें लम्बाई में झुर्रियां रहती हैं। इसके भीतर दूसरा आवरण रहता है और इलायची के जैसे सैकड़ों बीज अन्दर भरे रहते हैं। फलमज्जा मधुर और तिक्त होती है। जिसके अन्दर अखरोट जैसा गोला रहता है। इनको तोड़ने पर कृष्णवर्ण बीज के ४ खण्ड निकलते हैं। जिन्हें मदनफल पिप्पली कहते हैं ! ग्रीष्म ऋतु में पुष्प आते हैं और शीतकाल में फल आते हैं।

उत्पत्ति स्थान–हिमालय के नीचे की पहाड़ियों में जम्मू से लेकर सिक्किम तक और सिंध, कूचबिहार, महाराष्ट्र और दक्षिण भारत में पाया जाता है।

रासायनिक संगठन–मदनफल में सेपोनिन (Saponin) नामक तत्व होता है जो पूरे फल के १/३ में भाग होता है। इसका प्रमाण लगभग २ रत्ती निकलता है। इसके अतिरिक्त वेलेरियनिक अम्ल (Valerianic) मोम, राल, रंजक, द्रव्य होते हैं। बीजों में सुगन्धित तेल होता है।

मदनफल के भिन्न-भिन्न पर्याय–भिन्न-भिन्न निघंटु ग्रंथों में पर्याय हैं।

वृक्षवाचक–मरुजक, मरुवक, राठ।

कंटक वाचक–शल्य, शल्यक।

फलवाचक–पिंडीफल, पिंड़ीतक, गोलफल, ग्रंथिफल, धाराफल, घंटाल।

पुष्पवाचक–विष पुष्पक (मादकता के कारण), घंटाल (आकार के कारण), घंटाख्य।

गुणवाचक पर्याय–मदन, च्छर्दन, हर्ष बस्तिशोधन, श्वसन।

अन्य भाषा के नाम

हिन्दी–मैनफल, मयनफल, करहर, महनफल, मैनर, मन्युल।

अंग्रेजी–Emetic nut (इमेटिक नट), Bushy Gardenia (बुशी गार्डेनिया)।

लेटिन-Randia Dumetorium (रेडिया ड्यूमेटोरियम)।

बंगाली–मथना, भयनाफल, मयना, कांटा, मेंदफल।

मराठी–गेळफळ।

गुजराती–मींढळ, ढोल, ढील, मिंढोल।

कनाडी–वोनगरेणय, वीनगरे ऐरंडु, मगरेगिड।

तेलगु–मंग, मंगचेट्टु, उन्मेत चेट्टु।

तामिल–मरुक्कालम।

उड़िया–पातर, पतिरी।

फारसी, अरबी–जोजुल्कै।

गुण–लघु, रुक्ष, विपाक-कटु, रस मधुर, तिक्त, कषाय और कटु। वीर्य-उष्ण। प्रभाव वमन। दोष–कफपित्त शोधन।

कर्म–मदनफल वमन करता है। विद्रधि, प्रतिश्याय, व्रण को दूर करता है। कुष्ठ, कफ, आनाह, शोथ, गुल्म को अच्छा करता है। वात का अनुलोमन करता है।

संग्रहविधि–चरक ने मदनफल प्रयोगार्थ मदनफल संग्रहीत करने की खास विधि बताई है। मदनफलों को वसंत या ग्रीष्म ऋतु में, पुष्य या अश्विनी नक्षत्र में या मृग नक्षत्र पर ग्रहण करें। जिस समय औषधि अपने वीर्य में प्रकर्षयुक्त होती है उस समय ली जाती है। फल ऐसे लें जो पके हुए हों, मध्यम आकार के हों, जो हरे न हों, जन्तुओं से खाए हुए न हों, सड़े गले न हो। ऐसे फल लेकर उन्हें कुशपुट में बांधकर गोमय से लिंपितकर, यव, माष शालि, कुलत्थ, मूंग, इनमें से किसी एक में ८ दिन तक रखे। जब वे मृदु हो जायें, मधु जैसी गंध इनमें आयें तब निकाल कर सूखा दें। सूखने पर बीजपिंडों (मदनफल बीज) को निकाल कर इन्हें घी, दही, मधु, तिलकल्क में घोटकर फिर सूखा लें। फिर नये घड़े

में या अच्छे पात्र में प्रयोगार्थ सुरक्षित (छिक्के पर) रख दें। इन पिप्पलियों का उपयोग वमनार्थ करें।[२४]

चरकोक्त वामक द्रव्य

चरक ने भिन्न-भिन्न स्थान में वामक औषधियों का वर्णन किया है। उनमें कुछ प्रमुख हैं, और कुछ सहायक हैं, तथापि अध्ययन अन्वेषणादि हेतु से उन्हें ससंदर्भ यहाँ लिखा जाता है।

१. **मूलिनी वामक द्रव्य**–जिनके मूल या जड़ प्रयोग में उपयुक्त होते हैं उन्हें मूलिनी कहते है। वामक मूलिनी में हैमवती (वचा), शणपुष्पी, बिम्बी (कड़वी कंदुरी) ये तीन गिनाये हैं।[२५]

२. **फलिनी औषधियां**–जिनके फल उपयोग में प्रशस्त हैं उन्हें फलिनी कहते हैं। इनमें वामक फलिनी ये है[२६]–

१. धामार्गव (पीले फूलवाली घोषलता)	२. ईक्ष्वाकु (कटुतुंबी)
३. जीमूत (देवदाली)	४. कृतवेधन (कोशातकी, कड़वी तुरई)
५. मदन फल	६. कुटज फल
७. त्रपुष (कड़वा खीरा)	८. हस्तिपर्णिनी (मोरट च.पा.)

३. **वामक लवण द्रव्य**–लवण सभी वमन कराते हैं। चरक ने स्नेह, स्वेद, वमन, विरेचन, बस्ति, अभ्यंग, नस्य, उत्सादनादि विविध प्रयोगों में लवण का प्रयोग निर्दिष्ट किया है। लवण अभिष्यंदी, सूक्ष्म तथा अत्युष्ण होता है, दीपन और तीक्ष्ण होता है अत: सर्वत्र लाभप्रद होता है। ये लवण हैं–सौवर्चल, (सौंचल नमक-काला नमक) सैंधव लवण, बिड लवण, औद्भिद लवण (रेह का नमक), और सामुद्र लवण।[२७]

४. **वमनोपग द्रव्य**–मधु, मधुक, (मूलेठी), कोविदार (लाल कांचनार), कर्बुदार (श्वेत कांचनार), नीप (कदंब) बिदुल (हिज्जल), बींबी, शणपुष्पी, सदापुष्पी, (अर्क), प्रत्येक पुष्पी (अपामार्ग), ये १० औषधियां वमन में सहाय्यक होती हैं।[२८]

अन्यान्य संदर्भों से वमन द्रव्य

१. सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय में क्षीर प्रयोग के बारे में कहते हुए अश्मंतक का क्षीर वमनार्थ तथा, अर्कक्षीर वमन और विरेचनार्थ प्रयोग करने को कहा गया है।[२९] यहाँ अश्मंतक का अर्थ चक्रपाणि ने मालुया के पत्तों के सदृश पत्रवाला वृक्ष ऐसा किया है। गंगाधर और योगींद्रने पाषाण भेद ऐसा अर्थ किया है, किन्तु क्षीर प्रयोग की अपेक्षा यह पं. हरिदत्त शास्त्री को मान्य नहीं है।

२. अपामार्ग तंडुलीय नामक द्वितीय अध्याय में मदनफल, यष्ठीमधु, निंब, जीमूत, कृतवेधन, पिप्पली, कुटज, ईक्ष्वाकु, एला, धामार्गव इनका कफपित्त युक्त आमाशयाश्रित व्याधियों में वमनार्थ प्रयोग कहा गया है।[३०]

३. चतुर्थ अध्याय में मदनफलादि के वामक योगों की संख्या बताकर छ: वामक द्रव्य बताये है जो प्रधान हैं। इनमें मदनफल के १३३ योग, जीमूतक के ३९ योग, ईक्ष्वाकु के ४५ योग, धामार्गव के ६० योग, कुटज के १० योग, और कृतवेधन के ६० योग इस तरह ३५५, वामक योग कहे हैं।[३१] इनका विस्तृत विवेचन आगे इसी अध्याय में किया गया है।

४. विमान स्थान के आठवें अध्याय में भिन्न-भिन्न द्रव्यों का भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयोग करने को कहा गया है। वे इस प्रकार हैं।[३२]

१. मदनफल , देवदाली, कड़वी तुम्बी, पीली घोषा इनके फल, पत्र और फूल वमन में प्रयोग करें।

२. कुटज और कृतवेधन के फल प्रयोग करें।

३. आरग्वध, वृक्षक, स्वादू कंटक, पाठा, पाटला, शार्गेष्टा (गुंजा), मूर्वा, सप्तपर्ण, नक्तमाला (नाटा करंज), पिचुमर्द (नीम) पटोल, (परवर), सुषवी (करेला), गुडूची सोमवल्क (सफेद खैर), चित्रक, द्विपी (कटेरी), शिग्रुमूल (सहिंजन), इनके कषायों का वमन के लिए प्रयोग करें।

४.मधु (मुलेठी, या शहद), मधूक (महुआ), कोविदार (कंचनार) कर्बुदार (लाल कांचनार), नीप (कदंब), निचुल (वेतस), बिंबी, शणपुष्पी, सदापुष्पी (मदार) प्रत्यक्ष पुष्पी (अपामार्ग) इनके कषायों से वमन कराये।

५. एला (छोटी), हरेणु, प्रियंगु, बड़ी एला, कुस्तुंबक (नेपाली धनियाँ), तगर, नलद (जटामांसी) ह्रीवेर (गंधवाला), तालीश, गोपी (सारिवा), इनके कषायों से वमन कराये।

६. इक्षु, कांडेक्षु (ईख का प्रकार), इक्षुवालिका (खागडतृण या ईख का भेद), दर्भ, पोटगल (होगल-नल-नडा) कालकृत (कासमर्द), इनके क्वाथ से वमन करावे।

७. सुमना (चमेली), सौमनस्यायनी, (जावित्री), हल्दी, दारु हल्दी, वृश्चीर (श्वेत पुनर्नवा), महासहा (माष पर्णी, क्षुद्रसहा (मुद्गपर्णी,) इनके कषायों से वमन करावे।

८. शाल्मली (सेमल), शाल्मलक (रोहेडा), भद्रपर्णी (गंभारी या प्रसारणी), एलापर्णी (रास्ना), उपेदिका (पोई शाक), उद्दालक (वनकोद्रव), धन्वन (धामन), राजादन (खरनी), उपचित्रा (पुश्निपर्णी, गोपी (सारिवा), शृंगटिका (जीवंती) इनके कषायों से वमन कराए।

९. पिप्पलीमूल, चव्य, चित्रक, शृंगवेर (सोंठ), सर्षप, फाणित, क्षीर, क्षार, नमक इनसे सिद्ध जल से वमन करावें।

उपर्युक्त द्रव्यों में से प्रमुख द्रव्यों का परिचय आगे तालिका में दिया गया है।

सुश्रुतोक्त वामक द्रव्य–सुश्रुत ने संशोधन संशमनीय अध्याय में निम्नोक्त द्रव्यों का वमन के लिऐ उपयोग बताया है।

१. मदन फल	२. जीमूतक	३. ईक्ष्वाकु
४. धामार्गव	५. कृतवेधन	६. सर्षप

७. पिप्पली	८. करंज	९. प्रपुन्नाड (चक्रमर्द)
१०. कोविदार	११. कर्बुदार	१२. अरिष्ट (निंब)
१३. अश्वगंधा	१४. विदुल (वेतस)	१५. बंधु जीवक (मध्यान्ह
पुष्पक, मरुनियांग)	१६. (श्वेत वचा)	१७. शणपुष्पी (हुलहुली
इति लोकेड)	१८. बिंबी	१९. मुगैर्वारू (इंद्रवारुणी)
	२०. चित्रा (चित्रांडिका, पटोल फलाकार फलाङ्)	

इनमें कोविदार के पूर्ववर्ति (क्र.१ से ९ तक) के फल लेना चाहियें और कोविदारादि शेष (क्र. १० से २० तक) द्रव्यों के मूल वमन में प्रयुक्त करना चाहिये।[३३] इनमें कुछ द्रव्य प्रत्यक्ष वामक है जैसे–मदनफल, कृतवेधनादि, तो कुछ द्रव्य वमनद्रव्यों के क्वाथादि में सहायक होकर वमनोपयोगी होते हैं– जैसे निंब, पिप्पली, इत्यादि।

वाग्भटोक्त वामक द्रव्य[३४]

१. मदन फल	२. मधुका	३. लंबा (कड़बी तुंबी)
४. निंब	५. बिंबी (कंदुरी)	६. विशाला (इंद्रायण)
७. त्रपुष (कडुआ खीरा)	८. कुटज(कूडा)	९. भूर्वा
१०. देवदाली	११. कृमिघ्न (बिडंग)	१२. विदुल (वेत)
१३. दहन (चित्रक)	१४. चित्रा (मूषिक पर्णी)	१५. कोषवती (कड़वी तुरई)
१६. करंज	१७. कणा (पिप्पली)	१८. लवण
१९. वचा	२०. एला	२१. सर्षप।

उपर्युक्त सभी प्रमुख द्रव्यों का परिचय तालिका में देखें।

वमन द्रव्यों के प्रयोग भेद

वमन द्रव्यों का भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयोग होता है। भैषज्यविज्ञान के आधार पर तथा आहारशास्त्र की जो जो कल्पनायें हैं उनमें वमनद्रव्यों को मिलाकर ये कल्पनाएं सिद्ध होती हैं। चरक कहते हैं कि वमनद्रव्यों का वर्ति, चूर्ण, अवलेह स्नेह, कषाय, मांसरस, यवागु, यूष, कांबलिक, क्षीर उपधेया, मोदक तथा अन्यान्य भक्ष्य प्रकार के साथ प्रयोग करना चाहियें।[३५] इसी तरह सुश्रुत और वाग्भट ने भी भिन्न-भिन्न कल्पनाओं में इन द्रव्यों का प्रयोग किया है।

चरक ने कल्पस्थान नामक स्वतंत्र स्थान इसी विषय पर लिखा है और इसमें वमन तथा विरेचन द्रव्यों के सैकड़ों कल्पों का वर्णन किया है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न कल्पना में वमन द्रव्य प्रयोग करने के हेतु ये हैं कि–

१. प्रत्येक व्यक्ति की स्वाभाविक रुचि अलग-अलग होती है। किसी को चूर्ण से, किसी को स्वरस से, कषाय से, तैल इत्यादि से नफरत होती है। उनको अनुकूल द्रव्य कल्पना के साथ प्रयोग किया जा सके। जैसे किसी को वर्ति से, तो किसी को घ्रेय वमन (केवल सुंघाकार) दिया जा सकता है। किसी को मोदक किसी को पूप दिये जा सकते हैं।

वमन द्रव्यों की सामान्य परिचय दर्शक तालिका

क्र.	ग्रंथोक्त नाम	अन्य परिचायक नाम	लेटिन नाम	परिचय	उपयुक्त अंग	प्रमुख गुणकर्म
१.	मदनफला	मैनफल	Randia Dumatorum	विस्तृत परिचय पीछे दिया है।	—	
२.	जीमूतक	बंदाल	Luffa Echinata	इसके कंकोड़े जैसे कांटेदार फल होते हैं।	फल और पंचांग	यह कटु, तिक्त रसयुक्त होती है। विपाक कटु, वीर्य उष्ण, तीक्ष्ण। प्रभाव-वामक। शिरोविरेचन तथा रेचन भी। ज्वर, कास हिक्का, पांडु, अर्श, कास, कामला, विष, शोथ, आमविकार, अरुचि, क्षय और कृमि में उपयोगी।
३.	कुटज	कुडा, करैया	Writia Tinctorea	इसके दो जातियाँ होती हैं। एक सित कुटज, दूसरी असित कुटज; वृक्ष १० से १२ फीट ऊँचा, पुष्प सफेद, सुगंधी होता है।	मूल की छाल, और बीज (इंद्रयव) मात्रा मूल त्वक् क्वाथ १-२ तोला चूर्ण ४-८ रत्ती	रस-तिक्त, कषाय, रुक्ष, शीतवीर्य, वामक दीपन अर्शोघ्न, कफघ्न, स्तन्यशोधन, आस्थापनोपग संग्राही, शोषण, रक्त-पित्त, कफ-पित्त ह्रद्रोग, ज्वर अतिसार, तृषा आम और कुष्ठ नाशक। पुष्प-तिक्त, कषाय, लघु शीत वीर्य, दीपन वातकर तथा कफ, पित्त रक्तविकार और कृमि का नाशक। इंद्रजव तिक्त, तीक्ष्ण, उष्ण वीर्य विदोषघ्न, दीपन, रक्तार्श, अतिसार शूलघ्न है।

तालिका

क्र.	ग्रंथोक्त नाम	अन्य परिचायक नाम	लेटिन नाम	परिचय	उपयुक्त अंग	प्रमुख गुणकर्म
४.	धामार्गव	धियातुरई, नेनुआं राज-कोषातकी	Laffa Aegyptica	तुरई के समान किन्तु धारदार रेखाएँ नहीं होती। मीठा और कड़वा दो जातियाँ। कड़ुवा औषध में प्रयुक्त। मीठा शाक में उपयोगी।	फल	वामक है। कफ विकारों में तथा आमाशयगत वात में उपयोगी। कफ के कंठ के मुँह में होने पर तथा गर गुल्म में और खाँसी में प्रयुक्त। मीठी तुरई त्रिदोषघ्न कड़ुआ नेनुआ कड़वे तुरई के समान।
५.	कृतवेधन	कोषातकी तुरई, तोरई	Luffa Amara	दो जातियाँ होती हैं। कड़वी और मीठी। कड़वी जंगल में स्वयं उत्पन्न होती है। मीठी लगाई जाती है, औषध में कड़वी प्रयुक्त होती है।	फल	वामक तथा विरेचक। अत्यन्त तिक्त, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, कुष्ठ, पांडु, प्लीहा, शोथ, गुल्म, गर आदि में प्रशस्त।
६.	ईक्ष्वाकु	कटुकलाबू कटली तुबी, कड़वी लौकी	Legnaria Vulgaris	कटु तुम्बी की लता और फल लौकी के समान होते हैं।	फल	तिक्त कटुविपाकी शीतवीर्य, अहृद्य, वामक, शोधन तथा कास, विष, पित्त, ज्वर, शोथ, व्रण, शूल, वात और कफापह।
७.	नीप	कदंब	Anthoce phalus Cadamba	उत्तर तथा पूर्व बंगाल में उत्पन्न बड़ा वृक्ष। पत्र महुवे के पत्तों के समान। फूल १-२ इंच घेरे में गोलाकार, नारंगी रंग के। रात में सुगंधी।	—	मधुर, कषाय, लवण, शीत, गुरु, सर, रुक्ष कफ और स्तन्य दोष को दूर करता है।

तालिका

क्र.	ग्रंथोक्त नाम	अन्य परिचायक नाम	लेटिन नाम	परिचय	उपयुक्त अंग	प्रमुख गुणकर्म
८.	सदापुष्पी	अर्क मदार आक	Calotropis Procera	भारत में सर्वत्र होता है। पत्ते लंबे, मोटे और चौड़े, पत्र-कोण से पुष्पदड निकलता है। जिस पर छत्राकार में पुष्पगुच्छ लगता है। फूलबहार से सफेद और ल्लाईलिये बैंगनी रंग के सफेद पुष्पवाला भी आक होता है। फलों में से रुई निकलती है।	क्षीर (च)	तिक्त, कटु, उष्णवीर्य, शोधन, भेदन, स्वेदोपग, दीपन, कंडू, व्रण, वात, शोथ कुष्ठ, कृमि, प्लीहा, गुल्म, अर्श, कफ और उदर रोग में प्रशस्त। इसका दूध तिक्त, किंचित लवण, उष्ण वीर्य, स्निग्ध, वमन और विरेचन कारक, कुष्ठ, गुल्म उदररोग नाशक।
९.	वचा	वचा घोडवच	Acorus Calamus	वचा की जड़ अंगुली जितनी स्थूल ५, ६ पर्ववाली, खुरदरी, रोमावृत, अरुण वर्ण, सुगंधी तथा स्वाद में तिक्त चरपरी होती है।	जड़ मात्रा-१-५ रत्ती वमनार्थ १५-३० रत्ती	यह तिक्त कटु, कटुविपाकी, उष्णवीर्य, वामक, विरेचक, लेखन है। अर्शोघ्न तृप्तिघ्न, आस्थापनोपग, शीत प्रशमन, संज्ञा स्थापन, मेध्य, कंठ्य, कृमिहर, वाणी और स्वर की प्रसादन। आम-पाचन, दीपन, मलमूत्र विशोधन, उन्माद, अपस्मार, आध्मान, शूल, कफ और वात नाशक।

तालिका

क्र.	ग्रंथोक्त नाम	अन्य परिचायक नाम	लेटिन नाम	परिचय	उपयुक्त अंग	प्रमुख गुणकर्म
१०.	इंद्रवारुणी	इंद्रायण	Citrullus colocynthis	इसकी लता होती है। फल पहले हरे, पकने पर पीले होते हैं। इसकी अनेक जातियाँ होती हैं। एक जाति के फल पर काँटे होते हैं। दूसरी जाति के फल पकने पर लाल होते हैं।	फल और मूल	तिक्त, कटु, विपाक, लघु, उष्णवीर्य, रेचक तथा कृमि, कफ, व्रण, उदर, कामला, पित्त, प्लीहोदर, श्वास, कास, कुष्ठ, ग्रंथि, गुल्म, आमविकार और विष का नाश करनेवाली है। यह वमन में सहायक है।
११.	मधुक	यष्टीमधु मुलेठी	Glycyrrhiza glabra	दो प्रकार की। एक का क्षुप, दूसरे की लता होती है। ३ से ४ फीट ऊँचा, पत्ते कट-सरैयाके पत्तों के समान लंबे अंडाकार।	मूल, त्वक्	यह मधुर, स्निग्ध, गुरु शीतवीर्य, जीवनीय, कंडुघ्न स्नेहोपग, वमनोपग आस्थापनोपग, छर्दिनिग्रहण, मूत्रविरजनीय, शोणित स्थापन, चक्षुष्य, बल्य, केश्य है। वात, रक्तविकार, व्रणशोथ, विष, तृष्णा, ग्लानि और क्षय को दूर करती है।
१२.	कोविदार	कांचनार	Baubinia variegota	भारत में सर्वत्र होता है। पुष्प लाल और सफेद दो प्रकार का।	मूल	कषाय, शीतवीर्य, ग्राही, वामक, कफ, पित्त, कृमि, कुष्ठ, गुद, भ्रंश, गंडमाला, व्रण का नाशक।

तालिका

क्र.	ग्रंथोक्त नाम	अन्य परिचायक नाम	लेटिन नाम	परिचय	उपयुक्त अंग	प्रमुख गुणकर्म
१३.	विदुल	हिज्जल (वेतस च.पा.) समुद्रफल	Barringtonia Acutar gula	मध्यमाकृति वृक्ष। द. भारत, बंगाल में होता है। पत्र लंब-गोल, अंडाकृति, कुछ दंतुर। फल बादाम के जैसा, चौकोन पहले मीठा, फिर कड़ुआ, लगता है और मिचली करता है।	फल	शीत, दाह, शोथ, अर्श, योनिरुजा, कफ और वातघ्न।
१४.	प्रत्यक् पुष्पी	अपामार्ग	Achyran-thsaspera	भारत में सर्वत्र होता है। दो जातियाँ श्वेत और रक्ताभ।	मूल, बीज, पंचांग और पंचांग का क्षार	कटु तिक्त, उष्णवीर्य, तीक्ष्ण, दीपन पाचन, वामक, ग्राही, शिरोविरेचन, कफ, वात में प्रशस्त, अर्श, कंडु, उदर, आमविकार, हिक्का, अपची का नाश करनेवाला।
१५.	विडंग	वायडिंग	Embelia Ribs	इसका बड़ा गुल्म होता है। पुष्प श्वेत, फल काले, मिर्च जितने बड़े, गुच्छों में लगते हैं।	फल	कटु, तीक्ष्ण, उष्ण, रुक्ष, लघु, दीपन, शिरोविरेचन, तृप्तिघ्न, कफ, कृमि, वात विबंध नाशक। वमन में सहायक।
१६.	सर्षप	सरसों	Brassia Nigra	सर्वत्र होता है। बीज तेल खाने और लगाने में उपयोग करते हैं।	बीज	वमनोपयोगी। कटु, स्निग्ध, तिक्त, उष्ण, कफ, वातघ्न, रक्तपित्तवर्धक, अग्निदीपन।

तालिका

क्र.	ग्रंथोक्त नाम	अन्य परि-चायक नाम	लेटिन नाम	परिचय	उपयुक्त अंग	प्रमुख गुणकर्म
१७.	निम्ब	नीम	Azadirachta Indica	भारत में सर्वत्र होता है। काफी ऊँचा, डेरेदार और छांव वाला वृक्ष होता है।	काष्ठ छोड़कर सभी अंग वमन में पत्र स्वरस फल मज्जा	तिक्त, कटु-विपाकी, शीतवीर्य। लघु, वामक। पित्त, कफ, कंडु, कुष्ठ, रक्त विकार, व्रण में लाभप्रद।
१८.	करंज	करंज	Pongamia Glabra	वृक्ष सदा हरा रहता है। शाखा ४-७ इंच लंबी ५-७ पत्ते। पत्र नोंकदार, अंडाकार फूल गुच्छों में सफेद।	फल पत्र	उष्णवीर्य, लघु, भेदन। पत्र कृमि, वात, अर्श में प्रशस्त। व्रण कुष्ठ, कफवातघ्न।
१९.	पिप्पली	पीपल	Piper longum	इसकी दो जातियाँ होती हैं। छोटी पीपल, बड़ी पीपल। बड़ी गजपीपल है। इसके काण्ड को चव्य या चविका कहते हैं। छोटी के मूल को पिप्पली मूल कहते हैं।	फल मूल	कटु, मधुर विपाकी, उष्ण, लघु, दीपन, पाचन, वृष्य, रसायन, शिरोविरेचन वामक। पित्त को न बढाने वाली कफ वाता शामक। हिक्का, कास, शूल, उदर, ज्वर, जवर, कुष्ठ, प्रमेह, गुल्म, अर्श, प्लीहा, रोग और आमवात की नाशक है।
२०.	एला	इलायची	Elettaria cardomum	प्रसिद्ध सुगंधी द्रव्य है। दो जातियाँ—बड़ी और छोटी।	फल	कटु, मधुर, शीत, शिरोविरेचन, हृद्य, रुचिकर, दीपन, श्वास, अंगमर्द, मूत्रकृच्छ्र को दूर करती है। वमन में सहायक।

तालिका

क्र.	ग्रंथोक्त नाम	अन्य परि-चायक नाम	लेटिन नाम	परिचय	उपयुक्त अंग	प्रमुख गुणकर्म
२१.	शणपुष्पी घंटारवा	झनझनिया घुघरियासन	Crotalaria Vorrucosa	दो से चार फीट ऊँचा, पत्र अंडाकृति एकांतर। पुष्प पीले जामुनी रंग के। बीज १०-१५ सूखी सेम हिलाने से घुंघरु जैसी आवाज होती है।	—	तिक्त, कषाय, वामक, कफ, पित्त, कण्ठरोग, हृद्रोग और मुखरोग को दूर करती है।
२२.	बिम्बी	कंदुरी	Coccinia Indica	बिंबी-जंगली कड़वी और मीठी दो जाति की होती है। कड़वी औषण में प्रयुक्त	फल	कड़वी बिंबी वामक। कफपित्त, रक्त-विकार, शोथ, पांडु, ज्वर को दूर करती है। फल श्वास, कास, कफ नाशक।
२३.	चक्रमर्द प्रपुन्नाड	पवाड चकवड	Cassiatora	क्षुप २-५ फीट ऊँचा, पर्ण संयुक्त दल, फूल पीले। सेम लम्बी, पतली एक में २०-३० बीज रहते हैं।	—	कटु, मधुर, उष्ण, रुक्ष, लघु वात, कफ, दाह, कंडु, कुष्ठ, कृमि नाशक।
२४.	त्रपुष	खीरा	Cuccumis Sativus	लता फैली हुई होती है। पत्र ५-६ इंच घेरे के गोलाकार। फल ६-१२ इंच लंबे उनमें ककड़ी के जैसे बीज होते हैं।	फल	लघु, स्वादु, दाह, तृट् जित्। पित्तापह, रक्तपित्तहर, वमन में उपयोगी।
२५.	मधुक	महुवा	Basia latifola	बंगाल, बिहार में होता है। सदा हराभरा वृक्ष।	पुष्प फल	पुष्प-मधुर, शीत, गुरु, वृंहण, वृष्य वातपित्तापह। फल-स्वादु-शीत गुरु वातपित्तघ्न। रक्तविकार, दाह, श्वास, कास क्षय नाशक।

तालिका

क्र.	ग्रंथोक्त नाम	औषध नाम	लिंग नाम	गुण धर्म	उपयुक्त अंग	मात्रा तथा अवस्था
२६.	मूर्वी	मूर्वी मदिरा फली करंजवत्	1. Clinates Triloba 2. Sanseviera burghiana 3. Sanseviciria zeylanica	संदिग्ध औषधि कोई कुछ मानते हैं।	—	सर, गुरु, मधुर, स्निग्ध, पचेद्गुणे वामट ने वामक में सम्मावेश किया है।

२. कुछ कल्पनाएं औषधिवीर्य को अधिक काल तक संरक्षण करती हैं। जैसे मद्य, आसुत लेह इत्यादि।

३. कुछ कल्पनाएं उष्ण तीक्ष्णादि गुण से जल्दी असर कारक होती हैं।

४. तीक्ष्णौषधियों के साथ मिश्र वामक द्रव्य जल्दी काम करते हैं। यथोपलब्धी के अनुसार लिये जा सकते हैं।

५. कुछ कल्पनाओं में वमन के शोधन के अतिरिक्त– वल्य, बृंहण और तर्पण गुण भी होते हैं। उदाहरण मंथ तर्पण पानक।

६. रोगोक्त चिकित्सा द्रव्यों के साथ उपयोग करने से इनमें रोगशमन का भी गुण आता है। जैसे कषाय कल्पनाएं।

प्रमुख प्रयोग भेद– चरकादि आचार्यों ने निम्नलिखित कल्पनाओं में मदनफलादि द्रव्यों का उपयोग किया है।

१. कषाय	२. चूर्ण	३. कल्क
४. वर्ति	५. लेह	६. स्नेह
७. मांसरस	८. यवागु	९. काम्बलिक
१०. यूष	११. क्षीर	१२. दधि
१३. दधिसर	१४. मस्तु	१५. तक्र
१६. नवनीत	१७. घृत	१८. फाणित
१९. मोदक	२०. उत्कारिका	२१. मात्राएं
२२. मदिरा	२३. सुरामंड	२४. शष्कुली
२५. अपूप	२६. षाडव	२७. मंथ
२८. आसुत	२९. पलल	३०. प्रेय योग
३१. सलिल	३२. इक्षुरस	३३. कृशरा इत्यादि।

मदनफलादि छः वामक द्रव्यों की कल्पना आधार से चरक द्वारा दी हुई संख्या नीचे तालिका में विषद की जाती है।

उपर्युक्त कल्पनाओं में से प्रमुखों का वर्णन उपकल्पनाविज्ञान अध्याय में दिया गया है। इनमें जहाँ + चिन्ह लिखकर संख्यांकन किया है, यहाँ ग्रन्थोक्त निर्णित कल्पना के अतिरिक्त अन्य नाम से आई हुई वह कल्पना जो उसमें समावेश योग्य दी है। उदाहरण जीमूतक के १२ कषाय के बाद +७ योग कषाय ही है। किन्तु चरक ने इनको आरग्वधादि योग ऐसा कहा है और +४ ये जीवकादि योग नाम से दिये हैं, वे भी कषाय हैं। मदलफल की उत्कारिका योग संख्या २० है। मोदक भी २० है। इनमें 'षाडवादि' नाम से दिये हुए बदर अवलेह का १, बदर मोदक का एक-एक योग मिलाया गया है।

वम्य तथा अवम्य का विचार

जिनको वमन कराना योग्य है वे वाम्य और जिन्हें वमन कराना योग्य नहीं है वे अवाम्य कहलाते हैं। प्रायः कफप्रधान–रोगों में आमाशयस्थ उत्क्लेशावस्था में वमन निर्दिष्ट किया

वमन द्रव्यों की प्रयोग भेद दर्शक तालिका

क्र.	कल्पना	मदनफल	जीमूतक	इक्ष्वाकु	धामा-वत्सक गँव		कृत-बेधन
१.	कषाय	९+८	१२+७ +४	९+६	२०	९	२२
२.	क्षीरपाक	१	६	८	४	—	४
३.	घृत	१	१	१	१	—	१
४.	दही, दधिसर तक्र	२	—	२	—	—	—
५.	नवनीत	१	—	—	—	—	—
६.	घ्रेय	१	—	१	१	—	—
७.	फाणित	१	—	—	—	—	—
८.	चूर्ण, कल्क	१	—	—	१	५	—
९.	वर्तिक्रिया	६	८	८	—	—	६
१०.	लेह	२०+१	—	५	१०	—	८
११.	उत्कारिका	२०+१	—	—	—	—	—
१२.	मोदक	२०+१	—	—	—	—	—
१३.	अपुप	१६	—	—	—	—	—
१४.	शष्कुली	१६	—	—	—	—	—
१५.	रागषाडव	२	—	—	—	—	—
१६.	तर्पण, पानक, मँथ	२	—	१	—	—	—
१७.	सुरामंड, मद्य	१	१	१	१	—	१
१८.	मांसरस	१	—	२	—	—	७
१९.	यूष	१	—	—	—	—	—
२०.	तैल	—	—	१	—	—	—
२१.	गुटिका	—	—	—	९	—	—
२२.	सलिल	—	—	—	—	३	—
२३.	कृशरा, अन्न (भात)	—	—	—	१ भा.	१ कृ.	—
२४.	पिच्छा	—	—	—	—	—	१०
२५.	इक्षुरस	—	—	—	—	—	१
२६.	शकृद्रस	—	—	—	१२	—	—
	कुल	१३३	३९	४५	६०	१८	६०

है। वमन योग्यों को चरक, सुश्रुत और वाग्भट के अनुसार नीचे तालिका में स्पष्ट किया जाता है।

उपर्युक्त रोग नामावली देखने पर वाम्य के बारे में कोई एक सिद्धान्त लगाना कठिन

लगता है। प्राय: कफप्रधान दोषों से उत्पन्न विकारों में और आमाशय के शोधन की आवश्यकता हो वहाँ पर वमन निर्दिष्ट किया है। सुश्रुत ने अधिजिव्हिका, कर्णस्राव जैसे कुछ रोगों में वमन कहा है। वाग्भट ने उध्वरोगों में वमन देने का निर्देश किया है। जिसमें उपर्युक्त रोग समाविष्ट हो सकते हैं। कफप्रधान रोगों में कास, श्वास, अजीर्ण, अग्निमांद्य, हृल्लास अरुचि, स्तन्यदोष, पीनस, श्लीपद, मुखप्रसेक, अपची, पांडु इत्यादि का समावेश होता है। विद्ध, पिषदग्ध में शोधन की प्रधानता होती है। कुष्ठ, विसर्प, प्रमेहादि कुछ रोगों में बहुदोष के कारण शोधन अपेक्षित होता हैं। अधोग रक्तपित्त में मार्ग विरोधी चिकित्सा वमन है। अर्श, ग्रंथि, विद्रधि, अर्बुद, अधिजिव्हिका, मेदरोग इत्यादि में मांस मेद की दृष्टि है, वहाँ सामान्य शोधन हेतु यही प्रतीत होता है। अपस्मार, उन्माद ये शोधन प्रधान व्याधियां है।

इस नामावली से स्पष्ट होता है कि वमन का क्षेत्र बहुत व्यापक है। यहाँ पर यह शंका की जा सकती है कि उपर्युक्त रोगों में विकृति भिन्न-भिन्न स्थान में रहती है। आमाशय पर शोधन कार्य करनेवाला वमन इन में कैसे कार्य करता है। इसका निरसन करते हुए चरक कहते है कि आमाशय में कफ के मूल स्थान में अवजयन करने पर संपूर्ण कफ को जीता जाता है।

वम्य[३६] चरकादि में तौलनिक तालिका

क्र.	वाम्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१.	पीनस	+	+	+
२.	कुष्ठ	+	—	+
३.	नवज्वर	+	+	+
४.	राजयक्ष्मा	+	+ (शोष)	+
५.	कास	+	+	+
६.	श्वास	+	+	+
७.	गलग्रह	+	—	—
८.	श्लीपद	+	+	+
९.	गलगंड	+	—	—
१०.	प्रमेह	+	—	+
११.	मन्दाग्नि	+	+	+
१२.	विरुद्धाजीर्ण	+	+	+(सं.)
१३.	विसूचिका	+	—	+ (सं.)
१४.	अलसक	+	—	+ (सं.)
१५.	विषपीत	+	+	+ (सं.)
१६.	विषदग्ध, दष्ट	+	—	+
१७.	विद्ध	+	—	+
१८.	अधोग रक्तपित्त	+	+	+

१९.	मुखप्रसेक	+	+	+
२०.	दुर्नाम (अर्श)	+	–	–
२१.	हृल्लास	+	+	+
२२.	अरुचि	+	+	+ (सं.)
२३.	अविपाक	+	–	+ (सं.)
२४.	अपचि	+	–	+
२५.	ग्रंथि	–	–	+
२६.	अपस्मार	+	+	+ (सं.)
२७.	उन्माद	+	+	+
२८.	अतिसार	+	+	+
२९.	शोफ	+	–	–
३०.	पांडु	+	–	–
३१.	मुखपाक	+	+	–
३२.	स्तन्य दुष्टि	+	+	+
३३.	अर्बुद	–	–	+
३४.	विदारिका	–	+	–
३५.	मेदोरोग	–	+	+ (सं.)
३६.	हृद्रोग	–	+	–
३७.	चित्त विभ्रम	–	+	–
३८.	विसर्प	–	+	–
३९.	विद्रधि	–	+	–
४०.	पुतिनास	–	+	–
४१.	कंठपाक	–	+	–
४२.	कर्णस्राव	–	+	–
४३.	अधिजिव्हिका	–	+	–
४४.	गलशुंडिका	–	+	–
४५.	कफ व्याधियाँ	+	+	+

अवाम्य–जिसको वमन कराना हितकर नहीं है उन अवस्थों को चरक, सुश्रुत और वाग्भट के अनुसार नीचे तालिका में प्रदर्शित किया जाता है।[१९]

अवाम्य तौलनिक तालिका

क्र.	अवाम्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१.	क्षतक्षीण	+	+	+
२.	अतिस्थूल	+	+	+
३.	अतिकृश	+	+	+
४.	बाल	+	+	+

५.	वृद्ध	+	+	+
६.	दुर्बल	+	+	+
७.	श्रांत	+	+	+
८.	पिपासित	+	+	+
९.	क्षुधित	+	+	+
१०.	कर्महत	+	–	–
११.	भारहत	+	–	–
१२.	अध्वहत	+	–	–
१३.	उपवासित	+	–	–
१४.	मैथुन प्रसक्त	+	–	–
१५.	अध्ययन प्रसक्त	+	–	–
१६.	व्यायाम प्रसक्त	+	–	–
१७.	चिंता प्रसक्त	+	–	–
१८.	क्षाम	+	–	–
१९.	गर्भिणी	+	+	–
२०.	सुकुमार	+	–	–
२१.	संवृत्त कोष्ठ	+	+	–
२२.	कृमि कोष्ठ	–	+	+
२३.	दुश्छर्दन	+	+	+
२४.	ऊर्ध्व रक्तपित्त	+	+	+
२५.	प्रसक्त छर्दि	+	+	+
२६.	ऊर्ध्व वात	+	+	+
२७.	आस्थापित्त	+	+	+
२८.	अनुवासित	+	+	+
२९.	हृद्रोग	+	–	+
३०.	उदावर्त	+	+	+
३१.	मूत्राघात	+	+	+
३२.	प्लीहा दोष	+	–	+
३३.	गुल्म	+	+	+
३४.	उदर	+	+	+
३५.	अष्ठीला	+	–	+
३६.	स्वरोपघात	+	+	+
३७.	तिमिर	+	+	+
३८.	शंख-शिरःशूल	+	–	–
३९.	कर्ण शूल	+	–	–
४०.	अक्षि शूल	+	–	–
४१.	नित्यदुःखी	–	–	–

४२. अर्श	–	–	+
४३. भ्रम	–	–	+
४४. पार्श्वरुक	–	–	+
४५. वात व्याधि	–	+	+

उपर्युक्त रोगों में निषेध का अर्थ सामान्यता इनमें वमन कराना हितकर नहीं है इतना ही किया जाना चाहिये। सुश्रुत ने कहा है कि इनमें वमन प्रयोग करने पर इनकी रोगवृद्धि होती है, रोग कष्टसाध्य या असाध्यता में चले जाते है।[३८] तथापि इनमें भी यदि अजीर्ण हो, विषपीड़ित हो और कफ अत्यंत प्रकुपित हो जाये तो वमन दिया जा सकता है ऐसा सुश्रुत और वाग्भट ने स्पष्ट किया है।[३९] चरक ने भी इसी अपवाद को लेकर अवाम्य अथवा वक्ष्यमाण अविरेच्यादि सभी अवस्थाओं में सामान्य नियम बताते हुए कहा है कि यद्यपि निर्देश किया गया हो तो भी वैद्य को चाहिये कि वह स्वयं बुद्धिपूर्वक तर्क करे, और प्रत्येक व्याधि में उत्पन्न दोष, देश, बल, काल इत्यादि का विचार कर किस व्याधि में कर्म करना उचित है और किस में उचित नहीं है स्वयं निर्णय करें।[४०] क्योंकि हो सकता है कि जिनमें कर्म करना योग्य है उनमें भी उपर्युक्त अवस्थानुसार निषेध संभव है, और जिनमें वमनादि करना निषिद्ध है उनमें भी अवस्थानुसार कर्म किया जाना संभव है।

इसी दृष्टिकोण में चरक कहते हैं कि छर्दि, हृद्रोग और गुल्म में वमन निषेध होते हुए भी अवस्थानुसार किया जाता है। अत: उहापोहपूर्वक चिकित्सा करें।[४१] वातज गुल्म में कफ वृद्ध होने पर, अरुचि तंद्रा, गौरव, हृल्लासादि लक्षण मिलने पर वमन करने का निर्देश किया है।[४२] छर्दि में तथा कफज हृद्रोग में इसी तरह वमन योग्य कहा गया है। उदावर्त में फलवर्ति, बस्ति आदि का उपयोग न होने पर वमन (ऊर्ध्व शोधन) कराने का निर्देश है।(च. चि. २६-१६)

अयोग्यों को वमन कराने से संभाव्य विकार[४३]

१. क्षतक्षीण में वमन कराने से क्षत में व्रणोत्पत्ति होकर रक्त की अति प्रवृत्ति होती है।

२. क्षीर, अतिस्थूल, अतिबाल, वृद्ध, दुर्बल, इनमें वमन से औषधि द्वारा आवेगजन्य क्लेश, सहन करने की क्षमता न होने से प्राणोपरोध (भयंकर रुजा) होता है।

३. थके हुए, भूखे, प्यासे, आतुरों में भी वमन करने से उपरोक्त प्रकार से प्राणोपरोध होता है।

४. काम करने से थके हुए, रास्ता चलने से , उपवास, मैथुन, व्यायामादि से थके हुए, चिंताप्रसक्त, क्षाम (जर्जर) आतुरों में पहले ही रुक्षता होती है, वमन से रुक्षता बढ़कर वातप्रकोप से रक्तस्राव अथवा क्षत का भय होता है।

५. गर्भिणियों में गर्भव्यापद् आमगर्भ, गर्भभ्रंश उत्पन्न होकर भयंकर प्रकार के उपद्रव होते हैं।

६. संवृतकोष्ठ, दुच्छर्दनों में (जिन्हें वमन जल्दी नहीं होता) वमन से बहुत कुथन करना पड़ता है और प्रवाहण से अंत:कोष्ठ मे प्रसृत होकर वीसर्प स्तंम्भ, जाड्य, वैचित्य या मरण भी उत्पन्न करता है।

७. सुकुमारों में वमन कराने से हृदय में अपकर्षण (खींचा जाने जैसी पीड़ा) होकर, ऊर्ध्व भाग या अधोभाग से रक्त निकलता है। यहाँ हृदय से आमाशय अर्थ करने पर आमाशय भित्तियों के अपकर्षण से कला विच्छेद से रक्त की प्रवृत्ति होना संगत और प्रत्यक्ष है।

८. ऊर्ध्वरक्तपित्ती आतुर को वमन दिया जाये तो उदानवायु को ऊपर क्षिप्त कर प्राण को हरता है तथा रक्त की भी अति प्रवृत्ति होती है।

९. जिन्हें पहले से ही छर्दि हो रही हो उन प्रसक्त छर्दि आतुरों में भी उपर्युक्त दोष है। अर्थात् उदानवायु उत्क्षेपित होकर अतिच्छर्दि कर प्राण हरण करता है।

१०. ऊर्ध्ववात में (डकार) जिनको निरूह बस्ति दी है, अनुवासन बस्ति दी है, उनको वमन से वायु को ऊपर की तरफ प्रवृत्ति होती है।

११. हृद्रोगी आतुर को वमन कराने से हृदयोपरोध (हृदय बंद होना-Heart Fail) होता है।

१२. उदावर्ती आतुर को घोर उदावर्त होता है।

१३. मूत्राघातादि से पीड़ितों को वमन अत्यन्त तीव्र शूल करता है।

१४. तिमिररोग में तिमिरवृद्धि, शिर:शूल में शूल वृद्धि होती है।

इस तरह अवाम्य में साधारणत: निम्नांकित बातों को ध्यान में रखा हुआ प्रतीत होता है।

१. ऐसी व्याधि जिसमें आशुकारिता है– उदाहरण हृद्रोग, उदावर्त।

२. वे व्याधियाँ जो बहुत कर्षण कराती हैं– क्षतक्षीणादि।

३. वमन में दोषों को गति ऊर्ध्वभाग में होती है। ऐसे रोग जो इसी प्रकार के गति करते हैं– उदाहरण ऊर्ध्ववात, उर्ध्वगत रक्तपित्त, छर्दि इत्यादि।

४. अत्यंत दुर्बलावस्था– बाल, वृद्धादि।

५. मर्मस्थान के रोग हों– उदाहरण हृदय, शिर, बस्ति के रोग।

६. नाजुक अवस्था– जैसे गर्भिणी, सुकुमार आदि।

वमन विधिविधान

वमन कराने की पद्धति वमनविधि है। वमनविधि विधान का अब विचार करेंगे। चरक ने वमन पद्धति के विषय में कहा है–

"ततस्तं पुरुषं स्नेहस्वेदोपपन्नं, अनुपहतमानसमभिसमीक्ष्य, सुखोषितं सुप्रजीर्ण भक्तं, शिरस्नातमनुलिप्तगात्रं, स्वाग्विणमनुपहतवस्त्रंसंवीतं, देवाताग्नि द्विज गुरुवृद्धवैद्यानचिंतवन्तमिष्टे नक्षत्रतिथिकरणमुहूर्ते, कारयित्वा ब्राह्मणान्स्वस्तिवाचनं, प्रयुक्ताराशिभिरमंत्रिता मधुमधुक सैंधव फाणितोपेतां मदनफलकषायमात्रां पाययेत्।..." –च. सू. १५-९

अर्थात् वाम्य आतुर का स्नेहन स्वेदन करा कर, जिसका मन प्रसन्न है, रातभर सुखपूर्वक जिसे नींद लगी हो, रात्रि का भोजन अच्छी तरह जिसका पचा है, शिरपर्यंत जिसको स्नान कराया है। शरीर पर सुगंधी लेप किया है, सुगंधी फूलों की मालाएं पहनाई हैं, अच्छे न फटे हुए कपड़े पहनाए गये हो, जिसने देवता, अग्नि, गुरु, ब्राह्मण और वृद्ध वैद्य

की पूजा (सत्कार) की हो ऐसे व्यक्ति को इष्ट तिथि, शुभ नक्षत्र दिन देखकर, ब्राह्मणों द्वारा स्वस्ति वाचन (कल्याणार्थक प्रार्थना) कराकर अभिमंत्रित की हुई मदनफल कषाय मात्रा सैंधव और फाणित के साथ पिलावें।

इस सूत्र के अनुसार वमन की क्रिया में कुछ विशिष्ट मानस और शारीरिक कर्म करने का बोध होता है और तदुपरान्त वमन किया जाता है। अतएव यहाँ भी पहले क्रम के अनुसार पूर्वकर्म, प्रधानकर्म और पश्चात्कर्म के अनुसार विस्तृत विचार की अपेक्षा है। इसी क्रम से वमनविधि का विचार करेंगे।

(१) **पूर्वकर्म-** वमन के पहले किये जानेवाले कर्म निम्नोक्त शीर्षकों में विभक्त किये जा सकते हैं।

१. संभार संग्रह २. आतुर परीक्षा ३. मदनफल मात्रा विनिर्णय
४. आतुर सिद्धता :– १. वमन पूर्व भोजनादि व्यवस्था
२. स्नेहन-स्वेदन ३. मानसोपचार

१. संभार संग्रह– वमनौषधि पिलाने के पूर्व वमन क्रिया में तथा आगे जो-जो सभावनाएं हैं, उनकी सिद्धता करनी चाहिये। वामक औषधि के उचित प्रयोग से वमन उचित प्रकार का होगा, किन्तु किसी भी प्रकार से भूल होने पर महान उपद्रव हो सकते हैं अतएव उपद्रवों को भी ध्यान में रखकर पहले तैयारी करनी चाहिये क्योंकि क्रयविक्रय होते हुए भी अर्थात् पैसा और बाजार होते हुए भी ऐन समय पर इष्ट वस्तु इकट्ठी मिलेगी ऐसा नहीं है।[४४] उपद्रव उत्पन्न होंगे ही ऐसा नहीं है तथापि "उपायं चिंतयन् प्राज्ञों अपायमति चिंतयेत्॥" के अनुसार सभी सिद्धता करनी चाहिये। वमनादि कर्मों के लिए वक्ष्यमाण (उपकल्पना अध्याय) गृह बनाना पहला संभार समझना चाहिये। इसे गृह कहने से गृह के के लिये आवश्यक पाचक, स्नापक (स्नान करनेवाले सेवक), संवाहक (ले जानेवाले, लानेवाले, शरीर दबानेवाले सेवक) उत्थापक (उठानेवाला) संवेशक (कपड़े पहनानेवाले) इत्यादि परिचालकों का भी समावेश होता है। वमनकर्म में आतुर का सतत निरीक्षण में रहना आवश्यक है, अत: अपर्युक्त प्रकार का गृह (आतुरालय और पंचकर्म भवन) जहाँ हैं, वे वमन में प्रवृत्त होवें। प्रत्यक्ष वमन में निम्नोक्त परिचारक आवश्यक हैं।

१. **संवाहक**–लाना, ले जाना, बैठाने, उठाने के लिए–१।
२. **ललाट प्रतिग्रह**–कपाल पर मृदुतया मलने के लिए तथा शंख प्रदेश को –१।
३. **पार्श्वोपग्रह**–पसनियों को मसलने के लिए –१।

४. **पात्र प्रतिग्रह**–जिस पात्र में वमन किया जाता है, उसे पकड़ने के लिए एक व्यक्ति हो। वस्तुत: वमन पीठ पर आतुर को बिठाकर उसके सामने स्टूल पर पात्र रखते हैं, तथापि प्रतिवेग में पात्र में विसर्जित वमन द्रव्यों को दूसरे बड़े बकिट में डालने के लिऐ, वमित द्रव्यों की प्रयोग शालाकीय (Laboratory test) परीक्षा करनी हो तो अलग-अलग नमूने (Specimen) तैयार करने के लिए पात्र के बाहर उत्सर्जित मलों के द्वारा उत्पन्न गंदगी साफ करने के लिए यह सेवक दक्ष रहें। सामान्यत: इस काम में एक झाड़ूवाला (Sweeper) भंगी नियुक्त करें।

वमनगृह में–वमनोपयोगी औषधियां रखने के लिऐ स्वच्छ पात्र, वमित उत्सर्जित

द्रव्य रखने के लिए छोटे बड़े एनेमेल तथा अन्य धातु के पात्र। बकिट, बेसीन, गिंडी, बाउल इत्यादि के आकार के हों। परीक्षणोपयोगी कांच की नलिकाएँ (Test tube) मेजरग्लास, फांट, क्वाथ, दूध, उष्णोदक रखने के लिए, बनाने के लिए छोटे बड़े पात्र, वस्त्रखंड, छोटे नेपकिन के आकार के, बड़े टॉवेल के आकार के तथा आतुर को वस्त्रावृत्त करने के लिए पर्याप्त आकार के (धोती के आकार के) आदि वस्तुएँ संग्रहीत करें। कमलनाल, मृदु स्पर्शी कोई वस्तु (रबर इत्यादि) (गले को उत्तेजित करना हो तो), अंगारधनिकायें अथवा इलेक्ट्रिक हीटर, इत्यादि छोटी बड़ी संभारसामग्री बुद्धिपूर्वक जमावे।

औषधि–मदनफल योग या वमनयोग संग्रह करें। वमन के अनेक योग अध्यायान्त में वर्णित हैं। उनमें से यथायोग योग ले। सामान्यत: उपयोग के लिए नीचे का योग बहुत लाभकारक है, जो चिकित्सा पर्याय में निर्दिष्ट है।

मदनफल योग–मदनफल-४ भाग, वचा-२ भाग, सैंधव-१ भाग एकत्र अच्छी तरह मिलाकर (मर्दन कर) रख दे। इस चूर्ण को आधे से एक तोला मात्रा में पर्याप्त मधु के साथ संमिश्र कर तैयार रखें।

मदनफल योग सेवन् के पूर्व वमनोपग द्रव्य–इक्षुरस, मद्य, दूध, मांसरस, इत्यादि पिलाना होता है–यह आकंठ पिलाने का विधान है। अतएव इसमें से कोई द्रव्य ६ से ८ पौंड प्रमाण में संग्रहीत करें। साधारणत: दूध हो तो ३ पौंड से ४ पौंड और इक्षुरस ६ पौंड तक लें। इन दोनों का ही उपयोग अधिक प्रशस्त है।

उपद्रवों में अनेक औषधियों की आवश्यकता होती है। उपद्रव में वर्णित तत्तद् चिकित्सौषध तैयार रखे। सामान्यत: पाचन, दीपन, शूल हरण, पित्तशागक, हृद्य, बल्य तर्पण और शोधन द्रव्यों को संग्रहीत करें। इसमें सूतशेखर रस, प्रवालपिष्टि, शंखभस्म, शंखवटी, शिवाक्षार, पाचन चूर्ण, हेमगर्भ पोट्टली रस, दशमूलारिष्ट, द्राक्षासव, द्राक्षासिद्ध जल, शर्करा जल इनको संग्रहीत करें।

१. **आतुर परीक्षा**–वाम्य आतुर की स्नेह काल से लेकर प्रतिदिन अत्यन्त सचेत परीक्षा करनी चाहिये। प्रथम तो आतुर वाम्य है या नहीं इसका ही नि:संदिग्ध निर्णय करें। पीछे कहा ही गया है कि अवाम्य को वमन कराने से दारुण उपद्रव हो सकते हैं। अत: यह पहला अवसर (First Stage) है जहाँ वैद्यनिमित्त से ही व्यापत् का मूल प्रारम्भ होता है। वाम्य आतुर का भी प्रतिदिन परीक्षण कर वह वमन के दिन कोई 'अवाम्य' व्याधि से पीड़ित तो नहीं हुआ है इसका ज्ञान करा ले। यदि आतुर को इस प्रकार की कोई भी मानस या शारीरिक व्याधि उत्पन्न हुई हो तो पहले उसकी चिकित्सा करें। व्याधि चिकित्सा के बाद उतने ही दिन तक जितने दिन तक चिकित्सा के बाद उसे उपद्रव शमित हुआ हो और उसे विश्रांति दे।[४५] यहाँ व्याधि का मतलब अकस्मात उत्पन्न नई व्याधि से है, न कि वमन योग्य पहले की व्याधि। अतएव आतुर की स्नेहकाल से–नाड़ी, मूत्र, मल, जिव्हा, शब्द, स्पर्श, चक्षु और आकृति इनको प्रतिदिन नोट करें और निर्णय करें कि वमन कराया जा सकता है। प्राय: वमन के भय से आतुर को मनसोपघात, हृदद्रवत्व, ज्वर, अतिसार या संछर्दि (स्नेहपान से ही संभव है)। भ्रम इत्यादि होता है। यहाँ मानसिक तथा शारीरिक उपचार करें। आतुर परीक्षा के बारे में चरक का एक संदर्भ उत्यन्त बोधक है। अग्निवेश ने आत्रेय से प्रश्न पूछा कि सम्यक् प्रयोग से सम्यक् फल मिलता है और असम्यक् प्रयोग से व्यापद होती है। वैद्य तो सम्यक्

प्रयोग ही करेगा– फिर आप कहते है, उन व्यापद का डर क्यों है ? इसका अर्थ है कि ज्ञान और अज्ञान में कोई फरक नहीं रहा। सम्यक् प्रयोग करने पर भी व्यापद हो सकती है और असम्यक् प्रयोगसे भी रोग शांति और कर्म साफल्य हो सकता है। अत: वैद्य के ज्ञान कौशल्य का महत्त्व नहीं रहता।[४६] इसके उत्तर में आत्रेय ने कहा है कि कुछ थोड़े से चिकित्सक ऐसे हो सकते हैं जिनसे प्रयुक्त औषध एकान्तत: सिद्ध हो, किन्तु सब लोग शास्त्र में उपदिष्ट में यथावत उत्साह नहीं दिखाते अतएव व्यापद ही संभावना होती है। वैसे ही दोष, भेषज, देश, बल, काल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्व, प्रकृति, वय इनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएं इतनी सूक्ष्म होती हैं कि ये तो विमल और विपुल बुद्धिमान (शास्त्रज्ञ तथा अनुभवी) वैद्यों को भी भ्रम उत्पन्न करती है (कर्म करें कि न करें यह भ्रम) फिर अल्प मतिवालों की तो क्या कहनी ?[४७] अतएव सभी सामग्री भी होनी चाहिये और निरीक्षण तथा परीक्षण में भी सतर्क रहे।

यहाँ आतुर को दोष, भेषजादि ११ विषयों से परीक्षा करने का उपदेश है। दोष, क्षय, वृद्धि, समत्व, ऊर्ध्वगमन, अधोगमन, तिर्यग्गमन, शाखाश्रय, कोष्ठाश्रय, मर्माश्रय, स्वस्थान में रहना, अन्य स्थान में जाना, स्वतंत्र दोष, परतंत्र दोष, साम, निराम बहुदोष, मध्यदोष, अल्पदोष इत्यादि भिन्न-भिन्न प्रकार से दोष की परीक्षा कर वाम्यादि का विचार करें। भेषजविस्थांतरों को तरुणत्व, वृद्धत्व, आर्द्रत्व, शुष्कत्व, द्रव्यांतरसंयुक्तत्व, स्वरसादि कल्पना योनित्व रसवीर्य विपाक, प्रभाव इत्यादि से आतुर शरीर में किस तरह कार्यकर होगा यह परीक्षण करें। देश-आनूप, जांगल, साधारण, प्रशस्तादि भेद से परीक्षित करें। काल-ऋतुभेद, रोगी अवस्था के अनुसार व्याध्यवस्थादि से देखें।

शरीर–स्थूलकृशसारत्व, नि:सारत्व रक्षणीय मर्म, दृष्टि इत्यादि अवयवों की परीक्षा से परीक्षा करें। आहार परीक्षा में प्रकृति, करण, संयोग, राशि इत्यादि भेद से, सात्म्य-देशसात्म्य, कालसात्म्य, व्याधिसात्म्य भेद से तथा प्रकृतिसात्म्य और अभ्यास सात्म्य के अनुसार परीक्षित करें। सत्व-भव, शौर्य, विषाद, द्वेष, हर्ष इत्यादि से तथा प्रवर, मध्य, अवर प्रकार से परीक्षित करें।

प्रकृति–में वातादि प्रकृति , कालगर्भाशयादि प्रकृति इत्यादि द्वारा परीक्षण करें। वय-बल्य, यौवन, वार्द्धक्य इत्यादि तथा अवांतर भेदों से परीक्षित करें। इस तरह से परीक्षाएं व्यापक और समर्पक ढंग से कर वमनादि के लिए आतुर को सिद्ध करना चाहिये।

३. वमन योग मात्रा विनिर्णय

मदनफलादि वमन योगों की मात्रा प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग होती है। चरकादि आचार्यों ने मात्रा देते समय विचारणीय निम्नलिखित प्रकार का निदेश किया है।

(१) मदनफल कषायमात्रा सभी संशोधनौषधि के समान प्रत्येक पुरुष में अलग-अलग प्रकार की होती है। जिसको जितना शोधन द्रव्य देने से वैकारिक दोषहरण होता है, अयोग या अतियोग उत्पन्न नहीं होता उतनी मात्रा में ही उसे औषध पिलाना चाहिये।[४८]

(२) सुश्रुत ने कहा है कि व्याधि, बल, पुरुष बल (शरीर) और अग्नि बल देखकर मात्रा निश्चित करे। क्योंकि

१. व्याधिबल से अधिक बलवान दी हुई मात्रा व्याधि का प्रशमन करती है और दूसरी व्याधि उत्पन्न करती है। और

२. अग्निबल से अधिक दी हुई मात्रा अजीर्ण और विष्टंभ कर पचन होती है।

३. पुरुष बल से अधिक दी हुई मात्रा ग्लानि, मद और मूर्च्छा उत्पन्न करती है। वैसे ही शोधन औषधि क्रमश: अति प्रवृत्ति, अप्रवृत्ति को भी करती है। अतएव मात्रा समप्रमाण में दें।[४९]

(३) इसी को अष्टाँग संग्रह में वाग्भट ने भी विशद करते हुए कहा है कि मात्रा की कोई निश्चिति नहीं है। व्याधिबल, कोष्ठ, वय, देश और काल को देखकर मात्रा निर्णय करें। यहाँ वाग्भट ने कोष्ठ, वय, देश और काल ये अधिक कहे है।[५०]

(४) बहुत बार पुरुषबल, दोषबल और व्याधिबल देखने में भूल हो सकती है। व्याधिदुर्बल व्यक्ति में इनका विचार निश्चय करना बहुत कठिन होता है। अतएव दोषादि की सूक्ष्म अवस्थाएं विचारार्ह होती हैं। दोष अपने स्थान से यदि चलायमान हुये हों और कोष्ठ मृदु हो, ऐसे आतुर में शारीरिक बल का विचार न करते हुए दुर्बल को भी शोधन देने को कहा है।[५१]

(५) चरक ने मात्रा के बारे में कहा है कि वह मात्रा श्रेयस्कर है, जो अल्प प्रमाण में प्रयुक्त करने पर अधिक दोषों को निकालने में क्षम हो, वेग अच्छी तरह लाती हो, जो सुखपूर्वक पच जाती हो, व्याधि को दूर करने में क्षम हो और कोई दूसरे विकार या व्याधि को उत्पन्न न करती हो, जो अधिक ग्लानि न करें और जिसका गन्ध, वर्ण, रस सेवन करने योग्य हो, वह श्रेष्ठ है।[५२]

इस तरह मात्रा के सामान्य सिद्धान्त ध्यान में रखते हुए नीचे के विशेष सिद्धान्तानुसार व्यक्त्यनुसार मात्रा दें।

१. व्याधिबल, अग्निबल, रोगीबल मध्यम हो तो क्वाथ की मात्रा एक अंजली (४ पल-१६ तोला) देनी चाहिये। चूर्ण की मात्रा विडालपदक–एक तोला और कल्क की मात्रा भी एक अक्ष अर्थात् १ तोला दें। यहाँ क्वाथ का अर्थ शृतशीव, फांट की ही मात्रा १६ तोला है। स्वरस, क्षीरादि गुरु होने के कारण इससे कम देने चाहिये।[५३]

२. चरक ने मदनफल पिप्पलियों को अंतर्नख मुष्ठि (नखों को अंदर की ओर कर मुठ्ठी में समाए उतना प्रमाण) प्रमाण में देने को कहा है।[५४] अथवा यथा योग्य दें।

३. शाङ्र्गधर ने वमनार्थ मात्रा निम्नोक्त प्रकार की कही है। क्वाथ मात्रा–उत्तमात्रा-९ प्रस्थ = ५७६ तोला, मध्यम मात्रा = ६ प्रस्थ = ३८४ तोला, और कनीयसी मात्रा (हीना) ३ प्रस्थ = १९२ तोला देनी चाहिये और कल्क, अवलेह तथा चूर्ण की उत्तममात्रा- ३ पल (१२ तोला), मध्यम मात्रा २ पल (८ तोला) और कनीयसी मात्रा १ पल (४ तोला) की होनी चाहिये।[५५] यह मात्रा बहुत अधिक प्रतीत होती है। अन्यथा क्वाथ की मात्रा–बारंबार दी जाती है वह वमनोपग क्वाथ मात्रा समझनी चाहिये। जो करीब ५-६ सेर प्रमाण में लग सकता है। भावप्रकाश ने भी शाङ्र्गधरोक्त प्रमाण निर्दिष्ट किया है।

वमन द्रव्यों की अनुभूत मात्रा सुश्रुत के मत के अनुसार मेल खाती है। क्वाथ देना हो तब ४ औंस से ८ औंस (१० तो-२० तो) तक दे सकते हैं और चूर्ण–कल्क १ तोला तक देना चाहिये।

यहाँ उपयुक्त किया हुआ मदनफल योग भी १ तोले प्रमाण में देना चाहिये।

४. **आतुर सिद्धता**–वमन के लिए आतुर को सिद्ध करना यह सबसे महत्त्व का पूर्वकर्म हैं। आतुर सिद्धता में आहार व्यवस्था, स्नेहन, स्वेदन और मानसोपचार का विचार है।

(१) **वमनपूर्व भोजनादि व्यवस्था**– वाम्य आतुर की भेजन व्यवस्था, स्नेहकाल में, स्नेहांत काल–अर्थात् वमन के पहले दिन और वमन के दिन ऐसी तीन काल में अलग - अलग होती है। स्नेहकाल की भोजन व्यवस्था स्नेहाध्याय में कह आये हैं। वैसी अर्थात् नाति स्निग्ध, लघु, उष्ण, अनभियंष्दी भोजन दे । स्नेहपान यदि उत्तम प्रकार का हो तो वह २४ घंटे में जीर्ण होता है–अत: भूख नहीं लगती, तथापि स्नेहान्त दिन और विश्रामदिन-वमन स्नेहपान के एक दिन के बाद किया जाता है उसे विश्राम दिन कहते हैं– उस दिन सायंकाल को ग्राम्य, आनूप, औदक मांसरस (मछली इत्यादि) दूध, दही, उड़द, तिल तथा अन्य अभिष्यंदी शाकादि भोजन देकर कफ का उत्क्लेश करना चाहिय।[५६] क्योंकि कफोत्क्लेश से वमन अच्छा होता है।[५७] दोषोत्क्लेश कारक आहार कराकर वमन कराना सुश्रुत और वाग्भट ने भी कहा है।[५८] तथापि कोई ऐसा मतभेद बताते हैं कि यह वमन के दिन देना चाहिये, तथापि चरक ने वमन के दिन और वमन के पहले दिन का आहार अलग-अलग प्रकार से वर्णन किया है अत: संदेह का क्षेत्र नहीं है। सामान्यत: वमनपूर्व रात्रि में उपरोक्त प्रकार का भोजन दें। इसमें द्रवांश अधिक होने से जल्दी पचन होता है, और सायं भोजन पचने के बाद ही वमन दिया जा सकता है। अत: यह आहार उपकारक होता है। यह आहार कफ, क्लेद और द्रव धातु को बढ़ाकर उन्हें कोष्ठोन्मुख करता है।

वमन के दिन प्रात: जो अधिक स्निग्ध न हो ऐसी यवागु घी के साथ दें।[५९] वमन के दिन यवागु या दूध या घी देने को कहा है। रिक्तामाशय में वमन नहीं करना चाहिये। यदि आतुर को इतने सुबह भोजन लेना ठीक न लगता तो– उसे १ से २ सेर दूध पिला देना चाहिये। वाग्भट ने भी निरन्नातुर को ईषत् स्निग्धपेया, या घी देने का निर्देश किया है।[६०]

संक्षेप में–

१. स्नेहकाल में अनभिष्यंदी, लघु उष्ण भोजन दें।

२. स्नेहांत और विश्रामकाल में वमनपूर्व दिन दूध, दही, मांसरस, तिल, उड़द इत्यादि से कफोत्क्लेशकर भोजन दें।

३. वमन के दिन–पेया, घृत यवागु या तो केवल दूध पिला दें।

(२) **स्नेहन स्नेदन**-- वमन के पूर्व स्नेहन स्वेदन कराकर ही वमन किया जता है।[६१] चरक, सुश्रुत, वाग्भट तीनों ने स्निग्धं स्विन्नं के बाद ही वमन का निर्देश किया है। यहाँ स्नेहन से आभ्यंतर, बाह्य दोनों का ग्रहण करना चाहिये। आभ्यंतर स्नेहपान ३ से ७ दिन तक करना चाहिये। यह रोगानुसार अलग-अलग प्रकार का होना चाहिये।

सम्यक् स्निग्ध लक्षण के बाद आतुर को स्वेदन करें। आभ्यंतर स्नेहपान के बाद एक दिन ठहरकर वमन किया जाता है। चरक ने वाम्य आतुर को २ या ३ दिन तक (बाह्य) अभ्यंग और स्वेदन करने को कहा है। जिस दिन स्नेहपान पूर्ण होना हो (पानस्नेहान्त) उस दिन, उसके दूसरे दिन अर्थात् विश्रामदिन (एकाहोपरतस्तद्वत् भुक्त्वा प्रच्छर्दनं पिबेत्) और

वमन के दिन प्रात: ऐसे तीन दिन अभ्यंग और स्वेद करना चाहिये।[६२] स्वेद में वाष्प स्वेद करना चाहिये। स्वेद प्रकरण में, वाष्प स्वेद में "वाष्प स्वेद" का अन्य प्रकार से जो स्वेद कहा है– वह वाष्प स्वेदन यंत्र पर किया जाता है अत: वह सार्वदैहिक होने से यहाँ प्रशस्त समझे। स्नेहपान, अभ्यंग तथा वाष्पस्वेद दोषों का क्लेदन, द्रवीकरण तथा कोष्ठाभिगमन होता है जिससे वमन से उनको सुख पूर्वक निकालना संभव होता है।

(३) **मानसोपचार**-आतुर को हमेशा प्रसन्न रखना बहुत आवश्यक है। उसे पहले ही वमन में क्या-क्या किया जाएगा वह समझाना चाहिये। स्नेहपान, स्वेद, भोजन तथा वमनोपयोग द्रव्य (आकंठ पिलाये जाएंगे) सेवन, वमनोत्तर संसर्जन क्रम इत्यादि सभी उसे पहले कहना और उसकी सम्मति लेना अच्छा होता है। अन्यथा समय पर किसी विधान में आनाकानी करें तो मुश्किल होती है। वमन उसकी व्याधि के लिए नितांत आवश्यक और लाभप्रद है यह उसे समझाकर उसे तैयार करें। इसी तरह वमन के लिए उसके मन में उपस्थित भय, लज्जा को दूर करना चाहिये। क्योंकि भय, चिंता, लज्जा इत्यादि भावों से युक्त होने पर वमन ठीक नहीं होता। आतुर की मानसदशा उत्तम हो इसीलिये संभवत: चरक ने अनेक कर्मों की मालिका–

१. शिरपर्यन्त अच्छी तरह स्नान कराना

२. शरीर पर सुगंधी तेल लगाना

३. सुगंधी फूलों की मालाएं पहनाना

४. अच्छे-अच्छे शोभावंत न फटे हुए कपड़े पहनाना

५. देवता, अग्नि, ब्राह्मण, गुरु, वैद्य का सत्कार करना

६. ब्राह्मणों द्वारा स्वस्ति वाचन होना तथा मंगल की कामना करना और

७. शुभ नक्षत्र शुभ तिथि करण मुहूर्त देखकर वमन कराना, ये क्रियाएँ–

इसी हेतु से दी है ऐसा प्रतीत होता है, और इसीलिये जो प्रवरसत्य है, इन सबमें मानता न हो, तो उसे वमन के आवश्यक स्नेह स्वेदादि से स्वच्छ कपड़े पहनाकर वमन कराया जावे।

पूर्वकर्म का सारांश

१. सभी वमनोपग सामग्री बुद्धि पूर्वक संग्रह करें।

२. आतुर की दोष, भेषज, देश कालादि भावों से परीक्षा करें, तथा प्रतिदिन नाड़ी, मूत्र, मल, जिह्वा, शब्द, स्पर्श, दृग्, आकृति की परीक्षा से अवाम्य व्याधि उत्पन्न नहीं है इसकी खात्री करें।

३. मदनफलादि द्रव्यों की आतुर परीक्षा पूर्वक मात्रा निश्चित करें और

४. आतुर को कफोत्क्लेशकर आहार, स्नेहन, स्वेदन तथा मानसोपचार से वमन के लिये सिद्ध करें।

प्रधान कर्म

वमनौषधि पिलाकर, वमनवेग पूर्ण होने तक जो जो कार्य किये जाते हैं उनका प्रधान

कर्म में अंतर्भाव होता है। प्रधान कर्म निम्नलिखित विषयों के आधार पर किया जाना चाहिये। अथवा इसमें अध्ययनीय तथा कर्म करणीय ये अवस्थाएं (Stages) होती हैं ऐसा समझना चाहिये।

१.मदनफल योग का सेवन
२.आतुरपरिचर्या एवं निरीक्षण
३.वमनवेगों का विनिर्णय एवं कर्तव्य
४.सम्यग्-हीन-अति वांत के लक्षणों का निरीक्षण तथा कर्तव्य
५.वमन व्यापत् निरीक्षण एवं तत्प्रतीकार

यहां मदनफल योग सेवन उपलक्षण मात्र है। अन्य किसी भी वामक औषधि का सेवन करना हो तो भी यही विधि है, किन्तु विशेषत, सुकर होने से, तथा वमन में श्रेष्ठ होने से मदनफल योग ही दिया जाता है, तथा ग्रंथ में भी औषधि सेवन के समय इसी नाम से उल्लेख किया गया है अत: यहां वहीं शीर्षक दिया गया है।

१. मदनफल योग का सेवन[६३]

स्नेहन और स्वेदन के बाद आतुर को वमन कक्ष में जानु के जितने ऊंचे आसन पर अथवा वमनपीठ पर बिठावें। यह आराम की कुर्सी-प्रशस्त और मृदु (spring या कुशन की) तथा बाजू में भी नरम गादी से स्पर्श सुखवाली, और पीछे यदा-कदा आवश्यकतानुसार सिर को आराम से टिका सके ऐसी शिर:पीठ वाली विशिष्ट पीठिका (कुर्सी) होती है। आतुर को गले से लेकर नीचे तक सर्वांग में स्वच्छ एवं शुभ्र वस्त्र से आवृत्त करें। यह वस्त्र वमनोत्सर्जित द्रव्य आतुर शरीर पर या उसके कपड़े पर न गिरे इसलिये है। कुर्सी के दोनों बाजू पर एक-एक सफेद उपवस्त्र-टॉवेल या नेपकिन लटकाकर रखे। यह बारंवार मुख साफ करने के लिए उपयोगी होगा। आतुर की पुन: नाड़ी, श्वास, ताप (और ब्लडप्रेशर भी) देखकर परीक्षा कर नोट रखें। तत्पश्चात् आतुर को दूध, इक्षुरस, मांसरस, मद्य कोई भी वस्तु आकंठ (पेटभर) पिला दे। साधारणत: इक्षुरस ४ से ६ पौंड जरूरी होता है और दूध या इक्षुरस ही देना अच्छा है। इक्षुरस मधुर शीत के कारण कफ वर्धन होता है, और पीने के लिए सुखकर हैं, तथा इसमे एक विशिष्ट प्रकार का उत्क्लेशकर स्वाद होता है जो ज्यादा मात्रा में रस पीने पर गले में सतत उत्तेजित करता है। यह पिलाने की विधि ऐसी है कि १० से १२ औंस वाली एक कटोरी, ग्लास या मेजरग्लास पास में रखें और जितने बार उसे पिलावे उसको नोट रखे। साधारण आतुर में ३० से ४० औंस पीने पर तृप्ति होती है। कभी-कभी ६४ औंस तक पिलाना होता है। इक्षुरस पिलाने के बाद मदनफलयोग आधे से एक तोले तक मात्रा में मधु के साथ चटा दें। इस योग में कटु, तिक्त और विशिष्ट उत्क्लेशकर स्वाद तथा गंध होता है इसलिये जल्दी जल्दी चटा दें। अन्यथा लालास्राव प्रारंभ होकर आगे औषध पिलाना शक्य नहीं होगा। मृदु एवं सुकुमार प्रकृतिवालों को अच्छा तरीका यह है कि आंख और नाक पर पट्टी बांध दे और औषध पिला दें। चरक ने यष्टीमधु आदि क्वाथ में मदनफल पिप्पलियों को रखकर (अंतर्नख मुष्टिकरीब १ से १॥ तोला) उसे रात्रिभर रख, प्रात: हाथ से अच्छी तरह मलकर पिलाने को कहा हैं। सुश्रुत ने सुकुमार, बाल, कृश, वृद्ध, भौरु इनको दूध, छाछ, यवागु, दही इनमें से कोई वस्तु आकंठ पिलाकर उसके बाद वमनद्रव्य पिलाने को कहा है।

वमनद्रव्य–मदनफल योग इत्यादि पिलाते समय निम्नोक्त मंत्र का घोष करने का विधान है—

मंत्र– "ॐ ब्रह्मदक्षाश्विरुद्रेंद्र भू चंद्रार्कानिलानलाः।
ऋषय: सौषंधिग्रामा भूतसंघाश्च पांतु ते।। (वः)।
रसायनमिवर्षीणां देवानामृतं यथा।
सुधेवोत्तम नागानां **भैषज्यमिदमस्तुते।।**

वाग्भट ने इसमें कुछ फरक कर नीचे और इस तरह अधिक मंत्र दिया है—

ॐ नमो भगवते भैषज्य गुरवे वैदूर्यप्रभराजाय।
तथागताऽर्हते सम्यग् संबुद्धाय। तद्यथा।
ॐ भैषज्यै भैषज्ये महाभैषज्ये समुद्गते स्वाहा।।

इस मंत्र का अर्थ यह है— "ब्रह्मदेव, दक्ष, अश्विनीकुमार, रुद्र, इंद्र, पृथ्वी, चंद्र, सूर्य, वायु, अग्नि, ऋषि, औषधियों के समूह, और भूत समूह, तुम्हारी रक्षा करें। ऋषियों के लिये जैसे रसायन, देवों के लिये जैसे अमृत, नागों के लिये जैसे सुधा (अमृत) उत्तम है, वैसे ही यह औषधि तुम्हारे लिये प्रशस्त हो जाये।

भैषज्य के गुरु, वैडूर्य के समान प्रभावाले भगवान के लिये तथा आये हुए 'अर्हत' के लिये जो ज्ञानवान है (अथवा भगवान बुद्ध को) ॐ नमस्कार है। ॐ भैषज्ये, भैषज्ये महाभैषज्ये अच्छी प्रकार से बनी हुई औषधि— के लिये स्वाहा है।"

इस मंत्र से अभिमंत्रित औषधि पूर्व या उत्तर की ओर मुख किये हुए आतुर को पिलावे। भारतीय संस्कृति आस्तिक परंपरा की ओर दैव तथा देववादी है। अत: मंत्र, स्वस्ति वाचन, होम, इत्यादि का निर्देश स्थान-स्थान पर मिलता है। वमन यह पंचकर्म में एक महत्त्वपूर्ण कर्म (Major operation) है। अत: रोगी के कल्याण की कामना करना और इसमें नैष्ठिकी उपाय करना अभिप्रेत है। वैसे ही सामान्यत: आतुर मन की अवस्था को देखकर ये विधियां उसको मानसिक शांति, विश्वास और दृढ़ बल उत्पन्न करने में सहायक होती है, और मनोबल से ही अनेक कठिन परिस्थितियों का आसानी के साथ सहन किया जाता है।

वमनौषधि पिलाने में शास्त्रसंमत ३ प्रकार के मत दृष्टिगोचन होते हैं :–

(१) एक मतानुसार दूध, दही, यवागु, मांसरस, मद्य इत्यादि द्रव्यों को वामक औषधि (मदन फलादि) से संस्कारित कर, पिलाकर वमन कराये।

(२) दूसरा मत ये पिलाकर पुन: मदनफलादि औषधि सेवन करावे।

(३) यष्टीमधु आदि क्वाथ (मदनफल युक्त) बारंबार पिलाकर वमन करावे।

प्रत्यक्षत: वमन में दूध, गन्ने का रस आकंठ पिलाकर औषधि सेवन कराकर, आवश्यकतानुसार वगनोपग यष्टीमधु आदि फांट पिलाकर वमन कराना प्रशस्त है।

२. आतुर परिचर्या एवं निरीक्षण[६४]

वमनौषधि पिलाने के बाद, वैद्य या परिचारक अपने हाथों को आँचपर गरम कर, आतुर के मुख, वक्ष, पृष्ठ, पार्श्व पर सुखोष्ण स्पर्श करें और एक मुहूर्त तक निरीक्षण करें।

एक मुहूर्त ४८ मिनिट का होता है। इसकाल में आतुर के ललाटपर स्वेद बिंदु दिखाई देते हैं, उनके रोंगटे खड़े होते हैं और पेट फूलता है, तथा मुख से लालास्राव होने लगता है। जब कपाल पर पसीना आता है तो समझना चाहिये कि दोष स्रोतों में शिथिल हो रहे हैं और उनमें चलायमानता, द्रवत्व, ऊर्ध्वगामित्व उत्पन्न हो रहा है। रोमहर्ष से समझना चाहिये कि दोष अपने स्थान से कोष्ठ की ओर आ रहे हैं, कुक्षि फूलने से समझे कि कोष्ठ में आ गये हैं और हल्लास-लालास्राव से समझे कि वह आमाशय से ऊपर मुख की ओर आ गये हैं। जब लालास्राव उत्पन्न हो तो रोगी को कहे कि—वह सामने की ओर किंचित् झुककर (स्टूल पर रखे हुए वमन पात्र में), मुख तालु ओष्ठ कंठ को निवृत कर ज्यादा परिश्रम न करते हुए अनुदीरित या अल्पोदीरित वेगों को प्रवृत्तकर पात्र में वमन करें। यदि वमन न होता हो तो आतुर अपने अंगुली से कमलनाल से, एरंड की शाखा की डंठल से (या रबर नालिका से) गले के अंदर स्पर्श करते हुए वेगों को प्रवृत्त करें। यदि आतुर को तब भी वमन न हो तो परिचारक मदनफलयोग मधु के साथ मिलाकर अपनी अंगुली पर लगाकर उससे गले में स्पर्श करे और प्रतिसारण करें। इससे कुछ सेकंड में ही वमनवेग प्रारंभ होता है।

औषधिपान के अनंतर स्वेद प्रादुर्भावादि लक्षणों के समय तथा वमनवेग में आतुर के पीछे खड़ा हुआ परिचारक आतुर की पीठपर प्रतिलोम (नीचे से ऊपर) सहलाता रहे और शंख ललाट को हाथ से दबाए रखें—जिससे आतुर को सुख मिलता है और वेग भी प्रवृत्त होता है।

वास्तव में मुहूर्त—४८ मिनिट का कालावधि है, उसमें २-३ वेग निश्चित ही होते हैं, तथापि यह कालावधि इतनी हो जाती है कि तब तक राह देखना रोगी के लिए बहुत कष्टप्रद होत है। ४८ मिनिट के बाद यदि वेग प्रवृत्त न हो तो वमन के लिए—सरसू, आमलक, पिप्पली इनके कल्क से या जल से या लवणोदक से (नमक का जल) पिलाकर वमन कराने को कहा है। ये सुखोष्ण होने चाहिये। भेल ने वेगप्रवृत्त न होने पर केश चूर्ण और मक्षिका तक्रमंड के साथ देने को कहा है इससे वमन होता है।[६५] तथापि इस विधि में समयापहरण और रोगी को तकलीफ दोनों की संभावना रहती है। अत: प्रत्यक्ष प्रयोग में औषध पिलाने के बाद १५ से २० मिनट तक राह देख कर चरकोक्त यष्टीमधु फांट को बारंबार पिलाना चाहिये। इस तरह जितनी बार क्वाथ पिलाया जायेगा उतनी बार वमन होगा। इससे वैद्य जब उचित समझे तब वमन बंद करा सकता है अतएव प्रत्येक वमन वेग के बीच में फांट पिलाकर वमन कराना प्रशस्त है। अगर वमन को अधिक समयतक प्रतीक्षा करते रहे तो बहुत बार वमन औषध जीर्ण होने का तथा, इक्षुरस इत्यादि द्रव ऊर्ध्व आमाशय से अधो आमाशय की ओर चले जाकर आमाशय रिक्त होने का संभव रहता है और आमाशय रिक्त होने पर वमनवेग में रोगी को अधिक कष्ट होगा।

रोगी का निरीक्षण करते हुए वेगकाल में वैद्यों को निम्नलिखित वमन पत्रक के अनुसार नोंद रखनी चाहिये।

प्रत्येक समय—आतुर की नाड़ी तथा श्वास संख्या नोट करें। तथा हृदय परीक्षा करें। जरुरत हो तो ब्लडप्रेशर भी ले और उसका सतत निरीक्षण करता रहे। वेगकाल में उत्सर्जित द्रव्यों का मान तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध की परीक्षा करें। इससे दोषों की आभ्यंतरावस्था में संभाव्य गुणकर्मों का विकृति के साथ रहनेवाला कार्य कारण भाव समझा

जा सकता है और आगामी चिकित्सा में उसका लाभ होता है। शब्द परीक्षा से वमन में घोष होता है बिना घोष का वमन होता है यह देखे। अति घोष और अल्प द्रव्योत्सर्जन वायु का प्रकोप दिखाता है। अल्प घोष से वमन होना अच्छा है। स्पर्श से उत्सर्जित द्रव्य में पैच्छिल्य, वैशद्य, तंतुमत्ता का ज्ञान करावे। इससे कफ तथा क्लेद का ज्ञान होगा। रूप परीक्षा से वर्ण देखे—वर्ण में फांटवर्ण को ध्यान में रखकर परीक्षा करें। कफ का वर्ण देखे। पीताभ,

वमन पत्रक

रोगीनाम- वय- लिंग- रोगनाम-
तिथि-

समय	अवस्था	अंतर्गत द्रव्य	प्रमाण	उत्सर्जित द्रव्य	प्रमाण	शब्द स्पर्शादि विशेष	अभिप्राय
उदा.—							
प्रा.८ बजे	नाड़ी ७२ श्वास १८ अवस्था उत्तम	इक्षु रस	३२ औंस	—	—	—	—
प्रा.८.१५	नाड़ी ७२ श्वास १८ अवस्था उत्तम	मदन फल योग	१ तो	—	—	—	—
प्रा.८.३०	नाड़ी ९० श्वास २०	—	—	१ वेग	१५ औंस	पिच्छिल, निर्घोष गंध अविशेष	अवस्था उत्तम
प्रा.८.४५	नाड़ी ९५ श्वास २२	यष्टी मधु फांट	१२ औंस	—	—	—	—
प्रा.८.५०	नाड़ी १०० श्वास २५	—	—	२ वेग	२० औंस	—	अविशेष
प्रा.९ बजे	नाड़ी १०० श्वास २५	फांट	१२ औंस		—	—	—
प्रा.९.१०	नाड़ी १०० श्वास २५	—	—	३ वेग	२४ औंस	कफ + घोषरहित मधु-रास्यता	कफोत्सर्जन इत्यादि

श्यामाभ वर्ण देखे। यदि रक्ताभ वर्ण, रक्त चंद्रिका का वर्ण हो तो रक्त प्रवृत्ति समझकर वमन बंद करें। रस परीक्षा में आतुर मुख स्वाद पूछे—प्राय: वैसा ही स्वाद उत्सर्जित द्रव्य होगा। उत्सर्जित द्रव्यों को मक्षिका, पिपीलक, वायस, श्वान इत्यादि के सामने डालकर भी देखा जा सकता है। उत्सर्जित रस के अनुसार मधुर से कफ, कटु तिक्त से पित्त का ज्ञान होता है। गंधपरीक्षा में दुर्गन्ध की प्रभूतता, अल्पता अथवा अभाव की परीक्षा करें। यदि संभव हो तो प्रत्येक वेग में उत्सर्जित द्रव्य को अलग-अलग कांच नलिका (Test tube) में भरकर विश्लेषण परीक्षा (Laboratory analytical methods) के लिये भेजे और परीक्षा करावे।

यह अवस्था बहुत महत्त्व की है। इसमें थोड़ीसी भी भूल नहीं करनी चाहिये। अंतर्गत द्रव्य का कुल प्रमाण और उत्सर्जित द्रव्य का कुल प्रमाण अंत तक नोट करें और ध्यान में रहे कि अंतर्गत द्रव्य से उत्सर्जित द्रव्य अधिक रहना ही प्रशस्त है। यदि ऐसा न हो तो अंतिम वेग के बाद पुन: अंगुली स्पर्श आदि से वमन करावे। अंतर्गत द्रव्य का प्रमाण १२० से १४० औंस तक अधिक-से-अधिक मर्यादित रखे, अन्यथा उपद्रव की संभावना होती है। अर्थात् प्रत्येक वेग में १० से २० औंस फांट इस तरह चार या पांच बार पिलाना अपेक्षित है। अधिक-से-अधिक आठ बार। जिसमें आतुर को ४ से १० तक वमन वेग होकर सम्यक् शुद्धि होगी।

३. वमनवेगों का विनिर्णय एवं कर्त्तव्य

वमनकाल में प्रवृत्त वेगों की संख्या अच्छी तरह गिननी चाहिये। वेगों को भली प्रकार देखनेवाला वैद्य ही वमन के योगायोग को अच्छी तरह समझ सकता है और आगे क्या करना चाहिये उसे ठीक समझ सकता है, अतएव बिना भूल के वेगों का निरीक्षण करने का आदेश चरक ने दिया है।[६६] औषधिपान के बाद जितने बार वमन होगा उसे वेग कहते हैं। यष्टीमधु फांट पिलाने के बाद कितने बार वमन होता है, उसको नोट करते हुए दूसरे बार यथावश्यक यष्टीमधु फांट पिलावे। वेगों का विनिर्णय—वेगसंख्या, वेगोत्सृष्ट द्रव्य का रूप, द्रव्य का प्रमाण तथा वेगांतर्गत लक्षणों के आधार पर करना चाहिये।

वेगसंख्या—प्रवर वमन अर्थात् उत्तम वमन में ८ वेग, मध्यम वमन में ६ वेग और हीन वमन में ४ वेग आना चाहिये। वेगों को गिनते समय वमनौषध पिलाने के बाद तुरन्त आनेवाला वेग छोड़ देना चाहिये—क्योंकि यह वेग नहीं होता अपितु हल्लास और आस्यस्रवण होता है।[६७] वेगोत्सृष्ट द्रव्य का वर्ण देख पित्तांत आदि का निर्णय करें। वेगोत्सृष्ट द्रव्य का प्रमाण प्रवर में दो प्रस्थ, मध्यम वमन में १।। प्रस्थ और जघन्य या हीन वेग में १ प्रस्थ होना चाहिये।[६८] वमन, विरेचन और रक्तमोक्षण के उत्सृष्ट द्रव्यों को जहां प्रस्थ में लिखा है वहाँ प्रस्थ से १३।। पल लेने का निर्देश है।[६९] एक पल ४ तोले का होता है। अत: उत्तम वमन में द्रव्य प्रमाण २ प्रस्थ—१०८ तोले, मध्यवेग वमन में ९१ तोले और जघन्यवमन में ६४ तोले होना चाहिये। यहां पर ध्यान रखने योग्य बात यह है कि आकंठपीत द्रव्य जो करीब ३२ से ४० औंस होता है—के बाद प्रथम वेग २५ से ३० औंस प्रमाण में निकलता है। उसको प्रमाण में न लें और उसके बाद के उत्सृष्ट द्रव्य का प्रमाण गिनकर ही प्रवर, मध्य, जघन्य का निर्णय करना चाहिये। वेगांतर्गत लक्षणों को देखकर सम्यक् शुद्धि, असम्यक् शुद्धि तथा अतियोग का निर्णय करना चाहिये। ये लक्षण नीचे स्पष्ट किये जायेंगे।

४. सम्यग्हीन तथा अतिवांत के लक्षणों का निरीक्षण तथा कर्तव्य

सम्यक् योग, अयोग, अति योगादि का विचार उपर्युक्त चार विषयों के आधार पर ही किया जाता है। चरक ने मूल में चार भेद नहीं किये हैं किन्तु चारों प्रकार से शुद्धि लक्षणों का विचार जरूर किया हैं। कोई आचार्य वमन शुद्धि को चार प्रकार से विभक्त कर आंतिकी, मानिकी, वैगिकी तथा लैंगिकी शुद्धि मानते हैं इसको ऊपर कहा ही है। आंतिकी का अर्थ—वमनवेग के अंत में कौनसा दोष आता है उसके अनुसार शुद्धि निश्चित करना है। वमन में पहले कफ फिर पित्त और फिर वात इस क्रम से उत्सर्जन होता है, और वमन 'पित्तात तक' ही इष्ट है वात आने तक वमन करना इष्ट नहीं। पित्त का स्वाद कटु होता है। मुख में कटुता होने पर वमन बंद करावे—यह आंतिकी शुद्धि का अर्थ है। मानिकी के अनुसार—२ प्रस्थ और १।। प्रस्थ और १ प्रस्थ का मान देखकर प्रवरादि भेद से सम्यक् लक्षण मानकर वमन बंद करना यह मानिकी शुद्धि है। वैगिकी के अनुसार ८ वेग, ६ वेग और ४ वेग की संख्या देखकर प्रवरादि भेद से सम्यक् लक्षण समझकर वमन पूर्ण करना यह वैगिकी शुद्धि है और लैंगिकी शुद्धि के अनुसार—सम्यक्, हीन, अति वांतादि के वक्ष्यमाण लक्षण देखकर ही तत्तद् प्रकार की शुद्धि समझ कर वमन पूर्ण करें, यह लैंगिकी शुद्धि है तथापि चक्रपाणि कहते हैं कि ये चार प्रकार से शुद्धि मानना असंगत है। लैंगिकी शुद्धि का (लक्षणों के द्वारा) ही वस्तुत: महत्त्व है।[७०] यह मत उचित भी है। सुश्रुत ने भी लक्षणों के द्वारा होने वाली शुद्धि ही प्रधान मानी है। टीकाकार डल्हण कहते हैं कि वैगिकी आदि तीन प्रकार की शुद्धि कहना ठीक नहीं है। क्योंकि मानिकी ऐसी कोई शुद्धि कह ही नहीं सकते। क्योंकि प्रत्येक आतुर में उसके शरीर का आकार—ऊंचा कद या छोटा कद, स्थूलता या कृशता, शरीर के मांसादि अवयवों का संहनन, वातादि प्रकृति रक्तसार, मांससार आदि प्रकार के अलग-अलग सार का रहना इत्यादि से प्रत्येक व्यक्ति के दोषधातु और मलों का परिणाम अलग-अलग प्रकार का होता है। अतएव उन सबको एक ही प्रकार से प्रवर में २ प्रस्थ, मध्य में १।। प्रस्थ, जघन्य में १ प्रस्थ इत्यादि मान से कैसे कहा जाये ? इसी तरह वैगिकी शुद्धि कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि उपर्युक्त शरीर के अनुसार हो सकता है कि बहुत वेग(८) आने पर भी उसकी सम्यक् शुद्धि न हो। प्रकृति, वय, बल, शरीर और दोष की अपेक्षा किसको कम वेग से सम्यक् शुद्धि हो सकती हैं, कम वेगों से अति शुद्धि भी हो सकती है, किसको बहुत वेग से सम्यक् शुद्धि होगी या बहुत वेगों के बाद अशुद्धि भी हो सकती है। अतएव लाक्षणिक शुद्धि ही सुश्रुत को सम्मत है।[७१] यहां लाक्षणिक से पित्तांत आदि का भी बोध डल्हण ने किया है।

चक्रपाणि ने इसी मत का पुरस्कार करते हुए कहा है कि वैगिकी, मानिकी आदि शुद्धिभेद 'आषाढवर्मा' (टीकाकार) ने किया है। इसमें प्रश्न यह हैं कि ये सब एक साथ देखना है, वा अलग-अलग ढंग से देखना है। इस आक्षेप के कारण अनभ्युपगम-शास्त्र को असंमत है।

वेग, मान आदि में बहुत सी सापेक्षताएं हो सकती हैं। अत: हमेशा स्रोतोक्शिुद्धि इत्यादि वक्ष्यमाण लक्षणों को देखकर ही शुद्धि निश्चित करनी चाहिये। चक्रपाणि ने कुछ समन्वय का प्रयत्न करते हुए कहा है कि जघन्यादि में तीन प्रकार की जो शुद्धि कही है वह प्रायश: होती है (प्रायोभाविता) ऐसा समझना चाहिये। दोष मान भेद से जघन्यादि शुद्धि करना पारमार्थिक शुद्धि है। अत: जहां वमन में आठ वेगों के द्वारा २ प्रस्थ मान में दोष स्राव

हो वहां प्रवर शुद्धि, जहां ६ वेगों में १॥ प्रस्थ मान युक्त दोष स्राव हो वहां मध्यम शुद्धि और जहां ४ वेगों में १ प्रस्थ मान में दोष स्रुति हो वहां जघन्य शुद्धि कहना चाहिये।[७२] तथापि उक्त प्रकार से हमेशा होगा ऐसा नहीं है। यदि आठ वेगों में २ प्रस्थ से कम द्रव्य उत्सृष्ट हो, या ४ वेगों में या ६ वेगों में २ प्रस्थ उत्सृष्ट हो तो क्या ? अत: यह मत भी दोष रहित नहीं है। अत: चक्रपाणि ने व्यापत् प्रकरण में आगे टीका करते हुए कहा है कि पित्तातत्व, कफांतत्व इत्यादि असभ्यक् शुद्धि में भी हो सकते हैं— अतएव इनके साथ सहचारी लक्षण कार्श्य, दौर्बल्यादि लक्षणों को भी देखना आवश्यक है।[७३] वैद्य को इन सब बातों का सामान्य विचार कर उहापोह और तर्क से काम लेना चाहिये।

सम्यक् शुद्धि लक्षण— दोषों की यथाकाल प्रवृत्ति होना, क्रमश: कफ, पित्त और वात निकलना, स्वयं प्रवृत्त होना, हृदय में हलकापन महसूस होना, पार्श्व मूर्धा (शिर) और स्रोतस में हलकापन लगना, मन प्रसन्न होना, शरीर का हलकापन, कार्श्य, दौर्बल्य होना और अधिक पीड़ा न होना ये सभ्यक् वात के लक्षण हैं।

असम्यक् (या अयोग) वात के लक्षण— जिसको वमन ठीक नहीं होगा उसे— वेग की बराबर प्रवृत्ति न होना, केवल औषध मात्र निकल जाना, वेग काल में रुक रुक कर प्रवृत्त होना, इनसे तथा हृदय में अशुद्धि, स्रोतों की अशुद्धि मात्र गौरव। स्फोट, कोठ, कंडु, कफ प्रसेक और ज्वर इन लक्षणों से जाना जाता है।

अतिवात के लक्षण— बहुत ज्यादा वमन हो जाने पर वमन में झाग का आना रक्त मंडल आना, तृष्णा लगना, मोह, मूर्च्छा, वात प्रकोप, निद्रा हानि, बल हानि, हृत्पीड़ा, कंठपीड़ा, तम: भ्रम, पित्त की अधिक प्रवृत्ति, अत्यंत रक्त-स्राव (और उससे मृत्यु) और दाह ये लक्षण उत्पन्न होते है।

उपर्युक्त सभी लक्षणों को चरक, सुश्रुत और वाग्भट के मतानुसार तुलनात्मक अध्ययनार्थ तालिका में स्पष्ट किया जाता है।[७४]

सम्यक् वात लक्षण-तालिका

क्र.	लक्षण नाम	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१.	काले प्रवृत्ति:	+	—	+
२.	यथाक्रम कफ, पित्त, वात दोष हरण	+	+	+
३.	स्वयं अवस्थान (प्रवृत्ति तथा स्वयं बंद होना)	+	+	—
४.	हृदय शुद्धि	+	+	+
५.	पार्श्व शुद्धि	+	—	—
६.	मूर्धा शुद्धि	+	+	—
७.	स्रोतो शुद्धि	+	—	—
८.	इंद्रिय शुद्धि	+	—	—
९.	लघुता	+	+	—

१०.	कार्श्य	+	—	—
११.	दौर्बल्य	+	—	—
१२.	कंठशुद्धि:	—	+	—
१३.	कफ संस्रव स्थिति:	—	+	—
१४.	अनति महती व्यथा	+	—	+

असम्यक् वात लक्षण तालिका

क्र.	लक्षण नाम	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१.	वेग की अप्रवृत्ति	+	—	+
२.	केवल औषध प्रवृत्ति	+	—	+
३.	वेग विबंध	+	—	+
४.	हृदयाशुद्धि	+	+	+
५.	स्रोतो अशुद्धि	+	—	—
६.	गुरुगात्रता	+	—	—
७.	स्फोट	+	—	—
८.	कोठ	+	—	+
९.	कंडु	+	+	+
१०.	कफप्रसेक	—	+	+
११.	ज्वर	—	—	+

अतिवात लक्षण तालिका

क्र.	लक्षण नाम	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१.	फेनिल वमन	+	—	+
२.	रक्त चंद्रिकायुक्त वमन	+	—	+
३.	तृषा	+	—	+ (कंठशोष)
४.	मोह	+	+	—
५.	मूर्च्छा	+	+	—
६.	वातप्रकोप	+	—	+
७.	निद्रा हानि	+	—	—
८.	बल हानि	+	—	+
९.	हृत्पीड़ा	—	+	—
१०.	कंठ पीड़ा	—	+	+
११.	तम: प्रवेश	—	—	+
१२.	भ्रम:	—	—	+
१३.	पित्तांति योग:	—	+	—
१४.	अत्यंत रक्तस्राव से मृत्यु	—	—	+
१५.	दाह	—	—	+

सम्यक्वमन में कफ और दोषों के निकल जाने से तथा शरीर के द्रव बहुल अंश के निकल जाने से शरीर लघुता, मन की तथा इंद्रियों की प्रसन्नता, अग्निदीप्ति और स्रोतों की शुद्धि हो जाती है। जब वमन ठीक नहीं होता तो क्लेद और कफ तथा अन्य आप्यांश उत्क्लिष्टावस्था में भ्रमण करने के कारण अनेक रोगों में कारण हो जाते है और अतिवमन के कारण द्रव, आप्यधातु तथा कफ के अधिक निकल जाने से दाह, मोह, मूर्च्छा, भ्रम, तृष्णा तथा धातुक्षय से वात व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं।

वैद्य को चाहिये कि वह प्रत्येक वमनवेग के समय आतुर का आतुरगत दाह, मोह भ्रमादि के लिए तथा उत्सृष्ट द्रव्य का कफ पित्तादि क्रम एवं रक्त निर्गमनादि के लिये परीक्षा करते रहे और योग्य समय में वमन कर्म पूर्ण करें।

५. वमन व्यापत् एवं तत्प्रतीकार

वस्तुत: व्यापत् और उनका प्रतिकार यह विषय प्रधान कर्म के अन्तर्गत न कहकर पश्चात्कर्म में कहना चाहिये, तथापि वमन की कुछ व्यापत्तियाँ ऐसी हैं, जो प्रधानकर्म—वमनौषधि पिलाने पर वेगकाल में ही उत्पन्न होती है और उनका प्रतीकार वहीं पर करना तथा मुख्य कर्म चालू रखना या बंद रखना इसका निर्णय वैद्य को करना होता है। अतएव उनका समावेश प्रधानकर्म में करके वर्णन किया जाता है।

स्नेहन, स्वेदन ठीक ढंग से कर जिन्हें मात्रायुक्त औषध पिलाया जाता है, उनमें औषध की सम्यक् प्रवृत्ति होकर वमन अच्छा होता है।[७५] व्यापक के मुख्य कारण चार हैं। एक तो वैद्य की निर्णयशक्ति ठीक न होने से भूल होकर व्यापत् होती है दूसरा कारण भैषज्य है जो वीर्ययुक्त न हो या अतितीक्ष्ण हो तो व्यापद् है और तीसरा कारण प्रेष्य या प्रेषक है—जो उपचारक है और औषधि को सम्यक् तथा संस्कारित न करने से उत्पन्न होती है और चौथा कारण आतुर है—जिसमें उसके ठीक सहकार न मिलने से, वैद्यानुकारिता न होने से तथा कोष्ठादि भेद से विचित्रता होने के कारण व्यापद् उत्पन्न होती है।[७६] चरक ने वमन तथा विरेचन को निम्नलिखित १० व्यापत्तियाँ कहीं है[७७]

१. आध्मान	२. परिकर्त	३. स्राव	४. हृद्ग्रह
५.गात्रग्रह	६. जीवादान	७. विभ्रंश	८. स्तंभ
९. उपद्रव	१०. क्लम		

इन व्यापद् में प्राय: आयोग या अतियोग कारण होते हैं। मिथ्या योग नामक एक प्रकार कभी-कभी कहा गया है, किन्तु विपद्वेगों का चार प्रकार से प्रवृत्त होना संभव होता है। जैसे वेग को बिल्कुल प्रवृत्त न होना, वेगों की अल्प प्रवृत्ति, असम्यक् प्रवृत्ति अर्थात् प्रतिलोम प्रवृत्ति और अतिप्रवृत्ति—ये चार प्रकार हैं।[७८] उपर्युक्त व्यापद् में आध्मान, परिस्राव, हृद्ग्रह अंगग्रह क्लम ये अयोग से उत्पन्न होते हैं और परिकर्त, जीवादान, विभ्रंश ये अतियोग से उत्पन्न व्यापद् हैं। सुश्रुत ने १५ व्यापद् कहे हैं वे निम्नलिखित प्रकार हैं।[७९]

१. वमन की अधोमार्ग से प्रवृत्ति अर्थात् वमनौषधि से विरेचन होना :		
२. औषधि का सावशेषत्व	३. जीर्णोषधत्व	४. हीन दोषापहरण
५. वातशूल	६. अयोग	७. अतियोग
८. जीवादान	९. आध्मान	१०. परिकर्तिका

११. परिस्राव	१२. प्रवाहिका	१३. हृदयापसरण	१४. विबंध और

१५. पंद्रहवीं व्यापद् विरेचन औषधि की ऊर्ध्वगति होना अर्थात् विरेचन से वमन होना यह विरेचन व्यापद है। इनमें वमन और विरेचन में बीच की १३ व्यापद सामान्य है। किसी ग्रन्थ में 'अंगग्रह' नामक व्यापद बताई गई हैं लेकिन डल्हण टीका में स्पष्ट कहा है कि वमन की विरेचन प्रवृत्ति तथा विरेचन की वमनवत् उर्ध्वप्रवृत्ति ये दो और शेष १३ व्यापद रहती है जो सामान्य हैं। अत: अंगग्रह का पाठ क्षिप्त प्रतीत होता है।

पंचदशधा का अर्थ ऐसी कई व्यापद हो सकती है ऐसा भी कर सकते हैं। डल्हण ने कहा है कि पंचदशधा का अर्थ तंत्रांतर की संख्या (चरकोक्त १०) का निषेध दर्शक है। चरक के टीकाकार जेज्जट ने 'दशैव' व्यापद् बताते हुए अन्य तन्त्र के अधिक व्यापद (सुश्रुत के १५) के निषेध का बोधन किया है।[८०] यह मतभेद का विषय मनोरंजक का है। वस्तुत: मूल में ऐसा कोई निषेध नहीं है। व्यापद कई प्रकार की हो सकती हैं और उक्त व्यापद से वे अधिक भी हो सकती हैं। सुश्रुत ने औषध का सावशेषत्व (अजीर्ण), जीर्णत्व अयोग, अतियोग ऊर्ध्वगामी वमनौषधि का अधोभाग की और जाना ये व्यापद कहे है तो चरक ने इनको व्यापद के हेतुओं में लिया है ओर आगे तत्तत्प्रकार की अवस्थाएं स्पष्ट की है। आध्मान, जीवादान, हृदयापसरण, परिकर्त, प्रवाहिका, परिस्राव, विबंध ये दोनों में सामान्य हैं। यहां वमन विरेचन की व्यापद सामान्य हैं अतएव कुछ खास व्यापद जो वेगकाल में प्रधान कार्य में विचारणीय है उनका मात्र विचार कर बाकी सबका विरेचन के अध्याय में आगे विवेचन किया जायेगा। यहां विरेचन में जो परिकर्तिका हैं वह वमन में कंठ क्षणन है, विरेचन में जो परिस्राव हैं वह वमन में श्लेष्म प्रसेक हैं, विरेचन में जो प्रवाहिका है वह वमन में शुष्कोद्गार हैं ऐसा समझना चाहिए।[८१] जीवादान का अर्थ शुद्ध रक्त की अतिप्रवृत्ति है। अयोग और अतियोग के कारण व्यापद होती है यह देखा गया है—अत: उसी दृष्टि से उनके प्रतीकार का विचार किया जाएगा।

अयोग अवस्थाएं तथा प्रतिकार

१. आतुर को[८२] अगर बहुत भूख लगी हुई हो, उसकी अग्नि तीक्ष्ण हो, कोष्ठ मृदु हो, आतुर दुर्बल हो, कफोत्क्लेश ठीक न हुआ हो, तो उसे वमनौषधि पिलाने पर वह अधोमार्ग में प्रवृत्त होकर विरेचन करती है। ऐसी आतुर में वमन का अयोग समझें। क्योंकि प्रतिलोम मार्ग से (अनीसिप्त मार्ग से) दोष का हरण करने से वह (दवा) पूरे दोष नहीं निकाल सकती, कभी-कभी अल्प दोषों को निकालती है और कभी बिल्कुल नहीं निकालती। ऐसे आतुर को शुद्धि बराबर न हो तो औषध जीर्ण होने के बाद पुन: स्नेहन स्वेदन कर कोष्ठादि देखकर तीक्ष्ण या मृदु वमन कराना चाहिये। अगर औषध जीर्ण न हुई हो तो कुछ नहीं करना चाहिए। क्योंकि पहली औषध आमाशय में हों और दूसरी दी जाए तो वह अतियोग कर सकती है।

औषध जीर्ण के लक्षण—वात का अनुलोमन, स्वास्थ्य का अनुभव, भूख और प्यास लगना, शरीर में उत्साह का बढ़ना, मन प्रसन्न रहना, इन्द्रियों में हलकापन, शुद्ध डकार आना ये औषध जीर्ण हुआ है, इसके ज्ञापक लक्षण है।

अजीर्ण औषध लक्षण—क्लम, दाह, अंगसाद, भ्रम, मूर्च्छा, शिर:शूल, अरति, दौर्बल्य ये औषध आमाशय में शेष हैं इसके ज्ञापक लक्षण है।

२. जिसके दोष विग्रंथित (जमे हुए) हो, उसमें अल्पौषध देने पर वह वमन नहीं करती

और तृष्णा, मूर्च्छा, हृल्लास, अरुचि, अरति, और उद्‌गार अशुद्धि तथा पार्श्वशूल, पर्वभेद उत्पन्न करती है। इसमें गरम पानी पिलाकर वमन करावे।[८३]

३. जिनका स्नेहन स्वेदन ठीक न किया हो, जो रुक्ष शरीरवाला हो उसे अल्पौषधि, पुरानी या अल्प गुण युक्त औषध पिलाने से दोष हरण बराबर नहीं होता। दोषोत्क्लेश से गौरव, उत्क्लेश, हृदय में अशुद्धि, व्याधि वृद्धि, विभ्रंश, शोथ, हिक्का, तमोदर्शन, पिंडिकोद्वेष्टन, कंडू, अंगदाह आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं। उसे फिर तीक्ष्ण वमन देना चाहिये।[८४]

४. स्नेहन स्वेदन के अनंतर दीप्ताग्नि वाले आतुर को औषध जीर्ण हो जाती है अथवा आम वृद्धि में दी हुई शीतौषधि भी दोषों का उत्क्लेश कर—शोधन नहीं करती और उपर्युक्त अदोषजन्य राग, गौरव, हृदयाशुद्धि इत्यादि करती है। सुश्रुत ने इस भक्तवत् पचे गये औषध को जीर्ण औषध व्यापत् माना है और अनिर्हीयमान औषध व्याधि विभ्रम बलभ्रंश करता हैं ऐसा कहा है— इसमें मात्रा में अधिक और तीक्ष्ण वमन औंषध पिलावे। चरक ने इसमें पटुतेल (सैंधव युक्त तेल) से अभ्यंग कर, प्रस्तर और संकर स्वेद कर पूर्व औषध जीर्ण होने के बाद पुन: वमन कराने को कहा है। अथवा गोमूत्र युक्त निरुह देकर, मांसरस युक्त भोजन देकर मदनफल सिद्ध, दारुहरिद्रा सिद्ध तेल से अनुवासन देने को कहा है और बाद में फिर तीक्ष्ण शोधन देना चाहिए। इस तरह करने पर अत्यंत तीक्ष्णौषध से भी अतियोग नहीं होता।[८५]

२. अजीर्ण में वमन औषध देने पर ग्लानि होती है, विबंध होता है और औषध की अधो भाग में प्रवृत्ति होती है। यहां सब आम दोष हरण का उपाय करना चाहिए। पाचनौषध का प्रयोग करना चाहिए और आवश्यक हो तो कालांतर से पुन: इनमें वमन किया जा सकता है।[८६]

संक्षेप में—अयोग होने के निम्नलिखित कारण हैं—

१. रोगी का स्नेहन स्वेदन ठीक न होना
२. रोगी का बल अधिक होना
३. औषध मंद, पुराण या अल्प बल युक्त होना
४. कठोर, क्रूर या अति मृदु रहना
५. आम की प्रधानता होना
६. रोगी की अग्नि अत्यधिक तीक्ष्ण होना-- इन कारणों से औषध का अजीर्ण होकर या औषध जीर्ण हो जाकर अकिंचित् कर तथा गौरव भ्रमादि व्यापद उत्पन्न करती हैं। इनमें पुन: वमन कराना यही उपाय हैं।

अयोग में कर्त्तव्य—साधारणत: प्रत्यक्ष प्रयोग में मधुयष्टी का फांट ४ से ६ पौंड बनाकर रखना चाहिए और वमन वेग ठीक न हो तो बारंबार यह फांट पिलावें। यदि इससे भी वेग प्रवृत्त न हो तो फांट में मदनफल और वचा चूर्ण १-१ माशा डालकर पिलावें। वमन वेग जब पूर्ण करने की इच्छा हो तब अंतिम वेग के लिए लवणोदक पिलावें। गरम-पानी और नमक मिलाकर पिलाने से मुख शुद्धि होकर गले का स्वाद ठीक होता है उत्क्लेश कम होता है और आतुर को सुखपूर्वक वमन होता है। अगर अयोग लक्षण में हृद्‌ग्रह, अंगग्रह, मोह, भ्रम, तमोदर्शनादि लक्षण उत्पन्न हो तो वमन बंद कर औषधपाचनार्थ दीपन, पाचन तथा

हृद्य, बल्य, शामक औषध दे। इसके लिए पहले अंगुलियों से या कमलनाल आदि से वमन कराने की कोशिश करें—क्योंकि उत्क्लिष्ट वेग बिना वमन के शांत नहीं होते और उपर्युक्त लक्षण वमन से ही कम हो सकते हैं। अत: यांत्रिक उत्तेजना (Mechanical Stimulation) से वमन करावे। और एक-दो बार वेग निकल जाने पर सूतशेखर रस, शंख वटी, शिवाक्षार, पाचन चूर्ण, शुण्ठी चूर्ण, त्रिकटु चूर्ण, चित्रकादि बटी, द्राक्षासव, दशमूलारिष्ट, हेमगर्भ रस, सुवर्ण मालिनी वसंत, शंख भस्म, स्वर्जीक्षार इनका यथायोग्य प्रयोग करें।

अतियोग की अवस्थाएं तथा प्रतिकार

१. स्निग्ध एवं स्विन्न आतुर को जिसका कोष्ठ बहुत मुदु है उसे तीक्ष्ण या मात्रा में अधिक औषध देने से अति वमन कराता है। इससे पित्त की अति प्रवृत्ति, बलक्षय, वात प्रकोप होता है। इस आतुर को घी से मालिश करें, फिर शीतल जल से अवगाह करावे और दोषानुसार शर्करा मधु मिश्रित अवलेह चटावें।[८७]

२. चरक ने अतियोग की अवस्थाओं का और वैद्यों के कर्त्तव्यों का सुंदर निर्देश किया है।[८८] प्रत्यक्ष प्रयोग में ऐसे प्रसंग बारंबार उपस्थित हो सकते हैं अत: कृतकर्म वैद्य के पास वमन ज्ञान को प्राप्त कर ये प्रयोग करना हितकर होता है।

भूख लगे हुए आतुर को जिसका कोष्ठ मृदु है, तीक्ष्णौषध देने पर मल, पित्त और कफ का अति मात्र निर्हरण कर शरीर के द्रवधातु (जल, क्लेद-extra cellular fluid) को बाहर निकाल कर बल का नाश, दाह, कंठशोथ, भ्रम, तृष्णा (ये सब Dehydration, से उत्पन्न होते हैं,) ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसमें सब मधुर उपचार कर शेषौषध को निकालना चाहिए, वमन में शेषौषध को विरेचन देकर निकालें। शीत जल से परिषेक करें, अवगाह करें और शीतौषधि से स्तम्भन चिकित्सा करें। कषाय, मधुर, शीत अन्नपान तथा औषद दे। रक्तपित्त, अतिसार, दाह, ज्वर रोगों में कहीं हुई तत्तद् चिकित्सा करें। चन्दन, उशीर, मज्जा, रक्त, शर्करा इनसे सिद्ध जल पिलावें और लाजाचूर्ण से मंथ तैयार करके देना चाहिए। कफहर मंथ में घी और मधु तथा शक्कर मिलाकर पिलावें।

अगर उद्‌गार बाहुल्य हो, मूर्च्छा हो, तो धनिया और मोथे का चूर्ण तथा महुवे का चूर्ण इनसे अवलेह बनाकर मधु के साथ दे। कभी-कभी वमनाति- प्रवृत्ति से जिह्वा अंत: प्रविष्ट (अंदर खींची गई हो ऐसी अनुभूति) होती है। उसे कवलग्रह करावे तथा स्निग्ध अम्ल और लवण रस युक्त रुचकर यूष पिलावे। दूध, मांसरस पिलावे तथा उसके सामने दूसरे को अम्लफल (इमली) खिलावें जिससे आतुर के मुख में लालास्राव होकर उसकी जिह्वा स्वास्थिति में कार्य प्रवृत्त होती है। अगर वेगात योग से जिह्वा बाहर आवे तो (यह भी वातनाड़ी उत्तेजना से अनुभूति है-) तिल और द्राक्षा इनके कल्क से, लेपन कर अन्दर प्रविष्ट करावें।

सामान्यत: वमनादि योग में—सूतशेखर २ रत्ती, शंखभस्म ४ र. हेमगर्भ आधी र. मयूर पिच्छा भस्म १ र. मिलाकर आतुर को १०-१५ मिनट के अंतर से चटावें। ३-४ बार देने से वमन बंद होता हैं। निंबू का शर्बत पिलावें। शंख बटी २ गोलियाँ ३-४ बार दे। संजीवनी २ र. ३ से ४ बार दे। यथावश्यक शीतोपचार करें। अन्य आध्मानादि व्यापद का वर्णन विरेचन अध्याय में देखें।

३. पश्चात्कर्म

वमन वेगों से निवृत्त होने के उपरान्त आतुर को प्राकृत भोजन तक लाने की कालावधि तक जो कुछ उपक्रम करना होता है, उसे पश्चात्कर्म कहते हैं। पश्चात्कर्म में निम्नोक्त विषयों का समावेश होता है।

१. धूम्रपान
२. आतुर के परिहार्य विषय
३. संसर्जन क्रम
४. संतर्पण चिकित्सा
५. वमनोत्तर शोधन की सिद्धता।

१. **धूम्रपान**—प्रवर, मध्य, अवर योगादि दृष्टि से भली प्रकार वमन वेग पूर्ण हो जाने पर आतुर के हाथ, पांव और मुंह ठंडे जल से धोकर साफ करावे और एक मूहूर्त- ४८ मिनट तक विश्राम करावे। इस बीच में बारंबार लालास्राव, उदगीरण, उद्‌गार हो सकता है। अत: निरीक्षणार्थ यह समय है। फिर उसको यथानुकूल, स्नैहिक, वैरेचनिक या शमन प्रकार का धूम्रपान करावे।[९] धूम्रपान से वमनोसृष्ट कफ से गले में उपस्थित स्निग्धता, पैच्छिल्य तथा उपलेपता कम होकर कंठ, मुख, नासा, स्रोतस शुद्ध होते हैं।

स्नैहिक धूम्रपान—वसा, घी, सिक्थ, इनके साथ जीवनीय गुणोक्त मधुर औषधियां मिलाकर वर्ति बनाकर उससे धूम्रपान विधि से धूम्र लेना स्नैहिक धूम्रपान है।[१०]

वैरेचनिक धूम्रपान—श्वेता (श्वेत अपराजिता), ज्योतिष्मती, हरिताल, मन:शिला, इनकी अन्य सुगंध द्रव्यों—अगरु पत्रादि के द्वारा वर्ति बनाकर जो धूम्रपान किया जाता है, उसे वैरेचनिक धूम्रपान कहते है।[११] यह कफ का शोधन करता है और चिपके हुए कफ को छेदन करते हुए निकाल देता है।

शमन धूम्रपान—हरेणुका, प्रियंगु, केशरादि, शमन द्रव्य, गुग्गुलु, मधुक, जटामांसी, मोथा, सर्जरस, इनके द्वारा वर्ति बनाकर प्रायोगिक धूम्रपान कराना यह स्नैहिक धूम्रपान कहलाता है।[१२] धूम्रपान विधि का विस्तार पूर्वक वर्णन आगे नस्य के पश्चात्कर्म के अनुसंधान में किया गया है। उन नियमों के अनुसार विधिवत् धूम्रपान करावे। धूम्रपान के बाद पुन: शीत जल से हाथ, पांव और मुख का प्रक्षालन करें।

२. **आतुर के परिहार्य विषय**—धूम्रपान के बाद जल प्रक्षाल नोत्तर आतुर को, जहां प्रत्यक्ष तेज हवा न आती हो ऐसे निवात आतुरागार में आराम के लिए भेज दें और उसे जो पथ्य संभालना आवश्यक है, जिनजिन बातों का त्याग करना आवश्यक है वे विषय समझाना चाहिए।[१३] यहां वमन के बाद ४८ मिनट ठहरकर धूम्रपान और तदनंतर आतुरागार में भेजने का निर्देश है। तथापि कर्म सौकर्य और आतुर सुख के लिए उसे वमन वेगों से निवृत्त होने पर जल प्रक्षालन कर तुरन्त आगार में विश्राम करना अच्छा होता है। आतुर-वमन काल में करीब २-३ घंटा तक सतत आयास में रहता है, और एक ही व्यवस्था में बैठकर भी कष्ट का अनुभव करता है। अत: उसे निवात आगार में शय्यापर लिटाकर ४० मिनट या करीब एक घंटे के बाद वही धूम्रपान करावे। आतुरागार में प्रवेश के बाद भी आतुर के पास-वमन प्रतिग्रह (वमन करने का पात्र) और बेडपैन (टट्टी के लिए) रखना चाहिए। क्योंकि आगार प्रवेश

के बाद भी एकाध वेग वमन का हो जाता है। वैसे ही यष्ठीमधु विरेचन द्रव्य भी है—अत: वमनक्रिया में बार-बार प्रयुक्त फांट कभी-कभी यथावकाश २-३ मृदु विरेचन करता है। विरेचन हो तो आतुर शय्या में रहकर ही बेडपैन में मल विसर्जन करें। अन्यथा ग्लानि, भ्रम, लघुतादि के कारण आयास से वह कहीं गिर सकता है। आतुरागार में आतुर निम्नलिखित परिहार्य विषयों को त्यागकर संयम से रहे।

१. जोर से भाषण न करें।
२. अत्याशन—खूब खाना न ले।
३. अति-स्थान—किसी आसनपर अधिक देर न बैठे, लेटकर आराम करें।
४. अतिसंक्रमण—बहुत ज्यादा घूमना फिरना छोड़ दे।
५. क्रोध न करें।
६. शोक न करें।
७. अत्यधिक शीत, तथा सूर्य संताप, इत्यादि का सेवन न करें।
८. अधिक खुली हवा में न बैठे।
९. वाहन—घोड़ा, ऊँट, गाड़ी, मोटर, स्कूटर, सायकल इत्यादि की सवारी न करें।
१०. मैथुन न करे।
११. रात में जागरण न करें, दिन में न सोवे।
१२. विरुद्धाजीर्ण, असात्म्य, अकाल, गुरु, बहुत अधिक या बहुत कम भोजन न करें।
१३. वेग संधारण (मलमूत्रादि आधारणीय) न करें।
१४. उदीरित वेंगों का धारण करना जैसे मना है वैसे ही जो वेग उदीरत नहीं हुए हैं, उनको बलपूर्वक उदीरित न करें।

३. **संसर्जन कर्म**—सम्यक् सर्जन संसर्जन क्रम है। वमन के बाद आतुर को एकदम प्राकृत भोजन नहीं दिया जा सकता, क्योंकि संशोधन के कारण अग्नि मंद हो जाता है और अग्निपर अधिक कार्य भार आ जाये ऐसा भोजन दे तो वह पचा नहीं सकता। इसलिये पेयादि क्रम से क्रमश: लघु से गुरु भोजन देते हुए प्राकृत भोजन पर आतुर को लाना संसर्जन क्रम कहलाता है। 'वमिते वर्धते वह् नि'-वमन से अग्नि बढ़ती है ऐसा अन्यत्र सूत्र मिलता है। इसका अर्थ वमन पूर्व स्नेहपान तथा वमनकाल में दोषोत्क्लेश तथा क्षोभ में जो अग्निमांद्य होता है उसकी अपेक्षा अग्नि तेज होती है ऐसा करना चाहिये, न कि प्राकृत अग्नि की अपेक्षा। अतएव पेयादि क्रम आवश्यक है। टीकाकार जेज्जट आचार्य चेलदेव का उद्धरण देते हुए कहते हैं,—"संशोधनाभ्यां दोषद्रवीकरणात् आमाशयानुगत दोषौषधस्याग्निरायाति सं (क्षयं तस्मात् क्रमेण) न्नव दिष्टमुच्यते। संशोधनाभ्यां दोषधात्वनवस्थानात्तदग्निमांद्यं—" अर्थात् संशोधन से दोषों का द्रवीकरण होकर वे आमाशय में आते हैं। अत: दोष के द्वारा आमाशय क्षोभ से अग्निमांद्य होना संभव ही है। इसलिए पेयादि क्रम जरूरी होता है। जिस तरह अग्नि का एक अणु (थोड़ीसी आग) भाग भी गोबर की उपले, घासफूस आदि ईंधन डालने पर बढ़कर प्रदीप्त होता है, (और सब बड़ी बड़ी वस्तुएं भी भस्मसात् कर सकता है।)

उसी तरह संशोधन से मंद अग्नि में — पेयादि क्रम करने पर वह धीरे-धीरे उसे तीक्ष्ण करता है जिसमें अग्नि बड़े भारी गुरु भोजन को भी पचाने में समर्थ होता है।[१४]

पेयादि क्रम—पेयादि क्रम में क्रमशः प्रवर, मध्य और अवर शुद्धिवाले आतुर को पेया, विलेपी, अकृत यूष, कृतयूष, अकृतमांसरस कृतमांसरस के तीन, दो और एक अन्नकाल देकर ७ दिन में आतुर को प्राकृत भोजन पर लाया जाता है। अर्थात् प्रवर शुद्धि के लिए ३ , मध्य शुद्धि के लिए २ और अवर शुद्धि के आतुर के लिए एक अन्नकाल में पेयादि क्रम से आहार दे।[१५]

सुश्रुत ने पेयादि क्रम के स्थान में कुलत्थ, आढकी अथवा जांगल मांस से यूष भी दिये जा सकते हैं ऐसा कहा है। यहां डल्हण ने समन्वय किया है कि, 'अपि' (भी) शब्द से पेयादि क्रम तो आचार्य सुश्रुत को मान्य ही है। जहां अत्यंत क्षीण कफ हो, वहां पेया देनी चाहिए, वात प्रधान दीप्ताग्नि आतुर को मांसरस देना चाहिये, और दोष तथा ऋतु के अनुसार किंचित् कफवृद्धि हो तो कुलथी आदि के यूष देना चाहिए। क्योंकि जहां खूब मिट्टी हो वहां पर वर्षा से जैसे खूब कीचड़ बन जाता है, वैसे ही कफावस्था में यवागू इत्यादि देने से कफ वर्धन होता हैं।[१६]

संसर्जन क्रम का चरक ने दो जगह पर वर्णन किया है। एक है सिद्धिस्थान के प्रथम अध्याय में जहां उपर्युक्त प्रकार से पेया, विलेपी आदि देने को कहा है और सूत्रस्थान के पंद्रहवें अध्याय में वमन के बाद ७ दिन निम्नलिखित प्रकार से भोजन देने का निर्देश किया है।[१७]

१. वमन के बाद उसी दिन सायंकाल के समय पुराने लाल चावल की क्लिन्न (खूब पची हुई) की हुई मंड के सदृश गरम यवागु अग्नि बल के अनुसार पिलावे। यही क्रम दूसरे और तीसरे अन्नकाल में अर्थात् दूसरे दिन प्रातः और शाम के भोजन में रखे।

२. चौथे अन्नकाल में अर्थात् तीसरे दिन प्रातः (प्रातः से सुबह का भोजन समय १० से ११ बजे के बीच यह अर्थ करें।) चावलों से अच्छी तरह पकी हुई विलेपी बिना स्नेह और लवण के या तो अल्प स्नेह (घी) और लवण मिलाकर पिलाए। यही क्रम पांचवे और छठे अन्नकाल में अर्थात् तीसरे दिन शाम को तथा चौथे दिन प्रातः भोजन काल में रखे।

३. सातवें अन्नकाल में अर्थात् चौथे दिन सायंकाल में दो प्रसृति (१६ तोला) चावल को पकाकर भात किंचित् स्नेह और लवण के साथ मिलाकर मृदयुष (मूंग की पतली दाल-लवण युक्त) के साथ खिलावे। यही क्रम ८वें और ९वें अन्नकाल में अर्थात् ५वें दिन सुबह तथा शाम के भोजन में रखें।

४. दसवें अन्नकाल में अर्थात् छठे दिन प्रातः लावक (तितर) कपिजलादि में से कोई एक के मांसरस नमक मिलाकर, गरम पानी के अनुपान के साथ खिलावें। यही क्रम ११वें और १२वें अन्नकाल में अर्थात् छठे दिन सायंकाल तथा सातवे दिन प्रातः रखना चाहिए।

५. इसके बाद अर्थात् ७वें दिन सायंकाल प्राकृत भोजन दे।

इस क्रम में और पेयादि क्रम में वस्तुतः कोई भेद नहीं हैं। वहां निर्देश किया है और यहां प्रत्यक्ष भक्ष्य वस्तु का वर्णन किया है। यह क्रम प्रवर का समझना चाहिए और मध्य तथा जघन्य शुद्धि में दो अन्नकाल तथा एक अन्नकाल का क्रम रखना चाहिए।

पेया विलेपी आदि कल्पनाओं का वर्णन इस ग्रन्थ के 'उप कल्पना विज्ञान' नामक १वें अध्याय में किया है। मंड वह है जो सिक्थ को (नीचे का पका हुआ भाग) रहित अधिक द्रव हैं, पेया में सिक्थ को भी लिया जाता है। विलेपी में खूब सिक्थ (यह गाढ़ी होती है) होती है। चौदह गुना जल में पकाई हुई पतली यवागु पेया है और ४ गुने जल में पकाई हुई गाढ़ी यवागु विलेपी है।[१८] पेया विलेपी में उत्तरोत्तर गुरुता है। अकृत यूष और अकृत मांसरस में नमक और घी (स्नेह) नहीं मिलाया जाता और कृतयूष तथा कृतमांसरस में घी, लवण मिलाया जाता है।

उपर्युक्त प्रकार से पेया, विलेपी अकृत यूषादि क्रम से तीन तीन अन्नकाल दिये जायें तो ७ दिन में क्रम पूर्ण नहीं हो सकता। अतएव चक्रपाणि ने जहां तीन अन्नकाल है वहां प्रथम अन्नकाल में अकृत यूष, और अकृत मांसरस, और दूसरा दो अन्नकाल कृत यूष, और कृतमांसरस के देने को कहा है। जहां दो ही अन्नकाल देना है वहां (मध्यम शुद्धि) प्रथम अन्नकाल में अकृत और दूसरे अन्नकाल में कृत युष—मांसरस दे।[११]

कोई आचार्य मानते है कि जिन्हें मांसरस निषिद्ध हो उन्हें शाकाहारी भोजन वालों को अकृत यूष के ३ और कृतयूष के ३ अन्नकाल दे और प्राकृत भोजन करावे। इस तरह कृताकृत मांसरस न देने पर ३ अन्नकाल से आतुर ७ दिन में प्राकृत भोजन पर लाया जा सकता है। यहां ग्रथेक्त में अभिनिवेश न रखते हुए अग्निमांद्य न होगा इस क्रम से लघु से क्रमशः गुरु भोजन देना इतना ही अर्थ है। अतः वैद्य स्वयं प्रसंगानुसार योग्य प्रकार से भोजन करावे। यदि बहुत जल्दी हो तो, शंखवटी, चित्रकादि बटी, शिवाक्षारपाचन इत्यादि पाचन औषधि के साथ प्रथम दिन पेया, दूसरे दिन विलेपी (खिचड़ी) देकर तीसरे दिन शाम को या चौथे दिन प्रातः प्राकृत भोजन पर लाया जा सकता है। सुश्रुत ने मूंग, कुलथी आढकी इत्यादि के यूष के साथ भोजन देने को कहा ही है। यहां अध्ययन सुविधा के लिए चरक के संसर्जन क्रम को दिनानुसार तालिका में स्पष्ट किया जाता है। अन्यथा सामान्य बुद्धि के अनुसार अग्नि की अपेक्षा रखकर भोजन देना संगत ही है। जैसा कि चक्रपाणि भी टीका में कहते हैं कि यूष और मांसरस के कृताकृत की दृष्टि से अवर शुद्धि में एक एक अन्नकाल देना हो तो निश्चित क्या करना चाहिए इसका आदेश नहीं है। यहां एक ही अन्नकाल में कृताकृत यूष अर्थात् थोड़ासा लवण, घी इत्यादि डालकर अल्प संस्कृत, और कृताकृत मांसरस दे। अर्थात् वैद्य को योग्य लगे तब योग्य प्रकार से आहार को संस्कार युक्त विधि से देना सम्मत ही है। तालिका देखें।

४. संतर्पण चिकित्सा

प्रायः सभी आतुरों में वमन के बाद संसर्जन क्रम करने का विधान है। तथापि संसर्जन क्रम में जो पेयादि क्रम है—'इसमें पेया अभिष्यंदी और कफवर्धनकारक होती है। अतएव दोषादि को देखकर संसर्जन के स्थान में तर्पणादि क्रम भी किया जाता है। सुश्रुत ने दो कुलत्थ इत्यादि का यूष देने का निर्देश किया है वहां डल्हण ने वात प्रधान में मांसरस, क्षीण कफ में पेया और कफवृद्धि में कुलत्थ यूष देने को कहा है इसका निर्देश पीछे कर आये हैं। चरक मतानुसार भी जिसका शोधन ठीक न हुआ हो, जो मद्यपान का आदी है, कफ प्रधान पित्त मध्य बल युक्त अवस्था में और जो वातपित्त प्रकृतिवाला आतुर हो, उसे पेयादि क्रम न देकर तर्पण देने को कहा।[१९९] तर्पण में पेया के बदले स्वच्छ तर्पण और विलेपी के स्थान में घनतर्पण देना चाहिए। तर्पण का अर्थ जेज्जट ने मृद्ग यूष और मांसरस देने का निर्देश किया

संसर्जन क्रम तालिका

दिन और अन्नकाल	प्रधान शुद्धि	मध्यशुद्धि	जघन्य शुद्धि
प्रथम दिन:-प्रात:	—	—	—
प्रथम दिन:-सायं	पेया	पेया	पेया
द्वितीय दिन:-प्रात:	पेया	पेया	विलेपी
द्वितीय दिन:-सायं	पेया	विलेपी	कृताकृत यूष
तृतीय दिन:-प्रात:	विलेपी	विलेपी	कृताकृत रस
तृतीय दिन:-सायं	विलेपी	अकृत यष	सामान्य भोजन
चतुर्थ दिन :-प्रात:	विलेपी	कृत यूष	×
चतुर्थ दिन:-सायं	अकृत यूष	अकृत मांसरस	×
पंचम दिन:-प्रात:	कृत यूष	कृत मांसरस	×
पंचम दिन:-सायं	कृत यूष	सामान्य भोजन	×
षष्ठ दिन:-प्रात:	अकृत मांसरस	×	×
षष्ठ दिन:-सायं	कृतमांसरस	×	×
सप्तम दिन:-प्रात:	कृतमांसरस	×	×
सप्तम दिन:-सायं	सामान्य भोजन	×	×

है। वाग्भट ने भी इसी तरह तर्पण देने को कहा है, इस पर अरुणदत्त ने प्रथमान्नकाल में ताजा सत्तु का तर्पण, द्वितीय अन्नकाल में पुराने चावल का भात, और तीसरे अन्नकाल में मांसरस देना चाहिए ऐसा कहा है।[१०१] चरक ने संतर्पणीय अध्याय में कुछ तर्पण दिये हैं वे इस प्रकार हैं।[१०२]

१. शर्करा, पिप्पली, तैल, घी तथा मधु ये समभाग तथा इन सबके मिलित के दुगने प्रमाण में सत्तु मिलाकर इनका मंथ बनाकर पिलावें। यह तर्पण तृष्णा तथा ऊर्ध्ववात, कृश ज्वरित और मूत्रकृच्छ्र में लाभप्रद है।

२. सत्तु, मद्य, मधु, खांड़ इसका तर्पण वात, पित्त, कफ मल-मूत्रादि का अनुलोमन करता है।

३. फाणित, सत्तु, घी, दही का पानी, खट्टी कांजी का तर्पण उदावर्त में अच्छा होता है।

४. खजूर, द्राक्षा, वृक्ष्माल, इमली, अनारदाना, फालसा, आंवला, इनसे मंथ बनाकर पिलावें।

५. **वमनोत्तर शोधन की सिद्धता**[१०३]—वमन के बाद यदि अन्य उपक्रम न करना हो तो जिस व्याधि के लिए शोधन किया गया था उसकी शमन चिकित्सा प्रारंभ करें। वमन के बाद यदि विरेचन करना हो तो ७वें दिन शाम को प्राकृत भोजन के बाद पुन: ९वें दिन से स्नेहपान प्रारंभ करें। स्नेहपान ऐसा करें कि वमन के १५वें दिन विरेचन आना चाहिए। यह दूसरा स्नेहपान काल पूरे ७ दिन तक आवश्यक नहीं है। ९वें दिन से ११वें दिन तक स्नेहपान १२, १३ और १४वें दिन विश्रामकाल और १५वें दिन विरेचन दिया जाये। मध्य शोधन वालों में और जघन्य शोधन वालों में यह क्रम कुछ कम हो सकता है तथापि इसका खास निर्देश नहीं मिलता।

डल्हण का कथन है कि वमन के बाद १५वें दिन ही विरेचन करावें न कि पहले और बाद में। इसमें यह तथ्य है कि धातु पाक क्रम के अनुसार कम-से-कम एक सप्ताह हो जाने के बाद ही पुन: स्नेहपान प्रारंभ करना ठीक है। यदि १५ दिन के पहले विरेचनार्थ क्रम प्रारंभ करें तो अग्निबल की मंदता के कारण आपत्तियां हो सकती हैं। १५ दिन के बाद अधिक दिन बिताने से पूर्वकृत स्नेहन स्वेदन का फल नहीं मिल सकता। अतएव जघन्य, मध्य शुद्धिवालों को भी १५वें दिन विरेचन आये यह व्यवस्था करनी चाहिये। प्रवर शुद्धि में वमनोत्तर ६ दिन अन्नयामधूरादि संसर्ग (तर्पणादि क्रम) कर, ६ दिन स्नेहपान कर १२, १३, १४वें दिन विश्राम और स्वेदन कर १५वें दिन विरेचन करावें।[१०४] चरक ने भी ९ वें दिन स्नेहपान या अनुवासन देने को कहा है। इसमें वमन के बाद विरेचन देना हो तो नववें दिन से स्नेहपान कर पूर्वोक्त क्रम से विरेचन करावे और विरेचन के बाद बस्ति देना हो तो ९वें दिन अनुवासन बस्ति दे ऐसा अर्थ किया जाना चाहिए।

मध्य तथा जघन्य में अनुक्रम से ५वें और ३रे दिन प्राकृत भोजन दिया जाता है, तथापि उनको स्नेहपान ९वें दिन से ही प्रारंभ करना प्रशस्त है।

चरकोक्त वमन कल्प

वमन विधि-विधान में पूर्व कर्म, प्रधान कर्म और पश्चात् कर्म के अनुसार विस्तारपूर्वक वर्णन अब तक किया है। अब वमन के लिए जो भिन्न-भिन्न योग बर्ते जा सकते हैं उनका विचार करेंगे। चरक के कल्पस्थान में वमनार्थ, मदनफल, जीमूतक ईक्ष्वाकु, धामार्गव, कुटज और कृतवेधन इनके अनेक योग वर्णन किये हैं। इनका वर्णन अत्यल्प फरक से सुश्रुत ने सूत्रस्थान के ४३ वें अध्याय में और वाग्भट ने कल्पस्थान के प्रथम अध्याय में दिया है। यहां, वमन के प्रत्यक्ष प्रयोग में द्रव्ययोग की सुविधा के लिए तथा छात्रों के ग्रंथाध्ययन प्रयोजन को, ध्यान में रखकर उन सब योगों का वर्णन किया जाता है।

१. मदनफल के वामक योग

१. **कषाय योग**—मदन फल के कषाय योगों की संख्या ९ है। इसमें मदनफल पिप्पलियों को अंतर्नख मुष्टि प्रमाण में या उचित प्रमाण में लेकर कूटकर, निम्नोक्त कषायों में से किसी एक के साथ रात भर भिगोवे। प्रात: (जिस दिन वमन करना हो) हाथ से अच्छी तरह मसलकर छान कर उसमें सैंधव, मधु और घी मिलाकर एक शराब प्रमाण में (३२ तोला) पिलावे। यह बार-बार एक-एक ग्लास भरकर पिलावे। प्रत्येक बार वमन होता है। इस तरह सम्यक् वमन के अपित्त दर्शनादि लक्षण मिलने तक पिलाये।

कषाय—	१. यष्टीमधु	२. कोविदार	३. कर्बुदार
	४. नीप कषाय	५. विदुलकषाय	६. बिंबी
	७. शणपुष्पी	८. सदापुष्पी	९. प्रत्यक् पुष्पी

२. **मात्रा योग**—मात्रा योग आठ है। मदनफल पिप्पलियों के दो भाग को कोविदारादि ८ द्रव्यों (यष्टीमधु छोड़कर बाकी उपर्युक्त) के क्वाथ से २१ बार परिश्रुत करें। फिर इसका १/३ भाग रस को पीसकर हरीतकी, बहेड़ा या आंवले के प्रमाण की मात्रा में उपर्युक्त क्वाथ में से एक क्वाथ ४ पल में मिलाकर मर्दन करें। इस तीव्र कफ स्राव, ग्रंथि, ज्वर, उदर और अरुचि रोग में वमनार्थ पिलावें। ८ क्वाथ के कारण ८ योग होते हैं।

३. दूध और घी इत्यादि के साथ योग—इनकी संख्या ५ है।

१. मदनफल पिप्पली और दूध इसे क्षीरपाक विधि से सिद्ध करें। दो फलपिप्पली और २० तोला दूध लेकर ५ तोला प्रमाण तक पकाकर, सिद्ध दूध पिलायें।

२. इसी दूध से दही जमाकर उस दही का प्रयोग करें यह दूसरा योग है।

३. दही के ऊपर का पानी (सर) का प्रयोग छर्दि, तमक और प्रसेक में करें।

४. उपर्युक्त दही में से तक्र बनाकर मलाई निकाल ले इसका प्रयोग पित्त प्रकोप में तथा कफ के लिपित होने पर, उर, कंठ और हृदय रोग में करें।

५. इसी से मक्खन निकाल कर उसका मदनफल, जीमूत, ईक्ष्वाकु, धामार्गव, कुटज, कृतवेधन इनके कल्क या क्वाथ के साथ सिद्धकर (घी बनाकर) प्रयोग करें। यह कफज मंदाग्नि तथा शरीर शुष्कता में फायदा करता है।

४. घ्रेय योग—मदनफल को सुंघकर वमन कराने की यह अभिनव पद्धति है। प्रथम अध्याय में देखा गया था कि भगवान बुद्ध को 'घ्रेय' योग से उत्पल सुंघाकर विरेचन करवाये थे। यहां उसी प्रकार का वमन योग निर्दिष्ट है। इसकी पद्धति यह है कि—मदनफल पिप्पलियों को पहले मदनफलादि, (मदनफल, जीमूतक, ईक्ष्वाकु, धामार्गव, कुटज और कृतवेधन) इन छः द्रव्यों के क्वाथ से पृथक् २१ बार भावना दे और महीन पीसकर बारीक पुष्पराज के समान चूर्ण करें। फिर बड़े तालाब में उत्पन्न बड़े कमल पुष्प पर सायंकाल में उसको फैला दे। प्रातः काल में उस कमल पुष्प को निकाल लें। सुकुमार लोगों में, जिन्हें औषधि खिलाकर वमन नहीं कराया जा सकता, उन्हें कफपित्त का उत्क्लेश उनमें हरिद्रा, कृशरा, क्षीर, यवागु में से कोई एक, सैंधव, गुड़ तथा फाणित मिलाकर खिलावे और तत्पश्चात् उपर्युक्त कमल सुंघावे। इनसे वमन हाता है।

५. फाणित तथा चूर्ण के योग—इनकी संख्या दो है। १. भल्लातक विधान से मदनफल पिप्पली को परिश्रुत कर इसके स्वरस को मंद आंच पर पकाये। जब फाणित के सदृश गाढ़ हो जाये और तार छोड़े तब नीचे उतारे। इसे चटाने से वमन होता है। २. अथवा मदनफल पिप्पलियों को धूप में सूखाकर चूर्ण बनाकर जीमूतकादि क्वाथ के साथ कफस्थानगत पित्त में प्रयोग करें।

६. वर्तिक्रिया में योग—इनकी संख्या ६ है। मदनफल पिप्पली को मदनफलादि ६ द्रव्यों (मदनफल, जीमूत, ईक्ष्वाकु, धामार्गव, कुटज और कृतवेधन) के क्वाथ से पकाकर इनकी वर्तियां बनाये। ये वर्तियाँ पूर्ववत् पिलाकर वमन कराये ऐसा कहा जाता है। हमारी कल्पना के अनुसार इन वर्तियों को कंठ को उत्तेजना करने में (यांत्रिक वमन-Mechanical Vomiting) प्रयुक्त करना उचित है। जैसे गुदवर्ति गुदा में उत्तेजना कर विरेचन कराती है, वैसे ही यह वर्ति, कटु, तिक्त, मधु रस, उष्ण, तीक्ष्ण और अवसादक गंध से ग्रसनिका के पास लगाने से उत्तेजना से वमन होता है।

७. अवलेह योग—मदनफल चूर्ण का निम्नोक्त २० में से किसी एक द्रव्य के क्वाथ से अवलेह सिद्धकर उनका वमन में प्रयोग करें।

१. आरग्वध	२. कुटज	३. विकंतक (स्वादु कंटक)
४. पाठा	५. पाटला	६. गुंजा

७. मूर्वा	८. सप्तपर्ण	९. नक्तमाल (यहां करंज)
१०. पिचुमर्द	११. पटोल	१२. कारवेल्लक
१३. गुडूचि	१४. सोमवल्क	१५. हिंस्रा (कंटकारी)
१६. पिप्पली	१७. पिप्पली मूल	१८. गज पिप्पली
१९. चित्रक	२०. शृंगवेर (सोंठ)।	

८. उत्कारिका योग—इनकी संख्या २० है। उत्कारिका रोटी के आकार की बनाई जाती है और इसमें मधु और घृत मिलाकर आकार दिया जाता है। मदनफल पिप्पलियों को निम्नोक्त २० कषायों में किसी के साथ मिलाकर विधिवत् उत्कारिका बनाये।

क्वाथ

१. एला	२. हरेणुका	३. शतपुष्पा
४. कुस्तुम्बुरु (धनिया)	५. तगर	६. कुष्ठ
७. दालचीनी	८. चोरक	९. मरुवक् (मरुआ)
१०. अगर	११. गुग्गुलु	१२. एलवालुक
१३. श्रीवेष्टक (गंधविरोजा)	१४. परिपेलव (केवटी मोथा)	१५. जटामांसी
१६. शैलेयक	१९. पारावत पदी (ज्योतिष्मती)	१७. स्थौणेयक (ग्रंथिपर्ण)
१८. सरल (चिड)		
२०. अशोक रोहिणी (अशोक सदृश)।		

इस उत्कारिका को यथा योग्य मात्रा में, दोषानुसार प्रयोग करें। जो चूर्ण स्वरूप में औषधि नहीं ले सकते उनके लिए आकार भेद, रुचिभेद के कारण भिन्न प्रयोग अपेक्षित है।

९. मोदक योग—इनकी भी संख्या २० है। उपर्युक्त उत्कारिका के क्वाथ के साथ मिलाकर मोदक विधान से मोदक बनाकर प्रयोग करें। मोदक वटक से बड़ा अंडाकर पदार्थ है, जिसमें करीब १ से २ तोला प्रमाण में द्रव्य रहता है।

१०. अपूप योग—इनकी संख्या १६ हैं। तिल और शाली चावल चूर्ण को मदनफल पिप्पलियों के क्वाथ से भावना दे। इनसे निर्मित आटे को (सूखाकर पिष्ट करने बाद रहा हुआ आटा) मदनफलादि १६ द्रव्यों के कषाय के साथ मिलाकर अपूप पद्धति से अपूप बनाये।

११. शष्कुली योग—ये भी १६ हैं। इसमें भी तंडुल और तिल को मदनफल स्वरस से भावित कर आटे को निम्नोक्त क्वाथ से (इसी क्वाथ से अपूप में अपूप बनाते हैं।) मिलाकर शष्कुली बनावे और वमन में प्रयोग करावे।

क्वाथ

१. सुमुख	२. सुरस	३. कुठेरक
४. कांडीर	५. कालमालक	६. पर्णासक (ये सब तुलसी के प्रकार हैं।)
७. क्षवक (नक छिकनी)	८. फणिज्झक (गंधतुलसी)	९. गुंजन
१०. कासमर्द	११. भृंगराज	१२. पोटा (काश)

१३. इक्षुबालिका १४. कालंकतक १५. दंड (तृण प्रकार)
१६. एरका।

षाडवादि योग—इनकी संख्या १० है। बदर (बेर) के

१. षाडव	२. राग (आचार)	३. लेह
४. मोदक	५. उत्कारिका	६. तर्पण
७. पानक	८. मांसरस	९. यूष और

१०. मद्य के साथ मदनफल पिप्पलियों का प्रयोग वमनार्थ करें।

२. जीमूतक के वामक योग

१. जीमूतक के क्षीर योग—इनकी संख्या छः है।

१. अच्छे भूमि में उत्पन्न रस, गुण, वीर्य से समृद्ध जीमूतक के पुष्पों से क्षीर सिद्ध कर उससे वमन कराये।

२. फल उत्पत्ति के तुरन्त बाद उन्हें लेकर उनसे सिद्ध दूध का प्रयोग करें।

३. फलों में रोमोत्पत्ति होने के बाद उन्हें लेकर उनसे दूध सिद्धकर उसकी मलाई का प्रयोग करें।

४. इस सिद्ध दूध से दही बनाकर बधिसर से वमन करावे।

५. फल खूब पकाकर हरे, पीले हो तब उनसे सिद्ध क्षीर का प्रयोग करें।

६. फल को सूखाकर, चूर्ण बनाकर इस चूर्ण का १ शुक्ति मात्रा में (२ तोला) दूध के साथ प्रयोग करें।

२. मदिरा मण्ड का योग—यह एक योग है। कफज अरुचि, कास, पाण्डु, तथा राजयक्ष्मा में जीमूतक फल के चूर्ण को सुरामण्ड में मिलाकर २४ घंटा तक संधान कर, विधिवत् प्रयोग करें।

३. अन्य द्रव्यों के साथ योग—अन्य द्रव्यों के साथ जीमूतक के प्रयोग से कुल १२ योग कहे हैं। वे इस प्रकार के हैं।

१. कोर्विदार	२. कर्बुदार	३. नीप	४. विदुल
५. बिंबी	६. शणपुष्पी	७. सदापुष्पी	८. प्रत्यकपुष्पी
९. यष्टीमधु	१०. गुडुचि	११. निंब	१२. कुटज

इनके क्वाथ के साथ प्रयोग करें। इन सबको कषाय योग कहा जा सकता है।

४. आरग्वधादि कषाय के साथ योग—इनकी संख्या सात है। नीचे उल्लेखित आरग्वधादि सात औषधियों में से किसी एक के क्वाथ के साथ जीमूतक का वमनार्थ प्रयोग करें।

१. आरग्वध	२. कुटज	३. स्वादु कंटक
४. पाठा	५. पाटला	६. गुंजा

७. मूर्वा—ये योग पित्त, कफ तथा ज्वर में प्रयोज्य हैं।

५. वर्तिक्रिया के योग—वर्ति के योगों की संख्या आठ है। पक्व जीमूतक फल २

भाग लेकर, कोविदारादि आठ द्रव्यों से २१ बार पृथक्-पृथक् परिस्रावित करें। फिर उसी कषाय से जीमूतक फल के तीसरे भाग को पीस कर कोल मात्रा में (वर्ति बनाकर) प्रयोग करें।

यहां संदिग्धता है। वर्णन स्थान में मात्रा योग कह कर, अध्याव संगति में 'वर्तियोग' कहा है। कोल प्रमाण की वर्ति बनाकर उनका वर्तिवत् प्रयोग करना भी संगत है।

६. जीवकादि के साथ योग—इनकी संख्या चार है। जीवक, ऋषभक, इक्षु तथा शतावरी इन चार द्रव्यों के साथ पृथक्-पृथक् जीमूतक का वमनार्थ प्रयोग करें।

७.घृत के साथ योग—घृत के साथ योग एक ही है। जीमूतक सिद्ध क्षीर से घी तैयार कर इसका मदनफलादि कषायों के साथ विधिवत् सेवन करावे। यह उत्तम वामक घृत है। इस तरह जीमूतक के कुल ३८ योग होते हैं।

३. ईक्ष्वाकु के वमन योग

१. क्षीर योग— इनकी संख्या आठ है। ये निम्नलिखित प्रकार के हैं।

१. पुष्परहित ईक्ष्वाकु के प्रवालों को (नये पत्तों को), मुष्टिप्रमाण में लेकर एक प्रस्थ (६४ तोला) दूध में पकाकर दूध सिद्ध करें। पित्त भूयिष्ठ ज्वर में वमनार्थ इस दूध का प्रयोग करें।

२. ईक्ष्वाकु के फूलों से दूध सिद्ध कर पेया बनाकर पिलावे।

३. ईक्ष्वाकु फल से सिद्ध दूध की पेया बनाकर पिलावे।

४. रोमश ईक्ष्वाकु फल के सिद्ध दूध से मलाई निकालकर प्रयोग करें।

५. इसी दूध के दधिसर का वमन के लिए उपयोग करें।

६. ईक्ष्वाकुफल से स्वरस निकालकर तिगुना दूध डालकर सिद्ध दूध उरस्थ कफ, पीनस और स्वरभेद में दे।

७. ईक्ष्वाकु फल की मज्जा से दूध सिद्ध करें। इस दूध से दही बनावे। यह सकफ कास श्वास में प्रयुक्त करें।

८. बकरी के दूध में ईक्ष्वाकु बीजों को भावित कर सिद्ध दूध विष, गुल्म, उदर ग्रंथि और गंडमाला तथा श्लीपद में प्रयोग करें।

२. सुरामंड और तक्र के योग—ये तीन योग हैं।

१.पके हुए ईक्ष्वाकु फलों को सुरामंड में मिलाकर पिलावे।

२. ईक्ष्वाकु फल मज्जा को मस्तु के साथ पिलावे।

३. इसी प्रकार से सिद्ध तक्र में मधु और सैंधव मिलाकर पिलावे।

३. घ्रेय योग—मदनफल के सदृश इसका भी घ्रेय (सूंघकर वमन कराने योग्य) योग है। ईक्ष्वाकु के फलों के रस को सूखाकर इसका चूर्ण करें, यह चूर्ण पुष्पमाला पर बुरक दे। यह माला धारण करने से गंध से वमन कराती है।

४. पलल योग—ईक्ष्वाकु फल की मज्जा को गुड़ और पलल (मांस) के साथ सेवन करावे। एक संख्या है।

५. तैल तथा घृत योग—इसमें प्रत्येक का एक योग है। ईक्ष्वाकु सिद्ध तेल और घी का यथावत् सेवन करावे।

६. **वर्धमान योग**—इनकी संख्या छः है। इसमें मदनफलादि छः वामक द्रव्यों के क्वाथ के साथ ईक्ष्वाकु बीज ५० से प्रारंभ कर क्रमशः १० से बढ़ाकर १०० बीजों तक ले जाकर दिया जाता है। अर्थात् मदनफल के क्वाथ के साथ ५० बीज, जीमूत क्वाथ के साथ ६० बीज, ईक्ष्वाकु क्वाथ के साथ ७० बीज, धामार्गव क्वाथ के साथ ८० बीज, कुटज क्वाथ के साथ ९० बीज और कृतवेधन क्वाथ के साथ १०० बीज मिलाकर प्रयोग करें। यह कल्पना भी संदिग्ध है। यहां चरक में आसुत और आशतं ऐसे दो पाठ हैं। आसुत के अनुसार क्वाथ में संधान कर आसुत बनाकर दे। इसमें १० बीज से प्रारंभ कर ५० तक वर्धमान प्रयोग है।

७. **कषाय योग**—इनकी संख्या ९ है। इनमें

१. यष्टीमधु	२. कोबिदार	३. कर्बुदार
४. नीप	५. विदुल	६. बिंबी
७. शणपुष्पी	८. सदापुष्पी	९. प्रत्यकपुष्पी के क्वाथ के साथ अलग-अलग

वमन में प्रयोग किया जाता है।

८. **वर्ति योग**—वर्ति योगों की संख्या ८ हैं। इनमें यष्टीमधु छोड़कर शेष आठ द्रव्यों के क्वाथ के साथ ईक्ष्वाकु को अलग-अलग सिद्ध कर वर्ति बनाये। इसका प्रयोग मदनफलवर्ति के सदृश् है।

९. **अवलेह योग**—अवलेह योग ५ है। बृहत्पंचमूल के द्रव्यों के (बेल, गंभारी, पाटल, अग्निमंथ, श्योनाक) क्वाथ के साथ अलग-अलग ५ अवलेह बनावे। अवलेहार्थ ईक्ष्पाकु बीज एक अंजली (४पल=१६ तोला) लेना चाहिये और ८ गुना क्वाथ के साथ पकाकर चतुर्थांश शेष रखे। इसमें फाणित १/४ भाग डाले, घी १ भाग, ईक्ष्वाकु बीज १ भाग, धामार्गव १/२ भाग, जीमूतक १/२ भाग, कृतवेधन १/२भाग, कुटज १/२भाग डालकर विधिवत् लेह तैयार करें।

१०. **मंथ योग**—एक है। कफ ज्वर, कास, कंठरोग, तथा अरुचि में ईक्ष्वाकु के रस से भावित सत्तु को पिलाये।

११. **मांसरस योग**—ईक्ष्वाकु के फल की मज्जा लेकर उसके सम भाग मांस मिलाकर २० तो. पानी डालकर एक चतुर्थांश ५ तोला शेष मांसरस बनावे। यह वमनार्थ पिलावे, इस तरह ईक्ष्वाकु के कुल ४५ वमनयोग होते हैं।

धामार्गव के वमन योग

१. **धामार्गव के पल्लव योग**—इनकी संख्या ९ है। वस्तुतः ये भैषज्य कल्पना के अनुसार गुटिका योग है। चरक ने इन्हें पल्लव (पत्र) के योग कहा है। धामार्गव के पत्तों को लेकर उनका स्वरस निकाल, इनसे गुटिकाएं बनाये। इनका प्रयोजन के अनुकूल कोविदारादि ८ औषधियों के क्वाथ तथा यष्टीमधु क्वाथ के साथ प्रयोग करें।

२. **क्षीरपाक योग**—इनकी संख्या ४ है। जीमूतक कल्प में जैसा कहा है उसी प्रकार के योग भी बरते। अर्थात् धामार्गव के पुष्पों से सिद्ध क्षीर, फल से सिद्ध क्षीर, तथा रोमश फल का सिद्ध क्षीर और फल चूर्ण को सूखाकर तत्सिद्ध क्षीर का वमन में प्रयोग करें।

३. **सुरायोग**—यह १ है। सुरासव के साथ धामार्गव को मिलाकर उसको वमनार्थ दे।

४. **कषाय योग**—इनकी संख्या २० है। धामार्गव में से बीज निकाल कर उसमें गुड़ भर दे। रातभर तक ऐसा रखकर प्रातः काल उसे यष्टीमधु क्वाथ, तथा कोविदरादि ८ क्वाथ, और जात्यादि ११ औषधक्वाथों के साथ (यथानुकूल) वमनार्थ पिलावे। जात्यादि क्वाथ नीचे कहे गये हैं।

जाती आदि ११ क्वाथ—

१. जाती (चमेली)	२. जावित्री
३. हल्दी	४. चोरक
५. वुश्चीर (श्वेत पुनर्नवा)	६. महासहा (माषपर्णी)
७. क्षुद्रसहा (मुद्गपर्णी)	८. हैमवती (वचा)
९. बिम्बी	१०. रक्त पुनर्नवा ११. कासमर्द।

५. **कल्क योग**—कल्क योग एक है। धनिया और तुंबुरु के यूष के साथ धामार्गव के कल्क का वमन में प्रयोग करें। इसे यूष्य योग भी कहा जा सकता है।

६. **शकृद्रस के योग**—इनकी संख्या १२ है। धामार्गव चूर्ण की कोल प्रमाण (बेर जितनी) वर्ति बनावे। इसे १ अंजली प्रमाण गोबर के रस से प्रयोग करें। इसी तरह पृषत् (हरिणभेद) ऋष्य (नीले अंडकोष का हरिण), कुरंग (चंचल हरिण), अश्वतर (खच्चर), गोकर्ण (गोमुखी मृग), रासभ (गदहा), हरिण, बकरी, श्वदंष्ट्र (चार दांतवाला मृग विशेष या क्षुद्र व्याघ्र) भेड़ और ऊंट इनके शकृद्रस के साथ प्रयोग करना यह शकृद्रस की कल्पना है।

७. **अन्न योग**—भात के साथ मिलाकर धामार्गव चूर्ण छर्दि और हृद्रोग में दे।

८. **घ्रेय योग**—यह १ है। पहले जैसा ही—धामार्गव के चूर्ण को उसी के स्वरस से भावना देकर बारीक चूर्ण कर उसे कमल पुष्प पर बुरक दे। रोगी को मांसरस, दूध, यवागू, आदि खूब पिलाकर कमल सुंघाकर वमन करावे।

९. **अवलेह योग**—ये १० संख्यांक हैं। धामार्गव क्वाथ में निम्नलिखित १० में से किसी एक औषधि का प्रक्षेप कर, शर्करा, मधु, गिलाकर विधिवत् लेह तैयार करें। यह हृदयदाह, कास, पित्तप्रकोप, कफविकार में सुखोदक अनुपान (सुखोष्ण जल) के साथ उपयुक्त करें।

क्वाथ में प्रक्षेप द्रव्य—

१. जीवक	२. ऋषभक	३. शतावरी	४. आत्मगुप्ता (कौंच)
५. वीरा (क्षीरकाकोली)	६. काकोली	७. श्रावणी (मुंडी)	८. मेदा
	९. महामेदा	१०. मुधूलिका।	

१०. **घृत योग**—यह १ है। धामार्गव से विधिवत् सिद्ध क्षीर से घी निकाल कर उसे मदनफलादि द्रव्यों के कल्क से सिद्ध कर वमनार्थ दे।

५. कुटज के वमन योग—(वत्सक के योग)

१. **कषाय योग**—इनकी संख्या ९ है। योग्यकाल में कुटज फलों (इंद्रयव) का संग्रह कर इन्हें सूखा ले। इसके चूर्ण को अंतर्नखमुष्टि प्रमाण में—कोविदारादि आठ कषाय और यष्टिमधु कषाय से अलग-अलग भावना देकर इनका वमनार्थ प्रयोग करें। यहां भावना का

मतलब है कि इंद्रयवों में क्वाथ इतना डाले कि वे क्वाथ में डूबते रहें। रातभर भिगोकर दूसरे दिन उसे हाथ से मसलकर क्वाथ छान ले। यह क्वाथ प्रयोज्य है।

२. **चूर्ण योग**—ये पाँच हैं। इंद्रयव चूर्ण को अर्क दूध की आठ दिन तक भावना देकर उनका वमनार्थ प्रयोग करें। इसी तरह जीवक क्वाथ, जीमूतक फल, ईक्ष्वाकु और जीवंती के क्वाथ से भावना देकर वमन में उपयोग करें।

३. **सलिल योग**—सर्षपजल (सरसूं से सिद्ध जल) यष्टिमधु जल, तथा लवण जल के साथ इंद्रयव का प्रयोग सलिल योग है। ये उपर्युक्त तीन संख्यांक है।

४. **कृशरा योग**—यह एक है। वत्सक (इंद्रजव) कृशरा में (खिचड़ी) डालकर, खिचड़ी खिलाकर वमन करावे।

६. कृतवेधन (कोशातकी) के वमन योग

१. **क्षीर योग**—इनकी संख्या चार है। ये पहले जीमूत, धामार्गव के क्षीर योग के समान सिद्ध किये जाते हैं। अर्थात् कोशातकी के फूल, फल, लोमशफल शुष्कचूर्ण से दूध सिद्ध कर प्रयोग करें, अथवा दूध, मलाई, दधि, दधिसर का प्रयोग करें।

२. **सुरा योग**—जीमूतक सुरा योग में जो विधि बताई है उसी प्रकार से कृतवेधन सुरा का प्रयोग करें।

३. **कषाय योग**—क्वाथ योग बाईस है। कृतवेधन एक या दो फल लेकर शुष्क चूर्ण कर कोविदारादि ८ कषाय, यष्टिमधु कषाय, और आरग्वध, वृक्षक, स्वादु कंटक, पाठा, पाटला, शार्गेष्टा (गुंजा) मूली, सप्तपर्ण, नक्तमाल, पिचुमर्द, पटोल सुषवी और गुडूची इनके क्वाथ के साथ प्रयोग करें। इस तरह कोविदारादि ८, यष्टिमधु १ और आरग्वधादि १३ क्वाथ मिलाकर कुल २२ योग होते हैं।

४. **पिच्छा योग**—ये दस हैं। पिच्छा का अर्थ है पिच्छिल, लुबाववाला द्रव्य। शरीर में भी पिच्छा धातु होती है। लुबाव युक्त चिकने द्रव्य के साथ प्रयोग करना पिच्छा योग है। शाल्मली मूल आदि ऐसे द्रव्य हैं जो पिच्छायुक्त होते हैं, उनके साथ मिलाकर लुबावयुक्त बनाकर ये योग दे। इन दस द्रव्यों के नाम इस प्रकार हैं

१. शाल्मलीमूल	२. शाल्मकल्क (शाल्मली भेद)	३. भद्रपर्णी (गंभारी)
४. एलापर्णी (नागबला)	५. उपोदिका (पोई)	६. उद्दालक (बनकोदौ)
७. धन्वन (धामन)	८. राजादन (खीरनी)	९. उपचित्रा (दंती)
१०.गोपी (सारिवा)।		

घृत योग—कृतवेधन से दूध सिद्ध करें। इस सिद्ध दूध से मदनफलादि द्रव्यों के साथ घृत सिद्ध करें। इसका प्रयोग वमन में करें।

६. **वर्तिक्रिया योग**—इनकी संख्या छः है। मदनफल वर्ति के समान ही यह बनाई जाती हैं, और इसका प्रयोग भी पूर्ववत् है। वर्ति—

१. मदनफल २. जीमूतक ३. ईक्ष्वाकु ४. धामार्गव ५. कुटज

६. कृतवेधन इनके क्वाथ के साथ पाक कर, गाढ़ा होने के बाद वर्ति बनाकर वमन में प्रयोग करें।

७. **लेह योग**—इनकी संख्या आठ है। कोशातकी ५० संख्या में लेकर कोविदारादि ८ द्रव्यों के क्वाथ के साथ पृथक्-पृथक् पाक कर विधिवत् लेह तैयार करें। इसमें एक भाग कोषातकी और आधा भाग मदनफलादि द्रव्यों को मिलाकर लेह तैयार करके उपयोग करें।

८. **मांसरस योग**—इसकी संख्या सात है। मदनफलादि सात क्वाथों के साथ कोषातकी मिलाकर, समान भाग मांस मिलाकर मांसरस विधि से सिद्ध कर प्रयोग करें।

९. **इक्षुरस योग**—इक्षुरस के साथ कोशातकी चूर्ण सिद्ध कर वमनार्थ प्रयुक्त करें।

विवेचन—इस तरह मदनफलादि द्रव्यों के कल्प वमन में प्रयुक्त किये हैं जिनका रोगी स्वभाव, आहार, विहार, पथ्य, दोष इत्यादि के अनुसार प्रयोग अपेक्षित है। इनमें--

मदनफल—इसके कषाय योग ९, मात्रायोग ८, पयादि ५, प्रेय १, फाणितादि २, वर्ति ६, लेह २०, उत्कारिका २०, मोदक २०, अपूप १६, शष्कुली १६, षाडवादि १०, ऐसे कुल १३३ कल्प हैं।

जीमूतक—के क्षीर योग ६, सुरामंड १, अन्य योग १२, आरग्वधादि क्वाथ के ७, वर्ति ८, जीवकादि ४ तथा घृत १ ऐसे कुल ३१ योग हैं।

ईक्ष्वाकु—के क्षीर पाक ८, सुरामंड, मस्तु तक के ३,प्रेय १, पलल १, तैल १, वर्धमान ६, घृत १, यष्टिमधु आदि कषाय के ९, वर्तिक्रिया ८, लेह ५, मंथ १, मांसरस १, योग इस तरह कुल ४५ योग हैं।

धामार्गव—के पल्लव (गुटी) योग ९, क्षीर योग ४, सुरा १, कषाय २०, कल्क १, शकृद्रस १२, अन्न (भात) १, प्रेय १, लेह १०, घृत १, इस तरह कुल ६० योग हैं।

कुटज—के कषाय ९, चूर्ण ५, जल के ३, कृशरा का १ योग ऐसे कुल १८ योग हैं।

कृतवेधन के—क्षीरपाक ४, सुरा १, कषाय २२, पिच्छायोग १०, घृत १, वर्ति ६, लेह ८, मांसरस ७, इक्षुरस १ योग ऐसे कुल ६० योग हैं।

इस तरह कुल वमनार्थ ३५५ योगों का प्रयोग किया जा सकता है।

रोगावस्थानुसार चरकोक्त कतिपय वमन संदर्भ

चरक ने वमन का व्यापक रीति से भिन्न-भिन्न रोगों में प्रयोग किया है। उनको तालिका में दिग्दर्शित किया जाता है।

तालिका

क्र.	अधिकार	वमन विषय	संदर्भ
१.	ज्वर	कफ प्रधान, आमाशय में दोष उत्क्लिष्ट हो और वाम्य हो तो वमन करावें।	चि. ३-१४६
२.	ज्वर	बहु दोष में मदनफल पिप्पली को लवण जल के साथ देकर वमन करावे।	चि.३-२२७,२२८
३.	ज्वर	विषमज्वर में स्नेहन स्वेदन कर वमन।	३-३००,३०१

क्र.	अधिकार	वमन विषय	संदर्भ
४.	रक्तपित्त	अधोमार्ग रक्तपित्त जहाँ दोष बलवान हो और आतुर बल अच्छा हो वहाँ मदनफल तथा कुटज द्वारा वमन।	चि. ४-५५,५६
५.	गुल्म	वातगुल्म में कफ बढ़कर यदि अग्निमांद्य, तंद्रा, अरुचि गौरव हृल्लास करे तो वमन से उसका निर्हरण करें।	चि. ५-२१
६.	गुल्म	कफ गुल्म में अग्निमांद्य मंद-वेदना, गौरव, कोष्ठ स्तैमित्य, उत्क्लेश, अरुचि, हो तो वमन करावे।	चि. ५-४९ ५-१३७
७.	प्रमेह	दोष बलवान हो, आतुर स्थूल हो तो संशोधन। संशोधन में उर्ध्व मलापनयन।	६-१५,१६ ६-२५
८.	कुष्ठ	श्लेष्मोत्तर कुष्ठ में वमन, सामान्य चिकित्सा, बहुदोष में संशोधन।	चि. ७-४०
९.	कुष्ठ	दोषोत्क्लेश में वमन करावे। वमनार्थ कुटज, मदन, पटोल, निंबरस, यष्टिमधु और मधु का निर्देश।	चि. ७-४२
१०.	राजयक्ष्मा	दोषाधिक्य में स्नेहन, स्वेदन और मृदु वमन।	चि. ८-८७
११.	राजयक्ष्मा	यक्ष्मा में कफ प्रधान ज्वर हो और कफ प्रसेक हो तो वमन मदनफल दूध का उपयोग।	चि.८-११७, ११८
१२.	उन्माद	कफपित्तोद्भव में प्रथम वमन करावें।	चि. ९-२६
१३.	अपस्मार	हृदय, मन और स्रोतों में मल के द्वारा आवरण हुआ हो तो तीक्ष्ण वमन दे।	चि. १०-१४
१४.	अपस्मार	कफज अपस्मार में वमन।	चि. १०-१५
१५.	ग्रहणी	जिसे भोजन का विष्टंभ हुआ हो, विदग्धाजीर्ण हो, मुखप्रसेक, रुजा, दाह, अरुचि, गौरव, तथा आमलक्षण हो, उसे गरम जल मिलाकर वमन करावे। गरम पानी में मदनफल, पिप्पली या सरसों का चूर्ण डालकर वमन करावे।	चि. १५-७३,७४

क्र.	अधिकार	वमन विषय	संदर्भ
१६.	ग्रहणी	कफज ग्रहणी में वमन।	चि. १५-१४१
१७.	पांडु	पांडुरोगी का स्नेहनकर तीक्ष्ण वमन करावे।	चि. १६-३९
१८.	हिक्का-श्वास	हिक्का श्वास में अभ्यंग स्वेद कर स्निग्ध भात में कफवर्धन कर वमन करावें। द्रव्य-पिप्पली, मधु, सैंधव।	चि. १७-७४,७५,७६
१९.	हिक्का-श्वास	नवज्वर तथा आम दोष युक्त श्वास में कास अधिक हो तो वमन।	चि. १७-१२०
२०.	हिक्का-श्वास	श्वास में स्वरभंग हो तो वमन।	चि. १७-१२१
२१.	कास	पैत्तिक, सकफ कास में घी पिलाकर वमन। द्रव्य मदन फल, गंभारी, यष्टीमधु क्वाथ।	चि. १८-८३
२२.	कास	बलवान कफ कास में प्रथम वमन।	चि. १८-१०४
२३.	च्छर्दि	आमाशयोद्भव है अत: वमन द्रव्य-जीमूतक फल।	चि. २०-२२
२४.	च्छर्दि	कफज छर्दि में वमन प्रशस्ति।	चि. २०-३४
२५.	च्छर्दि	पित्तज छर्दि में पित्त यदि कफाशय में—ऊर्ध्वामाशय में हो तो वमन।	चि. २०-२६
२६.	विसर्प	कफानुग कफ स्थानगत में वमन और तिक्त द्रव्य सेवन।	चि. २१-४४
२७.	विसर्प	कफ पित्तज विसर्प में वमन। द्रव्य-मदन, मधुक, निंब, कुटज फल, पटोल, पिप्पली, इंद्रजव।	चि. २१-५१,५२
२८.	विसर्प	रक्तपित्तोत्तर-ग्रंथि विसर्प में रुक्षण, लंघन, सेक, प्रदेह, सिरा-मोक्षण और वमन करावे।	चि. २१-११८,११९
२९.	तृष्णा	कफानुगतृष्णा, स्तंभ, अरुचि,अविपाक, छर्दि, आलस्यादि लक्षण में दही और मधु का तर्पण देकर लवण जल से वमन।	चि. २२-४८
३०.	तृष्णा	भक्तोपरोधज तृष्णा, स्नेहजन्य तृष्णा हो तो वमन। बलवानों में मद्याम्बु या गरम पानी से वमन।	चि. २२-५२,५३

क्र. अधिकार	वमन विषय	संदर्भ
३१. विष चिकित्सा	सामान्य चिकित्सा-वमन।	चि. २३-२५
३२. विष चिकित्सा	त्वक् मांसगतावस्था में रक्त-मोक्षण कर वमन।	चि. २३-४५
३३. विष चिकित्सा	आमाशयगत विष में वमन।	चि. २३-१२२
३४. विष चिकित्सा	विष में कफज लक्षण हो तो वमन।	चि. २३-१७१
३५. विष चिकित्सा	हृदय विदाह या कफप्रसेक में वमन।	चि. २३-१८०
३६. मदात्यय	कफज मदात्यय में वमन।	चि. २४-१६४
३७. त्रिमर्मीय	उदावर्त में अन्य चिकित्सा के बाद ऊर्ध्वानुलोमन (वमन) दे।	चि. २६-१६
३८ त्रिमर्मीय	हृत्स्तंभ, शिरोगौरव, अंगगौरव उद्गार, आनाह हो तो वमन।	चि. २६-२६
३९. त्रिमर्मीय	कफज हृद्रोग में वमन।	चि. २६-९६
४०. त्रिमर्मीय	पीनस में-कफोत्क्लेश हो तो वमन दे।	चि. २६-१५०
४१. योनिव्यापद्	स्तन्यदोष में सामान्य चिकित्सा में वमन। द्रव्य-वच, प्रियंगु, यष्टी, मदन-फल, कुटज, सर्षप, निंब, पटोल।	चि. ३०-२५१

वमन का कार्मुकत्व

वमनौषधियों का वामक कार्य किस प्रकार संपन्न होता है यह एक जटिल विषय है। वमन द्रव्यों की कार्य करने की पद्धति भिन्न-भिन्न प्रकार की है। प्रथम इनके बारे में जो शास्त्रीय तत्व हैं उनका अवलोकन करेंगे।

१. चरक कहते हैं कि उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, व्यवायि, विकाशी (वमन गुणवाली) औषधियां अपने वीर्य द्वारा हृदय को जाकर सभी धमनियों में प्रसृत हो कर, सूक्ष्म तथा स्थूल सभी स्रोतों में पहुंचती हैं, और वहाँ उष्ण गुण से दोषों का विलयन करती हैं, तीक्ष्ण गुण से उन्हें छिन्न-भिन्न करती हैं, इस तरह छिन्न दोष स्थान च्युत होकर, पूर्ववृत स्नेहन के कारण, जिस तरह स्निग्ध पात्र में मधु नहीं चिपक सकता उसी तरह बिना चिपके, अणुप्रवण भाव (सूक्ष्मता से स्रोतों में स्रवण करते हुए) के द्वारा आमाशय में आते हैं, और अग्नि वायु की भूयिष्ठता के कारण ऊर्ध्वभागहर प्रभाव के कारण उ[illegible] के द्वारा प्रेरित होर ऊपर फेंके जाते हैं और वमन होता है।[१०५] इसमें निम्नलिखित अवस्थाएं अध्ययनीय हैं।

१. औषधियाँ अपने वीर्य से हृदय को उत्तेजित करती हैं।
२. धमनियों में रसरक्त वाहिनियां तथा वातवाहिनियां दोनों के द्वारा प्रसृत होती हैं।
३. सूक्ष्म तथा स्थूल स्रोतों में (capillaries and cells) पहुंचकर कार्य करती हैं।

४. उष्ण तीक्ष्ण गुण से दोष विलयन और च्छेदन का कार्य।

५. सूक्ष्म गुण से तथा अणुप्रवण भाव से स्रोतोमुखों द्वारा स्रवित होकर आमाशय की ओर दोषों का लाना।

६. अग्निवायु भूयिष्ठता से ऊपर की ओर जाता।

७. ऊर्ध्वभाग हर प्रभाव से तथा उदानवायु से प्रेरित होकर अमाशय से ऊपर दोषों का फेंका जाना।

उपुर्यक्त अवस्थाएँ एक के बाद एक क्रम से होकर वमन होता है यह सामान्य अर्थ है, तथापि यह क्रम न समझकर भिन्न प्रकार का प्रभव समझना असंगत न होगा। अर्थात् वमन द्रव्य कुछ हृदय को उत्तेजित करके, कुछ धमनियों को उत्तेजित कर, तथा कुछ स्रोतों के स्तरपर रस रक्त में मिश्रीभूत होकर, उष्ण तीक्ष्णादि गुण से ऊर्ध्वभाग हर प्रभाव से इस प्रकार से काम करते हैं ऐसा इसका अर्थ होगा। चक्रपाणि टीका में कहते हैं कि औषधियों का धमनी में जाना वीर्य से है, न कि प्रत्यक्ष द्रव्य से। इसका अर्थ वे उष्ण तीक्ष्णादि गुण से धमनियों को उत्तेजित करते हैं ऐसा है। फिर विष्यंदनादि प्रक्रिया प्रत्यक्ष होती है ऐसा कहा है। परिप्लावन का अर्थ इतस्तत: जाना ऐसा कहा है। यह भी प्रत्यक्ष घटना है। इस तरह इनका प्रभाव उत्तेजनात्मक तथा साक्षात् संपर्क ऐसा दो प्रकार का अपेक्षित है।

२. वमन का मुख्य कार्य आमाशय पर और कफ पर होता है। कफ के शोधन के लिए वमन प्रमुख उपक्रम है। वह सर्व प्रथम आमाशय में पहुँचकर सभी विकृत कफ को ऊपर फेंक कर शोधन करता है और आमाशय में कफ का शोधन कर उसे जीतने पर सभी कफों को जीता जाता है। जैसे किसी खेत में छोटे-छोटे आलवालों में खूब पानी रहने से पानी से सड़नेवाले चावलों को बचाने का श्रेष्ठ उपाय खेत के बन्धन को तोड़ना यही है, जिससे छोटे-छोटे आलवालों से भी जल बह जाएगा शेष जल सूख जायेगा, और चावलों का रक्षण होगा वैसे ही वमन से प्रमुख स्थान के कफ का शोधन होने पर अन्य कफ स्वयं प्रशमित होते हैं।[१०६] चरक ने स्थानस्थ तथा मार्गग ऐसे दो धातु माने हैं। वैसे ही दोष भी स्थानस्थ और मार्गग दो प्रकार के होते हैं। वमन से मार्गग दोष का नियमन होने से स्थानस्थ दोष अपने आप नियंत्रित हो जाते हैं।

३. स्नेहन और स्वेदन से क्लेदन तथा दोषों का द्रवीकरण करने के बाद प्रयुक्त वमन (शोधन) दोषों को शरीर के बाहर निकाल देता है जिससे मूलत: शोधन होता है और रोगों की पुन: प्रवृत्ति नहीं होती। इसीलिये शोधन चिकित्सा की प्रशस्ति मानी जाती है।

स्नेहन और स्वेदन की कार्मुकता प्रतिपादन करते हुए यह स्पष्ट किया गया था कि इनसे शरीर के क्लेद का आधिक्य होता है, इन क्लेद के तत्वों में दोष घुल जाते हैं इसी समय वमन के उष्ण तीक्ष्णादि प्रभाव से तथा अणुप्रवण भाव से वे आमाशय में पहुँचने पर आमाशय से निकाले जाते हैं। यहाँ खास स्मरणीय है कि वमन से केवल आमाशय का ही शोधन नहीं होता बल्कि सम्पूर्ण शरीर के दोषों का शोधन होता है। रसरक्त गत स्नेह द्रव्यों का स्नेहपान पूर्व, स्नेहपानांत दिन तथा वमन के तुरन्त बाद विश्लेषणात्मक पद्धति से प्राप्त प्रमाण का अनेक आतुरों में अध्ययन कर यह स्पष्ट देखा गया कि वमन पूर्व कमाल मर्यादा तक पहुँचे हुए स्नेहद्रव्य वमन के तुरन्त बाद प्राकृत प्रमाण में आ जाते हैं। यह इस बात का संकेत करता है कि रसरक्त से उनका अदृश्य होना संभवत: कोष्ठाभिमुखता के कारण ही

हो। फिर भी इस विषय पर गवेषणा का क्षेत्र अभी विस्तृत है इसमें संदेह नहीं है। वमन के कार्य का आधुनिक विज्ञान के अनुसार विचार कर इसका आगे विचार किया जाएगा।

आधुनिक शास्त्र में वमन का परिचय संक्षेप में देखेंगे। वामक द्रव्यों को एमेटिक (Emitic) कहा जाता है और वमन की प्रक्रिया को एमेसिस (Emesis) कहा जाता है। इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि—"वामक द्रव्य वे हैं जो वमन कराते हैं। वह प्राय: उत्क्लेश, लालास्राव में स्वेद प्रवृत्ति, वायुवह स्रोतों तथा अन्ननलिका में कफस्राव के साथ होता है। वमन प्रवृत्ति में नाड़ी की गति द्रुत होती है, और श्वास अनियमित होती है। वमन के समय आमाशय का ऊर्ध्वद्वार (हार्दिक द्वार cardiac end) खुल जाता है, और अधोद्वार (Pyloric end) बंद रहकर जोरदार संकोच विकास की गति करता है। इसी समय उदर की पेशियां और महा प्राचीरा पेशी (Diaphram) की संकोचन गति होकर आमाशय के द्रव्यों को ऊपर फेंका जाता है। इन सब गतियों का नियमन 'वमन नियंत्रण केंद्र' से किया जाता है।

वर्गीकरण—वमनौषधि निम्नलिखित प्रकार से काम करती है।

१. **स्थानिक या प्रत्यावर्तक वामव**—स्थानिक वामक द्रव्यों को ही प्रत्यावर्तन कारक वामक (Reflex Emitics) कहते हैं। इन्हें आमाशयिक वामक (Gastric Emitic) भी कहा जाता है। जब आमाशय में वमन द्रव्य पहुँचते हैं तो वे आमाशय की श्लेष्मल कला (Gastric Mucosa) को उत्तेजित करते हैं, और वहीं से वैगस और सिंपेथिटिक नर्व को उत्तेजित करते हैं—ये नाड़ियाँ उत्तेजना के संदेश को लेकर मस्तिष्क में रहने वाला वमन केंद्र को पहुँचाते हैं, और उत्तेजित केंद्र वमन कराता है। यह प्रक्रिया तभी होती है जब द्रव्य आमाशय के अधोभाग तक (Pylorus) पहुँच जाते हैं। अतएव जब पर्याप्त प्रमाण में जल के साथ देते है तो जल्दी से नीचे पहुँचकर कार्य जल्दी होता है।

यहाँ यह स्पष्ट करना संगत है कि आयुर्वेद भी हृदय की उत्तेजना और धमनियों की उत्तेजना से वमन कर्म मानता है। यह हृदय संभवत: वमन केंद्र के लिए प्रयुक्त शब्द हो। क्योंकि हृदय, शब्द केन्द्र के लिए संहिता ग्रंन्थों से प्रयुक्त हुआ मिलता है। जैसे तल हृदय, आंत्रहृदय, इत्यादि। वमन प्रक्रिया में बारंबार गरम पानी पिलाना, यष्ठीमधु, कोविदारादि क्वाथ पिलाना, लवण जल पिप्पली इत्यादि का जल पिलाना ये प्रयोग भी इसीलिये वर्णित हैं कि इनसें वमन का कार्य जल्दी संपन्न हो।

इस प्रकार के वमन द्रव्य-जिंक सलफेट (Zink Sulphate), एलम (Alum-सौराष्ट्री) इमेटीन (Emitine), बाय कार्बोनेट (Bi Carbonate), मस्टर्ड (Mustard-राई के सदृश्य द्रव्य), नमक और गरम पानी ये कहे गये हैं।

केन्द्रीय वामक द्रव्य—(Central Emitics)—ये ऐसे द्रव्य हैं जो वमनकेंद्र को उत्तेजित कर वमन कराते हैं—इनके उदाहरण में अपो मार्फीन, टिजिटेलिस ये द्रव्य हैं। वमन के इन दोनों (स्थानिक और केंद्रीय) प्रवृत्ति के बारे में शारीरिक सिद्धांत निम्नलिखित प्रकार के हैं।

वमन की प्रक्रिया में आमाशय की पेशियां, अन्ननलिका की पेशियां, उदर की पेशियां, तथा आंत्र की पेरिस्टाल्टिक गतियां इनका सहकार्य होता है। मांसपेशियों का कार्य शिर में

मेड्यूला (Medulla) में रहनेवाले वमन केन्द्र के द्वारा उनको उत्तेजना की संवेदना मिलने से होता है। शिर के वमन केन्द्र की उत्तेजना आमाशय इत्यादि के अवयव से प्राप्त उत्तेजक संवेदना से होती है। इसी तरह रक्त में यदि कोई विषमयता हो तो उनसे भी केन्द्र उत्तेजित होता है। इन तीन तत्वों का आयुर्वेद में इस प्रकार वर्णन है। शिर को एक प्रधान मर्म कहा है, और उसके अभिघात से जो अनेक लक्षण उत्पन्न होते हैं उनमें लालास्राव जो वमन का पूर्वरूप है वर्णित किया है (च. सि.९)। फिर आयुर्वेद में सभी छर्दियों को आमाशयोद्भव माना है।[१०७] जो आमाशय के कार्य का ज्ञापक है। इसी तरह छर्दि के सभी भेदों में (वातादि) मर्मपीड़न, ऊर्ध्व मर्म, शिरोमर्म पीड़न ऐसी संप्राप्ति दी है।[१०८] इसी तरह रक्त प्रदोषज व्याधि में तिक्ताम्लोद्गीरण और लवणास्यता ये दो विकार कहे हैं जो परिणामत वमन के ही बोधक हैं।[१०९]

वमन की गतियों का प्रत्यक्ष प्रयोगों द्वारा अध्ययन किया गया है। बिल्ली पर किये गये प्रयोग में एक-एक गति का विश्लेषण किया गया है। विषमय भोज्य द्रव्य खिलाकर एपोमार्फिन (वामक) जो वमनकेन्द्र को उत्तेजित करता है, देकर देखा गया कि वमन के समय आमाशय के ऊपर का भाग एकदम निष्क्रिय और शिथिल हो जाता है। मध्यभाग में कुछ पेरिस्टाल्टिक गति होती है, और पायलोरस तक एक हल्की गति संवहित होती है। इसी समय मध्यभाग से जोरदार गति होकर, डायफ्राम और उदरपेशियों की गति के साथ संयुक्त होकर आमाशय के द्रव्यों को अन्ननलिका में डाल देते हैं। वमन प्रवृत्ति में आमाशय का उर्ध्वभाग तथा अन्ननलिका बिल्कुल शांत रहते है। मनुष्य में भी इसी प्रकार की गतियां होती हैं। यह देखा जाता है कि वमन प्रक्रिया में कुछ लोग इतने सक्षम होते हैं कि उन्हें अल्पकृच्छ्रता से वमन होता है, तो अन्यों को बहुत तकलीफ से वमन होता है। (चरक ने वमन पूर्व शरीर बल और प्रकृति की परीक्षा करने को कहा ही है।)

वमनकेन्द्र मेड्यूला ओबलोंगेटा के नीचे के भाग में स्थित है। यह श्वास-प्रश्वास केन्द्र (Respiratory centre) के नजदीक ही होता है तथापि संपूर्णत: पृथक् रहता है। इसके निकट ही लालास्राव, मलविसर्जन, तथा रक्तवाहिनियों की गतियों को नियमन करने वाले कुछ केन्द्र रहते हैं। संभवत: यहा कारण है कि वमन के समय लालास्राव, रक्तवाहिनियों का विस्फार (उष्णतीक्ष्ण गुण से स्रोतों में दोषों का विलयन, छेदन तथा परिप्लावन होना) श्वासोच्छवास की गति बढ़ना, अनियमित होना ये लक्षण उत्पन्न होते है। प्राय: वामक द्रव्य और विरेचन द्रव्य के गुण भी आयुर्वेद ने समान कहे हैं। वामन द्रव्यों से विरेचन व्यापद् भी बताई गई है इनमें मलविसर्जन केन्द्र का उसके नजदीक रहना यह कारण हो सकता है। वमनकेन्द्र के द्वारा फ्रेनिक नर्व्ह को संदेश मिलते हैं, वे कंठ, आमाशय, वक्ष की पेशियों को पहुँचाते हैं, और स्पाईनल नर्व को संदेश मिलते हैं जो उदरपेशियों को पहुंचाती हैं, और क्रेनिअल नर्व (Cranial Nerve) के द्वारा कंठ, तालू इनको पहुँचाए जाते हैं। वमन केन्द्र की उत्तेजना मुख्यतया १. आमाशयादि से प्राप्त संवेदना से २. शिर के ही किसी केन्द्र से प्राप्त संवेदना से और ३. रक्त में से विषबाधा होने के कारण होती है। आमाशय के अतिरिक्त अवयवों में आंत्र का भाग, (Duodenum, Appendix, Jejunum) वृक्क, बस्ति, गर्भाशय, पित्ताशय, (Gall bladder), हृदय इनके द्वारा भी वमन केन्द्र उत्तेजित होता है। (आयुर्वेद में विरेचन द्रव्य को वमन व्यापद् कहे हैं,) तथा इनके अतिरिक्त मन की भावुकता, घ्राण, रसना, चक्षु, इत्यादि ज्ञाननेंद्रियों के द्वारा संवेदना से भी वमन होता है।

यहाँ स्मरणीय है कि आयुर्वेद च्छर्दि में 'द्विष्टर्थका' नामक भेद मानता है। जिसमें कहा है कि जो मन को प्रतिकूल हो ऐसे द्रव्य, अपवित्र या गंदे पदार्थ सड़े हुए पदार्थ, बीभत्स द्रव्य, इनको सूंघने मात्र से, देखने से या इनके सेवन से (रसना पर) ही छर्दि हो जाती है।[११०]

वमनकेन्द्र को उत्तेजित करनेवाले एपोमार्फीन (Apomarphine), इपीक (Ipeac), पिक्रोटोक्सीन (picrotoxine) इत्यादि द्रव्य का सिरा में दिया हुआ सूचिवेध भी तुरन्त वमन करता है प्राणी के आमाशय और आंत्र को अलग कर देने के बाद भी एपोमार्फीन दिया जाने पर वमन की क्रिया (गतियाँ) देखी गई हैं।

इसी तरह कंठ को यांत्रिक रीति से उत्तेजित कर वमन किया जा सकता है, यह भी तथ्य आधुनिक शास्त्र में मान्य है। वामक द्रव्य के प्रयुक्त मधुर रस, तिक्तरस, कषायरस (वाले दव्य) तथा कटुरस के अतिमात्र प्रयोग से वमन होता है ऐसा कहा है। ये सब उद्वेग उत्पन्न करते हैं।

संक्षेप में आधुनिक शास्त्र के अनुसार आमाशय को उत्तेजित कर वातानाड़ियों द्वारा वमनकेन्द्र को उत्तेजित कर वमन कराना, तथा सीधे वमनकेन्द्र को उत्तेजित कर वमन कराना ये दो प्रकार कहे हैं और इसमें उत्पन्न शारीरि वर्णन किया है। इस संदर्भ में आयुर्वे को छर्दि की संप्राप्ति देखे।

सुश्रुत कहते हैं कि व्यानवायु और उदानवायु विरुद्धहार सेवन से प्रकुपित होकर छर्दि करते हैं।[१११] व्यानवायु के अंतर्गत "प्राय सर्वा: क्रियास्तस्मिन्" होने से सभी नाड़ियों की संवेदनाएं और उदानवायु के द्वारा उर, नासिका तथा कंठ की सभी वातजगतियों का बोध यहां प्राप्त होता है। वमन की कार्मुकता इस तरह व्यापक है। इस प्रक्रिया में आमाशय, व्यानवायु के क्षेत्र, उदानवायु क्षेत्र, शिरस्थ इंद्रियवह स्रोत, तथा केन्द्र, और धातुगत (रक्तादि) आम—(विषादि) आदि अवस्था—इनका अवस्थानुसार काय होकर वमन होता है। दूसरे शब्दों में कहना हो तो इन सब में प्रक्षोभादि के द्वारा वमन क्रिया होती है—अत: वमनोत्तर इनकी धात्वग्निक्रिया में व्यापक परिवर्तन (Metabolic changes) भी संभव हैं इनसे उक्तरोगों में शमन का कार्य विचारार्ह होता है।

संदर्भ

१. 'वाचस्पत्यय लेखक श्री तारानाथ भट्टाचार्य, पृष्ठ ४८४७

२. तत्रदोषहरणं उर्ध्व भागं वमन संज्ञकं — च. क. १-४
च. पा. :-वमन विरेचन संज्ञार्थ विभजसे: तत्रेत्यादि। उर्ध्व मुखेन दोष निर्हरणं भजते इति उर्ध्वभागम्।।

३. अपक्वं पित्तश्लेष्माणं बलादूर्ध्व नयेत्तु यत्।
वमर्न तद्धि विज्ञेयं मदनस्यफलं तथा।। — शा. प्र. ख. १-८४

४. स्थानात् बहिर्नयेत ऊर्ध्वमधोवा मलसंचय।
देहे संशोधनं तत्स्यात् देवदाली फर्सं यशा।। — शा. प्र. ख. १-८५

५. अधोभाग हरं विरेचनसंज्ञर्क। उभयं वा शरीरमल विरेचनात् विरेचनसंज्ञां लभते।।
च. क. १-४

६. च. पा.—विरेचन शब्देनेह वमनं विरेचनं च गृह्यये।

यतो वक्ष्यति कल्पे उभयं वा दोषमल विरेचनात् विरचनसंज्ञां लभते।
न च वाच्यं दोषमल विरेचनाच्येद विरेचनासंज्ञा, तेन बस्ति शिरोविरेचनयोरपि विरेचन संज्ञा प्रवृत्ति:।
यतस्तंत्रकार सिद्धेयं संज्ञा न, न पाचकवत् योगमात्र प्रवृत्ता:, तंत्रकारश्च वमन विरेचनयोरेव योग रूढां संज्ञां विदधाति, नान्यत्र।
तत् कुतोऽन्यत्र प्रसक्ति: ?।।
च. पा. सू. ४-३ पर

७. तत्र मलभूतांस्ते, ये शरीरस्याबाधकरा: स्यु:। तद्य था शरीरच्छिद्रेषूपदेहा पृथग्जन्मानो बहिर्मुखा:। परिपक्वाश्च घातव: प्रकुपिताश्च वातपित्तश्लेष्माणो ये चान्येपि शरीरे केचित् तिष्ठंतो भावा: शरीरस्योपघाता योपपद्यन्ते, र्स्वास्तान्मले चक्ष्महे।
च. शा. ६-१७

८. शरीरजानां दोषाणां क्रमेण परमौषधम्।
बस्तिविरेकोमनं तथा तैलं घृतं मधु ।। — अ. ह. सू. १-२५

९. दोषा: क्षीणा बृंहयितव्या:। कुपिता: प्रशमयितव्या:।
वृद्धा: निर्हरतव्या:। समा: परिपाल्या:।
इति सिद्धांत:। प्राधान्येन वमनविरेचने वर्तते निर्हरणे दोषाणाम्।।
सु.चि. ३३-२

१०. डल्हण—प्रकर्षेण वृद्धा: स्वस्थाच्चलिता: संशोधन विधिना निर्हर्तव्या।
...वृद्धिर्हि द्ववविधा चयप्रकोपलक्षणा।
तत्र संहिता रूपा वृद्धिश्चय:, विलयन रूपा वृद्धि: प्रकोप: तयो: विलयन रूपवृद्धया वृद्धा: दोषा: संशोधनेन निर्हर्तव्या:।
...कोपोत्र द्विविध: चयपूर्वकोऽचयपूर्वकश्च।
तत्र चयपूर्वकं कोपमागता: संशोधन विधानेने शमयितव्या:।..
धूमनस्य कवल ग्रहादय: पुनरल्पतया, नतु वमनविरेचनवत् सकृन्नाभि बाहुल्येन।
तस्मादुक्तं प्राधान्येन वमन विरेचने इति।..
तत्कथं दोषाणामिति ? उच्यते वायोरपि स्वाशयक्षोभ लक्षणतया विलीनस्य विमार्ग निर्हरणधमूर्ध्वाधो मार्गेणानुलोमनं वमन विरेचने कुर्वत: तस्मात् दोषाणामत्र बाहुल्यमुपपन्नम्।। डॅ. सु. चि. ३३-२ पर

११. तत्रोष्णतीक्ष्णसूक्ष्म व्यवायिविकाश्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य...।
च. क. १-५

१२. रसा: कट्वम्ललवणा: संत्युष्णाश्चोत्तरोत्तरम।। — च. सू. २६-५४

१३. देखें—वक्ष्यमाण वमनविधि।

१४. आग्नेयत्वात् विष्यंदयन्ति.... — च. क. १-५

१५. शीघ्रताकारित्वं तीक्ष्णत्वम्।। — अ. द.

१६. अणुप्रवणभावादिति अणुत्वात प्रवणभावाच्च।
प्रवणत्वमिह कोष्ठगमनोन्मुखत्वम् अणुत्वं च अणुमार्गसंचारित्वम्।।
च. पा., च. क। १-५ पर

१७. (१) व्यवायि चाखिलं देहे व्याय पाकाय कल्पते।। सु. सू. ४६
(२) पूर्व व्याप्याखिलं कायः ततः पाकं च गच्छति। व्यवायि...।।
शा. पू. ख. ४-१९

१८. (१) विकाशी विकशत्रेव धातु बंधान् विमोक्षयेत् ।। सु. सू. ४६
(२) संबंधांस्तु शिथिलान् यत् करोति विकाशि तत्।
विश्लेष्य ओजस्तु धातुभ्यो तथा ऋमुककोद्रवाः।।
शा. पू. ख.४-२०

१९. च.पा.—यच्चात्रोच्यते वमनं यद्यूर्ध्वभागहरप्रभावात् ऊर्ध्वयति तदग्नि वाय्वात्मकत्वादिति हेतुवर्णन न युज्यते, यतः यत्सोपपत्तिंक कार्य न तत्प्रभावकृत इति व्यपदिश्यते उक्तं हि—"प्रभावोऽचिंत्य उच्यते" इति। तत्र यतः प्रभावस्येवेह वमन कार्यम् वाय्वग्न्यात्मकगुणतया वाय्वग्न्यात्मकत्वं हेतुरूपदृश्यते, न तु वाय्यग्न्यात्मकत्वं स्वतंत्री वमन हेतुः। तथाहि सति यदन्यदपि वाय्वग्न्यात्मकमूर्ध्वभाग दोषहरत्वं प्रभाव रहितं, तदपि वमनकरं स्यात्। तस्मात्प्रभावगुणतयैव हेतु वर्णनम्।
च.क.१-५ पर

२०. वमन द्रव्याणां मदनफलानि श्रेष्ठतमानि आचक्षते अनापायित्वात्।
च.क.१-१३
वमन द्रव्याणां फलादीनां मदनफलानि श्रेष्ठतामानि भवन्ति सु. चि. ४३-१

२१. त्रयस्त्रिंशत् योगशतं प्रणीत फलेषु। च.सू ४-५

२२. नवयोगाः कषायेपु मात्रास्वष्टौ पयोघृते।
पंच, फाणित चूर्णे द्वौ, ध्रेये वर्तिक्रियासु षट्।
विंशतिविंशतिलेह मोदकोत्कारिकाषुच।
शष्कुलीपूपयोश्चोक्ता योगाः षोडश षोडश।
दशान्ये षाडवाद्येषु त्रयस्त्रिंशत् इदंशतम्। च.क. १-२८, २९,३०

२३. मदनश्च करहाटश्च राठः पिंड़ीतकः फलम्।
श्वसनश्चेति पर्यायैरुच्यते तस्य कल्पना ।। च.क. १-२७

२४. ....तानि वसंत ग्रीष्मयोरंतरे पुष्याश्वयुगूभ्यां मृग शिरसा वा गृह्णीयात् मैत्रे मुहुर्ते। यानि पक्वान्यकाणानि आहरितानि पांड्रन्यक्रिमीणि अपूतीन्यजंतु जग्धान्यद्दस्वानि, तानि प्रमृज्य कुशपुटे बध्वा गोमयेनालिप्य पव तुष माष शालि कुलत्थ मृद्ग पलानामन्यतमे निदष्यात् अष्टरात्रम्। अत ऊर्ध्व मृदु भूतानि माध्विष्ट गंधान्युद्धृत्य शोषयेत्। सुशुष्काणां फल पिप्पली रुद्धरेत्। तासां घृतदधिमधुपल्लविमृदितानां पुनः शूष्काणां नवं कलाशं सुप्रमृष्टं वालुकमरजस्कं आकंठं पूरयित्वा स्ववच्छन्नं स्वनुगुप्तं शिक्येष्वासज्य सम्यक् स्थापयेत्।।
च.क. १-१३

२५. शणपुष्पी च बिंबी च छर्दने हैमवत्यपि। च. सू. १-७८

२६. धामार्गवमथेक्ष्वाकु जीमूतं कृतवेधनम्।
मदनं कुटजं चैव त्रपुषं हस्तिपर्णिनी।
एतानि वमने चैव...।

२७. सौवर्चलं सैंधव च बिडमौद्भिदमेव।
सामुद्रेण सहैतानि पंच स्युलंवणानि च।।
स्निग्धान्युष्णानि तीक्ष्णानि दीपनीयतमानि च।
आलेपनार्थेयुज्यंते स्नेह स्वेददिधौ तथा।।
अधोभागोर्ध्व भागेषु, निरूहेष्वनुवासने। —च. सू. १-८८ से ९०

२८. मधु मधुक कोविदार कर्बुदार नीप विदुलबिंबी, शणपुष्पी सदापुष्पी प्रत्येक्पुष्प इति दशेमानि वमनोपगानि भवंति। —च.ह. ४-२४

२९. वमनेऽश्मंतकंविद्यात्। आरकर्मस्य विज्ञेयं वमने स विरेचने॥ —च. सू. १-१४४

३०. मदनं मधुकं निम्बं जीमूतं कृतवेधनं।
पिप्पली कुटजेक्ष्वाकूण्येलां धामार्गवाणि च। वमनार्थ प्रयुंजीत।। —च.सू.२-७,८

३१. त्रयस्त्रिंशत योग शतं प्रणीतं फलेषु।
एकोनचत्वारिंशत् जीमूतकेषु योगाः।
पंचचत्वारिंशत् ईक्ष्वाकुषु।
धामार्गवः षष्टिधा भवति योग युक्तः।
कुटजस्त्वष्टा दशधा योगमेति।
कृतवेधनं पष्टिधा भवति योगयुक्तः। —च.सू. ४-५

३२. यानि तु खलु वमनादिषु भेषज द्रव्याण्युपयोगं गच्छंति तान्यनुव्याख्या स्यन्ते। तद्यथा फलजीमूतकेक्ष्वाकु धामार्गव कुटज कृतबेधन फलानि, फलजीमूतकेक्ष्वाकु धामार्गव पत्र पुष्पाणि, आरग्वध वृक्षक मदन स्वादुकंटकपाठापाटला शार्गेष्टा मूर्वा सप्तपर्णनक्तमाल पिचुमर्द पाटोल सुषवी गुडूची चित्रक सोमवल्क द्वीपी शिग्रूमूल कषायैश्चा मधु मधुक कोविदार कर्बूदार नीपविदुल बिंबी शणपुष्पी सदापुष्पी प्रत्यक्पुष्पी काषायैश्च, एलाहरेण प्रियंगु पृथ्विका कुस्तुंभुरु नगर नलदछीवेर वाल गोपी कषायैश्च,इक्षु कांडेक्षुवालिका दर्भ पोटगलकालङकृत कषायैश्च, सुमनां सौमनस्यायनी हरिद्रा दारुहरिद्रा वृश्चीर पुनर्नवा महासहा क्षुद्रसहा कषायैश्च, शाल्मली शालमलौक भद्रपर्णलापण्युपेदिकोद्दालिक धन्वनराजादनोपचित्रा गोपी शृंगाटिका कषायश्च। पिप्पलीपिप्पलीमुल चव्य चित्रक शृंगवेर सर्षपफाणित क्षीर क्षार लवणोदकैश्च। यथालाभं.. वमनाहं दद्यात् विधिवद्वमनम् इति कल्प संग्रहों वमन द्रव्याणाम्।। —च.वि. ८-१३९

३३. मदन कुटज जीमूतकेक्ष्वाकु धामार्गव कृतवेधन सर्षप विडंग पिप्पली करंज प्रपुन्नाड कोविदार कर्बुदारारिष्टाश्वगंधा विदुल बंधुजीवक श्वेताशणपुष्पी बिंवींवचा मृगेर्वारुक चित्राश्चेत्यूर्ध्वभागहराणि।
तत्र कोविदार पूर्वाणि फलानि। कोविदारादीनां मूलानि।। —सु.सू. ३९-२

३४. मदन मधुक लंबा निंब बिंबी विशाला।
त्रपुष कुटज मुर्वा देवदाली कृमिध्नमृ ।।
विदुल दहन चित्राः कोशवल्यौ करंजः।
कणलवण वचैला सर्षपाश्छर्दनानि।। —अ ह.सू. १५-१

३५. यथालाभं यथेष्टं चायुषसंस्कृत्य वर्तिक्रिया चूर्णावलेहस्नेह कषाय मांसरस यवागूयूष

काम्बलिक क्षीरोपधेयान्मोदकान्यन्यांश्च भक्ष्यप्रकारान् योगाश्च विविधानु विधाय यथार्ह वमनार्हाय दद्यात्।। च.वि. ८-१३९

३६. (१) ...शेषास्तु वम्याः विशेषतस्तु पीनस कुष्ठनवज्वरराजयक्ष्मकासश्वास गलग्रहगलगंड श्लीपदप्रमेहमन्दाग्निविरुद्धाजीर्णान्नविसूचिका लसक विषगरपीतदष्टदिग्धविद्धाधः शोणितपित्तप्रसेक दूर्नाम हृल्लासा रोचकाविपाकापच्यपस्मारोन्मादातिसार शोफ पाण्डुरोग मुखपाक दुष्टस्तन्यादयः श्लेष्मध्वाधयोविशेषेण रोगाध्यायोक्ताश्च।।

च. सि.२-१०

(२) वाम्यास्तु विषशोषस्तन्यदोष विषमंदाग्नि उन्मादापस्मार श्लीपदार्बुदविदारिका मेंदोमेह गरज्वरारुच्यपदच्छामातीसार हृद्रोग चित्तविभ्रम विसर्प विद्रध्यजीर्णमुखप्रसेक हृल्लासश्वासकासपीनस पूतीनास कंठौष्ठ वक्त्रपाक कर्णस्रावाधिजिह्विकोपजिह्विका, गलशुंडिकावः शोणितपित्तिनः कफस्थानमेषु विकारेषु अन्ये च कफव्याधिपरीता इति।।

सु. चि. ३३-१८

(३) ...विशेषेण तु वामयेत्। नवज्वरातिसाराधः पित्तासृग्राजयक्ष्मिणः। कुष्ठमेहापचिग्रंथि श्लीपदोन्मादकासिनः। श्वास हृल्लास वीसर्प स्तन्यदोषोर्ध्वरोगिणः।।

अ. हृ.सू १८-१,२,३

(४) विषपीतदष्टदिग्धविद्ध ...श्लेष्मव्याधयः।। अ.सं.सू. २७

३७. (१) अवग्यास्तावत्--क्षतक्षीणातिस्थूलातिकृश बाल वृद्धदुर्बल श्रान्त पिपासित क्षुधित कर्मभाराध्वहतोपवासित मैथुनाध्ययनव्यायामचिंता प्रसक्त क्षामगर्भिणीसुकुमार संस्कृत कोष्ठ दुश्छर्दधोर्ध्व रक्तपित्त प्रसक्तच्छर्दिरुर्ध्व वातां स्थापितानुवासित हृद्रोगोदावर्त मूत्रघात प्लीह गुल्मोदराष्ठीला स्वरोपघात तिमिर शिरः शंखकर्णाक्षि शूलार्ताः।। च. चि. २-८

(२) न वामयेत्तैमिरिकोर्ध्व वातगुल्मोदर प्लीह कृमिश्रमार्तान्। स्थूल क्षतक्षीण कृशातिवृद्ध मूत्रातुरान्केवल वातरोगान।। स्वरोपघाताध्ययनप्रसक्त दुच्छविंदुकोष्ठ तृडार्त बालान्। ऊर्ध्वास्रपिति क्षुधितातिरुक्ष गर्भिण्युदावर्ति निरुहितांश्च।। सु.चि. ३३-१४,१५

(३) अवाम्या गर्भिणी रुक्षः क्षधितो नित्य दुःखितः। बालवृद्धकृशस्थूल हृद्रोगिक्षत दुर्बलाः।। प्रसक्तवंमथुप्लीह तिमिर क्रिमिकोष्ठिनः। ऊर्ध्व प्रवृत्त वाय्वस्र दत्त बस्ति हतस्वनः। मूत्राघात्युदरी गुल्मी दुर्बलोत्याग्निरर्शराः। उदावर्व भ्रमाष्ठीला पार्श्वरुग वातरोगिणः। अ.हृ.सू. १०-३ से ६

३८. अवम्यवमनाद्रोगा कृच्छ्रता यांति देहिनाम्।
असाध्यतां वा गच्छन्ति नैतवाम्यास्ततः स्मृताः।। सु. चि. ३३-१६

३९. एतेप्यजीर्ण व्यथिता वाम्या ये च विषातुराः।
अतीव चोल्वणकफास्ते च स्मुर्मधुकांबुना।। सु.चि. ३३-१७

४०. नचैकांतेन निर्दिष्टेऽप्यैभि निविशेद् बुधः।

स्वयमप्यत्र वैद्येन तर्क्य बुद्धिमता भवेत्।।
उत्पद्येत हि सादस्था देशकालबलं प्रति।
यस्यां कार्यमकार्य स्यात् कर्मकार्यंच वर्णितं।। च. सि. २-२५,२६

४१. छर्दिहृद्रोग गुल्मानां वमनं स्वे चिकित्सिते।
अवस्थां प्राप्य निर्दिष्टं कुष्ठिनां वस्ति कर्म च।
तस्मात्सत्यापि निर्देशे कुर्याद्दूह्यं स्वयं धिया।। सि. २-२७,२८

४२. वातगुल्मे कफे वृद्धे हत्वाग्निमरुचिं यदि।
हृल्लासं गौरवं तंद्रां जनयेदुल्लिखेतु तम्।। च.सि. २४-२९

४३. तत्र क्षतस्य भूयः क्षणनाद्रक्तादि प्रवृत्तिः स्यात्। क्षीणातिस्थूला कृश बाल वृद्ध दुर्बलानामौषधबलासहत्वात् प्राणोपरोधः, श्रान्तपिपासित क्षुधितामां च तद्वत्। कर्मभाराध्वहतोपवास मैथुनाध्ययन व्यायाम चिंताप्रसक्त क्षामाणां रीक्ष्यात् वात रक्तच्छेदक्षतमतयंस्यात्, गर्भिण्या गर्भव्यापदामगर्भ भ्रंशाच्च दारुणा रोग प्राप्ति, सुकुमारस्य हृदयापकर्षणादूर्ध्वमधो वा रुधिरातिप्रवृत्तिः संवृतकोष्ठ, दुश्छनर्दयोरतिमात्रप्रवाणाद्दोषा समृत्क्लिष्टाः अंतःकोष्ठे जनयंति अंतर्विसर्प स्तंभं जाड्यं मरणं वा ऊर्ध्व रक्तपित्तिनः उदानमुत्क्षिप्य प्राणान्हरेत् रक्तं चाति प्रवर्तयेत् प्रसक्तछर्देस्तद्वत् ऊर्ध्ववातास्थापितानुवासितानामूर्ध्व वातातिप्रवृत्तिः, हृद्रोगिणी हृदयोपरोधः, उदावर्तिनो घोरतर उदावर्तः, स्यात् शीघ्रतरहंता, मूत्राघातादिभिरार्तानां तीव्रतर शूल प्रादुर्भावः, तिमिरार्तानां तिमिरातिवृद्धिः, शिरः शूलादिषु शूलातिवृद्धिः। तस्मादेते न वम्याः।। च.सि. २-९

४४. इह खलु राजनंराजमात्रभन्यं वा विपुल द्रव्य संभृतसंभारं वमनं विरेचनं वा पाययितु कामेन भिषजा प्रागेवौषध पानात् संभारा उपकल्पनीया भवन्ति, सम्यक् चैव हि गच्छत्यौषधे प्रतिभोगार्था; व्यापन्ने चौषधे व्यापदः परिसंख्याय प्रतिकारार्थाः। नहि सन्निकृष्ठे काले प्रादुर्भूतायामापदि सत्यपि क्रयाक्रये सुकरमाशु संभरणमौषधांनां यथावत् भवति। च.सू. २५-३

४५. तं चेदास्मिन्नंतरे मानसः शरीरो वा व्याधिः काश्चित्तीव्रतरः साहसभ्या गच्छेत्तमेव तावदस्योपवर्तयितुं यतेत। ततस्तमुपावर्त्य तावन्तमेवैनं कालं तथाविधेनैव कर्मणोपचरेत्।। च.सू. १५-८

४६. ...सम्यक् प्रयोग निमित्ता हि सर्वकर्मणां सिद्धिरिष्टा, व्यापच्चासभ्यग् प्रयोग निमित्ताः, अथ सम्यगसम्यगच समारब्धं कर्म सिद्ध्यति व्यापद्यते वाऽनियमेन, तुल्यं भवति ज्ञानमज्ञानेन इति।। च.सू. १५-४

४७. शक्यं तथा प्रतिविधातुं अस्माभिरस्मद्विधैर्वाप्यग्निवेश। यथा प्रतिनिहिते सिद्ध्येदेवौषधमेकान्तेन। ..न हि कश्चिदस्ति य एतदेवमुपदिष्टमुपधारयें-तुमुत्सहेत, उपधार्य वा तथा प्रतिपत्तुं प्रयोयें वा।। सूक्ष्माणि हि दोषमेषजदेशकालबलशरीराहार सात्म्यसत्वप्रकृतिंवयसामवस्थांतराणि यान्यनुचिंत्यमानानि विमल विपुलबुद्धेरपि बुद्धि आकुली कुर्युः कि पुनरल्पवृद्धे?।। च.सू. १५-५

४८. मदनफल कषाय मात्रा प्रमाणं तु खलु सर्वं संशोधन मात्रा प्रमाणानि च प्रति पुरुषं

अपेक्षितध्यानि भवंति। यावद्धि यस्य संशोधनं पीर्त वैकारिक दोषहरणायोत्पद्यते, न चातियोगायोग तावदस्य मात्रा प्रमाणं वेदितब्यं भवति।। च. सू. १५-१०

४९. तत्र सर्वाण्यौषधानि व्याधग्नि पुरुष बलान्यभिसमीक्ष्यविदध्यात्। तत्र व्याधिबलादधिकं औषधमयुक्तं तमुपशम्य व्याधिं व्याधिमन्यभावहति। अग्निबलादधिकं अजीर्ण विष्टंभ्य वा पच्यते; पुरुष बलादधिकं ग्लानिमूर्च्छामदानावहति संशमनं एवं संशोधनं अतिपातयति, हीनमेभ्यो दत्तं अकिंचित्करं भवति। तस्मात्सममेव दद्यात्।।
सु. सू. ३१-१०

५०. मात्राया नास्त्यवस्थानं व्याधि कोष्ठबलं वय:।
आलोच्य दोषकालौन योज्या तद्वच्च कल्पना।। आ.सं.

५१. चले दोषे मृदौकोष्ठे नेक्षेतान्न बलं तृणां।
अव्याधि दुर्बलस्यापि शोधनं हि सदा भवेत्।। सु.सू. ३१-१२

५२. अल्पमात्रं महावेगं बहु दोष हरं सुखं।
लघुपाकं सुखास्वादं प्रीणनं व्याधिनाशनं।।
अविकारि च व्यापत्तौ नातिग्लानिकरं च यत्।
गंधवर्ण रसोपेतं विद्यान्मात्रावदौषधम्।। च.सि. ६-१५,१६

५३. व्याध्यादिषु तु मध्येन क्वाथस्याजलिरिष्यते।
विडालपदकं चूर्ण देय: कल्कोक्ष सम्मिते।। सु. सू. ३१-१४
डह्लण—क्वाथग्रहणात् शृतशीत फांटस्य न तु स्वरस क्षीरयो:,
ते हि गुरुत्वाल्प प्रमाणा: प्रयोक्तव्या:।।

५४. अथच्छर्दयितुमातुरं...फलपिप्पलीनामंतनंख मुष्ठि यावद् वा साधु मन्येत...।
च.क. १-१४

५५. क्वाथपाने नवप्रस्था ज्येष्ठा मात्रा प्रकीर्तिता।
मध्यमा षण्मिता प्रोक्ता त्रिप्रस्था च कनीयसी।
कल्कचूर्णाविलेह्यानां त्रिपलं श्रेष्ठ मात्रया।
मध्यमं द्विपलं विद्यात् कनीयस्तु पलं भवेत्।। शा.उ.खं. ३-१६,१७

५६. अथच्छर्दनोयमातुरं श्वछदंयतितव्यमिति ग्राम्यानूपौदक मांसरस
क्षीरदधिमाषतिलशाकादिभि: समुत्क्लेशितश्लेष्माणं... च.क. १-१४
ग्राम्यौदकानूपरसै: समांसैरुत्क्लेशनीय: पयासा च वम्य:।। च.सि. १-८
नर:श्वो वमनं पाता भुंजीत कफवर्धनं।। च.सि. ६-१८

५७. श्लेष्मोत्तरश्छर्दयतीह्य दु:खम्।। च.सि. १-९

५८. अथातुरं स्निग्धं स्विन्नं अभिष्यंदिभिराहारै: अनवबद्धदोषमवलौक्य श्वोवमनपाययितास्मि इति संभोज्येत् तीक्ष्णाग्नि बलवन्तं बहुथोषं महाव्याधिपरीतं वमन सात्म्यंच।। सु.चि. ३३-३
पशलैर्विविधैरन्नै: दोषानुत्क्लेश्य देहिन:।
सम्यक् प्रवर्तते।। सु.चि. ३३-४
श्वोवम्यमुत्क्लिष्टकफं मत्स्यमाषतिलादिभि:।। अ.ह.सू. १८-१२

५९. कृतबलि होम मंगलं प्रायश्चितं निरन्नमनातिस्निग्धंयवागवाघृतमात्रां पीतवंतं...।
च.क. १-१४

च.पा.—अनतिस्निग्धमित्यादिना वमन दिन एव घृत मात्रा युक्त यवागूपानपूर्वकं वमनमनातिस्निग्धपुरुष विषयं ब्रूते। अन्ये तु पूर्वदिन एवनाति स्निग्धस्य घृतमात्रां पीतवत एव यवागवा: पानमाहु: पेशलै: विविधै .... (सुश्रुत) इत्यादि सुश्रुतोक्ते:।

६०. निरन्नमिषत् स्निग्धे वा वेलया पीत सर्पिषम्। अ.ह.सू. १८-१३

६१. अथातुरं द्वयहंवा त्र्यहं वा स्नेह स्वेदोपपन्नम्...। च.क. १-१४
अथातुरं स्निग्धं स्विन्नं अनभिष्यंदि...। सु.चि. ३३-३
अथ साधारणे काले स्निग्धस्विन्नं यथाविधि:। अ.ह.सू. १८-१२

६२. च.पा—द्वयहं त्र्यहंवा स्नेहस्वेदोपपन्नमित्यनेनअभ्यंगोक्रियमाणें स्नेहसहचरितस्वेदोपपादानं द्वयहं त्र्यहं वा विधीयंते,। त्र्यहावरं सप्तदिनं परंतु स्निग्धो नर: स्वेदयितव्य उक्त:। इत्यनेन पानप्रयुज्यमान स्नेहस्य सप्तरात्रं त्रिरांत्र वा प्रकर्ष उच्यते, इति न विरोध:। एतच्चाभ्यंग स्वेद सहित स्नेहस्वेदकरणं पानस्नेहांतदिवसमारभ्यक्रियते। तेन स्नेहपानविश्रामदिनेन समं द्वयहत्र्यह पूरणमभ्यंग स्वेद प्रयोगस्य भवति।
च.क. १-१४ पर।

६३. (१) अभिमंत्रितां मधुमधुकसैंधवफाणितोपहितां मदनफलकषायमात्रां पाययेत्।।
च.सू.१५-९

(२) . . . तासां फल पिप्पलीनां अंतर्नखमुष्टिं यावद्वा साधुमन्येत जर्जरीकृत्य यष्टीमधुकषायेण कोविदारकर्बुदारनीपबिदुल—बिंबीशणपुष्पीसदापुष्पीप्रत्यक्-पुष्पीकषायाणामन्यतमेन वा रात्रिमुषितं विमृद्य पूतं मधुसैंधवयुक्तं सुखोष्णं कृत्वा पूर्ण शरावं मत्रेणाभिमंत्रयेत् . . .इत्येवमभिमंत्र्योदंग्मुख प्रांग्मुखं वाऽतुरं पाययेत्।। च. क्र १-१४

(३) तत्र सुकुमारं कृशं बालं वृद्धं भीवं वा वमनसाध्येषुविकारेषु
क्षीरदधितक्रयवागूनामन्यतममाकंठपाययेत् पीतौषधश्च। सु. चि.३३-६
डह्लण—क्षीरादयो वमन द्रव्यसंस्कृता ज्ञेया, अथवा क्षीरादीन् पूर्व पाययेत्-आनंतरं मात्रया वमनद्रव्यमिति इति। तथाच वृद्ध वाग्भट:- "वृद्ध बालाबलक्लीव भीरुन् रोगानुरोद्यत:। आकंठं पाययेत् मद्य क्षीरमिक्षुरसंरसं। यथाविकार विहितां मधु सैंधव संयुतां। कोष्ठं विभज्य भैषज्यमात्रां मंत्राभिमंत्रितां। प्रांग्मुखं पाययेत् इति।।
(अं. सं.- वृद्ववाग्भट)

(४) वृद्धबालाबलक्लीव ....।। अ.ह.सू. १८-१४, १५

६४. (१) पीतवंतु तु खल्वेनं मुहूर्तमनुकांक्षते् तस्य यदा जानीयात् स्वेद प्रादुर्भावेण दोषं प्रविलीयमानं,लोमहर्षेण च स्थानेभ्य: प्रचलितं कुक्षिमाध्मापनेन च कुक्षिमनुगतं हृल्लासास्यस्रवणाभ्यांचोर्ध्वमुखी भूत-मथास्मैजानुसमसंबाधं सुप्रयुक्तास्तरणोत्तर प्रच्छदोपधानं सोपाश्रयमासनमुपवेष्टुं प्रयच्छेत्।। च. सू. १५-१२

(२) पीतौषधश्च पाणिभिरग्नितप्त: प्रतप्यमानं मुहूर्तम् उपेक्षेत। तस्यच स्वेद प्रादुर्भावेण शिथिलतामापन्नं स्वेभ्य: स्थानेभ्य: प्रचलितं कुक्षि-मानुसृतं च जानीयात्। तत: प्रवृत्तहृल्लासं ज्ञात्वा जानुमात्रासमो-पविष्टमाप्तै: ललाटे पृष्ठे पार्श्वयो: कंठे च पाणिभि: सुपरिगृहीत मंगुली गंधर्वहस्तोत्पलामन्यतमेनकंठ-भिस्पृशन्तं वामयेत्तावद् यावद् सम्यग्वांतलक्षणानि।। सु. चि. ३३-६

(३) पीतो मुहूर्तमनुपालयेत्। तन्मना जातहल्लासप्रसेकच्छर्दयेत्ततः।

अ. ह. सू. १८-१०, ११

(४) प्रतिग्रहांश्चोपचारयेंत - ललाट प्रतिग्रहे पार्श्वेपग्रहणे नाभि प्रपीडने पृष्ठोन्मर्दनें चानपत्रपणीयाः सुहृदोऽनुमतः प्रयतेरन्।

च. सू. १५-११

उभे पार्श्वें ललाटे वमतश्चास्य च धारयेत्।
प्रपीडयेत् तथा नाभिं पृष्ठं च प्रतिलोमतः।। अ ह. स. १८-२०

(५) हीनवेगंतु पिप्पल्यामलक सर्षप वचाकल्क लवणोष्णोदकैः पुनः पुनः प्रवर्तयेदापित्तदर्शनात्।। च. क . १-१४

६५. यदा तु वमनं पीतं न छर्दयति मानवः।
कि तंत्र भेषजं कुर्याद् कथं वैद्यः समाचरेत्।
मक्षिका केश चूर्णानि तक्र मंडेन योजयेत्।
एतेन हि प्रयोगेन क्षिप्रं प्रच्छदैयेत् नरः।
एषा क्रिया समाख्याता दुबर्लानांविशेषतः।। भेल संहिता

६६. वेगविशेष दर्शनाद्धि कुशलो योगायोगातियोगविशेषानुपलभेत्।
वेगविशेषदर्शी पुनः कृत्यं यथार्हमवबुद्धयेत् लक्षणेन तस्मात् वेगान् आवेक्षितावहितः।।

च. सू. १५-१३

६७. जघन्यमध्य प्रवरे तु वेगाश्चत्वार इष्टा वमने षडष्टौ।
पितांतमिष्टं वमनं . .।
द्वित्रान् सविट्कानपनोयवेगानमेयं विरेके, वमने तु पीतम्।।

च. सि. १-१३, १४

६८. प्रस्थस्तथा द्वित्रिचतुर्गुणश्च।। च. सि. १-१२ (का आध्मान वमन में)

६९. वमने च विरेके च तथा शोणित मोक्षणे।
सार्धत्रयोदश पलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः।। च. सि. १-१४ पर च. पा.

७०. च. पा. चतुर्भियोगैर्यत शोधुनं वमनं तद् जघन्यं . . . . . तेन यदुच्यते आंतिकी वैगिकी मानिकी लैंगिकी चेति चतुर्विधा शुद्धिरिहांच्यते तदस्माकं असम्मतमेव।।
किन्तु लैंगिकी त्वैका शुद्धि . . . . .
तेन यदत्र आषाढवर्मणा सम्यगविशुद्धि लिंग, लक्षणोऽथ मानाच्च वेगाच्च दोषागमनाच्च, उक्त किमिदं व्यस्तंसमस्तंवा इत्यादिनाऽऽक्षिप्तम् तदनभ्युपगमन निरस्तमेव।। च. सि. १-१४ पर।

७१. तत्र कैश्चित् त्रिधा शुद्धिरभिहिता। यथा लैंगिकी मानिकी वैगिकीचेति। तत्र या तावत्मानिकी शुद्धि, दीर्घ ह्रस्व स्थूलकृश देह संहति प्रकृति सारादिभिर्विविध लक्षण शरीराणां प्राणिनां दोषधातु मलादीनां परिणामाभावात्। नापि वैगिकी। यतो बहुभिर्वेगैः कदाचित् कास्यचित् न शुद्धिः, प्रकृति वय बल दोष शरीर व्यपेक्षया कस्यचित् कतिपयैरपि वेगैः शुद्धिरिति अतस्तृतीयां पित्ते कफस्येत्यादिभिर्लिंगै लैंगिकी शुद्धिमंत्रोक्तवान सुश्रुताचार्यः।। डल्हण- सु. चि. ३३-७ पर।

७२. जघन्यादि शुद्धि लक्षणेऽपि यद्वेगेन जघन्यादि शुद्धिलक्षणाभिधानं तत प्रायो भाविता ज्ञेयम्। दोषमानभेदेन जघन्यादिमान भेदः पारमार्थिकः तेनयत्र वमनेऽष्टाभिर्वेगै द्विप्रस्थ दोष प्रसृतिर्भवति तत्र प्रवरैव शुद्धिः। यत्र वमने षड् वेगैः सार्ध प्रस्थ दोष प्रसृतिर्भवति तत्र मध्यमैव शुद्धिः। यत्र चतुर्भिरपि वेगैः एक प्रस्थ दोष प्रसृतिः भवति तत्र जघन्य शुद्धिरेव च. पा. च. सि. १-१४ पर।

७३. एतत् पित्तांतत्वं कफांतत्वं वाऽसम्यग् शुद्धेऽपि दोषस्यानुपूर्व्यावस्थानाद्भवति, इति कृत्वा लक्षणांतरण्यापि एतयोः साहचर्येणाह कार्श्य दौर्बल्य, चेत् सलाघवे इति. . .
च.पा.च.सि.६-२० पर।

७४. (१) क्रमात्कफः पित्तमथानिलश्च यस्यैति सम्यक् वर्मित स इष्टः।
हृत्पार्श्व मूर्धेन्द्रिय मार्ग शुद्धौ तथा लघुत्वेपि च वक्ष्यमाणे।।

च. सि. १-१४

काले प्रवृत्तिरनति महती व्यथा यथा क्रमं च दोष हरणं स्वयंचावस्थानमिति योग लक्षणानि।। च.सू. १५-१३

हृते दौषे वदेत् कार्श्य दौर्बल्य चेत्सलाघवे।। च. सि. ६-२०

(२) पित्तं कफस्यानुसुखं प्रवृतं शुद्धेषु हृत्कंठ शिरःसु चापि।
लघौ च देहे कफसंस्रवे च स्थिते सुवांतं पुरुषं व्यवस्येत्।।

सु.चि. ३३-७

(३) निर्विबंध प्रवर्तते कफपित्ताऽनिला क्रमात्। सम्यग् योगें।

अ. ह. सू. १८-२५

(४) केवलस्य वाप्यौषधस्य, विभ्रंशः विबंधः वेगानां अयोग लक्षणानि भवति।

च. सू. १५-१३

(५) दुच्छर्दिते स्फोटक कोठकंडू हृत्खार्विशुद्धिर्गुरुगात्रता च। च. सि. १-१५

(६) कफ प्रसेकं हृदयाविशुद्धि कंडूश्च दुश्छर्दितलिंगमाहुः। सु. चि. ३३-७

(७) ....तत्रवेगानां अप्रवर्तनम् प्रवृत्तिः सविबंधा वा केवलस्यौषधस्यवा।
अयोगस्तेन निष्ठीव कंडू कोठ ज्वरादयः।। अ. ह. सू. १८-२३,२४

(८) योगाधिक्येन तु फेंनिलरक्त चंद्रिकोपगमनं इत्यतियोगलक्षणानि भवंति।

च. सू. १५-१३

तृण्मोह मूर्च्छानिलकोपनिद्रा बलातिहानिर्वमनेऽति च स्यात्।

च. सि. १-१५

(९) पित्तातियोगश्च बिसंज्ञताच हृत्कंठपीडामपि चाति वांते।। सू.चि. ३३-७

(१०) अतियोगे तु फेनरक्तचंद्र कवत्। वमितं क्षामता दाहः कंठशोषस्तमो भ्रमः।
घोरा वातामया मृत्युर्जीव शोणित निर्गमात्।। अ. ह. सू. १८-२५

७५. स्नेह स्वेदोपपन्नेन जीर्णे मात्रावदौषधम्।
एकाग्र मनसा पीतं सम्यग् योगाय कल्पते।। च. सि. ६-१०

७६. प्रेष्य भैषज्य वैद्यानां वैगुण्यादातुरस्य च। च. सि. ६-३०

७७. आध्मानं परिकर्तश्च स्रावो हृद्गात्रयोर्ग्रहः।
जीवादानं स विभ्रंशः स्तंभः सोपद्रवः क्लमः।
अयोगार्दातियोगाश्च दर्शता व्यापदो मतः :। च. सि. ६-२-२९

७८. योगः सम्यग् प्रवृत्तिः स्याद् अति योगोऽतिवर्तनम्।
अयोगः प्रतिलोम्येंन न चाल्पं वा प्रवर्तनम्। च. सि. ६-३१

७९. वैद्यातुर निमित वमनं विरेचनं च पंचदशधा व्यापद्यते। तत्र वमनस्य अधोगतिरुर्ध्व विरेचनस्य इति पृथक्। सामान्यनुभयोः सावशेषौषधत्वं, जीर्णोषधत्वं हीन दोषापहृतत्वं, वातशूल, अयोगः, अतियोगः, जीवादानम् आध्मानं, परिकर्तिका, परिस्रावः, प्रवाहिका, हृदयोपसरणं विबंधं इति।। सु. चि. ३४-२

८०. ड०— तस्य संख्येय निर्देशेऽपि पंचदशधा इति संख्या करणं तंत्रांतरोद्धृत संख्या निषेधार्थम।
जेज्जट— दशैता व्यापदां स्मृताः इति दशसंख्या नियमौपरतंत्रोक्त संख्याधिक्य निषेधः।।

८१. या तु विरेचने गुदपरिकार्तिका तद् वमने कंठक्षणनम, यदधः परिस्रवणम् स ऊर्ध्वभागे श्लेष्मप्रसेकः, या त्वधः प्रवाहिका सा तूर्ध्वशुष्कोद्गारा इति।
सु. चि. ३४-२१

८२. (१) तत्रबुभुक्षितस्यतितीक्ष्णाग्नेर्मृदुकोष्ठस्य चावतिष्ठमानं दुर्बलस्य वा गुणसामान्यभावात वमनमधोगच्छति, तेत्रेप्सितनवाप्तिः दोषोत्क्लेशश्च। तमाशु स्नेहयित्वा भूयतीक्ष्णतरैर्वागमयेत् ।। सु.चि. ३४-४

(२) क्षुधार्थमृदुकोष्ठाभ्यां स्वल्पोत्क्लिष्ट कफेन वा। तीक्ष्णं पीतं स्थितं क्षुब्धं वमतं स्याद् विरेचनम्।। प्रतिलोम्येनदोषाणां हरणात्तेहाकृत्स्नशः। अयोगसंज्ञे कृच्छ्रेणयाति दोषो न वाऽल्पशः।। पीवौषधो न शुद्धश्चेत् जीर्णे तस्मिन्पुनः पिबेत् औषधं न त्वजीर्णेऽभ्यद् भयं स्यादतियोगतः।।
च. सि. ६-३२ से ३५

(३) वामयेत्तं पुनः स्निग्धं स्मरणपूर्वमति क्रमम्।। अ. ह. क्र ३-२

(४) अनुलोमोनिलः स्वास्थ्यं क्षतृष्णोर्जोमनस्विता। लघुत्वमिंद्रियोद्गार-शुद्धि जीर्णोषधाकृतिः।। क्लमो दाहोऽगसदनं भ्रमोमूर्च्छा शिरोरुजा। अरतिर्बलहानिश्च सावशेषौषधकृतिः।। च. सि.६-२६, २७

८३. दोषग्रथितमल्पौषधमवस्थितमूर्ध्वभागिकयधोभागिकं न भ्रंसयति दोषान् तत्र तृष्णा, पार्श्वशूलं च्छर्दिमूर्च्छा पर्वभेदो हृल्लासोऽरतिरुद्गारावशुद्धिश्च भवति। तमुष्णाभिरडिद्धः आशु वामयेदूर्ध्व भाविकम्। सु. चि. ३४-६

८४. (१) अस्निग्ध स्विन्न देहस्यरुक्षस्यानवमौषधम्। दोषानुत्क्लिशय निर्हर्तु अशक्तं जनयेंदगदान्। विभ्रंशं श्वयथुं हिक्कां तमसो दर्शनं भृशं। पिंडिको-द्वेष्टनं कंडूमूर्वोः सादं विवर्णताः। च. सि. ६-३८, ३९
अ. ह. क्र ३-५, ६

(२) अस्निग्धस्विन्नेनाल्पगुणं वा भेषजमुपयुक्तं अल्पान् दोषान् हन्ति। तत्र वमने दोषशेषे गौरवमुत्क्लेशी हृदयाविशुद्धिः व्याधिवृद्धिंच करोति। तत्र तं यथा रोगं पाययित्वा वमियेत् दृढतरं।। सु. चि. ३४-७

८५. (१) स्निग्ध स्विन्नस्य चात्यल्प दीप्ताग्नेजीर्णमौषधं। शीतैर्वास्तब्धमामेवा-दोषानुक्लिशय ना हरेत। तानेव जनयेद्रोगान् अयोगः सर्व एव सः। .... तं

तैललवणाभ्यक्तं स्विन्न प्रस्तर संकरैः। पाययेत पुनर्जीर्णे समूत्रैर्वा निरुहयेत्। निरुढं च रसैर्धान्वैर्भोजयित्वाऽनुवामयेत्। फलभागाधिका दारुसिद्धतैलेन मात्रया। स्निग्धं वातहरै तैलैः पुनः तीक्ष्णैर्नशोधयेत्। न चातितीक्ष्णैर्न ततो ह्यातियोगस्तु जायते। च. सि. ६-४० से ४४

(२) क्रूरकोष्ठस्याति तीक्ष्णाग्निरल्पं औषधं ..... तमनल्पं अमंदं औषधं च पाययेत्।। सु.चि. ३४-६

८६. अजीर्णे वधैतेग्लानिविंबंधश्चापि जायते।
पीतं संशोधनं चैव विपरीतं प्रवर्त्तते।। च. सि. ६-१४

८७. स्निग्धस्विन्नस्यातिमात्रं अतिमृदु कोष्ठस्य वातितीक्ष्णमधिक वा दत्त-मौषधमतियोगं कुर्यात। तत्र वमनातियोगे पित्तातिप्रवृतिर्बलविस्रंसो वातकोपश्च बलवान भवति, तं घृतेनाभ्याज्यावगाह्य शीतास्वप्सु शर्करा-मधुमिश्रैर्लेहैरुपचरेद्यथास्वं।। .....
च. सु. ३४-११

८८. अतितीक्ष्णं क्षुधार्तस्य मृदुकोष्ठस्य भेषजम्।
. . . . . ,
. . . . . .
निःसृतां तु तिंल द्राक्षा कल्कलिप्तां प्रवेशयेत्।।
च. सि. ६-४४ से ५५

८९. (१) योगेन तु खल्वेनं छर्दितवंतमभिसमीक्ष्य सुप्रक्षालितपाणिपादास्यं, मुहूर्त्तमाश्वास्यस्नैहिकवैरेचनिकोपशमनीयानां धूमानामन्यतमं सामर्थ्यतः पाययियत्वा पुनरेवोदकमुपस्पृशेत्।। च. सू. १५-१४

(२) सम्यग्वान्तचैनमभिसमीक्ष्य स्नेहनविरेचनशमनानां धूमानामन्यतमं सामर्थ्यतः पाययित्वाऽचारिकं आदिशेत्। सु. चि. ३३-१०

९०. वसाघृतमधूच्छिष्टैर्युक्तीयुक्तैर्वरौषधैः। वर्तिं मधुरकैः कृत्या स्नैहिकीं धूममाचरेत्।।
च. सू. ५-२५

९१. श्वेता ज्योतिष्मती चैव हरितालं मनःशिला।
गंधाश्चागुरुपत्राद्या धूमः शीर्षं विरेचनम्।। च. सू. ५-२६

९२. हरेणुकां प्रियंगु च . ... ,.. पिबेत्प्रायोगिकीं सुखाम् ।।
च. सू. ५-२० से २४

९३. उपसृष्टोदकं चैनं निवातमागारमनुप्रविश्यसंवेश्यचानुशिष्यात-उच्चैर्भाष्य-मत्याशनमतिचंक्रमणं क्रोधशोकहिमातपावश्यायप्रतिवातान् यानयानंग्राम्य-धर्मस्वपननिशिदिवास्वानं विरुद्धाजीर्णासात्म्यकाल प्रमिताति हीनगुरुविषम भोजनवेगसंधारणोदीरणमिति भावानेतान् मनागप्यसेव्यमानः सर्वगहो-गमयस्व इति। स तथा कुर्यात्।। च.सू. १५-१५

९४. ययाणुरग्निस्तृण गोमयाद्यैः संधुक्ष्यमाणो भवति क्रमेण।
महान् स्थिरः सर्वपचस्तर्थव शुद्धस्य पेयादिभिरंतरग्निः।।
च. सि. ९-१२ अ. ह. सू. १८-३०

९५. पेयां विलेपीमकृतं कृतं च यूषं रसं त्रिद्विरथैकशश्च।
क्रमेण सेवेत विशुद्धकाय: प्रधान मध्यावर शुद्धि ।। च. सि. १-११
अ. ह. सू. १८-२१

९६. ततोपराह्णे शुचि शुद्ध देहं उष्णाभिरद्भि: परिषिक्त गात्रम् ।
कुलत्थ मुद्गाढकि जांगलानां पूषै: रसैर्वाऽपि उपभोजयेत्तु।। सु. चि. ३३
डह्लण—अत्रोच्यते- अपिशब्दात् पेयादिक्रमोऽत्राप्युक्त एव। तत्रात्यंत क्षीणकफानां पेयादि तेषामपि वात भूयिष्ठानां दीप्ताग्निनां सात्म्यापेक्षया मांसरसो-पयोग:, दोषर्तुप्रकृत्यपेक्षया किंचित्कफयुक्तानां यूषोपदेश, न तु विलेपी यवागूनाम्। उक्तंच 'पांशुधने यथा वृष्टि: क्लेदयत्यत्रिकर्दमम्। तथा श्लेष्मणि संदुष्टे यवागु: श्लेष्मवर्धिनी।।''इति।।

९७. अथैनं सायाह्ने परे वन्हिसुखोदकपरिषिक्तं पुराणानां लोहितशालि-तंडुलानां स्वविक्लन्नामंडपूर्वासुखोष्णां यावगूं पाययेत् अग्निबलमभि-समीक्ष्य एवं द्वितीये तृतीये चान्नकाले। चतुर्थेत्वन्नकाले तथा विधानमेव शालितंडुलानामुत्स्विन्नां विलेपीमुष्णोदक द्वितीयामस्नेहलवणमल्प स्नेहलवणां वा भोजयेत्। एवं पंचमें षष्ठे चान्न काले। सप्तमे त्वन्नकाले तथाविधानामेव शालीनां द्विप्रसृतं सुस्विन्नमोदनमष्णोदकानुपानं तनुना तनु स्नेहलवणोपपन्नेन मुद्गयूषेण भोजयेत्। एवं अष्टमें नवमे चान्नकाले। दशमे त्वन्नकाले लावकपिंजलादीनामन्यतमस्य वा मांसरसेन उदक लावणिकेन सारवता भोजयेत् उष्णोदकानुपानम्। एवमेकादशे द्वादशे चान्नकाले। अत ऊर्ध्व अन्नगुणान् क्रमेणोपभुंजान: सप्तरात्रेण प्रकृति भोजनमागच्छेत् ।।
च. सु. १५-१६

९८. द्रवाधिंका स्वल्प सिक्था चतुर्दश गुणे जले।
सिद्धापेया बुधैर्ज्ञेया यूष किंचिंत्घन: स्मृत:।
विलेपी घनसिक्था स्यात् सिंद्धा नीरे चतुर्गुणे। शा. म. खं. अ. २-१६३, १६५

९९. अत्र यूषरसयो: यद्यपि कालविभागो न प्रतिपादित: तथापि यूषकाल-त्रये रसकालत्रये च प्रथमंकृतस्य उत्तरकाले च कृतस्य यूषस्य एवं रसस्यापि कालविभाग: कथनीय:। एवं द्वि: पेयाक्रम तथा एकश्च पेया क्रमो वर्णनीय इति। एककाले तु पेयादिक्रमे कृताकृत यूषरसयो: काल विभागो न प्राप्यते, तथाप्येकस्मिन्नेव काले स्तोकसंस्कारेण यूषरसयो: तत्र कृताकृतत्वं ज्ञेयम्। च. पा. च. रि. १-११

१००. कफपित्तेऽवशुद्धेल्पं मद्यपै वात पैत्तिके।
तर्पणादि क्रमं कुर्यात् पेयाभिष्यदयेंद्धितान।। च. सि. ६-२५
च. पा.—पेयाया: स्थाने स्वच्छ तर्पणं, विलेप्या: स्थानेच घनतर्पणं।।
जेज्जट—तर्पणादिकत्वेनच यूषरस निर्देश:।

१०१. श्रुताल्प पित्त् श्लेष्माणं मद्यपं वातपैत्तिकं।
पेयां न पाययेत्तेषां तर्पणादि क्रमोहित:।। अ. ह. सु. १८-४६
अ.द- प्रथमेऽन्नकाले लाज सक्तवो, द्वितीये अन्नकाले जीर्ण शाल्योदनं, तृतीये मांसरसमित्येष तर्पण क्रम: तेषां हित:।

१०२. च. सू. २३-३५ से ३८.

१०३. संसृष्ट भक्तं नवमेह्ने सर्पिस्त पाययेत्। च. सि. १-२०
पक्षात् विरेको वांतस्य।। सु. चि. ३६-५१

१०४. डह्लण—सम्यग् योगेन वातस्य पुरुषस्य विरेचनं पक्षान्नार्वाक नापि परत:, तत्रार्वाक् क्रियमाणं पुरुषानल बलयोरबलत्वाद् व्यापदमावहति। अतिपरत: पुन: स्नेहस्वेदादि गुणोऽतरित: स्यात्। तस्माद पक्षादेव वांतो विरेचनीय: तत्र प्रधान शुद्धिमपेक्ष्य अन्नसंसर्गेण दिनानि षड्तिक्रम्य मधुरादि संसर्गमाचरेत्। स्नेहपानेनापि दिनानि षड्तिक्रमेत्। तत: स्वेदं समाचरन् लघुष्णं भुज्यमानस्त्रयहं स्थितश्हतुर्येऽह्ने विरेकं कुर्यात्। सु. चि. ३६-५१

१०५. तत्रोष्ण तीक्ष्ण सूक्ष्म व्यवायि विकाशीन्यौषधानि स्ववीर्येण हृदयमुपेत्य धमनीरनुसृत्य स्थूलाणु स्रोतोभ्य: केवलं शरीरगतं दोषसंघातमाग्नेयत्वात् विष्यंदयन्ति तैक्ष्ण्यात् विच्छिदंन्ति स विच्छिन्न: परिप्लवन् स्नेहभाविते काये स्नेहाक्त भाजस्थमिव क्षौद्रमसज्जन्नणुप्रवणेभावात आमाशयागम्योदान प्रणुन्नो-ऽग्नि वाष्वात्मकत्वात् ऊर्ध्व भाग प्रभावादौषधस्योर्ध्वमुत्क्षिप्यते। च. क १-५

१०६. तद्वयादित एव आमाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूलं ऊर्ध्व उत्क्षिपति। तत्रावाजिते श्लेष्मण्यपि शरीरांतगता: श्लेष्मविकारा: प्रशांतिमाप-द्यंते, यथा भिन्ने केदारसेती शालियवषाष्टिकादौन्यनभिष्यंद्यमानानि अंभसा प्रशोषमापद्यंते पद्वत्।
च. सू. २०-२३

१०७. आमाशयोत्क्लेशभवा हि सर्वांश्छर्दयो मता। च. चि. २०-२०

१०८. (१) आमाशयोत्क्लेश कृताच मर्म प्रपीडयश्छर्दिमुदीरयेत्तु।।
(वातज छर्दि)
(२) प्रपीड्य मर्मोर्ध्व।। (पित्तज छर्दि)
उर:शिरा मर्म रसायनीश्च। (कफज) च. च. २०-९, १०, १२

१०९. तत: शोणितजा रोगा . . . प्रजायंते पृथग्विधा।
विदाहश्चान्नपानस्य तिक्ताम्लोद्गीरणं क्लम:। च. सू. २४-११ से १४

११०. द्विष्टप्रतीपाशुचि पूत्यमेध्य वीभत्सगंधाशन दर्शनैश्च।
यच्छर्दयेंत् तप्तमना मनोध्नै: द्विष्टार्थसंयोगभवा मता सा ।।

१११. दोषानुदीरयन् वृद्धावुदानो व्यान संगत:।
ऊर्ध्वमागच्छति भृशं विरुद्धाहार सेवनात्।। सु. उ. ४९-७

पंचम अध्याय

विरेचन-विज्ञान

विरेचन व्याख्या— दोषों को अधो मार्ग से अर्थात् गुदमार्ग से बाहर निकाल देना विरेचन कहलाता है।[१] यहां भी दो शब्द केवल वातादि के लिए नहीं अपितु उपलक्षण से मलादि उपघात कर भावों के लिए समझना चाहिये। शार्ङ्गधर ने विरेचन में मलादि का निर्हरण कहा ही है।

विरेचन शब्द व्याकरण निरुक्ति के अनुसार निम्नलिखित प्रकार से सिद्ध होता है।

"विरेचन— न., वि + रिच् + णिच्, ल्युट-मलादे: निस्सरणम्"

अर्थात् मूल रिच् धातु में वि उपसर्ग, और णिच् तथा ल्युट् प्रत्यय से विरेचन शब्द (नपुंसक लिंगी) बनता है, जिसका अर्थ है मलादि को निकाल देना। इस व्याख्या के अनुसार मल सभी मार्गों से निकाले जाने के अर्थ में विरेचन शब्द प्रयुक्त होगा। तथापि आयुर्वेद में गुदमार्ग से दोषों को निकालना यह विरेचन कहलाएगा। गुदमार्ग से निरूह बस्ति भी दोषों को निकाल सकती हैं—क्या उसे विरेचन कह सकते हैं ?

ऊपर से निकालने की वमन प्रक्रिया के लिए भी "विरेचन" कहा जा सकता है।[२] फिर मूत्र विरेचन, शुक्र विरेचन, शिरो विरेचन आदि शब्द प्रयोग भी मिलते हैं। अतएव विरेचन, का अर्थ बाहुल्येन उपयोग से या तो तंत्रसिद्धान्त के रूढार्थ से, "मलविसर्जन प्रक्रिया के द्वारा शोधन करनेवाले कर्म विशेष के लिए नियत समझना चाहिए, और यह अधोभाग हरण प्रकार का शोधन होता है। अर्थात् आमाशयादि दोषों को नीचे ले जाकर विरेचन गुदा से निकाल देता है। निरूह बस्ति में यह 'अधोभाग' हरण का सामर्थ्य नहीं है। अधोभाग में जो मल हैं, उनका मात्रा निर्हरण निरूह बस्ति से होता है अत: निरूह बस्ति का 'विरेचन' संज्ञा में अंतर्भाव नहीं हो सकता। विरेचन इस तरह अधोभागहर शोधन के लिए नियत होते हुए भी शार्ङ्गधर ने 'रेचन' नामक विरेचन का एक भेद भी माना है। विरेचन के लिए प्रस्कंदन शब्द भी उपयुक्त किया जाता है।[३]

विरेचन का सामान्य परिचय

विरेचन यह पित्त दोष के लिए विशेष उपक्रम है।[४]। पित्त के लिए, पित्त प्रधान दोषों के लिए कफ संसृष्टि के लिए तथा पित्त स्थानगत कफ के लिए विरेचन देना पशस्त है ।[५] विरेचन यह कफ के विरुद्ध उपक्रम नहीं है, अपितु कफ की भी चिकित्सा है यह विशेष चिकित्सा सौकर्य है। पित्त का स्थान आमाशय है और कफ का भी मुख्य स्थान आमाशय है। स्थान सामान्य के कारण यह दोनों में अनुकूल है। विरेचन में वमन के सदृश शरीर कष्ट नहीं

है और उपद्रव की भी कम संभावना होती है। उपद्रव अधिक आशुकारी नहीं होते, और इनकी चिकित्सा सरल होती है। इसी तरह पित्त और कफ के समान वात के लिए भी विरेचन उपक्रम प्रशस्त हैं। स्नेहन, स्वेदन और मृदु विरेचन यह वात की चिकित्सा कही है ।[६] इस तरह विरेचन का विषयबाहुल्य भी है। विरेचन आमाशय में पित्त का शोधन कर सभी पित्तों का अवजयन करता है। जैसे अग्नि से तपे हुए (गरम घर) घर को शांत करने के लिए अग्नि को शांत करना होता है, और अग्नि शांत होने पर घर की गरमी स्वयं शांत होती है। वैसे ही आमाशयस्थ पित्त शमन से सभी पित्तों का शमन होता है।[७]

विरेचन द्रव्यों के गुणकर्म

विरेचन द्रव्यों में वे सब गुण होते हैं जो वमन द्रव्य में कहे गये हैं। अर्थात् इनमें उष्णता, तीक्ष्णता, सूक्ष्मता, व्यवायि, विकाशित्व ये गुण होते हैं। इनमें पृथ्वी और जल महाभूत की भूयिष्ठता होती है और अधोभागहरण यह प्रभाव होता है। उष्ण तीक्ष्णादि गुण के कार्य वमन द्रव्यों के विचार में स्पष्ट किये गये हैं। वैसे ही यहां समझना चाहिये। विरेचन करना यह इनका प्रभाव हैं, जो अचिंत्य है।

विरेचन द्रव्य— विरेचन करनेवाले द्रव्य अनेक हैं उनका वमन द्रव्यों के क्रम से ही उल्लेख चरकादि संहिता में मिलता है। सुखपूर्वक विरेचन कराने में 'त्रिवृत मूल' श्रेष्ठ द्रव्य है। मृदुविरेचन करानेवाले द्रव्यों में चतुरंगुल— 'आमल-तास' श्रेष्ठ द्रव्य है और तीक्ष्ण विरेचन करनेवाले द्रव्यों में 'स्नुक्पय' थूहर का दूध श्रेष्ठ द्रव्य कहा गया है ।[८] चरके ने कल्पस्थान में विरेचन के कल्पों पर छ: अध्याय लिखे हैं—जिनमें श्यामात्रिवृत्त, आरग्वध, लोध्र या तिल्वक, महावृक्ष (स्नूही), सप्तला, शंखिनी, और दंतीद्रवंती इनके कल्प दिये गये हैं। सुश्रुत ने मूल विरेचन द्रव्यों में श्यामात्रिवृत्त को मूल श्रेष्ठ कहा है। त्वक् विरेचनों में तिल्वक् फल-विरेचनों में हरीतकी, तैल-विरेचनों में एरंडतैल, स्वरस-विरेचनों में कारवेल्लक स्वरस और दुग्ध-विरेचनों में स्नूही क्षीर श्रेष्ठ माना है ।[९] विरेचन में उपर्युक्त गिने गये ही प्रधान द्रव्य हैं। अर्थात् त्रिवृत्त, आरग्वध, तिल्वक, स्नूही, सप्तला, शंखिनी, दंती, द्रवंती, हरीतकी, एरंडतैल, ये विरेचन की अच्छी औंषधियां है। इनके अतिरिक्त अन्यान्य संदर्भ से प्रशस्ति किए हुए द्रव्यों में स्वर्णपत्री, (सनाय) कटुका, द्राक्षा, इनका समावेश होता है।

चरकोक्त विरेचन द्रव्य

१. **मूलिनी द्रव्य** [१०]—निम्नलिखित द्रव्यों के मूल विरेचन में प्रयुक्त हैं।

१. हस्तिदंती (नागदंती-बड़ी दंती)	२. श्यामा त्रिवृत्त
३. श्वेत त्रिवृत्त	४. अधोगुड़ा (विधारा)
५. सप्तला (सातला)	६. प्रत्यकश्रेणी (दंती)
७. गवाक्षी (इंद्रायण)	८. बिषाणिका
९. आवर्तकी (मरोडफल्ली)	१०. अजगंधा

११. द्रवंती इनके मूल चूर्णो का प्रयोग विरेचनार्थ किया जाता है।

२. फलिनी द्रव्य[११]— निम्नोक्त द्रव्यों के फल विरेचन प्रयुक्त हैं।

१. शंखिनी (श्वेत बुह्ना) २. विडंग
३. आनूप क्लीतक (जलज यष्टिमधु) ४. स्थलज क्लीतक (यष्टिमधु)
५. प्रकीर्या (करंज) ६. उदकीर्या (करंज भेद)
७. अभया ८. अंत: कोटरपुष्पी (नील बृह्ना)
९. कांपिल्लक १०. आरग्वध

यष्टिमधु का मूल प्रयोग करने को सुश्रुत ने कहा है। चक्रपाणि कहते हैं कि विरेचन के लिए दोनों का फल ही प्रशस्त है।

३. लवण [१२]— वमनाध्याय में कहे हुए सौवर्चल, सैंधवादि नमक का प्रयोग अधोभागहर शोधन के लिए निर्दिष्ट किया गया है।

४. क्षीर विरेचन[१३]— स्नूही क्षीर, तथा अर्क क्षीर ये विरेचन हैं।

५. पक्वाशयगत दोष में विरेचन द्रव्य[१४]—

१. त्रिवृत्त २. त्रिफला ३.दंती
४. नीलिनी ५. सप्तला ६. वचा
७. कांपिल्ल ८. गवाक्षी ९. क्षीरिणी (दुग्धिका)
१०. उदकीर्या ११. पीलु १२. आरग्वध
१३. द्राक्षा १४. द्रवंती १५. निचुल

६. भेदनीय द्रव्य[१५]—

१. सुबहा (त्रिवृत्त) २. अर्क (आक) ३. उरुबुक (एरंड)
४. अग्निमुखी (लांगली) ५. चित्रा (दंती) ६. चित्रक
७. चिरबिल्व (करंज) ८. शंखिनी (यवतिक्ता) ९.शकुलादनी (कटुका)
१०.स्वर्णक्षीरि (सत्यानासी)

ये १२ द्रव्य भेदन कर विरेचन कराते हैं।

७.विरेचनोपग द्रव्य[१६]— विरेचन में सहाय करनेवाले १० द्रव्यों से विरेचनोपग गण कहलाता है। वे द्रव्य हैं—

१.द्राक्षा २.गंभारी ३. फालसा
४. अभया ५. आमलक ६. बिभीतक
७. कुवल (बेर का भेद बड़ा) ८. बदर (छोटा बेर)
९.कर्कधु १०. पीलु।

८. पुरीष विरजनीय द्रव्य[१७]— पुरीष में रहनेवाले दोषों का जो निरास करते हैं उन्हें, पुरीष विरजन कहते हैं। इनमें जो द्रव्य कहे गये हैं उनमें से कुछ विरेचन में भी यत्रतत्र उल्लेखित हैं।

१. जामुन २. शल्लकी (सर्ज) ३. त्वक्
४. कच्छुरा (दुरालभा) ५. यष्टिमधु ६. श्रीवेष्टक

७. भृष्टामृत् (भूनी हुई मिट्टी) ८. पयस्या ९. नीलोत्पल
१०. तिन्न ये पुरीष का विरजन करते हैं।

९. अग्र्य (श्रेष्ठ) द्रव्य[१८]—

१. यव पुरीष उत्पत्ति (जनन) में श्रेष्ठ द्रव्य है। अर्थात् यव से मलोत्पत्ति अधिक होकर मल अधिक विसर्जित होता है।
२. त्रिवृत्त विरेचन में श्रेष्ठ है।
३. आमलतास मृदु विरेचन में श्रेष्ठ है।
४. स्नूही क्षीर तीक्ष्ण विरेचन में श्रेष्ठ है।
५. अम्लवेतस भेदन और अनुलोमन में उत्तम है।

१०. विरेचन-द्रव्य संग्रह[१९]— श्यामा, त्रिवृत्त, आमलतास, तिल्वक, महावृक्ष (सेहुंड) सप्तला शंखिनी दंती (जयपाल), द्रवंती बड़ी (दंती) उनके क्षीर, मूल, त्वक्, पत्र पुष्प और फल विरेचन में प्रयुक्त हैं। इन द्रव्यों के क्षीर, मूल, त्वक् पुष्पादि को निम्नलिखित कषाय के साथ विरेचन में उपयोग किया जा सकता है। अर्थात् ये कषाय विरेचन में सहायक है। अजगंधा (अजवाईन), अश्वगंधा, अजशृंगी, क्षीरिणी, नीलिनी, यष्टीमधु, उदकीर्या, मसूरविदला, कांपिल्ल, विडंग, गवाक्षी, इनके कषाय, पीलू, प्रियाल, द्राक्षा, गंभारी, फालमा, बदर, दाडिम, आंवला, हरड़, बहेड़ा, श्वेत पुनर्नवा, लाल पुनर्नवा, विदारीगंधादि -(शालिपर्णी आदि अर्थात् ह्रस्वपंचमूल-शालीपर्णी, वृहती, कंटकारिका, गोखरू, पृश्निपर्णी अथवा दशमूल) इनके कषाय, विरेचन में प्रयुक्त है।

सुश्रुतोक्त विरेचन द्रव्य:[२०]

१. त्रिवृत्त (रक्तमूला त्रिवृत्त ङ) २. श्यामा (कृष्णमूला त्रिवृत्त)
३. दंती (जयपाल बीज) ४. द्रवंती (दंतीभेद)
५. सप्तला ६. विषाणिका (मेढाशृंगी)
७. गवाक्षी (इंद्रायन) ८. छागलांत्री (वृद्ध दारक)
९. स्नुक् (स्नूही) १०. स्वर्ण क्षीरी (अनंता सदृश पत्रा, हियावलीति लोके, कंगुष्ठ इत्यपरे ङ् सत्यनासी)
११. चित्रक
१२. किणिही (कटभी) १३. कुश
१४. काश १५. तिल्वक (स्वल्पलोध्र)
१६. कांपिल्लक १७. रम्यक (बकायन)
१८. पाटला १९. पूग
२०. हरड़ २१. बहेड़ा
२२. आंवला २३. नीलिनी
२४. आमलतास २५. एरंड
२६. पूतिक (चिरबिल्य) २७. महावृक्ष
२८. सप्तछद (सप्तपर्ण) २९. ज्योतिष्मती (मालकांगनी)

इनमें तिल्वक के पूर्व द्रव्यों का मूल बरते, तिल्वक से पाटला तक की औषधियों की त्वचा, कांपिल्लक फल की रज, पूग से एरंड तक के द्रव्यों के फल, पूतिक और आरग्वध के पत्र और शेष द्रव्यों का दूध विरेचनार्थ ले।

वाग्भटोक्त विरेचन द्रव्य[२१]

१. निकुंभ (दंती)	२. कुंभ (निशोथ)	३. त्रिफला
४. गवाक्षी	५. स्नुक्	६. शंखिनी
७. नीलिनी	८. तिल्वक	९. रम्याक (आमलतास)
१०. कांपिल्लक	११. स्वर्णक्षीरी	१२. दूध
१३. मूत्र।		

इन विरेचन द्रव्यों में से प्रमुख द्रव्यों का सामान्य परिचय आगे तालिका में दिया गया है।

विरेचन के भेद

वस्तुत: विरेचन के कोई भेद नहीं हैं। किंतु विरेचन द्रव्यों का कार्य जिस प्रकार से संपन्न होता है, उसके अनुसार, मृदु, मध्य तीक्ष्णादि भेद संभव होते हैं। चरक ने त्रिवृत्त को सुखपूर्वक विरेचन के लिए, आरग्वध को मृदु विरेचन के लिए, और स्नूक् पय तीक्ष्ण विरेचन के लिए श्रेष्ठ मानकर ये में भी दिग्दर्शित किये हैं। शार्ङ्गधर ने अनुलोमन, स्रंसन, भेदन और विरेचन ऐसे चार प्रकार के अधोभागहर कर्मों का वर्णन किया किया है।[२२] इनकी व्याख्या निम्नलिखित प्रकार से है।

१. **अनुलोमन**—जो औषधियां मलो को पक्व कर, उनका संहनन तोड़कर, विबंध नष्ट कर उन्हें अधोमार्ग में ले जाती हैं उन्हें अनुलोमन कहते हैं। उदाहरण— हरीतकी।

२. **स्रंसन**—जो औषधियां कोष्ठ में चिपके हुए मलों को बिना पक्व किये ही नीचे ले जाकर बाहर निकाल देती हैं उन्हें स्रंसन कहा जाता है। उदाहरण—आरग्वध या आमलतास।

३. **भेदन**—जो औषधि द्रव्य सघन, संचित, अर्धघन अथवा गांठदार-पिंडित मलों को भेदनकर-तोड़कर नीचे ले जाकर बाहर निकाल देते हैं उन्हें भेदन कहते हैं। उदाहरण—कटुका।

रेचन—जो औषधियाँ पक्व या अपक्व मलादि को पतला करके अधो मार्ग से बाहर निकाल देती हैं उन्हें रेचन कहते हैं। उदाहरण—त्रिवृत्त।

चरक ने अनुलोमादि शब्दों का प्रयोग अनेक स्थान में किया है। सुश्रुत ने, मूल विरेचन, त्वक् विरेचन, पुष्प विरेचन, फलविरेचन, तैल और पयोविरेचन ऐसे द्रव्यांग के अनुसार छ: प्रकार के रेचनद्रव्य कहे हैं उनका उल्लेख पीछे कर दिया है। चरक ने भी मूलिनी द्रव्य, फलिनी द्रव्य विरेचनार्थ बताये हैं और पुरीष विरजनीय, पुरीष जनन, भेदनीय, विरेचनोपग, अनुलोमक, इत्यादि नामों से विरेचन द्रव्यों का वर्णन किया है।

उपर्युक्त परिभाषा में अनुलोमन और स्रंसन ये मृदुविरेचन के प्रकार हैं और भेदन तथा रेचन उससे अधिक प्रभावी विरेचन है। अनुलोमन दोषों का पाक करता हैं, अत: अनुलोमन द्रव्य धीरे से काम करते हैं। स्रंसन में पाक नहीं होता। वह उससे जल्दी विरेचन करता है। भेदन द्रव्य भी पाक की अपेक्षा न रखकर तोड़फोड़ कर मलों को निकालते हैं, वे स्रंसन से

विरेचन द्रव्यों का सामान्य परिचय दर्शक तालिका

क्र.	द्रव्यनाम	अन्य परिचायक नाम	लेटिन नाम	परिचय	उपयुक्त अंग	प्रमुख गुणकर्म
१.	त्रिवृत	निशोथ	Operculina Terpetham	लता होती है। मूलगोल, एक बाजू से फटे हुए होते हैं। रक्तवर्ण मूल काले निशोथ से श्रेष्ठ होता है।	मूल	रस-कषाय, कटु, मधुर, गुण में रुक्ष, कटुविपाक। विरेचन में श्रेष्ठ। कफ, पित्त, उदर ज्वर, शोथ, पांडु, क्रिमि, प्लीहा रोग को नष्ट करता है।
२.	चतुरंगुल	आरग्वध अमलतास	Cassia Fistula	इसके बड़े वृक्ष होते हैं। पर्ण संयुक्त १।। इंच लम्बे, चैत्र वैशाख में सुंदर पीले रंग के फूल लगते हैं। सेम गोल १ से १।। फीट लंबी, भीतर काले रंग का गुदा होता है।	फल, मज्जा, मूल पत्र	मधुर, तिक्त, गुरु, शीतवीर्य, मृदु विरेचन, रुचिकारक। कुष्ठ, ज्वर, कंडू, हृद्रोग, वातरक्त, उदावर्त, कफ का नाश करता है। सुकुमारों के विरेचन के लिये प्रशस्त।
३.	तिल्वक	लोध्र	Symplocos Racemosa	तिल्वक को चरक ने लोध्र कहा है। पत्ते लंबे, बड़े, अंत-त्वचा कठिन, बड़ी। मध्यम प्रमाण का वृक्ष। पुष्प पीताभ श्वेताभ। द्रव्य-गुण विज्ञानी वैद्य लोध्र को ग्राही बताते हैं। चरक ने भी पुरीष-संग्रहणीय गण में इसका समावेश किया है और विरेचन के प्रयुक्त उत्कृष्ट द्रव्यों में भी इसके योग बताये हैं। संभवत: लोध्र का अन्य कोई भेद विरेचक हो।	मूल, त्वक्	विरेचक। लघु, शीत, चक्षुष्य, कफ-पित्तनुत्, कषायरस, रक्तपित्त, अतिसार, शोथहर।

तालिका

क्र.	द्रव्यनाम	अन्य परिचायक नाम	लेटिन नाम	परिचय	उपयुक्त अंग	प्रमुख गुणकर्म
४.	सुधा स्नुक् महावक्ष	स्नुक्-स्नूही थूहर सेहुंड	Euphosbia Nereei folia	सर्वत्र पाया जाता है। इसकी डंडा, त्रिधारा, चौधारा, अंगुलिया आदि कई प्रकार की जातियाँ होती हैं।	क्षीर कांड, मूल, पत्र	यह तीक्ष्ण विरेचन है। मृदुकोष्ठों में अप्रयोगार्ह। पांडू, उदर, उदर, गुल्म, दूषीविष, शोध, मधुमेह में उपयोगी है।
५.	सप्तला	सातला चिकाकाई	Acacia Rugata	इसका कांटेदार गुल्म होता है। पत्र अम्ल रुचिकर इसके सेम का स्नान के लिये, कपड़े धोने के लिये मसाले में उपयोग किया जाता है।	—	तिक्त, कटुविपाकी, लघु, शीत, शोधन वातल। कफ, पित्त, रक्तविकार शोथ आनाह को दूर करती है। चरक ने विरेचन के मुख्य द्रव्य में निर्दिष्ट किया है।
६.	शंखिनी	यवतिक्त कालमेध	Andrographis-Paniculata	शंखिनी को यवतिक्ता कहा है। यवतिक्ता नाम से कालमेघ का वर्णन आचार्य प्रियवत शर्मा करते हैं। यहाँ उसी का वर्णन किया है। क्षुप १'-३' ऊँचा, कांड, चतुष्कोण पत्र २-३ इंच लंबे, पुष्प छोटे, श्वेत या नील। बीज अनेक चतुष्कोण, लोमेश। अत्यंत तिक्तक्वाकार फल।	पंचांग नातिशुष्क फल	तिक्त, पित्तसारक, रेचन, दीपन, पाचन, कृमिघ्न, शोथहर, ज्वरघ्न, गुल्म, हृद्रोग, कुष्ठ, शोफ उदर में प्रयोज्य।

तालिका

क्र.	द्रव्यनाम	अन्य परिचायक नाम	लेटिन नाम	परिचय	उपयुक्त अंग	प्रमुख गुणकर्म
७.	दंतीबीज	जयपाल जमालगोटा	Crotum-Tigilium	भावप्रकाश ने जयपाल को दंत-बीज कहा है। सदाहरित छोटे-वृक्ष पत्र २-४ इंच लंबे, दंतुर, फल लगभग १ इंच लंबा, अंडाकार, त्रिकोनी, बीज बादामी रंग के इसकी दूसरी जाति नागदंती कहलाती है।	बीज बीजतैल	विरेचन, पित्तकफ नाशक, कटु, उष्ण, कृमिघ्न, जलोदर में उपयोगी।
८.	दंती द्रवंती	दंत	Baliosper mum Mona num	छोटा-सा गुल्म ३' से ६' ऊँचा। दो प्रकार-छोटी को लघुदंती और बड़ी को द्रवंती कहते हैं, पत्र एरंड सदृश।	मूल, बीज	गुरु, रुक्ष, तीक्ष्ण, कटुरस कटुविपाकी, उष्ण वीर्य, सर, विरेचन। अर्श, शूल, कंडु, कुष्ठ, विदाह, नाशक।
९.	उरुबुक पचांगुल	एरंड	Racinus Communis	प्रसिद्ध, सर्वत्र उपलब्ध, छोटा और बड़ा दो प्रकार का होता है।	बीज तैल	मधुर, गुरु, उष्ण, भेदन, स्वेदोपग, अधो-भागहर वातसंशमन श्वास, कास, अश्मरी, गुल्म, प्लीहा, आनाह, आमवात आदि का नाशक।
१०.	हरीतकी	हरड़ हर्रे शिवा	Terminilia Chebula	हरड़ भारत में सर्वत्र होती है। पंजाब के कांगाडा जिले की हरड़ उत्तम मानी जाती है।	फल चूर्ण	लवण छोड़कर, पाँचों रसों से युक्त। विशेषत: कषाय, अनुलोमन। लघुदीपन पाचन वृष्य, रसायन, वय: स्थापन, बुद्धिवर्धन।

तालिका

क्र.	द्रव्यनाम	अन्य परिचायक नाम	लेटिन नाम	परिचय	उपयुक्त अंग	प्रमुख गुणकर्म
११.	विभीतक	बहेड़ा	Terminalia Belrica	बड़ा वृक्ष, सर्वत्र उपलब्ध। ५० से १००, ऊँचा वृक्ष, कांड त्वक् धूसर, पुष्प छोटे, पीताभ फल गोलाकार, धूसर, प्रत्येक में १ बीज। पत्र वटपत्र के सदृश ३-६ इंच लंबे।	फल	रुक्ष, लघु, कषाय, विाक, मधुर, उष्ण वीर्य। भेदन, कास, कृमि, स्वरभेद, तृष्णा, छर्दि पित्तरोग नाशक, चक्षुष्य, केश्य रसरक्त मांस भेद के रोगों को दूर करता है।
१२.	शकुलादनी कटुरोहिणी	कटका कुटंकी	Picrorrh hiza-Kurrooa	कुटकी हिमालय में कश्मीर से सिक्किम तक ७००० से १४००० फीट ऊँचाई पर होती है। मूल खुरदरा, ग्रंथि युक्त, गहरे भूरे रंग के, एक और मोटा, एक ओर लिकुड़ा होता है।	मूल चूर्ण	तिक्त, शीतवीर्य, रुक्ष, लघु, भेदिनी, दीपन, कफपित्तह, ज्वर, प्रमेह, श्वास, कास, रक्तविकार, दाह, कुष्ठ, कृमि नाशक।
१३.	द्राक्षा, मृद्विका	दाख अंगूर	Vitis Venifera	प्रसिद्ध है।	फल, फलरस	स्नेहोपग, विरेचनोपग, मधुर, शीत, स्निग्ध, बृंहण, सर, कंठ्य, रुच्य। तृषा, दाह, ज्वर, श्वास, कास, रक्तपित्त, वातपित्त, उदावर्त, मुखशोष को दूर करती है।

तालिका

क्र.	द्रव्यनाम	अन्य परिचायक नाम	लेटिन नाम	परिचय	उपयुक्त अंग	प्रमुख गुणकर्म
१४.	मार्कडी	सनाय	Cassia Angustifolia	सनाय मद्रास के तिनवेल्ली जिले से तथा अरबस्तान से आती है।	पत्र सेम	मार्कडिक, विरेचक, वामक, कृमि, कास, गुल्म, उदररोग को दूर करती है।
१५.	पीलु	पीलु	Salvadora-persica	वृक्ष मध्यमाकार ८-१० फीट ऊँचा शाखाएँ पुष्कल, दुर्बल झुकी हुई, फल-मिर्च के सदृश छोटे, मांसल, पकने पर गहरे लाल, फल में एक बीज।	मूल, बीज तैल फल पत्र	विरेचन, विरेचनोपग, शिरोविरेचनोपग, जवरहर, सर। लघु, स्निग्ध, तीक्ष्ण। कटुतिक्तमधुर, वीर्य उष्ण। कफवातहर।
१६.	आमलक	आँवला	Phyllanthus Embiica	प्रसिद्ध है।	फल-पक्व	लवण छोड़कर पाँचों रस। त्रिदोषघ्न, शीतवीर्य, विरेचनोपग, वयःस्थापन, दोषानुलोमन, लघु, दीपन, पाचन। कुष्ठ, गुल्म उदावर्त, शोष, अर्श, ग्रहणी, हृद्रोग, अतिसार, अरुचि, प्लीहारोगा को दूर करता है।
१७.	पाटला	पाढर	Sterosper mum-Sulaveo lens	पाटला का बड़ा वृक्ष होता है। पर्ण संयुक्त, पुष्प वसंत में पीले, लाल, सुगंधी, सेम में १२ से ३० बीज होते हैं।	—	कषाय, तिक्त, वीर्य, अनुष्ण, त्रिदोषघ्न। श्वास, अर्श, वमन, हिक्का, तृप्ति, रक्त, विकार को मिटाती है। सुश्रुत ने अधोभागहर में पढ़ा है।

तालिका

क्र.	द्रव्यनाम	अन्य परिचायक नाम	लेटिन नाम	परिचय	उपयुक्त अंग	प्रमुख गुणकर्म
१८.	काश्मरी	पीलु	Gmellna-Arborca	मध्यम ऊँचाई का वृक्ष। पत्र ५ से १० लम्बे, ३ इंच चौड़े, फूल पीले, छाल-श्वेताभ।	फल-मूल	विरेचनोपग, दाहप्रशमन है। कटुतिक्त, मधुर, कषाय, गुरु, उष्ण। शोध, त्रिदोष विषदाह, ज्वर, तृष्णा, रक्तविकार, भ्रम, अर्श, शोष, शूल, को नष्ट करता है। पित्त प्रशमन तथा मूत्रावरोध नाशक।
१९.	प्रकीर्या	करंज मुक्तनाल	Pongamia Glabra	मध्यमाकार वृक्ष—२५ से ५० फीट ऊँचे। पत्र २-५ इंच लंबे। पुष्पदंड शाखा प्रशाखा युक्त। फल १।। से २ इंच लम्बा चपटा अंडाकार। प्रत्येक फल में १ बीज। बीज में तैल रहता है। करंज, पूतिकरंज, चिर बिल्व करंजी ऐसे ४ वृक्ष निघंटु में निर्दिष्ट हैं। यहाँ करंज का परिचय दिया है। (वमन द्रव्य परिचय पृष्ठ २३६ भी देखे।)	पत्र त्वक्	लघु, तीक्ष्ण, तिक्त, कटु, कषाय, कटु-विपाकी, उष्णवीर्य। कफपित्त कुष्ठार्श प्रमेह, उदर, व्रण, क्रिमि, शोथ नाशक, दीपन, पाचन, विरेचन, शिरोविरेचन।

तालिका

क्र.	द्रव्यनाम	अन्य परिचायक नाम	लेटिन नाम	परिचय	उपयुक्त अंग	प्रमुख गुणकर्म
२०.	उदकीर्य	पूतिकरंज घृतकरंज कुवेराक्ष	Gaesalpinia-Bonducella	छोटा झाड़ीदार वृक्ष, कांड तथा शाखा पर कांटे, फूल पीले, फल दो इंच लंबे, चपटे। बीज कठिन, बीजमज्जा श्वेत।	फलबीजमज्जा	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण, कटु, तिक्त कटुविपक उष्णवीर्य, विरेचन, स्रंसन, वातकफापह शोथ, यकृत-प्लीहा वातघ्न।
२१.	कांपिल्स	कमीला कबीला	Mellotus phili-poinensis	मध्याकृति सदा हरित वृक्ष, २५-३० फीट ऊँचा गूलेर के सदृश। पुष्पदंड, गहरे लाल रंग के। पके फल लाल रंग के धूलि से आवृत, मसलने पर यह अलग हो जाती है। यही चूर्ण कबीला है। शाखा से भी कबीला मिलता है यह पीला निकृष्ट होता है।	फलरच चूर्ण	अधोभागहर, लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण, रसकटु, कटुविपाकी, उष्ण। कफपित्त, रक्त, कृमि गुल्म, उदर व्रणापह। रेचन, प्रमेह, आनाह विष तथा अश्मरी को दूर करता है।

तालिका

क्र.	द्रव्यनाम	अन्य परि-व्यावक नाम	लोहित नाम	परिचय	उपयुक्त अंग	मुख्य गुणकर्म
२२.	नीलिनी	नील लोत	Indigofera Tinctoria	नीलिका २ से ६ फीट ऊँचा क्षुप होता है। कांड के चारों ओर शाखाएँ, रहते रोमाकीर्ण पत्र सयामाभ, १-२ अंगुल लंबे पुष्प नीलाभ, गुलाबी।		तिक्त, उष्णवीर्य, रेचन, केश्य। भ्रम, प्रमेह, उदर, प्लीहा, वातरक्त आमवात उरःक्षत, मद और विष को नष्ट करती है।
२३.	गवाक्षी	इन्द्रवारुणी इंद्रदारुण	Citrullius colo-cynthis	इसकी प्रतानिनी लता होती है। पत्र तरबुज के पत्र के सदृश। पुष्प घंटाकार, पीले। फलगोल २-३ इंच व्यास के, पकने पर पीले रंग के। बीज क्षुप्पर या कृष्णाभ। शीत ऋतु में पुष्प और फल आते हैं।	फल, मज्जा मूल	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण। रस तिक्त, विपाक, कटु। वीर्य उष्ण। मूत्रिनी विरेचन (च)। सर, कामला, पित्त, कफ, प्लीहा, उदर, श्वास, कास, कृमि, व्रण—इनको नष्ट करती है।

भी जल्दी काम कर सकते हैं, रेचन पक्व या अपक्व मल को द्रवित कर निकालता है—यह सबसे अधिक प्रभावी है। सामान्यतः वमन में दोषों के पाक की अपेक्षा नहीं होती, किंतु विरेचन में पाक करके दोष निकाले जाते हैं।[२३] अतएव ऊपर अपक्व का अर्थ ईषत् पक्व समझना चाहिये और चारों के कार्य में कम ज्यादा पाक होता है ऐसा ही अर्थ है न कि बिल्कुल अपक्व द्रव्यों को निकालने का अर्थ लिया जाता है।

विरेचन द्रव्यों के प्रयोग भेद— वमन द्रव्यों के समान विरेचन द्रव्यों को भी विचारणा के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रयुक्त किया जाता है। उष्ण तीक्ष्णादि गुणों से युक्त व्यक्ति के भेषानुसार लेने में कठिनाई हो तो प्रत्येक को अनुकूल स्वरूप का, घन स्वरूप में चूर्णादि, वटक, वटी, मोदकादि, या तरल स्वरूप में रसादि तथा भोज्य कल्पना में उत्कारिका, कृशरा, मद्यादि, के साथ लेने में सुविधा हो यह दृष्टिकोण इसके पीछे है। इसी तरह औषधि वीर्य का अधिक कालतक संरक्षण, विरेचन प्रभाव को न्यूनाधिक (मृदु या तीक्ष्ण) करनेवाले द्रव्यों के साथ संमिश्रण, प्राप्त परिस्थिति में यथोपलब्ध द्रव्यों के द्वारा विरेचन प्रयोग की सुविधा, ये भी उद्देश्य इनके पीछे प्रतीत होते हैं। विरेचन की निम्नलिखित कल्पनायें प्रयोग की हुई मिलती हैं।

१. चूर्ण २. वर्तिक्रियाँ ३. आसव
४. अरिष्ट ५. अवलेह ६. स्नेह-तैल
७. कषाय ८. मांसरस ९. पानक
१०. यूष ११. तर्पण १२. खाडव
१३. राग १४. घृत १५. मद्य-सुरा
१६. यवागु १७. क्षीर १८. उपधेया
१९. मोदक २०. सीधु २१. दही इत्यादि

सुश्रुत ने विरेचन द्रव्यों के
१. घृतयोग २. तैलयोग ३. क्षीरयोग
४. मद्ययोग ५. मूत्रयोग ६. मांसरसयोग
७. भक्ष्यान्नयोग ८. अवलेहयोगों का प्रयोग किया है।

इसी तरह क्षीर, रस, कल्क, कषाय, शृतशीत, चूर्ण, ये कल्प यथोत्तर लघु हैं ऐसा कहा है। अर्थात् चूर्ण लघु है, और शृतशीतादि इसकी उपेक्षा गुरु होते है।[२४]

गुणानुसार विरेचन भेद—चरक एवं सुश्रुत ने स्निग्ध विरेचन और रुक्ष विरेचन ऐसे शब्द प्रयोग किये हैं। जिनको बहुत अधिक स्नेहन किया गया है, अथवा जो स्निग्ध शरीर वाले लोग होते हैं उनको स्निग्ध विरेचन नहीं देना चाहिये और स्नेहपान से जिनके दोष उत्क्लिष्ट हुए हैं उन्हें रुक्ष विरेचन देना चाहिये।[२५] यहां चक्रपाणि ने "स्निग्ध विरेचन" का अर्थ 'स्निग्धं विरेचनं' अर्थात् स्नेहपानकर विरेचन करना ऐसा किया है। अतिस्निग्ध को यदि स्नेहन कराकर विरेचन किया जाये तो स्नेह प्रकर्ष के कारण अतियोग होकर प्रचलित दोषों को भी निकालता नहीं है, और दोष स्रोतों में लीन हो जाते हैं अतः इन्हें रुक्ष विरेचन देना चाहिये। इसी प्रकार का अभिप्राय सुश्रुत ने भी व्यक्त किया है।[२६] तथापि यहां स्निग्ध विरेचन से 'स्नेहन' किये हुए पुरुष को विरेचन देना ऐसा अर्थ करना आवश्यक नहीं है। स्निग्ध गुण युक्त द्रव्यों से विरेचन देना स्निग्ध विरेचन और रुक्षगुण युक्त द्रव्यों से विरेचन देना रुक्ष

विरेचन ऐसा अर्थ करना चाहिये। सुश्रुत ने विरेचन में उपयोगी स्नेहों में, तिल्वक एरंड, आरग्वध, सप्तला, इत्यादि के नाम दिये हैं। विसर्प, पिड़का, शोथ-कामला, पांडु, अभिघात, और विषपीड़ित आतुरों को अधिक स्नेहन न करते हुए (रुक्ष) विरेचन देने को कहा गया है।[२७]

विरेचन द्रव्यों के प्रयोग भेद से जो-जो कल्पनाएं चरक ने दी हैं उनका तालिका में योग्य संख्या के साथ निर्देश आगे किया गया हैं—देखें तालिका।

विरेचन प्रयोग भेद दर्शक तालिका

क्र. कल्पना	त्रिवृत्त	चतु-तिल्वक रंगुल	सुधा	सप्तला शंखिनी	दंती द्रवंती
१. अम्ल, कांजी, दही, तक्र इत्यादि	२	१	१	१	१	२
२. मूत्र	२२	—	१	—	—	—
३. तुषोदक	२	—	—	१	१	१
४. पानक	—	—	—	—	—	—
५. मैरेय	२	—	—	—	१	—
६. यूष	२	—	—	१	—	२
७. क्वाथ	१	२	१	—	११	—
८. चूर्ण-कल्क	३२	—	—	१	१	६
९. तर्पण, पानक	८	—	—	१	—	—
१०. क्षीर	२	—	—	—	—	—
११. मांस रस या मांस	२	—	—	४	—	६
१२. इक्षुरस	१	—	—	—	—	१
१३. औषधि स्वरस	६	२	१	२	—	—
१४. लेह	९	१	३	१	३	६
१५. मोदक	७	—	—	—	—	—
१६. रागषांडव	४	—	—	—	—	—
१७. सुरा-मद्य	३	१	२	२	५	४
१८. सौवीर	२	१	१	१	१	१
१९. सीधु	—	१	१	—	१	१
२०. उत्कारिका	१	—	—	—	—	१
२१. घृत	४	२	४	४	८	६
२२. तैल	—	—	—	—	६	२
२३. चतुःस्नेह	—	—	—	—	—	१
२४. आसवारिष्ट	—	१	१	—	—	५
२५. ध्रेय	—	—	—	१	—	—
२६. यवागु	—	—	—	—	—	१
कुल	११०	१२	१६	२०	३९	४८

विरेचन योग्यायोग्यों का विचार

विरेचन जिनमें प्रशस्त होता है उन्हें विरेच्य और जिनमें अप्रशस्त होता है उन्हें अविरेच्य कहा जाता है।

अविरेच्य[२८]—चरक सुश्रुत तथा वाग्भट मतानुसार अविरेच्यों को नीचे स्पष्ट किया गया है।

अविरेच्य तालिका

क्र.	अविरेच्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१.	सुभग	+	-	-
२.	क्षतगुद	+	-	+
३.	मुक्तनाल	+	-	-
४.	अधोग रक्तपित्त	+	+	+
५.	लंघित	+	-	-
६.	दुर्बलेंद्रिय	+	-	-
७.	अल्पाग्नि	+	+	+
८.	निरूढ	+	-	+
९.	कामादि व्यग्र	+	-	-
१०.	अजीर्ण	+	+	+
११.	नवज्वर	+	+	+
१२.	मदात्यय	+	+	+
१३.	आध्मान	+	-	+
१४.	शल्यार्दित	+	-	+
१५.	अभिहत	+	-	+
१६.	अतिस्निग्ध	+	+	+
१७.	अतिरुक्ष	+	+ अस्निग्ध	+
१८.	दारुण कोष्ठ	+	+	-
१९.	क्षतक्षीण	+	+	+
२०.	अतिस्थूल	+	+	+
२१.	अतिकृश	+	-	+
२२.	बाल-वृद्ध	+	+	+
२३.	दुर्बल	+	+	+
२४.	श्रांत	+	+	-
२५.	पिपासित	+	+	-
२६.	कर्मभार अध्वहन	+	-	-

क्र.	अविरेच्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
२७.	उपवासित	+	+	-
२८.	मैथुन प्रसक्त	+	–	–
२९.	अध्ययन प्रसक्त	+	–	–
३०.	व्यायाम प्रसक्त	+	–	–
३१.	चिन्ता प्रसक्त	+	–	–
३२.	क्षाम	+	–	–
३३.	गर्भिणी	+	+	+
३४.	नवप्रसूता	–	+	+
३५.	नवप्रतिश्याय	–	+	–
३६.	राजयक्ष्मा	–	–	–
३७.	अतिसार	–	–	+
३८.	क्षुधित	+	–	+
३९	नित्यदु:खित	–	–	+
४०.	हृद्रोगी	–	–	+
४१.	भयभीत	–	–	+

सुभग शब्द, सुभग गुद और क्षत गुद ऐसा चक्रपाणि ने विश्लेषित किया है। सुभग का अर्थ सुकुमार है। मुक्तनाल—जिसका गुदमार्ग संस्कृत न हो उसे मुक्तनाल कहते हैं। इससे गुदभ्रंश या तो गुदा से मलविसर्जन कर्म का नियंत्रण जिनका छूट गया है, ऐसी दो अवस्थायें ले सकते हैं। कामादि वयग्र—काम वासना से पीड़ित, इससे शोक क्रोध भयादि मानसिक भाव भी उक्त समझना चाहिये। दारुण कोष्ठ का अर्थ क्रूर कोष्ठ है। कर्मभाराध्वहत काम करने से, भारवहन करने से तथा खूब रास्ता चल कर थके हुए। क्षाम—जर्जर शरीर वाले आतुर, शेष स्पष्ट है। इनमें प्राय:,

१. ऐसी अवस्थाएं जिसमें विरेचन जन्य क्षोभ सहन करने की क्षमता न हो उदाहरण—सुभग गर्भिणी, लंघित, श्रांत, उपवासितादि,

२. आशुकारीरोग—जैसे हृद्रोग क्षतक्षीण आदि

३. गुदा के रोग-क्षत—गुद मुक्तनालादि

४. व्याधि वेग और विरेचन वेग की समता वाले रोग उदाहरण— अधोग रक्तपित्त, अतिसार

५. साम अवस्था—नवज्वर, नवप्रतिश्या यदि, इत्यादि प्रकार के हेतु से विरेचन निषेध किया गया है। अविरेच्यों में यदि विरेचन दिया जाये तो महान उपद्रव उत्पन्न होकर आतुर का नाश हो सकता है।[२९]

यदि सुभग[३०] में विरेचन कराया जाये तो सुकुमारोक्त उपद्रव अर्थात्—हृदयापकर्षण से ऊर्ध्व या अधोभाग में रक्तप्रवृत्ति होती है। जिसकी गुदा में क्षत है उसे विरेचन करने से

भयंकर रुजा उत्पन्न होती है, विलंघित, दुर्बलेंद्रिय, अल्पाग्नि, जिन्हें निरुह बस्ति दी गई हो, वे विरेचनौषधि का वेग सहन नहीं कर सकते। अजिर्णि को विरेचन आमदोष उत्पन्न करता है। नवज्वर में अपक्व (आम) दोष होने के कारण, विरेचन उन्हें निकाल नहीं सकता और वात प्रकोप होता है। मदात्यय में मद्य के कारण अति क्षीण देह में वायु प्रकुपित होकर प्राणोपरोध (पीड़ा) करता है। आध्मान से पीड़ित आतुर की कुक्षी पहले ही वायु से फूली हुई होती है, अत: विरेचनौषधि के द्वारा प्रक्षोभ से वायु इतस्तत: संचार कर आनाह उत्पन्न करता हैं, पेट को खूब फुलाता है, और (या) मरण भी कर सकता है। शल्य से पीड़ित आतुरों में विरेचन से शल्य क्षत में वायु प्रकोप से जीवित नाश का संभव रहता है। अतिरुक्ष को विरेचन से प्रकुपित वायु शारीर को जकड़ देता है। क्रूरकोष्ठ को विरेचन देने से विरेचन तो जल्दी नहीं होता, दोष प्रकुपित होकर हृच्छूल, पर्वभेद, आनाह, अंगमर्द, च्छर्दि, मूर्च्छा, क्लम उत्पन्न कर प्राण भी हर सकता है। क्षतादि से गर्भिणी तक के आतुरों को विरेचन करने से वमन में कहे गये दोष उत्पन्न होते हैं। मुक्तनाल, अधोग रक्तपित्त तथा अतिस्निग्ध आतुरों में विरेचन से अतिप्रवृत्ति का भय रहता है। काम, क्रोध, शोक, भयादि उपतप्त मन वाले आतुर को विरेचन देने से बहुत तकलीफ से विरेचन होता है, और अयोग लक्षण उत्पन्न होते हैं, अथवा वेग की प्रवृत्ति ही नहीं होती। यहां यह भी स्मरणीय है कि शोक और भय ये दोनों अतिसार के भी हेतु कहे गये हैं।[३१] अत: इनमें अतिप्रवृत्ति की शक्यता भी रहती है।

इनमें जहां साम दोष है वहां पहले कहे गये अनुसार दीपन, पाचन, स्नेह पिलाकर बाद में विश्लिष्ट आम में विरेचन करावे। आध्मानाहादि को फलवर्ति, निरुह या अनुवासन के बाद स्नेहन कर विरेचन कराना चाहिये। अजीर्ण, अग्निमांद्य में दीपन पाचनकर यथावश्यक विरेचन करावें। अतिरुक्ष को स्नेहन कराकर विरेचन दें। अतिस्निग्ध को अपने आप ही कई बार विरेचन होते देखा गया है। मदात्ययी को स्नेहपान कराकर विरेचन कर सकते हैं। यहां अविरेच्य कहे गये व्याधियों में तथा आगे विरेच्य कहे गये व्याधियों में, वमन अध्याय में कहे हुए सामान्य विषय ध्यान में रखकर, केवल अभिनिवेश न रख कर्म का ऊहापोह से विचार करना चाहिये।

विरेच्य—चरक, सुश्रुत एवं वाग्भट के मतानुसार उपर्युक्तों के अतिरिक्त सब तथा खासकर निम्नोक्त प्रकार के आतुर विरेचन योग्य होते हैं।

विरेच्य-तालिका[३२]

क्र.	विरेच्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१.	ज्वर	+	+	+
२.	कुष्ठ	+	+	+
३.	प्रमेह	+	+	+
४.	ऊर्ध्वग रक्तपित्त	+	+	+
५.	भगंदर	+	+	+
६.	अर्श	+	+	+
७.	ब्रध्न	+	+	-

क्र.	विरेच्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
८.	प्लीहा दोष	+	+	+
९.	गुल्म	+	+	+
१०.	अर्बुद	+	+	-
११.	गलगंड	+	-	-
१२.	ग्रंथि	+	+	+
१३.	गर	-	+	+
१४.	विषुचिका	+	+	-
१५.	अलसर	+	+	-
१६.	मूत्राघात	+	+	+
१७.	कृमिकोष्ठ	+	+	+
१८.	विसर्प	+	+	+
१९.	पांडु	+	+	+
२०.	शिर:शूल	+	+ दाह	+
२१.	पार्श्वशूल	+	—	-
२२.	उदावर्त	+	-	-
२३.	आस्यदाह	+	+	-
२४.	हृद्रोह	+	+	-
२५.	व्यंग्य	+	-	+
२६.	नीलिका	+	-	-
२७.	अरुचि	+	+	-
२८.	नेत्रस्राव	+	-	-
२९.	नासास्राव	+	-	-
३०.	हलीमक	+	-	+
३१.	श्वास	+	-	+
३२.	कास	+	-	+
३३.	कामला	+	-	+
३४.	अपची	+	-	+
३५.	अपस्मार	+	+	—
३६.	उन्माद	+	-	-
३७.	वातरक्त	+	+	+
३८.	योनिदोष	+	+	+
३९.	रेतोदोष	+	-	+

क्र.	विरेच्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
४०.	तिमिर	+	+	+
४१.	उदर	+	+	+
४२.	अविपाक	+	-	-
४३.	च्छर्दि	+	+	+
४४.	विस्फोट	+	+	+
४५.	पक्वाशयरुजा	-	+	+
४६.	विबंध	-	+	+
४७.	विद्रधि	-	+	+
४८.	श्वयथु	+	+	+
४९.	शस्त्रक्षत, क्षार अग्नि दग्ध	-	+	-
५०.	दुष्टव्रण	-	+	+
५१.	अक्षिपाक	-	+	-
५२.	अभिष्यंद	-	+	+
५३.	काच	-	+	+
५४.	गुददाह	-	+	-
५५.	मेढ्रदाह	-	+	-
५६.	नासादाह कर्णदाह	-	+	-
५७.	आनाह	-	+	-
५८.	श्लीपद	-	-	-
५९.	स्तन्यदोष	-	-	+
६०.	हृल्लास	+	-	+

विरेच्यों पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि विरेचन का कार्य अतीव व्यापक है। विरेचन योग्यों में निम्नलिखित सामान्य हेतुओं का विचार किया जा सकता है।

१. पित्त दोष और पित्त प्रधान अन्य व्याधियों में विरेचन प्रशस्त होता है। उदाहरण—दाह (नेत्रादि), पांडु, हलीमक, कामला इत्यादि।

२. रक्तज रोगों में विरेचन प्रशस्त होता है।[३३] विरेच्यों में दिये गये उपर्युक्त रोगों में कुष्ठ, विसर्प, रक्तपित्त, गुदमेढ्रादि पाक, प्लीहा, गुल्म, विद्रधि, नीलिका, व्यंग्य, वातरक्त, इत्यादि।

३. व्याधि गति से विपरीत गति कराना जिनमें आवश्यक हो ऐसी व्याधियाँ उदाहरण—ऊर्ध्वगरक्तपित्त, च्छर्दि इत्यादि।

४. जिनमें शोधन प्रधान है और मलों को बाहर निकालना अत्यावश्यक होता है ऐसी व्याधिया उदाहरण—उदावर्त, कृमिकोष्ठ, गरदोष, विबंध शोथ इत्यादि।

५. जिनको वमन के बाद, विरेचन इत्यादि शोधन प्रशस्त है ऐसे विकार उदाहरण—कुष्ठ अपची, उन्मादादि।

६. ऐसे अवयवों के रोग, जिनके अंदर पित्त का अधिष्ठान है। उदाहरण-हृद्रोग (साधकपित्त का स्थान), ज्वर पाचकपित्त-आमाशयोद्भव), श्वास (आमाशयोद्भव-पित्त-कफ) व्यंग्य नीलिकादि (त्वक्-भ्राजक पित्त), कामला (यकृत-रंजक पिद्ध) इत्यादि।

चरक, सुश्रुत एवं वाग्भटादि में जहां — (ऋण) चिह्न लगाया है वहां विरेचन का निषेध न समझे। अपितु जहां + है, वहां विशेष उपक्रम समझना चाहिये।

विरेचन-विधिविधान

विरेचनविधि एक अत्यंत सरलविधि है। वमन, बस्ति, नस्य, रक्तमोक्षणादि कर्मों के समान—इसमें कर्म की जटिलता नहीं है। विरेचनौषधि पिलाना यही एक काम होता है। तथापि शास्त्रीयरीति से विचार करना हो, तब विरेचनविधि में भी पूर्वकर्म, प्रधानकर्म, पश्चात्कर्म पद्धति से कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों का अध्ययन जरुरी होता है। उनको यहां प्रस्तुत किया जाता है।

पूर्वकर्म—विरेचन के पहले १. संभार संग्रह २. आतुरपरीक्षा ३. आतुर सिद्धता ४. मात्राविनिश्चय करना चाहिये।

संभार संग्रह—विरेचन पूर्व स्नेहन, स्वेदन (और वमन भी) किया जाता है अतएव स्नेहनादि प्रकरण में कहे हुए संभारों का संग्रह करावे। विरेचन साध्य रोगों में स्नेहनार्थ सामान्यत:, तिक्तघृत, महातिक्तघृत, षट्पलघृत, कल्याणकघृत, इंदुकान्तघृत, बासादिघृत, पिप्पल्यादिघृत, शुद्धघृत, तिलतैल, आदि का भरपूर मात्रा में संग्रह करना चाहिये। प्रत्येक आतुर के लिए २ से ३ किलो तक स्नेह संचय करना चाहिये। स्वेदन के लिए वाष्पस्वेदन यंत्र, नाड़ीस्वेदन यंत्र, अथवा अभाव में होलाक स्वेदादि सरल स्वेद साधनों को संग्रहीत करें।

विरेचनौषधि के अनेक योग ग्रंथ में उद्धृत हैं। इस अध्याय में आगे चरक कल्प स्थान से विरेचनकल्पों का वर्णन किया है। उनका या उनमें से यथायोग्यों का संग्रह करें। इनमें चूर्ण, कल्क, यूष, आसवारिष्ट, क्वाथ, मद्यादि अनेक योग हैं उनका आतुर की रुचि के अनुसार प्रयोग करें। सामान्यत: जिनका प्रयोग हमेशा कर सकते हैं उनमें, त्रिवृत्त चूर्ण, स्वर्णपत्री चूर्ण, हरीतकी, त्रिफला इनका पृथक् या इनसे निर्मित योग— कटुका, आरग्वध, द्राक्षा, हरीतकी, इनके क्वाथ, एरंड तैल, अभयारिष्ट, जयपालादि के योग—अश्वकंचुकी, जलोदरादि, नाराचरस, इच्छाभेदी रस, इत्यादि का संग्रह करें। मलपात्र-(Bedpans) मेकेंटोष, औषधि रखने के स्वच्छ पात्र, मानांकित (Meassure glass) कांचपात्र, मल परीक्षणार्थ सुविकसित प्रयोगशाला, (यदि संभव हो) आदि संग्रह में हो तो उचित सुविधा होती है। विरेचन में संभाव्य व्यापदों का विचार कर चिकित्सा में उपयोगी द्रव्य संग्रहीत करें। अतियोग के लिए कुटज-धनवटी, शंखोदर, कर्पूररस, जातीफलादि चूर्ण, बिल्वादि चूर्ण, संजीवनी बटी, तथा अन्य व्यापद में यथायोग्य बरतने के लिए सूतशेखररस, शंखवटी, हिंग्वष्टक, शिवाक्षारपाचनचूर्ण, पिच्छाबस्तिकल्प, अनुवासन बस्ति कल्प, फलवर्ति, इत्यादि संग्रहीत करें।

आतुर परीक्षा— वमनकर्म के समान ही यहां आतुरपरीक्षा विषय समझना चाहिये। अर्थात् आतुरपरीक्षा के हेतु—

१. आतुरविरेच्य है या नहीं इसका निर्णय करना,

२. विरेच्य आतुर को विरेचन का उत्तम मध्यादि मात्रा निश्चित करना,

३. विरेच्यातुर में विरेचन के दिन कोई अविरेच्य व्याधिशारीरिक या मानसिक उत्पन्न तो नहीं हुई है— इसका निश्चय करना और

४. व्याध्यनुरूप व्याध्यनुकूल स्नेहपान तथा विरेचन द्रव्यों का चुनाव करना—यह हैं। प्राय: आतुर परीरक्षा में आतुर स्नेहनार्ह, स्वेदनार्ह, वमनार्ह, है या नहीं यह भी देखना चाहिये। वमन प्रकरण में कहे गये अनुसार विरेचन पूर्व भी आतुर की दोष, भेषज, देश, काल, बल, शरीर, आहार, सात्म्य, सत्व, प्रकृति, और वय इन एकादश अवस्थांतरों को ध्यान में रखकर परीक्षा करनी चाहिये।[३४] फिर स्नेहपान काल से प्रारंभ कर प्रतिदिन नाड़ी, मूत्र, मल, जिव्हा, शब्द, स्पर्श, दृग और आकृति की परीक्षा करता रहे, और इस तरह जो विरेच्य आतुर है उसकी विरेचनार्थ सिद्धांत करें।

आतुर सिद्धता[३५]— आतुर सिद्धता-१. स्नेहन २. स्वेदन ३. वमन ४. संसर्जनक्रम ५. पुन: स्वेदन, स्नेहन ६. विरेचनोपग भोजनादि विचार के द्वारा करनी चाहिये। विरेचन के पूर्व यदि वमन कराना हो तो वमन प्रकरण के अनुसार सर्व विधि-स्नेहन, स्वेदन, वमन और संसर्जन क्रम करें और विरेचन के लिए पुन: स्नेहपान प्रारंभ करावे। विरेचन कर्म वमन के १५वें दिन आता है अत: संसर्जनक्रम के बाद ७वें दिन प्रकृति भोजन देकर पुन: स्नेहपान ९वें दिन प्रारंभ करना होता है। चक्रपाणि कहते हैं कि जिनको वमन के बाद विरेचन न देना हो उनके लिए ७वें दिन के काल के प्रकृति-भोजन देना चाहिये।[३६] जिनको वमन के बाद विरेचन करना हैं उनको संसर्जन के बाद स्नेहपान प्रारंभ करना होता है, अतएव स्नेहपान काल में अनुकूल भोजन देना चाहिये वह मतितार्थ है। यदि वमनादि न करते हुए विरेचन करना हो तो भी स्नेहन और स्वेदन ये पूर्वकर्म तो करना ही चाहिये। तथापि सुश्रुत ने विरेचनपूर्व वमन आवश्यक कर्म भी बताया है। उनका मत है कि यदि वमन के बिना विरेचन दिया जाए तो— सम्यक् विरेचन होने पर भी विरेचन के द्वारा नीचे गया हुआ कफ ग्रहणी पर आवृत होता है और गौरव या प्रवाहिका, उत्पन्न करता है।[३७] स्नेहपान ७ दिन तक करें। यदि वमनोत्तर स्नेहपान हो तो यह संसर्जन क्रम के बाद ९वें १०वें, ११वें और १२वें दिन अर्थात् ४ दिन तक करें। फिर १२, १३, १४वें और १५वें दिन अभ्यंग और स्वेद करना चाहिये। स्नेहन के बाद तीन दिनतक विश्राम कर विरेचन करना चाहिये।[३८] वमन एक ही दिन के विश्राम के बाद करना होता है। अगर आतुर को कोई अस्वेदनार्ह व्याधि हो तो उसे स्वेदन न करते हुए स्नेहपानोत्तर ३ दिन विश्राम कर विरेचन करावे। विश्राम का अर्थ—स्नेहपान बंद रखना यह है। इन तीन दिन में आतुर को विरेचनाकूल भोजन खिलावें। विरेचनोपग भोजन—स्निग्ध, द्रव, उष्ण, मांस रस, भात, अम्लफलों के रस देना चाहिये।[३९] भोजन ऐसा हो जो कफ की वृद्धि न करें। कफ अल्प होने पर ही विरेचन अच्छा हो सकता है, और कफवृद्धि हो तो विरेचनौषध विरेचन के बदले वमन कराती है।[४०] अतएव लघु भोजन देवे और गरम पानी का उपयोग पानार्थ करना चाहिये।

वमनकर्म के लिए जिस दिन वमन किया जाता है, उस दिन प्रात: काल में भी सर्पिसिद्ध यवागु अथवा दूध इत्यादि सेवन कराया जाता है, किंतु विरेचन के कर्म में जिस दिन विरेचन कराना हो उस दिन प्रात: कुछ दिन नहीं देना चाहिये। वमन आमाशय की पूर्णता पर ही अच्छा होता है और विरेचन-रिक्त होने पर ही अच्छा होता है।

क्योंकि दिया हुआ भोजन तुरन्त कफ को बढ़ाता है, और वमन के लिए कफवृद्धि अपेक्षित है। विरेचन में कफवृद्धि होना ठीक नहीं है अत: बिना भोजन के विरेचन ठीक काम करता है। यहां विशेष स्मरणीय यह है कि वमन के लिए कफोत्क्लेशकर आहार आवश्यक है, किंतु विरेचन में मात्र "कफ की अवृद्धि करना" ही अपेक्षित है—न कि पित्तवृद्धिकर आहार, क्योंकि वृद्ध पित्त जाठराग्नि को प्रदीप्तकर विरेचनौषध का भी पचन कर सकता है जो अयोग में कारण होता है।[४१] कभी-कभी यह भी देखा जाता है कि स्नेहपान काल के अन्दर व्यक्ति को स्वयं ही वमन या विरेचन प्रारंभ हो जाता है। इस तरह हो जाये तो पुन: उसको कर्म की आवश्यकता नहीं है। उसे भेदनीय भोजन (यवक्षारादि के द्वारा) देकर शोधन करें।[४२] इस तरह भोजनादि की व्यवस्था कर, ३-दिन अभ्यंग और बाष्पस्वेद कर नीचे लिखे हुए विषय ध्यान में रखते हुए विरेचन देना चाहिये।

१. जिनको प्रदर स्नेह दिया हो उसे स्नेह विरेचन नहीं देना चाहिये। रुक्ष विरेचन दे।[४३]

२. विसर्प पिड़का, शोफ, कामला, पांडु, कुष्ठ, प्रमेह एवं विषपीड़ितों में अधिक स्नेहन न करते हुए विरेचन दे।[४४]

३. मंदाग्नि और क्रूर कोष्ठी को क्षार, लवण और घृत से अग्नि प्रदीप्त कर कफवात को जीतकर विरेचन देना चाहिये।[४५]

४. इसके अनंतर आतुर की मानसिक सिद्धता भी करनी चाहिये।[४६] उसे समझाना चाहिये कि कल उसे विरेचन दिया जाएगा (श्वो वमनं पाययितास्मि) और उसके लिए क्या औषधि दी जाएगी, कितनी टट्टियाँ उसे हो सकती है, उसे कब और किस प्रकार का भोजन करना चाहिये, क्या-क्या व्यवहार न करना चाहिये इत्यादि के द्वारा उसे मानसिक सिद्ध करना चाहिये।

४. मात्रा विनिश्चय—वमन विधि में वमन मात्रा के जो सामान्य विषय कहे गये हैं वे यहां भी अनुसरणीय होते हैं। मात्रा ऐसी हो जो अयोग और अतियोग को न करे। सम्यग्योग में मात्रा करें इसलिए "विरेचनौषधि" तथा "विरेच्य आतुर" दोनों के अनुसार मात्रा निश्चित करनी होती है। जो औषधि पानी में सड़ी न हो, कीटों से खाई हुई न हो, आतुर के देश के अनुकूल हो वीर्य प्रकर्ष के काल में ग्रहण की हुई हो तथा समानवीर्य औषधियों से भावित की हुई तो ऐसी औषधि तीक्ष्णता धारण करती है।[४७] स्निग्ध और खिन्न आतुर में ऐसी औषधि थोड़ी सी अधिक मात्रा में देनेपर भी तीक्ष्ण विरेचन कर सकती है।

आतुर में पांच बातों का स्मरण रखना चाहिये—१. दुर्बल आतुर, २. जिसका पहले शोधन किया गया हो, ३. जिसको दोष अल्प प्रमाण में विकृत हो, ४. जो कृश हो, तथा ५. जिसका कोष्ठ ज्ञात न हो उसे मृदु और अल्प औषध ही देना चाहिये।[४८] इन आतुरों में अल्प औषध दो बार पिलाकर थोड़ा थोड़ा दोष हरण करना प्रशस्त होता है। अन्यथा अति प्रवृत्ति का भय रहता है। कोष्ठ तथा अग्नि का औषध मात्रा के लिए बहुत महत्त्व होता है। कोष्ठ अग्नि अपेक्षा रखता हैं। वह मृदु, मध्य, क्रूर तथा साधारण चार प्रकार का होता है। गुड़ इक्षुरस, दधिमस्तु, दूध, उल्लोडित (दही का पानी) पायस, खिचडी, घी गंभारी, त्रिफला, द्राक्षारस, पीलुरस, गरम जल तथा मद्य इनके पीने पर जिसे विरेचन होते हैं उसे मृदु कोष्ठी समझा जाता है और जो इनसे विरेचन (एक भी टट्टी) न हो तो क्रूर कोष्ठ समझा जाता है।[४९] साधारण कोष्ठ में इनसे अधिक बार टट्टी न होते हुए सम्यक् एकबार मल प्रवृत्ति होती

हैं। क्रूर कोष्ठी व्यक्ति में ग्रहणी में वात का प्राधान्य होता है और मृदुकोष्ठी में पित्त प्रधान, तथा वात और कफ अल्प प्रमाण में रहते है।[५०]

जिसकी अग्नि बहुत तीक्ष्ण है उसे तीक्ष्ण औषध अधिक मात्रा में देना चाहिये और मंदाग्नि में मृदु औषध अल्प मात्रा में देना चाहिये। वमन में पाक की अपेक्षा न होने से कोष्ठ और अग्नि बल का महत्त्व कम होता है, और शरीर तथा आतुर बल का ही प्रधानतया विचार किया जाता है। तथापि विरेचन में आतुर बलादि के साथ औषधि, दोष पाकादि विचार के कारण अग्नि और कोष्ठ का भी महत्त्व होता है। मात्रा का सामान्य प्रमाण कहा है कि त्रिवृतादि के साम्ल योग १ अक्ष (१तोला) प्रमाण में देना चाहिये। शार्ङ्गधर ने[५१] विरेचनौषध की मात्रा देते हुए कहा है—क्वाथ की उत्तममात्रा २ पल (८ तोला) मध्यम मात्रा १ पल (४ तोला) और हीनमात्रा आधीपल (२ तोला) देनी चाहिये। चूर्ण कल्क इत्यादि की उत्तम मात्रा ४ तोला मध्यम मात्रा २ तोला और हीनमात्रा १ तोला देनी चाहिये।

अनुभव से निम्नलिखित द्रव्य निम्नोक्त मात्रा में प्रशस्त है

क्र.	द्रव्य	मृदुकोष्ठी	मध्य या साधारण कोष्ठी	क्रूरकोष्ठी
१.	एरंड स्नेह	१/२ तो. से २ तो.	२ तो. से ५ तो.	५ तो. से १० तो.
२.	त्रिवृत, स्वर्णपत्री इत्यादि योग (चूर्ण)	१ से ३ माशा	३ से ६ माशा	१/२ तो. से १ तो.
३.	द्राक्षा, आरग्वध हरीतिकी फांट; त्रिफला क्वाथ इत्यादि	१ तो. से २ तो.	२।। तो. से ५ तो.	५ तो. से १० तो.
४.	जयपाल, स्नुही इत्यादि के योग	१/२ र. से १ र.	१र. से २ र.	४ र. से ८ रत्ती
५.	ईसबगोल	३ माशा	३ से ६ माशा	६ माशा से १ तो.

उपर्युक्त तालिका में दर्शित मात्राएं वयस्क पुरुषों के लिए अर्थात् २० वर्षायु से ५० वर्षायु तक के लिए समझे और न्यून तथा उत्तम मात्रा जो दी है—वह तत्तद् कोष्टियों में जघन्य तथा उत्तम विरेचनार्थ प्रयुक्त समझनी चाहिये।

विरेचन के लिए उपर्युक्त द्रव्यों का प्रयोग दिया है, उनके अनेक बार अनुभव के बाद दृष्टिगोचर हुआ है कि न्यूनतम मात्रा में (क्र.५ सिवाय) ये तत्तद आतुर को ७ से ८ बार तथा अधिकतर मात्रा में २५ से १५ बार विरेचन कराते हैं। यदि इसका और तीव्र परिणाम अपेक्षित हो तो इनमें फांट और नाराच रस इत्यादि का एकत्र उपयोग करना चाहिये। दूसरे शब्दों में दंती बीजों को, आरग्वधादि विरेचक क्वाथों के साथ प्रयोग याने तत्समान द्रव्यों की भावना में जो गुण है उनका परिवर्धन ही हैं। मात्रा में जैसे द्रव्य के प्रमाण का विचार किया जाता है वैसे ही दोष के अनुसार द्रव्य को चुनना मात्रा व उपयोग के लिए और प्रशस्त है।

कफ दोष में— तीक्ष्ण, उष्ण और कटु रस के द्रव्यों से, पित्तदोष में मधुर, शीत द्रव्य का उपयोग करना श्रेयस्कर है। शार्ङ्गधर और भावप्रकाश ने निम्नोक्त द्रव्यों का प्रयोग प्रशस्त माना है।[५२]

पित्त या पित्त प्रधान दोषों में-- त्रिवृत्त चूर्ण और द्राक्षा क्वाथ का प्रयोग करें।

कफ या कफप्रधान दोषों में-- त्रिफला क्वाथ, गोमूत्र और त्रिकटु का प्रयोग करें।

वात प्रधान दोषों में– त्रिवृत्त सैंधव और शुंठीचूर्ण कांजी या मांस रस के साथ दे।

शार्ङ्गधर और भावप्रकाश ने ऋतु के अनुसार द्रव्य प्रयोग बताए है वे चरकोक्त कल्प स्थान के त्रिवृत्त योगों के कल्प हैं उनका इस अध्याय में आगे विवेचन किया है। सारांश उपर्युक्त द्रव्यों की योग्य मात्रा निश्चित कर विरेचन की सिद्धता करें।

प्रधानकर्म– प्रधानकर्म में विरेचनौषधि के सेवन से विरेचन वेगों के निवृत्ति तक के वैद्य के कर्त्तव्य समाविष्ट होते हैं। इनका निम्नांकित क्रम से विचार किया जाएगा।

१. विरेचन योग का सेवन
२. आतुर परिचर्या एवं निरीक्षण
३. वेग विनिर्णय
४. सम्यग्-आयोग तथा अतियोग लक्षणों का निरीक्षण
५. विरेचन व्यापत् एवं प्रतीकार

१. विरेचन योग का सेवन–सम्यक् स्नेहन स्वेदन किये हुए, सुजर, लघु उष्ण कफवृद्धिकर भोजन किये हुए, अभ्यंग और स्वेदन कर पूर्वोक्त प्रकार से सिद्ध आतुर को, अच्छा दिन देखकर प्रात: पहले का भोजन पचा हुआ जानकर, रात में अच्छी नींद लिया हुआ जानकर, अच्छी तरह मनोबल से युक्त समझकर सुबह ७ से ८ बजे के बीच स्वस्तिवाचनादि कर त्रिवृत चूर्ण या अन्य कोई विरेचन योग पिला देवे।[५३] वाग्भट ने कफकाल चला जाने पर विरेचनौषध पिलाने को कहा है।[५४] यदि प्रात: काल कफ का, मध्याह्न काल पित्त का इस तरह माने तो विगंत कफ काल में मध्याह्न समय हो जाएगा और उष्णाभिभूतादि गुणों के कारण मध्याह्न काल में विरेचन देना प्रशस्त नहीं है। अतएव 'वयोऽहो रात्रि भुक्तानां तत् मध्यादिगा: क्रमात्' के अनुसार दिन के प्रारंभ में कफकाल होते हुए भी प्रारंभिक काल बीत जाने पर विरेचनौषध पिलावे।सामान्यत: विरेचनौषध में प्रयोगार्ह योग है–

द्राक्षा-	१ तोला	+ जल १६ तोला मिलाकर ४ तोला शेष रखे।
आरग्वध-	१ तोला	
हरीतकी-	१ तोला	
कटुका-	आधा तोला	

यह क्वाथ ४ तोला लेकर इसमें २।। तोला एरंडतेल मिलाकर २ तोला (४ रत्ती) इच्छाभेदी रस मिलाकर घोलकर पिलावे। इससे तीक्ष्ण विरेचन होता है। यहां ध्यान रहे कि क्वाथ ठंडा होने पर इच्छाभेदी मिलाकर पिलावे। इसी तरह मध्यम वेगों की अपेक्षा हो तो इच्छाभेदी न मिलावे, और जघन्य वेगों की अपेक्षा हो तो केवल क्वाथ या एरंड स्नेह पिलावे।

२. आतुर परिचर्या एवं निरीक्षण– विरेचनौषधि पिला देने के बाद कुछ आतुरों में औषधिगंध तथा उत्क्लेशकारक अरुचिपूर्ण स्वाद के कारण च्छर्दि होने की संभावना रहती है। वैसे ही वमन विरेचन द्रव्यों के गुण भी समान होते हैं और विरेचन की कई औषधियां कोष्ठादि की अपेक्षा कभी-कभी वमन कराती है। अतएव औषधपान के तुरन्त बाद आतुर के

मुखपर शीत जल सेचन कर प्रक्षालन करें, और गरम पानी से कुल्ले कराकर मुख के अंदर का भाग स्वच्छ करावे। फिर ताजे निंबू (जंबीर, अथवा मातुलुंग), आर्द्रमिट्टी (बरसात के पहले पहले छींटे से जो मिट्टी सुगंधित हुई हो), तथा सुगंधित फूलों के मधुर गंधों को सुंघावे और जहां प्रत्यक्ष ठंडी हवा प्रवेश न करती हो ऐसे आतुरागार में शय्या पर लिटाकर विश्राम करावे। वेगों की रुकावट न हो इसलिए बारंबार गरम पानी थोड़ा-थोड़ा पिलावे। वेगोदीरण होते समय अधिक कुंथन न करते हुए शय्यासन में ही प्रतिग्रह में (Bed pan) ठंडे जल का संपर्क न करते हुए वेगों का विसर्जन कराने को कहे।[५५]

विरेचनौषधि के बाद प्राय: गरम पानी पिलाया जाता है। गरम पानी महास्रोतस में वात अनुलोमन करता है और औषधि की योगवाही स्वरूप में सहाय्य करता है, तथापि जयपाल के योग-इच्छाभेदी, नाराचरस, जलौदरादि इत्यादि के द्वारा विरेचन किया हो तो शीतजल ही पिलावे। क्योंकि गरम पानी से इसके उड़नशील तैल के धुल जाने पर कार्य मंद पड़ जाता है।

यदि औषधि से विरेचन न हो तो बारंबार जल पिलाना (गरम-अन्यत्र शीत) हाथ के तलवों को गरम कर कोष्ठ पर स्वेदन करना ये उपाय करें।[५६]

१. औषधि का कार्य कैसे हो रहा है ? अर्थात् हृतदोष लक्षणों का निरीक्षण करें।
२. औषधि बिना कार्य किये ही पच जाती है ? अर्थात् जीर्णौषध लक्षणों को देखें।
३. औषधि का अजीर्ण अर्थात् अजीर्णौषध लक्षण।

१. हृतदोष लक्षण–योग्य विरेचन हो तो प्रथम मल, फिर पित्त फिर कफ का विसर्जन होता है। इसे ही कफांत विरेचन भी कहा है। विरेचन में अंत में केवल वात का विसर्जन होता है। अतएव कफांत तक ही अपेक्षा रखी गई है। गात्रों में दौर्बल्य और लघुता ये भी दोष ठीक तरह निकल गये, इसके लक्षण है।[५७]

अगर हृतदोष के उपर्युक्त कहे गये लक्षण मिल जायें और विरेचन प्रवृत्ति बंद न हो, अर्थात् औषध शेष हो तो–मदनफल वचा और सैंधव चूर्ण खिलाकर वमन से औषध निकाल दे। यदि लघुता उत्पन्न न हो और अन्य लक्षण उत्पन्न हो तो वमन न करावे।[५८] अर्थात् उसे औषधि द्वारा विरेचन होते रहने दे।

२. **जीर्ण: अजीर्ण औषध लक्षण**– वमन प्रकरण में कहा गया है कि औषध जीर्ण होने पर–वातानुलोमन,स्वास्थ्य, भूख और प्यास लगना, मन, प्रसन्न होना, इंद्रियों में लघुता, शुद्ध डकार का आना, ये लक्षण उत्पन्न होते हैं वे ही विरेचनौषध की जीर्णता के लक्षण समझना चाहिये। उसी तरह–शरीर की थकावट, दाह, अंगसाद, भ्रम, मूर्च्छा, शिर: शूल, अरति, दौर्बल्य ये लक्षण उत्पन्न होने पर औषधि का अजीर्ण हुआ है ऐसा समझना चाहिये। यदि औषध अजीर्ण हो और अयोग हो तो दूसरी बार विरेचनौषध न पिलावे, क्योंकि अयोग में शेषौंषधि को दूसरी औषध मिलने पर अतियोग का भय रहता है, किंतु औषध जीर्ण हो और विरेचन के हृतदोष के लक्षण न मिले तो उस दिन भोजन कराकर दूसरे दिन पुन: विरेचनौषध देना चाहिये। अगर फिर भी विरेचन न हो तो १० दिन के बाद पुन: स्नेहन स्वेदन कर पहले कहां भूल हुई थी इसका विचार करते हुए भूल को सुधारकर विरेचन करावे।[५९]

अगर औषधि के द्वारा दोषों का अवरोध हो जाये, और न वमन से न विरेचन से उनकी

प्रवृत्ति हो, आतुर को डकार आती हो, अंगमर्द हो तो उनके नाभिउदर पर तापस्वेद (Hot Water bag, या ईंट, या वस्त्र से) करें।[६०] अगर विरेचन काल में तृष्णा मोह मूर्च्छा, इत्यादि पित्त लक्षण उत्पन्न हो तो पित्तघ्न मधुर और शीत औषधि का प्रयोग करें।[६१]

३.वेग विनिर्णय-- विरेचनौषध पिलाने के बाद मल से संयुक्त जो पहले दो तीन वेग आते हैं उनको छोड़कर विरेचन वेगों को गिनना चाहिये।[६२] वमन के सदृश ही विरेचन में भी प्रधान, मध्य और अवर शुद्धि में वैगिकी मानिकी, अंतिकी और लैंगिकी शुद्धि लक्षणों के आधार पर शोधन का निर्णय करना होता है। इनके बारे में जो शास्त्र चर्चा है वह पीछे की गई है। यहां प्रवरादि शुद्धिभेद के अनुसार वेग का वैगिकी आदि शुद्धि लक्षणों को तालिका में निर्देश किया जाता है।

तालिका

क्र.	वेगविषय	प्रवरशोधन	मध्यशोधन	जघन्यशोधन
१.	वैगिकीलक्षण	३० वेग	२० वेग	१० वेग
२.	मानिकीलक्षण	४ प्रस्थ (२१६ तोला)	३ प्रस्थ (१६२ तोला)	२ प्रस्थ (१०८ तोला)
३.	आंतिकीलक्षण	कफांतविरेक	कफांतविरेक	कफांतविरेक
४.	लैंगिकी लक्षण	वक्ष्यमाण	वक्ष्यमाण	वक्ष्यमाण

'अर्थात् प्रवर शुद्धि में ३० वेग या ४ प्रस्थ विसृष्ट द्रव्यमान होते हुए कफांतिकी शुद्धि हो। मध्य शुद्धि में २० वेग, ३ प्रस्थ विसृष्टद्रव्यमान तथा कफांत शुद्धि हो और जघन्य शुद्धि में १० वेग या २ प्रस्थ विसृष्ट द्रव्यमान और कफांतिकी शुद्धि ये लक्षण होना चाहिये। इस तरह प्रत्येक वेग के समय वेगों के लिए अलग-अलग प्रतिग्रह (Bed pan) दे, और उनका जल तथा कफांतत्व का निरीक्षण कर वेगों का निर्णय करना चाहिये। इसी तरह प्रत्येक वेग का एक-एक नमूना संग्रहीत कर उसे प्रयोगशाला में विश्लेषणात्मक परीक्षा के लिए भेजना चाहिये। इससे विरेचन शारीर समझने में सुविधा होती है और आगे के प्रयोग में उससे लाभ उठाया जा सकता है।

४.सम्यग् योग—अयोग तथा अतियोग लक्षणों का निरीक्षण—वमन की तरह विरेचन में भी मानिकि आदि शुद्धि विषयों के रहते हुए लैंगिकी शुद्धि का ही महत्त्व रहता है। अतएव विरेचन योग्य प्रकार से हुआ या नहीं इसलिए सम्यक् रोगादि लक्षणों को देखकर ही निर्णय करना चाहिये।

१. असम्यग् योग लक्षण: अथवा अयोग लक्षण--जिसका विरेचन उचित प्रकार से न हुआ हो, अप्रवृत्ति अल्पप्रवृत्ति या रुक रुक कर अल्पाल्पशः मलप्रवृत्ति हुई हो तो उसे विरेचन का असम्यक् योग या अयोग कहते हैं। अयोग को कफप्रकोप, पित्तप्रकोप, वातप्रकोप, अग्निमांद्य, गौरव, प्रतिश्याय, तंद्रा, च्छर्दि, पिड़का, अरुचि, वातप्रतिलोमता, दाह, हृदय और कुक्षिप्रदेश की अशुद्धि—अर्थात् भारीपन, कडु विट् संग, और मूत्रसंग इन लक्षणों से जानना चाहिये। अयोग में दोष शोधन ठीक न होने के कारण तीनों दोष के प्रकोप के लक्षण मिलते हैं। उपर्युक्त लक्षणों में अग्निमांद्य च्छर्दि, गौरव, प्रतिश्याय, अरुचि, हृदय

और कुक्षि की अशुद्धि (भारी पान) और कंडु ये कफ के द्वारा उत्पन्न लक्षण है। हृदय शब्द से यहां आमाशय के हृदय समीपवर्ति प्रदेश का ग्रहण करना चाहिये। दाह यह पित्त का लक्षण है। और वातप्रतिलोमता, मलसंग और मूत्रसंग ये वात के द्वारा उत्पन्न लक्षण है। यहां हम देखते हैं कि पित्त का एकमेव दाह लक्षण बताया गया है। कफ के और वात के अनेक लक्षण उत्पन्न होते हैं। विरेचन में प्रथम मल, फिर पित्त, कफ और वात यह शोधन का क्रम है। अतएव अयोग में अल्प शोधन हो जाने पर भी पित्त का निकल जाना संभव ही है—और इसीलिए पित्तप्रकोप का एकमेव लक्षण दाह मात्र बताया जाना संमत ही है। इसी तरह विरेचन कफांत तक होना चाहिये। अर्थात् अयोग में कफ के अंत तक विरेचन नहीं होता और उसीका ज्यादा लक्षण उत्पन्न होना संगत है। वातांत तक विरेचन इष्ट नहीं है। तथापि मल मूत्रादि प्रवृत्ति कराना यह वायु का कार्य है, अत: वात की सम्यक् शुद्धि न होने पर प्रकोप जन्य मल संग इत्यादि लक्षण मिलते हैं। विरेचन में केवल कोष्ठ के मल नहीं आते, अपितु पूर्वकृत स्नेहपान, स्वेदन से सार्वदैहिक क्लेदन, दोष द्रवीकरण होकर वे मल कोष्ठ में आकर निकल जाते है—अतएव शरीर के धात्वग्नि और भौतिकाग्नि व्यापार का एक परिवर्तन क्रम इसमें होता है। इसी उत्क्लिष्ट दोष का सार्वदैहिक व्यापार विकृत होकर शरीर गौरव, दाह, कंडु, पिड़का आदि लक्षण उत्पन्न होते हैं।

१. सम्यक् योग लक्षण— सम्यक् प्रकार से शोधन का लक्षण यह है कि इसमें पहले कहे गये अनुसार १०, २० या ३० मल विरेचन होते हुए—अंत में कफ का शोधन होना चाहिये। विरेचन में प्रथम मूत्र, मल, पित्त, औषध और कफ तथा वात इस क्रम से शोधन होता हैं।[६३] सम्यक् प्रकार से इनका शोधन हो जाने से स्रोतों की शुद्धि होती है। ज्ञानेन्द्रिय, तथा कर्मेन्द्रिय प्रसन्न होती है— अर्थात् उनका अपना-अपना कार्य अच्छी तरह होता रहता है शरीर में हलकापन उत्पन्न होता है, जिस रोग के लिए विरेचन दिया हो उसके प्रशम के लक्षण मिलते है। वात का अनुलोमन होता है, अग्नि प्रदीप्त होती है और ऊपर जो अयोग के लक्षण कहे गये हैं उनमें से कोई भी लक्षण उत्पन्न नहीं होता।[६४]

विरेचनौषधि सर्वप्रथम आमाशय में जाकर वहां से सभी वैकारिक पित्त का शोधन करती है। अतएव आमाशय-कुक्षि-हृत्प्रदेश की शुद्धि यह लक्षण कहा गया हैं। इंद्रिय और मन की प्रसन्नता ये लक्षण-विरेचन औषधि का पक्वाशय में वातस्थान और वातपर प्रक्षोभक असर समाप्त हो चुका है, इसके निर्देशक हैं। मन की प्रसन्नता सभी शरीर स्वास्थ्य का द्योतक है। अनामयत्व से--जो विरेचन साध्य पित्तदोषज या अन्य रोग था, उसका प्रशमदृष्टिगोचर होता है। कोई लोग अयोग तथा अतियोग में उत्पन्न होनेवाले रोगों का अभाव—ऐसा भी अर्थ लेते हैं, वह असंगत नहीं है। क्योंकि 'मुख्य साध्य रोग का प्रशम' यह शुद्धिलक्षण न समझकर विरेचन का कार्मुकत्व-कार्य समझना चाहिये वह विरेचन वेग समाप्त होते ही तुरन्त उत्पन्न नहीं होता। अपितु कालांतर से होता है और अयोग-अतियोग के दाह मूर्च्छादि को वहा वेगकाल में देखा जा सकता है। उनका अभाव सम्यक् शोधन का लक्षण है।

३. अतियोग लक्षण[६५]—जघन्यादि भेद से तत्तद १०, २०, ३०, वेगों का अतिक्रम होना, मान से अधिक मल विशोधन होना तथा निम्नलिखित लक्षणों का उत्पन्न होना विरेचन का अतियोग कहलाता है कफ, पित्त और वात के क्षय के लक्षण उत्पन्न होते हैं। सुप्ति अर्थात् स्पर्शज्ञान का अभाव या चिम-चिमायन होता है। शरीर में मर्दनवत् पीड़ा होती है। थकावट

आती है। कंप, निद्रा, दौर्बल्य, आंखों के सामने अंधेरा छा जाना, उन्माद, हिक्का, मूर्च्छा, गुद भ्रंश शूल, ये लक्षण होते हैं। इसी तरह वाग्भट के निम्नलिखित दिये हुए लक्षण उत्पन्न होते हैं जो बहुत महत्त्व के हैं। कफपित्त रहित श्वेताभवर्ण का उदक अतिमात्रा में निस्सरण होता है। कफ और पित्तरहित लोहित वर्ण का उदकनिस्सरण होता है। मांस धोने पर उदक में जो वर्ण आता है उसके समान या मेद=के टुकड़ों से संमिश्र उदक के समान-उदक निस्सरण होता है। प्यास का लगना, भ्रम, आंखें अंदर धँस जाना, तथा, अतिवमन में कही गई व्यापक की उत्पत्ति होना ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

अतियोग में कहे गये सभी लक्षण अत्यधिक धातुक्षय, रसरक्त, मांसादि धातु से निःसृत उदकक्षय, तथा दोषक्षय के कारण उत्पन्न हैं। विरेचन पूर्व स्नेहपानादि के कारण शरीर धातु में क्लेदन, दोषों का द्रवीकरण इत्यादि निर्माण होता है। अतः धातुस्तर से उदक क्लेद तथा दोषों की सतत कोष्ठ की ओर प्रवृत्ति रहती है। ऐसी स्थिति में यदि बिना नियंत्रण के अतिप्रवृति हो जाये तो पहले उचित शोधन हो जाने के अनंतर दारुण प्रकार से धातुओं के उदक का क्षय होने लगता है।

उदकधातु शरीर में आश्वासन, तृप्तिजनन इत्यादि कार्य करता है—उसके अभाव से तृष्णा, भ्रम, दौर्बल्य, आदि उत्पन्न होते हैं। यह आगे शरीर और कार्मुकत्व के विचार में पुनः स्पष्ट करेंगे। वातादि के अत्यधिक क्षय के कारण ततद् लक्षण उत्पन्न होते हैं। अतियोग में कफक्षयजन्य विकार, पित्तक्षयजन्य रक्तक्षय तथा वातक्षयजन्य विकारों की उत्पत्ति होती है ऐसा कहा है। अतएव उनके लक्षण नीचे दिये जाते हैं।

कफक्षय लक्षण—कफक्षय से भ्रम होता है श्लेष्माशय—अर्थात् आमाशय, हृदय, मुख, शिर और संधि (इनमें क्रमशः क्लेदक, अवलंबक, बोधक, तर्पक और श्लेषक कफ रहते हैं) इनकी शून्यता होती है, हृदय की धड़कन बढ़ती है तथा संधियां शिथिल हो जाती है।[६६]

पित्त क्षय लक्षण[६७]—पित्तक्षय से अग्निमांद्य, शरीर का ठंडा पड़ना और प्रभा (वर्ण) का नाश ये लक्षण होते हैं।

वात क्षय लक्षण—अंगसाद होता है। बोलने की इच्छा नहीं होती। संज्ञामोह, तथा कफ वृद्धि के रोगों की उत्पत्ति होती है।[६८] यहां कफ का भी क्षय होने से उनके रोगों की उत्पत्ति अपेक्षित नहीं है। इसी तरह वाग्भट ने मांस और मेद खंडाभ उदक की ही श्रुति कही है अतः रसक्षय और रक्तक्षय के लक्षणों का भी विचार करना चाहिये। रस क्षय में शरीर में रुक्षता, अत्यंत थकावट, शोध, ग्लानि और शब्द सुनने की असहिष्णुता होती है और रक्त-क्षय में—अम्ल तथा शीत पदार्थों के सेवन में रुचि, शिरा शैथिल्य तथा रुक्षता ये लक्षण उत्पन्न होते है।[६९] सम्यग्-अयोग अतिलक्षणों की तुलनात्मक तालिका आगे दी है—देखे।

विरेचन अयोग लक्षण तालिका

क्र.	लक्षण नाम	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१.	कफप्रकोप	+	+	+
२.	पित्तप्रकोप	+	+	+
३.	वातप्रकोप	+	-	-

क्र.	लक्षण नाम	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
४.	अग्निमांद्य	+	+	-
५.	गौरव	+	+	-
६.	प्रतिश्याय	+	-	+
७.	तंद्रा	+	-	-
८.	छर्दि	+	-	-
९.	अरुचि	+	+	+
१०.	वातप्रतिलोमता	+	-	(वातग्रह)
११.	दाह	-	+	+
१२.	हृदय की अशुद्धि	-	+	+
१३.	कुक्षि अशुद्धि	-	+	+
१४.	कंडु	-	+	+
१५.	विट्संग	+	+	+
१६.	मूत्रसंग	-	+	-
१७.	पिड़का	-	-	+

सम्यग् योग लक्षण-तालिका

क्र.	लक्षण नाम	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१.	स्रोतो विशुद्धि	+	-	-
२.	इंद्रिय प्रसाद	+	+मन	-
३	लघुता	+	+नाभि	-
४.	अग्निवृद्धि	+	-	-
५.	अनामयत्व	+	+	-
६.	विटपित्त कफवात का क्रमशः निस्सरण	+	+	-
७.	वातानुलोमन	-	+	-
८.	अयोग लक्षणों का अभाव	-	-	+

विरेचन अयोग लक्षण तालिका

क्र.	लक्षण नाम	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१.	कफक्षयज विकार	+	+	-
२.	पित्तक्षयज विकार	+	-	-
३.	वातक्षयज विकार	+	-	-
४.	सुप्ति	+	-	-

क्र.	लक्षण नाम	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
५.	अंगमर्द	+	-	-
६.	क्लम	+	-	-
७.	वेपथु	+	-	-
८.	निद्रा	+	-	-
९.	बलाभाव (दौर्बल्य)	+	-	-
१०.	तमः प्रवेश	+	-	-
११.	उन्माद	+	-	-
१२.	हिक्का	+	-	-
१३.	मूर्च्छा	-	-	-
१४.	गुदभ्रंश	-	-	-
१५.	शूल	-	+	-
१६.	कफपित्तरहित श्वेत उदक निस्सरण	-	-	+
१७.	कफपित्तरहित लोहित उदक निस्सरण	-	-	+
१८.	मांस धावनवत् उदक स्राव	-	-	+
१९.	मेदोखंडवत् स्राव	-	-	+
२०.	तृष्णा	-	-	+
२१.	भ्रम	-	-	+
२२.	नेत्र प्रवेशनम्	-	-	+
२३.	अति वमन व्यापद् की उत्पत्ति	-	-	+
२४.	रक्तक्षयज विकार	+	-	-

५. विरेचन व्यापद निरीक्षण एवं तत्प्रतीकार

वमन की तरह विरेचन कर्म में भी उत्पन्न व्यापद प्रायशः वेगकाल में उत्पन्न होती है, और उनका उसी समय प्रतिकार आवश्यक होता है, इसलिए व्यापद और प्रतिकार का प्रधान कर्म में ही समावेश किया गया है। वमन विरेचन व्यापदों का संहिता में एकत्र ही निर्देश किया हैं। ये व्यापद भेषज्य की विगुणता से, प्रेषक उपचारक की, भूल से आतुर के अननुकृती से तथा वैद्य के प्रमाद से उत्पन्न होती है, इसका वमन व्यापद विचारते समय उल्लेख किया गया है। व्यापद के मुख्य अयोग और अतियोग ये दो ही प्रकार होते हैं। किंतु ये दोनों अनेक उपद्रवों को उत्पन्न करने में हेतु होते हैं। पहले कहा गया था कि वमन और विरेचन की निम्नोक्त १७ व्यापद होती है।[७०]

१. आध्याम	२. परिकर्त	३. परिस्राव
४. हृद्ग्रह	५. गात्रग्रह-अंगग्रह	६. जीवादान
७. विभ्रंश	८. स्तंभ	९. उपद्रव १०. क्लम

इनमें से आध्मान, स्राव, हृद्गत, गात्रग्रह संज्ञा, भ्रंश, कड्वादि संज्ञक विभ्रंश, उपद्रव और क्लम ये व्यापद अयोग के कारण उत्पन्न होते हैं। इसके परिकर्तिका, जीवादान, गुदभ्रंश ये अतियोग के कारण उत्पन्न होते है।[७१] इसके अतिरिक्त विरेचन औषध की उर्ध्वगति होकर वमन होना यह भी एक व्यापद है। सुश्रुत ने वमन विरेचन के १५ व्यापद कहे हैं—जिनमें १. वमनौषधि की अधोगति होकर विरेचन होना २. विरेचनौषधि की उर्ध्वगति होकर वमन होना ये दो पृथक् व्यापद हैं और ३. सावशेषौधत्व ४. जीर्णोषधत्व ५. हीनदोषापहृतत्व ६. वातशूल ७. अयोग ८. अतियोग ९. जीवादान १०. आध्मान ११. परिकर्तिका १२. परिस्राव १३. प्रवाहिका १४. हृदयोपसरण १५. विबंध ये दोनों में उत्पन्न होनेवाले व्यापद है।[७२] इनमें अयोग अतियोग, सावशेषौधत्व, जीर्णोषधत्व, हीनदोषापहृतत्व ये वस्तुतः व्यापद के हेतु कहे जा सकते हैं—जो चरक ने हेतु ही माने हैं और आध्मान, परिस्राव, जीवादान, परिकर्त, स्राव, हृदयोपसरण ये चरक ने भी गिनी है : वातशूल का चरक के अंगग्रह में विबंध का स्तंभ में समावेश होता है। अतएव दोनों में मूलतः भेद नहीं है। वाग्भट और शेष ग्रंथकारों ने इससे अतिरिक्त विशेष विवेचन नहीं किया है। इन व्यापदों के लक्षण तथा विकार का विचार किया जाता है।

प्रतिलोमन प्रवृत्ति—कोष्ठ में कफ का उत्क्लेश हो, औषध में दुर्गंधि हो अरुचि हो और पहले किया हुआ भोजन (सायंकाल का) ठीक तरह पचा हुआ न हो तो ऐसे आतुर में दिया हुआ विरेचन औषध वमन कराता है।[७३] ऐसी अवस्था में रोगी को पुनः स्नेहन, स्वेदन कर दूसरी बार विरेचन दे। यदि दूसरे बार भी इसी तरह हो जाये तो तीसरी बार औषध न पिलावे। यदि औषध सात्म्य हो और रोगी को अप्रिय न लगता हो तो तीसरे बार भी विरेचन दे सकते हैं।

आतुर का स्नेहन, स्वेदन अच्छी तरह न किया जाए। आतुर अत्यंत रुक्ष शरीर वाला हो, औषधि पुरानी—गतवीर्य हो, तो उससे वमन या विरेचन की प्रवृत्ति नहीं होती इसे अयोग कहते हैं। अयोग के कारण विभ्रंश, शोथ, हिक्का, तमःप्रवेश, पिंडिकोद्वेष्टन, कंडु, उरुसाद, वैवर्ण्य ये रोग उत्पन्न होते हैं। इन रोगों में तत्तत् रोगों की चिकित्सा करनी चाहिये। सामान्यतः ऐसे आतुरों को तैलाभ्यंग कर प्रस्तर स्वेद का संकरस्वेद कर, पुनः शोधन औषधि का प्रयोग करें। अथवा गोमूत्र युक्त निरूह बस्ति दे और निरूह के बाद जांगल मांसरस का भोजन देकर अधिक तीक्ष्ण न हो ऐसी औषधि देकर शोधन करावे।[७४]

अयोग जन्य उपर्युक्त लक्षणों में—सूतशेखर २ रत्ती , शंखभस्म ४ रत्ती, प्रवालपिष्टी २ रत्ती; यह मिश्रण ३ बार मधु के साथ चटा देना उचित है और रोगी को शय्यांकित कर पूर्ण विश्राम करने को कहना चाहिए। बारंबार गरम पानी पिलावे और आमपाचन के उपाय करें। शूल के लिए स्थानिक स्वेद करें।

मृदुकोष्ठी को तीक्ष्णौषध देने से अतियोग होता है।अतिविरेचन होने पर—उसे रोकने के लिए मृदु वमन करावे।[७५] इससे दोषों की गति प्रतिलोम होकर अतियोग बंद हो जाता है। अतियोग में शीतल जल का परिषेक, अवगाह कषाय एवं मधुर औषधि का सेवन,

रक्तपित्त, अतिसार, दाह, और ज्वर रोग, में कही हुई चिकित्सा करनी चाहिये। चंदन एवं उशीर का लेप शर्करोदक, लाजाचूर्ण में सिद्ध मंथ, रक्तपान, मज्जास्नेह का पान ये उपचार करें। अतियोग में–संजीवनी २ रत्ती, शंखोदर रस १ रत्ती, नागकेशर चूर्ण २ रत्ती, चंद्रकला २ रत्ती, जातिफलादि चूर्ण ४ रत्ती और इंद्रजव ४ रत्ती–मिलाकर (एक समय का प्रमाण) इस तरह दिन में ३ या ४ बार दाड़िमावलेह १ तोला के साथ चटावे। कुटजघन वटी ४ रत्ती से १ माशा ३ या ४ बार दे। इनसे तुरन्त विरेचनयोग बंद हो जाते हैं। फिर भोजन में संसर्जन क्रम का पालन करावे। लाजा, सत्तू खिलावे।

वमन और विरेचन की सामान्य व्यापद

वमन और विरेचन में उत्पन्न होने वाली आध्मानादि १० सामान्य व्यापदों के लक्षण और प्रतिकार निम्नलिखित प्रकार के है।

१. **आध्यमान**[७६]–जिस आतुर में दोषों की बहुलता होती है, शरीर रुक्ष होता है, अग्नि बहुत मंद होती हैं, उसे अल्प (गुण मात्रा) औषध देने पर वह उदर को फूला देता है, और उभयमार्ग को बंद कर 'आध्मान' (पेट फूलना) व्यापद को उत्पन्न करती है। इसमें पीठ में दर्द, शिर: शूल, श्वास, मल, मूत्र तथा अधोवात का अवरोध उत्पन्न होता है। इस व्यापद में (१) अभ्यंग (२)स्वेद (३) फलवर्ति (४)निरूह और (५) अनुवासन चिकित्सा करनी चाहिये। उदर पर हिंगुत्रिगुण तैल का अभ्यंग, एरंडतैल का अभ्यंग कर तापस्वेद (Hot water bag, या पादहस्त तलादिभि:, वस्त्र, ईंट से) करें। मदनफलादि वर्ति गुदा में प्रविष्ट करावे अथवा केवल फ्लेटस ट्यूब (Flatus tube) अंदर प्रविष्ट करावे और वात प्रतिलोमता कम होने के अनंतर एरंड मूलादि क्वाथ १६ औंस, इसमें एरंड तैल ४ औंस मिलाकर निरूह बस्ति दे। तत्पश्चात् मल और मूत्रविसर्जन हो जाने के बाद यूष, मांसरस इत्यादि से भोजन देकर, तिलतैल ४ औंस प्रमाण में मात्राबस्ति (या अनुवासन बस्ति) दे देनी चाहिये। शंखवटी, हिंग्वष्टक, शिग्वाक्षारपाचन चूर्ण, लवणभास्कर चूर्ण, चित्रकादि चूर्ण, जंबीरादि वटी, इनका आभ्यंतर प्रयोग यथायोग्य प्रकार से प्रशस्त होता है।

२. **परिकर्तिका**[७७]–(१) स्निग्ध आतुर का गुरु कोष्ठ हो और समावस्था में तीक्ष्ण औषधि दी हुई हो, अथवा (२) दुर्बल आतुर का मृदुकोष्ठ हो और थके हुए और अल्पदोषावस्था में औषधि दी गई हो अथवा (३) दुर्बल शरीर, मृदुकोष्ठी, मंदाग्नि को अति उष्ण लवण या रुक्ष औषध पिलाया गया हो–तो दोषों का प्रकोप होकर तीव्र परिकर्तिका उत्पन्न होती है। परिकर्तिका में गुदा में कर्तनवत् (कैची से काटने की सी) पीड़ा होती है, और पिच्छा तथा रक्त के साथ मल प्रवृत्ति होती है। गुदा, मेद, नाभि, बस्ति (बस्तिशिर-या शिर में) में दाह, परिकर्तन, वातसंग, विष्टंभ इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। यही व्यापद यदि वमन में हो तो "कंठक्षणन" या "कंठकर्षण" कहलाती है।इसमें गले में कर्तनवत् वेदना होती हैं। पिच्छा यह एक शरीर का श्लेष्मल धातु (Mucous Membrane) है। यह पोषक भावविशेष है, मल नहीं है, इसका निर्माण आहार रस केसार भाग से होता है।[७८] अतिसार में भी कभी कभी पिच्छाधातु निकल जाती है–'सपिच्छमति सार्यते' ऐसा कहा गया है। जब भी पिच्छा निकल जाती है तो वह गंभीर परिस्थिति का सर्जन करती है।

इस व्यापद में रोगी को १. लंघन करावे। २. पाचन औषधि का सेवन करावे ३. रुक्ष उष्ण औषधि का प्रयोग करें। ४. लघु भोजन दे ५. मधुर रसवाली बृंहण चिकित्सोपक्रम की औषधि

दे। जहां पिच्छादि स्राव हो वहां रुक्ष औषधि दे। जहां आम और अजीर्ण का प्राबल्य हो वहां–रुक्ष, उष्ण, क्षार, अम्ल चिकित्सा करें।पुष्पकासीस क्षार, अम्ल, लवण के साथ दे। पुष्पकासीस का अर्थ–"पुष्पा-शब्देन के चिदत्र सांग्राहिकानि धातकी कुसुमादीनि ग्राहयंति (च. पा.)"– धाय के फल का ग्रहण किया जाता है वह उचित है–यह रक्त-स्राव तथा पिच्छा को तुरन्त रोक देता है। दाडिम स्वरस, दाडिम घृत, वात की प्रधानता में दे। भोजन में तक्र, दही में दाडिम चूर्ण मिलाकर प्रयोग करें। देवदारु, तिल इनका चूर्ण या कल्क गरम पानी के साथ खिलावे। पीपल, गुलेर, प्लक्ष कदंब इनके चूर्णों से शृतशीत दूध (या सिद्ध दूध) पिलावे। इसी तरह पिच्छा बस्ति दे और दूध का भोजन देकर घृतमंड या यष्टिमधु तेल से अनुवासन बस्ति दे।

पिच्छा बस्ति-मोचरस या उदुंबरसार का क्वाथ १६ औंस और तिल तेल ४ औंस मिलाकर पिच्छा बस्ति दी जाती है अथवा यष्टीमधु, काले तिल का कल्क, इनका क्वाथ इनमें मधु और घृत मिलाकर बस्ति दें।

क्षारौषधि प्रयोग में शंखवटी, शिवाक्षार पाचन चूर्ण, सामुद्र चूर्ण अम्ल जंबीरादि वटी, अम्लवेतस चूर्ण, इनका प्रयोग करे। कंठ क्षणन में क्षार देना ठीक नहीं है। इनमें दाडिम घृत, शतावरी घृत, शंखभस्म शंखजीरक चूर्ण, कामदुधा, शुद्ध गैरिकचूर्ण, आमलकी चूर्ण, प्रवालपिष्टी इनका व्यवहार करे।

३. **परिस्राव**[७९]–१. बहुदोष आतुर को, २. क्रूरकोष्ठी आतुर को अल्प वीर्यवाली औषधि दी जाने पर वह समय दोषों का शोधन नहीं कर सकती। लेकिन दोषों को उत्क्लिष्ट कर देती हैं, इसलिए थोड़े-थोड़े प्रमाण में बारंबार दोषों की प्रवृत्ति होती है। इसमें कंडु, शोथ, कुष्ठ, गौरव, अग्निमांद्य, स्तैमित्य (शरीर भारी पड़ना) अरुचि, पांडु, दौर्बल्य, उदर में विष्टंभ और सर्वांगमर्द ये लक्षण होते हैं। वमन में यह व्यापद हो जाये तो मुख से अल्पाल्प प्रमाण में कफ का स्राव होना यह परिस्राव लक्षण होता है।

परिस्राव का प्रतिकार–१. शमन २. वमन ३. विरेचन और ४. आस्थापन से करना चाहिये। अर्थात् दोष अल्प हो तो शमन (स्राव को बंद करनेवाले कुटजघन बटी तथा पाचन योग) चिकित्सा करें। यदि दोष अधिक हो और उर्ध्वगति हो तो वमन करावे और अधोभाग प्रवृत्त दोष हो तो विरेचन करावे और फिर स्नेहन, स्वेदन कराकर विधिवत् विरेचन करावे। सुश्रुत ने अजकर्ण (साल) धावडी, सांदन, ढाक, बला इनके क्वाथ से आस्थापन देकर दोष शांत होने के बाद पुन: संशोधन कराने को कहा है। शुद्धि के बाद चूर्ण, आसव, अरिष्ट के योग जो ग्रहणी अर्श रोग चिकित्सा में कहे गये हैं उनका प्रयोग करें। इनमें तक्रारिष्ट, अभयारिष्ट, कुटजारिष्ट, शर्करारिष्ट, दुरालभासव, मधुकासव, नागरादि चूर्ण, चित्रकादि चूर्ण, मरिचाद्य चूर्ण, इनका दीपन, पाचन तथा शमनार्थ प्रयोग करना उचित है।

४. **हृद्ग्रह**[८०]–वमन या विरेचनौषधि पिलाने के बाद अगर घृणा, संकोच आदि के कारण वेगावरोध किया जाये तो वातादि दोष प्रकुपित हृद्ग्रह उत्पन्न करते हैं। यह भयंकर व्यापद है। इसमें हिक्का, श्वास, कास, पार्श्वशूल, अत्यन्त दैन्य लालास्राव, आंखों का घुमाना, दांतों का किटकिटाना, जबान दांतों में दबाई जाना, संज्ञानाश ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसमें जरा भी हृद्रोग या किसी अन्य व्याधि का संदेह न करते हुए वैद्य उसकी चिकित्सा करें। हृद्ग्रह का अर्थ है हृदय में जकड़ाहट जैसी वेदना। दोषों के द्वारा ऊपर गति होने से

आमाशय के ऊर्ध्व भाग में जकड़ाहट होने से ऐसी वेदना होती है। इस व्यापद में तुरन्त वामक औषधि पिलाकर वमन करावे। शेष दोषों में पित्त प्रधान हो, मूर्च्छादि हो तो मधुर औषधि से एवं कफप्रधान हो तो कटु औषधि से शमन करावे। अग्निदीपन, पाचन तथा शरीर बल बढ़ाने की चिकित्सा करें। अति वमन से वात प्रकोप के कारण जिसको हृदय पीड़ा हुई हो उसे स्निग्ध, अम्ल लवण रसयुक्त औषध दे। पित्त और कफ में तत्तद् शामक औषधि दे। सुश्रुत ने कहा हैं कि जो मूढता से प्रवृत्त दोषों को रोकता है, उसके दोष हृदय की ओर अपसरण कर 'हृदयापसरण' व्यापद करते हैं। इसके लक्षण उपर्युक्त के समान हैं। आगे निर्देश करते हैं कि—मूर्ख वैद्य इसे विभ्रम के कारण अचिकित्स्य मानकर छोड़ देते हैं, तथापि ऐसा नहीं करना चाहिए। ऐसी अवस्था में घी से अभ्यंग कर उड़द और धान्यों का स्वेद करावे। यष्टिमधु सिद्ध तैल की अनुवासन बस्ति दे और तीक्ष्ण शिरोविरेचन (नस्य) दे। फिर यष्टीमधु क्वाथ और चावल का पानी पिलाकर वमन करावे और फिर दोष प्रकोप के लक्षणों को देखकर बस्ति चिकित्सा करें। सामान्यतः इस व्यापद में—वमनादि चिकित्सा के बाद तथा अवस्थानुसार दशमूलारिष्ट, अभयारिष्ट, अश्वगंधारिष्ट, हिंगुकर्पूरवटी, शंखवटी अजमोदादि वटी, चित्रकादि वटी इनका उपयोग लाभप्रद होता है। मूर्च्छित आतुर को तीक्ष्ण प्रशमन नस्य कटुफल चूर्ण का दे।

५. अंगग्रह[८१]— हृद्ग्रह और अंगग्रह समान कारणों से उत्पन्न होता है। शोधनौषधि पिलाने पर वेगों के उदीरित होने पर वेगों को प्रवृत्त न करने से, कफादि से वात का अवरोध होकर वह अंग को जकड़ देता है। इसे अंगग्रह कहते है, इसमें शरीर की जकड़ाहट, कंप, निस्तोद (तोद) पिंडिकोद्वेष्टन तथा शरीर को कोई मथ रहा हो ऐसी वेदना, ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसमें १. वातहर स्नेहन २. स्वेदन करना चाहिये। पंचगुण तैल, धान्वन्तर तैल, कटु तैल से अभ्यंग कराकर वाष्प स्वेद, प्रस्तर स्वेद, अश्मधन स्वेद इत्यादि सार्वदेहिक स्वेद करावे।

६. जीवादान[८२]—जिसका कोष्ठ मृदु हो, दोषबल अल्प हो उसे अतितीक्ष्ण औषध देने से वह दोषों का मंथन करते हुए उन्हें तो निकाल देता हैं, किंतु आगे शुद्ध रक्त (जीवरक्त) को भी निकालने लगता है। यह जीवरक्त निकल जाना ही जीवादान कहलाता है। सुश्रुत ने, अतियोग से प्रथम चंद्रिका (लालारक्त मंडल) के साथ और बाद में जीवरक्त के साथ उदक निकलता है ऐसा कहा है फिर मांसधावन के समान उदक स्राव, गुदभ्रंश आदि होता है। विरेचन व्यापद में गुदभ्रंश और वमनव्यापद में जिह्वा निःसरण होता है। इसमें जब शुद्धरक्त निकल जाता है तो उसे 'जीवादान' और दुष्टरक्त होने पर 'रक्तपित्त' व्यापद कहा गया है। जीवरक्त की परीक्षा शास्त्र में निम्नोक्त प्रकार से दी है--

१. कपास का टुकड़ा, (गोजपीस) या सफेद कपड़ा, रक्त में डुबावे, फिर इसे गरम पानी से धो डाले, यदि वह धुल जाता है—और श्वेत होता हैं, तो उसे जीवरक्त समझना चाहिये। अगर धोने पर कपड़ा वैवर्ण्ययुक्त हो जाये (पीताभ रक्त का) तो रक्तमिश्रित पित्त समझकर रक्तपित्त समझे या दुष्टरक्त का स्राव समझे।

२. सत्तू या भात के साथ स्रुतरक्त को मिलाकर कुत्ते या कौवे को खिलावे। अगर वे खा जायें तो जीवरक्त समझना चाहिये और न खाये तो दुष्ट रक्त समझना चाहिये। इस तरह जीवरक्त जब अतिमात्रा में निकलने लगता है तो भयंकर उपद्रव होते हैं, तथापि तृष्णा,

मूर्च्छा, या मद (Coma) उत्पन्न होने पर भी प्राण है तब तक उसे बचाने की चिकित्सा करते रहना चाहिये। सब रक्तपित्त हर चिकित्सा से उपक्रम करें, तथा अतियोग में जो कहा गया है—वह अर्थात् मंथ, यूष, शीतपरिषेकादि सब करना चाहिये। जीवादान की चिकित्सा इस प्रकार करें।

१. प्रथम शीत जल से परिषेक, अवगाह करें। शीत जल का प्लोत-पिचु रखे। शीतजल पिलावे, दडिम, द्राक्षा, शर्करा इनका पानी पिलावे। निंबुक शर्बत पिलावे।

२. गाय, हिरन, भैंस, बकरे का ताजा रक्त आतुर को पिलावे।

३. इस रक्त में दर्भ क्वाथ मिलाकर रक्तबस्ति दे।

४. प्रियंगु, गंभारी, बेर, दूर्वा, उशीर इनसे सिद्ध दूध पिलावे अथवा यह सिद्ध दूध और घृतमंड और सुरमा मिलाकर बस्ति दे।

५. अथवा पिच्छा बस्ति दे। न्याग्रोधादि गण के क्वाथ में (बड़, गुलेर, पीपल, प्लक्ष, महुआ, आम्रातक, अजुन, जामुन, प्रियाल, बदर, वेतस, बेर, पलाश आदि न्याग्रोधादि गण के वृक्ष हैं।) इक्षुरस, घृत मिलाकर बस्ति दे अथवा केवल मोचरस पिच्छा बस्ति पद्मकदि तैल मिलाकर दे।

६. पिच्छा बस्ति के बाद घृतमंड का अनुवासन दे।

जीवरक्त स्राव के इस व्यापद में उशीराव, द्राक्षासव, चंदनासव, कुटजारिष्ट, कुटजघन वटी का प्रयोग करावे। लाजा, सत्तू इनका मंथ, तक्र, शर्करोदक पिलावे। संजीवनी २ रत्ती, शंखोदर रस २रत्ती, इंद्रजव चूर्ण ४ रत्ती, प्रवालपंचामृत २ रत्ती इनको ३-४ बार दाडिमावलेह के साथ, या कुटजावलेह के साथ चटावे। यह तुरन्त जीवदान का स्तंभन करता हैं।

जीवशोणित स्राव में पिच्छाबस्ति लाभप्रद होती है। इसी तरह रक्तबस्ति भी बहुत लाभप्रद हैं। यह केवल निरूहण विधि से न देकर आगे 'बस्ति प्रकरण' में उक्त बृंहण विधि से धीरे-धीरे देवे। इससे रक्त बढ़ता है और रोगी को बल मिलता है।

७. विभ्रंश[८३]—विभ्रंश व्यापद तीन प्रकार की है। १. गुदभ्रंश २. संज्ञा विभ्रंश ३. कंडूवादि लक्षणों युक्त विभ्रंश। इसमें से गुदभ्रंश को सुश्रुत ने अतियोग में जीवादान के बाद उत्पन्न लक्षणों में लिया है। चरक ने संज्ञा विभ्रंश और कंडु आदि वमन के अयोग से उत्पन्न व्यापद कही है। गुदभ्रंश में कषाय-रस से युक्त द्रव्यों से लेपन कर अंदर प्रविष्ट करावे। सुश्रुत ने गुदापर अभ्यंग मृदुस्वेद कराकर अंदर प्रविष्ट करने को कहा है भ्रष्टगुदा के सतंभनार्थ सौराष्ट्री चूर्ण, उदुम्बरसार, लोध्रचूर्ण इनको जात्यादि तैल या पद्मकादि तैल में मिलाकर उसका पिचु गुदा पर रखकर गुदा को अंदर प्रविष्ट करें। केवल मूषक तैल को गुदापर लेप करके अंदर चढ़ा देने से भी बहुत लाभ होता है। अतियोग से मनोव्याघात के कारण जिसकी संज्ञा भ्रष्ट हो गई है, उसे मधुर सामगान, गांधर्व गायनादि (सुगम मनोहारी संगीत) सुनाकर होश में लाने की कोशिश करें। संज्ञा भ्रंश में व्यक्ति बेहोश नहीं होता, अपितु होश में रहते हुए उसकी चित्तवृत्ति नष्ट होती है—अतएव उसके मन को बहलाने को कहा है। औषधि पिलाने पर जिसका केवल मल निकल जाता है और पित्त कफादि का शोधन नहीं होता उसे कंडु, पिड़का, कुष्ठादि रोग उत्पन्न होते हैं यह तीसरा विभ्रंश हैं। इसमें

कंडु-पिड़कादि रोगों में कही हुई चिकित्सा करनी चाहिये। इन आतुरों में पुनः स्नेहपान कराकर अभ्यंग स्वेद कराकर तीक्ष्ण शोधन औषधि देनी चाहिये।

८. **स्तंभ**[८४]—स्निग्ध आतुर को स्निग्ध विरेचन दिया जाने पर स्नेह मृदुता के कारण दोष आवृत्त हो जाते हैं, और स्तंभ उत्पन्न होता है। जिसमें वात का अवरोध, गुदा का स्तंभ, गुदा में शूल, तथा अल्पाल्पशः मल की प्रवृत्ति ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसमें लंघन, पाचन तथा तीक्ष्ण बस्ति और विरेचन चिकित्सा करें। सुश्रुत ने विष्टम्भ नामक व्यापद में वातमूत्रमल संगादि उपरोक्त लक्षण बताए हैं और वमन व्यापद में आशुवमन तथा विरेचन व्यापद में सैंधव अम्ल, गोमूत्र युक्त विरेचन तथा निरूह अनुवासन देने को कहा है।

९. **उपद्रव**[८५]—रुक्ष आतुर को रुक्ष विरेचन पिलाने से वात प्रकोप के कारण स्तंभ, शूल, तथा गात्रग्रह युक्त अनेक उपद्रव उत्पन्न होते हैं। इसमें शरीर में खूब वेदना और मूर्च्छा भी होती है। इसमें स्नेहन, स्वेदन और वातहर उपाय करें।

१०. **क्लम**[८६]—स्निग्ध, मृदुकोष्ठी, आतुर को मृदु औषध कफ का अल्प उत्क्लेश करती है। कफ से पित्त और वात का संग होकर तंद्रा, गौरव, क्लम, दौर्बल्य, शरीर में वेदना उत्पन्न कर 'क्लम' नामक व्यापद उत्पन्न होती है। इसमें १. लंघन २. पाचन ३. स्नेहन और ४. तीक्ष्ण शोधन औषध देना चाहिये।

इस तरह विरेचन व्यापदों का निरीक्षण करते हुए वैद्य को सावधान रहकर उनका प्रतिकार प्रतिपन्न मति से धैर्य को खोए बिना करना चाहिए। प्रायः वमन विरेचन व्यापद में उपयोगी सिद्ध औषधियां नीचे दी जाती हैं। उनका योग्य प्रकार से प्रयोग करना चाहिये।

सूतशेखर रस, सुवर्ण सूतशेखर रस, शंख भस्म, चंद्रकला रस, प्रवाल पिष्टी, शंखबटी, शिवाक्षार पाचन चूर्ण, कुटज घनवटी, संजीवनी बटी, नागकेशर चूर्ण, लोध्र चूर्ण, इंद्रयव चूर्ण, जातिफलादि चूर्ण, सौराष्ट्री चूर्ण, न्याग्रोधादि क्वाथ, उदुंबरसार, मोचरस, उशीर चूर्ण, चंदनचूर्ण, अभयारिष्ट, कुटजारिष्ट, चंदनासव, उशीरासव, लाजामंड, दशमूलारिष्ट, द्राक्षासव, चर्बिकासव, फलवर्ति, पिच्छाबस्ति, तीक्ष्ण वामक योग—मदन फल योग, सुगंधी द्रव्य-(फल इत्यादि) पंचगुण तैल, धान्वंतर तैल, चंदन बलालाक्षादि तैल, सैंधवादि तैल, पद्मकादि तैल, जात्यादि तैल, कटफल चूर्ण नस्य, कोथली स्वेद, वाष्पस्वेद इत्यादि।

उपर्युक्त व्यापदादि को देखकर वैद्यों के मन में ऐसा संशय पैदा हो सकता है कि यह कर्म अत्यंत दुर्धर और खतरे से युक्त है और इसमें प्रवेश न करना ही ठीक है, तथापि ऐसा भय का कारण नहीं है। प्रत्यक्षकर्मा वैद्य के पास कुछ समय अभ्यास करने पर ये विषय आत्मसात हो जाते है। हमारे बारह वर्ष के अनुभव में व्यापद की उत्पत्ति और उनकी चिकित्सा करने का प्रसंग बहुत ही कम बार आया है। योग्य प्रकार से शोधन करने पर व्यापद नहीं होती। अतएव बुद्धिमान वैद्य रोगी की अवस्था देखते हुए, तत्वों (सिद्धांत) का विचार कर, आरोग्य के इच्छुक रोगी को सम्यग् शोधन चिकित्सा करने में आनाकानी न करे। शोधन करता रहे।[८७]

पश्चातकर्म—विरेचन वेगों की निवृत्ति के बाद से लेकर आतुर को प्राकृत भोजन तक लाने के काल में जो कर्म करना चाहिये उनका पश्चात्कर्म में समावेश होता है। विरेचन के पश्चात्कर्म वमन के पश्चात्कर्मों के समान हैं। केवल फरक इतना है कि वमन के बाद

धूम्रपान करने का विधान हैं और विरेचन के बाद धूम्रपान नहीं करना चाहिये।[८८] वमन कर्म में कफोत्क्लेश होता है और गले में चिपके हुए कफ को धूम्रपान विलयित करता है। विरेचन में कफ की गति अधोमार्ग में ही होती है अतः इसकी आवश्यकता नहीं रहती। शेष कर्म वमनविधि के पश्चात्कर्म के जैसे करे।। अर्थात्—१. संसर्जन क्रम २. तर्पण एवं शमनौषधि ३. परिहार्य विषय और ४. विरेचनोत्तर कर्म का विचार। उपर्युक्त कर्मों का साकल्येन विचार वमन प्रकरण में किया गया है अतः वहां से देखना चाहिये। यहां केवल स्मरण के लिए सारांश से कहा जाता है।

१. **संसर्जन क्रम**—विरेचन के प्रक्षोभ द्वारा उत्पन्न अग्निमांद्य में अग्नि पालनार्थ क्रमशः लघु से गुरु भोजन देकर ३ से ७ दिन में प्रकृति भोजन पर लाना चाहिये। अतएव प्रधन, मध्य और अवर शुद्धिवाले आतुर को क्रमशः पेया, विलेपी अकृतयूष, कृतयूष, अकृतमांसरस और कृतमांसरस के तीन, दो और एक-एक अन्नकाल में भोजन करावे और अवर शुद्धिवाले आतुर को तीसरे दिन शाम को, मध्य शुद्धिवाले आतुर को पांचवें दिन शाम को और प्रधान शुद्धिवाले आतुर को सातवें दिन शाम को प्रकृतिभोजन (normal diet) खिलावें। इस तरह करने से अग्नि दीप्त होती है और आगे गुरु भोजन को भी पचाने में सक्षम होती है।

२. **तर्पण एवं शमनौषध**—जिस आतुर में शोधन अल्प होता है, कफ पित्त का प्राधान्य रहता है, दोष शेष रहता है, जो मद्यपान की आदतवाले होते हैं, उनको पेयादि संसर्जन क्रम न देकर तर्पण-यूष देना चाहिये। क्योंकि पेया अभिष्यंदन कर कफ को बढ़ाती है। पेया के स्थान में स्वच्छ तर्पण (पतला यूष या मंथ) और विलेपी के स्थान पर घन तर्पण (गाढ़ा यूष) देना चाहिये। सुश्रुत ने लाजा और सत्तू के तर्पण देने को कहा है। चरक ने सद्यःक्षीण को बल देनेवाले कुछ तर्पण (सू. अ.२३) कहे हैं—उनका प्रयोग यहां कर सकते हैं। इनमें से कुछ इस प्रकार के हैं।

१. शर्करा, पिप्पलीमूल, घृत, मधु समान भाग लेकर, दुगुना सत्तू मिलाकर मंथ बनाकर पिलावे।

२. सत्तू, मदिरा और मधु इनका मंथ देकर तर्पण करें।

३. फाणित, सत्तू, घी, दही, दही का पानी, अम्ल कांजी, इनका मंथ बनाकर तर्पणार्थ पिलावे।

४. खजूर, द्राक्षा, इमली, दाड़िम, अम्लवेतस इनका मंथ बनाकर पिलावें।

५. फालसा और आंवला इनका तर्पण मद्यविकार को दूर करता है।

३. **परिहार्य विषय**—वमनोत्तर जो परिहार्य हैं, वे ही विषय विरेचनोत्तर परिहार्य हैं।

१. जोर-जोर से बोलना	२. बहुत ज्यादा भोजन करना
३. एक स्थान में अधिक काल तक बैठना	४. बहुत घूमना फिरना
५. गुस्सा करना, दुःख करना	६. शीत हवा का सेवन करना
७. वाहनों की सवारी करना,	८. मैथुन
९. रात्रौ जागरण	१०. दिन में सोना
११. विरुद्ध भोजन	१२. वेगावरोध

१३. अनुदीरित वेगों का उदीरण ये सब विषय त्याग देने चाहिये। इनके करने से जो उपद्रव उत्पन्न होते हैं उनका और उनके प्रतिकार का वर्णन 'विषय प्रवेश विज्ञान' नामक प्रथम अध्याय में किया है वहां देखना चाहिये।

विरेचनोत्तर कर्म का विचार

विरेचन के बाद यदि आगे कोई शोधन कर्म न करना हो तो तत्तद् व्याधि में कहा हुआ शमन औषध ७ वें दिन से प्रारंभ करना चाहिये और विरेचन के बाद अगर बस्ति चिकित्सा करनी है तो ९वें दिन पहले अनुवासन बस्ति दें और बाद में निरुह बस्ति दे।[८९]

सुश्रुत ने वमन के १५ वें दिन विरेचन और विरेचन के ७ वें दिन निरूह बस्ति देने को कहा है।[९०] डल्हण ने टीका में कहा है कि ७ वें दिन के बाद ८ वें या ९ वें दिन बस्ति दी जा सकती। मतितार्थ यह कि विरेचन के बाद ७ दिन के पहले बस्ति नहीं देनी चाहिये। क्योंकि विरेचन से जिसका शोधन किया गया है, उसका कोष्ठ रिक्त होता है, ऐसे समय निरूह बस्ति देने पर वह वात प्रकोप कर शरीर के लिए विघातकर होता है।[९१]

विरेचन के बाद बस्ति कब देनी चाहिये इस पर चक्रपाणि ने मतमतांतर दिये हैं। उनकी टीका का सारांश यह है कि निरूह के पहले घृतपान (स्नेहपान) की आवश्यकता नहीं है। अत: नववां दिन शोधन दिन को पकड़कर गिनना चाहिये। भद्रशौनक ने शोधन के बाद एक मास से अनुवासन देने को कहा है। वह अनुवासन विशेष विषय से या तो रोग निःशेष विषय से समझकर चरक मंतव्य से विरुद्ध नहीं है ऐसा मानना चाहिये। इस बारे में बहुत से व्याख्यान (मत) मिलते हैं। टीकाकार अंगिरि, सैंधव, जेज्जट, ईश्वरसेन इत्यादि के मत इसपर उपलब्ध है। अन्य टीकाकार ने इन व्याख्यानों को दोषोद्धार से (दोषपूर्ण) निरस्त (अस्वीकृत) कर दिया है। सारांश ९ वें दिन पहले अनुवासन दे और तीन दिन के बाद जांगल मांसरसादि भोजन किये हुए आतुर को निरूह बस्ति दे। यहां अनुवासनोत्तर दूसरे दिन ही निरूह दिया जा सकता है। यह विषय प्रथम अध्याय में आवश्यक चर्चा के साथ स्पष्ट किया गया है।

विरेचनोपयोगी कतिपय योग

चरक सुश्रुत और वाग्भट, और आगे शार्ङ्गधरादि संहिताकारों ने विरेचन के अनेक योग दिये हैं। यहां चरक के कल्प स्थान के विरेचन के सभी योग वर्णित किये जाते हैं। प्राय: कुछ फरक के साथ इनका ही वर्णन आगे अन्यों ने किया हैं। योगों का कोई अंत नहीं होता। एक ही औषध को अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार अलग-अलग प्रकार से देकर करोड़ों योग निर्माण किये जो सकते है और द्रव्यों का बाहुल्य होने के कारण योगों की निश्चित संख्या नहीं होती।[९२] चरक ने अधिक-से-अधिक संख्या में और व्यवस्था करण में उचित प्रकार से योग कहे है अत: उनका निर्देश किया जाएगा।

चरक ने श्यामा और त्रिवृत के ११० योग, चतुरंगुल (आरग्वध) के १२ योग, तिल्वक के १६ योग, सुधा के २० योग, सप्तला शंखिनी के ३९ योग और दंती द्रवंती के ४८ योग ऐसे कुल विरेचन के २४५ योग बताये है।[९३] इनमें श्यामा, त्रिवृत, अरुण त्रिवृत, आमलतास, तिल्वक, सेहुंड, सप्तला, शंखिनी (यवतिक्ता), दंती और द्रवती इन ८ द्रव्यों को प्राधान्य दिया है। विरेचन के प्रधन द्रव्य हरीतकी, एरंड, इनके योग नहीं हैं इसका आश्चर्य होता है।

सुश्रुत ने इस त्रुटि की पूर्ति करने की कोशिश की है। सुश्रुत ने त्रिवृत, तिल्वक, हरीतकी, एरंड तैल, कारवेल्लक, सेहुंड का दूध, इनको प्रधान बताकर इनके कल्प देंगे ऐसा कहा है। किंतु आगे त्रिवृत कें बाद दंती, द्रवंती आमलतास और सप्तला शंखिनी के भी कुछ योग दिये है। सुश्रुत ने हरीतकी के दिये हुए योग नित्य प्रयोगार्ह होने के कारण नीचे दिये जाते हैं।

१. हरीतकी, विडंग, सैंधव, सोंठ, निशोथ, मरिच, इनके चूर्ण कर इसका गोमूत्र के साथ प्रयोग करें।

२. हरीतकी, नीलिनी और सोंठ को गुड़ के साथ प्रयोग करें।

३. हरीतकी फल का चूर्ण पिप्पल्यादि क्वाथ के साथ खाने से शीघ्र विरेचन होता है।

४. हरीतकी शुंठी औरं गुड़ को मिलाकर प्रयोग करें।

५. हरीतकी और सैंधव नमक को मिलाकर विरेचनार्थ दे।

सुश्रुत ने आंवला और बहेड़ा भी विरेचनार्थ प्रयुक्त किया है और प्रसिद्ध 'त्रिफला' योग हरड़, बहेड़ा, आंवला के चूर्ण से बनाकर प्रयुक्त करने को कहा है।

एरंड तैल योग—एरंड तैल को तिगुने त्रिफलाक्वाथ में, दूध में या मांस रस में मिलाकर पिलाने से विरेचन होता है। यह सुकुमारों के विरेचन के लिए अच्छा है।

वाग्भट के योग प्राय: चरक के समान हैं।

काश्यप के कतिपय विरेचन योग

१. पिप्पली, सैंधव, और हरितकी का चूर्ण बनाकर विरेचनार्थ दे।

२. आरग्वध क्वाथ को दूध या मांसरस के साथ पिलावें।

३. त्रिफला और त्रिकटु का चूर्ण घी के साथ दे।

४. त्रिवृत और त्रिकटु का चूर्ण घी के साथ दे।

५. केवल एरंड तैल स्नेह विरेचनार्थ पिलावे।

६. द्राक्षा क्वाथ में दशमूल क्वाथ मिलाकर विरेचनार्थ पिलावें।

७. त्रिवृत, द्राक्षा और हरीतकी क्वाथ गोमूत्र के साथ पिलावें।

८. त्रिवृत, और द्राक्षा चूर्ण मिलाकर दे।

९. पिप्पली, सैंधव और त्रिवृत का चूर्ण मिलाकर विरेचनार्थ दे।

शार्ङ्गधर के कतिपय विरेचन योग—शार्ङ्गधर से विरेचन प्रकरण में अभयादि मोदक और एरंड तैल का प्रयोग बताया है। वैसे ही ऋतु के अनुकूल त्रिवृत के ६ योग कहे हैं, वे आगे चरक के त्रिवृत योग में वर्णित है। अन्यत्र उपयुक्त

१. द्राक्षादि क्वाथ २. आरग्वधादि क्वाथ

३. अभयादि क्वाथ ४. त्रिफलादि क्वाथ

५. त्रिफला आरग्वध क्वाथ ६. हरीतक्यादि क्वाथ ये विरेचनार्थ प्रशस्त कहे गये हैं।

चरकोक्त विरेचन योग

चरक के कल्पस्थान के ७ वें अध्याय से १२ वें अध्याय तक त्रिवृतादि द्रव्यों के विरेचन योग कहे हैं। वे अध्ययन सुविधा के लिए तथा प्रयोग सुविधा के लिए आगे कहे गये हैं। यहां

स्मरणीय है कि इनमें भैषज्य कल्पना के आधारपर जो संख्या दी है—वह चरक के ही संख्याकन के अनुसार दी है, न कि'विरेचन प्रयोग भेद' दर्शक तालिका के अनुसार। तालिका में वस्तुत: द्रव्य का उपयोग जिस कल्पना में किया जाता हैं वह संख्या दी है और वर्णन क्रम में चरक के शीर्षक दिये है। चरक ने एक शीर्षक में 'आदि' कहकर अन्य कल्पना के योग भी दिये हैं। तथापि 'पाठ्य' पाठनार्थ (Text के पठन के लिए) यहां वही क्रम रखा हैं।

१. श्यामा त्रिवृत के विरेचन योग

१. अम्लादि मिश्र विरेचन योग—अम्लादि द्रव्यों के साथ मिश्रण कर त्रिवृत के कुल ९ विरेचन योग होते हैं। ये द्रव्य निम्नोक्त हैं।

१. अम्लकांजी २. गोमूत्र ३. अविमूत्र ४. अजामूत्र ५. महिषी मूत्र ६. सौवीर ७. तुषोदक ८. प्रसन्ना ९. त्रिफला। वस्तुत: इनमें अम्ल का एक योग है और ८. अन्य मिश्र योग हैं। त्रिवृत चूर्ण एक अक्ष मात्रा में (१ तोला) उपर्युक्त द्रव्यों के साथ अथवा त्रिफला के क्वाथ से पिलावे। त्रिवृत की विरेचन मात्रा ३ से ६ माशा है।

२. सैंधवादि के साथ विरेचन योग—इनकी बारह संख्या है। शुंठी चूर्ण और द्विगुण त्रिवृत चूर्ण (अर्थात् त्रिवृत ६ माशा और सोंठ ३ माशा) लेकर

१. सैंधव	२. सौवर्चल	३. काल लवण
४. विड् लवण	५. सामुद्र लवण	६. औद्भिद लवण
७. सांभर लवण	८. रोमक लवण	९. औसर लवण
१०. पारेयक लवण	११. पांशुज लवण	१२. वालुक लवण इनके साथ पृथक्-पृथक् प्रयोग कर विरेचन करावे।

३. गोमूत्र के योग—इनकी संख्या अठारह है। इनमें त्रिवृत चूर्ण (६ माशा) को निम्नोक्त द्रव्यों में पृथक्-पृथक् किसी एक के साथ (३ माशा) आधे भाग में मिलाकर गोमूत्र के साथ मिलाकर विरेचन करावे।

१. पिप्पली	२. पिप्पलीमूल	३. मरिच	४. गजपिप्पली
५. सरल	६. किलिम	७. हींग	८. भारंगी
९. तेजोवती	१०. नागरमोथा	११. हेमवती	१२.हरीतकी
१३. चित्रक	१४. हरिद्रा	१५. स्वर्णक्षीरी	१६.अजमोदा
१७. सौंठ	१८. वचा।		

४. यष्टीमधु के साथ योग—इनकी संख्या दो है। यष्टीमधु और शर्करा के साथ अलग-अलग त्रिवृत चूर्ण मिलाकर प्रयोग करें।

५. जीवकादि योग—इनकी संख्या १४ है। त्रिवृत का चूर्ण निम्नोक्त १४ में से किसी एक द्रव्य के चूर्ण के साथ विरेचन के लिए दे।

१. जीवक	२. ऋषभक	३. मेदा	४. श्रावणी
५. कर्कटशृंगी	६. मृद्गपर्णी	७. माषपर्णी	८. महाश्रावणी
९. काकोली	१०. क्षीर काकोली	११. तालमखाना	१२. गुडूची
१३. क्षीर विदारी	१४. अर्कपुष्पी।		

६. क्षीर आदि योग—ये सात है। इसमें

१. गोदुग्ध	२. मांसरस	३. इक्षुरस	४. काश्मरी रस
५. द्राक्षारस	६. पीलू स्वरस	७. घृत के साथ त्रिवृत चूर्ण प्रयुक्त किया जाता है।	

७. लेह योग—इनकी संख्या आठ है। जो चाटकर विरेचन किया जाता है उसे लेह योग कहते हैं। इनमें नीचे के योग समाविष्ट है।

१. त्रिवृत चूर्ण, खांड, मधु, घी के साथ दे।

२. त्रिवृत चूर्ण को अजमोदा वंशलोचन, विदारीकंद, खांड के साथ पिलाकर घी और मधु डालकर चटावे।

३. त्रिवृत क्वाथ में त्रिवृत कल्प डालकर इसमें खांड मिलाकर सिद्ध अवलेह १ तोला मात्रा में दे।

४. मधु और खांड के साथ त्रिवृत चूर्ण का अवलेह तेजपत्र और मरिच चूर्ण के प्रक्षेप के साथ सिद्ध करें। यह विधिवत् प्रयोग करे।

५. इक्षुरस १ कुडव ले, इसमें द्राक्षा, पोलू, फालसा खांड और मधु आधा कुडव मिलावे। इसमें त्रिवृत मिलाकर लेह बनावे।

६. पिप्पली, सोंठ, यवक्षार, श्यामा त्रिवृत, अरुण त्रिवृत इनके चूर्ण को मधु के साथ चटावे।

७. बिजोरा निंबू, हरड, आंवला, गंभारी फल, बेर तथा अनार इनके रसों को तिल तेल में भून ले। इसमें आमचूर, कैथ, अन्य अम्ल द्रव्य डालकर पकावे। गाढ़ा होनेपर त्रिवृत दालचिनी, तेजपत्र, नागकेशर, छोटी इलायची का प्रक्षेप डालकर सिद्ध कर अवलेह बनावे। यह अच्छा विरेचन है।

८. योग में दालचिनी, तेजपत्र, नागकेशर, एला इनके चूर्ण को त्रिवृत चूर्ण के साथ मधु मिलाकर चटावे।

८. पानकादि के योग—इनकी संख्या ५ हैं। अवलेह में जो विधि कही है उसी प्रकार से १. पानक २.राग पांडव ३. मोदक ४. रस और ५. यूष बना कर त्रिवृत का प्रयोग करें। वस्तुत: भैषज्य कल्पनानुसार त्रिवृत का पानकादि में एक-एक योग समझना चाहिये।

९. तर्पण चूर्ण योग—१. दालचिनी छोटी इलायची के साथ त्रिवृत मिलाकर, दाडिम स्वरस और सत्तू के साथ तर्पण (मंथ) बनाकर विरेचनार्थ पिलावे।

२. नीली, त्रिवृत, खांड के साथ दाडिम और सत्तू मिलाकर तर्पण मिलाकर विरेचन करावे। यह अग्निमांद्ययुक्त तथा सुकुमार आतुरों में अच्छा विरेचन है।

१०. मोदक के योग—इनकी संख्या ५ है। १. खांड, पिप्पली, त्रिफला, श्यामा त्रिवृत तथा त्रिवृत और मधु इनसे विधिवत् मोदक बनाकर प्रयोग करें। अथवा त्रिवृत ३ शाण, त्रिफला, दालचिनी ३ शाण, विडंग पिप्पली और यवाक्षार ३ शाण इनका चूर्ण बनाकर मधु के साथ चटावे या गुड़ के साथ मोदक बनाकर विरेचनार्थ प्रयोग करें। ये मोदक गुल्म, श्वास, कास, प्लीहोदर, हलीमक, अरुचि तथा अन्य कफ वातज विकारो में लाभप्रद है।

३. कल्याण गुड़—विडंग, पिप्पली मूल, त्रिफला, धनिया, चित्रक, मरिच, इंद्रयव,

अजवाईन, पिप्पली गजपिप्पली, पांचों लवण, अजमोदा यें सब एक-एक कर्ष (तोला) प्रमाण में ले, तिल तैल, ८ पल (३२ तोला) तथा त्रिवृत चूर्ण ८ पल (३२ तोला) ले। आंवले का रस ३ प्रस्थ (१९२ तोला) और गुड़ आधा तोला (५० पल–२०० तोला) लेकर मंद आंच पर पकावे और बेर के आकार के या उदुंबर फल के आकार के मोदक बनावे। इनका विरेचन के लिए प्रयोग करें। इनके सेवन से मंदाग्नि, ज्वर, मूर्च्छा, मूत्रकृच्छ्र, अरुचि, अनिद्रा, गात्रशूल, कास, श्वास, भ्रम, क्षय, कुष्ठ, अर्श, कामला, पांडु, गुल्म, प्रमेह, उदर भगंदर, ग्रहणी रोग प्रशमित होते हैं।

४. **अभयादि मोदक**–त्रिकटु, दालचिनी, तेजपत्र, नागरमोथा, एला, विडंग, आंवला, हरड ये सब समभाग, दंती द्विगुण, और त्रिवृत. ८ भाग, खांड ६ भाग सब को एकत्रकर मधु के साथ मिलाकर गुटिका बनावे। यह मूत्रकृच्छ्र ज्वर, वमन कास, श्वास, भ्रम, क्षय, देह संताप, पांडु, अग्निमांद्य में विरेचन के लिए उपयोगी है।

५. हरीतकी, आमलकी, एरंडबीज, मिलाकर २ प्रसृत (१६ तोला) त्रिवृत १ पल (४ तोला), मिलाकर मधु के साथ १० मोदक बनावे। यह मोदक सुकुमारों में विरेचन के लिए प्रशस्त है।

६. त्रिवृत, हेमवती (वचा या सुवर्णक्षीरी), श्यामा त्रिवृत, नीलिनी, गजपिप्पली, पिप्पलीमूल, नागरमोथा, अजमोदा, दुरालभा, प्रत्येक का चूर्ण १ कर्ष (१ तोला) ले, सोंठ १ पल (४ तोला), गुड़ २० पल (८० तोला) मिलाकर विधिवत् उदुंबरफल के आकार के मोदक बनावें। इस मोदक को हींग, सौवर्चल, त्रिकटु, अजवाईन, विडंग, जीरा, वचा, अजगंधा, त्रिफला, चव्य, चित्रक, धनिया, तुंबरु और दाडिम के चूर्ण से लपेट कर विरेचन में प्रयोग करें। यह अर्श, प्लीहा, गुल्म, शूल, तथा त्रिक्, वंक्षण, हृदय, बस्ति के विकारों में लाभप्रद है। कोई यह पाठ अलग पढ़कर हींग, सौवर्चल आदि से अन्य मोदक योग मानते हैं।

११. कांजी योग–ये दो हैं–(१) श्यामा त्रिवृत के क्वाथ में जव को पोटली में बांधकर पकावे। अर्धपक्व जव को पीसकर पानी डालकर मिट्टी के घड़े में रखकर उसका संधान करें (धान्यराशि में रखकर) छः दिन के बाद यह सौवीर-(कांजी) विरेचनार्थ दे।

(२) तुषयुक्त जव चूर्ण को श्यामा त्रिवृत के क्वाथ में डालकर विधिवत् तुषोदक सिद्धकर प्रयोग करें।

१२. ऋत्वनुकूल विरेचन–वर्षादि ऋतु में जिन योगों से त्रिवृत लेना प्रशस्त हैं वे ऋतु अनुकूल योग कहलाते हैं। ये छः योग निम्नांकित हैं।

(१) वर्षाऋतु में विरेचन करना हो तो त्रिवृत, इंद्रयव, पिप्पली, शुंठी इनके चूर्ण को मधु के साथ द्राक्षारस में आलोडित कर (मिलाकर या भावित कर) विरेचन के लिए दे।

(२) शरदऋतु में–त्रिवृत, दुरालभा, मोथा, खांड, गंधबाला, लालचंदन, यष्टीमधु सातला इन्हें इकट्ठा कर द्राक्षासव के साथ पिलावे।

(३) हेमंत ऋतु में–त्रिवृत, चित्रक, पाठा, सफेद जीरा, सरल, वचा स्वर्णक्षीरी, इन्हें पीसकर हेमंत ऋतु में गरमपानी के साथ देवे।

(४) ग्रीष्म ऋतु में–शर्करा और त्रिवृत, सम भाग मिलाकर विरेचनार्थ दे।

(५) शिशिर और वसंत ऋतु तथा सभी ऋतु नीचे के दो योग प्रशस्त हैं। १ त्रिवृत,

जयंती, हपुषा, सातला, कुटकी, स्वर्णक्षीरी इनके चूर्ण को गोमूत्रल की भावना देकर सूखा ले। यह चूर्ण सभी ऋतु में बरते।

(६) २. -त्रिवृत, श्यामा त्रिवृत, दुरालभ, इंद्रजव, गजपिप्पली, नीलिली त्रिफला, नागरमोथा, कुटकी इनका चूर्ण लेकर घी, मांसरस, या गरम जल में आलोडित कर विरेचनार्थ दे।

१३. घृतयोग–घृतक्षीर योग ४ कहे हैं–(१)त्रिवृतकल्क के समान भाग घी, कांजी मिलाकर त्रिवृत कषाय में घी सिद्धकर रोगी को सेवन करावे।

(२) श्यामा तथा त्रिवृत मूल का कल्क, आंवले का रस मिलाकर घी सिद्ध कर प्रयुक्त करें।

(३) श्यामा त्रिवृत के क्वाथ से सिद्ध गाय का घी।

(४) या दूध विरेचन में प्रयुक्त करें।

१४. मद्ययोग–(१)अंतर्नख मुष्टि प्रमाण से ८ मुठीभर त्रिवृत चूर्ण ले। इसमें २ द्रोण (५१२ पल) जल डालकर पकावे। चतुर्थांश (आधा द्रोण=१२८ पल) रह जाये तब उतारकर छान ले। इसमें १ तोला (१०० पल= ४०० तोला) गुड़ डाल दे। एक घड़ा लेकर इसे घी से अंदर से लेप ले, तथा पिप्पली, मदनफल, चित्रक और मधु मिलाकर अंदर से उनका लेप करें। इस घड़े में उपर्युक्त क्वाथ और गुड़ का मिश्रण डालकर एक मास तक संधान करें। फिर निकाल कर छानकर प्रयोग करें।

(२)उपर्युक्त संधान में अरिष्ट के किण्व भाग को लेकर त्रिवृत क्वाथ के साथ मिलाकर इनसे सुरा (मद्य) निर्माण कर विरेचनार्थ दे।

१५. षाडवादि योग–मदनफल कल्प के अनुसार–

१. वेर का षाडव	२. बेर के राग (अचार)
३. पानक	४. बेर का लेह
५. बेर के मद्य	६. मोदक
७. उत्कारिका	८. तर्पण

९. माँस रस और १० बेर के यूष के साथ त्रिवृत देना चाहिये।

१६. तर्पण योग–(१)त्रिवृत, त्रिफला , दंती, सप्तला, त्रिकटु, सैंधव इनको ७ दिन आँवले के रस से भावित कर इसे यूष तर्पण विधि से दे।

(२) इसे ही मांसरस के साथ तर्पण विधि के अनुसार दे।

२. चतुरंगुल (आमलतास) के विरेचन योग

१. आरग्वध मज्जा (आमलतास) को द्राक्षारस के साथ मिलाकर दाह तथा उदावर्त में पिलावे।

२. आरग्वध मज्जा को सुरामंड में मिलाकर विरेचनार्थ दे।

३. कोल (बेर) के सीधु के साथ आमलतास की मज्जा दे।

४.दधिमंड के साथ।

५. आंवले के स्वरस के साथ।

६. शीतकषाय (आंवले का) के साथ।

७. त्रिवृत के साथ क्वाथ के साथ।

८. विभीतक के क्वाथ के साथ लवण और मधु मिलाकर दे।

९. आमलतास की मज्जा का कषाय बनाकर उसमें त्रिवृत चूर्ण का प्रक्षेप कर गुड़ मिलाकर यथा विधि लेह सिद्ध कर विरेचनार्थ दे।

१०. आरग्वध मज्जा से क्षीरपाक विधि से क्षीर सिद्ध करें। इस क्षीर से घृत निकाले, यह घी पुनः आरग्वध मज्जा और आमलक स्वरस में मिलाकर घी सिद्ध करें। इसका प्रयोग करें।

११. उपर्युक्त प्रकार से आरग्वध क्षीर से सिद्ध घृत को दशमूल, कुलथी और यव के कषाय से तथा श्यामा त्रिवृत के कल्क से यथाविधि सिद्ध कर घृत का विरेचनार्थ प्रयोग करें।

१२. दंती क्वाथ में १ अंजली आरग्वध मज्जा डालकर गुड़ का प्रक्षेप डालकर घड़े में रखकर १५ दिन तक संघान कर अरिष्ट निर्माण कर इसका प्रयोग करें।

३. तिल्वक (लोध्र) के विरेचन योग

दही के योग—तिल्वक मूल त्वक् चूर्ण के समान ३ भाग करें। दो भाग चूर्ण में छः गुना जल डालकर २१ बार परिस्रुत करें। तीसरे भाग को तिल्वक क्वाथ से भावना दे। सूखने के बाद दशमूल क्वाथ से भावना दे और सूखावे। इस चूर्ण को १.दही तक्र २. सुरा ३. गोमूत्र ४. आमलकी स्वरस ५. बदर सीधु के साथ सेवन करावे। ये पांच योग हैं।

६.सौवीर के योग मेढा शृंगी, हरीतकी, पिप्पली, चित्रक, इनके क्वाथ में जौ का संधान कर सौवीर बनावे। इस सौवीर के साथ एक अंजली प्रमाण में तिल्वक मूल या कल्क या त्वक का विरेचनार्थ प्रयोग करें। यह एक योग है।

७. तिल्वक कषाय को संधान विधि से १५ दिन रख सुरा तैयार करें। इसका विरेचन में प्रयोग करें।

८. **अरिष्ट योग**—दंती तथा चित्रक को १ आढव (२५६ तोला) प्रमाण में लेकर १ द्रोण जल में पकावे। चतुर्थांश क्वाथ रहने पर १ तोला गुड़ डाले तथा १ अंजली तिल्वक का चूर्ण प्रक्षेप करें। विधिवत् अरिष्ट तैयार कर विरेचनार्थ प्रयोग करें।

९. कांपिल्लक कषाय से तिल्वक चूर्ण को १० बार भावना देवे। इस चूर्ण को कांपिल्लक क्वाथ के साथ विरेचनार्थ देवे।

१०. चतुरंगुल कल्प में उक्त विधान से तिल्वक का लेह तैयार कर विरेचनार्थ प्रयुक्त करें।

११. त्रिफला क्वाथ के साथ तिल्वक चूर्ण, मधु और फाणित मिलाकर लेह बनाकर प्रयुक्त करें।

१२. तिल्वक क्वाथ में घी तथा शर्करा डालकर लेह तैयार कर देवे।

१३. आठ अंतर्नखमुष्टि प्रमाण में तिल्वक और त्रिवृत चूर्ण लेकर १ द्रोण जल में सिद्ध कर चुतुर्थांश क्वाथ बनावे। इसमें १ प्रस्थ घी, बिल्व प्रमाण में तिल्वक कल्क डालकर गोमूत्र और लवण मिलाकर विधिवत् घी तैयार कर प्रयोग करें।

१४. इसी विधि से तिल्वक कल्क, लवण और गोमूत्र के साथ तिल्वक घी बनाकर प्रयुक्त करें।

१५. आमलतास के कल्प की विधि के अनुसार २ घृत तिल्वक के बनाकर विरेचनार्थ प्रयुक्त करें।

४. सुधा (स्नूही) के विरेचन योग

सौवीरादि योग—इनकी संख्या ७ है। बिल्वादि बृहत्पंचमूल या बृहती तथा कंटकारी में से किसी एक क्वाथ में समभाग स्नूहीक्षीर मिलाकर आँच पर पकावे—जब सूख जाये तो बेर के प्रमाण में गुटिका बनावे। इसे निम्नोक्त ७. अनुपानों में से किसी एक के साथ पिलावे—ये ७ योग हैं—

१. सौबीर	२. तुषोदक	३. आमलक स्वरस	४. सुरा
५. दधिमंड	६. मातुलुंग स्वरस	७. बेर के दाने के चूर्ण के साथ।	

८. **पानक योग**—त्रिकटु, त्रिफला, दंतीमूल चित्रक तथा त्रिवृत इन्हें स्नूहीक्षीर से भावना दे और गुड़ के साथ पानक बनाकर (शर्बत) पिलावे।

९. **घृतयोग**—सातला, स्वर्णक्षीर, त्रिवृत, त्रिकटु, इनको ७ दिन तक स्नूहीक्षीर की भावना दे। फिर कोल प्रमाण की मात्रा में घृत में मिलाकर सेवन करावे।

१०. चतुरंगुल कल्प की विधि के अनुसार स्नूहीक्षीर का विधिवत् घृत तैयार करके सेवन करावे।

११. आमलकी स्वरस के योग, दूध, तथा स्नूहीक्षीर से सिद्ध घृत विरेचनार्थ पिलावे।

१२. **मांसरस योग**—सातलादि योगों को स्नूहीक्षीर से भावित कर बनाई हुई कोल प्रमाण मात्रा मांसरस के साथ सेवन करावे।

१३. **शुष्कमांस तथा** १४. शुष्कमत्स्य को स्नूहीक्षीर से भावित कर विरेचनार्थ प्रयोग करें।

१५. **ग्रेय योग**—त्रिवृत, आमलतास, दंती, शंखिनी सातला समभाग में लेकर एक रात्रि तक गोमूत्र में भिगावे। फिर दूसरे दिन सूखा कर चूर्ण करें। इस तरह ७ दिन तक गोमूत्र की भावना देकर, दूसरे सात दिन तक स्नूहीक्षीर की भावना दे। इसे धूप में सूखाकर सूक्ष्म चूर्ण कर ले, यह सुगंधित पुष्पमाला छिड़ककर विरेचनार्थ सुंघावे। इससे मृदुकोष्ठी व्यक्ति को विरेचन होता है।

१६. **लेहयोग**—श्याम त्रिवृत का क्वाथ, स्नूहीक्षीर तथा घृत और फाणित के योग से विधिवत् लेह तैयार कर विरेचनार्थ देवे।

१७. स्नूहीक्षीर को यूष के साथ प्रयुक्त करें।

१८. मांसरस के साथ रेचनार्थ प्रयुक्त करें।

१९. सुरा के साथ मिलाकर विरेचनार्थ प्रयोग करें।

२०. स्नूहीक्षीर को घी के साथ प्रयुक्त करें।

५. सप्तला शंखिनी के विरेचन योग

क्वाथयोग—क्वाथ योगों की संख्या १६ है। सप्तला और शंखिनी का १. अक्ष कल्क लेकर प्रसन्ना और लवण मिलाकर-१. प्रियास २. पीलु ३. कर्कधु ४. कोल ५. आम्रातक ६. दाडिम ७. द्राक्षा ८. पनस ९. खजूर १०. बदराम्ल ११. फालसा इनके क्वाथ के साथ

विरेचनार्थ देवे, तथा १२. मैरेय १३. दधिमंड १४. सौवीरक १५. तुषोदक १६. सीधु के साथ इसी का विरेचन के लिए प्रयोग करें। क्वाथ नाम से कहे गये इन १६ योगों में वास्तव में ११ क्वाथ योग हैं और ५ अन्य हैं।

तैलयोग—तैलयोग ६ हैं।

१. विदारीगंधादि गण के क्वाथ के साथ दूध सप्तला शंखिनी का कल्क १ भाग, त्रिवृत (अरुण) और श्यामा त्रिवृत का कल्क १/२ भाग डाल कर तैलपाक करें। इसका दधिमंड के साथ विरेचनार्थ सेवन करावे।

२. शंखिनी का चूर्ण २ भाग, तिल २ भाग लेकर हरीतकी क्वाथ के साथ तैल सिद्धकर विरेच्य व्यक्ती में उपयोग करें।

३. अलसी

४. एरंड

५. सर्षप

६. करंज तैल के साथ उपर्युक्त विधि से तैल सिद्ध कर प्रयोग करें।

घृतयोग—घृत योग ८ हैं।

१. सप्तला शंखिनी इनसे सिद्ध दूध से घी निकाले। इसमें सप्तला शंखिनी का कल्क १ भाग और त्रिवृत का कल्क १/२ भाग (कल्क घी से १/४ प्रमाण में ले) मिलाकर यथाविधि घृत सिद्ध करें। इसे दूध के साथ विरेचन के लिए पिलावे। इसी प्रकार से

२. दन्तीद्रवंती के योग से

३. अजशृंगी-अजगंधा के साथ,

४. क्षीरिणी-नीलिका के साथ

५. करंज और महाकरंज योग से

६. मसूर-विदला (कृष्ण सारिवा-या त्रिवृत)

७. प्रत्यक् पर्णी-(मूषाकर्णी) के साथ और

८. त्रिवृत कल्क के साथ यथाविधि घृत सिद्ध कर प्रयोग करें।

मद्य योग—मद्ययोग ५ हैं। दंती द्रवंती में वक्ष्यमाण विधि से सौवीर और तुषोदक के साथ सप्तला और शंखिनी का संधान कर मद्य के ४ योग तैयार करें। फिर अजगंधा और अजशृंगी के कषाय के साथ सप्तला और शंखिनी का मद्य तैयार कर विरेचन में प्रयोग करें।

लेह योग—लेह योग ३ हैं। तिल्वक लेह में जो विधि कही है उसी प्रकार से सप्तला शंखिनी के लेह बनावे।

सुरा योग—कांपिल्लक चूर्ण और सप्तला शंखिनी को सुरा के साथ प्रयुक्त करें।

६. दंती द्रवन्ती के विरेचन योग

दधि आदि के योग—ये ३ है।

(१) दंती द्रवंती कल्क १ तोला प्रमाण में दधि के साथ सेवन करें।

(२) इसी तरह तक्र के साथ और

(३) सुरामंड के साथ सेवन करें।

प्रियालादि योग—ये ५ योग हैं।

(१) प्रियाल (२) बदर (३) कोल

(४) पीलु के साथ तथा (५) सीधु के साथ दंती द्रवंती को विरेचनार्थ दे।

मांसरस योग—ये ३ योग हैं। दंती द्रवंती के चूर्ण को (१) गो मांस (२) मृग तथा (३) अजामांस के साथ विरेचनार्थ पांडु, कृमि और भंगदर रोग में दे।

स्नेह योग—(१) दती द्रवंती का कल्क, दशमूल क्वाथ इनको मिलाकर विधिवत् घृत तैयार करें।

(२) इसी तरह इनका विधिवत् तेल बनाकर प्रयोग करें।

(३) चतु:स्नेह-घी, तेल, वसा और मज्जा के साथ उपर्युक्त का चतु:स्नेह सिद्ध कर प्रयोग करें।

लेह योग—लेहयोग छ: हैं।

(१) दंती तथा अजशृंगी के स्वरस में गुड़ डालकर मधु और घी मिलाकर यथाविधि लेह सिद्ध कर, दाह, संताप, प्रमेह में प्रयोग करें।

(२) अजगंधा के साथ दंती का विधिवत् लेह तैयार कर वातरोग तृष्णा, ज्वर तथा पित्तरोग में विरेचन करावे।

(३) दंती द्रवंती के मूल को आंवले के रस के साथ दंती द्रवंती क्वाथ और फणित में मिलाकर विधिवत् लेह करें

(४) उपर्युक्त प्रकार से दशमूल के साथ

(५) बहेड़े के रस के साथ और

(६) हरड के रस के साथ लेह तैयार कर विरेचन के लिए देवे।

चूर्ण योग—(१) बेल के प्रमाण में दंती द्रवंती को लेकर दंती द्रवंती के रस से ही उसे भावना दे। इस चूर्ण को अम्ल कांजी आदि के साथ विरेचनार्थ प्रयुक्त करें।

इक्षुरस योग—इक्षुकांड को चीरकर उसपर दंती द्रवंती कल्कका लेप करें। फिर कुश से लपेट कर मिट्टी में लपेटकर उसको आंचपर रख कर रस निकाले इसको विरेचन में प्रयुक्त करें।

मुद्ग और मांसरस योग—(१) दंती तथा द्रवंती के मूल को मूंग के रस में पकाकर विरेचनार्थ उपयोग करें।

(२) लावा के मांसरस में द्रवंती मूल को सिद्धकर विरेचनार्थ दे।

(३) विष्कर वर्ग के मांस के साथ पकाकर विरेचन करावे।

यवागु योग—१. दंती द्रवंती के कषाय से सिद्ध यवागु का विरेचनार्थ प्रयोग करें।

२. जांगल मांसरस के साथ दंती द्रवंती की सिद्ध यवागु प्रयुक्त करें।

३. माष के यूष में द्रवंती सिद्ध कर विरेचन के लिए दे।

उत्कारिका—उत्कारिका के द्रव्य से दंती द्रवंती की उत्कारिका बनाकर प्रयुक्त करें। अर्थात् क्वाथ ३ भाग, मिश्री २ भाग, गोमूत्र चूर्ण १ भाग से।

मद्य योग—दंती द्रवंती का कषाय तैयार कर विधिवत् मद्य तैयार करके विरेचन के लिए प्रयुक्त करें।

मोदक योग—उत्कारिका के द्रव्यों से (मिश्री, गोधूम और दंती द्रवंती का क्वाथ)—मोदक बनाकर प्रयोग करें।

तैल योग—दंती द्रवंती के कषाय तथा कल्क से यथाविधि तैल तैयार कर प्रयोग करें।

चूर्ण योग—दंती द्रवंती, मरिच, अजवाईन, उपकुंजिका, सोंठ, स्वर्णक्षीरी, तथा चित्रक इनके चूर्ण को गोमूत्र की ७ दिन तक भावना दे। इस चूर्ण का हस्ततल में समावे इतनी मात्रा में घी के साथ प्रयोग करें।

मोदकयोग—चित्रक, दंती-द्रवती के १ पल, हरीतकी २० पल, त्रिवृत और पिप्पली २कर्ष, गुड़ ८ पल, इनके योग से मोदक तैयार करे। इसे 'अगस्त मोदक' कहते हैं। यह सब प्रकार के विरेचन में दे सकते हैं। इसके प्रयोग में परिहार की आवश्यकता नहीं होती।

आसव के योग—आसव के ५ योग हैं।

१. दंती २ पल, द्राक्षा आधा प्रस्थ इनका क्वाथ बनाकर विधिवत् संधान करे। पित्तज कास और पांडु में विरेचन के लिए इसका प्रयोग करें।

२. दंती के कल्क को समभाग गुड़ मिलाकर कामला में विरेचन के लिए दे।

३. श्यामा त्रिवृत और दंती के क्वाथ में गुड़ मिलाकर पिप्पली, मदनफल और चित्रक से लिये हुए घड़े में डालकर संधान करें। वातकफ, के रोग, प्लीहा, पांडु और उदररोग में इसका प्रयोग लाभप्रद होता है।

४. दंती द्रवंती का क्वाथ और अजगंधा के क्वाथ से संधान कर आसव बनाकर यथाविधि प्रयुक्त करें।

५. इसी कषाय में अजशृंगी और गुड़ मिलाकर संधान करे। इसे गौडारिष्ट कहते हैं। यह सुख विरेचक है।

अन्य योग—१. दंती द्रवंती के चूर्ण, कषाय, तथा उड़द की दाल एवं किण्व के योग से मदिरा तैयार कर विरेचनार्थ दे।

२. अजगंधा कषाय से दंती द्रवंती का सौवीरक बनाकर प्रयोग करें।

३. तुषोदक तैयार कर प्रयोग करें।

४. तिल्वक कल्प में कहे हुए विधि से दंती-द्रवंती को सुरा तैयार करें और विरेचन के लिए प्रयोग करे।

घृत योग—१. २.दंती तथा द्रवंती के मूलों के कल्क और क्वाथ से घृत सिद्ध कर प्रयोग करें। ३. ४. गुड़ और लवण के साथ दंती द्रवंती का कल्क मिलाकर घृत से सिद्धकर भक्ष्य पदार्थों में विरेचन के लिए दे। ५. गुड़ और दंती समभाग लेकर घी के साथ विरेचन के लिए दे।

कुल विरेचन योग—इस तरह विरेचन के कुल २४५ योग होते हैं।

श्यामा त्रिवृत के योग—अम्लादि के ३, सैंधवादि के १२, गोमूत्र के १८, यष्टीमधु २, जीवकादि १४, दूध के ७, लेह के ८, खांड के ४, पानक आदि के ५, ऋत्वनुसार ६, मोदक ५, घी दूध के ४, तर्पण चूर्ण के २, मद्य २, कांजी २, तथा षाडवादि १० योग मिलाकर कुल ११० योग होते हैं।

चतुरंगुल के—कुल १२ योग हैं। द्राक्षारस का १ योग, सुरा, सीध दही, आंवला रस, सौवीर, त्रिवृत क्वाथ, बिल्क क्वाथ प्रत्येक में एक-एक लेह, अरिष्ट १, घृत के २ योग हैं।

तिल्वक कल्प—इसके कुल १६ योग हैं। दही आदि के ५, सुरा १, सौवीर १, अरिष्ट १, कांपिल्लक १, लेह ३, घृत के ४ योग हैं।

सुधा के योग—इसके कुल २० योग हैं। सौवीरादि के ७, पानक का १, ग्रेय योग १, लेह १, घृत १, यूषादि, ३, मांसरस १, शुष्कमत्स्य तथा मांस के २, सुरा का १, तथा पुनः घृत का १ योग कहा गया है।

सप्तला शंखिनी—इसके कुल ३९ योग हैं। क्वाथ के १६ योग, तैल के ६ योग, घृत के ८ योग, मद्य के ५ योग, लेह के ३ योग, तथा कांपिल्ल १ हैं।

दंती द्रवंती—इसके कुल ४८ योग हैं। दही आदि के ३, प्रियालादि ५, मांसरस के ३, स्नेह-३, चूर्ण १, इक्षुरस का १ योग, मूंग और मांसरस के ३, यवागु ३, उत्कारिका १, मोदक १,मद्य १, तैल १, पुनः चूर्ण १, पुनः मोदक १, आसव ५योग, सुरा १, सौवीर १, तुषोदक १योग, कांपिल्ल और घृत के ५, योगों का समावेश हैं।

रोग अवस्थानुसार चरकोक्त कतिपय विरेचन संदर्भ

चरक ने चिकित्सा स्थान में भिन्न-भिन्न रोगों में जिन-जिन अवस्थाओं में विरेचन का प्रयोग किया हैं, उनकी संदर्भ के साथ नीचे तालिका में दिया जाता है।

तालिका

क्र.	अधिकार	अवस्था विशेष	संदर्भ
१.	ज्वर	लंघन दीपन, पाचन, घृतपानादि चिकित्सा के बद भी जिसका ज्वर प्रशम न हो उसे विरेचन दे।	च.चि. ३।१६८
२.	ज्वर	बहुदोष ने संशोधनार्थ आरग्वधद्राक्षा त्रिवृत से शोधन।	च.चि. ३।२३० से २३३
३.	ज्वर	पित्तप्रधान ज्वर में विरेचन।	चि. ३।२८४
४.	ज्वर	विषम ज्वर में विरेचन घृत तथा विरेचन दूध।	च.चि. ३।२९४
५.	ज्वर	मांस स्थित ज्वर में मेदोगत ज्वर विरेचन।	चि. ३।३१६
६.	रक्तपित्त	उर्ध्वग, बलवान, बहुदोषी आतुर में त्रिवृत, आरग्वध हरीतकी द्वारा विरेचन।	चि. ४।५४ से ५७
७.	गुल्म	पित्तप्रधान, ज्वरप्रधान में सस्नेह विरेचन।	चि. ५।३१
८.	गुल्म	स्निग्ध, उष्ण, हेतु से उत्पन्न पैत्तिक गुल्म में स्रंसन।	चि. ५।३३,३४
९.	गुल्म	दंती हरीतकी का अवलेह विरेचनार्थ	चि. ५।१५२, से १६०

क्र.	अधिकार	अवस्था विशेष	संदर्भ
१०.	गुल्म	रक्तज गुल्म में स्नेह विरेचन।	चि. ५।१७२
११.	प्रमेह	सामान्य चिकित्सा में दोषबल के अधिक होने पर विरेक।	चि. ६।१६
१२.	प्रमेह	पित्तज प्रमेह में विरेचन।	चि. ६।२५
१३.	कुष्ठ	पित्तप्रधान कुष्ठ की सामान्य चिकित्सा-विरेचन।	चि. ७।३९, ४०
१४.	कुष्ठ	त्रिवृत, दंती त्रिफला तुषोदक आरग्वध की प्रशस्ति।	चि. ७।४४ से ४६
१५.	राजयक्ष्मा	दोषाधिकों में अधिक कर्षण न हो ऐसा विरेचन।	चि. ८।८७
१६.	उन्माद	कफपित्त उन्माद में प्रथम वमन कराकर विरेचन करावे।	चि. ९।३३
१७.	उन्माद	पुराने घृत का विरेचन तथा उन्माद में प्रयोग।	चि. ९।६८
१८.	अपस्मार	सामान्य चिकितसा-विरेचन।	चि. १०।१४
१९.	अपस्मार	पित्तप्रधान अपस्मार में विरेचन।	चि. १०।१५
२०.	अपस्मार	अतत्वाभि निवेश में शोधन।	चि. १०।६१
२१.	श्वयथु	सामान्य चिकित्सा में शोधन के लिए दंती, त्रिवृत से सिद्ध क्षीर की प्रशस्ति एरंड, सिद्ध क्षीर की प्रशस्ति।	चि. १२।२४
२२.	श्वयथु	कंसहरीतकी योग।	चि. १२।५० से ५२
२३.	उदर	वातोदर में स्नेहन स्वेदन कराकर विरेचन करें।	चि. १३।५९
२४.	उदर	सभी उदर में विरेचन।	चि. १३।६१
२५.	उदर	पित्तोदर में बलवान रोगी में विरेचन।	चि. १३।६८, ६९
२६.	उदर	बद्धोदर में तीक्ष्ण विरेचन।	चि. १३।९०
२७.	उदर	नारायण चूर्ण विरेचनार्थ।	चि. १३।१३३
२८.	उदर	स्नूहीक्षीर, स्नूहीघृत का उपयोग।	चि. १३।१३८ से १४०
२९.	उदर	कफपित्त और वात का आवरण होने पर एरंड तैल विरेचन।	चि. १३।१७२
३०.	ग्रहणी	सामान्य चिकित्सा क्रम में तीक्ष्ण विरेचन।	चि. १५।१७९
३१.	पांडु	सामान्य चिकित्सा क्रम में तीक्ष्ण विरेचन।	चि. १६।४०

क्र.	अधिकार	अवस्था विशेष	संदर्भ
३२.	पांडु	विरेचनार्थ दंतीफल रस, द्राक्षा त्रिवृत, हरीतिकी आरग्वध का वर्णन	चि. १६।५५ से ५८
३३.	पांडु	काला में सामान्य चिकित्सा सूत्र।	चि. १६।४०
३४.	हिक्काप्रश्वास	कफाधिक्य में बलवान को वमन के बाद विरेचन (श्वास)।	चि. १७।८९
३५.	हिक्काप्रश्वास	वमन श्वास में विरेचन प्रशस्ति।	चि. १७।१२१
३६.	कास	सकफ कास में स्नेह विरेचन।	चि. १८।३४
३७.	कास	पित्तज, तनु कफ युक्त कास में विरेचनार्थ त्रिवृत, घनकफ कास में तिक्त विरेचन।	चि. १८।८५
३८.	अतिसार	सामान्य चिकित्सा में मलप्रवर्तन के लिए हरीतिकी।	चि. १९।२१
३९.	अतिसार	पित्तज अतिसार में दूध से विरेचन।	चि. १९।६२
४०.	छर्दि	सामान्य चिकित्सा में हरीतकी से विरेचन।	चि. २०।२१
४१.	छर्दि	पित्तज छर्दि में द्राक्षा, विदारी, इक्षुरस, त्रिवृत का विरेचन।	चि. २०।२६
४२.	विसर्प	पित्तज विसर्प में विरेचन।	चि. २१।४५
४३.	विसर्प	महादोष में विरेचन।	चि. २१।४७
४४.	विसर्प	विसर्प में विरेचन प्रशस्ति।	चि. २१।४९
४५.	विसर्प	विरेचन के लिए त्रिवृत चूर्ण, द्राक्षा, त्रायमाणा, त्रिफला, त्रिवृत घृत आमलकी रस, धृत का निर्देश	चि. २१।६३ से ६७
४६.	विष	सामान्य चिकित्सा में विरेचन।	चि. २३।३५
४७.	विष	विष के द्वितीय वेग में विरेचन।	चि. २३।४५
४८.	विष	हृदय विदाह में विरेचन	चि. २३।१००
४९.	विष	कीट विष में दंती, त्रिवृत द्वारा विरेचन।	चि. २३।२०३
५०.	मदात्यय	आमाशय गत दोषों में प्रथम वमन कराने के बाद द्राक्षारस पिलाकर अनुलोमन करने का निर्देश।	चि. २४।१४६
५१.	त्रिमर्मीय	उदावर्त में विरेचनार्थ त्रिवृत, दंती, फलवर्ति का निर्देश।	चि. २६।१८
५२.	त्रिमर्मीय	उदावर्त में त्रिवृत और स्नूही क्षीर द्वारा विरेचन।	चि. २६।१८

क्र.	अधिकार	अवस्था विशेष	संदर्भ
५३.	त्रिमर्मीय	उदावर्त में विरेचन के लिए मूलिनी तथा फलिनी का प्रयोग।	चि. २६।२४, २५
५४.	त्रिमर्मीय	आनाह में एरंड तैल से विरेचन।	चि. २६।२९
५५.	त्रिमर्मीय	मूत्रकृच्छ्र में दुग्धविरेचन।	चि. २६।४९
५६.	त्रिमर्मीय	मूत्रकृच्छ्र में पित्त की प्रधानता हो तो विरेचन।	चि. २६।५८
५७.	त्रिमर्मीय	पित्तज हृद्रोग में विरेचन द्राक्षा, फालसा, कटुकादि उपयोग।	चि. २६।९०
५८.	त्रिमर्मीय	हृद्रोग में भोजनोत्तर जीर्ण काल में शूल बढ़ता हो (कफज शूल) तो स्नेह विरेचन।	चि. २६।१०१
५९.	त्रिमर्मीय	हृद्रोग में भोजन के जीर्ण हो जाने पर शूल बढ़ता हो तो फलिनी द्रव्यों का विरेचन।	चि. २६।१०२
६०.	त्रिमर्मीय	भोजन के जीर्ण (पच जाने पर) जीर्यति पचते रहने पर तुरन्त और बाद तीनों काल में शूल होने पर मूलिनी द्रव्यों से विरेचन दे।	चि. २६।१०३
६१.	वातव्याधि	वातव्याधि सामान्य चिकित्सा के उपक्रम में पुनः पुनः स्नेहन स्वेदन और विरेचन की प्रशस्ति।	चि. २८।८३
६२.	वातव्याधि	रक्तगत वात में विरेचन।	चि. २८।९२
६३.	वातव्याधि	विबद्ध मार्ग में शुक्रगत वात में विरेचन।	चि. २८।९४
६४.	वातव्याधि	पक्षाघात-सामान्य चिकित्सा सूत्र में-स्नेहन, स्वेदन कराकर विरेचन का निर्देश।	
६५.	वातव्याधि	कफावृत वात में विरेचन।	चि. २८।१८९
६६.	वातव्याधि	शकृदावृत वात में एरंड तैल।	चि. २८।१९८
६७.	वातव्याधि	व्यानावृत प्राण में स्नेह विरेचन।	चि. २८।२०५
६८.	वातव्याधि	अपान वायु प्रकोप में अनुलोमन	चि. २८।२०९

क्र.	अधिकार	अवस्था विशेष	संदर्भ
६९.	वातशोणित	सामान्य चिकित्सा सूत्र में स्नेहनपूर्वक विरेचन-विरेचनार्थ त्रिफला, क्वाथ द्राक्षारस, काश्मरी, त्रिफला क्वाथ, तथा कल्पस्थानोक्त अन्य योगों की प्रशस्ति।	चि. २९।६२ से ६८
७०.	वातशोणित	मार्गावरोध में मेदोवृद्धि में कफवृद्धि में गोमूत्र, अरिष्ट के साथ विरेचन।	चि. २९-१५७
७१.	योनिव्यापद	सामान्य चिकित्सा में विरेचन।	चि. ३२।४५
७२.	योनिव्यापद	क्लैव्य में स्नेह विरेचन।	चि. ३०।१९६
७३.	योनिव्यापद	बीजोपघातज क्लैव्य में स्नेहपान और विरेचन।	चि. ३०।२००
७४.	योनिव्यापद	स्तन्य दोषों में सामान्य चिकित्सा उपक्रम में विरेचन त्रिवृत, त्रिफला हरीतकी से।	चि. ३०।३४५

विरेचन का कार्मुकत्व

विरेचन यह पित्त और कफ रोगों को दूर करने वाली चिकित्सा है। यह वात रोगों में भी प्रशस्त चिकित्सा है। रक्त दुष्टिजन्य विकारों में विरेचन प्रधान उपक्रम है। मांसगत विकार, मेदोगत विकार और संधि, मज्जा तथाशुक्रगत विकारों में भी विरेचन प्रधान औषधि हैं। योनिदोष, स्वप्नदोष, तथा मनोविकारों में विरेचन उपक्रम कहा गया है।

विरेचन के गुण और कर्म[१४]—संशोधन की प्रशस्ति में कहा गया है कि यह,

१. मलापह—मलों को शरीर में से निकाल देता है,
२. रोगहर—रोग को दूर करता है,
३. बलकर—शरीर के बल को बढ़ाता है,
४. वर्णप्रसादन—शरीर का वर्ण निखारता है।
५. आयुष्यवर्धन—आयुष्य बढ़ाकर चिरकाल तक स्वस्थ रखता है इन कर्मों को करता है। सुश्रुत ने विरेचन के निम्नलिखित गुणकर्म का वर्णन किये हैं।

१. बुद्धि को निर्मल करता है। २. विरेचन इंद्रिय बल को बढ़ाता है।
३. धातुओं को दृढ़ करता है। ४. अग्नि को प्रदीप्त करता है।
५. बुढ़ापा को देर से लाता है। ६. पित्तज रोगों को नष्ट करता है।

सुश्रुत ने दृष्टांत दिया है कि जैसे जल को निकाल देने पर जल के आश्रय से रहने वाले कमलादि वनस्पतियां, मछलियां आदि जलचर प्राणियों का नाश होता है वैसे ही पित्त को दूर करने से पित्तज रोग नष्ट होते हैं।

काश्यप ने विरेचन से १. इंद्रिय शुद्धि २. इंद्रियों की अपने कार्यों में क्षमता होना ३. धातुओं की शुद्धि और ४. शुक्र की अग्नि की क्रियाशीतला होना ये खास कार्य बताए हैं।

चरक ने अग्निगृह का दृष्टांत देकर कहा है कि अग्नि को शांत करने से जैसे अग्निग्रह शांत होता है, वैसे ही आमाशय में प्रविष्ट विरेचन द्वारा पित्तमूल का शोधन होने से सभी पित्तों का शोधन होकर पित्त व्याधियां शांत होती है। इस तरह देखने पर स्पष्ट होता है कि विरेचन का कार्य सार्वदैहिक है। वह केवल आमाशय पक्वाशय के ही दोषों को नहीं निकालता अपितु संपूर्ण शरीर के दोषों को निकालता है। शरीर के सभी स्रोतसों के रोग और मन के योगों में भी विरेचन प्रयुक्त किया गया है। इसका यह सार्वदैहिक कार्य कैसे संपन्न होता है इसका विचार करेंगे। विरेचन का यह कार्य समझने के लिए निम्नलिखित विषयों को अच्छी तरह समझना चाहिये।

१. विरेचन औषधि का कार्मुकत्व।

२. विसृष्ट द्रव्यों का शारीर विचार।

१. विरेचन औषधि का कार्मुकत्व

वमन और विरेचन औषधि की कार्य करने की पद्धति समान है। उष्ण, तीक्ष्ण, सूक्ष्ण, व्यवायि और विकाशी गुणों से युक्त औषधियां अपने वीर्य द्वारा हृदय में जाकर, धमनियों में पहुंचकर, वहां से स्थूल और अणु स्रोतों में जाती हैं, और उष्ण गुण से विष्यंदन, तीक्ष्ण गुण से च्छेदन करती हुई दोष समूहों का प्रच्यावित कर कोष्ठ में लाती हैं, जहां से पृथ्वी और जल महाभूत की भूयिष्ठता से और अधोभाग हर प्रभाव के कारण वे नीचे की ओर गुदमार्ग से दोषों को निकालती हैं। सुश्रुत ने इनमें 'सर' गुण और बताया है जो अनुलोमन करने वाला होता है। यहां भी वमन में उक्त प्रकार से विरेचक द्रव्यों के द्वारा कोष्ठ में उत्तेजना, धमनियों में उत्तेजना और स्रोतम स्तर पर द्रव्य का प्रभाव ये त्रिविध कार्य अपेक्षित हैं। उष्ण, तीक्ष्णादि गुण वे तत्व हैं जो औषधि के कार्मुक तत्व (Active Principle) हैं उनके द्वारा हृदय केंद्र में उत्तेजना होना ये कार्य होते हैं। तथापि इस उत्तेजना के बाद भी वमन औषधि से वमन होना या विरेचन औषधि से विरेचन होना यह उनका प्रभाव है। पृथ्वी और जल महाभूत के प्राधान्य से उनमें गुरुत्व और अधोगामी प्रवृत्ति होती है ऐसा कहा जा सकता है, फिर भी कुछ विशेष द्रव्यों में होना और अन्यों में नहीं होना यह देखकर उनका प्रभाव स्वीकार करना पड़ता है। रुक्ष, वीर्य, विपाकादि समान होते हुए भी किसी द्रव्य में कोई विशेष प्रकार का जो कार्य होता है । वह प्रभाव के द्वारा होता है। दंती और चित्रक दोनों का रस और विपाक कटु हैं, दोनों उष्णवीर्य हैं तथापि दंती प्रभाव से विरेचन करती है, जो चित्रक नहीं कर सकता। इस तरह प्रभाव के द्वारा अमुक एक आशय में जाकर कार्य करने की क्षमता द्रव्य में आती है। उसे उस द्रव्य की खास नियत ऐच्छिकता (Selective priscriminity) समझा जा सकता है। गोक्षुर, पुनर्नवादि का मूत्र वह स्रोत में जाना, ब्राह्मी, शंखपुष्पी आदि का मस्तिष्क में जाना, रससिंदूर पोट्टली आदि द्रव्यों का फुप्फुस हृदय में जाना, यह उनकी तत्तद् स्थान के प्रति विशिष्टता है। वैसे ही विरेचन द्रव्यों के वीर्य भी हृदयादि द्वारा रसरक्त में प्रविष्ट होने पर स्रोतों से पुनः आंत्र में ही आने की क्षमता रखते हैं ऐसा कहा जा सकता है।[९५]

चरक कहते है कि द्रव्य केवल अपने गुणों के प्रभाव से ही काम नहीं करते। अपितु वे अपने द्रव्यत्व प्रभाव से, गुणत्व प्रभाव से तथा द्रव्यत्व और गुणत्व के प्रभाव से अमुक आशय में अमुक-अमुक प्रकार से (रस, गुण वीर्य, प्रभावादि) कार्मुक होते हैं।[९६] यहाँ यह स्पष्ट है कि द्रव्य कहीं अपने द्रव्यत्व से (द्रव्य को रहने का जो अवकाश चाहिये उसकी

व्यापकतादि से) तो कहीं उनमें रहने वाले स्निग्धादि गुणों से काम करते हैं। कहीं दोनों से काम होता है। यही सिद्धांत विरेचन द्रव्यों में लागू होता है। उदाहरण —यव को पुरीष निर्माण करने वाला द्रव्य कहा है। अधिक मात्रा में यव अपने प्रमाण से ही विरेचन करने वाला होगा। यह बात आगे 'इसबगोल' के विरेचक तत्व में स्पष्ट होगी। दंती आदि में चक्रपाणि द्रव्य प्रभाव कहते हैं, वह केवल अर्चित्य वीर्य बताने के लिए। वस्तुत: दंती का उष्ण तीक्ष्ण प्रभाव से (आंत्र के हृदय की) उत्तेजना समझना चाहिये और दंती आदि का कार्य कोष्ठ पर ही होता है यह उसका द्रव्य प्रभाव समझना चाहिये।

चरक ने विरेचन के तीन प्रकार के कर्म बताये हैं।

१. मृदु में विरेचन २. सुख विरेचन ३. तीक्ष्ण विरेचन।

मृदु विरेचन वह है जो अल्प प्रमाण में मल प्रवृत्ति करता है। इसका उदाहरण आरग्वध है। सुख विरेचन वह है—जो विरेचन सुखपूर्वक बिना कष्ट से लाता है और मृदु से अधिक कार्यकर होता है। इनका उदाहरण त्रिवृत है और तीक्ष्ण विरेचन वह है जो अत्यधिक विरेचन वेगों को करता है। इसके उदाहरण स्नूहीक्षीर, दंती ये है। इसके अतिरिक्त चरक ने भेदनीय, अनुलोमनीय और स्रंसन विरेचनोपग ऐसे अन्य शब्द भी प्रयुक्त किये हैं। भेदनीय में— अर्क, एरंड, शंखिनी और कटुका (च. सू. ४) तथा अनुलोमन में हिंगु, अम्लवेतस इत्यादि (च. सू. २५) का तथा स्रंसन में यावशूक (च. सू. २५) और विरेचनोपग में द्राक्षा, गंभारी, आमलकी, बहेडा, हरीतिकी, पीलु इत्यादि का (च. सू. ४) समावेश किया है। आगे शार्ङ्गधारादि ने अनुलोमन, स्रंसन, भेदन और विरेचन ऐसे चार प्रकार के विरेचन मानकर मलपाक के आधार पर इन सब को अलग-अलग स्पष्ट किया है यह हम देख चुके हैं। इनकी कार्यपद्धति का विशेष इस प्रकार है।

तालिका

क्र.	अनुलोमन	स्रंसन	भेदन	विरेचन
१.	मलों का पाक करता है।	पाक नहीं करता।	पाक नहीं करता।	मलों का पाक नहीं करता।
२.	मल को तोड़ता है।	मल को महास्रोत से विश्लिष्ट करता है।	तोड़ता है, या वैसे ही घन स्वरुप में निकाल देता है।	मल को तोड़फोड़ कर द्रवित करता है।
३.	मल को नीचे ले जाता है।	मल को नीचे ले जाता है।	नीचे ले जाता है।	मल को नीचे ले जाता है।
४.	सुखपूर्वक वात का अनुलोमन करते हुए टट्टी लाता है।	कभी-कभी उदर आवेष्टन करता है। (मरोड़)	विरेचन करते समय मरोड़ लाता है।	विरेचन में कभी मरोड़ करता है, कभी नहीं करता।

आधुनिक विज्ञान में—विरेचन की कार्मुकता का ज्ञान कराने के लिए अनेक प्रयोग किये गए हैं। आहार द्रव्य के साथ, अघुलनशील रंजक तत्व को मिलाकर महास्रोत में उसके प्रवेश से निर्गम तक का काल और आवस्थिक क्रियाएं नोंद की जा सकती है। इस तरह

विरेचन द्रव्यों के भी भिन्न-भिन्न प्रयोग किये गये हैं। बिल्ली के आंत्र में दो नलिकाएं ऐसी जोड़ दी गई—जिसमें एक में से पानी डाला जा सके, और वह आंत्र में पहुंच कर दूसरी नलिका से निकाला जा सके। इस प्रयोग में आंत्र का राक्तप्रवाह ठीक ढंग से चालू कर सके ऐसी व्यवस्था की गई। फिर स्वर्णपत्री-सनाय (Senna) के कार्मुक तत्वों को प्रविष्ट कर आंत्र की गतियों का अध्ययन किया गया है। सनाय के कार्मुकतत्व सिरोवेध से प्रविष्ट (Intra Venously) करने पर या, आंत्र में नलिका से प्रत्यक्ष डाल देने पर देखा गया कि वह आंत्र के संकोच विकास की गतियों को (Peristaltic mevement) बढ़ा देता है। डॉ. स्ट्रौब (Straub) ने प्रयोग से सिद्ध किया है कि सनाय पत्ती का पहले लघु आंत्र में शोषण हो जाता है। और वह अपने कार्मुकत्व (Active Principal वीर्य) में परिवर्तित हो जाती है और ये तत्व रसरक्त विक्षेपण के साथ वृहदंत्र में पहुंच जाते है। और वहां उसकी गतियां बढ़ाकर विरेचन करते है। सनाय में—ग्लायकोसाईड (शर्करा वर्ग) तत्व होते है जो शोषण के बाद इमोडिन (Emodin) में परिवर्तित होते हैं—यह इमोडिन विरेचक तत्व है। इस परिवर्तन क्रिया में समय लगने के कारण यह देर से विरेचन जाता है। इमोडिन के स्वरूप में इनका उपयोग लाभप्रद नहीं होता क्योंकि यह आशुकारी और घातक होता है।

कुछ विरेचन द्रव्य शरीर के अपराधु-क्लेद इनके ऊपर कार्य करके विरेचन कराते हैं। शरीर में बाहर से जाने वाले द्रव्य शरीर के द्रवद्रव्य के साथ मिलने की क्षमता कितने प्रमाण में रखते हैं, उस पर शरीर का अपधातु संतुलन टिका रहता है। इसमें शरीर के अपधातु की तुलना में—उनके समक्ष अणु परमाणु संहनन वाला द्रव्य हो तो उसे आयसोटोनिक (Isonic) कहा जाता है। जब किसी द्रव्य के अणुपरमाणुओं की क्षमता शरीर के अपधातु से अधिक होती है तो उसे हायपर टॉनिक (Hypeytonic) कहा जाता है, और जिन द्रव्यों के अणुपरमाणओं की कार्यक्षमता अपधातु की अपेक्षा कम होती है उसे हायपोटोनिक कहा जाता है। इन द्रव्यों द्वारा शरीर में ओस्मोटिक प्रेशर (Osmotic Pressure) और हायड्रोस्टेटिक प्रेशर (Hydroxtratic prassure) निर्माण होता है। जब कभी भी ओस्मोटिक प्रेशर बढ़ता है तो वह बाहर से अपने स्थान में जलीय तत्वों को खींच लेता है और हायड्रोस्टेटिक प्रेशर अपने जलीय तत्वों को बाहर ढकेल देता है। मेढ़क के आंत्र पर कुछ विरेचन द्रव्यों के प्रयोग कर इस जलापकर्षण का अध्ययन किया गया है।

यदि लवणजल आंत्र में डाल दिया जाए तो वह तुरन्त शोषित हो जाता है। किंतु हायपर टोनिक सोल्युशन में मैग्नेशियम सल्फेट (Magnasium Sulphate) विरेचक औषध डालने पर वह शोषित नहीं होता किन्तु और जल को खींचकर अपने आकार में फूल जाता है। इस तरह विरेचन द्रव्यों के तीन प्रकार से कर्म देखे जाते हैं और उनका तीन प्रकार में वर्गीकरण किया जाता है।

१. द्रव्य गुरुत्व बहुलता (Bulky Purgative) से विरेचन
२. स्निग्ध विरेचन (Lubricant Purgative)
३. प्रक्षोभक विरेचन (Irritant Purgative)

१. द्रव्य गुरुत्व बहुलता से विरेचन—जब गुरु द्रव्य आंत्र में अवस्था न पाते हैं तो वे आंत्र की भित्ति को उत्तेजित कर उनका संकोच विकास कार्य बढ़ा कर विरेचन कराते हैं। फलों के तथा वनस्पतियों के रहने वाले कोष बाह्यत्वक् जल्दी से पचन नहीं होते और उत्तेजना

करते हैं। ऐसे द्रव्यों के विरेचक औषध—अगार (Agar), इसबगोल, मेन्ना, ये कहे गये है। अगर यह एक जापानी औषधि का निर्यास है जो आंत्र में जाकर जल को खींचकर खूब फूल जाता है और पिच्छिल (Jely Substance) द्रव्य में परिणत होकर विरेचन करता है। इसबगोल भी इसी तरह विरेचन कराता है। मेन्ना यह इस्राएली एक वनस्पति का शर्करायुक्त शुष्क द्रव्य है— दक्षिण यूरोप में भी मिलता है—और यह भी गुरुता से विरेचन करता है।

चरक ने "यव" को गुरु और बहुशकृत्कृत् कहा है। यह रुक्ष होने से शोषण (जल को खींच कर) भी करता है।[१७]

इसी तरह लवणद्रव्य आंत्र में ओस्मोटिक प्रेशर के द्वारा जल को खींच लेते हैं। मैग्नेशियम सल्फेट, सोडियम सल्फेट इस तरह कार्य करते हैं।

२. स्निग्ध विरेचन—(Lubricant Purgative)—इसके अंदर समाविष्ट द्रव्य आंत्र तथा मल को स्निग्ध कर देने के कारण विरेचन कराते हैं। लिक्विट पेराफिन (Liquid parrafin) और एरंड तैल इनके उदाहरण हैं।

३. प्रक्षोभक विरेचन (Irritant Purgative) ये ऐसे द्रव्य हैं जो आंत्र के नाड़ी सूत्रों की प्रक्षोभित कर, विरेचन केंद्र को प्रक्षोभित कर, आंत्र गतियों में क्षोभ उत्पन्न कर विरेचन कराते है। इनमें पारद, गंधक, फीनोलोप्थेलिन और हायड्रोगोग परगेटिव (Hydrogogue Purgative) का समावेश होता हैं। दंतीबीज अंतिम का उदाहरण है।

कुछ लोग विरेचक द्रव्यों को १. लेक्सेटिव (Laxative), २. सिंपल परगेटिव (Simple Purgative), ३. ड्रास्टिक परगेटिव (Drastic Purgative), ४. हायड्रोगोग परगेटिव (Hydrogogue Purgative) और ५. पित्त विरेचक (Cholgague Purgative) ऐसे पांच प्रकार के विभक्त करते हैं और उनको क्रमश: अनुलोमन या सर, स्रंसन भेदन और विरेचन तथा पित्त विरेचन उनके समकक्ष बनाते हैं।

विरेचन प्रक्रिया—विरेचन की प्रक्रिया का नियंत्रण केंद्र मस्तिष्क में मेंड्युला ओवलोंगेटा के पास स्थित होता है। यह श्वास केंद्र तथा वमनकेंद्र के नजदीक होता है। इसलिए विरेचन द्रव्यों से विरेचक केंद्र की उत्तेजन होने पर वमनकेंद्र शिथिल होता है। (आयुर्वेद के अतिवमन के उपद्रव में विरेचन, और विरेचन के उपद्रव में वमन करने का आदेश संभवत: इसीलिए दिया है।) और कुछ वामक द्रव्य विरेचन भी करते हैं इसी तरह विरेचन (टट्टी) के समय श्वास की प्रक्रिया कुछ देर रुक जाती है। इस केंद्र से स्पाईनल सेंटर तथा, गुद के द्वारों की कार्यक्षमता नियंत्रित होती है।

विरेचन का नियमन करने वाला दूसरा केन्द्र सुषुम्नाकांड में से क्रम वर्टिब्रा (Sacrum-त्रिकास्थि) के २ रे, ३ रे तथा ४ थे विभाग में स्थित होता है। तथापि इस केंद्र के संपूर्ण नाश के बाद भी मल प्रवृत्ति का अनियंत्रण होता है ऐसा नहीं है। क्योंकि विरेचन प्रक्रिया की गतियां स्वयंचलित स्वसंचालित भी होती हैं, और गुद स्वयं इनका नियंत्रण करता है। (आयुर्वेद:-प्राणवायु जो मस्तिष्क में रहता है वह इंद्रियधृक् है—और उसे गुद के कार्य का नियंत्रक कहा जा सकता है। अपानवायु अपान प्रदेश में रहकर मलादि का निस्सरण करता है, और गुद—जो स्वयं कर्मेन्द्रिय है—विसर्जन यह उसका कर्म है—वह भी विरेचन में उत्तरदायी है।)

मलोत्सर्ग की प्रक्रिया कुछ ऐच्छिक और कुछ अनैच्छिक होती है। टट्टी के समय श्वासोच्छ्वास को रोक कर नीचे पीड़न किया जाता है। इससे डायफ्राम-महाप्राचीरा पेशी भी नीचे दब जाती है। यह पेशी अनुप्रस्थ आंत्र (Transvers colon) को नीचे दबाती है। इसी समय उदर पेशियाँ, दबाव करती है और मल को नीचे ढकेल दिया जाता है। आंत्र में मल के आने पर आंत्रभित्तियों को उत्तेजना मिलकर वे गतियां करती है और मल अवरोही आंत्र, कुंडलिका आंत्र, तथा गुद तक पहुँच कर निकल जाता है। गुद ४ से ५ इंच लंबाई वाला अवयव होता है। इसमें दो सुषिर पेशियां है, जो उसे संकुचित रखती हैं। मलोत्सर्जन चेष्टा से ये पेशियां निवृत्त होकर मल को रास्ता कर देती है।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि --

(१) विरेचन द्रव्य कोष्ठ में जाने के बाद उनकी गुरुता से स्निग्धता से मलों को नीचे ले जाते हैं।

(२) कोष्ठ के (आंत्र) नाड़ीसूत्रों को उत्तेजित कर उनकी गति बढ़ा देते है और विरेचन करते हैं।

(३) या सुषुम्ना तथा शिर के केन्द्र को उत्तेजित कर मलोत्सर्जन गति बढ़ाते हैं।

(४) या वीर्य द्वारा रक्त में मिलकर पुनः आंत्र में आकर मलोत्सर्जन गतियों को उत्तेजित कर विरेचन कराते हैं।

१. विसृष्ट द्रव्यों का शारीर विचार

विरेचन से मल, पित्त, तथा उदक धातु का बहुलमात्रा में शोधन होता है। इनका शरीर देखने पर स्पष्ट होता है कि विरेचन कार्मुकत्व सार्वदेहिक है न कि कोष्ठगत।

मल में यहां पुरीष का ग्रहण किया जाता है तथापि शरीर के उपघात कर सभी मलों का समावेश करना चाहिये। ये मल स्नेहपान के द्वारा उत्क्लिष्ट होकर द्रवित होकर कोष्ठ में आते है और विरेचन से निकाले जाते हैं। मल का अधिकतर भाग अन्न के किट्ट (अपोषक) भागों से तैयार होता है, तथापि इसमें धातुगत मल भी समाविष्ट होते है। मल में अन्न का मलभाग, जीवाणु, आंत्र की दीवार में से स्रवित हुए शरीरधातु के मलांश तथा याकृत पित्त इनका प्रमाण रहता है ऐसा आधुनिक विज्ञान मानता है। अन्न में स्नेह का प्रमाण अधिक हो तो वह कुछ अजीर्ण होकर मल में मिल जाता हैं। लेकिन शोषित स्नेह द्रव्य भी धातुपाक के अनंतर मल में मिलाकर आंत्र में आमाशय के अन्नाधार मे आ जाते हैं। अगर किसी व्यक्ति के आंत्र भाग को बंधन द्वारा पृथक रखा जाये तो भी नीचे के आन्त्र में मल जमा होते हुए देखे जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि आंत्र में धातुज मल आते हैं। भोजन में स्नेह द्रव्य वर्जित कर दिये जाये तो भी मल में स्नेहद्रव्य पर्याप्त प्रमाण में आते हैं, यह इनका निर्देशक है कि स्नेह धातु में से मल में आते हैं।[९८] इससे यह स्पष्ट होता है कि--मल के शरीरमल आते हैं और आयुर्वेद सिद्धान्त के अनुसार स्नेहपानादि के द्वारा उनको उत्क्लिष्ट कर निकालने में बड़ी शास्त्रीयता है। ये मल रस, रक्त, मांस, मेद आदि धातु से, तथा शिर हृदय, प्लीहा, फुप्फुस, हाथ, पांव आदि सब अवयवों के धातु से अनुप्रवण भाव द्वारा कोष्ठ में आते है जिससे तत्तद् मार्ग शुद्धि, आमपाचन होकर अग्नि बल बढ़ना, अवयव को बल मिलना इत्यादि कार्य हो सकते हैं।

विरेचन में उदक का अधिक मात्रा में विसर्जन होता है। इसका कारण यह है कि शरीर धातु से मलों को लाने का कार्य उदक ही करता है। यह उदक मल, मूत्र, रस, रक्त लसीका, शुक्रादि सभी धातु उपधातु, और मलों में रहता है। उदक का कार्य बताते हुए कहा है कि यह स्नेहन, आल्हादन, क्लेदन, बंधन, और विष्यंदन करता है।[९९] विचार करने पर इसमें एक्ट्रासेल्युलर और इन्ट्रा सेल्युलर, इंटरस्टीशियल फ्ल्यूइड (extra cellular, Intra cellural, interistetial fluid) के कार्य का समावेश होता है। उदक का आश्वासन और स्तंभन का भी श्रेष्ठ कार्य कहा गया है। इनसे शरीर का पोषण (तर्पण-स्नेहन), बंधन (osmatic pressure, Hydrostatic pressure का संतुलन) क्लेदन (मल निर्हरण), विष्यंदनादि कार्य संपन्न होता है। मलविसर्जन के वेगों का निर्णय करते हुए मलप्रवृत्ति वाले कुछ २-३ वेग छोड़कर अन्य वेगों की गिनती करने को कहा है इसका कारण यही है कि मल निकल जाने के बाद उदक बहुल जो वेग होते हैं उन्हीं से शरीरगत मलों का निर्हरण संभव है। अतिसार संप्राप्ति में उदक धातु का "संशम्यांपांधातुरानि प्रवृद्धः" कहकर उदक का निस्सारण कहा ही गया है। अतिवेग में रक्ताभ उदक जाना, मांसधावन, मेदःखंड़ के समान उदक का जाना ये लक्षण दिये हैं, उनसे स्पष्ट है कि यह उदक तत्तद् धातु से मलों को लाता है, और अति प्रवृत्ति हो तो उन धातु के पोषक कणों को भी ले जाता है। अत्युदक क्षय से स्नेहनादि कार्य भी क्षीण होकर ग्लानि, दौर्बल्य, तमः प्रवेश, आँखों का अंदर धँसना इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं।

पित्त का मल में निकल जाना आयुर्वेद को मान्य ही है। पित्तरोगों के लिए विरेचन का प्रधान उपक्रमता, कामला में विरेचन की प्रधानता बताना, रुद्धपथ कामला में श्वेतवर्चा का लक्षण कहना, योग्य विरेचन को 'पित्तांत' तक कराने का निर्देश करना, ये सब मल के द्वारा पित्त निर्हरण को मान्यता देने वाले संदर्भ हैं। उसी तरह स्नेह का मल द्वारा बहिर्निष्क्रमण भी स्वीकृत किया है। स्नेहपान क्रम में स्नेह सात्म्य न होते हुए, धातुपाक क्रम से उनको स्निग्धकर मल में से विसर्जित होता है और पुरीष को स्निग्ध करता है--यह कहा गया है। इस तरह मध, पित्त, और स्नेह के सार्वदैहिक शोधन से धातुपाक क्रम में आमूलाग्र परिवर्तन हो जाता है और एक संपूर्ण परिचक्र नये ढंग से कार्य करने में समर्थ होता है। इसीलिए शोधन के अनेक गुण आचार्यों ने बताये हैं और शोधन चिकित्सा को शमन की अपेक्षा भूरि-भूरि प्रशंसा की है। स्नेहन स्वेदन के बिना जो विरेचन किया जाता है--उसमें धातुगत मलों का उत्क्लेश और शोधन ठीक न होने से शरीर में केवल क्षोभ ही बढ़ना संभव है अतएव उसका निषेध करते हुए कहा है कि बिना स्नेहन और स्वेदन के विरेचन कराने से आतुर का शरीर वैसे भग्न होता है जैसे सूखी लकड़ी उसे मोड़ने के प्रयत्न से टूट जाती है, और युक्ति पूर्वक स्नेहन कराने से, स्निग्ध रसादि से मलों का उदीरित करने से उनको कोष्ठ में लाकर निकालने में सुविधा होती है।[१००] इस तरह विरेचन कर्म यह केवल टट्टी लाने का नित्य का कर्म नहीं है अपितु सर्व शरीर शोधन चिकित्सारूप--स्नेहन स्वेदन से संयुक्त विरेचन कर्म है और उसके ही 'गुण बुद्धेः प्रसादं' इत्यादि द्वारा वर्णन किये गए है ऐसा समझना चाहिये।

संदर्भ

१. तत्र दोष हरणं अधोभागम् विरेचन संज्ञकं। उभय वा शरीरमल विरेचनात् विरेचना-संज्ञां लभते।। च. क. १-४

च. पा.—अधो गुदेन दोष निर्हरणं भजत इत्यधो भागं। . . .न चैर्व सति वमन विरेचनवन्निरूहेऽपिविरेचन संज्ञा प्रसक्ति रुद्भावनीय यत: षंकजशब्दवमदियं विरेचन संज्ञा वमन विरेचनयोरपि योगरूढ्या धर्तते॥

२. 'वाचस्पत्यम्'—लेखक श्री. तारानाथ भट्टाचार्य । पृ. ४९१८

३. स्नेहात्प्रस्कंदनं जंतु: त्रिरात्रोऽपरत: पिदेत् । च. सू. १३-८१

च. पा. — प्रस्कंदन विरेचनम्॥

४. विरेचनं पित्तहराणाम् (श्रेष्ठं) ।। च. सू. २५-४०

५. पित्ते तु विरेकं, श्लेष्म संसृष्टे वातस्थान गते वा श्लेष्मणि
इति (विरेकं) ।। अ. सं. सू. २७

६. वातस्योपक्रम: स्नेह: स्वेद: संशोधनं मृदु:।। अ. द. सू. १३-१

७. विरेचनं तु सर्वोपक्रमेभ्य: पित्ते प्रधानतमं मन्यते भिषज:। तद् हि आदित एवं आमाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं पित्तमूलमपकर्षति। तत्रावजिते पित्तेऽपि शरीरान्तर्गत: पित्तविकारा: प्रशांतिमापद्यंते, यवाग्नौ व्यपोढे केवलमग्नि गृहं शीति भवति तद्वत् ।। च. सू. २०-१९

८. त्रिवृत्सुखविरेचनानां (श्रेष्ठं), चतुरंगुलो मुदुविरेचनानां स्नुक् पयस्तीक्ष्ण विरेचनानां।। च. सू. २५-४०

९. अरुणांम त्रिवृत मूलं श्रेष्ठं मूलविरेचने।
प्रधानं तिल्वकस्त्वक्षु फलेष्वपि हरीतिकी।
तैलेष्वेरंडजं तैलं स्वर से कारवेल्लिका।
सुधापय पषसूक्तं इति प्राधान्य संग्रह:।। सु. सू. ४४-१,२.

१०. च. सू. १-७७ से ८०.
११. च. सू. १-८१ से ८५.
१२. च. सू. १-८९ से ९२.
१३. च. सू. १-१४४, ११५.
१४. च. सू. २-९, १०.
१५. च. सू. ४-४.
१६. च. सू. ४-२४.
१७. च. सू. ४-३२.
१८. च. सू. २५-४०.
१९. च. सू. ८-१४०.
२०. त्रिवृत श्यामादंतीद्रवंता.....शेषांणा क्षीराणीति।। सु. सू. ३९-४
२१. निकुंभ कुंभ त्रिफला नवाक्षी.....दुर्ग्धच मूर्त्रच विरेचनानि।।
अ. ह्र. सू. १५-२

२२. (१) कृत्वा पाकं मलानांच भित्वा बंधमधोनयेत्।
तच्चानुलोमनं ज्ञेयं तथा प्रोक्ता हरीतकी।।
(२) पक्तव्यं यदपक्वैव श्लिष्टं कोष्ठे मलादिकं।
नयत्यध: स्रंसनं तत् यथा प्रोक्ता हरीतकी।।
(३) मलादिकमबद्धं यद्दद्धं वा पिंडितं मलै:।
भित्वाध: पातयति तद भेदनं कटुकी यथा।।
(४) विपक्वं यदपक्वं वा मलादि द्रवतां नयेत्।
रेचयत्यपि तज्ज्ञेयं रेचनं त्रिवृता यथा।। शा. पू. खं. ४-३,४,५,६

२३. अपक्वं वमनं दोषान् पच्यमानं निरेत्.....।। अ. ह्र. सू. १८-४८
दुर्वलो बहुदोषश्च दोषपाकेन य:स्वयं । विरिच्यते...अ. ह्र. सू. १८-४८
यात्यधो दोषमादाय पच्यमानं विरेचनं। सू. चि. ३३-३४

२४. घृतेषु तैलेषु पय:सु चापि मद्येषु मूत्रषु तथा रसेषु।
भक्ष्यान्न लेहेषु च तेषु तेषु विरेचनान्यग्रमतिर्विदध्यातृ।।
क्षीरं रसं कल्कमथोकषाया श्रृतंच शीतंच तथैव चूर्णम्।
कल्पा:षडेते खलु भेषजानां यथोत्तरं ते लघव: प्रतिष्ठा:।। सु.चि.सू. ४४-९०,९१

२५. नातिस्निग्ध शरीराय दद्यात्स्नेह विरेचनं।
स्नेहोत्क्लिष्ट शरीराय रुक्षं दद्यात् विरेचनं।। च. चि. ६-९

२६. न चाति स्नेह पीतंतु पिबेत्स्नेह विरेचनं।
दोषा: प्रचलिता: भूया पुन: श्लिष्यंति वर्त्मसु।। सु. चि. ३३-४१

२७. विसर्प पिडका शोफ कामला पांडुरोगिण:।
अभिघात विषातीश्च नाति स्निग्धान् विरेचयेद्।। च. सि. ६-८

२८. (१) अधिरेच्यास्तु सुभग क्षत गुद मुक्तनालाधोभाग रक्तपित्त विलंबित, दुर्बलेंद्रिय, अल्पानि निरूढ़ कामादि व्यग्राजीर्णि नवज्वरि मदात्ययिताध्मात शल्यर्दिताभिहतातिस्निग्ध रुक्ष दारुण कोष्ठा: क्षतादयश्च गर्भिण्यांता:।।
(क्षतादयश्च गर्भिण्यांता: इति वमनादिविषय मध्ये पठिता:) च. सि. २-११
(२) मंदाग्न्यति स्नेहित बाल वृद्ध स्थूला: क्षतक्षीण भयोपतप्ता:।
श्रांतस्तुडालोऽपरिजीर्णभक्तो गर्भिण्यधो गच्छति यस्य चासृक्।।
नव प्रतिश्यायमदात्ययीच नवज्वरी या च नवप्रसूता।
शल्यार्दिताश्चाप्यविरेचनीया: स्नेहादिभिर्ये त्वनुपस्कृताश्व।
अत्यर्य पित्ताभिपरीतदेदान विरेचयत्तानपि मंद मंदम्। सु. चि. ।३३
(३) प्रसक्त वमयो: पूर्व प्रायेणामज्वरे:पिच। घूमांतै: कर्मभिवर्ज्या सर्वैर्येतु अजीर्णिन:।।
अ.इ.सू १८-७

(प्रसक्त वमयो पूर्व—गर्भिणी से प्रसक्त वमथु तक अवम्य.)

२९. विरेचनैर्याति नरो विनाशमक्ष: प्रयुक्तैरविरेचनीया: ।। सु. चि. १३-३१

३०. तत्र सुभगस्य सुकुमारोक्तो दोष:स्यात्। क्षतगुदस्य क्षतेगुदे प्राणोपरोधकरीं रुजां जनयेत् मुक्तनालमति प्रवृत्या हन्यात् अधोभाग रक्तपित्तिनं तद्वत्, विलंघित दुर्बलेन्द्रियाल्पाग्नि निरूढा औषधवेगं न सहेरन, कामादि व्यग्रमनसो न प्रवर्तते, कृच्छ्रेण वा प्रवर्तमानमयोग दोषान् कुर्यात्, अजीर्णिन: आमदोष स्यात् नवज्वरिणोऽविपक्वान् दोषान् व निर्हरत् वातमेव च कोपयेत् मदात्ययितस्य मद्यक्षीणे

देहे वायुः प्राणोपरोधं कुर्यात्। आध्मातस्याधमतो वा पुरीष कोष्ठे निचितो वायुः विसर्पन्...।।

सहसा आनाहं तीव्रतंर मरणं वा जनयेत्, शल्यार्दिताभिहतयोः क्षते वायुराश्रियो जीवितं हिंस्यात्, अतिस्निग्धस्यतियोगभयं भवेत् रुक्षस्य वायु रंग प्रग्रंह कुर्यात्, दारुणकोष्ठस्य विरेचनोद्धता दोषा हृच्छूल पर्वभेदानाहांगमंद च्छर्दि मूर्च्छा क्लमां जनयित्वा प्राणान् हन्युः क्षतादीनां गर्भिण्यांतानां छर्दनोक्तो दोषः स्यात्,तस्मादेते न विरेच्या।।

च.सि. २-१२

३१. (१) भयशोकं चित्तद्वेगातियोगात्....(त्रिदोषज अतिसार हेतु)
(२) मारुतो भयशोकाभ्यां शीघ्रं हि परिकुप्यति। च. चि. १९-१२
(३) तैस्तैर्भावैः शीचितोल्पाशनस्य..... सु. उ. ४०-१३
(४) आगन्तु द्वावतीसारो मानसौ भयशोकजौ। च. चि. १९-१५

३२. (१) शेषास्तुविरेच्या-विशेषततस्तु कुष्ठ ज्वरमेहोर्ध्व रक्तपित्त भगंदराशों ब्रध्न प्लीहगुल्मार्बुद गलगंड ग्रंथि विषूचिकालसक मूत्राघातक्रिमिकोष्ठ विसर्प पांडुरोग शिरःपार्श्वशूलोदावर्तनेत्रास्यदाहहृद्रोग व्यंग्य नीलिका नेत्रनासिकास्यस्रवणहलीमक श्वास कास कामलापच्यपस्मारोन्मादवातरक्त-योनिरेतोदोषतैर्भिर्यारोचका विपाक च्छर्दि श्वयथूदरविस्फोटकादयः, पित्त व्याधयो विशेषेण रोगाध्यायोक्ताश्च।

च. सि. २-१३

(२) ज्वरगरारुच्वर्शोऽर्बुदोवर ग्रंथि विद्रधिपांडुरोगापस्मारहृद्रोगवातरक्त भगंदरच्छर्दियोनिरोगविसर्यगुल्मपक्वाशयरुगविबंधविषूचिकालसकमूत्राघात-कुष्ठविस्फोटक प्रमेहानाह प्लीह शोफ वृद्धि शस्त्रक्षतक्षाराग्निदग्धदुष्ट-व्रणक्षिषाककाचतिमिराभिष्यंदशिरः कर्णाक्षिनासास्यगुदमेढ्रदाहोर्ध्वरक्त पित्तकृमिकोष्ठिनः पित्तस्थानजेष्वन्येषु च विकारेष्वन्ये च पैत्तिक व्याधिपरीता इति।। सु. चि. ३३-३२

(३) विरेकसाध्यागुल्माशोंविस्फोष्यंगकामलाः। जीर्णज्वरोदरगरच्छर्दि प्लीहहलीमकः। विद्रधिस्तिमिरं कालः स्वंदः पक्वाशयव्यथा। योनि शुक्रश्रया रोग कोष्ठगा कृमगो व्रणाः। वातास्र मूर्ध्वगंरक्तं मूत्राघातः शकृद्ग्रहः वामाश्च कुष्ठमेहाद्य।।

अ. हृ. सू. १८-८,९,१०

३३. कुर्यात् शोणितरोगेषु रक्तपित्तरीं क्रियां।
विरेकमुपवासंच....।। च. सू. २४-१८

३४. पाययेत् प्रसमीक्ष्य दोष भेषज देश काल बल शरीराहार सात्म्य सत्त्व प्रकृतिवयसामवस्थांतराणि विकाराश्च।

च. सू. १५-१७

३५. अथैनं पुनः स्नेहस्वेदाभ्यामुपाद्यनुपहतमानसमभिसमीक्ष्य.... च. सू. १५-१७
विरेचनमपि स्निग्धस्विन्नाय वांताय देयम्।। सु. चि. ३३-१९
स्निग्धस्य सुस्वित्रतनोर्यथावद् विरेचनं योग्यतमं प्रयोज्यम्। च. सि. १-१०

३६. एतच्च संसर्जन क्रमादूर्ध्व सप्तरात्रेण प्रकृति भोजनगमनं तदा कर्तव्यं यदि वमनानंतरं

विरेचनं न कर्तव्यं भवति। तत्करणे तु संसर्जनक्रमादूर्ध्व एव स्नेहपानं युक्तं यदुक्तं "संसृष्ट भक्तं नवमेहि सर्पिस्तं पाययेद्वाप्यनुवासयेद्वा।। (सि. अ. १)" इति।

च. सू. १५-१६ पर च. पा.

३७. अवांतरस्य हि सम्यग्विरिक्तस्यापि सतोऽधः स्रस्तः श्लेष्मा ग्रहणीं च्छादयति गौरवमापादयति, प्रवाहिकां वा जनयति।।

सु. चि. ३३-१९

३८. स्नेहात् प्रस्कंदनं जंतुः त्रिरात्रोपरता पिबेत् ।। च. सू. १३-००

३९. (१) स्नेहवत द्रवमुष्णंच त्र्यहं भुक्त्वा रसौदनम्। च. सू. १३-००
(२) रसैस्तथा जांगलजैः सयूपै स्निग्धैः कफावृद्धिकरैविरेच्यः। च. सि. १-८
(३) अथातुरं श्वो विरेचनं पाययितास्मीति पूर्वाह्णे लघु भोजयेत् फलाम्लमुष्णोदकै चैनमनुपाययेत्। सु. चि. ३३-२०

४०. यति विरेचनं वृद्धकफे तथोर्ध्वम्।। च. सि. १-१०

४१. क्रूरकोष्ठस्यातितीक्ष्णस्याग्नेरल्पमौषधमल्पगुणं वा भक्तवत् पाकमुपैति।।

सु. चि ३७-७

४२. दुर्बलो बहुदोषश्च दोष पाकेन यः स्वयम्।
विरेच्यते भेंदनीयैर्भोज्यैस्तमुपपादयेत्।। अ. हृ. सू. १८-४८

४३. नातिस्निग्ध शरीरस्य दद्यात् स्नेह विरेचनं।।
स्नेहोत्किलष्ट शरीराय रुक्षं दद्यात् स्नेह विरेचनं।। च. सि. ६-९

४४. विसर्प पिडका शोफ कामलापांडु रोगिणः।
अमिघात विषार्ताश्च नाति स्निग्धान् विरेचयेत्।। च. सि. ६-८

४५. मंदाग्नि क्रूरकोष्ठं च सक्षार लवणैर्घृतैः।
संधुक्षिताग्नि विजित कफवातं च शौधर्यत्। अ. हृ. सू. १२

४६. .....अनुपहत मानसमभिसमीक्ष्य पाययेत् : च. सू. १५-१७

४७. जलाग्नि कीटैरस्पृष्टं देशकाल गुणान्वितं। ईषत् मात्राधिकं युक्तं तुल्य वीर्ये सुभावितं। स्नेहस्वेदोपयन्नस्य तीक्ष्णत्वं याति भेषजं।।

च. क. १२-५६

४८. दुर्बलः शोधितः पूर्वमल्प दोषः कृशो नरः। अपरिज्ञात कोष्ठश्च पिवेन्मृद्वल्पमौषधं।।
वरं तदसकृत्पीतमन्यथा संशयावहम्।। अ. हृ. सू. १८-५०, ५१

४९. गुडमिक्षुरसं मस्तु क्षीरमुल्लोडितं दधि। पायर्स कृशरा सर्पिः काश्मर्य त्रिफला रसं।
द्राक्षारसं पीलुरसं जलमुष्णमथापि वा। मद्यं वा तरुणं पीत्वा मृदुकोष्ठी विरिच्यते।
विरेचयंति नैतानि क्रूरकोष्ठं कदाचन्।। सू. १३-६६, ६७, ६८

५०. भवंति क्रूर कोष्ठस्य ग्रहणयत्तुल्यणाऽनिलाः उदीर्ण पित्ताल्प कफाग्रहणी मंद मारूता।
मृदुकोष्ठस्य।। च. सू. १३-६८, ६९

५१. द्विपलं श्रेष्ठमाख्यातं मध्यमं च पलं भवेत।
पलार्ध च कणायाणां कनीयस्तु विरेचनम्।।
कल्क मोदकचूर्णानां कर्ष मध्वाज्यलेहतः।।
कर्षद्वयं पलं वापि वयो रोगाद्यपेक्षया।। शा. उ. खं.

५२. पित्तोत्तरे त्रिवुच्चूर्ण द्राक्षा क्वाथादिभि: पिबेंत्।
त्रिफला क्वाथ गौमूत्रै: पिबेत् व्योष कफार्दितम्।।
त्रिवृत्सैंधव शुंठीना चूर्णमम्लै: पिबन्नर:।
वातर्दितो विरेकाय जांगलानां रसेन वा।। शा. उ. ख. अ. ४-१८,१९
भा. प्र. पू. खं. पंचकर्माध्याय

५३. अथैनं पुनरेव स्नेह स्वेदाभ्यामुपपाद्यानु पहत मनसमभिसमीक्ष्य सुखोषितं सुप्रजीर्ण भक्तं कृतहोमबलिमंगलजपप्रायश्चितमिष्टे तिथि नक्षत्राकरणमूहुर्तें बाह्मणान्स्वस्तिवाचयित्वा त्रिवृत्कल्कमक्षमात्रं यथार्हांलोडन प्रतिविनीतं पाययेत् प्रसमीक्ष्य दोष.....।
च. सू. १५-१७

५४. श्लेष्मकाले गते ज्ञात्वा कोष्ठ सम्यग् विरेचयेत्। अ. हृ. सू. १८-३३

५५. (१) पीतमात्र एवौषधे छर्दि दिधाताय शीताम्बुना मुखमस्य सहसा सिंचेत्। ततश्चोष्णोदकेन स्नोतोमुखं विशोध्यार्द्रसुरभिमृण्मातुलिंग जंबीर सुमन: सौगंधिकादि हृद्यगंधान् उपजिघ्रेत। नियातसुख शय्यास्थित चाविबंधार्थ अल्पाल्पमुष्णोदक मनुकठयस्तग्मना वेगान् न धारयन् ईस्यमाणश्च शय्यासने प्रतिग्राहेऽशीतस्पृशा विरिच्येत।। अ. सं. सू. २७

(२) विरेचनं पीतवास्तु न वेगांन् धारयेत्बुध:। निवातशायी शीतांबु न स्पृशेन्न प्रवाहयेत।। सु. चि. ३३-२२

५६. अप्रवृत्तौ तु भेषजोत्तेजनार्थ उष्णोदंक पाययेत्।
पाणितापैश्च जठरं स्वेदयेत। अ. सं. सू. २७

५७. ऊर्ध्व कफानुगे पित्ते, विट्पित्तेऽनुकफेत्वध:।
हृतदोषं वदेत्काश्यं दौर्बल्ये चेत् सलाघवे। च. सि. ६-२०

५८. वामयेत्तु तत: शेषमौषधं न त्वलाघवे। च. सि. ६-२१

५९. उत्थानेऽल्पे दिने तस्मिन भुक्तवाऽन्येद्यु: पुन: पिवेत्।
अदृढ़: स्नेह कोष्ठस्तु पिवेदूर्ध्व दशाहत:।।
भूयोप्युपस्कृत तनु: स्नेहस्वैर्वविरिचनम्।।
यौगिकं पूर्वमालोच्य स्मरन्पूर्वमतिक्रमम्।। अ. हृ. सू. १८-३६, ३७, ३८

६०. भेषजं दोषरुद्वं चेत्रोर्ध्व नाध: प्रवर्तते।
सौद्गारं सांगशूलं च स्वेद तत्रावचारयेत्।। च. क. १२-७५

६१. तृण्मोह भ्रमूच्छांद्या: स्यृश्चेज्जीर्यति भेषजे।
पित्तध्नं स्वादुशींत च भेषजं तत्र शस्यते।। च. क. १२-७९

६२. (१) स्यात्श्लेष्मपित्तानिल संप्रकोप: सादस्तथाग्नेर्गुरुता प्रतिश्याय। तंद्रा तथा छर्दिररोचकश्च वातानुलोम्यंनक दुर्विरिक्ते।। च. सि. १-१८

(२) स्याददुर्विरिक्ते कफ पित्तकोपो दाहोरुचि: गौरवमाग्निसाद: (यह पाठ किसी पुस्तक में उपलब्ध नहीं हैं)। हृत्कुक्ष्य शुद्धि: परिदाह कंडू विण्मूत्रसंगाच्च न सिद्धिरिक्ते।। सु. चि. ३३-२४

(३) हृत्कुक्ष्यशुद्धिररुचित्क्लेश: श्लेष्मत्तियो:।
कटुविदाहृपिटका: पीनसो वातविड्ग्रह:।।
अयोगलक्षणम्.....,।। अ. हृ. सू. १८-३८, ३९

६३. एवं विरेचने मूत्रपुरीष पित्त औषधकफा: इति (गच्छंति)। सु. चि. ३३-२३

६४. (१) स्रोतोविशुद्धिन्द्रिवसंप्रसावौ लघुत्वमूर्जोग्निरनामयत्वं। प्राप्तिश्च विट्पित्त कफानिलानां सम्यग् विरिक्तस्य भवेत् क्रमेंण।। च. सि. १-१७

(२) गतेषु दोषेषु कफान्वितेषु नाभ्यालघुत्वे मनसश्चतृष्टौ।
गतेऽनिले चाप्यनुलोसभांव सम्यग् विरक्तं मनुजं वस्येत।।
सु. चि. ३३-२५

(३) .....योगो वैपरीत्ये यथोदितात्।। अ. हृ. सू. १८-३९

६५. (१) कफास्त्रपित्तक्षयजा निलोत्था: सुप्त्यंगमर्म क्लमवेपनाद्या: :
निद्रा बलाभावतम: प्रवेशा: सोन्माद हिक्काश्च विरेचितेति।। च. सि. १-१९

(२) मूर्च्छा गुदभ्रंश कफातियोगा: शूलोद्गमश्चाति विरिक्त लिंगम्।
सु. चि. ३३-२४

(३) विटपित्तकफवातेषु नि:स्रुतेषु क्रमात स्रवेत।
निश्लेष्मपित्तमुदकं श्वेत कृष्णं सलोहितम्।
मांसधावनवतुल्यं मेद: खंडाभमेव वा।
गुद नि: सरणं तृष्णा भ्रमो नेत्रप्रवेशनम्।
भवंत्यति विरिक्तस्य तथाऽतिवमनामया:।। अ. हृ. सू. १८-४०, ४१, ४२

६६. कफे भ्रम:। श्लेष्माशयानां शून्यत्वं हृद्द्रव:श्लथ संधिता।।
अ. हृ. सू. ११-१६

६७. पित्ते मंदोऽनल: शीतं प्रभाहानि:।। अ. हृ. सू. ११-१६

६८. लिंग क्षीणेऽनिलेंगस्य सादोऽल्पं भाषते हितं।
संज्ञामोहस्तथा श्लेष्मवृहद्युंक्ताऽमय संभवा।। अ. हृ. सू. ११-१५

६९. रसेरौक्ष्यं श्रम: शोषो ग्लानि: शब्दासहिष्णुता।
रक्तेम्लशिशिर प्रीति शिरा शैथिल्यरुक्षता।। अ. हृ. सू. ११-१७

७०. देखें अध्याय ४, पृ. २७२

७१. च. पा. --तत्रध्मानमयोवात् भवति, परिकर्तिका त्वतियोगात् स्रावोऽयोगात्हृदग्रहोऽपि अयोगादेव तथांगग्रहोऽयोगाच्च भवति, जीवादानमति योगात उपद्रवोऽप्ययोगजन्य एव, क्लमोऽपि अयोगज:। च. सि. ६-२९ पर

७२. देखें-अध्याय, ४ संदर्भ-७९, ८०, ८१

७३. (१) श्लेष्मोत्क्लिष्टेन दुर्गन्धमहृद्यमति वा बहु:।
विरेचनमजीर्णे च पीतमूर्ध्व प्रवर्तते।। स. चि. ६-३२ (३-२२)

(२) अजीर्णिन: श्लेष्मवतो व्रजत्यूर्ध्वम् विरेचनं।.....तत्र पूर्वादिता व्यपत् सिद्धिश्च न तथा पिचेत्। आशषे तिष्ठाति ततस्तृतीयं नावचारयेत अन्यत्र सात्मयात् वुद्धयाद्वा भेषजभिन्नरपायत:। अ. हृ. क.३-३,४

७४. अस्निग्धस्विन्नदेहस्य रुक्षस्यानवमौषधं। दोषानुत्क्लिश्य निर्हर्तुमशस्तं जनयेद्गवान् :: विभ्रंशं श्वयथुं हिक्कां तमसोदर्शनं भृशं। पिंडिकोद्वेष्टनं कंडूमूर्वो: साद: विवर्णताम् ::
च. सि. ६-३८, ३९

....तत्र यथोक्तां कारयेत् क्रियां। तं तैल लवणाभ्यक्तं स्विन्नं प्रस्तरसंकरै।.....
च. सि. ६-४० से ४४

७५. अतितीक्ष्णं क्षुधार्तस्ग मृदुकोष्ठस्य भेषजं।..... च. सि. ६-४५ से ५१

७६. बहुदोषस्य रुक्षस्य हीनाग्नेरल्पमौषधम।
सोदावर्तस्यचोत्क्लिश्य दोषान मार्गान्निरुध्य च।।
भृशमाध्मापयेन्नभिं पृष्ठ पार्श्व शिरोरुजं।
श्वासविण्मूत्रवातानां संगं कुर्याच्च दारुणं।।
अभ्यंग स्वेद वर्त्यादि सनिरूहानुवासनम्।
उदावर्तहरं सर्व कर्माध्मातस्य शस्यते।। च. सि. ६-५८ से ५९

७७. (१) स्निग्धेन गुरुकोष्ठेन सामे बलवदौषधम्। क्षामेण मृदुकोष्ठे श्रांते नाल्पबलेन वा। पीतं गत्वा गुदं साममाशु दोषं निरस्य च। तीव्रशूलां स पिच्छास्त्रांकरोति परिकर्तिकाम्।। लंघनं पाचनं सामे रुक्षोष्णं लघु भोजनं। बृंहणो यो विधिः सर्वः क्षामस्य मधुरस्तथा। आमे जीर्णेऽनु बंधश्वेद् क्षाराम्लं लघु शस्यते। पुष्पकासीस मिश्रं वा क्षारेण लवणेनवा स दाडिमं रसं सर्पिः पिवेद्वातेऽधिके सति। दध्यम्लं भोजने पाने संयुक्तं दाडिमं त्वचां। देवदारु तिलानां वा कल्कमुष्णाम्बुना पिवेत्। अश्वत्थोदुंबरप्लक्ष कंदवैर्वा श्रृंत पयः। कषायमधुरं शीतं पिच्छा बस्तिमथापि वा। यष्टिमधुक सिद्धं वा स्नेहबस्ति प्रदापयेत्।।
च. सि. ६-६१ से ६७

(२) क्षामेणाति मृदुकोठेष्न.....वानुवासयेत्।। सु. चि. ३३-१६

७८. पुष्यंति तु आहार रसात् रसरुधिर मांस मेदोऽस्थि मज्जा शुक्रौजांसि पंचेंद्रियाणि धातु प्रसाद संज्ञकानि शरीर संधिबंध पिच्छादयश्चावयवाः।। च. सु. २८-७

७९. (१) अल्पं तु बहु दोषस्य दोषमुत्क्लिश्य भेषजं। अल्पापं स्रावयेत् कंडुं शोफं कुष्ठानि गौरवं। कुर्याच्चाग्निवधोत्क्लेश स्तैमित्यारुचि पांडुता। परिस्रावः स नं दोषं शमयेद्वमयेदपि। स्नेहितं वा पुनस्तीक्ष्णं पापयेत् विरेचनम्। शुद्ध चूर्णासवारिष्टान् संस्कृतांश्च प्रदापयेत्। च. सि. ६ / ६८ से ७०

(२) क्रूरकोष्ठस्यातिप्रभूत दोषस्य समुत्क्लिश्य दोषान्नं निःशेषानपहरति, ततस्ते दोषाः परिस्रावमापादयंति।... तमजकर्ण धवतिनिशपलाश बलाकषायैः मधुसंयुक्तैरास्थापयेत् उपशांत दोषं स्निग्धं च भूयः संशोधयेत्।
सु. चि. ३४-१७

८०. (१) पीतौषधस्य वेगानां निग्रहान्मारुतादयः। कुपिता हृदयंगत्वा घोरं कुर्वति हृदग्रहं।। स हिक्काकास पार्श्वाति दैन्य लालाक्षि विभ्रमैः। जिह्वां खादति निःसंज्ञों दंतान किटकिटापयन्। न गच्छेद् विभ्रमं नेत्रवामयेदाशु तं भिषक्। मधुरैः पित्तं मूर्च्छार्त कटुभिः कफमूर्च्छितम्।। पाचनीयैस्ततश्चास्य दोषं शेषं विपाचयेत्। कायाग्निं च बलंचास्य क्रमेणेत्थापयेत्ततः पवनेनाति वमनो हृदयं यस्य पीड्यते। तस्मै स्निग्धाम्ल लवणं दद्यात् पित्तकफेऽन्यथा।।
च. सि. ६-७१ से ७५

(२) यस्तूर्ध्वमधो वा भेषज वेगं प्रवृतमज्ञत्वाद् विनिहंति तस्योपसरणं हृदि कुर्वन्ति दोषा....तं परिवर्जयंतिमूर्खाः। तमभ्यज्य धान्यस्वेदेन स्वेदयेत् शिरोविरेचनं चास्मै तीक्ष्णं विदध्यात्। ततो यष्टिमधुक मिश्रेण तंडुलांबुना छर्दयेत् यथादेशोच्छ्रयिणमेनं बस्तिभिरुपाचरेत्।। सु. चि. ३४-१९

८१. पीतौषधस्य वेगानां निग्रहेण कफेन वा।
रुद्धोति वा विशुद्धस्य गृह्णात्यंगानि मारुतः।।

स्तंभ वेपथु निस्तोद सादोद्वेष्टलमंथनैः।
तत्र वातहरं सर्व स्नेहस्वेदादि कारयेत।। च. सि. ६-७६, ७७

८२. (१) अति तीक्ष्णं मृदौ कोष्ठे लघु दोषस्य भेषजम्।
दोषान् हृत्वा विनिर्मथ्य जीवं हरति शोणितम्।।
तेन्नानं मिश्रितं दद्यात् वायसाय शुनेऽपि वा।
भुंक्ते तच्चेत् पदेत् जीवं न भुंक्ते पित्तमादिशेत्।।
शुक्लंवा भवितं वस्त्रमावानं कोष्णवारिणा।
प्रक्षालितं विवर्ण। स्यात् पित्ते, शुद्धं तु शोणिते।।
तृष्णा मूर्च्छामदार्त्यस्य कुर्यादामरणात् क्रियाम्।
तस्य पित्तहरीं सर्वामति योगे च या हिता।।
मृगगो महिषाजानां सद्यस्कं जीवतामसृक्।
पिबेज्जीवाभिसंधानं जीवं तध्दयाशु यच्छति।।
तदेव दर्भ मुदितं रक्तं बस्तिं प्रदापयेत्।
श्यामा काश्मर्य बदरी दूर्वोशीरैः श्रृतं पयः।।
घृतमंडांजनयुतं शीतं बस्तिं प्रदापयेत्।
पिच्छा बस्तिं सुशीतं वा घृतमंडानुवासनम्।। च. सि. ६-७८ से ८४

(२) विरेचनाति योगे सचंद्रकं सलिलमधः स्रवति,....
जीव शोणित रक्तपित्तयोश्च जिज्ञासार्थ तस्मिन् पिचुं प्लोतं वा क्षिपेत्.....
अन्यथा रक्तपित्तमिति।। सु. चि. ३४-१३, १४

८३. (१) च. पा. — विभ्रंशस्तु गुदभ्रंश संज्ञाभ्रंश कंडवादि लक्षणभ्रंश भेदात् त्रिविधो वक्तव्यः। गुदभ्रंश संज्ञाभ्रंशातियोगजन्यौ, शेषेस्तुविभ्रंशः अयोगजन्यः।

(२) गुदभ्रष्टं कषायैश्च स्तंभयित्वा प्रवेशयेत्।
सामगांधर्व शब्दांश्च संज्ञानाशेऽस्य कारयेत्।।
यदा विरेचनं पीतं विडन्तमवतिष्ठते।
वमनं भेषजांत वा दोषानुत्क्लिश्य नावहेत्।।
तदा कुर्वति कंड्वादीन दोषां प्रकुपिता गदान्।
स विभ्रंशी मतस्तत्र स्याद्यभा व्याधि भेषजम्।।

(३) सु. चि. ३४-१३ च. सि. ६-८५, ८६, ८७

८४. पीतं स्निग्धेन सस्नेहं तद्दोषैर्मार्दवाद्भृतम्।
न वाहयति दोषांस्तु स्वस्थानात् स्तंभयेच्युतान्।।
वांतसंग गुदस्तंभ शूलैः क्षरति चाल्पशः।
तीक्ष्णं बस्तिं विरेक वा स्नेहो लंघित पाचितः।। च. सि. ६- ८३, ८९

८५. रुक्षं विरेचनं पीतं रुक्षेणाल्प बलेन वा।
मारुतं कोपयत्वाशु कुर्याद् घोरादुपद्रवान्।
स्तंभ शूलानि घोराणि सर्वगात्रेषु मुह्यतः।
स्नेह स्वेदादिकस्तत्र कार्यो वातहरो विधिः। च. सि. ६-९०, ११

८६. स्निग्धस्य मृदुकोष्ठस्य मृदुत्क्लिश्यौषधं कफम्।
पितं वातं च संरुद्ध्य सतंद्रा गौरवं क्लमम्।।
दौर्बल्यं चांगसादं च कुर्यादाशु तदुल्लिखेत्।
लंघनं पाचनं चात्र स्निग्धं तीक्ष्णं च शोधनम्।। च. सि. ६-९२, ९३

८७. एता विज्ञाय गतिमानवस्थाश्चैव तत्त्वतः ।
दद्यात्सशोधनं सम्यक् आरोग्यार्थो नृणां सदा।। च. सि. ६-९६
च. पा. — दद्यात् संशोधनं सम्यगिति तथा संशोधनम्
दद्यात् यथा व्यापदो नोत्पद्यंत एवेत्यर्थः।।

८८. सम्यग्विरिक्तमेनं च वमनोक्तेन योजयेत्।
धूम वर्ज्येन विधिना, ततो वमितवानिव।
क्रमेणान्नानि भुंजानो भजेत्प्रकृति भोजनम्।। अ. हृ. सू. १८।४२, ४३

८९. संसृष्ट भक्तं नवमेह्नि सर्पिस्तं पाययेद्वाप्यनुवासयेद्वा।
तैलाक्त गात्राय ततो निरूहं दद्यात् त्र्याहान्नाति बुभुक्षिताच।।
च. पा. — अत्र विकल्प द्वये, यदियमनांतरं विरेचनं कर्तव्यं तदा नवमेह्नि सर्पिः पानम्। अथ विरेचनानंतरं यदा बस्तिर्देया तदा अनुवासनं नवमेह्नि देयमिति व्यवस्था। वेगानंतरं नवमदिवसे सर्पिःपानं पूर्व नोक्तं तेनेदानों विरेचनानंतर कर्तव्यनिरूहांगानुवासनसमान कालतया सर्पिः पानमपि दर्शितं, तेन न निरूहांगता सर्पिः पानस्य कल्पनीय।.....यत्तु भद्र-शौनके, ससृष्ट भक्तः सुमना स्नेहपीतो दृढानलः। संशुद्धोपरतः मांसाद्नुवास्यो नरः। इत्युक्तं तत् प्रागनुवासन विषयं रोगविषयं वा इति नैतद्विरुद्धं भवति बहूनि चात्र व्याख्यानानि टीकाकृतामंगिरि सैंधवजेज्जटेश्वरसेनादीनां संति, अन्यैस्तु तद् व्याख्यानानि दोषोद्धारादेव निरस्तानि।
च. पा.

९०. पक्षद्विरेको वातंस्य ततश्चापि निरूहणम्।
सद्योनिरूढोऽनुवास्यः सप्तरात्रात् विरेचितः।। सू. चि. ३६-५१

९१. नरो विरिक्तस्तु निरूहदानं विवर्जयेत् सप्त दिनान्यवश्यम्।
शुद्धो निरूहेण विरेचन च तद्धस्य शून्यं विकसेच्छरीरम्।। च. सि. १-२६

९२. स्वबुद्ध्यैव सहस्राणि कीटीर्वापि प्रकल्पयेत्।
बहुद्रव्य विकल्पवाद् योग संख्या न दिद्यते।। च. क. १२-४७

९३. द्वे शते नवकाः पंच योगानांतु विरेचन।। च. क. १२-३८

९४. (१) मलापहं रोगहरं बलवर्ण प्रसादनम्।
पीत्वा संशोधनं सम्यगायुषा युज्यते चिरम्।। च. सू. १५-२२
(२) बुद्धेः प्रसादं बलमिंद्रियाणां धातु स्थिरत्वं बलमाग्नि दीप्ति.।
चिराच्च पार्क वयसः करोति विरेचनं सम्यगुपास्यमानम्।।
यथोदकानामुदकेऽपनीते चरस्थिराणां भवति प्रणाशः।
पित्ते हृतेत्वेषमुपद्रवाणां पित्तात्मकानां भवति प्रणाशः।। सु. चि. ३३-२७, २८
(३) विरेचनेन शुद्ध्यंति प्रसीदंतीनिद्रयाणि च।
धातवश्च विशुध्यंति बीजं भवति कार्मुर्क।। का. सिद्धि स्थान

९५. रसवीर्य विपाकांना सामान्यं यत्र लक्ष्यते।
विशेषः कर्मणां चैव प्रभावतस्य च स्यृतः।। च. सू. २६-७२

९६. न तु केवलं गुण प्रभावादेव द्रव्याणि कार्मूकाणि भवंतिः द्रव्याणि हि द्रव्य प्रभावात्, गुणप्रभावात्, द्रव्यगुण प्रभावाच्च तस्मिन् तस्मिन्काले तत्तदधिष्ठांनमासाद्य तां तां युक्तिमर्थ च तमभिप्रेत्य यत् कुर्वन्ति तत्कर्म, येन कुर्वन्ति तद्वीर्य. . . . . ।।
च. सू. २६-१३

९७. रुक्षः शीतो गुरुः स्वादुर्बहुर्वाताशकृद्यवः।
च. सू. ३७-११

९८. (१) The feces are composed of food residues bacteria, material secreted through the wall of the intestines, and in the bile, leucocytes and desquamated epithelial cells.
(२) Also a segment of bowel when isolated from rest of the intestinal tract becomes after a time packed with a mass of pasty fecal material, which of course must be Intirely Endogenous.
(३) Fecal Fat is also largely Endogenous, containing to appear in the feces, though all fatly materials has been excludes from the Diet; "physiological basis of medical practice".

९९. (१) तत् स्नेहनाल्हादन क्लेदन बंधन विष्यंद करमिति। सु. सू. ४१-३
(२) उदकमाश्वास कराणां (श्रेष्ठं) ।।
जलं स्तंभनीयानां (श्रेष्ठं)
च. सू. २५-४०
च. पा. — उदकमाश्वासकराणां, तथा जलं स्तंभनानां इति करोति तेन कर्मद्वयेऽपि जलस्थानस्य साधारणतां दर्शयति।

१००. स्नेहस्नेदावनम्यस्य यस्तु संशोधनं पिबेत्।
दारुशुष्काभिवानामे शरीरं तस्य वीर्यते।।
अ. हृ. में भी सू. १८-५१ परिवर्तन से.

स्नेह स्वेद प्रचलिता रसैः स्निग्धैरुदीरिताः।
दोषाः कोष्ठगताः जंतो सुखाहर्तु विशौधनै :।। सु. चि. ३३-४६, ४७

षष्ठ अध्याय

बस्ति-विज्ञान

व्याख्या—आयुर्वेदीय चिकित्सा में पंचकर्म का एक विशिष्ट महत्त्वपूर्ण स्थान है और पंचकर्म में 'बस्ति चिकित्सा' का ऐसा ही अतिशय महत्त्वपूर्ण स्थान है। बस्तिचिकित्सा यह आयुर्वेद की सारे चिकित्साजगत् के लिए ऐसी देन है जो अपने गुणों एवं उपयोगिता से अत्यंत गौरवास्पद स्थान विभूषित करती है। 'बस्ति' यह शब्द बस्तिदान में उपयुक्त यंत्र के नाम से प्रचलित हुआ है। बस्ति—अर्थात् प्राणियों के मूत्राशय (Urinary bladder) के द्वारा औषधियों का आभ्यंतर प्रविष्ट कराना, इस विधि से बस्ति यह नाम दिया गया है।[१] बस्ति शब्द की वैय्याकरणीय व्याख्या निम्नलिखित प्रकार की है।[२]

"वसु-निवासे बस्-आच्छादने वस्-वासने सुरभिकरणे,
बस्ति-वस्ते:आवृणोति मूत्रं। वस्-तिच्।
नाभेरधोभागे मूत्राधारे स्थाने (पु.)॥
औषध दानार्थे द्रव्यभेदे"॥

अर्थात् वस— शब्द निवास—रहने के अर्थ में आच्छादन करने के अर्थ में या सुगंधी कारकता के अर्थ में उपयोगी है। बस्तिशब्द—बस्ति जो मूत्र को आवरण करता है (धारण करता है) वस् में तिच् प्रत्यय से बना है, जो नाभि के अधोभाग में रहने वाले मूत्राधार स्थान के लिए, औषधदान के साधन द्रव्यभेद के लिए प्रयुक्त है और सुश्रुत में भी आगे इसी प्रकार से इनकी व्याख्या और निरुक्ति की हुई मिलती है। मूत्राधार या बस्ति के द्वारा जो औषधि (गुदादि मार्ग से) प्रविष्ट की जाती है, जो शरीर में वास करती है, (अमुक काल तक रहती है) वह बस्ति कहलाती है। बस्ति शब्द संस्कृत में पुर्ल्लिगी है।

सामान्य परिचय

सामान्यत: बस्ति यह शब्द सभी बस्तियों के लिए प्रयुक्त किया जाता है, जिसमें निरूह, अनुवासन, उत्तरबस्ति आदि बस्तियों का समावेश होता है। तथापि "बस्ति" शब्द चरक ने केवल 'निरूह' बस्ति के लिए प्रयुक्त किया हुआ भी मिलता है। "बस्ति व्यापत् सिद्धि" नामक सिद्धि स्थान का सातवाँ अध्याय है जिसमें चरक ने केवल निरूह बस्ति की व्यापत और उनकी चिकित्सा का वर्णन किया है। इस पर टीका करते हुए चक्रपाणि और जेज्जट ने लिखा है कि "बस्ति"शब्द निरूह के लिए लिया गया है।[३] इसी तरह 'शिरोबस्ति' की विधि के लिए भी बस्ति शब्द प्रयुक्त हुआ मिलता है।

बस्ति वह प्रक्रिया है जिसमें प्राय: गुदमार्ग से औषधि सिद्ध क्वाथ, स्नेह, क्षीर, मांसरस रक्तादि द्रव्यों को पक्वाशय में प्रविष्ट किया जाता है। यहाँ प्राय: शब्दप्रयोग करने

का कारण यह है कि गुदमार्ग के अतिरिक्त मूत्रमार्ग तथा अपत्यपथ से भी बस्ति दी जाती है, जिसे उत्तरबस्ति कहा जाता है, इतना ही नहीं बल्कि व्रण में भी व्रणमुख से बस्ति दी जा सकती है और ऐसे व्रण-बस्ति के नेत्र के प्रमाण का सुश्रुत में वर्णन किया हुआ मिलता है।[४] अतएव बस्ति की व्याख्या अरुणदत्त और शार्ङ्गधर ने की है, उस प्रकार "बस्ति के द्वारा दी जाने के कारण बस्ति कहलाती है" यही उचित है। गुद से पक्वाशय में, मूत्र मार्गो से मूत्राशय में, अपत्यमार्ग से गर्भाशय में या व्रणादि मार्गों में औषधियों को पहुंचाने के लिए यह आवश्यक है कि द्रव्यों को दबाव के साथ (Pressure से) अंदर ढकेला जाये। पहले जमाने में जब कि रबर का आविष्कार नहीं हुआ था, तब इस कार्य में गाय,बैल, बकरे, भैंस इत्यादि प्राणियों के मूत्राशय का (बस्ति) उपयोग एक संकोच प्रसरणशील थैली के रूप में किया जाता था, जिससे यह 'कर्म बस्ति'कहा जाने लगा और अब यह नाम रूढ़ हुआ है।

यह बस्तिकर्म स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचनादि सभी कर्मों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है। इसका कारण यह है कि स्नेहादि कर्मों की उपयोगिता मर्यादित है, लेकिन बस्ति व्यापक कर्मकारी है।[५] प्राय: सभी लोगों की कल्पना होती है कि बस्ति यह (Enema) एनीमा का एक नामांतर है, परन्तु बस्ति को आधुनिक वैद्य शास्त्र का 'एनीमा' समझना एक बड़ी भूल है। बस्ति के अनेक प्रकारों में से एक प्रकार एनीमा हो सकता है किंतु सभी बस्ति कर्म एनीमा के अंतर्गत नहीं जा सकते। सामान्यत: एनीमा मल को निकालने के लिए दिया जाता है। आधुनिक वैद्यशास्त्र में कुछ एनीमा पोषण के लिए दिये जाने का विधान है—लवण एवं ग्लुकोज का इस तरह उपयोग करना आधुनिक शास्त्र—सम्मत है, तथापि इनका उपयोग आज नहिवत् हुआ है और इनके साथ भी एनीमा का उद्देश्य और कार्मुकत्व मर्यादित है। जहां आयुर्वेदीय बस्ति की कल्पना, उद्देश्य और उपयोगिता अत्यंत व्यापक है।

अनेक औषधियों के संयोग के कारण बस्ति दोषों का शोधन करती है, संशमन भी करती है, मलों की संग्राही भी होती है, क्षीण शुक्रवाले आतुरों का शुक्र बढ़ाती हैं, कृशों को स्थूल करती है, स्थूलों को कृश करती है, नेत्रों की ज्योति बढ़ाती है, वय: स्थापन करती है—अर्थात तारुण्य को चिरकाल तक रखकर बुढ़ापा देर से लाती है, वर्ण को उज्ज्वल करती है, बल को बढ़ाती है। आयुष्य को कायम रखकर आरोग्य की वृद्धि करती है—इत्यादि अनेक गुणों को करती है।[६] इस तरह बस्ति एक अतीव व्यापक, शरीर के प्रत्येक अवयव को कुछ-न-कुछ लाभ पहुंचाने वाली प्रशस्त चिकित्सा है।

बस्ति यह वात की प्रधान चिकित्सा है, तथापि वात, पित्त, कफ तीनों दोषों में, रक्त में, दोषों के संसर्ग में, सन्निपात में यह लाभप्रद होती है।[७] शरीर में रोग प्रसार के शाखा, कोष्ठ, और मर्म ये तीन मार्ग होते हैं। इन तीन मार्गों में दोषों को प्रसृत करने में वायु की बहुत ज्यादा उत्तरदायिता होती है। क्योंकि स्वेद, मल, मूत्र, पित्त कफादि के संहनन का तथा संवहन का विक्षेपण का कार्य वायु ही शरीर में करता है और उस वायु के लिए बस्ति परमश्रेष्ठ चिकित्सा कही गई है। अतएव बस्ति को सभी चिकित्सा की आधी चिकित्सा के समान महत्ता प्राप्त है, तथा कुछ विद्वान तो उसे 'संपूर्ण चिकित्सा' भी मानते है।[८]

बस्ति प्रकार

बस्ति के अनेक प्रकार है और अनेकविध आधारों पर अनेक भेद किये जा सकते हैं। इन सब भेदों का नीचे वर्णन किया जाता है।

(क) अधिष्ठान भेद—बस्ति जिस अधिष्ठान में दी जाती है उस आधार पर बस्ति के निम्नलिखित ४ भेद हैं।

१. पक्वाशयगत—जो गुद मार्ग से दी जाती है, और औषध द्रव्य का अधिष्ठान पक्वाशय होता वह पक्वाशयगत बस्ति है।

२. गर्भाशयगत—स्त्रियो में गर्भाशय के दोषों को दूर करने के लिए दी जानेवाली, अपत्यपथ से गर्भाशय में औषधों को पहुंचानेवाली बस्ति गर्भाशयगत बस्ति है।

३. मूत्राशयगत—मूत्रमार्ग—(मेढ़ या योनि-) से मूत्राशय में जो बस्ति पहुंचाई जाती है—वह मूत्राशयगत बस्ति है। गर्भाशयगत और मूत्राशयगत बस्ति को 'उत्तर बस्ति' ऐसी संज्ञा दी जाती है।

४. व्रणगत—व्रणों में व्रण मुख से शोधन, रोपणार्थ औषधि द्रव्यों को पहुंचाना व्रणगत बस्ति है।

(ख) द्रव्यभेद—बस्ति प्रयुक्त द्रव्य क्वाथ है, या स्नेह है, इस आधार पर बस्ति के दो प्रकार होते हैं।

१. निरूहबस्ति—जिस बस्ति में क्वाथ की प्रधानता होती है उसे निरूह बस्ति कहते हैं। निरूह बस्ति का ही दूसरा नाम आस्थापन बस्ति हैं। दोषों को शरीर में से बाहर निकाल देने के कारण अथवा रोगों को हरण करने के कारण इसे 'निरूह' कहा जाता है और वयस्थापन करने के कारण या आयु स्थापन करने के कारण इसे आस्थापन कहते है।[९] कर्म के आधार पर निरूह के अनेक भेद होते हैं। उनका विचार 'कार्मुकता के आधार' पर भेद बताते हुए किया है। निरूह का ही एक विकल्प माधुतैलिक बस्ति माना गया है और यापन बस्ति, सिद्धबस्ति, तथा युक्तरथ बस्ति इसके पर्याय कहे है।[१०] जिस बस्ति में मधु और तैल ये प्रधान द्रव्य होते हैं उसे माधुतैलिक बस्ति कहते हैं और युद्धादि के लिए रथ में बैठकर जाना हो, हाथी घोड़ों की सवारी करते हुए जाना हो (बैलगाड़ी, घोड़े, ऊंट, सायकल, स्कूटर, मोटर, ट्रेन, हवाई जहाज आदि सब वाहनों का इनमें उपलक्षण से समावेश करना चाहिये)—ऐसी अवस्था में भी जो बस्ति निशिद्ध नहीं है, ली जा सकती है, उसे युक्तरथ बस्ति कहते हैं। शरीर में जो बल उत्पन्न करती है, वर्ण प्रसादन करती है, और सैकड़ों रोगो को मिटाती है—(सिद्ध करती है) इस कारण सिद्धबस्ति कहलाती है।[११] यापन बस्ति वह है जो सब काल में दी जा सकती है, आयुष्य का यापन करती है—बढ़ाती है।[१२]

२. अनुवासन बस्ति—जिस बस्ति में स्नेह मुख्य द्रव्य होता हैं उसे अनुवासन बस्ति कहते है।[१३] सुश्रुत ने इसे 'स्नैहिक बस्ति' ऐसा शब्द प्रयोग भी किया है।[१४] अनुवासन बस्ति को स्नेहबस्ति का एक प्रकार माना है। अनुवासन की निरुक्ति इस तरह की गई है—जो अनुवासन अंदर रहते हुए भी कोई दोष उत्पन्न नहीं करती, तथा अनुदिन-प्रतिदिन दी जा सकती है वह अनुवासन बस्ति है।[१५] स्नेह बस्ति के ३ भेद मात्रा के आधार से किये जाते है।

१. स्नेह बस्ति—वय के अनुसार निरूह की जो मात्रा होती है, उससे एक चतुर्थांश (पादावकृष्ट) स्नेह बस्ति में स्नेह दिया जाता है।[१६] यदि द्वादशप्रसृत्ति प्रमाण को निरूह बस्ति हो तो स्नेह बस्ति ३ प्रसृति की समझनी चाहिये। डल्हण ने टीका में कहा है कि—स्नेहबस्ति की उत्तम मात्रा ६ पल (२४ तोला), मध्यम मात्रा ३ पल (१२ तोला) और कनीयसी मात्रा १।। पल (६ तोला) की होती है।[१७] स्नेहबस्ति का आधा आधा भाग कर यही प्रमाण उपलब्ध होता है। इसे ही चक्रपाणि ने स्नेहबस्ति ६ पल स्नेह की, अनुवासन बस्ति ३ पल स्नेह की और मात्रा बस्ति १।। पल स्नेह की होती है ऐसा कहा है।[१८]

२. मात्रा बस्ति—ह्रस्व स्नेहपान की जो मात्रा कही गई हैं वह (अर्थात् छः घंटे में जरणयोग्य स्नेह) मात्राबस्ति में स्नेह की मात्रा होनी चाहिये।[१९] सुश्रुत ने इसे अनुवासन बस्ति का प्रकार मानकर अनुवासन का आधा प्रमाण-मात्रा-बस्ति का होता है ऐसा कहा है।[२०]

३. अनुवासनबस्ति—स्नेहबस्ति के आधा प्रमाण में स्नेह देना यह अनुवासन बस्ति कहलाती है।[२१] संक्षेप में स्नेहबस्ति के ३ प्रकार हैं।

१. जो निरूह मात्रा के एक चतुर्थांश प्रमाण में दी जाती है वह स्नेहबस्ति,

२. स्नेहबस्ति के आधे प्रमाण में दी जाती है वह अनुवासन बस्ति और

३. अनुवासन बस्ति के आधे प्रमाण में दी जाती है वह मात्रा बस्ति है और इनका प्रमाण क्रमशः ६ पल (२४ तोला), ३ पल (१२ तोला) और १।। पल (६ तोला) लिया जा सकता है।

(ग) कार्मुकता के आधार पर भेद—निरूह बस्ति के कार्मुकता के आधार पर सुश्रुत ने निम्नलिखित भेद किये है।[२२] तत्तद् प्रकार के द्रव्यों का उपयोग इनमें किया जाता हैं।

१. शोधन बस्ति—जो दोषों को और मलों को निकालकर शोधन का कार्य प्रधानरूप से करती है। इसमें शोधन द्रव्य डाले जाते हैं।

२. लेखन बस्ति—जो मेदोधातु को कम कर, शरीर का लेखन करती है।

३. स्नेहन बस्ति—जिसमें अधिक स्नेह का उपयोग किया जाता है, और जो शरीर का स्नेहन करती है उस बस्ति को स्नेहनबस्ति कहते हैं। यह अनुवासन प्रकार की स्नेहबस्ति नहीं है।

४. बृंहण बस्ति— जो रसादि धातुओं को बढ़ाकर शरीर का वृहत्व करती है वह बृंहण बस्ति कहलाती है।

वाग्भट ने निम्नलिखित और तीन भेद बताये है :—

१. उत्क्लेशन बस्ति—जो दोषों को और मलों को उत्क्लिष्ट करती है, उनके प्रमाण को बढ़ाती है, द्रवीभूत करती है वह उत्क्लेशन बस्ति कहलाती है।

२. दोषहर बस्ति—यह शोधन प्रकार का निरूह है।

३. शमन बस्ति— जो दोषों का शमन करें वह शमनबस्ति कहलाती है।

शार्ङ्गधर ने उत्क्लेशन, दोषहर, शोधन, शमन के अतिरिक्त लेखन, बृंहण पिच्छिल, दीपन ऐसे और चार प्रकार के बस्तियों का उल्लेख किया है। चरकसंहिता में बस्ति वर्णन प्रकरण में (सि.अ.८) १.वातघ्न बस्ति २.बलवर्णकृत बस्ति ३.स्नेहनीय बस्ति ४.शुक्रकृत ५.कृमिघ्न बस्ति ६.वृषत्वकृत् बस्तियों का उल्लेख किया है। सुश्रुत ने जैसे कि पहले ही कह आये हैं--बस्ति को—शोधन, संग्राही, शुक्रवृद्धिकृत्, कृशों को स्थूल करने वाली इत्यादि प्रकार के कार्य करने वाली कहा है। इन सब के आधार पर बस्ति के निम्नलिखित कार्मुक भेद हो जाते हैं।

१. शोधन बस्ति— १ तीक्ष्ण बस्ति—२ मृदुबस्ति.

२. लेखन बस्ति
३. उत्क्लेशन बस्ति
४. शमन बस्ति—वातशमन, पित्तशमन, कफशमन, शूलप्रशमानादि
५. बृंहण बस्ति—कृशों को स्थूल करने वाली
६. कर्षण बस्ति—स्थूलों को कृश करने वाली
७. रसायन बस्ति
८. बाजीकरण बस्ति—या वृष्य बस्ति, क्षीणेंद्रिय बलकर तथा व्यापन्न योनि में पथ्यतम दो प्रकार की होती है।
९. स्नेहनीय बस्ति
१०. चक्षुष्य बस्ति
११. संग्राही बस्ति
१२. वर्णप्रसादन बस्ति

(घ) बस्तिसंख्या के आधार पर भेद—बस्तिकोर्स, या बस्ति कितनी संख्या में देनी चाहिये यह विषय लेकर चरक ने बस्ति के और तीन भेद किये है।[२३] वाग्भट ने भी इसका अनुसरण किया है।

१. **कर्म बस्ति**— इस क्रम में कुल ३० बस्तियाँ दी जाती हैं। इसमें प्रथम बस्ति अनुवासन बस्ति होती है और, फिर एक निरूह एक अनवासन इस क्रम से १२ निरूह और १२ अनुवासन बस्तियां दी जाती हैं, और अंतिम ५ पुनः अनुवासन बस्तियां दी जाती है। इस तरह वस्तुतः अंत में ६ अनुवासन बस्तियां होती हैं। इसक्रम में कुल १२ निरूह और १८ अनुवासन बस्तियां दी जाती है। इसे 'कर्मबस्ति'कहा जाता है।

२. कालबस्ति—इस क्रम में कुल १६ बस्तियां दी जाती हैं। प्रथम एक बस्ति स्नेहबस्ति फिर क्रम से ६ निरूह और ६ स्नेह बस्तियां और अंत में ३ पुनः स्नेहबस्ति यह इसका क्रम है। चरक ने कर्म बस्ति की संख्या ३० कहकर उसकी आधी संख्या में काल बस्ति देने को कहा है, तथापि ३० का आधा १५ होते हुए भी १६ बस्ति समझना चाहिये। चक्रपाणि कहते हैं कि यहां ३० का बिलकुल आधा न लेते हुए १५ के बदले १६ बस्तियां दी जानी चाहिये। जतुकर्ण ने भी कालबस्ति में १६ बस्तियां कही है। इस क्रम में कुल निरूह ६ और अनुवासन १० संख्या में दिये जाते है।

वाग्भट ने कालबस्ति की संख्या १५ कही है। पहली बस्ति स्नेहबस्ति, फिर एक निरूह एक अनुवासन क्रम से ११ बस्तियां और अंत में पुनः ३ अनुवासन की कही है।[२४] वस्तुतः इसमें चरक सिद्धांत का ही पालन किया है। चरक ने "काले त्र्योंत पुरातस्तथैकः स्नेहा निरूहांतरिताश्च षट स्युः" ऐसा कहा है। इस क्रम से पहली बस्ति स्नेह की, फिर छः निरूह और छः अनुवासन और अन्त में ३ अनुवासन बस्तियां होती हैं। २, ४, ६, ८, १० वें और १२ वें दिन निरूह, इस तरह छः निरूह और १, ३, ५, ७, ९, ११ वें दिन अनुवासन इस तरह पहला अनुवासन छोड़कर ५ अनुवासन, और अंत में १३, १४ और १५वें दिन पुनः अनुवासन इस तरह ३ संख्या पूर्ण हो जाती है। चक्रपाणि के क्रम से देने पर अंत में १३, १४, १५ और १६ वें दिन इस तरह ४ अनुवासन हो जाते हैं।

३. योगबस्ति—इस क्रम में कुल ८ बस्तियां दी जाती हैं। पहली बस्ति अनुवासन, फिर एक निरूह, एक अनुवासन क्रम से ३ निरूह और ३ अनुवासन और अंत में पुनः एक अनुवासन बस्ति दी जाती है। चरक ने कालबस्ति (१६) की आधी संख्या अर्थात् ८ संख्या 'योग'बस्ति की कही है और वाग्भट ने भी योग बस्ति में ८ बस्ति देने को कहा है।[२५] इस तरह चरक ने यदि कालबस्ति में क्रम भंग किया है तो वाग्भट ने योगबस्ति में किया है। तथापि यहां निरूह से आगे और पीछे अनुवासन का प्रमाण अधिक होना चाहिये यह सामान्य उद्देश्य दोनों को स्वीकार्य होने से क्रमभंग का प्रश्न उपस्थित नहीं होता।

उपर्युक्त क्रम में कर्म, काल और योग बस्ति को रूढ़ नाम समझनी चाहिये। या ग्रंथकार का विशिष्ट पारिभाषिक शब्द समझना चाहिये। इसके सिवाय इस संज्ञा का दूसरा कोई अर्थ प्रतीत नहीं होता।

(ङ) अनुषंगिक भेद—इनमें उन बस्तियों का समावेश किया है जिनका आचार्यों ने विशिष्ट नाम से उल्लेख किया है। यद्यपि उनको उपर्युक्त किसी भेदे में अलग नहीं गिना है। तथापि उन शब्दों का ज्ञान छात्रों को, वैद्यों को तथा अन्वेषकों को बराबर ध्यान में रखने योग्य होने के कारण उनको नीचे प्रस्तुत किया जाता है।

१. **यापन बस्ति**—इसका उपयोग बल, शुक्र, मांस बढ़ाने के लिए तथा बस्ति परिहार काल में मैथुनादि अपथ्य का व्यवहार करने से उत्पन्न व्यापद की चिकित्सा के लिए किया जाता है। यापन बस्ति सभी कालों में दी जा सकती है, और यह निरापद बस्ति है। इससे आयुष्य का यापन होता है, दीर्घानुवर्तन होता है अतः इसे यापन बस्ति कहते हैं।[२६] इन बस्तियों में क्वाथ के साथ दूध, जांगल, मांस रस, मधु, घृत, गुड़, कुक्कुटादि प्राणियों के अंडे (का रस) इत्यादि का उपयोग होता है। इस तरह कुल २६ बस्तियां चरक ने वर्णित की है उनका आगे यथावसर वर्णन किया है।

२. **सिद्ध बस्ति**—अमुक रोगों में उन रोगों को सिद्ध करने वाली (रोगों को दूर करने वाली) जो बस्तियां दी जाती हैं उन्हें 'सिद्धबस्ति'कहते हैं।[२७]

३. **प्रसृत यौगिकी बस्ति**— बस्ति, वयानुसार विशिष्ट प्रमाण में दी जाती हैं। तथापि कुछ बस्तियों का विशिष्ट प्रमाण के साथ देने का उल्लेख किया हुआ मिलता है। इस तरह प्रसृति (लगभग ८ तोला) के प्रमाण से जो बस्तियां वर्णित हैं उन्हें प्रासृत योगिकी बस्ति कहते है।[२८] इस विषय पर चरक ने खास अध्याय (सि.अ.८) लिखा है और इसमें क्षीरबस्ति, तैल प्रसन्नादि बस्ति, पटोलादि बस्ति, विडंगादि बस्ति आदि बस्तियों का वर्णन किया है जिनका आगे विचार किया जाएगा।

४. **द्वादश प्रसृतिकी बस्ति**—जिन बस्तियों में कुल द्रव्य का प्रमाण १२ प्रसृति (९६ तोला) होता है, उसे द्वादश प्रासृतिकी बस्ति कहा जाता है।[२९] यह बस्ति का परम प्रमाण है। इस बस्ति का एक उदाहरण माधुतैलिक बस्ति सुश्रुत ने दिया है—जिसमें सैंधव १ कर्ष, मधु २ प्रसृत, स्नेह ३ प्रसृत, कल्क १ प्रसृत, क्वाथ ४ प्रसृत और प्रक्षेप २ प्रसृत मिलाकर १२ प्रसृति की बस्ति दी जाती है।

५. **पादहीन बस्ति**—इनमें ३ प्रसृति कम कर कुल ९ प्रसृति की बस्ति दी जाती है।[३०] उदाहरण मधु और तेल ४ प्रसृत २ कर्ष, एरंडमल क्वाथ ४ प्रसृत २ कर्ष, सौंफ आधा पल,

सैंधव एक कर्ष, मदनफल संख्या में एक—इस तरह ९ प्रसृति की बस्ति देना "पादहीन" बस्ति है।

६. तीक्ष्ण बस्ति—क्षार, मूत्र तथा उष्ण तीक्ष्णौषधियों के संयोग से जो बस्ति दी जाती है वह तीक्ष्ण बस्ति कहलाती है। यह 'शोधन' बस्ति के अंतर्गत जा सकती है, किंतु सभी शोधन बस्तियां तीक्ष्ण नहीं होती अत: इसका यहां अलग उल्लेख किया हैं। जब पहली दी हुई बस्ति वापस नहीं आती है, तो तीक्ष्ण बस्ति देने का आदेश दिया गया है।[३१]

७. मृदु बस्ति—अत्यंत बाल और वृद्धों में मृदुबस्ति देनी चाहिये। मधुर स्कंध की औषधियां, दूध, मांसरस, घी इत्यादि इनके संयोग से बस्ति मृदु होती है।

८. पिच्छाबस्ति—यह पिच्छायुक्त द्रव्यों से दी जाती है, इसका उद्देश्य शरीर से बाहर निकल जाने वाले पिच्छास्राव को, जीवशोणित का स्तंभन करना यह होता है। वैसे इसका अंतर्भाव संग्राही बस्ति में किया जा सकता है।

९. रक्तबस्ति[३२]—"रक्ते रक्तैन" के अनुसार जब कभी अत्यधिक मात्रा में शरीर में से रक्त निकल जाता है, तो उस रक्तक्षय की पूर्ति के लिए रक्तबस्ति देने का आदेश शास्त्र में दिया गया है। यह रक्तस्तंभन के लिए नहीं अपितु रक्तनिर्माण के लिए दी जाती है। इन बस्तियों से तुरन्त रक्त बढ़ता है।

वस्तुपयोगी द्रव्यों का विचार

बस्ति में अनेक द्रव्यों का उपयोग किया जाता है। जिनमें स्थावर-वान-स्पतिक द्रव्य जांगम-क्षीर, मांसरस, वीर्य, अंडे, मूत्रादि द्रव्य तथा क्षार-लवण आदि का समावेश होता है। बस्ति द्रव्यों में जिनका उपयोग के लिए उल्लेख न किया गया हो ऐसे द्रव्य बहुत कम हैं। अतएव बस्ति प्रयुक्त द्रव्यों का एकैकश: परिचय, गुण कर्मादि का वर्णन करना द्रव्यगुण शास्त्र का ही ग्रंथ निर्माण करना होगा। चरक ने भी बस्ति द्रव्यों के वर्णन के संदर्भ में कहा है कि आस्थापन (निरूह) में तो इतने सारे औषधियों की कल्पनाएं कर, तत्द् अवस्थानुसार बस्ति दी जाती है कि उनका नामत: उपदेश करना भी संभव नहीं है, क्योंकि ये बहुत अधिक हैं, उनका नाति संक्षेप में निर्देश करना ही इष्ट है, क्योंकि ये अमुक प्रकार के बस्ति में उपयोगी हैं—उनका उतना ही ज्ञान पर्याप्त है। अतएव उनका रसत: उल्लेख किया जाता है। ऐसा कहकर चरक ने मधुरस्कंध, अम्ल स्कंधादि छ: रसों के छ: स्कंध देते हुए आस्थापन में उपयोगी द्रव्यों का उनमें संग्रह किया है। रस भी संसृष्ट (संमिलित) होकर अनेक हो जाते है। अत: द्रव्यभेद गिनना दुष्कर ही है। इसलिए आस्थापन के उपयोगी मधुरादि स्कंध से उनका ज्ञान पर्याप्त होता है।[३३]

बस्त्युपयोगी द्रव्यों का चरकादि आचार्यों ने जहाँ जहाँ उपदेश किया है, उनका यहां केवल नाममात्र उल्लेख किया जाता है। उनके गुण, कर्मादि का ज्ञान द्रव्यगुण शास्त्र के ग्रंथ में देखना चाहिये।

१. फलिनी औषधियां[३४]— वमनोपयोगी फलिनी (फल) औषधियों का आस्थापन में भी निर्देश किया गया है। ये हैं—

१. धामार्गव	२. ईक्ष्वाकु	३. जीमूत
४. कृतवेधन	५. मदनफल	६. कुटज
७. त्रपुष	८. हस्तिपर्णिनीमोरट।	

२. स्नेह द्रव्यों में बस्ति में—

१. घृत २. तैल ३. वसा और
४. मज्जा का उपयोग किया जाता है।[३५]

३. मूत्रवर्ग[३६]—

१. बकरी का मूत्र	२. भेड़ का मूत्र	३. गोमूत्र
४. भैंस का मूत्र	५. हाथी का मूत्र	६. ऊंट का मूत्र
७. घोड़े का मूत्र	८. गदहे का मूत्र इनका उपयोग उद्धर्तन, आलेपन आस्थापनादि में किया जाता है।	

४. आस्थापन तथा अनुवासन गण[३७]—निम्नोक्त औषधियों के क्वाथ आस्थापन के लिए तथा उनसे सिद्ध स्नेहों का अनुवासन के लिए उपयोग करना चाहिये।

१. पाटला	२.अग्निमंथ	३.बिल्व	४. श्योनाक
५. काश्मरी	६.शालिपर्णी	७.पृश्निपर्णी	८. छोटी कटेरी
९. बला	१०. गोक्षुर	११. बडी कटेरी	१२.एरंड
१३. पुनर्नवा	१४. यव	१५. कुलत्थ	१६.गुडूची
१७. मदनफल	१८. कोल (बैर)	१९. पलाश	२०.कत्तृण
२१. स्नेहं	२२. लवण		

५. आस्थापनोपग गण[३८]—निम्नोक्त द्रव आस्थपन के लिए प्रयुक्त अन्य द्रव्यों में सहाय्यक होते है।

१. त्रिवृत	२. बिल्व	३. पिप्पली	४. कुष्ठ	५.सर्षप
६. वचा	७. कुटज	८.सौंफ	९. यष्टीमधु	१०.मदनफल

६. अनुवासनोपग गण[३९]— ये द्रव्य अनुवासन के सहायकारी द्रव्य कहलाते हैं।

१. रास्ना	२. देवदारु	३.बिल्व	४. मदनफल	५.सौंफ
६. रक्तपुनर्नवा	७. श्वेत पुनर्नवा	८.गोक्षुर	९. अग्निमंथ	१०.श्योनाक

७. षडास्थापन स्कंध— इनमें मधुर स्कंध, अम्ल स्कंध, लवण स्कंध, कटु स्कंध, तिक्त स्कंध और कषाय स्कंध ऐसे छ: स्कंध हैं। इनके वर्णन में मधुर स्कंध का वर्णन करते हुए कहा है कि एकरस वाले द्रव्य प्राय: नहीं होते। द्रव्य में संसृष्ट रस होते हैं। अतएव यहां मधुर स्कंध का अर्थ जो प्राय: मधुररस युक्त होते हैं, मधुर विपाकी होते हैं, जिनका प्रभाव मधुर होता है (मधुररस के कार्य संपन्न करने वाले) उन सबको मधुर समझकर 'मधुरस्कंध' में कहा जाता है।[४०] यहीं बात आग अम्लादि स्कंध में समझनी चाहिये।

१. मधुर स्कंध— निम्नलिखित औषधियों का मधुर स्कंध में समावेश किया जाता है। इन द्रव्यों की बस्ति वातविकार में लाभप्रद होती है, वैसी ही मधु, घृत और शीत दव्यों के साथ पित्त विकारों में प्रशस्त होती है।[४१]

जीवक, ऋषभक, जीवंती, वीरा, आमलकी, काकोली, क्षीरकाकोली, अभीरु (जालंधर शाक) मुद्गपर्णी, माषपर्णी, शालपर्णी, पृश्निपर्णी असनपर्णी मधुपर्णी मेदा, महामेदा, कर्कटशृंगी शृंगाटिका, गुडुचि, छत्रा, अतिच्छत्रा (सौंफ भेद, लाल तालमखाना) श्रावणी, महाश्रावणी, अलंवुषा (मुंडी का भेद) सहदेवा, विश्वदेवा, शुक्ला, क्षीरशुक्ला,

बला, अतिबला, विदारी, क्षीरविदारी, क्षुद्रसहा, महासहा, ऋष्यगंधा, अश्वगंधा, वृश्चीर, (रक्त पुनर्नवा) पुनर्नवा (श्वेत), बृहती, कंटकारी उरुबुक (एरंड), मोरट, गोक्षुर, संहर्षा, शतावरी, शतपुष्पा, मधुकपुष्पी, यष्टीमधु, मधूलिका, मृद्विका, खर्जूर, परुषक, आत्मगुप्ता, पुष्करबीज, कशेरुक, राजकशेरुक, (कसेरु, बड़ा कसेरु), राजादन (खीरनी) कालंक, कृतक (निर्मलीक), काश्मरी, शीतपाकी (गुंजा) ओदनपाकी (नील झिंटी) ताल, खर्जूर, इक्षुवालिका, वालिका, दर्भ, कुश, शाली, गुंद्रा, (तृणभेद), ईत्कट (तृणभेद) शरमूल, राजक्षवक, ऋष्यप्रोक्ता (पीतवला), द्वारदा (सागवन या पालक) भारद्वाजी, (वनकपास) वनपुष्पी, अभीरुपत्री (शतावरी भेद) हंसपादी (हंसराज), काकनासिका (कौआ ठोडी), कुलंगाक्षी (उच्चटा) क्षीरवल्ली (क्षीरविदारी), कपोतवल्ली (छोटी एला) सोमवल्ली (सोमलता), गोपवल्ली (अनंतमूल), मधुवेल्ली (द्राक्षा)।

१. **अम्लस्कंध**[४२]—आम, आम्रातक, लिकुच, करमर्द, वृक्षाम्ल, वम्लवेतस, कुवल, बदर, दाडिम, मातुलुंग, गंडीर, आमलकी, नंदीतक (कर्पूर नंदी) शीतक, तिंतीडक (इमली) दंतशठ, आरावतक (नारंगी), क्रोशाम्र इनके फल, आम्रातक, अश्मंतक, चांगेरी, अम्लिका इनके पत्र, कोल, शुष्काम्लिका के आसव, सुरा, सौवीरक, तुषोदक, मैरेय, मेदक, मदिरा, मधुशुक्त, सीधु, दधिमंड, दधि, उदाश्वित् ये अम्लस्कंध के द्रव्य कहे जाते हैं। इनसे वातविकारों में विधिपूर्वक बस्ति दे।

३. **लवणस्कंध**[४३]— सैंधव, सौवर्चल, काललवण, विड्लवण, पाक्य लवण, आनूपलवण, कूप्यलवण, वालुक, एलमौलक, सामुद्र लवण, रोमक लवण, औद्भिद, उषरलवण, पाटेयक, लवण, पांशुज लवण, इत्यादि लवणों को लवण स्कंध कहते हैं। इनसे अम्लद्रव्यों के साथ, गरम पानी के साथ, स्नेहों के साथ सुखोष्ण बस्ति देनी चाहिये। वातव्याधि में इसका उपयोग करे।

४. **कटुकस्कंध**[४४]— पिप्पली, पिप्पलीमूल, हस्तिपिप्पली, चव्य, चित्रक शृंगवेर (आर्द्रक), मरिच, अजमोदा, आर्द्रक, विडंग, तुंबरु, पीलु, तेजोबती, एला, कुष्ठ, भल्लातक मज, हिंगु, किलिम, (देवदारु), मलक, सर्षप, लशून, करंज, शिग्रु, मधुशिग्रु, खरपुष्प, (खुरासानी अजवाईन), भूतृण, सुमुख (तुलसीभेद), सुरसा (तुलसी) कुठेरक, अर्जक (तुलसीभेद), कांडीर (मंजिष्ठा), कालमालक (काली तुलसी), पर्णास (तुलसीभेद), क्षवक (नकछिकनी), फणिज्जक (तुलसीभेद), क्षार, मूत्र, पित्त इनका समावेश कटुकस्कंध में होता हैं। इनके क्वाथ से मधु, तैल, लवण मिलाकर यथावत बस्ति कफ विकार में देना चाहिये।

५. **तिक्त स्कंध**[४५]— चंदन, नलद, (जटामांसी-उशीर तिक्तमाल (आमलतास) निंब, तुंबरु, कुटज, हरिद्र दारुहरिद्रा, मुस्ता मुर्वा, किराततिक्त, कटुका, त्रायमाणा, कारवेल्लक, करीर, करवीर, केबुक (पत्तूर), कठिल्लक (पुनर्नवा, मंडूकपर्णी, कर्कोटक (कोडा), वार्ताकु कर्कश (कासमर्द), काकमाची काकोदूंबरिका (कांठगुलरिया), अतिविषा पटोल, कुलक, पाठा, गुडूचि, वेत्राग्र (वेत का अग्रभाग), बेतस बिकंकत (खुवा वृक्ष), बेंकुल, सोमवल्क, सप्तपर्ण, सुमन (चमेली), अर्क (मदार या आक), अवलगुज (बाबची), वरा (त्रिफला), तगर, अगरु, बालक (सुगंधवाला), उशीर, ये सब तिक्तस्कंध के द्रव्य कहे जाते हैं। उनका यथावत् क्वाथ बनाकर, तैल, लवणादि से संस्कार कर कफ रोगों में विधिवत् बस्ति देनी चाहिये।

६. **कषाय स्कंध**[४६]— प्रियंगु, अनंतमूल, आम्र की मज्जा, अंबष्ठकी, कटुका, लोध्र, मोचरस, समंगा, धातकी के फूल, कमल, कमलकेशर, जामुन, आम, प्लक्ष बड, पीतोदुंबर, पीपर, भल्लातक, अश्मंतक, शिरीषपुष्प, सीसम, सोमवल्क सफेद (खैर), तिदुक, प्रियाल, चिरौंजी, बदर, खदिर, सप्तपर्ण, अश्वकर्ण परिपेलव (कैवर्तकमुस्तक), कदंब शल्लकी, जिंगिनी (मंजिष्ठा) काश, कशेरुक (कसेरु), राजकशेरुक (कसेरुक भेद), कट्फल, वंश (बाँस), पद्माक (पद्म- (काष्ठ) अशोक, शाल, धव, सर्ज, भुर्ज, शण, खरपुष्प (शण ?), शमी, माठीक (देवदारु), बरक (बेर-धान्य), तुंग (पुन्नाग), अजकर्ण (शालभेद), स्फूर्जक (तिंदुक भेद), बहेडा, कुंभी, पुष्करबीज, बिस (कमल तंतु), मृणाल (कमल दंड), ताल खर्जूर, इनका समावेश 'कषाय स्कंध' में किया जाता है। इनको क्वाथदि विधि से सिद्ध कर, मधु, तैल, लवण इत्यादि मिलाकर सुखोष्ण बस्ति विधिपूर्वक कफविकार में देनी चाहिये। इनमें शीत, मधुर द्रव्यों को मिलाकर मधु और घृत मिलाकर पित्त विकार में बस्ति देनी चाहिये।

सुश्रुतोक्त निरूह वर्ग[४७]— क्षीरवर्ग के सभी दूध, अम्लवर्ग के द्रव्य, मूत्रवर्ग मूत्र, स्नेह, क्वाथ, मांसरस, लवण, त्रिफला, मधु, शतपुष्पा, सर्षप, वचा, एला त्रिकटु, रास्ना, सरल, देवदारु, हरिद्रा, यष्टीमधु, हिंगु, कुष्ठ, संशोधन गणोक्त द्रव्य, कटुका, शर्करा, मुस्ता, उशीर, चंदन, कपूर मंजिष्ठा, मदनफल, चंडा (गठोना) त्रायमाणा, रसांजन, बिल्वगिरि (बेल की मज्जा), यवानी, फलिनी वर्ग, इंद्रयव, काकोली, क्षीर काकोली, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, ऋद्धि, वृद्धि, मधूलिका, इनको निरूह वर्ग कहते हैं।

वाग्भटोक्त निरूह द्रव्य संग्रह[४८]— मदनफल, कुटज, कुष्ठ, देवदाली, यष्टीमधु, वचा, दशमूल, देवदारु, रास्ना, यव, सौंफ, कृतवेधन, कुलत्थ, मधु, लवण, और त्रिवृत ये निरूहोपयोगी द्रव्य हैं।

बस्ति योगायोग्यों का विचार

बस्ति का कार्यक्षेत्र व्यापक है। एवं सब आतुरों में, सब अवस्थाओं में बस्ति दी जा सकती है। फिर भी खास संयोगों में बस्ति देना अयोग्य होता है। बस्तियोग्य कौन है किसे कौनसी बस्ति देनी चाहिए यह विचार आवश्यक होता है।[४९] बस्ति प्रकरण प्रारंभ करते समय चरक ने एक प्रश्नों की मालिका प्रस्तुत की है। इसमें एक महत्त्व का प्रश्न पूछा गया है कि— बस्ति से जो रोग साध्य है, उनमें वह बस्ति देने पर भी रोग प्रशम नहीं होता ऐसा क्यों होता है।[५०] इसके उत्तर में चरक कहते हैं कि मेद और कफ के कारण वात का मार्गावरोध होने से सुप्ति, शोथ, शूल इत्यादि करता है। ऐसे आतुर में स्नेह बस्ति दे तो वह मार्ग का अवरोध बढ़ाकर इन लक्षणों को बढ़ाने में ही कारण होती है। इसी तरह अनेक रोग अपने तर्क से भी परे संदिग्धता से परस्पर मार्ग का अवरोध कर देते है और धातुओं में दुष्टि करते हैं, अत: उनको तत्तद प्रकार की भेषजयुक्त बस्ति भी ठीक नहीं कर सकती।[५१] वहां यह स्पष्ट किया है कि बस्ति उन रोगों की चिकित्सा होते हुए भी मार्गादि परस्पर संसृष्ट हेतु उसे केवल निष्क्रिय बनाते अपितु विपरीत कार्यकर (रोग वृद्धि कर) भी कर देते हैं। इसलिए बस्तिदान के पूर्व वह बस्तियोग्य है या नहीं इसका स्पष्ट ज्ञान करना अत्यंत आवश्यक होता है। अत: आस्थापन, अनुवासन बस्ति के लिए योग्य और अयोग्यों का विचार प्रस्तुत करते हैं।

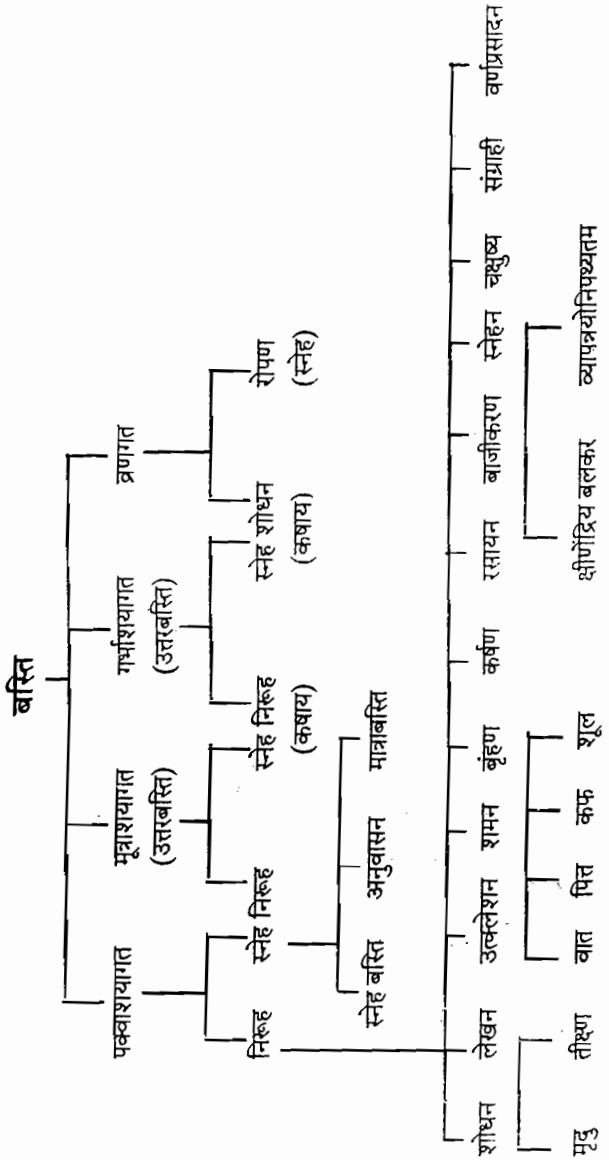

अनास्थाप्य[५२]— जिनको आस्थापन बस्ति अर्थात् निरूह देना उचित नहीं हैं, वे अनास्थाप्य आतुर, चरकादि मतानुसार तालिका में बताए गये हैं।

अनास्थाप्य — तालिका

क्र.	अनास्थाप्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१.	अजीर्णि	+	+	—
२.	अतिस्निग्ध	+	—	+
३.	पीत स्नेह	+	—	—
४.	उत्क्लिष्ठ दोष	+	—	—
५.	अल्पाग्नि	+	+	+
६.	यान क्लांत	+	—	—
७.	अति दुर्बल	+	+	—
८.	क्षुधार्त	+	—	—
९.	तृष्णार्त	+	+	—
१०.	श्रमार्त	+	—	+
११.	अतिकृश	+	+	+
१२.	भुक्तभक्त	+	—	+
१३.	पीतोदक	+	—	—
१४.	वमित	+	—	+
१५.	विरिक्त	+	—	+
१६.	कृत नस्य कर्म	+	—	+
१७.	क्रुद्ध	+	—	—
१८.	भीत	+	—	—
१९.	मत्त	+	+	—
२०.	मुर्च्छित	+	+	—
२१.	प्रसक्त छर्दि	+	+	+
२२.	प्रसक्त निष्ठीव	+	—	+
२३.	श्वास प्रसक्त	+	+	+
२४.	कास प्रसक्त	+	+	+
२५.	हिक्का प्रसक्त	+	—	+
२६.	बद्ध गुदोदर	+	—	+
२७.	जिद्रोदर	+	—	+
२८.	दकोदर	+	—	+
२९.	आध्मान	+	—	+
३०.	असलक	+	—	—
३१.	विसूचिका	+	—	—

क्र.	अनास्थाप्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
३३.	आमदोष	+	—	—
३३.	आमातिसार	+	—	+
३४.	मधुमेह, प्रमेह	+	+	+
३५.	कुष्ठ	+	+	+
३६.	अर्श	+	+	+
३७.	पांडु	—	+	—
३८.	भ्रम	—	+	—
३९.	अरोचक	—	+	—
४०.	उन्माद	—	+	—
४१.	शोक ग्रस्त	—	+	—
४२.	स्थौल्य	—	+	—
४३.	कंठ शोष	—	+	—
४४.	क्षतक्षीण	—	+	+
४५.	सप्तमास गर्भिणी	—	+	+
४६.	बाल, वृद्धा	—	+	—
४७.	अल्पवर्च	—	—	+
४८.	शूनपायु: (गुदशोथ)	—	—	+
४९.	आम प्रजाता	+	—	—
५०.	शोफ	—	—	—

अनास्थाप्यों में आस्थापन देने से संभाव्य विकार[५३]

अजीर्ण को, जिसका स्नेहन किया है उसके, तथा जिसने अभी अभी स्नेह पिया है उसे आस्थापन बस्ति देने से—दूष्योदर, —मूर्च्छा और शोथ रोग उत्पन्न हो सकते है। बस्ति के पूर्वकर्म में स्नेहन स्वेदन करने को कहा गया है और यहां स्नेहपीत अनास्थाप्य कहा है, इसका अर्थ यह समझना चाहिये कि बस्ति के पूर्व आभ्यंतर स्नेहपान नहीं करना चाहिये, लेकिन बाह्य: कटि, पृष्ठ, स्फिग्, श्रेणी वंक्षण बस्ति प्रदेशपर अभ्यंग और स्वेद किया जा सकता है। आभ्यंतर स्नेहपान से दोषों का उत्क्लेश होता है और बस्ति में तैलादि स्नेह होते हैं जो उत्क्लेश बढ़ा सकते हैं और दूष्योदरादि के लिए हेतु हो जाते हैं। उदररोग में स्नेहपान यह एक हेतु कहा ही हैं। यान क्लान्त—जो सवारी कर थके हुए हों उनको बस्ति देने से उनके थके हुए शरीर को बस्ति सूखाती हैं। अत्यंत दुर्बल, क्षुधार्त, तृष्णार्त तथा श्रम से थके हुओं में बस्ति कर्म उत्पन्न क्षोभ सहन करने की क्षमता न होने से प्राणोपरोध होता है। अर्थात् तीव्र पीड़ा, या प्राण का अवरोध कर श्वासकृच्छ्र उत्पन्न होता है। प्राणोपरोध का अर्थ बलभय और मरण भी किया गया है। अत्यंत कृशों में दी हुई बस्ति कार्श्य को बढ़ाती है। अत्यंत कृशों को वृंहण बस्ति दी जा सकती है। जलपान या भोजन के बाद बस्ति दी जाने पर दोषों का उत्क्लेश कर घोर विकारों को उत्पन्न करती हैं। यहां स्मरण रहे कि अनुवासन बस्ति भोजन के बाद ही दी जानी चाहिये। जिसे वमन या विरेचन कराया गया है, उसके शरीर में रुक्षता उत्पन्न

होती है, ऐसे समय बस्ति, क्षत में क्षार के समान जलन करती है। नस्य के बाद बस्ति देने से विभ्रंश और स्रोतोरोध होता है। क्रुद्ध और भयभीत को दिया हुआ निरूह कोष्ठ में बहुत ऊँचाई तक पहुंच जाता है। मत्त और मूर्च्छित को बस्ति संज्ञानाश कर हृदयोपघात करती है। छर्दि, निष्ठीविका, श्वास, कास में वायु उर्ध्वीभूत होकर बस्ति को ऊपर ले जाता है।

बद्ध गुदोदर, छिद्रोदर दकोदर और आध्मान, में दी हुई बस्ति तीव्र आध्मान उत्पन्न कर प्राणनाश करती है। बद्ध गुदोदर में पहले ही आंत्र संमूर्च्छन होता है, और छिद्रोदर में आंत्र में छिद्र होता है। जिससे पहले ही आध्मान रहता है। छिद्र के कारण कोष्ठस्थ द्रव्य इतस्तत: फैल कर प्रक्षोभ करते हैं। ऐसी अवस्था में बस्ति देने पर बस्ति द्रव्य इस प्रक्षोभ को बढ़ाकर कोष्ठभेद अथवा श्वासकृच्छ्र उत्पन्न होंकर तुरन्त मृत्यु होती है। अलसक में मल प्रवृत्ति या छर्दि दोनों बंद होकर उदर में तीव्र आध्मान होता है। विसूचिका में छर्दि और अतिसार दोनों एक साथ होकर तीव्र आमदोष होता है। इन दोनों अवस्थाओं में दी हुयी बस्ति पुन: आमदोष को उत्पन्न करती है और व्याधि को बढ़ाती है। मधुमेह और कुष्ठ में बस्ति व्याधि वृद्धि करती है।

डल्हण कहते हैं कि उन्माद, अपस्मार, भ्रम मूर्च्छा में संज्ञानाश प्रशम के बाद आतुर जब प्रकृतिस्थ होगा तब वमनादि शोधन कराकर बस्ति दी जा सकती है। कुष्ठ, अर्श में निषेध है, फिर भी इन आतुरों को वातव्याधि हो तो बस्ति दे सकते हैं। अति बाल और अति वृद्ध में निषेध कहा है वहां वय के अनुसार १ वर्ष के पूर्व और ९० वर्ष के अनंतर बस्ति देना उचित नहीं है ऐसा समझे, अथवा इनमें तीक्ष्ण बस्ति निषिद्ध समझे। मृदु बस्ति दे सकते हैं।

निरूह वर्ज्यों का यह सामान्य विचार है। इसमें भी अवस्थानुसार बस्ति दे सकते हैं। विरेचन के बाद जिसे आध्मान हो उसे अम्ल लवण युक्त निरूह देने का तथा प्रमेह, कुष्ठ चिकित्सा में अवस्था विशेष से बस्ति देने का निर्देश शास्त्र में किया हुआ मिलता है।

आस्थाप्य[५४]— उपर्युक्तों को छोड़कर बाकी सब आस्थापन के लिए योग्य होते हैं। विशेषत: जिनमें आस्थापन देना योग्य होता है उनको नीचे तालिका में स्पष्ट किया है।

आस्थाप्य—तालिका

क्र.	आस्थाप्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१.	सर्वांगरोग	+	+	—
२.	एकांग रोग	+	+	—
३.	कुक्षिरोग	+	—	—
४.	वातसंग	+	+	+
५.	मूत्रसंग	+	+	+
६.	मलसंग	+	+	+
७.	शुक्रसंग	+	—	+
८.	बल क्षय	+	—	—
९.	मांस क्षय	+	—	—
१०.	दोष क्षय	+	—	—
११.	शुक्र क्षय	+	+	—

क्र.	आस्थाप्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१२.	आध्मान	+	+	+
१३.	अंगसुप्ति	+	—	—
१४.	कृमिकोष्ठ	+	—	—
१५.	उदावर्त	+	+	—
१६.	शुद्धातिसार	+	+	+
१७.	पर्वभेद	+	—	—
१८.	अभिताप	+	—	—
१९.	प्लीहदोष	+	—	—
२०.	गुल्म	+	+	+
२१.	शूल	+	+	+
२२.	हृद्रोग	+	—	—
२३.	भगंदर	+	—	—
२४.	उन्माद	+	—	—
२५.	ज्वर	+	—	+ जीर्ण
२६.	ब्रघ्न	+	+	—
२७.	शिरःशूल	+	+	+
२८.	कर्णशूल	—	—	—
२९.	हृदयशूल	+	—	—
३०.	पार्श्वशूल	+	—	—
३१.	पृष्ठ शूल	+	—	—
३२.	कटि शूल (ग्रह)	+	—	—
३३.	वेपग (कप)	+	—	—
३४.	आपेक्ष	+	+	—
३५.	अंग गौवर	+	—	—
३६.	अतिलाघव	+	—	—
३७.	रजःक्षय	+	+	+
३८.	विषमाग्नि	+	—	—
३९.	स्फिग् शूल	+	—	—
४०.	जानु शूल	+	—	—
४१.	जंघा शूल	+	—	—
४२.	उरुशूल	+	—	—
४३.	गुल्मशूल	+	—	—
४४.	पाणिभूत	+	—	—
४५.	प्रपद शूल	+	—	—
४६.	योनि शूल	+	+	—

क्र.	आस्थाप्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
४७.	बाहु शूल	+	—	—
४८.	अंगुली शूल	+	—	—
४९.	स्तन शूल	+	—	—
५०.	दंत शूल	+	—	—
५१.	नख शूल	+	—	—
५२.	पर्व-अस्थि-शूल	+	—	—
५३.	शोष	+	—	—
५४.	स्तंभ	+	—	—
५५.	आंत्र कूजन	+	—	—
५६.	परिकर्तिका	+	—	—
५७.	महा रोगाध्यायोक्त वातव्याधियां	+	—	+ (दारुण)
५८.	ज्वर	—	+	+
५९.	तिमिर	+	+	—
६०.	प्रतिश्याय	—	+	+
६१.	अधिमंथ	—	+	—
६२.	अर्दित	+	+	—
६३.	पक्षाघात	+	+	—
६४.	शर्करा शूल (अश्मरी)	—	+	—
६५.	उपदंश	—	+	—
६६.	वातरक्त	—	+	+
६७.	अर्श	—	+	—
६८.	स्तन्य क्षय	—	+	—
६९.	मन्याग्रह	+	+	—
७०.	हनुग्रह	+	+	—
७१.	अश्मरी	—	+	+
७२.	मूढ़ गर्भ	—	+	+
७३.	मूत्रकृच्छ्र	—	+	—

उपर्युक्त रोगों में + चिन्ह 'उक्त' का दर्शकमात्र समझना चाहिये और '-' चिन्ह 'अनुक्त' का दर्शक है न कि विरोध का। क्योंकि प्रकरण संदर्भ से अवस्थानुसार बस्ति संदर्भ देखे जाते हैं। अतः यहां केवल सामान्यमूलक विचार समझना चाहिये। शार्ङ्गधर ने अम्लपित्त, हृद्रोग, असृग्दर इनको निरूहयोग्य कहा है, और भावप्रकाश ने इस तीनों के अतिरिक्त विषमज्वर का भी समावेश किया है। शेष आस्थाप्य चरक सुश्रुत वाग्भट के आस्थाप्य में समाविष्ट हो जाते हैं। आस्थाप्य में सामान्यतः इन बातों का विचार किया हुआ मिलता है—

१. वातरोग या वातप्रधान रोग।
२. वात के आश्रयस्थान में रहनेवाले रोग।
३. शोधनार्ह रोग।
४. बृंहणादि बस्तिभेद जो कहे गये हैं उनके लिए अनुकूल रोग।
५. मलशोधन के स्थानिक क्षेत्र के रोग।

अननुवास्य[५५]— जिन आतुरों में आस्थापन देना उचित नहीं है, अर्थात् जो अनास्थाप्य हैं, वे अननुवास्य भी हैं ऐसा कहा गया है, तथापि सभी अनास्थाप्यअननुवास्य नहीं होते। उदाहरण भुक्तभक्त को निरूह बस्ति नहीं देनी चाहिये। लेकिन स्नेह बस्ति तो भुक्त को हो देनी चाहिये। कृशों को निरूह देना उचित नहीं है, किंतु अनुवासन दिया जा सकता। अतएव विशेषत: अननुवास्य जो हैं, उनको नीचे तालिका में स्पष्ट किया जाता है।

अनुवासन अयोग्यों में अनुवासन से संभाव्य विकार[५६]

जिनको अनुवासन बस्ति का निषेध कहा गया हैं उनको अनुवासन बस्ति देने पर उनके रोगों की वृद्धि होती है और वे रोग असाध्य बन जाते है। और शरीर टूटने जैसी वेदना होना यह खास लक्षण उत्पन्न होता है।[५७]

अननुवास्य--तालिका

क्र.	अननुवास्य	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१.	अनास्थाप्य	+	+	+
२.	अभुक्त भुक्त	+	—	+
३.	नवज्वर	+	—	—
४.	पांडु	+	+	+
५.	कामला	+	—	+
६.	प्रमेह	+	—	+
७.	अर्श	+	—	—
८.	प्रतिश्याय	+	—	—
९.	अरोचक	+	—	—
१०.	मंदाग्नि	+	—	—
११.	दुर्बल	+	+	—
१२.	प्लीहोदर	+	+ (उदरी)	+
१३.	कफोदर	+	+ (उदरी)	+
१४.	उरुस्तंभ	+	+	+
१५.	वर्चोभेद (अतिसार)	+	—	+
१६.	विषपीत	+	—	+
१७.	गर-पीत (विषपीत)	+	—	+
१८.	कफाभिष्यंद	+	—	+
१९.	गुरूकोष्ठ	+	—	+
२०.	श्लीपद	+	—	+
२१.	गलगंड	+	—	+
२२.	अपचि	+	—	+
२३.	कृमि-कोष्ठी	+	—	+
२४.	प्रमेह	—	+	+
२५.	कुष्ठ	—	+	+
२६.	स्थौल्य	—	+	+
२७.	पीनस	—	—	+
२८.	कृश	—	—	+

यदि अभुक्त भक्त (जिसको भोजन न दिया हो) को अनुवासन दिया जाये तो आंत्र में मार्ग अनावृत होने के कारण वह ऊपर तक पहुंच जाता है। स्नेह में अनुप्रवणभाव और सूक्ष्म गुण होता है जिससे स्रोतों में शीघ्र व्याप्त हो जाता है। इसलिए स्नेह बस्ति हमेशा भोजन के बाद ही देनी चाहियें। भोजन के बाद आमाशय तथा आंत्र में पच्यमान अन्न का दबाव होता है इसलिए स्नेह की व्याप्ति पक्वाशय में धीरे-धीरे होती है और रिक्तमार्ग हो तो नि:संशय वेग से ग्रहणी तक आ सकता है जिससे आध्मान, हृद्ग्रह, हिक्का, तथा छर्दि उत्पन्न हो सकती है। छर्दि में वही स्नेह जो बस्ति में दिया है, जाना जरूरी नहीं है। अपितु स्नेह के ऊर्ध्वगति से महास्रोतस में उपस्थित अर्धपक्वादि या पच्यमान घटक ऊर्ध्वगति वाले होकर आमाशय प्रक्षोभ के कारण बाहर निकल जाते है। कभी-कभी केवल लालास्राव ही हो सकता है।

नवज्वर, कामला, पांडु, प्रमेह इन रोगों में अनुवासन दोषों को उत्क्लिष्ट कर उदर रोग उत्पन्न करता है। इन रोगों में स्रोतोरोध का प्राधान्य रहता है। अत: स्नेहगति में अवरोध से दोषों का उत्क्लेश होता है। वैसे ही इन चारों रोगों में स्नेहपान का निषेध किया हैं। अर्श में अनुवासन, अर्शांकुरों को क्लिन्न कर आध्मान करता है। अरोचक में अरुचि को और बढ़ा देता है। अग्निमांद्य, तथा दुर्बलों में अनुवासन अग्निमांद्य बढ़ाता है। प्रतिश्याय प्लीहादि रोगों में दोषोत्क्लेश से रोगवृद्धि होती है। कृमि कोष्ठ में कृमि निर्हरण पूर्व स्नेहबस्ति देने से कृमि बाहुल्य से तथा निर्हरण न होने से कृमि ऊपर प्रसृत होकर हृदयापकर्षण करते है।[५८] आढयवात में आमवृद्धि करता है।

अनुवास्य-- जो आस्थाप्य कहे गये हैं वे अनुवास्य भी होते हैं। विशेषत: जो अत्यंत रुक्ष शरीर वाले आतुर हैं, जिनका अग्नि अत्यंत प्रज्ज्वलित है और जो केवल वातव्याधियों से पीड़ित हैं, उनमें अनुवासन विशेष योग्य होता है।[५९]

बस्तियंत्र-विचार

जिस साधन के द्वारा बस्ति दी जाती है, उसे 'बस्तियंत्र' कहा जाता है। बस्ति यंत्र के मुख्य दो भाग होते हैं।

१. बस्ति नेत्र २. बस्ति पुटक

१. बस्ति नेत्र—नेत्र का सामान्य अर्थ आँख है। लेकिन यहां विशिष्ट पर्यायवाची

(Term) शब्द समझना चाहिये। नेत्र का अर्थ है—नलिका।[६०] इसे यंत्र भी कहते हैं। बस्ति पुटक के साथ संलग्न नलिका को नेत्र कहते हैं और बस्ति देने का मुख्य साधन यह नलिका यंत्र है इसलिए इसे यंत्र कहते हैं। यह धातुनिर्मित नलिका है। इसके निर्माण में प्राचीन काल में सोना, चांदी, तांबा, वंग, कांसा, पीतल, इन धातुओं से नलिका बनाई जाती थी। विशेषत: राजाओं , राज सदृश धनिकों के लिए सोने और चांदी के नेत्र उपयोग में लाये जाते थे। राजा महाराजाओं का भोजन-पान, आसन सभी में सोने चांदी और हीरों के साधनों का उपयोग किया जाता था। अतएव आयुर्वेद में उनके लिए सोने चांदी के नेत्र का उल्लेख किया जाना उचित ही लगता है। इसमें गुण और कार्मुकता की कोई संगति नहीं लगती है। धातु के अतिरिक्त अस्थि, शस्त्र, वृक्ष, वेणु, दंत, नल, शृंग, मणि, वृक्षसार (गोंद) के भी नेत्र निर्माण करना शास्त्रसंमत है। अस्थि में संभवत: नलकास्थि का उपयोग किया गया होगा। वृक्षों की शाखाओं से, वेणु से तथा हस्ति दंत, महिष शृंगादि को आभ्यंतर खोखला कर इनका प्रयोग नेत्र के लिए भली भांति किया जा सकता है। ओज लोहे के, स्टेनलेस स्टील के, ताम्र के और पीतल के नेत्र लिये जा सकते हैं।

बस्ति नेत्र का प्रमाण—बस्ति नेत्र अंदर से खोखली एक लम्बी नलिका है जो मूल भाग में चौड़ी और अग्रभाग में सिकुड़ी हुई होती है। इसकी लम्बाई, चौड़ाई, छिद्र, परिणाह सबका विशिष्ट प्रमाण शास्त्र में लिखा गया है। चरक मतानुसार छ: वर्षायु तक के लिए नेत्र की लंबाई छ: अंगुल होनी चाहिये। १२ वर्षायु के लिए ८ अंगुल लंबाई होनी चाहिये और २० वर्षायु व्यक्तियों के लिए १२ अंगुल लंबाई का नेत्र रखना चाहिये। एक वर्ष से कम उमर में तथा २० बर्ष के ऊपर के उमरवालों के लिए नेत्रमान का विकल्प नहीं है। अर्थात् छ: अंगुल लंबा नेत्र ही १ वर्षायु के पूर्व और १२ अंगुल नेत्र २० वर्षायु के ऊपर प्रयोज्य है। छ: वर्षायु से १२ वर्षायु तक प्रतिवर्ष एक-तृतीयांश अंगुल अधिक लंबाई रखने का शास्त्र मत है। अर्थात् ७ वर्ष के बालक के लिए ६ $\frac{१}{३}$ अंगुल का नेत्र होना चाहिये। इस तरह बढ़ाने से १२ वर्षायु तक कुल २ अंगुल मान बढ़कर नेत्रमान ८ अंगुल का होता है। १२ वर्षायु के ऊपर प्रत्येक वर्ष $\frac{१}{२}$ अंगुल नेत्रमान बढ़कर २० वर्षायु तक कुल ४ अंगुल तक मान बढ़ता है और १२ अंगुल का नेत्र होता है। इस तरह आयु के अनुसार नेत्रमान निम्नलिखित प्रकार का होगा।

नेत्रमान जो अंगुल में कहा है वह संभवत: आतुर हस्तांगुल मान है। तथापि ऐसा करने पर अपरिसंख्येय नेत्र रखने होंगे। नेत्र गुदा में प्रविष्ट कर बस्ति दी जाती है और कुछ नेत्र के चौथाई भाग तक गुदा में प्रविष्ट कराने के लिए कहा गया है। बालकों तथा प्रौढों को निरापद बस्ति दी जा सके इसलिए भिन्न-भिन्न प्रकार का नेत्रमान कहा गया है। प्रमाण कम होने पर उत्तर गुद के आगे बस्ति नहीं जायेगी और अधिक होने पर संभवत: क्षत हो जायेगा इसलिए यह सावधानी है। तथापि विचार करने पर और अनुभव से स्पष्ट होता है कि

नेत्रमान--तालिका

क्र.	आतुर आयु	नेत्र की लंबाई
१.	१ से ६ वर्ष तक	६ अंगुल
२.	७ वर्षायु	६ $\frac{१}{२}$ अंगुल

क्र.	आतुर आयु	नेत्र की लंबाई
३.	८ वर्षायु	६ $\frac{२}{३}$ अंगुल
४.	९ वर्षायु	७ अंगुल
५.	१० वर्षायु	७ $\frac{१}{३}$ अंगुल
६.	११ वर्षायु	७ $\frac{२}{३}$ अंगुल
७.	१२ वर्षायु	८ अंगुल
८.	१३ वर्षायु	८ $\frac{१}{२}$ अंगुल
९.	१४ वर्षायु	९ अंगुल
१०.	१५ वर्षायु	९ $\frac{१}{२}$ अंगुल
११.	१६ वर्षायु	१० अंगुल
१२.	१७ वर्षायु	१० $\frac{१}{२}$ अंगुल
१३.	१८ वर्षायु	११ अंगुल
१४.	१९ वर्षायु	११ $\frac{१}{२}$ अंगुल
१५.	२० वर्षायु	१२ अंगुल
१६.	२० वर्षायु के ऊपर	१२ अंगुल

इतना सूक्ष्मविचार इसमें आवश्यक नहीं होता, क्योंकि कुल नेत्र लंबाई के $\frac{१}{४}$ भाग पर कर्णिका रखकर उतना ही भाग अन्दर प्रविष्ट किया जाता है। फिर $\frac{१}{३}$ का $\frac{१}{४}$ जो $\frac{१}{१२}$ अंगुल होता है और $\frac{२}{३}$ का $\frac{१}{४}$ भाग का जो $\frac{१}{८}$ अंगुल होता है—जो प्रत्यक्ष प्रयोग में यत्किंचित् कर ही है। इसी तरह आगे कहा जाएगा। इसके अनुसार—रबर नलिका, नेत्र को जोड़कर बस्ति देना निरापद होने से अब इतना सूक्ष्म विचार जरूरी नहीं है। शायद यही कारण है कि संहिता ग्रन्थों में भी नेत्रमान के विषय में मतभेद हैं। सुश्रुत मतानुसार एक वर्षायु बालक के लिए छ: अंगुल लंबाई का नेत्र हो। ८ वर्षायु के लिए ८ अंगुल लंबाई का नेत्र हो, १६ वर्षायु के लिए १० अंगुल लंबा नेत्र हो तथा २५ वर्षायु के लिए ११ अंगुल लंबा नेत्र होना चाहिये। वाग्भट मतानुसार १ वर्षायु से कम उमर में ५ अंगुल छ: वर्षायु में ६ अंगुलमान, ७ वर्षायु के लिए ७ अंगुलमान, १२ वर्षायु के लिए ८ अंगुलमान, १६ वर्षायु के लिए ९ अंगुलमान और तत्पश्चात् १२ अंगुल माना गया हैं। इन तीनों में १२ अंगुल का अंतिम मान समान है। एक अंगुल का मान लगभग $\frac{३}{४}$ इंच के समान होता है (युवा अंगुली सें. मि) और बालकों की अंगुली तो आधे सें.मि. के करीब होती हैं। अब आधे सें.मि.तथा $\frac{३}{४}$ इंच के एक तृतीयांश भाग के फरक से नेत्र प्रमाण गुदा में प्रविष्ट कराना नगण्य हैं और प्रत्यक्ष प्रयोग में देते समय इस प्रकार व्यवस्था नहीं हो सकती। अतएव छ: अंगुल अर्थात् ४।। इंच लंबाई के, ८ अंगुल अर्थात् ६ इंच लंबाई के और १२ अंगुल अर्थात् ९ इंच लंबाई के नेत्र बनाकर रखना चाहिये और इनका यथायोग्य आतुरों में प्रयोग करना चाहिये।

नेत्र का आकार गोपुच्छ के समान होता है। ऊपर अर्थात् मूलभाग में परिणाह बड़ा और अग्रभाग में परिणाह कम होना चाहिए। मूलभाग में अंगुष्ठ परिणाह और अग्रभाग में कनिष्ठिका (छोटी उंगली) परिणाह का सीधा यंत्र होना चाहिये। सुश्रुत ने एक वर्षायु के लिये कनिष्ठिका परिणाह, ८ वर्षायु के लिए अनामिका परिणाह और १६ वर्षायु के लिए मध्यांगुली परिणाह का नेत्र उपयुक्त करने को कहा है। २५ वर्षायु के लिए तथा ऊपर मूल परिणाह अंगुष्ठ के मान का और अग्र में कनिष्ठिका परिणाह का होना चाहिये।

इस नेत्र में तीन कर्णिकाएं होती हैं, जो छत्राकार की होती हैं। नेत्राग्र भाग से कुल नेत्र के चौथाई भाग पर एक कर्णिका होती है, जो बस्तिनेत्र को उससे अधिक अन्दर प्रवेश कराने को रोकती है। मूलभाग में अन्त में एक कर्णिका और २ अंगुल पर दूसरी कर्णिका होती है। इन दो कर्णिकाओं के बीच बस्तिमुख को कसकर बांध दिया जाता है। बांधने की सुविधा के लिए ही ये दो कर्णिकाएं होती हैं।

बस्ति नेत्र का और विचारार्ह विषय होता हैं, उसके बीच में रहनेवाला छिद्र। चरक ने इस छिद्रों का प्रमाण छः वर्षायु तक के लिए मूंग के आकार का १२ वर्षायु के लिए मटर के प्रमाण का और २० वर्षायु के लिए कर्कंधु (बेर) के प्रमाण का बताया है। सुश्रुतोक्त नेत्र का अग्रभाग और मूलभाग का प्रमाण नीचे लिखे हुए प्रकार का होता है।

तालिका

क्र.	आयुमान	मूलभाग-छिद्र	अग्रभाग-छिद्र
१.	१ वर्षायु तक के लिए	कंपपक्ष वक्रचंचु कृष्ण वर्णपक्षी की नाड़ी प्रविष्ट हो सके ऐसा	मूंग के आकार का
२.	८ वर्षायु तक के लिए	श्येन पक्ष नाड़ी प्रविष्ट हो हो सके ऐसा	माष के आकार का
३.	१६ वर्षायु तक के लिए	मयूर नाड़ी प्रविष्ट हो हो सके ऐसा	कलाय के आकार का
४.	२५ वर्षायु तथा इसके ऊपर के लिए	गृध्रपक्ष नाड़ी प्रवेश योग्य	जल में भिगोकर फूले हुए कलाय के आकार का।

व्रणबस्ति नेत्र का प्रमाण— व्रण में उपयोग करने का बस्तिनेत्र १८ अंगुल, (१३।। इंच) लंबा होना चाहिए। उसका छिद्र यह मूंग के बराबर हो, और व्रण को देखकर इसका उपयोग करना चाहिये।[६१]

तालिका

क्र.	आयु-मान	नेत्र-मान	परिणाह	छिद्र	कर्णिका
१.	एक वर्षायु तक बालक के लिए	६ अंगुल	कनिष्ठिका समान	कंकपक्ष नाड़ी प्रवेश योग्य मूल में स्रोतों मुख मूंग के समान अग्रभाग में	अग्रभाग में डेढ़ अंगुल पर कर्णिका

क्र.	आयु-मान	नेत्र-मान	परिणाह	छिद्र	कर्णिका
२.	८ वर्षायु के लिए	८ अंगुल	अनामिका परिणाह	मूल में श्येन पक्ष नाड़ी के प्रवेश योग्य छिद्र-माप के बराबर अग्रभाग में।	अग्रभाग में २ अंगुल पर कर्णिका
३.	१६ वर्षायु के लिए	१० अंगुल	मध्यांगुली परिणाह	मूल में मयूर पक्ष नाड़ी के प्रवेश योग्य अग्रभाग में कलाय वाही छिद्र।	३।। अंगुल पर अग्रभाग से कर्णिका
४.	२५ वर्षायु के ऊपर	१२ अंगुल	मूल में अंगुष्ठ परिणाह, अग्र में कनिष्ठिका परिणाम	मूल में गृध्र पक्ष नाड़ी तुल्य प्रवेश छिद्र, अग्र में पानी में फुलाए मटर के समान अथवा बेर की गुठली के समान	३अंगुल पर कर्णिका

सुश्रुत कहते हैं कि नेत्र के अभाव में नल (नडसर), बांस या अस्थि की नलिका उपयुक्त कर सकते है।[६२] इस कथन को उपलक्षण मान समझकर रबर नलिका का भी प्रयोग वांछनीय है। सुश्रुत के वर्णन के अनुसार नेत्र का समग्र स्वरूप निम्नलिखित प्रकार होगा। (देखें — तालिका पृष्ठ ३६४-६५)

उत्तर बस्ति नेत्र का प्रमाण[६३]— उत्तर बस्ति के नेत्र को पुष्पनेत्र भी कहा जाता है। यह सोने का, या चांदी का बनाना चाहिये। इसका आकार चमेली के फूल या कनेर के फूल के डंठल के समान होना चाहिये। यह श्लक्ष्ण और ऋजु होना चाहिये। इसकी लंबाई १२ अंगुल की होनी चाहिये। सुश्रुत ने १४ अंगुल की लंबाई कही है। इसका छिद्र सरसू के आकार का होना चाहिये। इसमें केवल दो कर्णिकाएं होती है। तंत्रांतर में ३ कर्णिका रखने का भी पाठ है। इसका स्वरूप मूत्रशलाका (Urinary catheter), या डूश उपर्युक्त के समान रखा जा सकता है।

इसमें शेफ के प्रमाण में पुरुषों में तथा स्त्रियों में मूत्रमार्ग और अपत्यमार्ग के प्रमाण में प्रवेश अपेक्षित है अतः अग्रभाग की कर्णिका आवश्यक नहीं है।

नेत्रदोष[६४]— बस्तिनेत्र यदि ठीक न हो तो वह अनेक व्यापद पैदा करता है। बस्ति नेत्र निम्नलिखित प्रकार के दोषों से मुक्त होना चाहिये।

१. **ह्रस्वता**— नेत्र बहुत छोटा हो तो बस्ति द्रव्य गुद से आगे पहुंच नहीं सकते। बस्ति द्रव्यों का पक्वाशय में पहुंचना आवश्यक होता है। १२ अंगुल प्रमाण का नेत्र लगभग ९" प्रमाण का होता है। गुद की लंबाई ४" के लगभग होती है, अतः यह आवश्यक है कि नेत्र ४ इंच से अधिक अंदर प्रविष्ट किया जाए। गुद प्रमाण के बीच में डाला हुआ द्रव्य तुरन्त बाहर निकल जाता है।

२. **दीर्घता**— नेत्र बहुत लंबा हो और बहुत अंदर प्रविष्ट कराकर यदि बस्ति दी जाए तो बस्तिद्रव्यों को पक्वाशय में बहुत दूर तक पहुंचाता है।

३. **तनुता**— नेत्र बहुत पतला हो तो वह क्षोभ उत्पन्न करता है, क्योंकि पतले नेत्र का परिणाहारादि कम होने से पीडित द्रव्य जल्दी अंदर नहीं जा सकता और प्रपीडन से क्षोभ उत्पन्न होता है।

४. **स्थूलता**— बहुत स्थूल नेत्र गुदा में (जल्दी प्रवेश न होने से) कर्षण करता है।

५. **जीर्णता**— नेत्र निर्माण योग्य धातु-जीर्ण हो, टूटाफूटा हो, तो गुदा में क्षत करता है। सुश्रुत ने नेत्र का 'कर्कश'नामक दोष दिया है जिसका अर्थ नेत्र कठिन या ऊबड़खाबड़ धातु का रहना यह है—इसका समावेश चक्रपाणि 'जीर्ण दोष'में करते हैं।

६. **शिथिल बंधनता**— नेत्र में बस्ति पुटक अच्छी तरह बांध देना चाहिये। यदि बंधन शिथिल हो तो द्रव्य गुदा के बाहर ही गिर जाते है।

७. **पार्श्वछिद्र**— नेत्र का छिद्र बीच में होना चाहिये। यदि वह बाजू में हो तो गुदा में पीड़ा करता है। यहां स्मर्तव्य है कि रबर नलिका का नेत्र पार्श्व में होता है, तथापि मृदुता के कारण यह पीड़ाकर नहीं होती और धातु कठिन होने से पार्श्व में दबाव के साथ निर्गत द्रव्य पीड़ा कर सकता है।

८. **वक्रता**— नेत्र सीधा होना चाहिये। यदि वह टेढ़ा हो तो द्रव्य की गति टेढ़ी होती है, जो शूल कर सकता है।

सुश्रुत ने आसन्नकर्णिका (कर्णिका बहुत नजदीक रहना), प्रकृष्ट कर्णिका (कर्णिका बहुत दूर होने से), अणुनेत्रता (छोटा नेत्र), भिन्न नेत्रता (फूटा हुआ या छिद्रयुक्त नेत्र), अणुस्रोतता (छिद्र छोटा रहना), महास्रोततां (छिद्र बड़ा रहना) ये और दोष बताये हैं। यदि नेत्र की कर्णिका बहुत नजदीक हो तो बस्ति देना निरर्थक होता है। (द्रव्य बाहर आने से) बहुत दूर कर्णिका हो तो गुदमर्म पर पीडन होकर रक्त निकलता है। यदि अणु या भिन्न नेत्र हो तो बस्ति द्रव्य बाहर स्रवित होते हैं यदि नेत्र का छिद्र बहुत छोटा हो तो बस्ति देने में तकलीफ होती है और बहुत बड़ा छिद्र हो तो एकदम द्रव्यों का अंत:— प्रवेश होकर पीडन होता है।

संक्षेप में— नेत्र न तो बहुत छोटा हो न बहुत बड़ा हो, इसकी कर्णिका न बहुत नजदीक हो न बहुत दूर हो, नेत्र बहुत स्थूल हो न बहुत पतला हो, इसके बीच का छिद्र न बहुत बड़ा न बहुत छोटा हो, नेत्र जीर्ण धातु का न हो, कर्कश न हो, इसका बंधन शिथिल न हो, पार्श्वछिद्र न हो, नेत्र टेढ़ा न हो, सीधा हो—इस प्रकार का नेत्र बनाना चाहिये।

२. **बस्ति पुटक**[६५]— बस्ति पुटक बस्तिनेत्र को जोड़कर बांध दिया जाता है यह बस्ति द्रव्य का संग्रहस्थान है, और एक संकोच प्रसरणशील थैली (Elastic Bag) का काम करता हैं। प्राचीन काल में रबर का अभाव होने के कारण प्राणियों के बस्ति-मूत्राशय (Urinary bladder) का इस काम में उपयोग किया जाता था। आज भी इनका उपयोग केरल मद्रास के बाजू में किया जाता है। तथापि बस्तिकर्म को रोज तैल मर्दन कर अत्यंत मृदु, संकोच प्रसरणशील (Elastic) रखना जरूरी होता है। अन्यथा हाथ से दबाने पर सम्यक् प्रकार से दबाव नहीं पड़ेगा। बस्ति का पुटक बैल, भैंस, हरिण, सुअर तथा बकरे के मूत्राशय (बस्ति) से बनाना विहित है। इसका आकार तिकोना गोल (Oval shape) होता

है। बस्ति पुटक के लिए लिया हुआ बस्ति मजबूत हो, चर्म की ऊपर की सिराएं नष्ट की हुई हों, तथा दुर्गंधी रहित होना चाहिये। उसे कषाय (क्वाथ) तथा तैल की भावना देकर कषायरक्त बनाया जाता है। इसे चमड़ा कमाना, या कसना कहते हैं। बस्ति मृदु और स्वच्छ होनी चाहिये। वह शुद्ध जंतुरहित रहना चाहिये।

यदि इस प्रकार बैल, भैंस आदि प्राणियों की बस्ति न मिले तो प्लव (प्रसेवक गल नामक पक्षी) के गले का चमड़ा और उसके अभाव में अंकपाद (चर्म चटक) का चमड़ा लेकर बस्तिपुटक बनाना चाहिये, और वह भी न मिले तो मोटा और मजबूत कपड़ा लेना चाहिये। आजकल इस काम में फूट-बॉल या वॉलीबॉल के ब्लैडर का उपयोग किया जा सकता है। इनका उपयोग बस्ति चर्म से भी बहुत सुकर है। इनको उभयता भाग पर छेदकर, मुख के भाग से बस्ति नेत्र के दो कर्णिका के बीच में बांध कर बस्तियंत्र तैयार करना चाहिये। कहीं-कहीं प्लास्टिक की लंबगोल थैली बनाकर उनको बस्तिनेत्र में जोड़कर उपयोग किया जाता है।

बस्तिपुटक के दोष[६६]— बस्तिपुटक के आठ प्रकार के दोष होते हैं। इनसे रहित बस्ति का उपयोग करें।

१. **विषय**— बस्ति पुटक का आकार सम-सरिखा होना चाहिये। यह विषम हो तो पीडन करते समय गति की विषमता होती है।

२. **मांसल**— पुटक मांसल नहीं होना चाहिये। प्राणियों की बस्ति निकालने पर मृदु और श्लक्ष्ण बनाकर मांसलरहित बनावे। यदि मांसल बस्ति पुटक का उपयोग किया जाये तो विस्रगंध आता है।

३. **छिन्न या छिद्रयुक्त**— पुटक से द्रव्य बाहर निकल जाते हैं।

४. **स्थूल**— बहुत मोटी बस्ति हाथ में अच्छी तरह पकड़ नहीं सकते और दबाने में भार की समता नहीं होती।

५. **जालयुक्तता**— यह बस्ति रेषाओं से रहित होनी चाहिये। रेषाओंवाली बस्ति में छोटे-छोटे छेद रहते हैं जिनसे बस्तिद्रव्य स्रवित होते हैं।

६. **वातल**— बस्तिपुटक में अधिक वायु नहीं रहना चाहिए। वातल पुटक से बस्तिद्रव्यों में झाग उत्पन्न होता हैं।

७. **स्निग्ध**— बहुत अधिक स्निग्ध पुटक हाथ में से फिसलता है।

८. **क्लिन्नता**—क्लेदयुक्त बस्तिपुटक धारण करने में तकलीफ होती है। इस तरह बस्ति स्वच्छ, शुद्ध और कमाये हुए चमड़े से बनाई हुई होनी चाहिए।

उपर्युक्त दो भागों के (नेत्र और पुटक) अतिरिक्त बस्तियंत्र में बस्ति देते समय एनीमा ट्यूब या फ्लेटस ट्यूब का प्रयोग करना चाहिये। इस ट्यूब को गुद प्रवेशनीय भाग के अन्दर प्रविष्ट कराकर दूसरा भाग बस्तिनेत्र के अग्रभाग को जोड़ देना चाहिए और बस्ति पुटक दबाकर बस्ति देनी चाहिये। इस तरह किसी भी व्यापद के सिवाय बस्ति दी जा सकती है।

बस्तियंत्र निर्माण[६७]— उचित प्रकार का बस्तिपुटक (मूत्राशय, प्लवचर्म, कपड़ा या वॉलीबॉल इत्यादि का ब्लैडर) लेकर उसे उलटा दे। मुख भाग को नीचे कर किंचित् छेद करते हुए बस्ति नेत्र के मूल की दो कर्णिकाओं के बीच रखकर कसकर बांध देवें। फिर लोहे

की शलाका खूब तपाकर उस छिद्र पर दाग देकर पुटक के नेत्र समवर्ती भाग को अच्छी तरह बंद कर देवें। फिर उलटा कर बस्त्युपयोग के लिए सुरक्षित रख दे।

उपर्युक्त प्रकार से बस्तियंत्र की सामान्य कल्पना है। बस्ति देने के लिए आधुनिक एनिमाकेन जो एनेमेल धातु का एक पात्र है और नीचे उसे ट्यूब जोड़ने की नाड़ी लगी रहती है— उसका उपयोग किया जा सकता है। यह क्वाथबस्ति में उपयोगी है। मात्राबस्ति या स्नेहबस्ति के लिए ग्लिसरीन सीरींज का उपयोग सफल रीति से कर सकते हैं। जहां बस्ति द्रव्यों में अर्ध तरल वस्तु अधिक हो, वहां शास्त्रीय बस्तिपुटक की बस्ति उपयोग में लायें।

बस्ति दान विधि

बस्ति के भिन्न-भिन्न प्रकार भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से पीछे वर्णित किये गये हैं। तथापि बस्तिदान विधि के लिए प्रसिद्ध तीन भेदों के अनुसार विचार करना पर्याप्त है। ये तीन भेद हैं—

१. निरूह या आस्थापन बस्ति
२. स्नेह या अनुवासन बस्ति और
३. उत्तम बस्ति।

निरूह या आस्थापन—निरूह विधि में बस्तिदान के पूर्व, बस्ति प्रणिधान विधि तथा बस्ति देने के बाद, इन तीनों अवस्थाओं में जो-जो विषय महत्त्व रखते हैं उनको पूर्वकर्म, प्रधानकर्म और पश्चातकर्म के क्रम से प्रस्तुत किया जाता है।

पूर्वकर्म—बस्ति—प्रणिधान या प्रधन कर्म एक सामान्य कर्म है, परन्तु पूर्वकर्म एक जटिल और विशेष ध्यान से निश्चय करने का विषय है अच्छी तरह शिक्षा देने के बाद प्रधान कर्म, सामान्य कर्मचारी—जिन्हें आयुर्वेद-शास्त्र का ज्ञान नहीं होता वे कर लेते हैं—किंतु पूर्वकर्म के विषय तो वैद्य-आयुर्वेद शास्त्र का ज्ञाता ही अच्छी तरह समझकर कर सकता है। अत: प्रत्येक वैद्य का कर्तव्य है कि इन विषयों को अच्छी तरह समझ ले। अन्यथा बस्ति चिकित्सा असफल हो जाने की संभावना होती है। परिणामत: अपयश और अपकीर्ति होती है। बस्ति को संपूर्ण चिकित्सा शास्त्र में "अर्ध चिकित्सा" का महत्त्व प्राप्त है ऐसा पहले कहा गया था। लेकिन इसका यश पूर्वकर्म के वक्ष्यमाण विषय को जो बुद्धिमान वैद्य जितनी अच्छी तरह से आत्मसात कर सकता है उतना ही उसे यश मिल सकता है।

बस्ति देने के पूर्व कुछ खास विषय ध्यान रखने के लिए चरक ने कहा है। "बस्तिनरिभ्य: किमपेक्ष्य दत्त: स्यात् सिद्धिमान्" अर्थात् किन-किन बातों की अपेक्षा कर बस्ति देनी चाहिये जिससे वह सफल होगी ऐसा प्रश्न सिद्धि स्थान के तीसरे अध्याय में प्रारम्भ में ही उपस्थित किया है। इसके उत्तर में कहा गया है कि, बस्ति नियत गुण के अनुसार तभी सिद्ध (सफल) होती है, जब वह—

१. दोष २. औषध ३. देश ४. काल ५. सात्म्य
६. अग्नि ७. सत्व ८. ओक ९. वय १०. बल इनका

यथावत् विचार कर ली जाती है।[६८] उपर्युक्त घटकों का संक्षेप में यहां विचार किया जाता है। इनके अधीन पूर्वकर्मो के नियमों को बराबर जानकर उनका पालन करना चाहिये। उपर्युक्त घटकों का विचार यहां प्रस्तुत करते समय जहां संदर्भ दर्शक चिन्ह न हो वहां का प्रायश:

अध्ययन विषय च.सू.१५, च.सू.अ.२८, च.चि.२८ तथा तत्तद् रोगाध्यायों से लिया गया है वहां देखना चाहिये।

१. दोष विचार— दोष की दृष्टि से बस्ति यह वात की प्रधान चिकित्सा है। तथापि पित्त और कफ के रोगों में भी औषधि भेद से बस्ति सफल होती हैं। वात के लिए बस्ति सर्वोत्कृष्ट चिकित्सा है, इतना कहने मात्र से दोष के सभी विषय ज्ञात नहीं होते। अपितु दोष का सूक्ष्म विचार कर कहां कौनसी बस्ति योग्य होगी इसका विचार किया जाता है। दोषों का क्षय, वृद्धि, समता, ऊर्ध्वदेह गमन, अधोदेह गमन, तिर्यग्गमन, शाखाश्रयित्व, कोष्ठाश्रयित्व, मध्यम मार्गाश्रयित्व, स्वदेश गमन, परदेश गमन, स्वतंत्रत्व-परतंत्रत्व, अंशांश विकल्पना, धातु विशेषाश्रयत्व और काल-प्रकृति आदि का विचार कर योग्य बस्ति का निर्णय करना चाहिये। दोषों के क्षय में दोष अपने-अपने लक्षणों (कार्यों को) को छोड़ देते हैं। ऐसी अवस्था में बृंहण बस्ति, बल्य वर्ण, उत्क्लेशन बस्ति आदि तथा तत्सदृश् अन्य बस्तियों का विचार करना चाहिये। दोष वृद्धि में दोषहर बस्ति, शोधन बस्ति; तीक्ष्ण बस्ति विचारार्ह है। शरीर के ऊर्ध्वभाग में शिर, उत्तमांग अथवा जत्रूर्ध्व दोष जाने पर (ऊर्ध्व गमन) प्राणवायु के लिए ऊर्ध्वानुलोमन, शमन, अनुलोमन, सभी कर्मों की उपादेयता होगी। अधोदेह गमन—उदाहरण उरुस्तंभ में आम और कफ उरु में अवस्थित हो तो बस्ति का कार्य नहीं होता। पाद, जानु, जंघा, शूल में शुद्ध दोष लक्षणों में तत्तद् बस्ति प्रयोज्य है। शाखाश्रयित्व द्वारा धातु आश्रय का भी बोध होता है। रसगत दोष होने पर सार्वदेहिक लक्षण होने पर लंघन, पाचनादि चिकित्सा का महत्त्व होगा न कि मात्र बस्ति का। रक्तगत दोषों में रक्तदुष्टी या क्षय में शमन बस्ति, वर्ण्य बस्ति, बल्य बस्ति, रक्त बस्ति का विचार उपादेय है। मांसगत दोषों में शस्त्र, क्षाराग्नि कर्म का प्राधान्य है—तथापि लेखन बस्ति विचारार्ह है। मांसगत वात में बृंहण बस्ति लाभप्रद होती है। मेंदोगत दृष्टि में लेखन बस्ति, कर्षण बस्ति विचारार्ह होगी। अस्थिगत वात में—अस्थि दुष्टि विकारों में तिक्त सयुक्त-सघृत-क्षीर बस्ति का उपयोग होता है। मज्जा दोषों में स्वादु और तिक्तस्कंध के द्रव्यों से शमन, बृंहण बस्ति उपयुक्त है शुक्रगत दोषों में बाजीकरण बस्ति देनी होगी।

कोष्ठ में आमाशयगत दोष हो तो वमन, पक्वाशय में हो तो विरेचन और बस्ति का विचार होगा। मध्यम रोग मार्ग हृदय, बस्ति, मूर्धा, अस्थिसंधि, स्नायु, कंडरा इत्यादि है। इनमें तत्तद रोगानुसार योग्य बस्ति देनी चाहिये। जिस देश में दोष है उसका (स्वस्थान या अन्यस्थान) विचार भी करना चाहिये और स्थान के अनुकूल कर्म करें। आमाशय कफ का स्थान है। आमाशय गत वात में वातप्रधान बस्ति नहीं, अपितु आमाशय के अनुकूल वमन चिकित्सा का ही महत्त्व समझना चाहिये। पक्वाशय में कफ हो तो उष्ण गोमूत्र संयुक्त बस्ति दे। पित्त संसृष्ट दोष पक्वाशय में हो तो क्षीर संयुक्त निरूह तथा मधुरौषध सिद्ध अनुवासन देना होगा।

स्वतंत्र तथा परतंत्र में अन्य दोष द्वारा आवरण का विचार करना चाहिए। तथा प्रधान की चिकित्सा ऐसी करें जो अन्य को प्रतिकूल न हो। उदाहरण प्राणावृत्त समान वायु—जिस में जडत्व, गद्गदत्व और मूकत्व होता है, इसमें चतु: स्नेह तथा यापन बस्ति का प्रयोग हितावह होता है।[६९] उदानावृत्त अपान में छर्दि श्वासादि लक्षण होते है, इसमें बस्ति तथा अनुलोमन (विरेक) दोनों का उपयोग विचारार्ह है।[७०] दोषों की सामता, निरामता (काल प्रकृति) भी

बस्ति में विचारार्ह है। यदि केवल आम का प्राधान्य हो तो आंतर पान करना चाहिये। आंतर पान—पेया को कहते हैं—दीपन और पाचन पेया त्रिकटु अम्ल और लवण के साथ देनी चाहिये। आम दोषों में बस्ति निषिद्ध है।[७१] अतएव आमवात, उरुस्तंभ इत्यादि में बस्ति सफल नहीं होती। दोष के अनुसार सामान्य सूत्र यह है कि वात का प्राधान्य हो तो मधुर-अम्ल और लवण के साथ स्नेह युक्त बस्ति देनी चाहिये और पित्त का प्राधान्य हो तो, मधुर, तिक्तकषाय रस से सिद्ध बस्ति देनी चाहिये और कफ का प्राधान्य हो तो कषाय, कटु, तिक्त संयुक्त बस्ति देनी चाहिये।[७२] दोष के अनुसार बस्ति संख्या का भी निर्णय किया जाता है। कफज विकार में १ से ३, पित्त विकार में ५ से ७ और वात विकार में ९ से ११ बस्ति दी जाती है।[७३] इसी तरह वात में स्निग्ध उष्ण और मांस रस के साथ एक निरूह, पित्त में मधुर, शीत और दूध के साथ २-२ बस्तियां और कफ में गोमूत्रयुक्त कटु, क्षार, तीक्ष्णौषध संयुक्त ३ बस्तियाँ देने का भी विधान है।[७४]

इस तरह दोष का कुछ उदाहरणस्वरूप विचार किया गया है इसमें और सूक्ष्म विचार किया जा सकता है जो अधिक-से-अधिक सूक्ष्म विचार कर सकता है वह तर्क से, उहापोह से, उचित निर्णय करने में अधिक क्षम हो कर बस्ति चिकित्सा में उचित साफल्य प्राप्त कर सकता है।

२. औषध—आभ्यंतरौषधि के उपयोग में जो-जो बातें विचारार्ह कही गई हैं, वे सब बस्ति औषधि के लिए भी उपादेय हैं। औषधि का तरुणत्व (नवीनत्व), वृद्धत्व, (पुरानी औषधि), आर्द्रत्व, शुष्कत्व, द्रव्यांतर संयुक्तत्व स्वरादि कल्पना योगित्व, रसवीर्य-विपाक प्रभावादि का बिवेक कर औषधि प्रयोग किया जाता है। औषधि में निम्नलिखित प्रकार की औषधि बस्ति क्रिया में दुष्ट मानी गई है।[७५]

१. आमता—बस्ति प्रयुक्त औषध आम न हो। अर्थात् क्वाथ, मांसरस, स्नेह, इत्यादि में यथोक्त पाक करना चाहिये। बस्ति प्रयुक्त स्नेह खरपाक सिद्ध होना चाहिये। क्वाथ में यथोक्त द्रव्यों का चतुर्थांश, अष्टमांश या षोडशांश, या जैसा कहा गया हो वैसा पाक करना चाहिये। मांसरस, दूध, कल्कादि द्रव्य भी यथावत् सिद्ध करें।

२. हीनता—औषधि जितनी मात्रा में कही गई हो उतनी मात्रा में न लेना हीन दोष है। वह अयोग में कारण होता है।[७६]

३. अतिमात्रता—उक्तमान से अधिक मात्रा में द्रव्य लेना अतिमात्रता दोष है। यह क्लम आध्मान, अतिसार, उत्पन्न करता है।[७७] हीनमात्रता और अतिमात्रता के अनुसंधान में निरूह की उचित मात्रा यहाँ प्रस्तुत की जाती है।

१. वयानुसार निरूह मात्रा[७८]— निरूह की मात्रा १ वर्ष के बालक के लिए अर्ध प्रसृति होती हैं। तत्पश्चात् प्रति वर्ष आधी प्रसृति अधिक लेनी चाहिये। इस तरह १२ वर्षायु तक करें, तत्पश्चात् प्रतिवर्ष एक प्रसृति बढ़ाकर १८ वर्षायु तक मात्रा निर्णय करें। यहीं प्रमाण ७० वर्षायु तक अभिप्रेत है और तत्पश्चात् १६ वर्षायु के प्रमाण में बस्ति देनी चाहिये। वाग्भट ने वही प्रमाण प्रकुंच में दिया है। दो प्रकुंच की १ प्रसृति होती है। वयानुसार यह बस्ति प्रमाण तालिका में स्पष्ट किया जाता है।

निरूहमात्रा-तालिका

क्र.	वय	चरकोक्त मात्रा प्रसूति में	वाग्भटोक्त मात्रा प्रकुंच में	मात्रा तोले में
१.	एक वर्षायु के लिए	आधी प्रसृति	१ प्रकुंच	४ तोला
२.	दो वर्ष की आयु वालो को	एक प्रसृति	२ प्रकुंच	८ तोला
३.	३ वर्षायु वालो के लिए	१।। प्रसृति	३ प्रकुंच	१२ तोला
४.	४ वर्षायु वालो के लिए	२ प्रसृति	४ प्रकुंच	१६ तोला
५.	५ वर्षायु वालो के लिए	२।। प्रसृति	५ प्रकुंच	२० तोला
६.	६ वर्षायु वालो के लिए	३ प्रसृति	६ प्रकुंच	२४ तोला
७.	७ वर्षायु वालो के लिए	३।। प्रसृति	७ प्रकुंच	२८ तोला
८.	८ वर्षायु वालो के लिए	४ प्रसृति	८ प्रकुंच	३२ तोला
९.	९ वर्षायु वालो के लिए	४।। प्रसृति	९ प्रकुंच	३६ तोला
१०.	१० वर्षायु वालो के लिए	५ प्रसृति	१० प्रकुंच	४० तोला
११.	११ वर्षायु वालो के लिए	५।। प्रसृति	११ प्रकुंच	४४ तोला
१२.	१२ वर्षायु वालो के लिए	६ प्रसृति	१२ प्रकुंच	४८ तोला
१३.	१३ वर्षायु वालो के लिए	७ प्रसृति	चरकवत् प्रसृति में उक्त	५६ तोला
१४.	१४ वर्षायु वालो के लिए	८ प्रसृति	चरकवत् प्रसृति में उक्त	४५ तोला
१५.	१५ वर्षायु वालो के लिए	९ प्रसृति	चरकवत् प्रसृति में उक्त	७२ तोला
१६.	१६ वर्षायु वालो के लिए	१० प्रसृति	चरकवत् प्रसृति में उक्त	८० तोला
१७.	१७ वर्षायु वालो के लिए	११ प्रसृति	चरकवत् प्रसृति में उक्त	८८ तोला
१८.	१८ वर्षायु वालो के लिए	१२ प्रसृति	चरकवत् प्रसृति में उक्त	९६ तोला
१९.	१९ वे वर्षायु से ७० वर्षायु तक के लिए	१२ प्रसृति	चरकवत् प्रसृति में उक्त	९६ तोला
२०.	७० वर्षायु के ऊपर के आतुरों के लिए।	१० प्रसृति	चरकवत् प्रसृति में उक्त	८० तोला

१२, प्रसृति या ९६ तोला यह बस्ति का परम प्रमाण है, यह ध्यान में रखना चाहिये। सुश्रुत ने आस्थापनबस्ति का प्रमाण आतुर के हस्त प्रमाण से दो प्रसृति चार प्रसृति और आठ प्रसृति क्रमशः हीन मध्यम और उत्तम प्रमाण बताया है।[७९] तथा आस्थापन का परम प्रमाण १२ प्रसृति का कहा है।

शार्ङ्गधर और भावप्रकाश ने निरूह की उत्तम मात्रा १ $\frac{१}{४}$ प्रस्थ (८० तोला) मध्यममात्रा १ प्रस्थ (६४ तोला) और हीनमात्रा १ कुडव (४८ तोला) कही है।[८०] यह युवा व्यक्ति (Adult) के लिए उक्त मात्रा समझनी चाहिये और तद्नुसार बालकों और वृद्धों में अपेक्षाकृत मात्रा निर्णय करना चाहिये।

१. ३. बस्ति द्रव्यों में स्नेह की मात्रा[८१]— निरूह बस्ति में स्नेह की मात्रा वात प्रधान दोषों में क्वाथ की चतुर्थांश, पित्तधान दोषों में तथा स्वस्थ पुरुषों में क्वाथ से षष्ठांश, और कफप्रधान दोषों में अष्टमांस स्नेह, तथा सर्वत्र सभी दोषों में स्वस्थों में पंचमांश स्नेह लेना चाहिये। यह प्रमाण द्वादशप्रसृति बस्ति का है, जिससे वात के विकार में ३ प्रसृति (२४ तोला) पित्तविकार में २ प्रसृति (१६ तोला) और कफ विकार में १ $\frac{१}{२}$ प्रसृति (१२ तोला) तथा सर्वत्र लगभग २। प्रसृति (१८ तोला) स्नेहमात्रा होती है।

४. ५. अति शीतता, अति उष्णता[८२]— बस्ति द्रव्य अधिक शीत या अधिक उष्ण नहीं होने चाहिये। अति शीत बस्ति वात को बढ़ाती है, विबंध करती हैं और आध्मान करती है। अति उष्ण बस्ति मूर्च्छा, दाह, अतिसार उत्पन्न करती है और पित्त को बढ़ाती है। शीत बस्ति गात्रों में जकड़ाहट भी करती है।

६. ७. अतितीक्ष्ण, अति मृदुता[८३]— औषध अतितीक्ष्ण हो तो दाह अतिसार, मूर्च्छादि उष्णगुणोक्त विकार उत्पन्न करता है और अतिमृदु बस्ति औषध शीत द्रव्य के समान विबंध, आध्मान उत्पन्न करता है।

८. ९. अतिस्निग्धता, अति रुक्षता— अतिस्निग्ध द्रव्य शरीर में जाड्य (गुरुता) उत्पन्न करते हैं और अतिरुक्ष द्रव्य वात को बढाते है।[८४]

१०. ११. अतिसांद्रता, अतिद्रवता—अति सांद्र अर्थात् बहुत गाढ द्रव्यों से दी हुई बस्ति जल्दी वापस नहीं आती और बहुत पतली बस्ति अयोग करती है। अर्थात् वापिस तो जल्दी निकल जाती है लेकिन शोधन ठीक नहीं करती।[८५] इस तरह बस्ति औषध को उपर्युक्त दोषो से मुक्त हो तब प्रयोग करना चाहिये। औषध के विषय में और ज्ञातव्य बातें निम्नलिखित प्रकार की हैं।

१. जिन रोगों में शोधन करना उचित होता है उन कुष्ठ प्रमेह मेदोरोग आदि में बृंहण द्रव्यों से संयुक्त बृंहण बस्ति का प्रयोग कदापि न करें।[८६]

२. जो क्षतक्षीण रोग से पीड़ित है, शोष से पीड़ित है, मूर्च्छित है, अत्यंत दुर्बल है, जिनका शोधन किया गया है, ऐसे आतुरों में शोधन बस्ति कदापि न दे।[८७]

३. **बस्तिद्रव्य संमेलन विधि**— बस्ति द्रव्यों के संमेलन की (मिलाने की) खास पद्धति है। सर्व प्रथम मधु और सैंधव को मिला लेना चाहिये। तत्पश्चात् स्नेह मिलाकर मथनिका से अच्छी तरह मिला लेवें। फिर इसमें कल्क डालकर मिला लेना चाहिये और अंत में क्वाथ मिलाकर मथनिका (खज) से अच्छी तरह मिला लेना चाहिए।[८८]

४. बस्ति द्रव्यों को गरम करने की भी खास पद्धति है। प्रत्यक्ष अग्निपर इनको गरम नहीं करना चाहिये। आग पर रखे हुए बड़े जलपात्र में बस्तिद्रव्य का छोटा पात्र रखकर, गरमपानी से या वाष्प से इसे गरम किया जाता है।[८९]

५. बस्ति औषधियों में प्राय. कल्क द्रव्यों का उल्लेख शास्त्रकार ने तत्तद् प्रकरण में

किया है, तथापि जिस बस्ति के पाठ में कल्क द्रव्य का पाठ न दिया हो वहां 'पूतो यवान्यादि कल्क' डालना चाहिये। पूतोयवान्यादि कल्क में—अजवाईन, मदनफल, बिल्व, कुष्ठ, वचा, सौंफ, मुस्तक, पिप्पली इनका चूर्ण बनाकर यह सभी बस्तियों में मधु, घी, तैल, गुड़ और लवण के साथ प्रयुक्त करना चाहिये।[९०]

३. **देश**—भूमि और आतुरदेह प्रकार से देश दो प्रकार का होता है—

भूमि देश—जांगल, आनूप और साधारण ३ प्रकार के है। जांगल देश वातप्रधान, आनूपदेश कफ प्रधान और साधारण देश सम प्रकार का होता है। इनके अनुसार संभाव्य वातादि विकार तथा देशगुण के विपरीत गुणों वाली भेषजसिद्ध बस्ति का प्रयोग करना चाहिये।

आतुरदेश—आतुर देश - या आतुर के विषय के सभी पूर्वकर्म इसमें समाविष्ट होते है।

आतुर सिद्धता— बस्ति से पूर्व आतुर का स्नेहन और स्वेदन करना चाहिये।[९१] स्नेहन से यहां तैलाभ्यंग मात्र अपेक्षित है क्योंकि बस्तिपूर्व अभ्यंतर स्नेहपान का आदेश नहीं है। बल्कि स्नेहपीत को बस्ति का निषेध ही किया गया है। स्वेदन में श्रोणि, कटि वंक्षण, पक्वाशय प्रदेश पर ताप स्वेद, या उष्णजल की थैली (Hot Water bag) रखकर स्वेद करें। अथवा बालुका वस्त्र, ईंट इत्यादि से स्वेदन करना चाहिये और यदि आतुर अनुवासनार्ह है तो पहले अनुवासन देना चाहिये। यदि आतुर अत्यंत रुक्ष शरीरवाला हो तो पहले दो या तीन अनुवासन बस्तियां देकर उसे निरूह के लिए तैयार करना चाहिये।[९२] अनुवासन के लिए—१. आतुर अत्यंत रुक्ष शरीरवाला होना तथा २. अनुवासनार्ह होना ये दो अवस्थाएं कही हैं। तथापि सुश्रुत ने आस्थापन के पूर्वकर्म में सामान्यत: अनुवासन करने का निर्देश किया है।[९३] इस तरह आतुर सिद्धता में अभ्यंग, स्वेदन और अनुवासन ये तीन पूर्वकर्म होते हैं। बस्ति के पूर्व अनुवासन से ही स्नेहन करना इच्छनीय। इसी तरह प्रत्येक निरूह में स्नेह होता ही है, अत: तत्पूर्व स्नेहपान निषिद्ध है। निरूह देने के पूर्व आतुर निरूहणार्ह है या नहीं इसकी अवश्य परीक्षा करनी चाहिये।

इस तरह आस्थापनार्ह आतुर को शुक्लपक्ष में अच्छा दिन, मुहूर्त—देखकर प्रशस्त दिन में—जो दुर्दिन हो, पहले किये भोजन के जीर्ण होनेपर भोजन पूर्व निरूह का उपक्रम करें। यहां हारीतसंहिता में कुछ उलटा संदर्भ है। हारीत ने कृष्णपक्ष में बस्ति देने का निर्देश किया है। इसमें हेतु दिया है कि रोगों की चिकित्सा उनके जन्मकाल में ही करना उत्तम होता है। शुक्लपक्ष में देवों का जन्म हुआ है और कृष्णपक्ष में राक्षस तथा रोगों का जन्म हुआ है। इसलिए रोगकाल में कृष्णपक्ष में बस्तिचिकित्सा करें।[९४] जेज्जटाचार्य के मतानुसार नक्षत्र आदि देखकर बस्ति देना यह रक्षण प्रभाव के लिए आवश्यक है, शुक्लपक्ष में धातुसाम्य रहता है अत: शुक्लपक्ष में बस्ति देना प्रशस्त है।[९५] शुभनक्षत्र, पक्ष, इत्यादि का विचार भारतीय परंपरा में सभी अच्छे कार्यों में किया जाता है। बस्ति चिकित्सा एक शुभकर्म है और इसी दृष्टि से यह विचार उपादेय समझना चाहिये। किंतु रोग तो नक्षत्र, तिथि, पक्ष के लिए राह नहीं देखते। अत: आत्ययिकता में कभी भी यह कर्म करना चाहिये। भारतीय आतुर के मन पर इन सब बातों का खूब प्रभाव होता है। अनुभव ऐसा है कि विशेष आत्ययिकता न हो तो आतुर कृष्णपक्ष में आतुरालय में भरती होना, आतुरालय से मुक्ति लेना भी पसंद नहीं

करते। अत: जहां रसायनादि दृष्टि से शोधन स्वरूप पंचकर्म करना हो वहां पर नक्षत्रादि का विचार करें। इससे आतुर को मानसिक बल मिलता है।

४. **काल**— काल ऋतुभेद तथा व्याध्यवस्था के अनुसार दो प्रकार का होता है। दोनों के अनुसार बस्ति का विचार करना चाहिये। ऋतुभेद के अनुसार निरूह के लिए विशेष नियम नहीं है। अनुवासन के लिए खास नियम हैं उनका विचार अनुवासन प्रकारण में किया गया है। व्याध्यवस्था के अनुसार कहाँ-कहाँ कौनसी बस्ति देनी चाहिये इसका वर्णन आगे बस्ति के कतिपय योग देते समय किया गया है। काल में उपर्युक्त दो के अतिरिक्त पंचकर्म क्रम में निरूह कब देना चाहिये यह एक विचार आता है। सामान्य नियम यह है कि वमन के १५वें दिन विरेचन किया जाता है और विरेचन के ७ दिन के बाद निरूह। १वें दिन अनुवासन देकर उसी दिन शाम को या दूसरे दिन निरूह दिया जा सकता है। वाग्भट ने १५वें दिन देने को कहा है विरेचन के ७वें दिन अनुवासन देना चाहिये और इस तरह एक दिन के अंतर से अनुवासन बस्तियाँ देकर १५ दिन के बाद (या १५वें दिन) निरूह देना चाहिये।[१६]

५. **सात्म्य**— आहार—भोजन--पानादि का विचार सात्म्य कहलाता है। भोजन के बिना या प्रथम भोजन के जीर्ण होने के बाद ही निरूह दिया जाता है। निरूह हमेशा निरन्न या अभुक्तभक्त को ही दिया जाता है, तथापि यह ध्यान रहे कि आतुर क्षुधार्त न हो। भोजनोत्तर दिया हुआ निरूह छर्दि, विषूचिका को उत्पन्न करता है।[१७]

६. **अग्नि**— अत्यंत मंदाग्निवाले आतुर को निरूह नहीं देना चाहिये। उसे दीपन, पाचन अग्निवर्धन चिकित्सा कर फिर निरूह दे।

७. **सत्व**— मन के प्रवर, मध्य और अवर दशा के अनुसार आतुर क्लेश सहन करने में कम ज्यादा क्षम होता हैं। सत्य परीक्षा द्वारा बस्ति के तीक्ष्ण अथवा मृदुबस्ति का निर्णय करें। प्रबरसत्व का आतुर अल्प वेदना को भी अधिक बताता है और इस कारण बस्ति उपद्रव समझने में वैद्य की भूल हो सकती हैं। प्रवर सत्व का आतुर अत्यंत वेदना को भी सहन कर लेता है—जिससे भी बस्ति के उपद्रवों की गंभीरता ध्यान में नहीं आ सकती। अतएव बस्ति देने के पहले आतुर की सत्व परीक्षा करना हितकर है।

८. **ओक**— अभ्यास सात्म्य को ओक कहते हैं। आतुर को क्या क्या सात्म्य है और क्या असात्म्य है, यह परीक्षा से निश्चित कर लेना चाहिये। ओक सात्म्य के अनुसार मांसरसादि से सिद्ध बस्ति उस आतुर में दी जा सकती है या नहीं इसका ज्ञान होता है। स्नेह सेवियों को कौनसी बस्ति दे। दूध, मधु, गुड़ादि से सिद्ध बस्ति कहां पर देनी चाहिये इत्यादि का निर्णय किया जा सकता है।

९. **वय**— वयानुसार बस्ति द्रव्य की मात्रा, नेत्र की लंबाई, परिणाह, छिद्र इत्यादि का विचार पहले किया गया हैं। सामान्यत: बस्ति के लिए कोई भी वय का निषेध नहीं है। बाल्य, यौवन और वार्धक्य तीनों वयों में बस्ति उपक्रम किया जा सकता है। काश्यप ने बस्तियोग्य वय की मनोरंजक चर्चा की है।[१८] ऋषियों ने बस्ति योग्य वय की चर्चा की—तब गार्ग्य ने कहा कि बस्ति, जन्म से ही दी जा सकती है। माठर नाम के मुनि ने मत प्रदर्शित किया कि यह ठीक नहीं है—जन्म के बाद एकमास के अनंतर बस्ति दी जा सकती है। आत्रेय पुनर्वसु के मत से (चरक संहिता के प्रणेता आत्रेय पुनर्वसु ये नहीं प्रतीत होते) बस्ति ४ मास के वय से दी जा सकती हैं। अन्यमत (नाम नहीं है) के अनुसार बालक जब स्तन्यपान के साथ ऊपर का दूध-

घी लेना शुरू करें उस वय से बस्ति देनी चाहिये। भेल का कथन है कि छ: वर्ष की उमर के बाद ही बस्ति देना उचित होता है। इस चर्चा पर काश्यप ने अपना निर्णय दिया कि जब बच्चा जमीन पर खिसकना शुरू करें, जब कुछ अन्न खाना शुरू करें तब बस्ति देनी चाहिये। यह काल सामान्यत: ८ मास से एक वर्ष का समझना चाहिए।

बस्ति-प्रणिधान

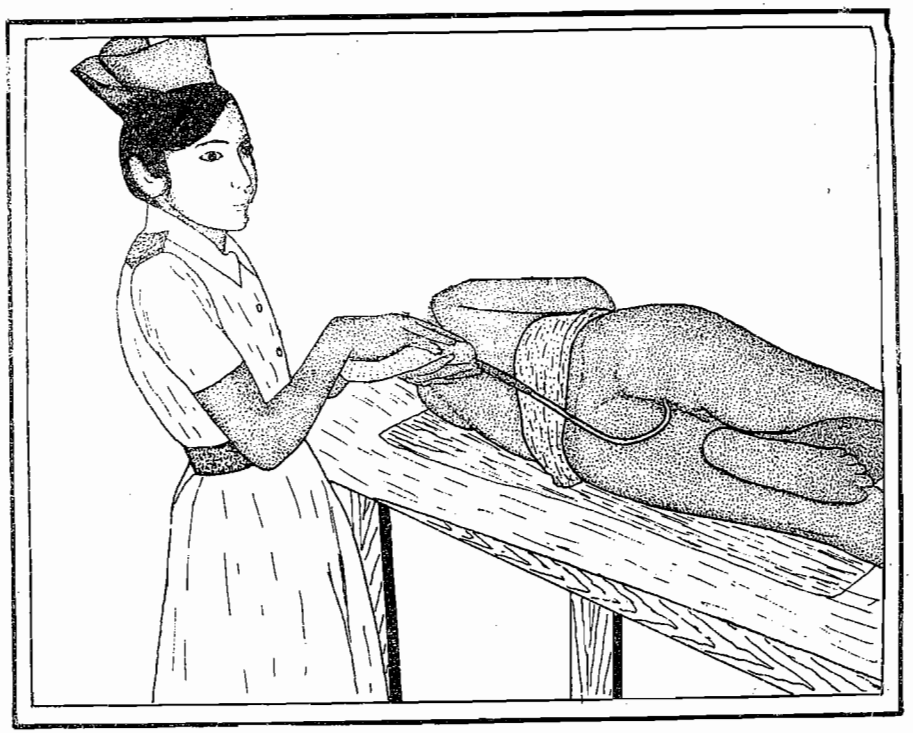

विशेष — उपचारिका प्राचीन विधि के बस्तियंत्र से बस्ति दे रही है। आतुर को वाम पार्श्व पर लिटाया है। वाम सक्थि को सीधा रखकर दक्षिण सक्थि को संकुचित कर रखा है। गुदा में बस्ति के लिए रबरनलिका प्रविष्ट की है। जिसको बस्तिनेत्र सन्नद्ध किया गया है।

१०. **बल**-- सहज, युक्तिकृत और कालकृत ऐसा तीन प्रकार का बल होता है। आतुर बल परीक्षा के अनुसार तीक्ष्ण बस्ति, मृदुबस्ति, उष्ण, स्निग्धादि गुण विशिष्ट बस्ति इत्यादि में से कौनसी देनी है इसका निर्णय कर सकते हैं। अति दुर्बलों में बस्ति निषिद्ध है। उन्हें युक्तिकृत्-रसायनादि सेवन से, या वल्य, बृंहण बस्ति इत्यादि से बल बढ़ाकर फिर बस्ति चिकित्सा करनी चाहिये। कालकृत बलहेमंतादि ऋतुओं में कालप्रभाव से बढ़ता है। उस समय सभी प्रकार के अपचय और क्लेशों को सहन करने में मनुष्य क्षम होता है। अत: दुर्बलों में कालकृत् बल बढ़ने पर बस्ति दी जा सकती है।

इस तरह बस्ति के पूर्व जो विषय महत्त्वपूर्ण है, उनका निर्देश किया गया हैं। इनका विचार अनुवासन और उत्तरबस्ति के लिए भी करना होता है। अत: आगे इनका पिष्टपेषण न कर केवल अनुक्त विषयों को ही स्पष्ट किया जाएगा।

१. प्रधान कर्म

बस्ति देने के प्रधान कर्म में निम्नोक्त विषयों का अनुसरण करना चाहिए।

१. बस्ति प्रणिधान
२. बस्ति प्रत्यागम एवं निरीक्षण
३. योगायोगाति योग लक्षणों का निरीक्षण

१. बस्ति प्रणिधान[९९]-- पूर्वोक्त विधि से बस्ति द्रव्य मिलाकर (माक्षिकं लवणं स्नेहं कल्कं क्वाथमिति क्रमात्) तैयार रखे। बस्तियंत्र--नेत्र--पुटक को बांधकर तैयार रखें। इस बस्तियंत्र का नेत्र सीधा गुदा में प्रविष्ट किया जा सकता है तथापि फ्लेंट्सट्यूब-एनिमा ट्यूब का उपयोग करना हितावह होता है। सब साधन एकत्र कर आतुर को टट्टी और पेशाब से निवृत्त कराकर अभ्यंग और स्वेदन करावे। अभ्यंग-चंदनबलालाक्षादि तैल, धान्वंन्तर तैल, पंचगुण तैल, क्षीर बला तैल इत्यादि में से योग्य तेल से संपूर्ण शरीर का अभ्यंग करें। श्रोणि, उरु, स्फिग्, कटि पक्वाशय पर विशेष अभ्यंग करें। फिर पोटली या तापस्वेद से स्वेदन कराकर बस्ति टेबल पर लिटा देवे।

बस्तियंत्र के नेत्र मुखपर कपास का पिचु रखकर उसे—अधोमुख रख-पुटक को ऊर्पर पकड़कर सुखोष्ण खज से मंथन किया हुआ मात्रायुक्त बस्ति द्रव्य पुटक में भर दे। पुटक में द्रव्य भरते समय नेत्र मुखपर एक अंगुली रखनी चाहिए। बस्ति द्रव्य पुटक में उतना ही भरना चाहिए जिससे ऊपर बांधने के लिए रिक्तावकाश रह जाये। पुटक के ऊपर डोरी से कसकर बांध दे ताकि बस्ति द्रव्य बाहर स्रवित न हो। फिर यह बस्ति यंत्र सद्रव्य तैयार हो गया।

शयनविधि—शयन तिधि को खास ध्यान में रखना चाहिए। आतुर को वामपार्श्वपर—बायें करवट सिराहना न देते हुए सुलाना चाहिए। आतुर अपने ही हाथपर सिर रखकर सोये। उसका बाया पांव बिलकुल सीधा रखना चाहिए और दाहिना पांव जानु संधि से तथा वंक्षण संधि से संकुचित कर झुकाकर रखना चाहिए। इस अवस्था में गुद, स्फिग् श्रोणि का भाग ठीक तरह से बस्ति दाता के सामने आता है यही अवस्था अर्श परीक्षा में भी उपयुक्त होती है। गुदा में तैल (जात्यादि तैल या पद्मकादि तैल--) या घृत लगाकर स्निग्ध कर, रबर की फ्लेटस ट्यूब भी स्निग्ध कर ४।। से ६।। इंच तक अंदर धीरे-धीरे पृष्ठवंश के समांतर रखते हुए प्रविष्ट करावे। यदि केवल नेत्र से ही बस्ति देनी हो तो अनुपृष्ठवंश—नेत्र उतना अंदर प्रविष्ट करावे जिससे कर्णिका गुदौष्ठ तक लग जाए। ट्यूब प्रविष्ट कराने के बाद ट्यूब के दूसरे मुख को बस्ति नेत्र जोड़ दे। तत्पूर्व बस्तिनेत्र के मुख में रखा हुआ कपास का पिचु निकाल देवे। फिर बाऐं हाथ में बस्ति पुटक अच्छी तरह पकड़ कर दाहिना हाथ ऊपर रखकर, दोनों हाथ के बीच बस्ति पुटक को समान भार से पीड़न करें (दबावें)। बस्ति पुटक एक साथ समगति, से कंप वेपनादि न करते हुए ग्रहण (एक ही पीड़न की गति में) से दबाकर बस्ति द्रव्यों को पक्वाशय में ढकेल देना चाहिये। बस्ति पीड़न करते समय आतुर को श्वास अंदर खींचने को कहना चाहिये। बस्ति द्रव्य अंदर चले जाते हैं या नहीं इसका निरीक्षण करें। नेत्र यदि तिरछा प्रवेश किया जाये तो धारा ठीक तरह से अंदर नहीं जा सकती और हस्तकंप हो तो गुदा में क्षत हो सकता है। बहुत जल्दी से बस्ति न दे, और न बहुत धीरे से दे। बहुत जल्दी, और बहुत जोर से पुटक दबा दिया जाये तो बस्ति वेग से अंदर प्रविष्ट होकर कंठ तक आने की संभावना होती है और बहुत धीरे से बस्ति देने से वह कार्यकर नहीं होती है।[१००]

बस्ति पक्वाशय में संपूर्ण नहीं देनी चाहिये। कुछ बस्ति द्रव्य पुटक में शेष रहे इतना ही पीड़न करें। क्योंकि नि:शेष बस्ति देने पर पीछे रहा हुआ वायु भी अंदर प्रविष्ट होता है, जो पीड़ा करता है।[१०१] बस्ति देने के बाद नेत्र या नलिका को सावधानी से तुरन्त निकाल लेवे। फिर ३० मात्रा (लगभग आधा मिनिट) तक वैसे ही आतुर को लिटाकर रखे। फिर उत्कटुकासन (उकडु बिठाकर) में मलावेगों का विसर्जन कराने को कहे। अगर अंगाघात के कारण आतुर बैठने में असमर्थ हो तो उसे शय्या प्रतिग्रह (Bedpan) देना चाहिये। बृंहण बस्ति, वल्य बस्ति, बाजीकरण बस्ति इत्यादि में बस्ति के बाद भी आतुर को लिटाकर रखकर स्फिग् पर थपथपी लगावे और बस्ति अधिक देर तक अंदर रोकने की कोशिश करनी चाहिये।[१०२] जब मलवेग स्वयं प्रवृत्त हो जाये तब उसे उत्कटुकासन में बिठावे।

यदि एनिमाकेन का उपयोग करके बस्ति दी गई हो तो वह स्वयं ही योग्य गति से प्रविष्ट होती है। अत: विशेष चिंता नहीं होती। लेकिन पुटक से दबाकर बस्ति देने में कर्मचारी जितना कुशल हो उतना 'अपने हाथ का कौशल्य' (पाण्योर्गुणान्) बताते हुए बस्ति दे। अन्यथा व्यापद होती हैं। अंदर श्वास खींचकर बस्ति पीड़न करने को कहा है। जब आतुर अंदर श्वास खींचता है, (Deep Inspiration) तब उसका गुद और पक्वाशय पर विसर्जनी क्रिया का अभाव होकर बस्ति सुविधा से अंदर प्रवेश करती है।

वामपार्श्व पर लिटाने का हेतु— बायें करवट पर लिटाकर बस्ति देने का हेतु यह है कि गुदा की बलियां, मलाशय, पक्वाशय, ग्रहणी ये सब अवयव बायें करवट पर लेटने से समांतर (Plain) बाजू में आते हैं, जिससे बस्ति अंदर पहुंचकर मलाशय तथा पक्वाशय के मल को स्निग्ध कर सुखपूर्वक वापिस लाती है।[१०३] आंत्र की दीवारों को स्निग्ध और मृदु करती हैं। जिससे बस्ति के बाद भी प्राकृत ढंग से मलप्रवृत्ति होती है। बस्ति द्रव्य के कुछ घटक—यथा तैल, घी, दूध, मांसरस इत्यादि स्नेह के अणुप्रवण भाव के साथ ग्रहणी तक पहुंच कर वहां अग्निक्रिया को ग्रहणी अवयव को भावित कर क्षमता बढ़ाते हैं।

किसी खास कारण से यदि बायें करवट पर लिटावे संभव न हो तो दायें करवट पर और सीधे पृष्ठ के बल पर लिटाकर भी बस्ति दी जा सकती हैं।

बस्ति प्रणिधान में सावधानी— बस्ति देते समय बस्ति बराबर जाती है या नहीं इसका निरीक्षण करें। कभी-कभी बस्तिनेत्र प्रवेश करते ही, या कुछ द्रव्य प्रवेश होते ही वात—मल वेग की उत्तेजना होती है। इसलिए बस्ति के पहले वे मल और मूत्रवेगों का विसर्जन कराना चाहिये। यदि बस्ति प्रक्रिया में वेगप्रवर्तन हो तो बस्ति नेत्र को निकाल लेवे और मलविसर्जन के बाद पुन: दूसरी बस्ति देनी चाहिये। फिर श्रोणि के नीचे तकिया रखकर कटीपक्वाशय को ऊपर उठा लेवे और ज्यादा देर तक बस्ति अंदर रह सकेगी ऐसी व्यवस्था करावें, क्योंकि बस्ति अंदर रहने से ही अच्छी तरह कार्यकर होती है।[१०४]

२. बस्ति प्रत्यागम एवं निरीक्षण

बस्ति के वापिस आने का काल 'प्रत्यागम काल' कहलाता है। निरूह बस्ति का प्रत्यागम काल एक मुहूर्त (लगभग ४८ मिनिट) का है। यह परम मर्यादा है।[१०५] यदि एक मुहूर्त में बस्ति बाहर न आये तो वह मृत्युकारक होती है ऐसा वाग्भट कहते हैं। यहां मृत्युसमान पीड़ाकारक होती है ऐसा अर्थ करना चाहिए। अनुभव से सिद्ध है कि शोधनार्थ दी हुई बस्ति उक्त समय में बाहर न आये तो कोष्ठ में आध्यमान, पक्वाशयशूल, मूत्रशूल वात प्रतिलोमता और हृदप्रदेश में दबाव के समान पीड़ा इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। सुश्रुत ने भी कहा है कि वापस न आयी हुई बस्ति वात प्रतिलोमता, बिष्टंभ, शूल, ज्वर अरति, और मृत्यु करती है।[१०६] यदि बस्ति वापस न आयें तो निम्नलिखित उपाय करने चाहिये।[१०७]

१. यवक्षार, गोमूत्र, अम्लद्रव्य तथा तीक्ष्ण, उष्ण औषधि से (त्रिकटु इत्यादि) संयुक्त दूसरी बस्ति तुरन्त देनी चाहिये।

२. फलवर्ति गुदा में प्रविष्ट कराकर बस्ति तथा मलों का प्रत्यावर्तन करावे।

३. श्रोणि, स्फिग, वंक्षण, पक्वाशय, पर स्वेदन करें। गरम पानी की थैली से या अन्य तापस्वेदादि से स्वेदन करावे।

४. **उत्त्रासन**— खड्गादि दिखाकर आतुर को भयभीत करावे। यहां खड्ग उपलक्षणमात्र है। भीतिसंजनन मुख्य हेतु है। भीति से अतिसार होता है—इस तरह बस्ति बाहर आ सकती है।

५. **शोधन**— त्रिवृतचूर्ण, त्रिफला या एरंड स्नेहादि शोधन औषधि का प्रयोग कर विरेचन करावे। बस्ति प्रत्यागम होने तक बस्तिदाता रोगी का निरीक्षण करता रहे।

३. योगायोगातिलक्षणों का निरीक्षण— बस्ति के सम्यग्योग, अयोग और अतियोग के लक्षणों को देखकर तत्तदवस्था में योग्य उपाय करना चाहिये।

१. सम्यग् योग लक्षण— जो बस्ति नाभिप्रदेश, कटि, पार्श्व कुक्षि तक जाकर संपूर्ण मल को इकट्ठा कर मल को और शरीर को (पक्वाशय को) स्निग्ध कर दोषों के साथ सुखपूर्वक निकलती है वह सम्यग्दत्त बस्ति समझनी चाहिए।[१०८] बस्ति से सम्यक् प्रकार से शोधन हो तो निम्नलिखित लक्षण उत्पन्न होते हैं।[१०९]

१. **प्रसृष्ट विट्कता**— मल स्वयं प्रवृत होता है।
२. **प्रसृष्ट मूत्रता**— मूत्र प्रवृत्ति स्वयं होती है।
३. **प्रसृष्ट वातता**— अधोवात की सम्यक् प्रवृत्ति होती है।
४. **क्रमश**— मल, पित्त कफ और वायु का विसर्जन होता है।
५. शरीर में हलकापन लगता है।
६. भोजन में रुचि उत्पन्न होती है।
७. अग्नि तीक्ष्ण होती है।
८. पक्वाशय, मलाशय आदि आशयों में लघुता उत्पन्न होती है।
९. **रोगोपशमन**— जिस रोग के लिए बस्ति दी गई हो उसके लक्षणों का प्रशम मिलता है।
१०. **प्रकृतिस्थता**— रोगी स्वस्थ होता है।
११. रोगी का बल बढ़ता है।

२. अयोग के लक्षण—निरूह बराबर न दिया जाने पर या निरूह का कार्य बराबर न होने पर निम्नलिखित लक्षण मिलते हैं।[११०]

१. रुजा— शिर, हृदय, नाभि, बस्ति, गुद और मेढ्र या योनि में रुजा उत्पन्न होती है।
२. शोथ
३. प्रतिश्याय
४. कर्तिका—गुदा में कैची से काटने के समान वेदना होती हैं
५. हृल्लास: मुंह से लालास्राव होता है
६. वातसंग
७. मूत्रसंग
८. श्वासकृच्छ्र होता है
९. वेग अल्पश: आता है, अस्तिद्रव्य कम आता है, और मल भी कम निकलता है
१०. अरुचि होती है।
११. शरीर भारी हो जाता हैं। यहां प्रत्यागमार्थ चिकित्सा करें।

३. अतियोग के लक्षण— विरेचन के अतियोग के जो लक्षण कहे गये हैं वे ही निरूहातियोग से होते हैं।[१११] अर्थात्

१.अंगसुप्ति	२. अंगमर्द	३. क्लम	४. कंप
५. निद्रा	६. दौर्बल्य	७. तम: प्रवेश	८. उन्माद

९. हिक्का ये विरेचनातियोग के लक्षण निरूह से अतिमल प्रवृत्ति से उत्पन्न होते हैं। वहाँ पर ग्राही, दीपन, पाचनादि उपाय करना चाहिये।

पश्चात् कर्म

बस्ति प्रणिधान के अनंतर बस्ति प्रत्यागम तथा आतुराहारादि की व्यवस्था इत्यादि जो विचारणीय विषय होते हैं उनका समावेश पश्चात्कर्म में होता है। वे कर्म ये हैं—

१. बस्त्युत्तर तुरन्त विचारणीय विषय
२. पथ्यादि तथा अन्य बस्ति विचार
३. बस्ति व्यापद् तथा प्रतिकार

१. बस्त्युत्तर तुरन्त विचारणीय विषय— निरूह के बाद पहले कहे गये अनुसार बस्ति प्रत्यागम का निरीक्षण करें। कभी-कभी बस्ति तुरन्त वापिस आती है, किंतु सम्यक् लक्षण उत्पन्न नहीं करती। इस तरह यदि केवल निरूह द्रव्य ही निकल जाये तो पुन: तुरन्त दूसरी निरूह बस्ति देनी चाहिये। इस तरह तीन, चार या पांच बस्तियाँ दी जा सकती हैं, या सम्यक् निरूढ़ लक्षण मिलने तक बस्तियाँ दी जा सकती है।[११२] दूसरी बस्ति तुरन्त उसी समय दी जा सकती है, तथापि तीसरी, चौथी, पांचवी या अधिक बस्तियाँ देनी हो तो वे उसी दिन नहीं देनी चाहिये। अन्यथा पक्वाशयक्षोभ होगा। सम्यक् निरूढ़ लक्षण न मिले तो प्रथम अनुवासन बस्ति अथवा मात्राबस्ति देकर फिर निरूह देना चाहिये।[११३]

२. पथ्यादि तथा अन्य बस्ति विचार— बस्ति अच्छी तरह वापिस आनेपर सम्यक् निरूढ़ को विश्राम करावे। फिर थोड़े समय के बाद सुखोष्ण जल से स्नान करावे। वात, पित्त, कफ इनका बलाबल देखकर उसे दूध, यूष मांसरस अथवा जांगल प्राणियों का मांसरस युक्त भोजन करावे।[११४] निरूह से शोधन होता है, तथापि अमाशय और पक्वाशय

में अत्यधिक क्षोभ नहीं होता। अत: वमन विरेचन के बाद जो संसर्जन क्रम आवश्यक होता है, वह क्रम बस्ति में आवश्यक नहीं हैं। तथापि अग्नि को देखकर मंद तीक्ष्ण और समावस्था ध्यान में रखकर अल्पमात्रा युक्त भोजन, मध्यम भोजन देना श्रेयस्कर होता है।

सुश्रुत ने पित्त प्रधान दोष हो तो दूध, कफ प्रधान हो तो यूष और वात प्रधान हो तो मांसरस का भोजन देने को कहा है। अथवा सभी को विकारकारी न हो ऐसा मांसरस और भात का भोजन देना चाहिये। स्नान और मांसरसादि भोजन का खास उल्लेख मिलता है। वाग्भट कहते है कि निरूह से चलायमान दोषों से जो विकार उत्पन्न होते है, उनका गरम पानी के स्नान से तथा भोजन से शमन होता है।[११५] जांगल मांसरस की प्रशस्ति सभी आचार्यों ने मानी है। शाकाहारी आतुरों को मूंग, चावल, उड़द, मसूर, तुवर, इनके सिद्ध यूष, कृशरा इत्यादि का भोजन देना चाहिये, दूध पिलावे। भोजन गुरु न हो तबा प्रतिदिन जितनी मात्रा में भोजन किया जाता है उसमें $\frac{१}{३}$ मात्रा तक भोजन करावे। हो सके तो इससे भी और कम भोजन करावे। इस तरह अल्प भोजन किये हुए व्यक्ति को सायंकाल में अनुवासन बस्ति दें।

निरूह के बाद अनुवासन बस्ति देनी ही चाहिये। वह उसी दिन सायंकाल को दे। प्राय: सायंकाल को अनुवासन देना, या रात्रि में अनुवासन देना मना किया है। लेकिन निरूह के बाद का अनुवासन शीतकाल या वसंत ऋतु में भी उसी दिन रात को देना चाहिये।[११६] चक्रपाणि टीका में कहते है कि सामलक्षण उपस्थित हो, अग्निमांद्य हो, तो उस दिन अनुवासन न देकर दूसरे दिन दिया जा सकता है। इस कथन के समर्थन में जतुकर्ण और हारीत का वचन देकर दूसरे दिन अनुवासन देना उचित है ऐसा बताया है। निरूह से यदि पक्वाशय में क्षोभ उत्पन्न हुआ हो तो उसी दिन शाम को अनुवासबस्ति देनी चाहिए।

सुश्रुत के टीकाकार डल्हण कहते हैं कि निरूह के सम्यक् लक्षण मिलने पर ही अनुवासन देना चाहिए। दुर्निरूहों में नहीं देनी चाहिए। इससे चक्रपाणि के साम तथा अग्निमांद्य लक्षण का निरास होता है, क्योंकि सम्यक् निरूढ़ में अग्नि बढ़ती है, और सामता रह नहीं सकती। निरूह के बाद वात प्रकोप का भय रहता है इसलिए मांसरस, भात का भोजन देकर उसी दिन शाम को अनुवासन देना चाहिए।[११७] सुश्रुत ने अनुवासन और स्नेहबस्ति ऐसी दो अलग-अलग स्नेहबस्ति कही है। स्नेहबस्ति का आधा प्रमाण अनुवासन में दिया जाता है। निरूढ़ व्यक्ति को उसी दिन अनुवासन दिया जाये और, फिर अग्निबल देखकर वात की गति को समझकर अन्न से कोष्ठ में सहारा होने पर (भोजनोत्तर) दूसरे दिन स्नेहबस्ति दे।[११८] डल्हण कहते हैं कि सुनिरूढ़ को अनुवासन देना चाहिए और अतिनिरूढ़ को अतिविरिक्त के समान ग्राही औषधियां, शीतपरिषेक और पिच्छाबस्ति आदि देनी चाहिए न कि स्नेहबस्ति। विदेह का मत अपने समर्थन में देते हुए कहते हैं कि, विदेह भी कहते है कि अतितीक्ष्ण निरूह से जब दोषहरण किया जाता है, तो दिया हुआ अनुवासन का स्नेह अनीप्सित मार्ग में चला जाता है। गयदास कहते है कि यहां ६ पल प्रमाण की स्नेहबस्ति नहीं दी जाती अपितु यहां ३ पल (१२ तोला) प्रमाण की अनुवासन बस्ति देनी चाहिए और जहां स्वतंत्ररीत्या स्नेहबस्ति देनी हो वही ६ पल (२४ तोला) की बस्ति देनी चाहिए।[११९]

परिहार[१२०]—जितने दिन तक बस्तियां दी जाती हैं उससे, दुगने दिन आगे पथ्य संभालना चाहिए। उतने कालतक अत्यासन, अस्थान में (सवारी इत्यादि) बैठना, जोरसे बोलेना, दिन में सोना, मैथुन वेगावरोध, शीत जलपान, शीत जलस्नान, धूप में घूमना,

ठंडी हवा में घूमना, क्रोध—इनको छोड़ना चाहिए और लघु और काल के अनुसार हितकर भोजन करना चाहिए।

३. बस्ति व्यापद तथा प्रतिकार— बस्ति प्रक्रिया में उत्पन्न विकार बस्ति व्यापद् कहलाते हैं। बस्ति व्यापद के मुख्य ३ प्रकार होते हैं—

१. बस्ति नेत्र व्यापद्
२. बस्ति पुटक व्यापद्
३. प्रणेता (बस्तिदाता) जन्य व्यापद

१. बस्ति नेत्र व्यापद— बस्ति नेत्र के वर्णन में नेत्र दोष दो दिये गये है वे ही नेत्र व्यापद कहलाते हैं। दुष्ट नेत्र व्यापद में हेतु होता है। इनका विचार पहले किया गया हैं, यहां केवल नाम तो निर्देश किया जाता है।

१. अति ह्रस्व नेत्र से—बस्ति द्रव्य की पक्वाशय में अप्राप्ति होती है।
२. अति दीर्घ नेत्र से—अति गति होती है।
३. तनु नेत्र से गुदा में क्षोभ होता है।
४. स्थूल नेत्र से अतिकर्षण होता है।
५. जीर्ण नेत्र से—गुदक्षणन होता है।
६. शिथिल बंधन से द्रव्य बाहर गिर जाते हैं।
७. पार्श्वछिद्र से गुदपीड़ा होती है।
८. वक्रनेत्र से द्रव्ययों की गति टेढ़ी होती है।

वस्तुत: ये बस्ति व्यापद नहीं हैं। दुष्ट नेत्र को पहले ही त्याग सकते हैं। अतएव इनका उल्लेख पीछे किया गया है। यदि अनवधान से दुष्ट नेत्र से व्यापद उत्पन्न हो तो उचित चिकित्सा करें। अप्राप्ति में नेत्र बदल कर दूसरी बस्ति दे। अतिगति में प्रत्यागम तक निरीक्षण करें। प्रत्यागम हो जाये तो कुछ चिंता का कारण नहीं हैं। अप्रत्यागम में फलवर्ति, शोधन, तीक्ष्ण बस्ति ये उपाय करें। गुदा में क्षोभ, अतिकर्षण, क्षणन, और पीड़ा हो तो जात्यादि तैल, जात्यादि घृत, पद्मकादि तैल, पद्मकादि घृत, शुद्ध घृत, अर्शोशामक मलहर इत्यादि का लेपन करें। शिथिल बंधन से स्राव हो तो उसे खोलकर, पुटक को दो कर्णिका के बीच में अच्छी तरह कस कर बांधकर पुन: बस्ति दे। पार्श्वछिद्र और वक्र नेत्र को पहले से ही वर्ज्य करें।

२. बस्तिपुटक व्यापद—बस्तिपुटक का वर्णन करते हुए जो दोष पहले कहे गये थे उनसे उत्पन्न उपद्रव पुटक व्यापद कहलाते हैं। यहां पीछे वर्णित विषय का पुन:स्मरण मात्र किया जाता है।

१. विषम बस्ति से—गतिवैषम्य होता है।
२. मांसल बस्ति से—विस्रगंधता होती है।
३. छिद्रयुक्त बस्ति से—बाह्यत: स्राव होता है।
४. स्थूल बस्ति—ग्रहण करने के तकलीफ (दौर्ग्राह्य) होती है।
५. जालवाली बस्ति से--द्रव का स्राव होता है।
६. वात लबस्ति से—फेनिल झाग उत्पन्न होता है।

७. अतिस्निग्ध बस्ति से—वह हाथ में से फिसलने से (च्युतधार्यत्व) बस्ति देने में तकलीफ होती है।

८. अतिक्लिन्न बस्ति से---पकड़ने में मुश्किल होती है।

उपर्युक्त व्यापदों में क्र १,३,४,५,७,८, ये वस्तुत: व्यापद नहीं हैं। उपर्युक्त प्रकार के पुटक का त्याग करें। गतिवैषम्य में प्रत्यागम देखकर यथायोग्य उपाय करें। वातल बस्ति से झाग और वात प्रकोप हो तब वक्ष्यमाण चिकित्सा करें।

३. प्रणेत् व्यापद्— बस्तिदाता को प्रणेता कहते हैं। प्रणेता को चाहिये कि वह अपना हस्त कौशल्य बताकर अच्छी तरह से बस्ति दे। यदि प्रणेता शिक्षित न हो, और अच्छी तरह बस्ति नहीं दी जाये तो निम्नलिखित व्यापद उत्पन्न होती है।[१२१]

१. सवात बस्ति दान— यदि आतुर को अच्छी तरह श्वास अंदर खींचने को न कहा जाये, बस्तिनेत्र को अच्छी तरह पुटक से न बांध दिया जाये, और सावशेष बस्ति देने का नियम पालन न किया जाये (अशेष दान) तो बस्ति द्रव्यों के साथ वायु भी गुदा में प्रविष्ट होकर पक्वाशय में शूल और तोद करता है। इस व्यापद में चन्दनबला लक्षादि तैल, क्षीरबला तैल, पंचगुण तैल, आदि से गुद एवं पक्वाशय पर अभ्यंग करें और गुदा पर मृदु स्वेद (वस्त्र, इष्टिका इत्यादि) करें।[१२२]

२. द्रुत प्रणीत बस्ति व्यापद्— बहुत जल्दी से बस्ति नेत्र प्रविष्ट कराना, जल्दबाजी से निकाल लेना इससे गुदा, वंक्षण, जंघा, उरु तथा कटी में वेदना होती है बस्ति स्तंभ-बस्ति प्रदेश में जकड़ाहट या बस्ति से मूत्र विसर्जन क्रिया का स्तंभ होता है। ऐसी अवस्था में वातघ्न भोजन, यूष, मांसरस, मधुर उष्ण स्निग्ध भोजन दूध, घी, भात, कृशरादि का सेवन करावे और अभ्यंग तथा स्वेदन कराकर योग्य प्रकार से बस्ति दे। द्रुतोत्क्षिप्त वेदना वातनाड़ी के प्रक्षोभ से होती है अत: अनुवासन बस्ति या पिच्छा बस्ति भी इसमें दी जा सकती है।[१२३]

३. तिर्यग् प्रणिधान— बस्तिनेत्र को तिरछा प्रविष्ट करने से वह गुदवलियों से पिहितमुख होकर द्रव्य अंदर जा नहीं सकता। इसी तरह बस्ति नेत्र में भी कुछ वस्तु अटक गई हो तो अवरोध से बस्ति अंदर नहीं जा सकती। इस अवस्था में बस्ति नेत्र बाहर निकालकर, उसकों साफ कर पुन: सीधा अनुपृष्ठवंश प्रविष्ट करावे।[१२४]

४. उल्लुप्त दत्त बस्ति— बस्ति पुटक को एक ग्रहण से अर्थात् एक ही बार समान भार से पीड़न कर दबाना चाहिये। बस्ति पुटक को बार-बार दबाना यह पीड़न दोष उल्लुप्त दोष कहलाता है। इस तरह बस्ति पुटक दबाते-दबाते बीच में छोड़ देने से गुदा में वायुप्रकोप होता है और वक्ष शूल, शिर: शूल, उरुसाद उत्पन्न होता है। ऐसे आतुर को बिल्व, मदन फल, और श्यामात्रिवृतादि सिद्ध बस्ति गोमूत्र के साथ देनी चाहिये।[१२५]

५. सकंप बस्ति दान— बस्ति दाता यदि नैपुण्य संपादित किया हुआ न हो तो नेत्र प्रवेश करते समय तथा पुटक पीड़न करते समय हाथ में कपकपी होती है। जिससे गुदा में शोथ, और दाह उत्पन्न होता है। ऐसे आतुर को कषाय मधुर रस से सिद्ध बस्ति दे। इसमें लोध्र, त्रिफला, आरग्वध मोचरस, धाय, बदर, खदिर, इत्यादि द्रव्यों का समावेश होता है तथा कषाय एवं मधुर द्रव्यों के क्वाथ से (द्राक्षादि) गुदापर परिषेक करे।[१२६]

६. अतिप्रणीत बस्ति— बस्तिनेत्र को बहुत दूर तक प्रविष्ट कराने की कोशिश करने से गुद वलियों में व्रण होता है और गुदा में वेदना, दाह, तोंद होकर मल प्रवृत्ति के समय गुदा

का बाहर आना ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। ऐसे आतुर को पिच्छा बस्ति, क्षीर बस्ति, देनी चाहिए और चन्दनबला लाक्षादि तैल, जात्यादि तैल, पद्मकादि तैल, जात्यादि घृत का पिचु गुदा में रखें। यहां ध्यान रहे कि कर्षिका के होते हुए बस्ति नेत्र बहुत अधिक अंदर जा नहीं सकता। अतिप्रणीत में वस्तुत: गुदौष्ठ पर कर्णिका के द्वारा पीड़न होने से ही क्षणन होता है।[१२७]

७. अतिबाह्य तथा अतिमंद दत्त बस्ति— गुद का प्रमाण ४।। अंगुल का है। बस्ति नेत्र बहुत बाहर रखने से—बस्ति तुरन्त वापिस आ जाती है, और बहुत धीरे-धीरे देने से पक्वाशय तक पहुंच नहीं सकती। ऐसे आतुर को पुन: तुरन्त दूसरी बस्ति देनी चाहिए।[१२८]

८. अतिवेग दत्त बस्ति— बहुत जोर से पीड़न कर वेगपूर्वक दी हुई बस्ति कोष्ठ में ही रह जाती है (वापिस नहीं आती) या तो वेग से गले तक आती है। बस्ति का गले तक आना स्नेह बस्ति अभुक्त में देने पर भी कहा गया है। यहां निरूह का गले तक आना कहा है। ऐसी अवस्था में छर्दि होती है। बस्ति द्रव्य यदि बहुत वेग से बृहदंत्र तथा लघ्वंत्र के बीच के द्वार तक (Ilioceacal Valve) पहुंच जाते हैं, तो आघात से इस द्वार पर उत्तेजना होती है और नाड़ी सूत्रों के प्रक्षोभ से आमाशयगत द्रव्यों का उद्गीरण हो जाता है। तथापि बस्ति द्रव्य भी आमाशय तक आ सकते हैं, यह विषय आगे बस्ति कार्मुकता में स्पष्ट किया है।लेकिन व्यापद में उक्त कंठागमन प्रत्यक्ष बस्ति का नहीं, अपितु बस्ति जन्य प्रक्षोभ से वातनाड़ी की उत्तेजना से आमाशयस्थ द्रव्यों की छर्दि मानना अधिक वैज्ञानिक है। इस उपद्रव में पुन: दूसरी बस्ति देवें, या तो विरेचन दे और गले पर अभ्यंग मृदु पीड़न करें। बस्ति की अपेक्षा विरेचन देना श्रेयस्कर है। इसी तरह शीतोदक परिषेक परिमार्जन, विधुनन, उत्त्रासन उपघ्राणन (सुगंधी गंध सुंघाना) इत्यादि कर्म करना चाहिए।[१२९] आवश्यक हो तो---सूतशेखर—२ रत्ती, शंखभस्म ४ रत्ती, मिलाकर तीन से चार बार मधु से चटावे। शंखवटी २ गोली ३ बार मुह में रखकर चूसे। विरेचन के लिए त्रिवृत चूर्ण, अविपत्तिकार चूर्ण, पंचसकार चूर्ण इत्यादि का प्रयोग करें।

उपर्युक्त के अतिरिक्त बस्ति देते समय आतुर की शयनविधि बराबर न हो, और बस्ति दानोत्तर शयन विधि का बराबर ध्यान न रखा जाये तो भी बस्ति व्यापद होती है उनका भी विचार करना चाहिए।

बस्ति शयनविधि प्रमाद से उत्पन्न व्यापद[१३०]

बस्ति पूर्वकर्म में कहा गया है कि आतुर को बाएं करवट पर, बांया पांव सीधा रखकर, दहिना पांव वंक्षण और जानु में मोड़कर, अपने हाथ का सिराहना बनाकर लिटाना चाहिए। इसी अवस्था में बस्ति देने के बाद भी ३० मात्रा तक (लगभग आधा मिनिट) आतुर को लिटाए रखना चाहिये। आतुर टेबल पर ऐसा लेटे कि न तो बहुत सामने झुका हुआ हो, न बहुत सीधा-ताने हुए हो। पांव को नीचे की ओर ज्यादा न झुकाए। प्रशस्त यह है कि पांव और स्फिचों के नीचे एक पीठ (तकिया) रख दे। जिससे पांव की तरफ से कटि तक की बाजू किंचित् उन्नत हो जायेगी। आतुर को मृदु शय्यापर सफेद चद्दर बिछाकर पूर्व दिशा में शिरकर के लिटाना चाहिये।[१३१] चक्रपाणि यह आसन व्यवस्था उत्तरकालिक है ऐसा कहते हैं। यही व्यवस्था पूर्वकालिक भी होती है, केवल स्फिग के नीचे तकिया देकर उठाने का काम बाद में करना चाहिए। इसलिए बस्ति के लिए विशिष्ट टेबल या शय्या जो गतिशील हो (Moving beds) का निर्माण करना लाभप्रद है।

अगर बस्ति देते समय या बाद में आतुर 'उच्छीर्षक'—सिर को ऊपर उठाकर लेटे तो बस्ति द्रव्य पक्वाशय की ओर ठीक तरह से न जाकर मूत्राशय, और मेढ्र की दिशा में आंत्र पर पीड़न करते हैं। उससे मेढ्र समुत्राह (मेढ्र को फुला देती है) करती है। इस व्यापद में मृदु स्वेद कराकर मेढ्र से उत्तर बस्ति देनी चाहिए। अगर सिर को बहुत नीचे रखा जाये तो बस्ति पीड़ित के समान आमाशय तक बस्ति द्रव्यों का पहुंचना यह व्यापद होती है। उसमें उक्त चिकित्सा करे। यदि मुख को नीचा करके बस्ति दी जाए तो बस्ति पक्वाशय में नहीं पहुंचती और विमार्ग गमन होकर हृदय और गुदा पर दबाव कर पीड़ा करती है और वात प्रकोप से कोष्ठ पीड़ा होती है। अगर उत्तानावस्था में (चित्त लिटाकर) लिटाकर बस्ति दी जाये तो मार्गावरोध के कारण वह अंदर नहीं जा सकती। बस्ति देते समय आंखों को घुमाने से वायु प्रकोप होता है। शरीर को या दोनों सक्थियों को मोड़कर (संकुचित कर) दी हुई बस्ति-वात के द्वारा आवृत्त होती है और जल्दी वापिस नहीं आती। अगर लिटाने के बदले बिठाकर या खड़ाकर के बस्ति दी जाये (जो बहुत अप्राकृत और मुश्किल है) तो बस्ति तुरंत ही वापिस निकल जाती है। वह पक्वाशय का तथा अन्य आशयों का उचित तर्पण नहीं कर सकती, और व्यर्थ हो जाती है। इसी तरह दहिनें करवट पर सुलाकर बस्ति दी जाये तो वह भी पक्वाशय में पहुंचती नहीं है। इसलिए वाम पार्श्व पर उचित अवस्था में लिटाकर ही बस्ति देनी चाहिए।

इस तरह बस्ति नेत्र, बस्ति पुटक, प्रणेत् और शयन विधि के कारण उत्पन्न व्यापदों का विचार ऊपर किया गया है। इनका युक्तिपूर्वक परिहार करना चाहिए। आजकल रबर ट्यूब के उपयोग से सभी नेत्र व्यापद-बॉलीबॉल या फुटबॉल के ब्लॅडर से सभी पुटक व्यापदों (शिथिल बंधन छोड़कर) को नहिवत् कम किया गया है। यदि बस्ति द्रव्यों में ज्यादा कल्क द्रव्य और सान्द्र पदार्थ न हो तो वह सीधे एनीमा केन से दी जा सकती है। इन व्यापदों के अतिरिक्त और भी निरूह की व्यापदा है जो उपर्युक्त नेत्रादि तथा प्रणेता के ठीक-ठीक बरतते हुए भी उत्पन्न होती है। ये व्यापद प्रायश: वैद्य के उचित निर्णायक्षमता के कारण या आतुर शरीर में किसी अनपेक्षित नवागत घटना के कारण उत्पन्न होती हैं। इनको संयोग (Chance) भी कहा जा सकता है। इन व्यापदों का वर्णन और प्रतीकार प्रस्तुत किया जाता है।

अन्य व्यापद— बस्तिविधि में प्रमाद से १२ व्यापद उत्पन्न होती हैं। वे इस प्रकार है—

१.अयोग	२. अतियोग	३. क्लम	४. आध्मान
५.हिक्का	६. हृत्प्राप्ति	७. ऊर्ध्वप्राप्ति	८. प्रवाहिका
९.शिरोऽर्ति	१०. अंगर्ति	११. परिकर्त	१२. परिस्रव

इनमें अयोग और अतियोग वस्तुत: व्यापद न होकर उन्हें क्लमादि व्यापद के हेतु मानना उचित हैं, जिससे १० व्यापद शेष रहती हैं। तथापि विशिष्ट हेतु से उत्पत्ति, विशिष्ट लक्षणों को उत्पन्न करना और विशिष्ट चिकित्सा के कारण इनको पृथक् व्यापद में स्थान दिया गया है। कुछ लोग "दशैता: व्यापदो वस्ते:" ऐसा पाठ देकर १० ही व्यापद मानते है।[१३२]

१. अयोग[१३३]— गुरुकोष्ठी, वातबहुल, अत्यंत रुक्ष शरीरवाले अथवा वात प्रधान आतुर को, अनुष्ण या शीत, अल्प लवण, अल्प स्नेह, अल्प द्रव (प्रमाण में अल्प द्रव या

द्रवगुण में अल्प अर्थात् सांद्र) और घन वस्तु से बहुल, हीनौषधि गुणयुक्त बस्ति दी जाये तो वह दोषों को क्षुभित करती है, लेकिन दुर्बल होने से बाहर नहीं निकल सकती। जिसमें उदर का भारीपन अधोवात, मूत्र और मल का संग, नाभि और बस्ति में रुजा, दाह, हृदय पर लेप के समान अनुभूति, शोथ गुदकंडू, पिड़का, वैवर्ण्य अरुचि और अग्निमांद्य ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसे 'अयोग' नामक व्यापद कहते हैं।

चिकित्सा— उष्ण प्रमथ्या पिलावें। स्वेदन करें, गुदा में फलवर्ति प्रविष्ट कराकर बस्ति प्रत्यागमन करावे, योग्य समझे तो विरेचन दे। बेल का मूल, त्रिवृत्त देवदारु, जव, कोल (बेर) कुलत्थ इनके क्वाथ में (१६ औंस क्वाथ) सुरा ४ औंस और गोमूत्र, ४ से ८ औंस) मिलाकर बस्ति दे।

प्रमथ्या[१३४]— अतिसार व्यापद में कही हुई प्रमथ्या इस व्यापद में बरतने को कहा है। प्रमथ्या मध्य दोष में दीपन पाचन का काम करती है। प्रमथ्या शब्द वृद्ध वैद्यों की परम्परा से (चरक पूर्वकालीन) दीपनपाचन कषाय के लिए रूढ़ पारिभाषिक शब्द है। यहां पर देने योग्य ३ प्रमथ्या का वर्णन किया जाता है।

१. **पिप्पल्यादि प्रमथ्या**—पिप्पली, शुंठी, चिरायता, हरीतकी, वचा, इनके सम्मिलित ४ तोला चूर्ण को जल में पीसकर कल्क बनावे। कल्क में ३२ तोला जल डालकर ८ तोला शेष रहने तक पकावे। फिर कपड़े से छान ले। यह प्रमथ्या कफ दोष में प्रात: सायं २ बार पिलावे।

२. **ह्रीबेरादि प्रमथ्या**—ह्रीबेर, भद्रमुस्ता, बेल और धनिया इनसे सिद्ध प्रमथ्या पित्तदोष में पिलावे।

३. **पृश्निपर्ण्यादि प्रमथ्या**—पृश्निपर्णी (पिठवन) गोक्षुर, समंगा, कंटकारी, इनकी प्रमथ्या वात प्रधान दोषों में पिलावे।

२. **अतियोग**[१३५]—स्निग्ध, स्विन्न, मृदुकोष्ठी आतुर को अतितीक्ष्ण, उष्णक्षारादि से युक्त बस्ति देने से अतियोग होता है। अतियोग के लक्षण विरेचनादि योग के समान है जिसका पीछे उल्लेख किया है। चिकित्सा में पृश्निपर्णी, स्थिरा (सरिवन) कमल, द्राक्षा, गंभारी, बला, यष्टीमधु के कल्क में तंदुलधोवन और दूध मिलाकर-सघृत बस्ति दे। इससे दाह प्रशम होता है। वाग्भट ने, अतितीक्ष्ण, उष्ण, अम्ल, घट्ट बस्ति, अथवा अतिशय स्वेद दिये हुए पुरुष में अल्पदोष में, मृदु कोष्ठ में अथवा बार बार दी हुई बस्ति—अतियोग करती है ऐसा कहा है।[१३६] इसमें अतिसार की चिकित्सा करने का विधान है।

३. क्लम[१३७]— आमदोष की उपस्थिति में मृदु निरूह देने से दोष का निर्हरण बराबर नहीं होता, वात का आम, पित्त और कफ से मार्गावरोध होकर अग्निमांद्य उत्पन्न होता है। जिससे क्लम, विदाह, हृच्छूल, मोह, पिंडिकोद्वेष्टन, शरीर गौरव ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। यह 'क्लम्' नामक व्यापद है।

चिकित्सा— इसमें पाचन, विरुक्षण और स्वेदन चिकित्सा करनी चाहिये। पाचन के लिए—

१. पिप्पली, कत्तृण (गंधतृण), उशीर, देवदारु, मूर्वा, इनसे शृतशीत जल सौवर्चल लवण मिलाकर पिलावे।

२. देवदारु, त्रिकटु, हरीतकी, पलाश, चित्रक, कर्पूर, कुष्ठ इनको क्षार और गोमूत्र के साथ भावना देकर प्रसन्ना या अन्य आसव—अरिष्ट मिलाकर पिलावे।

विरुक्षण चिकित्सा के लिए दशमूल क्वाथ, (१६ औंस) को गोमूत्र (८औंस) मिलाकर बस्ति दे।

माधुतैलिक बस्ति—(वक्ष्यमाण कल्प देखे)— इसमें अधिक लवण मिलाकर बस्ति दे। यह शोधन है। अथवा गोमूत्र के साथ दे। स्वेदन-में-पक्वाशय पर ताप स्वेद करावे।

४. आध्मान[१३८]— दोषों के बाहुल्य में क्रूर कोष्ठी आतुर में, रुक्ष शरीरवालों में अल्पवीर्य वाली बस्ति दी जाये तो वात का प्रकोप होता है। वात का मार्गावरोध होने के कारण विमार्गगमन से वह आध्मान करता है। मर्म पीड़ा (गुदमर्म) करता है, विदाह, वृषण शूल, वंक्षण शूल और हृदयशूल करता है।

चिकित्सा— इसमें फलवर्ति को गुदा में प्रविष्ट करावे। निरूह और अनुवासन दे।

फलवर्ति— इसमें—

१. श्यामात्रिवृत, मदनफलादि (धामार्गव, कुटज ईक्ष्वाकु आदि शोधन द्रव्य), कुष्ठ, पिप्पली, लवण, सरसूं, गृहधूम, उड़द, वचा, सुराबीज, क्षार इनको गुड़ की चासनी के साथ मिलाकर विधिवत् वर्ति तैयार की जाती है। पहले गुदा पर तैल लगाकर, वर्ति को तैल में डुबाकर अंदर प्रवेशित करावे। इसी तरह

२. लवण, गृहधूम, सरसूं की ऊपर की विधि के अनुसार वर्ति बनावे और गुदा में प्रविष्ट करावे।

निरूह— बिल्वादि निरूह (अयोग व्यापार में उक्त) में पीलु, सरसूं और गोमूत्र मिलाकर निरूह देवे। निरूह हमेशा फलवर्ति से आध्मान कम होने के बाद ही देना चाहिये।

अनुवासन— निरूह के बाद सरल, देवदारु के सिद्ध तैल से अनुवासन दे।

५. हिक्का[१३९]— मृदुकोष्ठी आतुर को, जिसका शरीरबल अल्प है उसे अति तीक्ष्ण औषधि से सिद्ध निरूह बस्ति देने से दोषों का अत्यधिक शोधन कर हिक्का उत्पन्न करती है।

चिकित्सा

१. हिक्कानाशक उपाय करें।

२. बृंहणोपचार करें।

३. बला, शालपर्णी, गंभारी, त्रिफला, गुड़ और सैंधव, प्रसन्ना, आरनाल, अम्ल, लवण के द्वारा सिद्ध तैल से अनुवासन दे। सामान्यत: हिक्का, श्वास, कास, प्रसक्त छर्दि, निष्टीविकादि में वायु प्रकुपित होकर बस्ति को ऊपर ले जाता है इसलिए बस्ति का निषेध (देखे अनास्थाप्य) किया है। तथापि वहां बस्ति व्यापज्जन्य चिकित्सा में अनुवासन निषिद्ध नहीं है।

४. पिप्पली, लवण, दोनों, एक तोला मिलाकर गरम पानी के साथ पिलावे।

५. धूम्रपान करावे।

६. अवलेह मांसरस, दूध का युक्तपूर्वक सेवन करावे-अवलेह-वासावलेह, कंटकारी अवलेह इत्यादि शुंठी और लवण मिलाकर यूष पिलावे।

६. हृत्प्राप्ति— अति तीक्ष्णौषधि से सिद्ध बस्ति, वातल बस्ति, अथवा ठीक तरह से प्रपीड़ित न करते हुए दी हुई बस्ति हृदयप्रदेश में जकड़ाहट करती है। इस अवस्था में काश, कुश, ईत्कट (ये सब तृणभेद हैं) करीर, बेर के फल इन से श्रृतशीत बस्ति दे, अथवा अम्ल स्कंध और लवण स्कंध से सिद्ध बस्ति दे और वातध्न दशमूलादि सिद्ध तेल से अनुवासन दे।

७. ऊर्ध्व प्राप्ति[१४०]— बस्ति देने के बाद मल, मूत्र, वातवेगों का अवरोध किया जाये तो अथवा जोर से दबाकर बस्ति दी जाये तो बस्ति अतिवेग से मुख की ओर (ऊर्ध्व प्राप्ति) आती है। जिससे मूर्च्छादि विकार उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा

१. यदि आतुर मूर्च्छित हो तो ठंडे जल से मुख पर परिषेक करें।

२. पार्श्व उदर के नीचे भी शीत जल परिसेचन करें।

३. पार्श्व-उदर पर मर्दन करें और पंखा करके ठंडी हवा चलावे।

४. केशों को खींचकर उसे संज्ञा प्रबोधन कराने का प्रयत्न करावे।

५. आतुर को भयभीत करावे—गाय, गदहा, घोड़ा, हाथी, सिंह, राजदूत, सर्प, उल्का (आकाश पतित तारक) इत्यादि का डर बताकर भीति निर्माण करें। भय से अतिसार होता है, यह पहले देखा गया है। यहां भी दोषों की गति नीचे की ओर ले जाना यहीं प्रधान हेतु है। यह पद्धति कुछ विचित्र प्रतीत होते हुए भी वैज्ञानिक (scientific) है।

६. कंठगत दोषों को जानकर वस्त्र से गले को धीरे-धीरे दबाए। ऐसे दबाए कि दोषों की गति केवल अवरुद्ध हो। वरना बस्ति व्यापद के बदले आतुर गलपीड़न से ही मर जायेगा। आतुर को प्राणवायु और उदानवायु को रोककर प्राणायाम करावे, इससे अपानवायु बस्ति को नीचे की ओर ले जाता है।

७. तत्पश्चात्—क्रमुक (शुपारी) का १ तोला कल्क अम्ल द्रव्यों के साथ (आरनाल कांजी इत्यादि) पिलावे। यह उष्ण तीक्ष्ण और सर गुणात्मक होने से अनुलोमन करता है।

८. पक्वाशय में दोष स्थिर हो जाने पर दशमूल निरूह—यव, बेर, कुलत्थ, और गोमूत्र मिलाकर अभ्यक्त और स्वेदन किये हुए आतुर को देवे।

९. दोष यदि उर में हो तो बिल्वादि सिद्ध बस्ति (पूर्वोक्त) दे।

१०. शिर में दोषों का अधिष्ठान हो तो नावननस्य और सरसूं का सिरपर लेप करावे, तथा धूमनस्य दे।

८. प्रवाहिका[१४१]— स्नेहन और स्वेदन किये हुए महादोष युक्त (दोष का बाहुल्य) आतुर को मृदु अल्पौषधि युक्त दी हुई बस्ति दोषों का उत्क्लेश करती है, और थोड़े-थोड़े प्रमाण में बार-बार गुदा से निकालती है। जिससे प्रवाहिका उत्पन्न होती है। इससे गुदा में शोथ, जंघा और उरु में साद होता है और वात का अवरोध होने से बारंबार प्रवाहण करना पड़ता है।

चिकित्सा

१. अभ्यंग और स्वेदन करा के शोधन निरूह दे।

२. अनुलोमन (विरेचन) औषधि दे।

३. लंघन करावे और विरेचन व्यापद के सदृश संसर्जन क्रम (पेयादि) करावे।

१. शिरोर्ति[१४१]— दुर्बल, क्रूरकोष्ठी, तीव्रदोष युक्त आतुर को पतली, मृदु और शीत बस्ति दी जाये तो दोषों द्वारा बस्ति आवृत होकर वायु प्रतिहत होकर गात्रों में जकड़ाहट कर मूर्धा में चला जाता है। इससे गला और गर्दन जकड़ जाती है, कंठभेद (स्वरभेद) होता है। शिरोभेद—सिर को फोड़ने के समान वेदना होती है और कर्ण बाधियं कर्णनाद, पीनस, और नेत्र विभ्रम (Nystagmus) उत्पन्न होता है।

चिकित्सा

१. लवण तैल से अभ्यंग करें।
२. प्रधमन नस्य दे।
३. धूमनस्य दे।
४. विरेचन करावे।
५. स्निग्ध भोजन कराकर अनुवासन बस्ति देवे। प्रधमन नस्य के लिए कट्फल चूर्ण या त्रिकटु के सूक्ष्म चूर्ण का उपयोग करें। धूम नस्य कंटकारी धूम से, सरसों आदि से किया जा सकता है।

१०. अंगार्ति [१४३]— पूर्वकर्मोक्त विधि से अभ्यंग और स्वेदन न करते हुए, गुरु और अतितीक्ष्ण औषधि से उत्तममात्रा प्रमाण में बस्ति दी जाये तो वह अतियोग करती है। पहले बहुत प्रमाण में दोषों को स्रवित करती है, फिर वात प्रकोप से उदावर्त करती है। वायु प्रतिलोम होकर शरीर में तीव्र वेदना करता है। गात्रों को जकड़ देता है। तोद, भेद स्फुरण, जृंभा, ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा

१. लवण तैल का अभ्यंग करें।
२. गरम पानी से परिषेक करें।
३. प्रस्तर स्वेद विधि से एरंड पत्र क्वाथ से स्वेदन करावे।
४. यव, कुलत्थ दशमूल इनमें एक आढक (२५६ तोला) पानी डालकर चतुर्थांश पाक करें—६४ तोला शेष रखे। इसमें बिल्वादि तैल और लवण मिलाकर निरूह दे।
५. निरूह के बाद जलकोष्ठक (Tub) में अवगाह स्वेद करावे और
६. अवगाह स्वेद के बाद यष्टीमधु तैल या बिल्व तैल से अनुवासन बस्ति देवे।

११. परिकर्तिका[१४४]— मृदुकोष्ठी, अल्प दोष वाले आतुर को रुक्ष, तीक्ष्ण और अतिमात्रा में बस्ति दी जाए तो दोषों को तुरन्त निकालकर परिकर्तिका (गुदा में कर्तनवत्पीड़ा) करती है। इस व्यापद में त्रिक्, बस्ति, वंक्षण, और नाभि के नीचे शूल होता है। विलंब होकर थोड़े-थोड़े प्रमाण में दोषों का स्राव होता है।

चिकित्सा

१. मधुर और शीत औषधि का प्रयोग करें।
२. गन्ने का रस और दूध सिद्ध कर पिलावे।
३. दूध मिलाकर मधुयष्टी और तिल कल्क सिद्ध तैल का अनुवासन दे।
४. सर्जरस, मधुयष्टी, जिंगिनी, कर्दम अंजन इनसे सिद्ध दूध से बस्ति दे।

५. लवण अधिक डालकर अम्ल संयुक्त अल्प भोजन देवे।

१२. परिस्राव[१४५]— पित्तरोग में उष्ण, तीक्ष्ण, लवण, अम्ल से संयुक्त बस्ति दी जाये तो वह गुदा का लेखन (क्षपण) कर दाह उत्पन्न करती है और बहुत वेग से पित्त तथा रक्त का अनेक वर्णयुक्त मिश्र स्राव कराती है। इसे परिस्राव व्यापद कहते हैं। इसमें बारंबार मूर्च्छा होती है।

चिकित्सा

१. शाल्मली के कच्चे डंठल से बकरी के दूध को सिद्ध कर घृत मिलाकर शीत बस्ति दे।
२. वटादि पल्लवों की यव, तिल, सुवर्चल, कंचनार इनसे सिद्ध बस्ति दे। ये दोनों बस्तियां पिच्छा बस्ति के समान कार्य करती हैं।
३. गुदापर शीत और मधुर द्रव्यों से परिषेक और लेप करें। लेपार्थ जात्यादि तैल या घृत उत्तम है।
४. मधुर और रक्तपित्तघ्न चिकित्सा करें।

इस तरह बस्ति की १२ व्यापद और उनकी चिकित्सा कही गई है, वैद्य सावधानी से योग्य से योग्य चिकित्सा करता रहे, जिससे आतुर को तुरंत लाभ होता है।

उपर्युक्त व्यापदों में—क्लम, आध्मान, प्रवाहिका और शिरोर्ति ये अयोगजन्य हैं और हिक्का, हृत्प्राप्ति, अंगार्ति, परिकर्तिका, और परिस्राव ये अतियोग जन्य हैं।

यापन बस्ति के उपद्रव— यापन बस्ति निरूह बस्ति का ही भेद है। यापन बस्ति के प्रयोगार्ह कल्प आगे बस्ति योगों के वर्णन में दिये हैं। यहां केवल यापन बस्ति के उपद्रवों का विचार उपस्थित करना है। पंचकर्म चिकित्सा से जिस आतुर का उपक्रम किया गया हो उसे उच्चैर्भष्यादि आठ महादोषकर अपथ्यों का (देखें-प्रथम अध्याय) त्याग करना चाहिये। यदि इन परिहार्यों का ठीक तरह से ध्यान न रखा जाये तो अनेक व्यापद होते हैं। मैथुन वह पंचकर्म चिकित्सा में ऐसा ही परिहार्य महादोषकर विषय है। यदि परिहार काल में मैथुन किया जाए तो बलनाशादि पूर्वोक्त विकार उत्पन्न होते हैं। इन विकारों की चिकित्सा यापन बस्ति से की जाती है। यापन बस्ति अधिक देने से उपद्रव उत्पन्न होते हैं। व्यापन बस्ति में भी व्यायाम, मैथुन, मद्य, मधु, शीत जल, शीत भोजन, रथक्षोभ इनका त्याग करना चाहिये।[१४६] यापन बस्ति के उपद्रव निम्नोक्त प्रकार के है।[१४७]

१.शोथ	२. अग्निनाश	३. पांडु	४. शूल
५.अर्श	६. परिकर्तिका	७. ज्वर	८. अतिसार

चिकित्सा[१४८]

१. दीपनौषधि का सेवन करावे, पाचन औषधि का सेवन करावे।
२. अरिष्ट योग, क्षीरपान, सीधु का सेवन करावे। दशमूलारिष्ट, द्राक्षासव, हिंग्वादि चूर्ण तथा दीपनपाचन पेया का प्रयोग करें।

यापन बस्ति का उचित काल में प्रत्यावर्तन न होना यह भी एक व्यापद है। अगर बहुत मृदु औषधि से सिद्ध यापन बस्ति दी जाये तो वह जल्दी वापिस नहीं आती। बस्ति को प्रत्यावर्तित कराने के लिए गोमूत्र, क्षार, तीक्ष्णौषधि, संयुक्त तीक्ष्ण निरूह देना चाहिये।

२. अनुवासन बस्ति

चरक एवं वाग्भट ने स्नेहबस्ति को अनुवासन बस्ति नाम दिये हैं। सुश्रुत ने 'स्नैहिक बस्ति' शब्द का प्रयोग किया है तथापि इनके विवरण में भेद नहीं है। चरक ने भी 'अनुवासन बस्ति' के व्यापद वर्णन के अध्याय को 'स्नेह व्यापदिकी सिद्धि' नाम दिया है, जहां चक्रपाणि ने इस अध्याय में 'अनुवासन' व्यापद का विषय है ऐसी टीका की है। इस अध्याय के पहले श्लोक में चरक ने स्नेह 'बस्तीन् निबोधेमान्' ऐसा प्रारंभ किया है।[१४९] वाग्भट ने निरूह के चतुर्थांश मात्रा (पादांश) में स्नेहबस्ति कहा है।[१५०] सुश्रुत ने भी निरूह के पादांश स्नेह को स्नेहबस्ति कहा है और स्नेहबस्ति का विकल्प अनुवासन बस्ति कहा है। यह स्नेह बस्ति का पादांश प्रमाण में होता है अनुवासन बस्ति का विकल्प मात्रा बस्ति कहा है जो उससे आधे प्रमाण में दी जाती है। डल्हण ने स्नेहबस्ति में ६ पल, ३ पल और १।। पल ऐसे तीन प्रमाण उत्तमादि प्रकार के दिये हैं—और यही उद्धरण चक्रपाणि ने टीका में दिया है। अतएव चरक, सुश्रुत, वाग्भट इनमें स्नेहबस्ति के तीन प्रयोगों में मतभेद समझने का कारण नहीं।[१५१]

निरूह बस्ति देने के पूर्व दोष, औषध, देश, काल, सात्म्य, ओक, अग्नि, सत्व, वय और बल इनका सूक्ष्म विचार कर बस्ति दी जानी चाहिये ऐसा कहा गया है। वह विचार अनुवासन बस्ति और उत्तरबस्ति दोनों के लिए भी सामान्य है। उन विषयों का सम्मिलित आवश्यक विचार यहां अनुवासन-स्नेहबस्ति के संदर्भ में किया जाता है।

अनुवासन पूर्व विचारणीय नियम

१. सर्व प्रथम आतुर की परीक्षा कर वह अनुवासनार्ह है या नहीं इसका निश्चय करें। कफ प्रधान, मेद प्रधान, आतुर, प्रमेही आदि संतर्पणोत्थ व्याधियों में जहां शोधन करना उपर्युक्त है, वहां पर अनुवासन या बृंहण बस्ति नहीं देनी चाहिये।

२. जहां दोष सामावस्था में हैं वहां स्नेहबस्ति या अनुवासन नही देना चाहिये। आमावस्था में दत्तस्नेह गुदा को क्लिन्न करता है।[१५२]

३. काल—काल के अनुसार अनुवासन के खास नियम हैं। शीत ऋतु में शिशिर और हेमंत ऋतु में और वसंत में अनुवासन दिन में ही देना चाहिये। शरद, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में रात्रि में अनुवासन बस्ति देवे।[१५३] सामान्यत: रात में अनुवासन देना हितकर नहीं है। रात में शैत्य के कारण कफादि दोषों का उत्क्लेश होता है और स्नेह बस्ति देने पर आध्मान, गौरव, ज्वर उत्पन्न करती है। दिन में दोष यथास्थान होते हैं, अन्नरस का समुचित पाचन होता है, स्रोतोमुख खुले रहते हैं, अत: दत्तस्नेह अच्छी तरह शरीर में विचरण कर सकता है, तथापि पित्त प्रधान दोषों में, कफक्षय के लक्षणों में, अतिरुक्ष शरीर वाले आतुरों में और वातव्याधि से पीड़ितों में रात्रि अनुवासन दिया जा सकता है। रात्रि का अर्थ सायंकाल के बाद पहला प्रहर करना चाहिये। पित्त के कारण दाहादि रोग दिन में बढ़ते हैं इसलिए सायं अनुवासन दे।[१५४] निरूह बस्ति के बाद जो अनुवासन देना है वह उसी दिन शाम को दिया जा सकता है यह पहले देख गया है जब अत्ययिक अवस्था हो, वातव्याधि में रुजाधिक्य हो, तो उन्हें भोजनोत्तर दिन में या रात में कभी भी अनुवासन दे सकते हैं।[१५५]

काल में ज्ञातव्य दूसरा विषय है—बस्ति क्रम में अनुवासन का कालविनिश्चय। वमनादि क्रम से जब बस्ति क्रम करना हो तब विरेचन के बाद ९वें दिन अनुवासन बस्ति देनी

चाहिये।[१५६] सुश्रुत ने विरेचन के बाद सातवें दिन, बलोत्पत्ति और संसर्जन क्रम से प्राकृत भोजन पर आये हुए आतुर को अनुवासन देने को कहा है।[१५७] क्रमागत बस्ति में निरूह के बाद पुन: अनुवासन बस्ति देनी चाहिये। निरूह से मार्ग शुद्धि होने पर ही स्नेह अच्छी तरह शरीर में फैल सकता है।[१५८]

४. अनुवासन बस्ति कभी भी भोजन के पूर्व नहीं देनी चाहिये। भोजन के बिना दी हुई बस्ति रिक्त कोष्ठ के कारण ऊपर तक प्रविष्ट होती है। इसलिए जिसने अभी-अभी भोजन किया हो (आर्द्रपाणि—भोजन कर हाथ धोये हुए गीले हाथ वाले को) ऐसे आतुर को अनुवासन दे।[१५९]

५. दोषानुसार—कफज विकारों में १ से ३ स्नेहबस्तियां, पित्तविकारों में ५ से ७ स्नेहबस्तियां और वातविकारों में ९ से ११ स्नेहबस्तियां देनी चाहिए।[१६०] यहाँ ये बस्तियां प्रतिदिन देना चाहिये या निरूह के साथ एकांतर से देना चाहिये इसका निर्देश नहीं है लेकिन केवल निरूह या केवल अनुवासन अधिक नहीं देना चाहिये ऐसा नियम है। अतएव ३, ७, ९ ये अनुवासन एकांतर से दिये जायें तो कर्म, काल योगादि संज्ञक क्रम में भी समावेश किया जा सकता है। सुश्रुत ने स्नेहबस्तियां ६, ७, ८, या ९ संख्या में निरूह के साथ देने को कहा है और इनकी कार्मुकता बताते हुए स्पष्ट किया है कि प्रथम बस्ति, बस्ति प्रदेश और वंक्षण को स्निग्ध करती है, दूसरी शिरोगत वात को जीतती है, तीसरी स्नेहबस्ति बल और वर्ण जनन करती है, चौथी बस्ति रस को स्निग्ध करती है, पांचवी बस्ति रक्त को, छठी बस्ति मांस को, सातवी बस्ति मेद को आठवीं बस्ति अस्थि को और नववी बस्ति मज्जाधातु को स्निग्ध करती हैं। इस तरह ९ बस्तियां देकर इसी क्रम से पुन: परिहार क्रम में ९ बस्तियां—ऐसी १८ बस्तियां देने को कहा है। इस तरह १८ बस्तियां सेवन किया हुआ व्यक्ति हाथी के जैसा शक्तिशाली और घोड़े के समान वेगवान हो जाता है।[१६१]

अनुवासन बस्ति में बस्तिनेत्र, बस्तिपुटक, यंत्र निर्माण इत्यादि निरूह के समान ही समझना चाहिये। सुविध के लिए—यह बस्ति ४ औंस से ८ औंस के सिरींज से भी दी जा सकती है। अनुवासन का विधिविधान आगे कहा गया है।

अनुवासन में सुश्रुतोक्त ९ बस्तियां मज्जातक स्नेहन तथा पुन: ९ बस्तियां शुक्रगत दोषों का निरास करती हैं ऐसा कहा गया है। इसमें काल या धातुकफ क्रम की कदाचित् अपेक्षा होगी। इस तरह का क्रम ज्वरवेग में विषवेगों में भी शास्त्र में मिलता है। इसका सूक्ष्म विचार प्रयोगश: गवेषणा का विषय है।

६. जब भी अनुवासन बस्ति दी जाती है, उस समय मुखद्वारा स्नेह का प्रयोग (स्नेहपान) नहीं करना चाहिये। एकसाथ दोनों मार्ग से दिया हुआ स्नेह वात तथा अग्नि दोनों की दुष्टि करता है।[१६२]

७. इसी प्रकार का दोष केवल निरूह या केवल स्नेहबस्ति देने से भी होता है। केवल अनुवासन अधिक लेने से अग्निमांद्य होता है और केवल निरूह अधिक लेने से वात का प्रकोप होता है।[१६३] अतएव निरूह को अनुवासन देना चाहिये और अनुवासित को निरूह देना चाहिए।

८. उपर्युक्त नियम में अपवाद भी है। अत्यंत रुक्ष शरीर वाले, तीक्ष्णाग्नि वाले, नित्य

व्यायाम करने वाले, वातव्याधि से पीड़ित, तथा जिनके वंक्षण, श्रोणि में वात से पीड़ा हो, उदावर्त हो, उनको प्रतिदिन अनुवासन देना चाहिये। इन आतुरों में दिया हुआ स्नेह उसी तरह पचन हो जाता है, जैसे बालुका में डाल दिया हुआ जल तुरन्त सूख जाता है।[१६४] इनके अतिरिक्त सामान्य आतुरों में सामान्य नियमों का पालन कर तीसरे दिन (अर्थात्) एकांतर से अनुवासन देना चाहिये। अनुवासन में दिये हुए स्नेह का पाचन और शोषण अपेक्षित है। पक्वाशय में वह उपलेप करता है और कालांतर में (२४ घंटे से ४८ घंटे में—३ दिन में) अग्निद्वारा पचन होता है। अग्नि का स्थान यद्यपि ऊपर (ग्रहणी) है तथापि आमाशय, ग्रहणी, पक्वाशयादि अवयवों के मिश्रपाचन कार्य से यहां पाक समझना चाहिये। इसका विचार आगे कार्मुकता के संदर्भ में पुनः करेंगे।

अनुवासन विधि विधान

पूर्वकर्म— अनुवासन पूर्व—

१. अभ्यंगादि कर्म

२. भोजन तथा

३. चंक्रमण ये ३ पूर्व कर्म विहित हैं।

१. अभ्यंगादि कर्म[१६५]— आतुर को विधिवत् अभ्यंग करावे। अभ्यंग के बाद गरम पानी का स्वेद करावे। यहां परिषेक, अवगाह या तो तापस्वेद (Hot water bag) में से कोई भी स्वेद किया जा सकता है।

२. भोजन[१६६]— अनुवासनार्ह आतुर को भोजन देना चाहिये। किंतु भोजन में भी कुछ नियम है, उनका पालन करना आवश्यक है। वे नियम निम्नलिखित प्रकार के हैं।

१. भोजन अतिशय स्निग्ध न हो। तेल, घी वसादि को भोजन में वर्ज्य करें। स्निग्ध भोजनोत्तर दी हुई अनुवासन बस्ति मद और मूर्च्छा उत्पन्न करती है।

२. भोजन अधिक रुक्ष भी न हो। रुक्ष भोजनोत्तर दिया हुआ अनुवासन बल और वर्ण का नाश करता है।

३. भोज्य अन्न को अच्छी तरह पकाकर देना चाहिये। अर्ध पक्व अन्न के सेवन के बाद दी हुई अनुवासन बस्ति ज्वर करती है। भोजन के पाक काल में बस्ति दी जाती है और अधपके हुए (विदग्ध) अन्न का पचन जल्दी नहीं होता (विदग्धाजीर्ण)। ऐसे समय स्नेह वहां (ग्रहणी में) पहुंचने पर स्नेह को पचाने के लिए पित्त और पाचक स्राव समर्थ नहीं होते और ज्वरादि रोग उत्पन्न हो सकते है।

४. मांसरस, यूष और दूध का भोजन देना चाहिये। वात में मांसरस, पित्त में दूध और कफ में यूष का प्रयोग करें। अथवा व्याधि के अनुकूल पथ्य भोजन दे। भोजन की मात्रा नित्य भोजन के एक चतुर्थांश कम होनी चाहिये।

३. चंक्रमणादि[१६७]— भोजन के बाद आतुर को आर्द्रपाणि (गीले हाथ) अवस्था में ही बस्ति देने को कहा है। इसका अर्थ इतना ही है कि भोजनोत्तर ज्यादा देर नहीं करनी चाहिये, तथापि भोजन के बाद आतुर को चंक्रमण करावे, शपतदी (सौ कदम घुमाना) करना हितकर होता है। फिर मलमूत्रादि वेगों से निवृत्त कराकर अनुवासन दे। मल मूत्र के वेग को विसर्जित न करते हुए यदि अनुवासन दिया जाये तो स्नेह अंदर प्रविष्ट नहीं हो सकता।[१६८]

प्रधान कर्म[१६९]— बस्ति प्रणिधान कर्मनिरूह के प्रणिधान के समान ही है। वामपार्श्व पर, बायां पांव सीधा दहिना पांव वंक्षण और जानु में मोड़कर किंचित् झुकाकर रख, अपने हाथ का सिराहना दिये हुए, लेटे हुए आतुर को गुदा में तैल लगाकर बस्ति नेत्र को स्निग्ध कर अनुपृष्ठवंश नेत्र प्रवेशित कर एकग्रह से पुटक को दबाकर स्नेह प्रविष्ट करावे। बस्ति देने के बाद एक सौ अंक गिनने तक उत्तान स्थिति में लिटाकर रखें। हाथ और पाव सीधे फैला देवें। खाट या टेबल को पांव की ओर से ऊपर उठावे, या तो स्फिग के नीचे तकिया रख दे। पांव के तलवे पर मृदु मर्दन करें। स्फिग पर मृदु अभ्यंग कर थपथपी लगावें। थपथपी लगाने का उद्देश्य स्नेह को जल्दी वापिस आने से रोकना है। स्नेह अंदर रह कर ही अच्छी तरह से कार्य कर सकता है। अनुवासन के बाद आतुर जरा भी परिश्रम न करें। प्रणिधान के बाद बस्तिदाता सम्यगनुवासित लक्षणों को निरीक्षण करें। वात और पुरीष के साथ बिना दाह के उचित काल में स्नेह वापिस आये तो उसे अच्छी तरह अनुवासन हुआ ऐसा समझना चाहिये।

रोगानुसार निश्चित किया हुआ स्नेह—सैंधव नमक (पाव तोला) और सौंफ के चूर्ण के साथ (१ माशा) मिलाकर कुछ गरम कर बस्ति से देना चाहिये। इससे वह उचित काल में सुखपूर्वक वापिस आता है। यदि अधिक उष्ण होने से, अधिक, तीक्ष्ण होने से, वात के दबाव के कारण, सवात दिये जाने के कारण, मात्रा में अधिक होने से अथवा भारी होने से तुरन्त वापिस आ जाये, तो उस रोगी को पहले की अपेक्षा कम प्रमाण में पुनः अनुवासन देना चाहिये। अनुवासन बाद रुजार्त गात्रों पर धीर-धीरे मर्दन करें और शय्यापर आराम करते हुए सिराहना देते हुए सुला देवे।

पश्चात्कर्म—स्नेह बस्ति के बाद निम्नोक्त विषयों पर ध्यान देना चाहिये—

१. बस्ति प्रत्यागम

२. पथ्य एवं अन्य बस्ति विचार

३. स्नेहबस्ति व्यापद तथा चिकित्सा

१. बस्ति प्रत्यागम— स्नेहबस्ति को वापिस आने की कालमर्यादा तीन याम अर्थात् १२ घंटे की है। यदि १२ घंटे तक स्नेह अंदर रहे तो ही उसका कार्य ठीक हुआ ऐसा समझना चाहिये। इससे जल्दी यदि स्नेह वापिस निकल जाये तो दूसरी स्नेह बस्ति देनी चाहिये।[१७०] यद्यपि स्नेह प्रत्यागम का काल १२ घंटे का कहा गया है तथापि इसमें अनेक बातें विचारणीय होती है। उदाहरण अधिक मात्रा में दत्त स्नेह जल्दी आता हैं। आतुर को मल मूत्रादि विसर्जित न कराकर बस्ति दे तो तुरन्त वापिस आती है। वैसे ही प्रायशः रोगी प्रातः सायं दो बार टट्टी जाते हैं। मध्याह्न भोजन के बाद (लगभग ११।। बजे) अनुवासन दिया हो तो आदत के कारण शाम को ५।।-६ बजे टट्टी में स्नेह निकल जाता है। (६ घंटे में) अतएव प्रातः ८-८।। बजे कुछ खिलाकर बस्ति देनी चाहिये।

अगर स्नेह १२ घंटे में वापिस न आवे तो कुछ चिंता न करें। २४ घंटे तक स्नेह वापिस आने की राह देखे। २४ घंटे के बाद फलवर्ति अथवा तीक्ष्ण बस्ति का प्रयोग कर स्नेहबस्ति को प्रत्यावर्तित करा दे। स्नेहबस्ति यदि २४ घंटे के बाद वापिस न आते हुए कुछ तकलीफ न करती हो तो उसकी उपेक्षा करनी चाहिये। व्यापद में वर्णित प्रकार से कष्टप्रद बस्ति का ही प्रत्यावर्तन कराना चाहिये।[१७१]

२. पथ्यादि—बस्ति प्रत्यागम के बाद दूसरे दिन दोपहर में अच्छा भोजन देवे और सायंकाल उचित (यूष रसादि) भोजन देकर पुनः अनुवासन दे। यदि तीसरे दिन या पांचवें दिन भी अनुवासन देना हो तो इसी क्रम से निरूह देकर अनुवासन दे।[१७२]

अप्रवृत्त और अनुपद्रुत स्नेह बस्ति में—आतुर को आराम करावे। रात्रि में सुखपूर्वक निद्रा किये हुए आतुर को दूसरे दिन धनिया और शुंठी इससे सिद्ध जल पीने के लिए दे। अथवा केवल गरम पानी पीने के लिए दे। धनिया शुंठी का जल या गरम जल स्नेह को पचाता है, कफ को छेदन करता है, और वात का अनुलोमन करता है। इसलिए वमन, विरेचन, निरूह और अनुवासन के बाद गरम पानी पिलाना श्रेयस्कर होता है।[१७३] इससे वात और कफ का शमन होता है।

अगर स्नेह बस्ति के बाद निरूह बस्ति देना हो तो दूसरे दिन बिना भोजन किये हुए आतुर को यथावत् निरूह दे। इस तरह स्नेहबस्ति—

१. निरूह बस्ति के पूर्वकर्म के स्वरूप में,
२. निरूह के पश्चात्कर्म के स्वरूप में तथा
३. स्वतंत्र चिकित्सा के स्वरूप में तीन प्रकार से उपादेय होती है।

३. स्नेहबस्ति व्यापद तथा चिकित्सा—स्नेहबस्ति विधि में प्रमाद होने से ६ प्रकार की व्यापद उत्पन्न होती हैं। उनका ठीक निरीक्षण कर योग्य चिकित्सा करनी चाहिये : ये व्यापद निम्नलिखित प्रकार की है[१७४]—

१. स्नेह का वात से आवृत होना
२. स्नेह का पित्त से आवृत होना
३. स्नेह का कफ से आवृत होना
४. स्नेह का अन्न से आवृत होना
५. स्नेह का पुरीष से आवृत होना
६. अभुक्तप्रणीत स्नेह व्यापद।

१. स्नेह का वात से आवृत होना[१७५]— वात दोष की प्रधानता में अधिक शीत और अल्प प्रमाण में दी हुई स्नेह बस्ति प्रकुपित वात से आवृत होती हैं और उचित समय में बस्ति का प्रत्यावर्तन नहीं होता तथा अंगमर्द, ज्वर, आध्मान, अंगों का जकड़ जाना, उरु में वेदना, पार्श्व में वेदना, अंग को वेष्टित किया हो ऐसी अनुभूति, कषाय मुखरसता, जृंभा, कंप ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा— रास्ना, पीतद्रु (पीत दारु), तिल्वक (लोध्र) इनके क्वाथ में सौवीर, सुरा कोल, कुलत्थ, यव, लवण, अम्ल काँजी मिलाकर सस्नेह उष्ण निरूह बस्ति दे। अथवा रास्नादि तैल, पंचमूल क्वाथ और गोमूत्र की अम्ल संयुक्त बस्ति दे। निरूह से बाद शोधन हो जाने पर शाम को भोजन कर रास्नादि तैल का अनुवासन दे।

२. स्नेह का पित्त से आवृत होना[१७६]— पित्त दोष की प्रधानता में अधिक उष्ण दी हुई स्नेह बस्ति पित्त के द्वारा आवृत्त होती है, जिससे संपूर्ण शरीर में दाह, प्यास, सर्वांग में लाल वर्ण का कोठ उठना, मोह, आँखों के सामने अंधेरा छा जाना, ज्वर मुख का स्वाद तीखा होना, अत्यंत स्वेद आना और अंगों का पीलापन ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा— मधुर स्कंध और तिक्त स्कंध की औषधियों से सिद्ध निरूह बस्ति दे। इसी तरह पित्त शमन निरूह (वक्ष्यमाण) देवे।

३. स्नेह का कफ से आवृत होना[१७७]— कफ दोष की प्रधानता में अति मृदु औषधि से संयुक्त बस्ति दी जाये तो स्नेह कफ के द्वारा आवृत्त हो जाता है और वापिस नहीं आ सकता। इसमें तंद्रा, शीत पूर्वक ज्वर, आलस्य, प्रसेक, (लालास्राव), अरुचि, अंगगौरव, मूर्च्छा, ग्लानि और मुख का स्वाद मधुर होना ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा— मदनफल, कषाय स्कंध कटुक स्कंध की औषधियों के क्वाथ में उष्ण, तीक्ष्ण (क्षारादि) द्रव्य मिलाकर गोमूत्र, सुरा से संयुक्त निरूह दे। तथा अन्य कफ शमन (वक्ष्यमाण) बस्तियों का प्रयोग करें।

४. स्नेह का अन्न से आवृत होना[१७८]— बहुत अधिक मात्रा में भोजन खिलाकर बस्ति दी जाये तो स्नेह अन्न से आवृत होकर वापिस नहीं लौटती। इस अवस्था में च्छर्दि, मूर्च्छा, ग्लानि, अंगशूल, निद्रा, अंगमर्द, दाह तथा आम के लक्षण (शोफ, गौरव, रुजादि) आमाशय शूल, वायु का अवरोध, हृत्शूल, मुख वैरस्य, श्वास और भ्रम ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा— कटु और लवण इसके चूर्ण योग पाचनार्थ दे। कटु रस के क्वाथ पिलावे। लवणभास्कर चूर्ण, हिंग्वाष्टक चूर्ण, चित्रकादि चूर्ण, शुंठी क्वाथ, इत्यादि का प्रयोग करें। पाचन के बाद मृदु विरेचन दे। विरेचन के लिए त्रिवृत चूर्ण, स्वादिष्ट विरेचन या अविपत्तिकर चूर्ण प्रयुक्त करें।

५. स्नेह का पुरीष से आवृत होना[१७९]— यदि बस्ति के पूर्व मलमूत्र के वेगों का विसर्जन न कराया हो तो दी हुई स्नेह बस्ति पुरीष से आवृत होती है। मलादिवेगों के अविसर्जन से बस्ति अंदर जा ही नहीं सकती और तुरंत वापिस आती है ऐसा पीछे कहा था और यहाँ पुरीष से आवृत होकर वापिस नहीं आती ऐसा कहा गया है इसमें विरोध न समझे। मलवेग की उपस्थिति में अगर बस्ति दी जाये तो वह तुरंत वापिस आती है और वेग आया हुआ न हो, किंतु पक्वाशय में मल की उपस्थिति हो तो ऐसी अवस्था में दी हुई बस्ति आवृत होती है। इसमें मल और मूत्र का अवरोध, पक्वाशय में भारीपन, अंग में पीड़ा आध्मान, हृद्ग्रह श्वास, ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

चिकित्सा—अभ्यंग और स्वेदन करें। फलवर्ति गुदा में प्रविष्ट कराकर स्नेह प्रत्यावर्तित करावे। श्यामात्रिवृत, बिल्वादिसिद्ध निरूह दे तथा अनुवासन बस्ति दे। उदावर्त चिकित्सा में कहे गये सभी उपाय करें।

६. अभुक्त प्रणीत स्नेह व्यापद[१८०]— बिना भोजन किये बस्ति दी जाने पर गुदा से पक्वाशय तक का मार्ग रिक्त होने के कारण स्नेह वेग से ऊपर आकर कंठ से बाहर आता है। तब गात्रग्रह, इंद्रियों में उपलेप, अवसाद, मुख में स्नेह गंध, कास, श्वास और अरुचि ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। यहां भी बस्ति प्रणीत स्नेह से वात नाड़ी प्रक्षोभ जन्य च्छर्दि ऐसा अर्थ करना उचित है।

चिकित्सा— श्यामात्रिवृत आदि बस्ति में यव, कोल, कुलत्थ, गोमूत्र मिलाकर निरूह दे। गले को वस्त्र से या हाथ से धीरे-धीरे दबाये या सहलाये, विरेचन करावे, च्छर्दिघ्न

चिकित्सा करें। सूतशेखर रस २ रत्ती, शंखभस्म ४ रत्ती, मिलाकर ४-४ बार मधु से दे। चित्रकादि वटी, दशमूलारिष्ट, हेमगर्भ रस इत्यादि का यथावश्यक उपयोग करें।

सुश्रुत ने अभुक्तप्रणीत स्नेह के व्यापद के स्थान में—विरेचनादि से शुद्ध आतुर में स्नेहबस्ति देने पर उपर्युक्त लक्षण वाली व्यापद कही है। इसीलिए विरेचन के बाद ७ या ९ दिन से ही स्नेहबस्ति दी जाती है। इन व्यापदों के अतिरिक्त सुश्रुत ने दो और व्यापद बताये हैं वे निम्नलिखित प्रकार की है।

१. आतुर को स्वेदन और वमन, विरेचन न दिया हो और मृदु तथा अल्प बस्ति दिया जाये तो स्नेह एकसाथ वापिस न आकर धीरे-धीरे थोड़ा-थोड़ा कर वापिस आता है। इसमें पक्वाशय में वायु का अवरोध, भारीपन, आध्मान और शूल होता है। इस व्यापद में अनुवासन के साथ आस्थापन बस्ति दे।[१८१]

२. थोड़ा भोजन देकर दिया हुआ अल्प स्नेह मंदगुण के कारण वापिस नहीं आता और क्लम, उत्क्लेश, और बेचैनी उत्पन्न करता है। इसमें शोधनीय स्नेह के साथ आस्थापन बस्ति दे। अर्थात् दशमूल क्वाथ (१६ औंस) और एरंड तैल (४ से ६ औंस) मिलाकर बस्ति दे।[१८२]

इसमें प्रथम व्यापद निरूह के 'प्रवाहिका' या परिस्राव के समान हैं और द्वितीय व्यापद क्लम के समान है। उपर्युक्त से स्पष्ट है कि स्नेह बस्ति देते समय भोजन का, वातादि दोषों का, मलमूत्रादि वेग विसर्जन का पहले किये हुए शोधन का, औषधि गुणों का भलीभांति विचार करना चाहिये।

जब तक पहली स्नेहबस्ति वापिस नहीं आती तब तक दूसरी स्नेहबस्ति नहीं देनी चाहिये ऐसा नियम है।[१८३] तथापि २४ घंटे के बाद बिना तकलीफ से जो स्नेह अंदर रहा हो उसमें यह नियम नहीं है।

मात्राबस्ति— वस्तुतः मात्राबस्ति यह स्नेहबस्ति का ही एक प्रकार हैं, तथापि विशेषतः प्रयोजनीय होने के कारण यहाँ पृथक् उल्लेख किया जा रहा है। अनुवासन बस्ति की आधी मात्रा—१।। पल (६ तोला) मात्राबस्ति के स्नेह की होती है चरक एवं वाग्भट के मतानुसार ह्रस्व स्नेहपान की जो मात्रा होती है, वह मात्राबस्ति में प्रयुक्त करनी चाहिये।[१८४] स्नेहपान की ह्रस्वमात्रा वह है जो आधे दिन में — ६ घंटे में जीर्ण होती है। यहाँ ६ घंटे के अंदर जीर्ण होने के लिए कितना स्नेह देना चाहिये यह प्रमाण निर्दिष्ट नहीं किया है। तथापि वह उपरोक्त प्रमाण के आसपास ही अग्निबलापेक्षया रहेगा। चक्रपाणि ने तंत्रांतर का वचन देकर स्नेहबस्ति का प्रमाण ६ पल, अनुवासन बस्ति का प्रमाण ३ पल और मात्राबस्ति का प्रमाण १ ।। पल बताया है यह पहले स्पष्ट कर आये हैं।

मात्रा बस्ति की प्रशस्ति— मात्राबस्ति हमेशा देने योग्य बस्ति है। यह निरापद है। स्नेह का प्रमाण अल्प होने से कोई व्यापद भय नहीं होता। इसीतरह स्नेहबस्ति के समान निरूह के साथ देने की भी आवश्यकता नहीं रहती। प्रतिदिन मात्राबस्ति दी जा सकती है। अनुभव यह है कि स्नेहबस्ति की मात्रा की अपेक्षा मात्राबस्ति की उपर्युक्त मात्रा ही उचित कालमर्यादा तक (१२ घंटे तक) अंदर रहती है। अन्यथा स्नेह जल्दी लौटता है।

६ तोला से १० तोला तक तिल तैल अथवा रोगानुसार कोई भी तैल या घृत, (किंचित् लवण मिलाकर या अलवण), सिरींज के द्वारा रबर नलिका से गुदा में प्रविष्ट करावे। बस्तिपूर्व विधिवत् भोजन देना चाहिये।

मात्रा बस्ति योग्य आतुर— जो काम करके थके हैं, व्यायाम, भारवहन, मार्गगमन से थके हुए हैं, मद्यपान अति मैथुन से क्षीण हुए हैं, अत्यंत दुर्बल हैं, और वात व्याधि से पीड़ित हैं, उनमें मात्राबस्ति देनी चाहिये।[१८५] इस बस्ति के समय कोई भी पथ्य नहीं है, कोई परिहार काल नहीं हैं, हमेशा का आहार विहार इस काल में चालू रख सकते हैं। यह बृंहण करती है, और वातरोगों को दूर करती है।[१८६] बाल, वृद्ध, राजाओं, सुकुमार लोगों को विशेषतः प्रशस्त होती है।

३. उत्तर बस्ति

उत्तरबस्ति यह एक विशिष्टार्थ दर्शक पारिभाषिक शब्द है। चरकसंहिता में उत्तर बस्ति शब्द के दो अर्थ बताये हैं। स्त्रियों में और पुरुषों में मूत्रमार्ग से मूत्राशय में तथा स्त्रियों में अपत्यपथ से गर्भाशय में दी जानेवाली बस्ति उत्तरबस्ति कहलाती हैं। उत्तर मार्ग से दी जानेवाली बस्ति होने के कारण उत्तरबस्ति कहलाती है। दूसरा अर्थ—उत्तर श्रेष्ठ गुणवाली बस्ति होने के कारण उत्तर बस्ति कहलाती है।[१८७] यह विषय चरक ने बस्तिमर्म के रोगमूत्रौकसाद, मूत्रजठरादि की चिकित्सा के वर्णन में विशद किया है। आगे चरक संहिता का सिद्धिस्थान का १२वाँ अध्याय 'उत्तर बस्ति सिद्धि' नामक है। वहां उत्तर बस्ति का अर्थ श्रेष्ठ बस्ति ऐसा कहा है और यहां वर्णन की गई बस्तियां मूत्रमार्ग या अपत्यमार्ग से दी जानेवाली बस्तियां नहीं है। अपितु गुदमार्ग से पक्वाशय में दी जानेवाली बस्तियाँ हैं। इस तरह उत्तरबस्ति के—मूत्रमार्ग या अपत्यमार्ग से दी जानेवाली बस्ति, और श्रेष्ठ गुणवाली बस्ति ऐसे दो अर्थ होते हैं। तथापि यहां (इस ग्रंथ में) उत्तर बस्तिशब्द उत्तरमार्ग से (मेढ्र—योनि) दी जानेवाली बस्ति और मूत्राशयगत या गर्भाशयगत बस्ति के अर्थ में निबद्ध समझना चाहिये।

उत्तर बस्ति के नेत्र का उल्लेख पहले किया गया हैं। स्वतंत्र और विशिष्ट विषय के कारण उसका यहां विशदीकरण किया जाता है।

उत्तर बस्ति नेत्र— उत्तर बस्ति नेत्र को पुष्पनेत्र भी कहा जाता है। प्रायः स्त्रियों में गर्भाशय में रजोदोष के लिए यह बस्ति दी जाती है, और रजकी पुष्पसंज्ञा भी है— इसलिए पुष्पनेत्र कहा गया होगा। लेकिन स्त्री-पुरुष दोनों में उपयुक्त नेत्र की पुष्पनेत्र संज्ञा है न कि केवल स्त्री में उपयुक्त है। यह नेत्र १२ अंगुल दीर्घ, सोने का या चांदी का बनाना चाहिये। सुश्रुत ने इसका प्रमाण १४ अंगुल दिया है। नेत्र का आहार जाती पुष्प या कनेर पुष्प के डंठल के समान होना चाहिये। गोपुच्छ के समान मूलभाग में चौड़ा और अग्रभाग में सिकुड़ा होना चाहिये। इसका छिद्र सरसूं के प्रवेशयोग्य होता है, इसमें केवल दो कर्णिका होती है। एक मूलभाग में बस्ति को बांधने के लिए और दूसरी बिल्कुल बीच में होती है। मध्यकर्णिका तक ही अर्थात् ६ या ७ अंगुल नेत्र प्रवेश किया जाता है। क्षारपाणि ने नेत्र का प्रवेश चार, पांच, छः या सात अंगुल तक करना चाहिये ऐसा कहा है।[१८८]

उत्तरबस्ति पुटक— बकरी के बस्ति से, भेड़ के बस्ति से, सुअर के बस्ति से बनाना चाहिये।[१८९] यदि यह न मिले तो पक्षियों के गले के चर्म और कोई भी मृदु चर्म का उपयोग करना चाहिये। निरूहादि बस्ति के मात्रा की अपेक्षा उत्तरबस्ति की मात्रा कम होने से पुटक भी छोटा होना चाहिये।

स्त्रियों में उत्तर बस्ति का नेत्र—१० अंगुल लंबा होना चाहिये। इसकी स्थूलता मूत्रवह

स्रोत के परिणाह की जितनी होनी चाहिये। इसका छिद्र मूंग के प्रवेशयोग्य बड़ा होना चाहिये। अपत्यमार्ग में उपयोग करना हो तो नेत्र का प्रणिधान ४ अंगुल तक और मूत्रमार्ग में २ अंगुल तक करना चाहिये। बालिकाओं में मूत्रमार्ग में एक अंगुल ही प्रविष्ट करना चाहिये, और अपत्यमार्ग में बालिकाओं में उत्तरबस्ति नहीं देनी चाहिये। पुरुषों में उत्तरबस्ति नेत्र का मान तथा प्रणिधान मेढ्र के आयाम के अनुसार करना चाहिये ऐसा एकीय मत है।[११०]

बस्तिद्रव्य का प्रमाण— उत्तरबस्ति द्रव्य की मात्रा चरक ने आधा पल (२ तोला) निर्दिष्ट की हैं। वाग्भट ने भी शुक्तिमात्रा में (२ तोला) प्रमाण में बताया है। सुश्रुत ने स्त्रियों में उनके हाथ से एक प्रसृति प्रमाण बताया है। सुश्रुत ने स्त्रियों में उनके हाथ से एक प्रसृति प्रमाण गर्भाशयगत बस्ति के लिए निर्दिष्ट किया है। यह स्नेह का प्रमाण है। क्वाथ से निरूह की उत्तर बस्ति देनी हो तो दो प्रसृति का प्रमाण कहा गया है।

पुरुषों में स्नेह का प्रमाण सुश्रुत ने प्रकुंच (४ तोला) बताकर वयानुसार इसके भेद करने का आदेश दिया है। अर्थात् यह प्रमाण २५ वर्षायु युवा का है। अतएव एक वर्ष की उमर हो तो एक पल का २५वाँ भाग ४ तोला-२५, वर्ष लगभग १/६ तोला होता है, और प्रतिवर्ष १/६ तोला बढ़ाकर २५ वें वर्ष तक ४ तोला तक प्रमाण होगा ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये।[१११]

स्त्रियों में उत्तरबस्ति का प्रमाण उनके हाथ से एक प्रसृति कहा गया है, और गर्भाशय शोधन के लिए देना हो तब इसकी द्विगुण मात्रा देनी चाहिये। क्वाथ के द्वारा निरूह उत्तरबस्ति देनी हो तब पुरुषों में एक प्रसृत और स्त्रियों में गर्भाशय शोधन के लिये २ प्रसृत लेनी चाहिये। १२ वर्ष के नीचे की उमर वाली कन्याओं में १ प्रसृत की मूत्राशयगत बस्ति ही देनी चाहिये। २ प्रसृति प्रमाण की नहीं—क्योंकि वह मात्रा गर्भाशय शोधन के लिए कही गई।[११२]

उत्तरबस्ति विधि विधान

१. पूर्वकर्म—

१.आतुर परीक्षा एवं उत्तरबस्ति का विनिश्चय।

२. आतुर सिद्धता।

१. आतुर परीक्षा एवं उत्तरबस्ति का विनिश्चय— उत्तरबस्ति स्त्रियों में गर्भाशय तथा मूत्राशय में और पुरुषों में मूत्राशय में दी जाती है। इसलिए आतुर परीक्षा कर कौनसी बस्ति देनी है इसका योग्य निश्चय करना चाहिये। उसी तरह उत्तरबस्ति-निरूह और स्नेह दो प्रकार की होती है अत: कौनसी बस्ति श्रेयस्कर है यह पहले निश्चिय करना चाहिये। निरूह-शोधन बस्ति है।

स्त्री-पुरुषों में मूत्राशयगत बस्ति के योग्य आतुर—मूत्राशय के मूत्र-कृत्यादि रोगों के लिए मूत्राशयगत बस्ति देनी चाहिये। चरक ने मूत्रौकसादादि रोगों का वर्णन कर अंत में इनके लिए उत्तर बस्ति प्रयोग करने को कहा है। मूत्र के ये १३ रोग निम्नलिखित प्रकार के हैं।[११३]

१. मूत्रौकसाद्— पित्त और कफ दोनों से बस्ति उपहत होकर लाल, पीला, रूक्ष, सांद्र, सफेद मूत्रजलन के साथ स्रवित होता है। इनको मूत्रौकसाद कहते हैं। पित्त और कफ से वस्तुत: वायु आवृत होता हैं और उपर्युक्त लक्षण उत्पन्न होता है।

२. मूत्रजठर— बस्ति उदावर्तिक होकर रुजा के साथ मूत्रसंग, मलसंग उत्पन्न होता है उसे मूत्रजठर कहते हैं।

३. मूत्रकृच्छ्र— कृच्छ्रतापूर्वक शुक्र प्रवृत्ति के साथ मूत्र आता है।

४. मूत्रोत्संग— मेढ्रमणि तक मूत्र ठीक आता है—तत्पश्चात् अत्यंत तीव्र रुजा के साथ निकलता है।

५. संक्षय— वात के द्वारा मूत्र का शोषण होता है और क्षय से मूत्र प्रवृत्ति बंद होती है।

६. मूत्रातीत— मूत्रप्रवृत्ति धीरे-धीरे होती है।

७. अष्ठीला— मूत्रमार्ग का अवरोध होकर तीव्र रुजा के साथ मूत्र अल्पाल्पश: प्रवृत्त होता है।

८. वातबस्ति— वात प्रकोप से बस्ति में कंडु और मूत्रावरोध उत्पन्न होता है।

९. उष्णवात— कष्ट के साथ बस्ति और उपस्थ में दाह करते हुए लाल, पीले रंग की मूत्र प्रवृति होती है।

१०. वातकुंडलिका— मूत्र विगुण होकर वात के द्वारा बस्ति में कुंडलीभूत होता है जिससे मूत्रसंग, गौरव, रुजा, मलसंग, वातसंग, ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।

११. ग्रंथि— वात और कफ से रक्त दुष्टि होकर बस्ति द्वार पर ग्रंथि उत्पन्न होती है। जिससे कृच्छ्रपूर्वक मूत्र निकलता है। इसमें अश्मरी के समान पीड़ा होती है।

१२. विड्विघात— वात के द्वारा उदावर्तित मल बस्ति में पहुंच जाता है, तब कृच्छ्रतापूर्वक, मलगंध रक्त, पेशाब आता है इसे विड्विघात कहते हैं।

१३. बस्ति कुंडल— इसमें शूल के साथ, दाह के साथ, बस्ति में स्पंदन के साथ बिंदु से मूत्रप्रवृति होती है।

उपर्युक्त सभी विकारों में तथा शर्करा, अश्मरी, बस्ति शूल, वंक्षणशूल, मेहन शूल, इनमें अवस्थानुसार उत्तरबस्ति दें।[११४]

उत्तरबस्ति योग्य पुरुष आतुर— पुरुषों में शुक्रदोष तथा शुक्रोत्सेक में उत्तर बस्ति दे। शुक्रदोष में वात, पित्त, कफादि दुष्ट शुक्र तथा क्लैब्य ध्वजभंगादि रोगों का समावेश होता है।

गर्भाशय गत बस्ति योग्य स्त्री आतुर—[११५]

१. योनि भ्रंश	२. रजोदोष	३. योनिदोष	४. योनिशूल
५. तीव्र योनि द्वापद	६. असृग्दर	७. पुष्पनाश (अनार्तव)	८. अकालरज: प्रवृत्ति
९. अपराद्वारा गर्भ निरोध	११. बंध्यत्व।		

इन रोगों में यथावस्थानुसार गर्भाशय गत उत्तर बस्ति दे। इनके अतिरिक्त चरक ने चिकित्सा स्थान के ३०वें अध्याय में २० योनि व्यापद वर्णित किये हैं उनमें भी उत्तर बस्ति देने को कहा है। योनिरोग प्राय: स्त्रियों में बंध्यत्व तथा अन्य अवयव वैगुण्य में कारण होते हैं इनका यहां केवल नाम तो निर्देश किया जाता है। विस्तार में देखें।

१. वातला योनि	२. पित्तला योनि	३. श्लेष्मला योनि
४. त्रिदोषजा योनि	५. अरजस्का योनि	६. असृजा योनि
७. अचरणा योनि	८. अतिचरणा योनि	९. प्राक्चरणा योनि
१०. उपप्लुता योनि	११. परिप्लुता योनि	१२. उदावर्तिनी योनि

१३. कर्णिनी योनि	१४. पुत्रघ्नी योनि	१५. अंतर्मुखी योनि
१६. सूचिमुखी योनि	१७. शुष्का योनि	१८. वामिनी योनि
१९. षण्डी योनि	२०. महायोनि।	

आतुर सिद्धता—स्त्रियों में ऋतुकाल में ही उत्तरबस्ति देनी चाहिये। ऋतुकाल रजोदर्शन के अनंतर १६ दिन का होता है। रजोदर्शन के चार दिन के बाद गर्भाशय गत बस्ति दे। इस समय गर्भाशय मुख विकसित होने से बस्ति प्रवेश सरलता से हो सकता है।[११६]

आतुर को बस्ति के पूर्व यवागु, दूध और घी के साथ देना चाहिये, अथवा मांसरस संयुक्त भोजन दे। बस्ति के पूर्व मल मूत्रादि विसर्जन कराकर अभ्यंग करें। अभ्यंग विशेषत: श्रोणि, स्फिग्, कटि, पार्श्व योनि वंक्षण पर करना चाहिये।[११७]

औषधि— उत्तरबस्ति का स्नेह या क्वाथ शुद्ध और सुखोष्ण कर बस्ति पुटक में भरकर तैयार रखो पश्चात्कर्म में तथा उपद्रवों में उपयुक्त साधनों को और औषधों को तैयार रखें। इसमें विशेषत: वेदनाहर योग—निद्रोदय, अहिफेनासव, पिप्पलीमूल तथा स्थानिक वेदनाहर उपायार्थ अभ्यंग के लिए पंचगुण तैल, धनासार योग, स्वेदनार्थ तापस्वेद ये तैयार रखे। फलवर्ति, अन्य निरूह बस्ति रखनी चाहिये।

साधनों में उत्तर बस्ति यंत्र के स्थान में सिरींज, मूत्रशलाका और गर्भाशय शलाका का उपयोग बहुत लाभप्रद होता है।

२. प्रधान कर्म[११८]

१. बस्ति प्रणिधान
२. निरीक्षण।

१. बस्ति प्रणिधान— पुरुष आतुर को घुटने के बराबर आसन पर (काष्ठ निर्मित टेबल पर) बिठाकर पहले तैल, घृत से अभ्यंग करें। मेढ़ को स्निग्ध कर प्रहर्षित कर प्रथम शलाका को प्रविष्ट कराकर बस्ति तक मार्ग की परीक्षा कर लें। यह शलाका (Blader Sound) मूत्रमार्ग के अवरोध को भी दूर करती है और आगे बस्ति नेत्र कितने दूर तक प्रवेश कराना होगा इसका भी ज्ञान कराती है। शलाका शुद्ध एवं जंतुरहित (sterile) करा लेना चाहिये। फिर बस्ति नेत्र को स्निग्ध कर सेवनी के समांतर धीरे-धीरे प्रविष्ट करावे। साधारणत: बस्ति नेत्र के स्थान पर आजकल के रबर केथेटर का प्रयोग करना बहुत हितावह होता है। जब नेत्र बस्ति में पहुँच जायेगा—तो उसका दूसरा मुख सिरींज को संनद्ध कर धीरे-धीरे औषध अंदर प्रवेशित करावे। औषध भी खूब उबालकर सुखोष्ण किया हुआ जंतुरहित होना चाहिये। औषधि बस्ति में चले जाने के बाद केथेटर या नेत्र को ऋजु क्षणन न करते हुए निकाल लेना चाहिये।

स्त्रियों में—यदि बस्ति देना हो तो टेबल पर चित लिटाकर जानुमें से पांव को मोड़कर फैला कर रखे। उपर्युक्त प्रकार से वंक्षण बस्ति मुखपर अभ्यंग और स्वेद करे और मूत्राशय गत बस्ति देनी हो तो बस्ति शलाका (Blader Sound) से मार्ग परीक्षा करे, और गर्भाशय गत बस्ति देनी हो तो गर्भाशय शलाका प्रविष्ट (Uterine Sound) कराकर मार्गान्वेषण करे। फिर बस्ति नेत्र या स्त्रियों में उपयुक्त रबर केथेटर अंदर प्रवेशित करे। रबर केथेटर यदि गर्भाशय में प्रविष्ट करना हो तो संदंश गर्भाशय ग्रीवा (cervix) को पकड़कर उन्नत कराना

चाहिये। शलाका प्रवेश के बाद ही केथेटर प्रविष्ट हो सकता है यह ध्यान रखे। स्त्रियों में उपयोग के लिए एक बहुत अच्छा यंत्र है—गर्भाशय का केन्यूला (uterine canula) इसका उपयोग बंध्यत्व परीक्षा में बीज वाहिनी नाड़ी के अवरोध परीक्षा के लिए (Patency Test) किया जाता है। इसका वर्णन उपकल्पनाध्याय में दिया गया है। यह केन्यूला सुखपूर्वक प्रविष्ट कराकर पीछे का भाग औषधयुक्त सिरींज के साथ जोड़कर औषधि अंदर प्रविष्ट करावे और तत्पश्चात् यंत्र या रबर केथेटर को युक्तिपूर्वक निकाल लेवे।

१. निरीक्षण[११९]— उत्तर बस्ति यदि क्वाथ की हो तो तुरन्त वापिस आ जाती है। वापिस आने पर वह सम्यग्दत्त बस्ति है ऐसा समझे। इस प्रकार दो या तीन बस्तियां दी जा सकती हैं उत्तर बस्ति स्नेह से दी गई हो तो वह जल्दी वापिस नहीं आती। वह स्नेहबस्ति के समान अंदर रहकर कार्यकर होती है। गर्भाशय में दिये हुए स्नेहबस्ति का कुछ स्नेह तुरन्त निकल जाता है और पर्याप्त मात्रा में अन्दर रहकर अनुप्रवण भाव से अवयव में शोषित होता है या तो धीरे-धीरे निकल जाता है। उत्तर बस्ति ३-३ दिन के अंतर से दो या तीन बार देवे।

नोंद—पुरुषों में प्रहर्षित मेढ़ में बस्ति देने का विधान किया गया है। तथापि प्रहर्षित मेढ़ में बस्ति देना कठिन हाता है—अत: शिथिल मेढ़ में ही बस्ति देनी चाहिये। स्त्रियों में ३-३ दिन के अंतर से गर्भाशयगत बस्ति देने के बदले रजोदर्शन बंद होनें के बाद ३ से ४ दिन प्रतिदिन देना ठीक होता है। क्योंकि बाद में गर्भाशयग्रीवा का संकोच हो जाने पर बस्ति देना कठिन होता है। तथापि गर्भाशय ग्रीवा ग्रह संदंश और शलाका (Sound) की सहायता से कभी भी दी जा सकती है। पुरुषों में और स्त्रियों में क्रमश: छोटी से बड़ी शलाका प्रविष्ट करें। नं. ८ और नं. ९ का रबर केथेटर प्रयोग में प्रशस्त है। एक साथ ३ बस्तियां दी जाने के बाद ३ दिन तक विश्राम कराकर पुन: गर्भाशयगत बस्ति और तीन दिन दी जानी चाहिये।

बस्ति नेत्र प्रवेशित करते समय सावधानी रखनी चाहिये। यदि बहुत अधिक नेत्र प्रविष्ट किया जाये तो बस्ति के दीवारों में क्षत करता है, और बहुत कम प्रविष्ट किया जाये तो बस्ति मुख में प्रवेश के पहले दी हुई बस्ति अंदर नहीं जा सकती। अत: उचित प्रमाण में प्रविष्ट करावे। रबर केथेटर के द्वारा क्षणन की व्यापद का डर कम हुआ है।

पश्चात्कर्म—उत्तर बस्ति वापिस नहीं आने पर २४ घंटा तक या एक रात्रितक (१२ घंटा) उपेक्षा कर बस्ति प्रत्यावर्तन कराना चाहिये। यह देखा जाता है कि उत्तर बस्ति बहुत वेदना करती है। उत्तर बस्ति प्रयुक्त औषध अत्यन्त विशुद्ध (Sterile) होना चाहिये। अन्यथा अवयव में शोथ करता है। बस्ति के बाद वेदनाहर औषधि देनी चाहिये। स्त्रियों में लगभग १२ घंटे से २४ घंटे तक भी शूल रहता है। अत: निद्रोदय रस २ रत्ती—२ या ३ बार दिन में देकर आतुर को वेदनारहित रखना चाहिये। अहिफेनासव और पिप्पलीमूल का भी वेदनाहर के तौर पर अच्छा उपयोग होता है। स्थानिक अभ्यंग और मृदु स्वेद करे।

बस्ति प्रत्यावर्तित न हो तो निम्नलिखित वर्तियों में से कोई वर्ति प्रयुक्त कराकर बस्ति को प्रवर्तित करावे।

१. पिप्पल्यादि वर्ति— पिप्पली, लवण, आगारधूम (गृह धूम), अपामार्ग सरसों, वार्ताकु (बैंगन के बीज), निर्गुंडी, शपाक (आरग्वध) सहचर, इनको गोमूत्र तथा अम्ल द्रव्यों के साथ पीसकर गुड़ के साथ मिलाकर वर्ति बना ले। यह नेत्र की लंबाई की आगे सर्षप

के आकार की तथा पीछे उड़द के आकार की मोटी होनी चाहिये। गुदमार्ग में प्रविष्ट करना हो तो अंगुष्ठमूल के समान मोटी हो। यह वर्ति गुद और मेढ़ में प्रविष्ट की जायें।[२००] सामान्यत: वर्ति प्रवेश गुदा में ही करें। गुदमार्ग में संवेदना होने से मल प्रवृत्ति के वेग के साथ मूत्र प्रवृत्ति होकर बस्ति वापिस आती है। उसे वंक्षण और बस्ति प्रदेश में धीरे-धीरे दबाये। मेढ़मार्ग में वर्ति का प्रवेश खतरे से खाली नहीं है।

२. **आरवग्धादि वर्ति**[२०१]— आमलतास के पत्ते, निर्गुंडी का स्वरस, गोमूत्र और सैंधव इनको पीस कर वयानुसार मूंग, इलायची, सरसों के प्रमाण की वर्ति बनावे। यह वर्ति शलाका की सहायता से मूत्रमार्ग में रखे जिससे बस्ति वापिस आ जाये।

३. **आगार धूमादि वर्ति**[२०१]— गृहधूम, कटेरी, पिप्पली, मदनफल, सैंधव इनसे शुक्ल, गोमूत्र सुरा में पीस कर वर्ति बनावे और उपर्युक्त प्रकार से उपयोग करें।

सुश्रुत ने वर्ति के अतिरिक्त उत्तर बस्ति लौटाने के लिए त्रिवृतादि शोधन औषधियों के क्वाथ से संयुक्त निरूह देने को कहा है। अथवा बस्ति व्यापद में एषणी (शलाका या केथेटर) प्रविष्ट कराकर बस्ति वापिस निकालने को कहा है। यह उपाय प्रयोगार्ह है।

बस्ति में यदि दाह होता हो तो यष्टिमधु क्वाथ में शर्करा और मधु मिलाकर बस्ति दे।[२०३]

भोजन— बस्ति प्रत्यागम के बाद दूध, युष, अथवा मांसरस युक्त भोजन दे। उत्तर बस्ति में सम्यग् रोग परिहार काल, पश्चात्कर्म के व्यापदादि का अनुवासन बस्ति के समान विचार करना चाहिये।[२०४]

विशेष नोंद—उत्तर बस्ति स्त्रियों में या पुरुषों में देते समय—औषधि वेग से, बस्ति पर आघात होने से, या गर्भाशय ग्रीवा की उत्तेजना होने से कभी-कभी भयानक 'अवसाद'(Shock) के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसमें स्वेदाति प्रवृत्ति तमक (आँखों के सामने अंधेरा) तथा मूर्च्छा उत्पन्न होती हैं। इसकी चिकित्सा सावधानी से करनी चाहिये। दशमूलारिष्ट, कस्तूरी भैरवरस २ रत्ती मिलाकर २ तोला १०-१५ मिनिट के अंतर से पिलावे। सूतशेखर, हेमगर्भ रस १-१ रत्ती, मिलाकर चटाते जाये और शीत परिषेक, व्यंजनादि उपाय करें।

रोगानुसार चरकोक्त कतिपय बस्ति संदर्भ

क्र.	अधिकार	बस्ति विषय	संदर्भ
१.	ज्वर	ज्वर की सामान्य चिकित्सा में बस्ति का निर्देश, ज्वर क्षीण को शोधनार्थ निरूह	चि. ३- १७०
२.	ज्वर	पक्वाशयस्थ पित्त, कफ या वात में बस्ति	चि. ३-१७१
३.	ज्वर	जीर्णज्वर में, दृढ़ाग्नि में रुक्ष और बद्ध पुरीषता में अनुवासन	चि. ३-१७२
४.	ज्वर	ज्वर में पक्वाशयगत दोष में कुछ निरूह कल्प-१. पटोलादि बस्ति, २. आरग्वधादि निरूह ३. गुडूच्यादि निरूह	चि. ३-२४० २४९

क्र.	अधिकार	बस्ति विषय	संदर्भ
५.	ज्वर	ज्वर में अनुवासन १. जीर्वत्यादि अनुवासन २. फ्टोलादि अनुवासन ३. चंदनादि अनुवासन	चि. ३-२५० से २५३
६.	ज्वर	वातप्रधान तृतीयक विषम ज्वर में अनुवासन	चि. ३-२९३
७.	ज्वर	विषमज्वर में आस्थापन और यापन बस्ति	चि. ३-३०२
८.	ज्वर	अस्थिमज्जागत ज्वर में निरूह और अनुवासन बस्ति	चि. ३-३१६
९.	ज्वर	पुनरावर्तक ज्वर में यापन बस्ति	चि. ३-३३९
१०.	रक्तपित्त	सामान्य चिकित्सासूत्र में बस्ति	चि. ४-९१
११.	गुल्म	वातज गुल्म की सामान्य चिकित्सा में निरूह और अनुवासन	चि.५-२१,२६
१२.	गुल्म	पक्वाशयगत गुल्म में तिक्त—	चि. ५-२४
१३.	गुल्म	पक्वाशयगत पित्त गुल्म में तिक्त संयुक्त क्षीर बस्ति	चि. ५-३४
१४.	गुल्म	गुल्म में बस्ति की श्रेष्ठता सिद्धि स्थानोक्त गुल्मघ्न बस्ति का उपयोग करने का आदेश	चि. ५-१००, चि. ५-१०२
१५.	गुल्म	रक्तज गुल्म में बस्ति तथा उत्तर— बस्ति का और अनुवासन	चि. ५-१७८ से १८२
१६.	कुष्ठ	दार्व्यादि बस्ति सामान्य चिकित्सा सूत्र में	चि. ७-४६
१७.	कुष्ठ	वातोल्वण कुष्ठ में निरूह और अनुवासन, मदनफलादि तैल का अनुवासन	चि. ७-४६
१८.	राजयक्ष्मा	अंस, पार्श्व, शिर:शूल में बस्ति	चि. ८-८१
१९.	उत्माद	सामान्य चिकित्सा सूत्र में बस्ति	९-३४
२०.	अपस्मार	वातिक अपस्मार में बस्ति	चि. १०-१५
२१.	शोथ	ब्रघ्न में सामान्य चिकित्सा में निरूह	चि. १२-९५
२२.	ज्वर	वातोदर में शोधनोत्तर आस्थापन दशमूल निरूह	चि. १३-६३
२३.	ज्वर	उदर में एरंडतैलानुवासन	चि. १३-६५
२४.	ज्वर	पित्तोदर में दुर्बलातुर में क्षीरबस्ति	चि. १३-६८, ७१
२५.	ज्वर	बद्धोदर में स्वेदनोत्तर गोमूत्र और तीक्ष्णौषध सिद्ध निरूह फिर अनुवासन	चि. १३-८९

क्र.	अधिकार	बस्ति विषय	संदर्भ
२६.	ज्वर	प्लीहोदर में निरूह और अनुवासन	१३-७७
२७.	उदर	दोषों से आवरण में, पुन: पुन: आध्मान युक्त उदर में स्निग्ध अम्ल लवणसंयुक्त निरूह	चि. १३-१७३
२८.	उदर	तीक्ष्ण औषधि, गोमूत्र, तथा क्षार से बस्ति	चि. १३-१७४
२९.	अर्श	वातप्रधान अर्श में घृतमंड से अनुवासन तथा पिच्छा बस्ति धमासा, कुश, कास, शाल्मली निर्यास, पिप्पल, वट, उदुंबर इनसे सिद्ध पिच्छा बस्ति	चि. १४-२२५ से २२९
३०.	ग्रहणी	स्नेहन, स्वेदन कर, निरूह तथा अनुवासन-सामान्य चिकित्सा सूत्र	चि. १५-७८
३१.	ग्रहणी	ग्रहणी में अति मंदाग्नि में निरूह और स्नेह बस्ति	चि. १५-२०७
३२.	कास	वातज कास में सामान्य चिकित्सा में बस्ति	चि. १८-३२ से ३४
३३.	अतिसार	गुदभ्रंश में दशमूल तैल, बिल्व तैल, शताब्हादि तैल से अनुवासन	चि. ११-४९
३४.	अतिसार	पित्तातिसार में अनुवासन	चि. ११-३६
३५.	अतिसार	अतिसार में पिच्छा बस्ति	चि. ११-६७
३६.	अतिसार	रक्तप्रवृत्ति में पिच्छाबस्ति	चि. ११-९८, ९९
३७.	द्विव्रणीय	व्रण सामान्य चिकित्सा में बस्ति	चि. २४-३८
३८.	त्रिमर्मीय	वातज मूत्रकृच्छ्र में निरूह तथा उत्तर बस्ति	चि. २६-४५
३९.	त्रिमर्मीय	त्रिदोषज मूत्रकृच्छ्र में वात-प्राधान्य में बस्ति	चि. २६-५८
४०.	वातव्याधि	वातव्याधि सामान्य चिकित्सा में निरूह	चि. २८-८६
४१.	वातव्याधि	मांस और मेद स्थित वात में बस्ति निरूह	चि. २८-९२
४२.	वातव्याधि	अधोनाभिगत वात में बस्ति	चि. २८-१८
४३.	वातव्याधि	पक्वाशयगत पित्त में बस्ति	चि. २८-१९१
४४.	वातव्याधि	कफानुगत वात में गोमूत्र संयुक्त बस्ति, पित्त संसृष्ट दोष में मधुर सिद्ध क्षीरबस्ति और अनुवासन	चि. २८-१९२
४५.	वातव्याधि	मूत्रावृत वात में उत्तर बस्ति	चि. २८-१९८

क्र.	अधिकार	बस्ति विषय	संदर्भ
४६.	वातव्याधि	शकृदावृत में बस्ति	चि. २८-१९९
४७.	वातव्याधि	आवृत वात में सामान्य सूत्र में बस्ति	चि. २८-२१९
४८.	वातरक्त	वातरक्त में पुन: पुन: बस्ति चिकित्सा की प्रशस्ति	चि. २९-४१
४९.	वातरक्त	गंभीर वातरक्त में बस्ति	चि. २९-४३, ४४
५०.	वातरक्त	मलावृत-दोषावृत वात में क्षीर बस्ति	चि. २९-८७
५१.	वातरक्त	बस्ति की वातरक्त चिकित्सा में श्रेष्ठता, निरूह अनुवासन बस्ति	चि. २९-८८, ८९
५२.	योनि व्यापद	सामान्य चिकित्सा में बस्ति की प्रशस्ति	चि. ३०-४१
५३.	योनि व्यापद	उत्तरबस्ति-जीवनीय सिद्ध तैल से उत्तरबस्ति पुत्रघ्नी योनि में, कर्णिनी में, अचरणा, शुष्कयोनि प्राक्चारणा में	चि. ३०-१०० १०२
५४.	योनि व्यापद	उदावर्ता योनि में दशमूल क्वाथ में संयुक्त क्षीरबस्ति	चि. ३०-११०
५५.	योनि व्यापद	त्रिवृत स्नेह की उत्तर बस्ति	चि. ३०-१११
५६.	योनि व्यापद	क्लैव्य-सामान्य चिकित्सा में बस्ति	चि. ३०-१९७
५७.	योनि व्यापद	क्लैव्य में पुन: पुन: बस्ति चिकित्सा	चि. ३०-२००

बस्ति का कार्मुकत्व—बस्ति एक अत्यंत श्रेष्ठ चिकित्सा है। इसका कार्य केवल पक्वाशय में और केवल मल शोधन की मर्यादा तक ही सीमित नहीं है, अपितु सार्वदैहिक कार्य है। विशिष्ट औषधियों के संयोग से बस्ति शोधन, शमन, लेखन, बृंहण, बाजीकरण, वय:स्थापन, इत्यादि अनेक गुणों को करती है ऐसा पहले कहा गया था। बस्ति के ये सब कार्य किस तरह संपन्न होते हैं इसका यहां विचार किया जायेगा।

चरक ने बस्ति प्रशस्ति करते हुए निम्नलिखित गुण कर्मों का वर्णन किया है। निरूह में निम्नलिखित गुण होते हैं।

१. बस्ति वयस्थापन करती है अर्थात् धातुओं को दृढ़ कर वृद्धत्व को रोकने में सहायता करती है।
२. आयुष्य को बढ़ाती है।
३. अग्नि और मेधा को तीक्ष्ण करती है।
४. स्वर को प्रसादवान बनाती है।
५. वर्ण का प्रसादन करती है।
६. बालकों में, वृद्धों में तथा शिशुओं में सब में बिना तकलीफ से दी जा सकती है।
७. युक्ति पूर्वक उपयोग करने से सभी रोगों को दूर करती है।
८. मल, वात, पित्त, कफ, मूत्र इनका शोधन करती है।
९. शरीर को दृढ़ करती है।

१०. शुक्र और बल को बढ़ाती है।

११. संपूर्ण शरीर में स्थित दोष संचय को बाहर निकालती है।[२०५]

अनुवासन की प्रशस्ति करते हुए कहा है कि—यह वर्ण और बल को बढ़ाता है। वात को दूर करने के लिए तैलदान के अतिरिक्त कोई भी श्रेष्ठ उपाय नहीं है। तैल स्निग्धता से वात की रुक्षता को दूर करता है, गुरुता से वात की लघुता को दूर करता है, उष्णता से वात का शैत्य दूर करता है, मन का प्रसादन करता है, वीर्य, बल, वर्ण तथा अग्नि को बढ़ाता है।[२०६]

काश्यप ने कहा है कि शिशुओं तथा बड़ों के लिए बस्ति अमृत के समान गुणकारी है।[२०७]

बस्ति के ये सभी सार्वदैहिक व्यापार वात नियामन से होते हैं। वात का शरीर के प्राकृत कार्यों में तथा विकृति निर्माण में बहुत महत्त्व का कार्य है। वात का नियामन प्रकार समझाते हुए चरक कहते हैं कि—आस्थापन और अनुवासन वात के लिए प्रधानतम उपक्रम कहे गये हैं। सर्वप्रथम यह पक्वाशय में प्रवेश कर वहां के संपूर्ण विकृत वात को मूलत: छेदन करता है और पक्वाशय में वात को जीत लेने पर सभी वातविकार प्रशमित होते हैं। जिस प्रकार वनस्पति के मूल का छेदन करने पर कंध, शाखा, प्ररोह पुष्प और फल स्वयं नष्ट हो जाते हैं उसी तरह पक्वाशय यह वात का मूल होने से वहां पर छेदन करने से (शोधन) सभी वातविकार नष्ट होते है।[२०८] इसी तरह अनुवासन की कार्मुकता बताते हुए कहा है कि जिस तरह वृक्ष के मूल में जलसिंचन करने से उसका पोषण होकर वह हराभरा होता है, उसे कोमल पत्ते आते हैं और यथाकाल फूल और फल लगते हैं, उसी तरह अनुवासन से मूल स्थान में गुद में सेचन होकर सभी सिराओं का तर्पण होकर आतुर का पोषण होता हैं, और आगे शुक्रादि धातु वृद्धि से अपत्य लाभादि कार्य भी संपन्न होते हैं। चक्रपाणि कहते हैं कि पराशर के मत से गुद शरीर का मूल स्थान हैं और वहां सिराओं का प्रतिष्ठान हैं। अतएव वहां सिंचन करने से (तैलादि स्नेहों द्वारा मूर्धागत सिराओं का भी तर्पण होता है, और शरीर का बल, वीर्य बढ़ता है तथा व्यक्ति इससे संतानवान होता है। गुदा में सिराओं का प्रतिष्ठान है यह अर्शादि विकृत से भी सिद्ध है और अर्श, ग्रहणी, अतिसार इत्यादि विकार अग्निमांद्य से उत्पन्न होते हैं, और जिनको होते हैं उनका बलक्षय मांसक्षय, शोष तथा अनेक मानसिक विकार भी उत्पन्न करते हैं यह देखा जाता है।

निरूह तथा अनुवासन दोनों के गुणों को बताते हुए कहा गया है कि, बस्ति वातव्याधि में प्रशस्त होती है। जिनके हाथ पांव जकड़ गये हैं जो पंगुत्व को प्राप्त हुए है, जिनके अस्थ्यादि अवयवों में भंग हुआ है, जिनके गात्रों[२०९] में वातकृत शूल है, उन सबको बस्ति प्रशस्त होती है। आध्मान में, जिनका मल ग्रंथियुक्त अवगाढ हुआ है, जिनको पक्वाशय और आमाशय में शूल है, जिनको भूख नहीं लगती हो, इसी तरह कुक्षिगत अनेक रोगों को बस्ति दूर करती है। जिन स्त्रियों में वात प्रकोप के कारण पुरुष सहवास से भी गर्भधारणा नहीं होती, जो पुरुष क्षीणेंद्रिय तथा कृश हुए हैं, उनमें बस्ति अत्यंत लाभप्रद होती है।[२१०] बस्तिद्वारा उपर्युक्त कार्य कैसे संपन्न होते हैं, इसका विवेचन सुश्रुत ने बहुत सुंदर रीति से किया है। केवल पक्वाशय में दी हुई बस्ति संपूर्ण शरीर में कहीं अवसादात्मक—शमन कार्य करती है, कहीं दोष हरण करती है यह कैसे होता है—इसका निराकरण करने के लिए कहते हैं कि सम्यग् प्रकार से दी हुई बस्ति पक्वाशय, श्रोणि तथा नाभि के अधोभाग में स्थित रहती

हैं, और बस्ति द्रव्यों का वीर्य स्रोतसों के द्वारा संपूर्ण शरीर में प्रसृत होता है और वीर्य से (येन करोति तद् वीर्यम्—कार्यकारी तत्व) अवसाद शमनादि कर्म करती है। जिस तरह वृक्षमूल में सेचन किया हुआ जल का वीर्य (पोषक तत्व) संपूर्ण वृक्षतक पहुंच जाते हैं उसी तरह यहां बस्ति वीर्य का काम समझना चाहिये।[२११]

जो बस्ति निकल जाती है उसका कार्य कैसा होता है उसका विवेचन करते हुए कहते हैं कि—वह बस्ति तो केवल द्रव्यत: या मलादि के साथ अपानादि वायु के कार्य से वापिस निकल जाती है लेकिन वीर्य द्वारा पांव से लेकर सिर तक के सभी दोषों को खींच कर उनका भी शोधन करती है। जिस तरह सूर्य तो आकाश में करोड़ों कोश दूर है लेकिन (अपने उष्ण तीक्ष्णादि) प्रभाव से पृथ्वी (वृक्ष वनस्पति के) रसों का अपकर्षण करता है—उसी तरह पक्वाशय में बस्ति रहकर—पृष्ठ, कटि, कोष्ठ इत्यादि सभी स्थानों के संचित दोषों को वीर्य द्वारा अलोडन कर (घोलकर) मूल से ही निकालकर शरीर के बाहर निकाल देती है।[२१२]

फिर तीनों दोषों के प्रकोप में वस्तुत: वायु ही प्रधान है और वायु उनके प्रकोप-प्रशम में भी प्रभुत्व रखता है। उस वायु के वेग को सहन करने के लिए बस्ति के सिवाय दूसरी कोई चिकित्सा क्षम नहीं हो सकती। जिस तरह वायु के द्वारा समुद्र में आया हुआ तूफान (या तूफान) केवल वेला (समुद्र को लहरें) ही सहन कर सकती हैं—उसी तरह बस्ति ही वायु प्रकोप को सहन करती है—उसकी चिकित्सा करती है।[२१३] इस तरह ठीक तरह दी हुई बस्ति शरीर का उपचय करती हैा, बल बढ़ाती है, वर्ण को उज्ज्वल करती है, और आयुष्य को बढ़ाती हैं।[२१४]

उपर्युक्त का सारांश यह है कि बस्ति द्रव्यों का अंशत: पक्वाशय के आगे तक विक्षेपण होता है, और बस्ति के वीर्य अग्नि के द्वारा शोषित होते हैं और रसरक्त के साथ परिभ्रमण कर यथास्थान शसन, बृंहण अवसाद आदि करते है। बस्ति वात-व्याधि में शूलादि प्रशमन, इंद्रिय कर्मों की पुन: स्थापना, शरीर-बृंहण, रसरक्तादि धातु में दृढ़ीकरण तथा सार्वदैहिक भिन्न-भिन्न व्यापार के लिए निम्नलिखित हेतुओं का विवेचन गंभीरता पूर्वक विचार करने योग्य है।

१. बस्ति केवल पक्वाशय में ही नहीं रहती है, वह आगे लघु आंत्र तक—ग्रहणी तक पहुंच सकती है जहां उसके कार्यकारी घटकों का शोषण होता है। आयुर्वेद शास्त्र में वर्णित बस्ति—अनेक औषधियों के क्वाथ, तैल घी, इत्यादि स्नेह, दूध, गुड़, मधु, लवण इत्यादि से संयुक्त होती है। स्नेहों में अणुप्रवण गुण होता है यह पहले कहा गया है। यदि तैल को किसी ढक्कनेवाले पात्र में रखा जाये और उसे उलटा कर दिया जाये तो—ढक्कन की दीवारों को लगकर धीरे-धीरे वह स्रवित होता है। उसी तरह पक्वाशय से आगे जाते समय जो आंत्र के कपाट-द्वार (Valve) होते है उससे आगे कोई वस्तु नहीं जा सकती ऐसा कहा जाता है—वह उचित नहीं है। स्नेह उन द्वारों की भित्तियों में से स्रवित होकर आगे निकल जाता है उसी तरह स्नेह शरीर के उन घटकों का (मांस—मज्जा का) सजातीय द्रव्य है — अत: वहां से उनके अवयव स्वरूप में विलीन होकर निकल जाता है और ग्रहणी तक पहुंचता है। स्नेह के साथ घुले हुए लवण, दूध, मांसरस तथा औषधि वीर्य भी इस द्वार के आगे निकल जाते हैं और तत्तद् शरीर घटकों की वृद्धि में कार्यकर होते है। स्नेह यह एक अत्यंत श्रेष्ठ घोल निर्माण करनेवाला द्रव्य है यह स्मरणीय हें। बस्ति द्रव्य इस तरह पक्वाशय के आगे जा

सकते हैं इस बारे में आधुनिक शारीरवेत्ता भी मान्यता देते हैं। बेस्ट और टेलर अपने ग्रंथ में लिखते हैं कि एनीमा से दिये हुए द्रव्य आंत्र की दीवारों की सहायता से इलीयम तक (ग्रहणी तक) पहुंच जाते है।[२१५] और इस तरह दीवार के साथ जाते समय दीवार के द्वार विकसित हो जाये तो अन्य द्रव्यों का भी ड्युओडिनम तक निर्गमन (ग्रहणी तक) होता है वहां शोषण होना संभव ही है। इसी तरह आधुनिक शरीर क्रिया वेत्ताओं की मान्यता है कि एनीमा से दिये हुए द्रव्य पक्वाशय—ग्रहणी ही नहीं अपितु मुख तक भी आ सकते हैं। इसके लिए लायको पोडियम (वनस्पति द्रव्य) के द्वारा बस्ति प्रयोग किया गया और कुछ घंटों के बाद आमाशय प्रक्षालन (आमाशय में रबर नलिका प्रवेशित कर आमाशयगत पदार्थों को बाहर निकाल लेना) द्वारा निकाले गये द्रव्यों में पुन: उनकी प्राप्ति की गई, जिससे स्पष्ट हो गया कि एनीमा के द्रव्य आमाशय में पहुंच गये थे।[२१६] इस तरह बस्ति द्रव्यों का ग्रहणी तक जाना आधुनिकों का सम्मत ही है। इस विषय में आयुर्वेद का सिद्धान्त अत्यंत स्पष्ट है। चरक ने वामपार्श्व पर लेटने का हेतु बताते हुए कहा है कि इससे बस्ति ग्रहणी तक सुखपूर्वक पहुंच सकती हैं। यहां चक्रपाणि और जेज्जट की टीका बहुत मननीय होने के कारण दी जाती है।

चक्रपाणि—गुदा की प्राकृत अवस्था में रहने से बस्ति द्रव्यों के स्नेहों के (उपश्लेषात) कारण ठीक तरह से बस्ति शरीर में व्याप्त हो जाती है और वलियां लीन हो जाती हैं। जिससे ग्रहणी और गुद की प्राकृत अवस्था से बस्ति प्रसृत होकर ग्रहणी को (अग्नि अधिष्ठान) भावित करती है।[२१७]

जेज्जट[२१८]—यदि बस्ति नेत्र तीन अंगुल प्रविष्ट किया जाये तो उत्तर गुद तक नहीं पहुँचता। प्रवाहणी, विसर्जनी, संवरणी इन तीन वलियों के द्वारा गुद करीब ५।। अंगुल का होता है। अपरगुद तक भी स्नेह पहुंच जाये तो भी वह कुछ कार्य नहीं कर सकता और नेत्रपीड़न से अधिक दूर नहीं जा सकता—क्योंकि कहा है कि स्थूलांत्र को गुदमर्म प्रतिबद्ध हैं। अतएव कहा है कि वाम भाग में नाभि के ऊपर अग्निस्थान हैं, और वामत: स्थूलांत्र को संबंधित गुद है। अत: वामपार्श्व पर लेटने पर समांतरता से वह स्थूलांत्र तथा अग्नितक जा सकता है। ग्रहणी यह अग्नि का अधिष्ठान है यह प्रसिद्ध है। वहां पहुंच कर बस्ति उसका उपघात नहीं करती। अथवा अग्नि भी बस्ति की उपहत नहीं करता। समानवायु से ध्मात अग्नि अपना कार्य करते हुए बस्ति पर उपकार ही करता है। बस्ति के द्वारा वह प्रचलित नहीं होता, छर्दित नहीं होता, प्लावित नहीं होता, अपितु अग्नि अधिष्ठान में प्राप्त होकर दोनों का अपना-अपना कार्य एक दूसरे पर होता है, अर्थात् बस्ति द्रव्य अग्नि को भावित करते हैं। अग्नि उनका पाचन शोषण करता है यह संगति है। यहां एक प्रश्न है कि यदि बस्ति द्रव्य ग्रहणी में पहुंच कर पचन शोषण से ही कार्य करते हैं तो उनका मुखद्वारा उपयोग ही अपेक्षित है। फिर बस्ति से क्यों देना चाहिये ? इसका उत्तर यह है कि मुखद्वारा सेवन किये हुए पदार्थों का अपना स्वरूप परिवर्तित होता है। फिर ग्रहणी में और पचन होता है, किन्तु बस्ति से आये हुए पदार्थ अलग स्वरूप में ग्रहणी में पहुंचते हैं और संभवत: अलग प्रभाव रखते हैं। आधुनिक शास्त्र भी कई प्रकार के स्नेह घटकों का लध्वंत्र में बिना पाचन के प्रत्यक्ष शोषण को स्वीकार करता है। यहां इतना स्पष्ट हुआ कि बस्ति द्रव्य ग्रहणी तक जाते हैं, अग्नि पर तथा अग्निद्वारा भाबित होते हैं और सर्व शरीर में जा सकते हैं।

२. बस्ति द्रव्यों में अनेक स्नेह द्रव्य रहते हैं उनका प्रत्यक्ष शोषण हो जाता है।

अनुसंधात्मक कार्य से प्रयोग करने पर यह सिद्ध हुआ है कि बस्ति देने पर (बृंहण बस्ति) रक्त के स्नेह (Fatty acids) तथा प्रोटीन (Proteins) बढ़ते हैं। स्नेहांश में ३६ मि. ग्रा. से ८४ मि. ग्रा. तक वृद्धि देखी गई और प्रोटीन ०.३ से १.० मि. ग्रा. तक (प्रति १०० ml.रक्त) वृद्धि देखी गई इस पर बायोकेमिकल प्रयोगशाला के विश्लेषण परीक्षणोत्तर तज्ञों का अभिप्राय मिला कि यह चिकित्सा स्नेहांश का पहले और बाद में मिला हुआ फरक एक महत्त्वपूर्ण घटना है, उसी तरह अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रोटीन घटकों की परिवृद्धि से स्पष्ट होता है कि यह चिकित्सा प्रोटीन तत्वों को बढ़ाने में प्रभावशाली रहती है।[२१९] इससे बृंहण बस्ति का कार्य स्पष्ट होता है। वह शरीर के स्नेह तथा प्रोटीन को बढ़ाती है। प्रत्यक्ष प्रयोग में आतुरों का वजन १ पौंड से पांच पौंड तक या कभी-कभी अधिक भी बढ़ती है ऐसा अनुभव है। ये तत्व वात व्याधि में भी कार्यकर होते हैं।

३. बस्तिद्रव्यों का कार्य अस्थिवह तथा मज्जावह स्रोतों पर भी होता है। अस्थिगतवात में तथा शूल में तिक्त संयुक्तक्षीर बस्ति देने का विधान है। तिक्त रस—में वायु और आकाश महाभूतों का प्राधान्य होता है जिससे उनमें वायु और आकाश प्रधान शरीर स्थानों में कार्य करने के लिए पहुंचने की क्षमता होती है। तत्तद महाभूत के घटक तत्तद् स्थान में जाते हैं यह आयुर्वेद का सिद्धांत हैं। वायु का स्थान अस्थि भी कहा है, तथा आकाश से स्रोत—निर्माण होते हैं। अतएव अस्ति घटकों पर तथा अस्थिगत स्रोतों पर तिक्त संयुक्त क्षीरबस्ति का कार्य होता है। इस बस्ति में भी स्नेहों का उपयोग किया जाता है, और स्नेहों के कुछ घटक (Phaspholipid) अस्थि तथा मज्जा के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भाग भजते हैं। बस्ति का अधिष्ठान वैसे पक्वाशय कहा गया हैं जो पुरीषधरा कला है। कला के वर्णन में अस्थिधराकला का निर्देश नहीं है। लेकिन सुश्रुत ने सर्व विधवेगों की धातुगत अवस्था का वर्णन करते हुए कलानुसार वर्णन किया है। वहां पर पंचम वेग में अस्थिधातु में प्रवेश होने पर विद्यमान वेग के लक्षण दिये हैं—। डल्हण टीका में कहते हैं कि जो पुरीषधरा कला है वही अस्थिधरा कला है[२२०] अतएव पांचवे वेग में कला का निर्देश है, और इस कला में प्रवेश होने पर प्राण तथा अग्नि की दुष्टि होती है और लक्षणों में पर्वभेद, हिक्का और दाह इत्यादि बताये गये हैं। विचार करने पर प्रतीत होता है कि अस्थिधातु तथा पुरीषधरा कला का संबंध अवश्य है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार सुधा घटकों का निष्क्रामण (Calcium) का मल में से होता है। इस तरह नियामनतत्व जरूर है। इससे पर्यायदर्शक संबंध (पोषण) भी तर्क्य है। प्रत्यक्ष भी अस्थिगतवात जिसमें भेद लक्षण प्रधान है, में दी हुई क्षीरबस्ति तुरंत शूलप्रशमन करती है, जिससे यह तत्व स्पष्ट हो सकता है।[२२१]

४. स्नेहों का और मज्जा का भी पोषण संबंध है। मज्जा धातु प्रायश: स्नेहों में से ही बना है। आयुर्वेदमतानुसार शिर यह इंद्रियायतन है। इसे मस्तिक कहा गया है—यह शिर में रहनेवाला स्नेह ही है। मस्तुलुंग यह जमे हुए घी के आकार का सिर को बल देनेवाला घटक कहा है। इसी तरह मस्तुलुंग को मस्तिष्कमज्जा कहा है, और यह मेद के परवर्ति भाग से बनता है। इस तरह शिर में स्नेह, मेद, मज्जा इनका धातुमिश्रण है। सभी वातनाड़ियां भी मज्जा धातु से बनी हैं। मज्जा वात का अधिष्ठान है ऐसा काश्यप भी कहते हैं।[२२१] इस तरह मज्जा के पोषण में स्नेह का महत्त्वपूर्ण भाग होने से इंद्रियायतन शिरस्थ वातवह केंद्र, पृष्ठ वंश के वातवह केन्द्र तथा सर्व शरीर की नाड़ियां इनमें बस्ति का कार्मुकत्व स्पष्ट होता है।

बस्तिगत स्नेह—ग्रहणी तक आकर वहां शोषित होता है। ग्रहणी को पित्तधराकला कहा गया है (पित्त का स्नेह के पाचन में महत्त्वपूर्ण भाग हैं।) और जो पित्तधरा कला है वही मज्जधराकला है ऐसा कहा गया है।[२२३] इससे ग्रहणी तक आये हुए स्नेह शरीर के सभी मज्जा पर प्रभाव रखते हैं ऐसा कहा जा सकता है। लक्षणों में भी देखा जाता है कि ग्रहणी में पर्वरुजा (मज्जा से), पार्श्व, हृदय, शिर इनमें शूल (वातनाड़ियों—मज्जा से) तथा कुछ मानसिक लक्षण भी उत्पन्न होते हैं। इससे वातव्याधि में स्नेहयुक्त बस्ति का कर्म समझ में आ सकता है।

५. प्रयोग द्वारा वह भी निर्देश मिलता है कि बस्ति के बाद कीटो एसिड के पायरुविक एसिड नामक तत्व (pyruvic acid) कम हो जाते हैं। शरीर रक्त में पायरुविक एसिड जब बढ़ता है तो विटामिन बी १ (Vitamin B1) तत्व कम होते हैं और जब पायरुविक एसिड घटता है तो विटामिन बी १ के तत्व बढ़ जाते है।[२२४] इस विटामिन का वातवह संस्थान पर बहुत महत्त्वपूर्ण प्रभाव है। यह कम हो जाये तो वातवह नाड़ी के कोषों में शोथ उत्पन्न होता हैं, नाड़ी के ऊपर रहनेवाली मायलीन नामक परत (Myelin sheath) में भी शोष (Degeneration) उत्पन्न होता है जो अनेक रोगों में हेतु होती है। यह विटामिन हृदय और रक्तवह संस्थान पर (कमी न होने से हृदयावसाद) प्रभाव रखता है, उसी तरह अन्नपाचन संस्थान पर भी प्रभाव रखता है। जिससे अजीर्ण, विबंध, अरुचि, अग्निमांद्य, अन्नवह स्रोत का चेष्टानाश इत्यादि लवण उत्पन्न होते हैं। बस्ति से इन तत्वों की पूर्ति होती है जिससे उसके तत्तद् कार्मुकता पर प्रकाश मिलता है।[२२५]

६. पक्वाशय यह कृमियों का स्थान है। यहां पुरीषज कृमि रहते हैं। वैसे ही आमाशय में कफज कृमि भी रहते हैं। यहां पर दी हुई बस्ति उन कृमियों का नाश करती और शोधन करती है। इसी तरह पक्वाशय में सहज कृमि भी रहते हैं। इन सहज कृमियों को अवैकारिक कृमि कहा गया है।[२२६] वे प्रकृति के लिए उपयुक्त तत्व निर्माण करते हैं। आधुनिक विज्ञान के अनुसार ये विटामिन बी के कुछ तत्व तथा विटामिन के (K) को उत्पन्न करते हैं। आयुर्वेद प्रणीत बस्ति—दूध, गुड़ तिलादि तत्वों के द्वारा प्राकृत कृमियों को बढ़ाकर उनसे ये घटक प्रभूत मात्रा में उत्पन्न हो ऐसा अनुकूल वातावरण उत्पन्न करती है। अन्वेषण कार्य से यह स्पष्ट हुआ है कि इन कृमियों की संख्या प्रभूत मात्रा में बढ़ाने में बस्ति सहायक होती है।[२२७] इससे विटामन बी ग्रुप के बढ़ने पर बृंहण तथा वातव्याधि में लाभ होता है। उसी तरह कुछ ग्रुप के विटामिन (बी ग्रुप) त्वग्रोग, नेत्र दाहादि में भी कारण होते हैं (न्यून होनेपर)। जिनकी पूर्ति से त्वच्य, वर्ण्य तथा चक्षुष्य बस्ति के कहे हुए गुणों का कार्मुकत्व स्पष्ट होता है। विटामिन के प्रभूत मात्रा में ये कृमि तैयार करते है। इनकी कमी प्रायः कभी नहीं होती। लेकिन आजतक प्रभूत मात्रा में प्रयुक्त एण्टी बायोटिक औषधियां इन कृमियों को नष्ट करती है जिससे इस विटाामिन की कमी होती है। यह घटक रक्त के स्तंभन घटक—आस्कंदन को कायम रखने में भाग लेता है।

७. बस्ति का महत्त्वपूर्ण कार्य स्थानिक वातनाड़ियों पर प्रशमन के तौर पर होता है जिससे अनेक प्रकार के शूल कम होते और शोधन के कार्य से पक्वाशय, कटि, पार्श्व तथा कोष्ठ में दबाव कम हो जाने से अनेक वातकृत शूल तुरंत प्रशमित होते हैं।

ऊपर देखा गया कि प्रायः कार्य में स्नेहों महत्त्व का भाग है इससे ये केवल अनुवासन के कार्य हैं ऐसी कल्पना न करें। निरूह में भी स्नेह होता है।

स्नेह के ग्रहणी तक पहुंचने के कारण क्षीरबस्ति परिणाम शूल में जहां ग्रहणी में व्रण होता है (Gastric Ulcer) उनमें—रोपण का कार्य कर तुरंत शूल को मिटाता है यह भी प्रयोगसिद्ध है। इस तरह बस्ति के प्रायः कार्य आयुर्वेद शास्त्र तथा आधुनिक सिद्धांतों के अनुसंधान में तथ्यपूर्ण सिद्ध होते हैं इसमें संदेह नहीं।

बस्ति के प्रयोगार्ह कतिपय कल्प

निरूह—अनुवासन बस्ति की संहिता में अनेक कल्प निर्दिष्ट हैं। वमनादि योगों के समान बस्ति कल्पों की भी कोई मर्यादा नहीं है। विद्वान वैद्य तर्क से अनेक कल्प तैयार कर सकते हैं। प्रयोग सौकर्य के लिए बस्ति के कुछ कल्प संहिता ग्रंथ से यहां प्रस्तुत किये जाते हैं।

निरूह कल्प— निरूह कल्पों में सर्व प्रथम 'बला गुडूच्यादि' बस्ति बताई गई है, जो बस्ति में उदाहरणस्वरूप कही है। यहां का प्रमाण वास्तव में प्रयोग दुष्कर है।

इस बस्ति में— बलामूल, गुडूची, हरीतकी, बहेडा, आंवला, रास्ना, क्षुद्र पंचमूल, बृहत्पंचमूल, प्रत्येक एक पल (४ तोला), मदनफल ८ संख्या में, और बकरे का मांस आधी तुला (५० पल = २००तोला) लेकर चतुर्गुण जल में चतुर्थांश क्वाथ शेष रखे। फिर—अजवाईन, मदनफल, बिल्वत्वक्, कुष्ठ, त्वचा सोया, मोथा, पिप्पली का कल्प १ पिचु (१ तोला) गुड़ १ पल, घी, और तैल मिलाकर २ प्रसृति (४ पल = १६ तोला) मिलाकर सुखोष्ण बस्ति खज से मंथन कर अकंपादि गुणों के साथ विधिवत् दे। यहां मदनफल के अतिरिक्त क्वाथ ६६ पल (३३ प्रसृति) होता है जो सर्वथा अप्रयोज्य है। चक्रपाणि कहते हैं कि महर्षि वचन के कारण इसकी कोई मीमांसा करना उचित नहीं है। इस क्वाथ में विशेष गुण समझना चाहिये तथापि हमारे मत से यह क्वाथ इसी विधान से तैयार कर वयानुसार मात्रा में उपयोग करे न कि एक साथ संपूर्ण। १२ प्रसृति से अधिक बस्तिमान कदापि प्रयोगार्ह नहीं है।

वातविकार में निरूह

१. बिल्वत्वक्, अग्निमंथ, श्योनाक, गंभारी तथा पाटला इनका विधिवत् क्वाथ बनाकर घी, तैल, वसा, मज्जा और (चतुःस्नेह) तथा मांसरस डालकर वातविकार में बस्ति दे।

२. शालपर्णी, पृश्निपर्णी बृहती, कटकारी और एरंडमूल इनका उपर्युक्त विधि से निरूह दे।

३. जौ, कुलत्थ, बेर, शालपर्णी इनका क्वाथ, चतुःस्नेह और मांसरस मिलाकर निरूह दे।[२२८]

४. गुडूचि, त्रिफला, रास्ना, दशमूल, बला, प्रत्येक एक पल (इस तरह १६ पल) लेकर मांस १६ पल ले, और १३६ पल पानी में उबाल कर चतुर्थांश क्वाथ करें। इसे छान ले। इससे ८ पल लेकर, प्रियंगु, मुस्ता, सैंधव सौंफ, वचा, पिप्पली, अजवाईन, कूठ, बिल्व इनका सूक्ष्म पीसा हुआ कल्क और गुड़ एक-एक तोला मिलावे, फिर मदनफल आधा पल, मधु, घी, दूध, शुक्त, कांजी, मस्तु और मूत्र इनके साथ घोलकर बस्ति दे। यह तेज, वर्ण, बल, उत्साह, वीर्य, अग्नि और प्राण को बढ़ाकर सभी वात रोगों को नष्ट करता है।[२२९]

पित्तविकार में निरूह

१. नलभूल, वंजूल (वेतस) वानीर (वेतस भेद जलवेतस), कमल, शैवल, इनके क्वाथ में शर्करा, घी, मधु और दूध मिलाकर बस्ति दे।

२. मंजिष्ठा, सारिवा, अनंता, सारिवा, पयस्या (क्षीरिणी) और यष्टीमधु इनकी बस्ति उपरोक्त प्रकार से दे।

३. लालचंदन, पद्माख, खस तुंग (पून्नाग) इनकी बस्ति उपर्युक्त प्रकार से (घी, दूध इत्यादि मिलाकर) दे। ये पित्त विकार में उपयुक्त है।[३३०]

४. कुश, काश, नल, दर्भ, इक्षु, मुस्ता, त्रिफला, नील कमल, अडूसा, सारिवा, खस, रास्ना, मंजीठ, रेणु (पर्पटक), फालसा, एक-एक पल लेकर क्वाथ करें। इसमें सिंघाड़ा कौंच, नागकेसर, अगुरु, चंदन, विदारी, सौंफ, मंजीठ, निशोथ, इंद्रजब, सैंधव, मैनफल, पद्माख, मुलेठी इनका कल्क मिलाकर मधु, दूध और घी के साथ घोलकर, निरूह दे। यह पित्तविकार, दाह, रक्तपित्त, पित्त गुल्म, रक्तप्रदर और ज्वर को दूर करता है।[३३१]

५. लोध्र, चंदन, मंजीठ, रास्ना, सारिवा, बला, ऋद्धि, काली सारिवा, अडुसा, गंभारी, मेदा, मुलेठी, पद्माख, लघुपंचमूल, तृणपंचमूल, प्रत्येक ३ कर्ष (३ तोला) लेकर क्वाथ करें। जीवक, काकोली, क्षीर काकोली, ऋद्धि, नील कमल, जीवंती, मेदा, पर्पटक फालसा, शतावरी, सैंधव, इंद्रजव, खस, पद्माख, कसेरू इनका कल्क शर्करा ३ पल, घी, मधु और दूध में घोल कर बस्ति दे। यह गुल्म, रक्तप्रदर, हृद्रोग, दांडु विषमज्वर, रक्तपित्त, अतिसार, और पित्त रोग को दूर करती है।

६. न्यग्रोधादि गण क्वाथ की बस्ति पित्त में दे।

कफविकारों में निरूह

१. अर्क (लाल मदार की जड़) मूल, अलर्क (सफेद मदार), पाठा, पुनर्नवा।

२. हल्दी, त्रिफला, पीतदार, कुटन्नट (केवटी मोथा)।

३. पिप्पली, चित्रक इनके क्वाथ में क्षार, गोमूत्र और मधु डालकर कफ विकार में बस्ति दे।[३३२]

४. कटफल, निंब, कुलत्थ, अर्क, तुरई, गुडूचि, देवदारु, सारिवा, कटेरी, पाठा, मूर्वा, आमलतास, इंद्रजल, इनका क्वाथ, वचा, मदनफल, सैंधव, सौंफ, देवदारु, इलायची, कूठ, पिप्पली, बिल्व, सोंठ इनका कल्क, सरसों का तेल, मधु, यवक्षार, मूत्र, तैल, कांजी, इनकी बस्ति—मेद, अग्निमांद्य, कफरोग, प्रमेह, कामला, पांडु, अरुचि गलगंड, गरविष, ग्लानि, श्लीपद रोग के लिए उत्तम है।[३३३]

५. आरग्वधादि गण के क्वाथ की बस्ति कफप्रकोप में दे।

पक्वाशय शोधन बस्तियां

१. मदनफल, जीमूतक, ईक्ष्वाकु, धामार्गव, कृतवेधन, वत्सक

२. श्यामा त्रिवृत, हरड़, बहेड़ा, आंवला, शालपर्णी, यंती, द्रवंती मूल

३. करंज, पूति करंज, नीलिनी, क्षीरिणी

४. सातला, शंखिनी, लोध्र, कांपिल्लक—इनके क्वाथ में गोमूत्र मिला कर बस्ति देने से पक्वाशय का शोधन करती है।[३३४]

शुक्र और मांसप्रद बस्ति

१. काकोली, क्षीर काकोली, मृद्वपर्णी, शतावरी

२. विदारी कंद, मुलेठी, सिंघाड़ा, कसेरु

३. कौंच के बीज, उड़द, गेहू और जौ

४. जलज मांस (मछली) आनूप मांस इनमें सिद्ध बस्ति शुक्र और मांस को बढ़ाती है।

ग्राही बस्ति

१. जीवंती, अग्निमंथ, धाय के फूल, कुटज और इंद्रजव

२. आमलतास, खैर, कुष्ठ, शमीम दनफल, जौ

३. प्रियंगु, लाजवंती, तरुणी (सेवंती), जूही

४. वटादि क्षीरि वृक्ष और लोध्र इनसे सिद्ध बस्ति ग्राही होती है

५. शाल्मली मूल क्वाथ, दूध और घी की बस्ति प्रवाहिका में।

जीवदान (जी) व रक्त के निर्गमन में बस्ति

१. बड़ी कटेरी, क्षीर काकोली, पृश्निपर्णी और शतावरी

२. गंभारी, बेर, दूध, खस और प्रियंगु इन दोनों बस्तियों में दूध, घी, रसांजन, मधु और खांड मिलाकर बस्ति दे।

३. हरिण, मुर्गा, मार्जार, महिष, बकरी इनके ताजे रक्त को जीवनीय गण क्वाथ या दूध के साथ मिलाकर बस्ति दे।

बलवर्णकृत बस्ति—(क्षीरबस्ति)—दूध २ प्रसृति (१६ तोला), मधु, तैल, घृत, एक-एक प्रसृति (८ तोला), इनको आलोडित कर बस्ति दे। यह बल वर्ण को बढ़ाती है और वातनाशक है। यह क्षीर बस्ति उत्तम बृंहण बस्ति है। उपर्युक्त प्रमाण को कुछ कम करके—दूध २ औंस, मधु १ औंस, घृत १औंस और तेल १ औंस मिलाकर बृंहण विधि से धीरे-धीरे देने पर परम लाभ करती है।

बृंहण विधि— बृंहण विधि के लिए इरिगेटिंग ट्यूब या ट्रान्स्फ्यूजन की ट्यूब मर्फीज ड्रॉपर के साथ संयुक्त कर एनिमा केन से संयुक्त करे। आतुर को पहले शोधन बस्ति देकर मल विसर्जन करावे। तत्पश्चात् यह बस्ति इस तरह दे कि उपर्युक्त मात्रा कुल १।। से २ घंटे के अंदर जाये। इस तरह दी हुई बस्ति वजन को बढ़ाती है, परिणामशूल को दूर करती है और इसमें मांसरस मिलाकर देनेपर शुक्र को भी बढ़ाती है। यह बस्ति वापिस नहीं आती—शोषित हो जाती है।

अन्य वातघ्न बस्तियां

(१) तैल, प्रसन्ना, मधु और घी इनसे एक-एक प्रसृति, बिल्वादि मूल क्वाथ २ प्रसृति, कुलत्थ क्वाथ २ प्रसृति मिलाकर दी हुई बस्ति वात को नष्ट करती है।

(२) पंचमूल क्वाथ से ५ प्रसृति, तैल २ प्रसृति, मधु और घी एक-एक प्रसृति मिलाकर दी हुई बस्ति स्नेहन करती है और वात का नाश करती हैं।[३३५]

(३) द्विपंचमूलादि बस्ति— दशमूल का क्वाथ, बकरे का मांस रस कांजी अम्ल द्रव्य, तीनों स्नेह (तेल, घी, वसा,) इनमें पूतो यवान्यादि कल्क मिलाकर बस्ति दे। यह सर्व वात व्याधि में उत्तम है।[३३६]

शुक्रकृत बस्ति—सैंधव आधा तोला, मधु, तैल, दूध और घी एक-एक प्रसृति (८ तोला)लेकर विधिवत् बस्ति दे, यह शुक्र को बढ़ाती है।

प्रमेह नाशक बस्ति— पटोल, नीम की छाल, चिरायता, रास्ना, सप्तपर्ण इनका क्वाथ ४ प्रसृति, घी १ प्रसृति, सरसू का कल्क मिलाकर बस्ति दे यह पंचतिक्त निरूह प्रमेह कुष्ठ और अभिष्यंद को दूर करता है।

कृमिघ्न बस्ति— विड़ंग, त्रिफला, शिग्रु, मदनफल, मोथा, दंती, इनका क्वाथ ५ प्रसृति, तैल १ प्रसृति, इनको मिलाकर विड़ग पिप्पली का कल्क मिलाकर बस्ति दे। यह कृमि का नाश करती है।

मूत्रकृच्छ्र बस्ति आनाह में बस्ति— गोक्षुर का क्वाथ १ प्रसृति, पाषाण भेद रस (या क्वाथ) १ प्रसृति, इनमें यष्टीमधु, रेणुका, पिप्पली, खांड इनका कल्क मिलाकर बस्ति दे। यह मूत्रकृच्छ्र तथा बस्ति आनाह में उत्कृष्ट हैं।

रक्तबस्ति— रक्तक्षय में अजादि प्राणियों के रक्त की बस्ति दे। यह बस्ति भी बृंहण विधि से (४ से ६ औंस मात्रा में— आस्कंध विरोधी तत्व मिलाकर) १।। से २ घटे में दी जाये तो तुरन्त लाभ करती है।

चक्षुष्य, दीपन तथा मांस बलप्रद बस्ति—शालपर्णी, आदि पंचमूल (लघु), बला, पटोल पत्र, त्रायमाणा, एरंड मूल, जौ, इनका क्वाथ २ प्रस्थ, बकरे का मांस रस १ प्रस्थ (६४ तोला) मिलाकर उबाल कर २ प्रस्थ शेष रखें। इसमें प्रियंगु, पिप्पली, मोथा इनका कल्क, तैल, घी, मधु और सैंधव लवण मिलाकर बस्ति दे। यह बस्ति दीपन, चक्षु के लिए बलप्रद तथा मांस बलप्रद हैं।

दीपन लेखन बस्ति[२३७]— (एरंडबस्ति)—एरंडमूल ३ पल (१२ तोला) पलाश, लघुपंचमूल, रास्ना, अश्वगंधा, अतिबला, बिलोय, पुनर्नवा, आरग्वध, देवदारु प्रत्येक १ पल, मदनफल ८, जल आढक (१०२४ तोला) अवशिष्ट क्वाथ २ प्रस्थ (१२८ तोला) इसमें आधे हपुषा, प्रियंगु, पिप्पली, यष्टीमधु, वचा, रसौत, इंद्रजौ, मोथा प्रत्येक १ कर्ष, सैंधव १ कर्ष मिलाकर मधु तेल और गोमूत्र मिलाकर बस्ति दे। यह दीपन और लेखन बस्ति है। तथा जंघा, उरु, पाँव त्रिक्, पृष्ठ, इनके शूल, कफ द्वारा वात का आवरण, मलसंग, मूत्रसंग, आध्मान, शर्करा, आनाह, अर्श ग्रहणी इनको दूर करती है।

शिरःशूल नाशक बस्ति— बकरे का मांस रस ५० पल, इसे तेल और घी, (४ पल) में भूने और दही तथा अनार का रस मिलाकर बस्ति दे। यह शिरःशूल को नष्ट करती है, तथा बल, मांस, वीर्य और अग्नि को बढ़ाती है।

योनिदोष—उदावर्त—गुल्म में बस्ति— पलाश ८ पल लेकर २५६ पल जल में पकावे। ६४ पल शेष रखें। इसमें वचा, पिप्पली १ पल, सोया २ पल, सैंधव, मधु, तेल (यथा योग्य) मिलाकर बस्ति दे। यह बलबर्ण कारक है। योनिदोष, उदावर्त, गुल्म, आनाह, पार्श्वशूल इसे दूर करती है।

विसर्प में बस्ति— यष्टीमधु ८ पल, दूध में सिद्ध करें। इसमें मदनफल, पिप्पली का कल्क, घी तथा मधु डालकर विसर्प में बस्ति दे।

दौष संसर्ग में बस्ति— पुनर्नवा, एरंडमूल, अडूसा, पाषाण भेद, श्वेत पुनर्नवा, भृंगराज, बलामूल, पलाश, दशमूल प्रत्येक का एक पल, मदनफल ८, बिल्व, जव, कुलत्थ, धनिया प्रत्यके १ प्रसृति, दूध २ प्रस्थ (१२८ तोला) और जल २ प्रस्थ मिलाकर दुग्ध शेष (२ प्रस्थ) पकावे। छानकर इसमें—वचा, सोया, देवदारु, कुष्ठ, यष्टी, सरसों, पिप्पली, अजवाईन, मदनफल इनका कल्क, (१ तोला) डाले। मधु, तेल और घी (३ प्रसृति) मिलाकर बस्ति दे। यह दोष संसर्ग तथा तीनों दोषों में लाभप्रद है। (शमन बस्ति)

लेखन बस्ति[२३८]—त्रिफला का क्वाथ, गोमूत्र, मधु, क्षार (यव) इनमें ऊषकादि गण का प्रक्षेप डाल कर बस्ति दे। यह लेखन करती है।

चक्षुष्य बस्ति— माधुतैलिक बस्ति में यष्टीमधु मिलाकर दी हुई बस्ति नेत्र को हितकारक होती है।[२३९]

माधु तैलिक बस्ति— मधु और तेल समान भाग (४ औंस), सैंधव १ तोला, सौंफ २ तोला इनको एरंड मूल क्वाथ (१६ औंस) में मिलाकर दी हुई बस्ति 'माधुतैलिक बस्ति' कहलाती है। यह रसायन है, प्रमेह, गुल्म, अर्श, कृमि आंत्रवृद्धि इनको दूर करती है।

युक्तरथ बस्ति— एरंड मूल के क्वाथ (१६ औंस) में मधु, तेल, सैंधव, वचा, पिप्पली और मदनफल मिलाकर बस्ति दे। इसे युक्तरथ बस्ति कहते हैं।

सिद्ध बस्ति— पंचमूल का क्वाथ, तिलतैल, पिप्पली, मधु, सैंधव, मुलेठी इनसे दी गई बस्ति सिद्ध बस्ति कहलाती है।

बृंहण बस्ति[२४०]— विदारी गंधादि बृंहण द्रव्यों के क्वाथ में काकोल्यादि गण का प्रक्षेप देकर मांसरस, घी, मिलाकर बस्ति दे। यह बृंहण बस्ति है।

उत्क्लेशन बस्ति— एरंड बीज, यष्टीमधु, पिप्पली, सैंधव, वचा, हपुषा, मदनफल, इनके कल्क से दी हुई बस्ति उत्क्लेशन बस्ति (दोषों को उत्क्लिष्ट करती है) कहलाती है।

दोषहर बस्ति— सौंफ, मुलेठी, इंद्रजौ, मदनफल, कांजी, गोमूत्र वाली बस्ति दोषहरण करती है।

शमन बस्ति— प्रियंगु, यष्टीमधु, मोथा, रसांजन, इनसे सिद्ध दूध की बस्ति शमन करती हैं।

यापन बस्तियाँ[२४१]— नीचे लिखी हुई सभी बस्तियां यापन बस्ति कहलाती हैं। ये वीर्य को बढ़ाती हैं, बल, मांस को बढ़ाती हैं। ये रसायन एवं बाजीकरण दोनों प्रकार की होती हैं।

१. **मुस्तादि यापन बस्ति**— मोथा, खस, बलामूल, आरग्वध, रास्ना, मंजिष्ठा, कटुका, त्रायमाणा, पुनर्नवा, बहेड़ा, गुडूची, स्थिरादि, पंचमूल, (शालीपर्णी आदि लघु पंचमूल), प्रत्येक १ पल लेकर, ८ फल (मदन), इनको २ आढक जल में (५१२ तोला) पकाकर चतुर्थांश २ प्रस्थ (१२८ तोला) शेष रखे। इसमें १ प्रस्थ जांगल मांसरस मिलावे, मधु और घी समभाग (२ प्रसृति) डाले, और सोये, यष्टीमधु, इंद्रजौ, रसांजन, प्रियंगु इनका कल्क १ तोला मिलाकर, सैंधव (१ तोला) मिलाकर सुखोष्ण बस्ति दे। यह वीर्य, मांस, अग्नि को पैदा करती है। क्षतक्षीण, कास, गुल्म, शूल, विषमज्वर, ब्रध्न, वातकुंडलिका, उदावर्त, कुक्षिशूल, मूत्रकृच्छ्रलिका, असृग्दर, विसर्प, प्रवाहिका, शिरोवेदना, जानुजंधा

बस्ति का जकड़ जाना, उत्माद, अर्श, प्रमेह, आध्मान, वातरक्त, तथा कफ और पित्त रोगों को दूर करता है। यह बल जनन तथा रसायन बस्ति है।

२. शालिपर्ण्यादि यापन बस्ति— शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, बड़ी कटेरी, छोटी कटेरी, प्रत्येक १ पल लेकर २ आढक (५१२ तोला) दूध में पकावे चतुर्थांश (१२८ तोला) शेष रख छानकर शतपुष्पादि कल्क डालकर, सैंधव नमक, तिलतेल, मधु, घृत इनको मिलाकर बस्ति दे। यह बस्ति सबको हितकर हैं। विशेषत: स्त्रीभोग से क्षीण, उर:क्षत, अर्श, तथा अत्यंत कामी पुरुषों के लिए यह बस्ति देना चाहिये।

३. सहचरादि बस्ति— सहचर, बलामूल, दर्भमूल, तथा सारिवा इनसे सिद्ध दूध तथा बृहती, कण्टकारी, शतावरी, गुडूची इनसे सिद्ध दूध, यष्टीमधु, मदनफल तथा पिप्पली का कल्क डालकर पूर्वोक्त प्रकार से दे।

४. बलादि यापन बस्ति— बला, अतिबला, विदारीकंद, शालपर्णी, पृश्निपर्णी दोनों कटेरी, दर्भमूल, यव, फालसा, गंभारी, बिल्वमूल, इनसे सिद्ध दूध इनमें यष्टी, मदनफल कल्क डालकर मधु, घी, सुवर्चल मिलाकर बस्ति दे। यह बस्ति, कास, ज्वर, गुल्म, प्लीहा, अदित, स्त्रीक्लिष्ट मद्यक्लिष्ट पुरुषों को तुरन्त बल उत्पन्न करती है।

५. द्वितीय बलादि बस्ति— बला, अतिबला, अमलतास, मैनफल, बिल्व, मज्जा, गुडूची, पुनर्नवा, एरंडमूल, अश्वगंधा, सहचर, फ्लाश, देवदारु, दशमूल, प्रत्येक एक पल, यव, कोल, कुलत्थ प्रत्येक २ प्रसृति, सूखी मूली २ प्रसृति, इन्हें एकत्र २ द्रोण जल में पकावे। तीन निरूह के प्रमाण में (१५ प्रसृति) शेष रहने तक पकावे। फिर छान ले। इसमें यष्टीमधु, मदनफल, शतपुष्पा, कुष्ठ, पिप्पली, वचा, कुटज, रसांजन, प्रियंगु, अजवाईन, इनका कल्क, गुड़, घी, तेल, मधु, मांसरस, अम्ल कांजी, सैंधव मिलाकर सुखोष्ण बस्ति दे। क्वाथ ५ प्रसृति ले और अन्य तेल, घी, मधु, मांसरस एक-एक प्रसृति। इस तरह ३ दिन तक बस्तियाँ (१५ प्रसृति) दे। यह वातज वीर्यावरोध, मूत्रावरोध, मलावरोध, वात संग, गुल्म, हृद्रोग, आध्मान, ब्रघ्न, पार्श्व पृष्ट, कटिग्रह, संज्ञानाश और बलक्षय में प्रयोगार्ह है।

६. हपुषादि बस्ति— हपुषा हाउबेर आधा कुडव (८ तोला) आधे कूटे हुए जव—१ कुडव (१६ तोला) इनमें दूध और जल मिलाकर क्षीर शेष पकावे। (२४ तोला जल+२४ तोला दूध मिलाकर २४ तोला शेष रखे) इसमें मधु, घी, तेल और नमक मिलाकर बस्ति दे। (मधु, तेल, घी इनका प्रमाण न कहने पर एक प्रसृति ८ तोला प्रत्येक का प्रमाण ले) यह बस्ति सर्वांग में व्याप्त वातरक्त, विट्संग, मूत्रसंग, स्त्री प्रसक्त इन में प्रशस्त है, यह बुद्धि, मेधा, तथा बल को उत्पन्न करती है।

७. पंचमूल्यादि बस्ति— लघु पंचमूल के क्वाथ में दूध और जल डाल कर क्षीर शेष पकाकर, पिप्पली, यष्टी, मदनफल का कल्क, घी, गुड़, तिलतेल, और सैंधव मिलाकर बस्ति दे। क्षीण, विषमज्वर, तथा कृशों में यह प्रशस्त है।

८. बलाद्य (तीसरी) बस्ति— बला, अतिबला, कौंच के बीज, अपामार्ग मिलाकर ८ पल (प्रत्येक २ पल = ८ तोला), अधकुटे जव १ अंजली (४ पल) इनके क्वाथ से पूर्ववत् (कल्क और तेल आदि) मिलाकर बस्ति दे। यह यापन बस्ति— वृद्ध, दुर्बल, क्षीण शुक्र, क्षीण रक्त के लिए पथ्यतम है।

९. बलादि (चौथी) बस्ति— बला, यष्टीमधु, विदारी कंद, दर्भमूल, द्राक्षा और जव इनके क्वाथ को बकरी के दूध में पकाकर दुग्ध शेष रख (१० पल क्वाथ + १३ पल दूध— शेष १० पल) छानकर यष्टीमधु, मदनफल का कल्क, मधु, घी और सैंधव मिलाकर बस्ति दे। यह ज्वरपीड़ित में प्रशस्त है।

१०. शालपर्णी आदि बस्ति (दूसरी)— शालिपर्णी, पृश्निपर्णी, गोक्षुर, गंभारी, फालसा, पिंडखजूर, महुए के फूल, इसमें बकरी का दूध २ प्रस्थ, जल २ प्रस्थ मिला कर क्वाथ सिद्ध कर, (१प्रस्थ), छानकर, पिप्पली, नीला कमल यष्टीमधु का कल्क घी और सैंधव मिलाकर बस्ति दे। यह क्षीणेंद्रिय तथा विषमज्वर से कृश व्यक्ति में प्रशस्त है।

११. पंचमूलादि बस्ति— (द्वितीय)— लघु पंचमूल ५ पल, (प्रत्येक १ पल), साठी के चावल, गेहूं, उड़द, जौ मिलित ५ प्रसृति (प्रत्येक १ प्रसृति २ पल) इनमें बकरी का दूध मिलाकर पकावे। चतुर्थांश शेष में मुर्गी के अंडे का रस मधु, घी, खांड, सैंधव, सौवर्चल मिलाकर बस्ति दे। यह बस्ति अत्यंत वृष्य तथा बलवर्धक हैं।

१२. पंचमूलादि बस्ति—(तीसरी) इसी प्रकार से सिद्ध क्वाथ में मोर, गोनर्द (सारस या घोडाकंक) और हंस के अंडों का रस मिलाकर बस्ति दे।

इस तरह ये १२ बस्तियाँ यापन बस्तियां है। यापन बस्ति में २ स्नेह बस्ति का भी समावेश किया गया है—उनका आगे उल्लेख है।

रसायन एवं बाजीकरण बस्तियां— चरक ने १२ यापन बस्ति के बाद आगे और १४ बस्तियां वर्णित की है, इनमें प्राय: दशमूल क्वाथ, कौंच, और भिन्न-भिन्न प्राणियों के मांसरस, उनके अंडे का रस, उनके वृषण, इत्यादि के साथ मधु, घी, तैल तथा कल्क द्रव्य मिलाकर प्रयोग किया है। अध्याय के अंत में कुल २९ बस्तियाँ (१२ यापन बस्ति, १४ मांसरसादि युक्त बस्ति और ३ वृष्य स्नेह) गिनी है, जिनका विस्तार करने पर ३१६ बस्तियां होती हैं। इनमें विष्किर पक्षियों के मांस से २०, प्रतुद पक्षियों के मांस से ३० इत्यादि प्रकार से प्राणि भेद से अलग-अलग बस्तियां होती है। इसमें सामानय कल्पना यह है कि क्वाथ (१० पल तक) में मांसरस, मधु, तैल, घी इत्यादि (एक-एक प्रसृति) मिलाकर बस्ति दी जाती है।

प्रयोग सौकर्य के लिए निरूह में सामान्यत:, क्वाथ १६ औंस (४० तोला अर्थात् १० पल) लेकर, मधु, तैल, घी (१ प्रसृति—कुल ३ प्रसृति—अर्थात् प्रत्येक से ८ तोला करीब ४ औंस), और कल्क द्रव्य १ तोला मिलाकर बस्ति देना चाहिये। जिससे प्रायश: बस्ति मान २४ से ३२ औंस तक होता है। बृंहण प्रयोजन में कम मान देना उचित है। उपर्युक्त मांसरसादि युक्त बस्ति के कुछ उदाहरण यहां दिये हैं।

१. लघु पंचमूल से सिद्ध दूध में, तित्तर, मयूर, राजहंस का मांसरस तथा रास्ना, मदनफल, पिप्पली, इंद्रजौ इनका कल्क मिलाकर बस्ति दे। (घी, तैल, गुड़ के साथ)। यह बस्ति बल, वीर्य तथा वर्ण उत्पन्न करती है।

२. दशमूल और कुक्कुट मांस से दूध सिद्ध करे। चतुर्थांश शेष रख कर, पिप्पली, यष्टीमधु, रास्ना, मदनफल, इनका कल्क, खांड, मधु और घी मिलाकर बस्ति दे। यह अति कामी पुरुषों के लिए बलजनक बस्ति है।

३. कर्कट (केकड़ा) के मांसरस में चिड़ियों के अंडे का रस, मध, घी और खांड मिलाकर दी हुई बस्ति अत्यंत वृष्य कही गई है।

इस तरह आगे भिन्न-भिन्न प्राणियों के मांस, अंडे, वृषण, इत्यादि की संयुक्त बस्तियां सिद्धि स्थान के १२ वें अध्याय में कही है। यह सब गवेषणा का विषय है।

प्रयोग से— दशमूल क्वाथ, कुक्कुट मांसरस (या अजामांस) से सिद्ध दूध युक्त बस्ति (४ से ६ औंस प्रमाण में बृंहण विधि से देनेपर) अत्यंत वृष्य सिद्ध हुई है ऐसा अनुभव है।

अनुवासन बस्तिकल्प

१. दशमूलादि अनुवासन— तिल तैल २ आढक (५१२ तोला), दशमूल, बला, रास्ना, अश्वगंधा, पुनर्नवा भारंगी, वासा, रोहिष तृण, शतावरी, सहचर, काकनास, प्रत्येक एक पल (४ तो), जौ, उड़द, बेर, कुलत्थ, अलसी, प्रत्यके २ पल (८ तोला) इन्हें एकत्र कर ८ द्रोण जल में पकावे। २ द्रोण शेष रखे, फिर क्वाथ छान ले। इसमें जीवनीय गण की प्रत्येक औषधि १ पल डालकर तैल सिद्ध करे। इस तैल से अनुवासन देने पर वातरोग नष्ट होते हैं।

२. दशमूलादि तैल में आनूप प्राणियों की वसा, तथा जीवनीय गण का कल्क मिलाकर अनुवासन दे।

३. शताह्वादि तैल— शतपुष्पा, तिल तैल, यव, बिल्व तथा अम्ल कांजी से सिद्ध तैल का अनुवासन वात दोष में दे।

४. जीवंत्यादि अनुवासन— तिल तैल, घी इसमें चौगुना दूध मिलाकर जीवंती मदनफल, मेदा, मुंडी, मुलेठी, वसा, सोयो, ऋषभक, पिप्पली काकनासा, शतावरी, कौंच के बीज, क्षीर काकोली, काकड़ा सिंगी, कचूर, बचा, इन कल्कों के साथ यथाविधि तैल सिद्धकर बस्ति दे। यह अनुवासन वीर्य और रजोदोष को दूर कर बल बढ़ाता है और पुत्रोत्पादक है।

५. चंदनादि अनुवासन[२४१]— चंदनादि शीत द्रव्य, घी, तैल, तथा चतुर्गुण दूध मिलाकर सिद्ध तैल से पित्त में अनुवासन दे।

६. विडंगादि अनुवासन— विडंग, एरंडमूल, हलदी, पाटोलपत्र, गुडूचि, चमेली के पत्ते निर्गुण्डी, दशमूल आखुपर्णी, नीम की छाल, पाठा, सहचर, आरग्वध, कनेर की जड़, इनके क्वाथ में मदनफल, बिल्व, निशोथ, पिप्पली, रास्ना, चिरायता, देवदारु, सप्तपर्णत्वक्, वचा, कुष्ठ, दारुहरिद्रा, खस, इंद्रजल, मंजिष्ठा, हलदी, सोये, चित्रक, कचूर, चोरक, पुष्कर मूल, इनके कल्क से यथा विधि तैल पकावे। यह अनुवासन कृमि, कुष्ठ, प्रमेह, अर्श, ग्रहणी, नपुंसकता, अग्निवैषम्य, आदि को नष्ट करता है।

७. मृणालादि अनुवासन[२४३]— कमलनाल, कमल, कमलकंद, सारिबा (दोनों), केसर, चंदन, लालचंदन, चिरायता, कमलगट्टा, कसेरु, पटोल, कुटकी, मंजिष्ठा, पित्त पापड़ा, अडूसा इनके कल्क से, पंचतृण मूल क्वाथ और तिगुना, दूध मिला कर तैल सिद्ध करे। यह पित्तजन्य रोगों में उपयुक्त है। इन्हीं से घृत बनाकर बस्ति में प्रयोग कर सकते हैं।

८. शताह्वादि बस्ति[२४४] — सौंफ, करंज इनके कल्क में कांजी और तिलतैल मिलाकर तेल सिद्ध का वात दोष में बस्ति दे।

९. केवल घृत बस्ति— लाल होने तक सैंधव गरम कर उसमें घी को पिघलाकर गरम घी से बस्ति दे। यह वातनाशक है।

इनके अतिरिक्त चंदनादि तैल, पद्मकादि तैल, नारायण तैल, सहचर तैल, क्षीरबला तैल, धान्वंतर तैल, शतावरी तैल इत्यादि से अनुवासन यथायोग्य आतुर में देना चाहिये।

वृष्यतम स्नेह[२४५]— ये तीन स्नेह अनुवासनार्थ परम दृश्य कहे गये हैं।

१. शतावरी, गुडूचि, इक्षु, विदारी, अम्लक, द्राक्षा, खजूर, इनका रस १ प्रस्थ, घी, तैल, गाय का दूध, भैंस का दूध, बकरी का दूध, प्रत्येक ४ प्रस्थ, जीवक, ऋषभक, मेदा, महामेदा, वंशलोचन, सिंघाड़ा, मधूलिका, मूलेठी, उच्यटा पिप्पली, पुष्करबीज, नीलोत्पल, कदंब फूल पुंडरीक, केसर, पद्मकेसर, इनका कल्क स्नेह से चतुर्थांश, चित्तल का मांसरस, तरक्षु (व्याघ्र मेद), कुकुट, मांसरस चरक, चकोर, मत्ताक्ष, (कोयला), मोर, जीवंजीवक, (पक्षी), कुलिंग, हंस इनके अंडों का रस, तथा वसा, मज्जा २ प्रस्थ डालकर सिद्ध करे। यह अनुवासन अत्यंत वृष्य है, क्षत क्षीण, रक्तगुल्म, मृतांपत्या (जिसकी संतान जन्मोत्तर तुरन्त मरती है, अनार्तवा, क्षीण मांसरस युक्त आतुर में देना चाहिये।

२. बला गोखरू, रास्ना, शतावरी सहचर, प्रत्यके १०० पल ले, और कुचल कर २०० द्रोण जल में पकावे। २ द्रोण शेष रखे। वस्त्र से छान ले। इसमें विदारी कंद का रस २ प्रस्थ, आंवले का रस २ प्रस्थ, बकरा, भैंसा, सूअर, सांड, इनके वृषण का रस प्रत्येक दो प्रस्थ, मुर्गा, मोर, हंस, सारस, इनके अंडों का रस २, प्रस्थ घी २प्रस्थ, तैल २ प्रस्थ, दूध १६ प्रस्थ डालकर, लाल चंदन, यष्टी, वंशलोचन, कमलमूल, नीलोत्पल, पटोलपत्र, कौंच, अन्नपाकी, (नील झिंटी,) लाल, पिंडखजूर, द्राक्षा, भूमि आमलकी, कंटकारी, जीवक, ऋषभक, क्षुद्रसहा, महासहा, शतावरी, मेदा, ह्रीबेर (गंधवाला), दालचिनी, तेजपत्र, इनका कल्क डालकर सिद्ध करें। इस स्नेह से अनुवासन दे। यह बल, वीर्य, आयुष्यवर्धक है। वलीपलित नाशक है। क्षतक्षीण, नष्टवीर्य विषमज्वर, योनि व्यापद से पीड़ितों में प्रशस्त होती है।

३. सहचर १०० पल को ८ द्रोण जल में पकावे, २ द्रोण शेष रखे। छानकर इसमें विदारीकंद का रस २ प्रस्थ, इक्षुरस २ प्रस्थ, दूध १६ प्रस्थ, घी २ प्रस्थ, तिल तैल २ प्रस्थ, बला, मुलेठी, महुवे के फूल, लालचंदन, जलज मुलेठी, सारिवा, मेदा, महामेदा, काकोली, क्षीर काकोली, पयस्या (क्षीर—विदारी), अगर मंजिष्ठा, कपूर, सहचर, दूर्बा, दालचिनी इनका प्रत्येक का कल्क १ तोला, खांड २ तोला, मिलाकर स्नेह पाक विधि से स्नेह तैयार करें। यह तैल अनुवासन में प्रयोग करने से रसायन करता है, क्षतक्षीण, श्वास में लाभ करता है मधु के साथ वलीपलित को नष्ट करता है।

नोट— ये सभी अनुवासन तैल अत्यंत रसायन गुणवाले हैं। इनका शतपाक और सहस्रपाक स्नेह तैयार कर उपयोग करने से इनके गुणों में अतीव लाभ होता है।

उत्तरबस्ति कल्प[२४६]

१. गंभारी, कुटज, इनका क्वाथ तथा घृत मिलाकर उत्तर बस्ति में प्रयुक्त करने से अरजस्का और पुत्रघ्नी योनि में लाभ होता है। अथवा तत्सिद्ध घृत का प्रयोग करें।

२. दशमूल सिद्ध तैल की तथा त्रिवृत सिद्ध तैल की उत्तर बस्ति महायोनि, उदावृत्ता योनि में दे।

३. हरिण, बकरी, और सूअर के रक्त को खट्टे दही, मधु और घी के साथ मिलाकर उत्तर बस्ति अरजस्का योनि में देने का वृद्धवाग्भट निर्देश करते हैं।

४. तिलतैल या यथायोग्य सिद्ध तैल से अचरणा, शुष्का, कर्णिनी तथा प्राक्चरण योनि में उत्तर बस्ति दे ।

संदर्भ

१. १. अ.द.— बस्तिना दीयते इति बस्तिः।। अ.हृ.सू. १९-१ पर
२. बस्तिभिर्दीयते यस्मात् तस्मात बस्तिरिति स्मृतः। शा.उ.खं.५-१
२. "वाचस्पत्यम्"—लेखक तारानाथ भट्टाचार्य, पृ.४८६२, और ४८६४
३. च.पा—अत्र बस्ति शब्दो निरूह एव वर्तते। तद् व्यापदामेवात्र वक्तव्यत्वात।। च.सि.७-१पर

जेज्जट—बस्ति शब्दोऽत्र निरूहबस्तिः।।

४. व्रणनेत्रमष्टांगुलं मुद्धवाही स्रोत्रः।
व्रणमवेक्ष्य यथास्वं स्नेह कषाये विदधीत्। सु.चि.३५-१

५. तंत्रस्नेहादीनां कर्मणां बस्तिकर्म प्रधानतममाहुराचार्याः, कस्मात्?
अनेक कर्मकरत्वाद् बस्तेः। सु.चि.३५-१

६. इह खलु बस्तिर्नानाविध द्रव्यसंयोगात् दोषाणां संशोधन संशमन संग्रहाणि करोति। क्षीणशुक्रंवाजीकरोति, कृशं बृंहति, स्थूलं कर्शयति, चक्षुः प्रीणयति, बलीपलिनमपहंति, वयः स्थापयति। शरीरोपचयं वर्ण बलमारोग्यमायुषः करोति। परिवृद्धिश्च बस्तिः सम्यगुपासितः। सु.चि.३५-१,२

७. बस्तिर्वातेच पित्तेच कफे रक्तेच शस्यते।
संसर्गे सांन्निपाते चा बस्तिरेव हितः सदा।। सु.चि.३५-३

८. शाखागताः कोष्ठगताश्च रोगाः मर्मोर्ध्वसर्वावयवांगजाश्च।
ये संतितेषां नहि काश्चिदन्यों वायोः परं जन्मनि हेतुरस्ति।।
विण्मूत्रपित्तादि मलाशयानां विक्षेपसंघातकरः स यस्मात्।
तस्यातिवृद्धस्य शमाय नान्यद् बस्तिं विना भेषजमस्ति किंचित्।
तस्याचिकित्सार्धमिति ब्रुवन्ति सर्वा चिकित्सामपि बस्तिमेके।। च.सि.१-४०,४१

९. स दोषं निर्हरणात् शरीर दोषहरणाद्वा निरूहः।
वयः स्थापनात् आयुः स्थापनात् या आस्थापनम्।। सु.चि.३५-१८

१०. आस्थापनं निरूहो इत्यनर्थातरम्। तस्य विकल्पो माधु तैलिकः, तस्य पर्याय शब्दो यापनो, युक्तरथ, सिद्धिबद्धि बस्तिरिति।। सु.चि. ३५-१८

११. यस्मान्मधु च तैलं च प्राधान्येन प्रदीयते।
माधु तैलिकमित्येषं भिषग्भिर्बस्तिरिष्यते।
रथेष्वपि युक्तेषु हस्त्यश्वेचापि कल्पिते।
यस्मात्रा प्रतिषिद्धोऽयमतों युक्तरथः स्मृतः।
बलोपचय वर्णानां यस्माद् व्याधिशतस्य च।
भवत्येतेन सिद्धिस्तु सिद्धबस्तिरितो मतः।। सु.चि.३८-११४से ११६

१२. यापनास्तु बस्तयः सर्वकार्ल देयाः। चि.सि.१२-१५
च.पा.—आयुधो यापन दीर्घकालानुवर्तनं कुर्वतीति यापना बस्तयः।।

१३. त्रिविधश्च सः। निरूहोऽन्वासनो बस्तिरुत्तरः।। अ. ह.सू. १९-१

१४. तत्र द्विविधो बस्तिः नैरूहिको स्नैहिकश्च। सु. चि. ३५-१८

१५. अनुवसन् अपि न दुष्यत्यनुदिवसं वा दीयत इत्यनुवासनः।। सु. चि. ३५-१८

१६. यथावयोः निरूहाणां याः मात्राः परिकीर्तिताः।
पादावकृष्टास्ताः कार्याः स्नेहबस्तिषु देहिनाम्।। चि. ३७-२

१७. ड.—तंत्रांतरेप्युक्तं "षट्पली तु भवेज्जेष्ठा त्रिपली मध्यमा भवेत्।
कनोयस्यार्ध पलिका त्रिधा मात्रानुवासने।
अध्यार्द्धावकृष्टास्ताः कार्या इति अन्यं पठंति।
तत्रापि अर्द्धस्यार्द्धश्चतुर्थों भाग एवेति स एवार्थः।। सु. चि. ३७-२ पर

१८. च.पा.—.....अनेन सार्धपलमानो मात्रा बस्तिरुक्तो भवति, तत्र हि षट पलः स्नेह बस्तिः, अनुवासनं तु त्रिपलं।। च. सि. ४-५४ पर

१९. ह्रस्वया: स्नेहमात्रायाः मात्राबस्तिः समो भवेत्। च.सि. ४-५३ पर

२०. तस्यापि (अनुवासनस्यापि) विकल्पी अर्धार्द्धमात्रावकृष्टोऽपरिहार्यो मात्रा बस्तिरिति।। चि.३५-१८

२१. स्नेहबस्ति विकल्पः अनुवासनः पादावकृष्टः।। चि. ३५-
डल्हण–शोधन द्रव्य संयुक्तो निरूहः शोधनः, सर्वनिरूहान्वासनधर्मोऽयम्।
द्रव्यविशोषात्तु क्वचिच्छोधनादीनामुत्कर्षापकर्षो।
जेज्जटाचार्यस्तु स्नेहनो बृंहणो इति पठित्वां निरूहस्य कर्मेति वर्णयति।

२२. उत्क्लेशन शुद्धिकरं दोषाणां शमनं क्रमात्।
त्रिधैव कल्पयेद् बस्तिमित्यन्येऽपि प्रचक्षते।। अ. हृ. सू. १९-६१

२३. त्रिंशन्मताः कर्मसु बस्तयो हि कालस्ततोर्धेन ततश्च योगः।
सान्वासनाः द्वादश वै निरूहाः प्राक्स्नेह एकः परतश्च पंच।।
काले त्रयोंते, पुरस्तथैलः स्नेहानिरूहांतरिताश्च षट् स्युः।
योगे निरूहाश्च त्रय एव देयाः स्नेंहाश्च पंचैव परादिमध्या।।
च. सि. १-४७, ४८

च. पा. —कालस्ततोर्धेनेत्यत्र अर्धशब्दो न समप्रतिवचनः तेन त्रिंशदर्ध षोडश भवंति।. . . .कर्मादि संज्ञा च तंत्रांतरे। तथाहि जतुकर्ण,— बस्तयस्त्रिंशत् षोडशाष्टी च कर्मकालयोगाः निरूहाः स्नेहांतरिता द्वादशषट् त्रयः एक स्नेहारंभा पंचत्रयेकांताः इति। हारीतेऽपि "त्रिंशकं कर्म बुधा वदंति" इत्युक्तम्।।

२४. कालः पंचदर्शकोऽत्र पाक् स्नेहोंऽते त्रयस्तथा।
षट् पंच बस्त्यंनरिताः।। अ. ह. सू.१९-६४

२५. योगोष्टौ बस्तयोत्र तु।। अ. ह. सू. सू. १९-६४

२६. मैथुनजानां जीवनीय सिद्धयोः क्षीर सर्पिषरुपयोगः तथा वातहरा स्वेदा - भ्यंगोपनाहा वृष्याश्चाहाराः स्नेहविधयो यापना बस्तयोऽनुवासनं च
..... यापनाश्च बस्तयः सर्वकालं देयाः।। च. सि. १२-१५

(देखें-संदर्भ १२)

२७. सिद्धानामिति प्रसिद्ध फलानां तेषुतेष्विति वक्ष्यमाण वात गदादिषु।
सिद्धमिति बस्ति निष्पादिका किंवा बस्त्याभिधायक प्रंथम्।।
च. सि. १०-३ पर च. पा.

२८. च. पा.—प्रसृतोपलक्षिता: योगा: नानाधिकृत्य कृतासिद्धि: तेन
प्रसृतोपलक्षिताऽप्यत्र योगा: वक्तव्या एव। च. सि. ८-२ पर च. पा.

२९. अत: ऊर्ध्व द्वादश प्रसृतान् वक्ष्याम:।। दत्वाधौ सैंधवस्याक्षं मधुन:
प्रसृति द्वयं . . .एवं प्रकल्पितो बस्तिर्द्वादशप्रसृतोभवेत्।। सु. चि. ३७-३९
जेष्ठाया: खलु मात्राया: प्रमाणीमदमीरितम्।। सु. चि. ३८-४०

३०. मृदुत्वात् पादहीनत्वात् कृत्स्नाविधि सेवनात्..... ।
सु. चि. ३८-११८

३१. मृदुर्बस्ति: प्रयोक्तव्यो विशेषात् बालबुद्धयो:।
तयो: तीक्ष्ण प्रयुक्तस्तु बस्तिर्हन्याद् बलायुषी।। सु. चि. ३५-१०

३२. (१) रक्ते रक्तेन।। च. सि. ८-२६
च.पा.—रक्ते रक्तेनेति लरक्तेऽतीसार्यमाणे रक्तेन बस्तिर्देय:।।
(२) तदेव दर्भमृदितं रक्तं बस्तिं प्रदापयेत्।। च. सि. ६-८३

३३. आस्थापनेषु तु भूयिष्ठ कल्पानि द्रव्याणि यानि योगमुपयांति तेषु तेष्वतस्थांतरेषु आतुराणां, तानि द्रव्याणि नामतो विस्तरेणोपदिश्यमाना-न्यपरिसंख्येयमानानिस्यु: अतिवहुत्वात्। इष्टश्चानति संक्षेप विस्तरेणोपदेशस्तंत्रे। इष्टं च केवलं ज्ञानं। तस्माद्रसत एव तान्यत्र व्याख्यास्यंते। रससंसर्ग विकल्प विस्तरो ह्येषामपरिसंख्येय:। समवेतानां रसानां अंशांशबल विकल्पातिबहुत्वात्। तस्माद्द्रव्याणांचैकदेशमुदाहरणार्थ रसेष्वनृविभज्य रसैककश्येन रसकैवल्येन च नाम लक्षणार्थ षडास्थापन स्कंधा: रसतोनुऽविभज्य व्याख्यास्यंते।।
च. वि. ८-१४१

३४. फलिनी: शृणु। .....धामार्गवमथेक्ष्वाकु जीमूतं कृतवेधनं।
मदनं कुटजं चैव त्रपुष हंस्तिपर्णिनी।
एतानि बमने चैव योज्यान्यास्थापनेषु च।। च. सू. १-८३, ८४

३५. सर्पिस्तैलं वसा मज्जा स्नेहैर्द्विष्टश्चतुर्विध:।
पानाभ्यंजन बस्त्यर्थ नस्त्यार्थ चैव योगत:।। च. सू. १-८७

३६. अविमूत्रमजामूत्रं गोमूत्रं माहिषं च यत्।
हस्तिमुत्रमथोष्ट्रस्य ह्ययस्य च खरस्य च।
..... युक्तं आस्थापने मूत्रम्।। च. सू. १-१४, १५

३७. पाटलां चाग्निमंथंश्च विल्वं श्योनाकमेव च।
काश्मर्य शालपर्णी च पृश्निपर्णी निदिग्धिकाम्।
बलां श्वदंष्ट्रां बृहतीमेरंड सपुनर्नवम्।
यवान् कुलत्थान कोलानिं गुडूचिं मदनानि च।
पलाशं कत्तुणं चैव स्नेहांश्च लवणानि च।

उदावर्ते विवंधे च युंज्यादास्थापनेषु च।
अतएवोषधगणान् संकल्प्यमनुवासनम्।। च.सू. २-११से १४

३८. त्रिवृतबिल्व पिप्पली कुष्ठ सर्षप वचा बत्सकफल शतपुष्प।
मधुक मदनफलानीति दशेमानि आस्थापनोपगानि भवंति।। च.सू. ४-२५

३९. रास्ना सुरदारु बिल्व मदन शतपुष्पा वृश्चीर पुनर्नवाश्वद्रंष्ट्राग्निमंथ श्योनाका इति दशेमान्युदवासनोपगानि भवंति। च. सू. ४-२६

४०. यत्तु षडविधमास्थापनंमेकरसमिति—आचक्षते भिषजस्तद दुर्लभतमं, संसृष्टरस भूयिष्ठत्वात् द्रव्याणाम्। तस्मान्मधुराणि च, मधुरप्रायाणि, मधुरविपाकानिच मधुर प्रभावानिच मधुरस्कंधे मधुराण्येव कृत्वा उपदेक्ष्यन्ते।।
च. दि. ८-१४२ से १४७

४१. सुखोष्णं घृततैल लवण वसा मज्ज फाणितोपहितं बस्तिं वातविकारिणे विधिज्ञो विधिवद्दद्यात्। शीतंतु मधु सर्पिभ्यामुप संसृज्य पित्तविकारिणे विधिबद्दद्यात् इति मधुर स्कंध:।। च. वि.८-१४२

४२. सुखोष्णं बस्तिं वातविकारिणे विधिज्ञो विधिवद्दद्यात् इति अम्लस्कंध:।
च. वि. ८-१४३

४३. एतानि अम्लोपहितानि—उष्णोदकोपहिताभि वा स्नेहवंति सुखोष्णं बस्तिं वातविकारिणे विधिज्ञो विधिवद्दद्यादिति लवणस्कंध:।
च. वि. ८-१४४

४४. यथावन्मधु तैल लवणोपहितं सुखोष्णं बति श्लेष्मविकारिणे विधिज्ञो विधिवद्दद्यादिति कटुक स्कंध:
च. वि. ८-१४९

४५. च. वि. ८-१५०

४६. च. वि. ८-१५१

४७. क्षीराण्यम्लानि मूत्राणि स्नेहा: क्वाथा: रसास्तथा।
लवणानि फलं क्षौद्रं शताह्वा सर्षपं बचा:
एला त्रिकटुकं रास्ना सरलो देवदारुच।
रजनी मधुकं हिंगु कुष्ठं संशोधनानि च॥
कटुका शर्करा मुस्ममुशीरुं चंदनं शटी।
मंजिष्ठा मदंन चंडा त्रायमाणा रसांजनम्॥
बिल्वमर्ध्य यवानीच फलिना शक्रजा यवा:।
काकोली क्षीरकाकोली जीवकर्षभकावु भी॥
तथा मेदा महामेदा ऋद्धिवृद्धिर्मधूलिका।
निरूहेषु यथा लाभं एष वर्गो विधीयते॥ सु.चि.३८-२४ से २८
(ड:—इदानीं बस्ति यौगिकानि द्रव्याण्युपदिशन्नाह से ये द्रव्य दोनों बस्ति में उपयोगी है)

४८. मदन कुटजलकुष्ठ देवदाली। मधुक वचा दशमूल दारु रास्ना:।
यवमिसी कृतवेधनं कुलत्था। मधु लवणं त्रिवृता निरूहणानि॥
अ. हृ. सू. १५-३

४९. . . . केषु च कश्च बस्ति: ?
के बस्तय केषु हिता इतीदं श्रुत्वोत्तरं प्राह वचो महर्षि:॥ च.सि. ३-५

५०. साध्या गदा: स्वै शमनैश्च केचित् कस्मात्प्रयुक्तैर्म शम् व्रजति। च. सि. १-५

५१. मेदो कफाभ्यामनिलो निरुद्ध: शूलांग सुप्तिश्वयथुन्करोति।
स्नेहं तु युँजन्नबुधस्तु तस्मै संवर्धयत्येव हि तान् विकारान्॥
रोगास्तथान्येऽप्यवितर्क्यमाणा: परस्परेणावगृहीत मार्गा:।
संदूषिता धातुभिरेव चान्यै: स्वैर्भैषजैर्नोपशमं व्रजति:॥ च. सि. १-५७, ५८

५२. (१) अनाथाप्यास्तु-अजीर्ण्यति स्निग्धमति स्नेहोक्लिष्ट दोषाल्पाग्निं यान-क्लांतातिदुर्बल क्षुतृष्ण: श्रमार्तातिकृश भुक्तभक्त पीतोदकवमितपिरिक्त-कृतनस्त: कर्म क्रुद्ध भीत यत्त मत्त मूर्च्छित प्रसक्तछर्दि निष्ठीविका श्वासकास हिक्काबद्ध छिद्रोदकोदराध्मानालसक विसूचिकामप्रजातामतिसार मधुमेह कुष्ठार्ता॥ च. सि. २-१४

(२) तत्रोन्माद भय शोक पिपासारोचकाजीर्णार्श: पांडुरोग भ्रममद मूर्च्छा छर्दि कुष्ठ मेदोहर स्थौल्य श्वासकास कंठशोष शोफोपसृष्ट क्षतक्षीण चतुस्त्रिमास गर्भिणी दुर्बलाग्न्यसहा बालवृद्धि वातरोगादृते नानुवास्या नास्थापयितव्या:।
सु. चि. ३५-२१

(३) अनास्थाप्या स्त्वति स्निग्ध: क्षतोरस्को भृशं कृश:। आयातिसारी बामिमान् सशुद्धो दत्तनावन:॥ श्वासकास प्रसेकार्शहिध्मानाल्पवह्नय:।
शूनपायु: कृताहारी बद्धछिद्र दकोदरी। कुष्ठीच मधुमेहीच मासान्सप्तच गर्भिणी॥ अ. ह्र. सु. ११-४, ५,६

५३. तत्र: जीर्ण्यतिस्निग्ध पीतस्नेनां दूष्योदरं मूर्च्छा श्वयथु वा स्यात्, उत्क्लिष्ट दोष मंदन्योररोचकस्तीव्र: यानवलांतस्य क्षोभ व्यापन्नो बस्तिराशु देहं शोषयेत। अति दुर्बल क्षुतृष्णा श्रमार्तानां पूर्वाक्तो दोष: स्यात् अतिकृशस्य कार्श्य पुनर्जनयेत् भुक्त-भक्त पीतोदकयो: उत्क्लिश्योर्ध्वमधो वा वायुर्बस्तिमुत्क्षिप्य क्षिप्रं घोरान् विकारान् जनयेत, वमित विरक्तयोस्तु रुक्षं शरीरं निरूहं: क्षतं क्षार इव दहेत्, कृतनस्त, कर्मणी विभ्रंशं भृशं संरुद्ध स्रोतस: कुर्यात्, क्रुद्ध भीतयो: बस्तिरुर्ध्वमुत्प्लवेत् मत्तमुर्च्छितयो: भृशं विचलिता यां संज्ञायां चित्तोपघातात व्यापत् स्यात्। प्रसक्त छर्दि श्वासकास निष्ठीविका हिक्कार्तानां ऊर्ध्वीभूतो वायु: ऊर्ध्व बस्ति नयेत्, बद्धछिद्रोदकोदराध्मार्तानां भृशतरमाध्याप्य बस्ति प्राणान् हिंस्यात अलसक विसूचिकामप्रवातानामतिसारिणा मामकृति दोष: स्यात्। मधुमेह कुष्ठियोर्व्याधे: पुन: वृद्धि:॥ तस्मादेतेनास्थाप्या:।। च. सि. २-१५

५४. (१) शेषास्त्वास्थाप्या, विशेषतस्तु सर्वांगैकांग कुक्षिरोग वात वचों मूत्र शुक्रभंग बल मांस रेत: क्षयदोषाध्मानांग सुप्तिक्रिमि कोष्ठोदावर्त शुद्धातिसार पर्वदाभितापप्लीह गुल्म शूलहृद्रोग भगंदरोन्माद ज्वर ब्रध्न शिर:कर्ण शूल हृदयपार्श्वपृष्ठ कटीग्रह वेदनाक्षेपक गौरवातिलाघवरज: क्षयति विष्मागि स्फिग् जानु जंघोर गुल्फ पार्ष्णि प्रपदयोनि बाह्गुली स्तनांतर्वंतनखपर्वास्थि शूलशोष स्तंभांत्रकूज परिकर्तिकाल्पाल्प सशवदोग्रगंधोत्थानादयो वातव्याधयो विशेषेण महारोगाध्यायोक्ताश्च,एतेषु हि आस्थापनं प्रधानतममित्युक्तं वनस्पति मूलच्छेदवत्॥ च. सि. २-१६

(२) तथा ज्वरातिसार तिमिर प्रतिश्याय शिरोरोगाधिमंथार्दिताक्षेप पक्षाघार्तकांग सर्वांग रोगाध्मानोदर योनिशूल शर्कराशूल वृद्ध्युपर्दशानाह मूत्रकृच्छ्र गुल्मवात

शोणित मूत्र पुरीषोदावर्त शुक्रार्तवस्न्यनाश हृद्ग्रहनुमन्याग्रह शर्कराश्मरी मूढगर्भ प्रभृतिषु चात्यर्थमुपयुज्यते।। सु. चि. ३५/५

(३) —तेन साधयेत्। गुल्मानाह गुदप्लीहं शुद्धातीसार शूलिन:। जीर्णज्वर प्रतिश्याय शुक्रानिल मलग्रहान्॥
वर्ष्माश्मरी रजोनाशान् दारुणांश्चनिलामयात्॥ अ. ह्र. स. ११-२,३

५५. (१) य एवानास्थाप्यास्त एवाननुवास्या: स्यु:, विशेषतस्त्वभुक्त भक्त नवज्वर पांडुरोगकामला प्रमेहार्श:प्रतिश्यायारोचक मंदाग्निदुर्बल — प्लीहा कफोददोरुस्तंभ वर्चोभेद विषगरतीत पित्त कफाभिष्यंद गुरुकोष्ठ श्लीपदगलगंडापचि क्रिमि कोष्ठिन:॥ च. सि. २-१७

(२) देखे ५३-२ संदर्भ तथा उदरो च प्रमेही च कुष्ठी स्थुलाश्च मानव:।
सु. चि. ३५-२२

(३) . . . नानुवास्या स्त एव च।
येऽनास्या प्यास्तथा पांडुकामला मेह पीनसा:।
निरन्नप्लीहविड्भेदी गुरु कोष्ठ कफोदरा:॥
अभिष्यंदी भृशस्थूल कृमिकोष्ठाढ्य मारुता:।
पीते विषे गरेऽपच्यां स्लीपदो गलगंडवान्॥
अवश्यं स्थापनीयास्ते नानुवास्या कथंचन॥ अ. ह्र. सु. ११-७, ८

५६. तत्राभुक्त भक्तस्यानावृत मार्गत्वादूर्ध्वमति वर्तते स्नेह:। नवज्वर पांडुरोग कामलाप्रमेहिणां दोषानुत्क्रिश्योदर जनयेत्, अर्शसस्यार्शाभिष्ये द्याध्यनं कुर्यातअरोचकार्तस्यात्रगृद्धिं पुनर्हन्यात, मंदाग्निदुर्बलयोर्मक्तरमर्गिन कुर्यात् प्रतिश्याय प्लीहादि मतां भृशमुत्क्लिष्ट दोषाणां भूय एव दोषं बर्धयेत्, तस्मादेते नानुवास्या:।। च. सि. २-१८

५७. असाध्यता विकाराणां स्यादेषामनुवासनात्।
असाध्यत्वेऽपि भूयिष्ठ गात्राणां सदनं भवेत्।। सु. चि. ३५-२३

५८. कृमिकोष्ठस्यानुवासनात्पूर्वमनिहृतै: कृमिभिरतिबहुत्वादशेष
निस्सरणेन हृदयमतिकर्षद्भि च्छर्दयेषु:। अ. ह्र. सू. ११-८ अ.द.

५९. (१) य एवास्थाप्यास्तएवानुवास्या:, विशेषस्तु रुक्ष तीक्ष्णाग्नय: केवल वातरोगार्ताश्च। एतेषु हि अनुवासनं प्रधानतममित्युक्तं मूलं द्रुमप्रसेकवत्।
च. सि. २-१९

(२) आस्थाप्या एव चान्वास्या विशेषादति बह्नय:। रुक्षा केवल वातार्ता।।
अ. ह्र. सू. १९-७

६०. (१) च. पा. — नेत्रं नलिका। ड. — नेत्रं यंत्रम्।।
(२) सुवर्ण रौप्यत्रपुताम्ररीति कांस्यास्थि शस्थ द्रुम वेणु दंतै।
नलै विषाणैर्भणिभिश्च तैस्तैर्नेत्राणि कार्याणि सुकर्णिकानि।।
षड्द्वादशाष्टांगुल सन्मितानि षड्विंशति द्वादश वर्षजानां।
स्युर्मुग्द कर्कंधु सतीन वाही छिद्राणिवर्त्या पिहितानि चैव।।
यथावयोंगुष्ठ कनिष्ठिकांभ्यां मूलाग्रयो: स्यु: परिणाहवंति।
ऋजूनि गोपुच्छ समाकृतीनि श्लक्ष्णानि च स्युर्गुडिका मुखानि।।
स्यात कर्णिकैकाग्रचतुर्थभागे मूलाश्रिते बस्तिनिबंधने द्वे। च. सि. ३-७ से ९

च.पा.— तत्र षडंगुलं एक वर्षात्प्रभृति यावत्षड् वर्ष द्वादश वर्षस्याष्टांगुलं नेत्रं भवति, विंशति वर्षस्य द्वादशांगुलं नेत्र भवति। अत्र व्युत्क्रमाभिधानेन षड्दर्षादर्वाक् विंशति वर्षादूर्ध्व च नेत्रमान विकल्पो नास्ति। षड् वर्षादूर्ध्व नेत्रमान विकल्पोऽस्तीति दर्शयति। तेन षड्वर्षादूर्ध्व प्रत्यब्दमंगुली-तृतीय भाग वृद्धिर्भवति, द्वादशादूर्ध्व प्रत्यब्दमर्धांगुलवृद्धि, एवमुक्तमातपूरणं भवति। सुश्रुते नेत्रमान भेद उक्त। स नाति विरोधकारितया उपेक्षणीय एव।.. ... ...एका कर्णिका अग्रे कर्तव्या नेत्रस्यांत: प्रवेश: निरासार्थ।।

(३) तत्र सांवत्सरिकाष्टद्विरष्टवर्षाणां षडष्ट वशांगुल प्रमाणानि कानिष्ठिकानामिका मध्यांगुलि परिणाहान्यग्रेऽध्यर्धांगुलार्धतृतीयांगुल संनिविष्ट कर्णिकानि कंकश्येनबार्हिणपक्षनाडीतुल्यप्रवेशानि मृद् माष कलाय मात्र स्रोतांसि विदध्यात्रेत्राणि। सु. चि. ३५-७

वर्षांतरेण नेत्राणां बस्तिमानस्य चैव हि। वयोबल शरीराणि समीक्ष्योत्कर्षयेत्द्विधिम्।। सु. चि. ३५-८

तत्र सुवर्णरजत ताम्रायोरिति दंत शृंगमणि तरूसारमयानि।
श्लक्ष्णानि दृढ़ानि गोपुच्छा कृतीनि हि ऋजूनी गुटिका मुखानि।।
सु. चि. ३५-१२

पंचविंशतेरूध्वं द्वादशांगुलं मुलेंगुष्ठोदरपरिणाहम् अग्रे कनिष्ठिकोदरपरिणाहम्, अग्रे त्र्यंगुल संयिविष्ट कर्णिकं गृधपक्ष नाडी तुल्यप्रवेशं कोलास्थि मात्रछिद्रं, क्लिन्न कलाय मात्रर्छिद्रमित्येके, सर्वाणि मूले बस्ति निबंधनार्यं द्विकर्णिकानि। ..., सप्ततेस्तूर्ध्वं नेत्राप्रमाणमेतदेव।। सु. चि. ३५-९

(४) ऊनेद्वे पंच पूर्णेस्मिन् आसप्तेभ्योऽगुलानि षट्।
सप्तमे सप्त तान्यष्टौ द्वादशे षोडशे नव।
द्वादशैव परं विद्यात्।। अ. ह्र. सू. १९-५१

६१. व्रणनेत्रमष्टांगुल मुद्गवाही स्रोत:।
व्रणमवेक्ष्य यथास्यं स्नेहकषाय विदधीत्। सु. चि. ३५-६

ड.—शल्यतंत्रतवदास्य व्रणनेत्रमाह-व्रणनेत्रमष्टांगुलमित्यादि।

६२. नेत्रलाभे हितानाडी नलवंशास्थि संभवा:।। सु. चि. ३५-१४

६३. (१) पुष्पनेत्रं तु हैमंस्यात् श्लक्ष्णमौत्तर बस्तिक।
जात्यश्वहनन वुंतेन सर्म गोपुच्छसंम्मितं।
रौप्यं वा सर्षपं छिद्रं द्विकर्ण द्वादशांगुलं।। च. सि. ९-५०, ५१

(२) चतुर्दशांगुलं नेत्रमातुरांगुल संम्मितं।
मालतीपुष्प वृताग्रं छिद्रं सर्षप निर्गमम्।। सु. चि. ३७-१११

(३) पुष्पनेत्रं इति उत्तर बस्ति संज्ञस्य नेत्रं।। च. पा.

६४. (१) ह्रस्वं दीर्घ तनु स्थूलं जीर्ण शिथिलबंधनम्।
पार्श्वच्छिद्रं तथा वक्रभष्टौं नेत्राणि वर्जयेत्।
अप्राप्त्यतिगति क्षोभ कर्षण क्षणन स्रवा:।
गुदपीडा गतिंजिह्मा तेषां बोषा: यथाक्रमम्।। च. सि. ५-४५

(२) अतिस्थूल कर्कशेच नेत्रेऽस्मिमिति घर्षणात्।
गुदे भवेत् क्षतं रुक्च साधनं तस्य पुर्ववत्।।

आसन्नकर्णिके नेत्रे भिन्नेऽणौ वाऽप्यपार्थक:।
अवसेको भवेत् वस्तेस्तस्माद्दोषान् विवर्जयेत्।।
प्रकृष्ट कर्णिकैरक्तं गुदमार्ग प्रपीडनात्। . . . .
ह्रस्वे त्वनुस्रोतसिं च क्लेशो। . . . .
दीर्घे महास्रोतसिच ज्ञेयमत्यवपीडनात्।। सु. चि. ३६-६से ९

६५. (१) जारद्भवो माहिष हरिणौवा स्याच्छौकरो बस्तिरजस्य वापि।
दृढ़स्तनुर्नष्ट सिरो बिगंध: कषायरक्त: सुमृदु: सुशुद्ध:।।
नृणां वयो वीक्ष्य यथानुरूपं नेत्रेषु योज्यस्तु सुबद्धसूत्र:।
बस्तेरलाभे प्लवजो गलो वा स्यादांकपाद: सुधन: पटो वा।।
च. सि. ३-१० से १२

च. पा.—अंकपादश्चर्महटक।।

(२) बस्तयश्चाबंध्या मृदबो नाति बहला: दृढा: प्रमाणवंतो गोमहिष वराहाजोरभ्राणाम्।। सु. चि. ३५-१३

वस्त्यालाभे हितंचर्मसूक्ष्मं वा तांतवं घनम्।। सु. चि. ३५-१४

६६. (१) विषममांसल छिद्र स्थूल जालिक वातला:।
स्निग्ध: क्लिन्नश्च तानष्टौ बस्तिन कर्मसु वर्जयेत्।

(२) गतिवैषम्य विस्रत्व स्राव दौर्ग्राह्या निस्रवा:।
फेनिलच्युत धार्यत्वं बस्ते: स्युर्बस्तिदोषत:।। च. सि. ५-६, ७

६७. बस्तिं निरुद्दिग्धं तु शुद्धं सुपरिमार्जितम्।
मृद्वनुद्धत हीनं च मृदु: स्नेह विमर्दितम्।
नेत्रमूले प्रतिष्ठाप्य न्यूब्जंतु विवृताननम्।।
बद्धवा लोहेन तप्तेन चर्मस्रोतसि निर्दहेत्।
परिवर्त्म ततोबस्तिं वद्धा गुप्तं निधापयेत्।।
आस्थापनं च तैलं च यथावत्तेन दापयेत्।। सु. चि. ३५-१५,१६,१७

६८. समीक्ष्य दोषौषध देश काल सात्म्याग्नि सत्वौक वयोबलानि।
बस्ति: प्रयुक्तो नियतं गुणाय स्यात् सर्व कर्मणि च सिद्धिमंति।। च. सि. ३-६

६९. प्राणावृते समाने स्यू: जडगद्गद मूकता:।
चतुष्प्रयोगा: शस्यंते स्नेहास्तत्र स यापना:।। च. चि. २८-२०५

७०. ऊर्ध्वगेनावृतेऽपाने छर्दि श्वासादयो गदा:।
स्युर्वाते तत्र वस्यादि भोज्यं चैवानुलोमनम्।। च. सि. २८-२१०

७१. तत्रामेऽतरपानं स्यात् व्योषाम्ल लवणैयुतं।
पाचनं शस्यते बस्तिरामे हि प्रतिषिद्धयतें।। च. सि. ८-२३

७२. स्वाद्वम्ल लवणै: शस्त स्नेहबस्ति: समीरणे।
रक्ते रक्तेन पित्ते तु कषाय स्वादु तिक्तकै:।।
सार्यमाणे कफे बस्ति: कषायकटु तिक्तकै:। च.सि.८-२३,२४,२५

७३. एकं तथा त्रीन् कफजे विकारे पित्तात्मके पंच तु सप्त वाऽपि। वाते नवैकादश वा पुनर्वा बास्तित्।। च. सि. १-२५

७४. स्निग्धोष्ण एक: पवने समांसो, द्वौ स्वादुशीतौ पयसा च पित्ते।
त्रय: समूत्रा: कटुकोष्ण तीक्ष्णा: कफे निरूहा: न परं विधेय:। च. सि. ३।६९

७५. आमता हीनतातिमात्रतातिशीततात्युष्णातितीक्ष्णतातिमृदुतातिस्निग्ध-
तातिरुक्षतातिसांद्रतातिद्रवता इति एकादश द्रव्यदोषाः।। सु.चि.३५
७६. हीनमात्रावुभौ बस्ति नातिकार्यकरौमतौ। सु. चि. ३६-१८
७७. अतिमात्रा तथानाह क्लमातीसारकारकी। सु. चि. ३६-१८
७८. (१) निरूहमात्रा प्रसृतार्धमाद्ये वर्ष ततोऽर्ध प्रसृताभिवृद्धिः।
आद्वादशात् स्यात् प्रसृताभिवृद्धिरष्टादशाद् द्वादशतः परं स्युः।।
आसप्ततेस्तद विहितं प्रमाणमतः परं षोडषवद विधेयम्।
निरूहमात्रा प्रसृत प्रमाणाबालेच बृद्धेच मृदुर्विशेषः। च.सि.३-३१,३२
(२) निरूहमात्रा प्रथमे प्रकुंचों वत्सरे परं। प्रकुंच वृद्धिः प्रत्यब्दं यावत्षट्
प्रसृतास्ततः। प्रसृतं वर्धयेदूर्ध्व द्वादशाष्टादशस्य तु।आसप्तेरिदं मान
दशैव प्रसृतः परम्।। अ. ह. सू. १९-१८,१९
७९. तेषु त्वास्थापन द्रव्यप्रमाणमातुर हस्तप्रमाण संम्मितेन प्रसृतेन संमितौ द्वौ चत्वाराष्टौ च
विधेयाः। सु. चि. ३५-७
८०. निरूहत्य प्रमाणं तु प्रस्थः पादोत्तर मतं।
मध्यमं प्रस्थमुद्दिष्टं हीनं च कुडवं त्रयं।। शा.उ.खं. ६-३
८१. भागाः कषायस्थ तु पंच, पित्ते स्नेहस्य षष्टः प्रकृतौ स्थिते च।
वाते विबृद्धे तु चतुर्थ भागो मात्रा निरूहेषु ककेऽष्ट भागः।। च. सि. ३-३०
च.पा.—संप्रति त्रिविधो यो द्वादशप्रसृतो निरूहस्तस्य कषायस्नेहमात्रां
निरूपमन्नाह। भागाः कषायस्य पंचेत्यनेन सर्वत्रैव दोषे स्वस्थे च पुरुषे पंच भागा
कषायस्य भवंति, तेन पंच प्रसृतकषायस्य, पित्ते स्नेहस्य षष्ठः तथा प्रकृतौ स्थिते पुरुषे
स्वस्थे षष्ठ इत्यर्थः,। ...तेन द्वादशप्रसृतस्य षष्ठो भागो द्विप्रसृतं भवति। स्नेह शब्देन
घृततैलादि ग्रहणम्। वाते तु वृद्धे चतुर्थ भागः स्नेह चतुर्थो भागः प्रसृत त्रयम्। अष्टम
भाग इति सार्द प्रसृतः।
८२. शीतः स्त्वतिस्तंभकरो विदाहं मूर्च्छाच कुर्यादति मात्रमुष्णः। च. सि. ३-२०
८३. मूर्च्छा दाहमतीसार पित्तं चात्युष्णा तीक्ष्णकी।
मृदु शीतावु भौवात विबंधाध्मान कारकौ। सु. चि. ३६-१९
८४. स्निग्धं तु जाड्यं पवनं तु रुक्षं:.... करोति।। च. सि. ३-२१
८५. ....तु सांद्रं सूचिरेण चेति। तन्वल्पमात्रा लवणस्त्वयोगः। च. सि. ३-२२
८६. न बृंहणीयान् विदधीत बस्तिन् विशोधनी येषु गदेषु वैद्यः।
कुष्ठ प्रमेहादिषु मेदुरेषु नरेषु ये चापि विशोधनीयाः।। च.सि.१-३६
८७. क्षीणक्षतानां न विशोधनीयान्न शोषिणा नो भृश दुर्बलानां।।
न मूर्च्छितानां न विशोधितानां येषात्व दोषेषु निबद्धमायुः।। च. सि. १-३७
८८. (१) पूर्वंहि दद्यात्मधु सैंधवं तु स्नेहं विनिर्मथ्य ततोऽनु कल्कम्।
विमथ्य संयोज्य पुनर्द्रवैस्तं बस्तौ निदध्यान्मथितं खजेन।। च. सि. ३-२३
(२) माक्षिकं लवणं स्नेहं कल्कं कवाथमिति क्रमात्।
आबपेत निरूहाणां ह्येष संयोजने विधिः।। अ.ह.सू. १९-४५
८९. सर्व तदेकतः। उष्णांबु कुंभी बाष्पे वा तप्तं खज समाहितं।। अ.ह.सू. १९-४४
९०. पूतो यवानी फलबिल्व कुष्ठवचा शताह्वा घन पिप्पलीनां।

कल्कैर्गुडक्षौद्र घृतैः सतैलैः युक्तः सुखोष्णो लवणन्वितश्च।।
बस्ति च यस्मिन्पठितौ न कल्कः सर्वत्र दद्यादमुमेव तत्र।। अ.ह.क.४-१,३
९१. आस्थाप्यं स्नेहितं स्विन्नं शुद्धं लब्धबलं पुनः।। अ.ह.सू. १९-२०
अन्वासनार्ह विज्ञाय पूर्वमेवानुवासयेत्।।
तैलाक्तगात्राय ततो निरूहं दद्याद्। च. चि. १-२०
च. पा. — न निरूहांगता सर्पि पानस्य कल्पनीया।।
९२. रुक्षस्य बहुयातस्य द्वौ त्रीनप्यनुवासनम्।
दत्वा स्निग्धतनुंज्ञात्वा तत पश्चान्निरुहयेत। सु. चि. ३७-४४
९३. अथानुवासितं आस्थापयेत्।। सु. चि. ३८-१
९४. आस्थापनार्हपुरुषं विधिज्ञः समीक्ष्य पुण्येहानि शुक्लपक्षे।
प्रशस्तनक्षत्र मुहूर्त योगे जीर्णान्नमेकाग्रमुपक्रमेत्।। च. सि. ३-१२
च. पा. — शुक्लपक्ष इति शुक्लपक्षस्य सर्वारंभेषु प्रशस्तत्वात्। हारीतेन तु
कृष्णपक्षश्चात्र विहितः उक्तं हि, "कृष्णपक्षे कार्य, जन्मानि सर्व रोगाः हताः सुहताः
भवंतीति बदन्ति शास्त्रज्ञाः, शुक्ले देवा जाताः, कृष्णेऽसुरा सर्वरोगाश्च,
तस्माद्रोगचिकित्सा कृष्णे सदैव कर्तव्या इति।
९५. ...नक्षत्र मुहूर्तानां च रक्षा प्रभावात् प्रशस्तता बा। योगो लग्नं सर्वग्रहाणां अनुकूल्यता
वा ज्ञेया। एतच्चाग्निवेश ग्रंथ प्रसिद्धम्। स्याद्धारीते ग्रंथान्यथात्वाच्च। शुक्लपक्षे
धातुसाम्य समानत्वाद् इतरस्य च रोग समानत्वाद् चानुत्पन्नोत्पत्ति योगकालादोष इति।
जेज्जटाचार्य उपर्युक्त पर
९६. पक्षाद् विरेको वमिते ततः पक्षान्निरूहणम्। अ.ह.सू. १९-८३
अ. द.— कृत विरेकस्य साप्ताहाद् प्रकृति भोजनापतौ स्नेहनार्थम-
नुवासनेन एकांतरितेन स्निग्धस्य निरूहो युज्यते इति पक्षेणैव युक्तः।।
९७. न तु भुक्तवते देयमास्थापनमिति स्थितिः।
विषूचिका वा जनयेत् छर्दि वापि सुदारुणाम्।।
कोपयेत् सर्वदोषान्वा तस्माद्दद्याद् भोजने।। सु. चि. ३८-१९, २०
९८. काश्यप संहिता सि. अ. १
९९. (१) अंगुष्ठमध्येन सुखं पिधाय नेत्राग्र संस्थामपनीय वर्तिम्।
तैलाक्तगात्रं कृतविट्क मूत्रं नाति क्षुधार्त शयने मनुष्यम्।।
समेऽथ वेपत्रत शीर्षके वा नात्युच्छ्रिते स्वास्तरणोपन्ने।
सव्येन पार्श्वेन सुखं शयानं कृत्वर्जुं देहं स्वभजोपधानम्।
संकोच्य सव्येतरदस्य सक्थि वामं प्रसार्य प्रणयेदतस्तम्।।
स्निग्धे गुदे नेत्र चतुर्थ भागं स्निग्धं शनैर्ऋज्वनुपृष्ठवंशम्।
अर्कपनावेपन लाघवादिन् पाण्योर्गुणांश्चापि विदर्शयंस्तम्।
प्रपीड्य चैक ग्रहणेन दत्तं नेत्रं शनैरेव ततोऽपकर्षेत्।। ३-१७ से १९
(२) अथानुवासितमास्थापयेत्। स्वभ्यक्त स्विन्न शरीरमुत्पृष्ट वहिर्वेग-भवाते शुचौ वैश्मनि
मध्याह्ने प्रततायां शय्यायांअधः सुपरिग्रहायां श्रोणि प्रवेशप्रतिंव्यूढायामनुपधानायां
वामपार्श्व शायिनमाकुंचित दक्षिण सक्थि-मितरप्रसादितसक्थिं सुमनसं जीर्णान्नं
वाग्शतंसुनिषण्णदेहं विदित्वा ततो वामपादस्योपदि नेत्र कृत्वेतर पादांगुष्ठांगुलिभ्यां
कर्णिकामुपरि निष्पीड्य, सध्यपाणिं कनिष्ठिकानामिकाभ्यां बस्तेर्मुखार्ध संक्रोच्य, मध्यमा
प्रदेशिन्यं-गुष्ठैरर्धतु विवृतास्यं कृत्वा, बस्तावौषधं प्राक्षिप्य दक्षिण हस्तांगुष्ठेन, प्रदेशिनी

मध्यमाभ्यां चानुसिक्तमनायत बुदबुदमसंकुचितमबातमौषधा-सन्नमुपसंगृह्य, पुनरुपरि तदितरेण दक्षिणेनावसिंचेत् ततः सूत्रेणैवौषधान्ते द्विस्त्रिर्वाऽवेष्ट्य बध्नीयात् अथ दक्षिणोत्तानेन पाणिना वस्तिगृहीत्वा वामहस्त मध्यमांगुलि प्रदेशिनीभ्यां नेत्रमुपसंगृह्यांगुष्टेन नेत्रद्वारं पिधाय, घृताभ्यक्ताग्र नेत्रं घृताक्तगुदाय प्रयच्छेदनुपृष्टवंश सममुन्मुखमाकर्णिकं नेत्रं प्रणिधस्त्व-इति ब्रूयात्।

बस्ति सव्य करे कृत्वा दक्षिणेनाव पीडयेत्। एकेनैवाव पीडेन न द्रुतं न विलंबितम्।। ततो नेत्रमपनीय त्रिंशन्मात्राः पीडन कालादुपेक्ष्योत्तिष्ठेति आतुरं ब्रूयात्। अथातुरमुपवेशयेदुत्कटुकं बस्त्यागमनार्थम्।। सु.चि. ३८-१ से ६

१००. उच्छ्वास्य बस्तेर्वदने बद्धे हस्तमकंपयन्।। अ.हृ.सू. १९-२५
तिर्यक् प्रणीते न तु याति धारा गुदे व्रणः स्याच्चलिते तु नेत्रे।
दत्तः शनैनशियमेति बस्तिः कंठं प्रधावत्यति पीडितश्च।। च. सि. ३-२०

१०१. सावशेषं च कुर्वीत वायुः शेषे हि तिष्ठति।। अ.हृ.सू. १९-२६

१०२. दत्तेतूत्तानदेहस्य पाणिना ताडयेत्स्फिचौ।। अ.हृ.सू. १९-२७

१०३. वामाश्रये हि ग्रहणी गुदेच तत्पार्श्वसंस्थस्य सुखोपलब्धिः।
लीयंत एवं बलयश्च तस्मात् सव्यं शयनोर्हति बस्तिदान।। च. सि. ३-२४

१०४. विड्वातवेगो यदि चार्ध दत्ते निष्कृष्य मुक्ते प्रणयेदशेषम्।
उत्तानदेहश्च कृतोपधानः स्याद्वीर्यमाप्नीति तथास्य देहः।। च. सि. ३-२५

१०५. (१) आगतौ परमः कालः मुहूर्तो मृत्यबे परम्।। अ.हृ.सू. १९-४७
(२) निरूहप्रत्यागमकालस्तु मुहूर्तो भवति।। सू. चि. ३८-५

१०६. विगूणानिल बिष्टब्धं चिरं तिष्ठान्निरूहणम्।
शुलारति ज्वरानाहान्मरणं वा प्रवर्तयेत्।। सु. चि. ३५-१८

१०७. (१) अनायांतं मुहूर्तात्तु निरूह शोधनैर्हरेत्।
तीक्ष्णैर्निरूहैर्मतिमान क्षारमूत्राम्ल संयुतैः।। सु. चि. ३५-१७
(२) तत्रानुलीमिकं स्नेहं क्षार मूत्राम्ल कल्पितम्।
त्वरितं स्निग्ध तीक्ष्णोष्णं बस्तिमन्यं प्रपीडयेत्।।
विद्यात्फल वर्ति वा स्वेदनोत्रासनानि च।। अ. हृ. सु. १९-४७, ४८
अ द — उत्त्रासनं खड्गहस्त योधदर्शनादिना।।
कुपित नृप खड्ग व्यग्रीग्र बाहुदर्शनादिनाऽष्कुलं कुर्यात्।

१०८. नाभि प्रदेशं कटिपार्श्व कुक्षिं गत्वा शकृद्दोषचयं विलोड्य।
संस्नेह्यकायं स पुरीष दोषः सम्यग् सुखेनैतिच यःस बस्तिः।। च. सि. १-४०

१०९. (१) प्रसृष्ट विण्मूत्र समीरणत्वं रुच्वाग्नि वृद्ध्याशय लाघवानि।
रोगोपशांतिः प्रकृतिस्थताच बलंच तत्स्यात् सुनिरूढलिङ्गम्।। च. सि. ३-४१
(२) यस्यक्रमेण गच्छंति विट्पित्तकफवायवः।
लाघवं चोपजायेत् सुनिरूढं तमादिशेत्।। सु. चि. ३७-१०

११०. (१) स्यादुग्शिरोहृद गुदबस्ति लिंगे शोफः प्रतीत्य वायं विकलिके च।
हृल्लासिका मारुत मूत्रसंगः श्वासोन सम्यग् च निरूहते स्युः। च. सि. १-४२
(२) यस्यस्याद्वस्तिरल्पोल्प वेगोहीन मलानिलः।
दर्निरूढः स विज्ञेयो मूत्रार्त्यरुचि जाड्यवत्।। सु. चि. ३८-८

१११. (१) लिंगं यदेवाति विरेचितस्य भवेत्तदेवाति निरूहितस्य। च.सि.१-८३

(२) यान्नेव प्रांग्मयोक्तानि लिंगान्यतिविरेचिते।
तान्येवाति निरूढेऽपि विज्ञेयानि विपश्चिता।। सु. चि. ३८-९

११२. स्वयमेव प्रवृत्ते तु द्वितीयो बस्तिरिष्यते।
तृतीयोऽपि चतुर्थोऽपि यावद्वा सुनिरूढता।। अ.ह.सू. १९-४९

११३. रुक्षस्य बहुवातस्य द्वौ त्रीनप्यनुवासनम्।
दत्वा स्निग्धतनुं ज्ञात्वा ततः पश्चान्निरूहयेत्।। सु. चि. ३७-४४

११४. (१) प्रत्यागते धन्वरसेन भोज्यः समीक्ष्य वा दोषवलं यथार्हम्।
नरस्ततो निश्यनुवासनार्हो नात्याशित स्यादनुवासनीयः।। च. सि. १-२१
(२) सुनिरूढ़ ततो जंतु स्नानवतं तु भोजयेत्।
पित्तश्लेष्मानिलाविष्टं क्षीर यूषरसैः क्रमात्।।
सर्व वा जांगलरसैर्भोजयेदविकारिभिः।
त्रिभागहीनमर्द्ध वा हीनमात्रामथापि वा यथाग्निदोषं मात्रं च भोजनस्य
विधीयते अनंतरं ततो युज्यात् यथास्वं स्नेहबस्तिना।।
सु. चि. ३८-११, १२, १३
(३) कोष्णेन वारिणा स्नातं तनु धन्वरसौदनं।। अ.ह.सू. १९-५०

११५. विकाराः ये निरूढस्य भवंति प्रचलैर्मलैः।।
ते सुखोष्णाम्बुसिक्तस्य यांति भुक्तवतः शमम्। अ.ह.सू. १९-५१

११६. च. पा. — निशीत्यनेन विरुहानंतर तद्दिने क्रियमाणमनुवासनं निश्येव कर्तव्यमिति दर्शयति। तेन शीते वसते च सद्योनिरूढस्य रात्राद्येवा-नुवासनं देयमिति दर्शयति। तेन यथा वक्ष्यमाणविभागेन रात्रौ दिवा वा देयमित्याहुः। अनुवासनार्ह इति वचनेन यदि सामता मंदो वा पावको वा भवति तदा तदहरनुवासनम् न देयमिति सूचयति। अतएव जतुकर्णे द्वितीय दिवसे एवानुवासम उक्तम्, ततस्त्र्यहान्निरुहे व्युषिते भुक्तवतेऽनुवासनम्। इति। हारीतेऽपि, "व्युष्ट रजन्यां प्रसमीक्ष्य तस्माद बलाबलं वाऽप्यनुवासनीयः। इत्युक्तं।" "सद्योनिरूढोऽनुवास्यः स्यात" इतिवचनं निरूह जनित वात क्षोभ (युक्त) पुरुषविषयम्। च. स. १-२१

११७. तदहस्तस्यपवनाभ्दयं बलवदिष्यते।
रसौदनस्तेतस्तुदहश्चानुवासनम्।। सु. चि. ३८-१५

११८. पश्चादग्निबलं मत्वा पवनस्य च चेष्टितं।
अन्नोपस्तंभिते कोष्ठे स्नेहबस्ति विधीयते।। सु. चि. ३८-१६

११९. डल्हण— . . . .परं सुनिरूढमेंव पुरुषं न तु दुर्निरूढम। तत्र सदोषतया यथादोषं निरूहणमेव कार्य। न चाति निरूढ़, तत्रातिविरिक्तवत् भेषजं शीतपरिषेक पिच्छाबस्त्यादिकं न तु स्नेहबस्तिः। तथाच विदेहः, "अतितीक्ष्णो निरूढस्य हृतदोषस्य सर्वतः। केचिदेवानाभिप्रेतं मार्ग स्नेहोनुगच्छति।" इति गयदासस्तु परिभाषितं षट्पलप्रमाणं स्नेहबस्तिमत्र देयं न मन्यते। किंच अनुवासनाख्य पलत्रय प्रमाणं। स्नेहबस्ति प्रमाण देयमत्र मन्यते। यत्र तु स्नेहबस्तिः स्वतंत्रः तत्रैव षट्पल प्रमाणः।। सु. चि. ३८-१३ पर च. चि. १५-४

१२०. कालस्तु बस्त्यादिषु यति यावान तावात् भवेद्धि परिहारकालः
अत्यासनस्थान वचांसि यानं स्वप्नं दिवा मैथुनवेगरोधान्।
शीतोपचारातप शोक रोषां त्यजदेकालाहित भोजनं च।। च. सि. १-५५

१२१. सवातातिद्रुतोप्ति तिर्यगुल्लिप्त कंपिता:।
अति बाह्यग मंदातिवेग दोधा: प्रणेतृत:।। च. सि. ५-८

१२२. अनुच्छवास्य च बद्धे वा दत्ते नि:शेष एव वा।
प्रविश्य कुपितो वायु: शूलतोदकरो भवेत्।
तत्राभ्यंगो गुदे स्वेदो वातघ्नान्यशनानि च ।। च. सि. ५-९,१०

१२३. द्रुतं प्रणीते निष्कृष्टे सहसोत्क्षिप्त एव वा।
स्थात्कटी गुद जंघोर्ति बस्तिस्तंमार्ति वेदना:।
भोजनं तत्र वातघ्न स्नेहा: स्वेद: सबस्तय:।। च. सि. ५-१०, ११
च. पा. —बस्तेर्मूत्राशयस्थ स्तंभो बस्तितंभ।
सवस्तय इति वाहरबस्तियुक्ता:।।

१२४. तिर्यग्बल्लयावृते द्वारे, बद्धे वाऽपि न गच्छति।
नेत्रे तदृजु निष्क्रिष्य संशोध्य च प्रवेशयेत्।। च. सि. ५-१२
च. पा.—तिर्यग्वल्लयावृते द्वारे, बद्धे वाऽपिति तिर्यग् प्रणिहिते नेत्रे वलल्यावृत द्वारे सति, तथा बस्ति द्रव्यगत सूत्र द्रव्यादिना विबद्धे नेत्र बस्ति द्रव्यं न याति तन्नेत्रं तिर्यग्प्रणिहितं निष्किष्य ऋजु प्रवेशयेत् बद्धद्वारं च संशोध्य प्रवेशयेद् इति योज्यम्।।

१२५. च. पा. —उल्लुप्तत्वमिह पीडनदोषो य: पीडन विच्छेदं कृत्वा पुन: पीडयते स ज्ञेय:।। च. सि. ५-८ पर।।
पीड्यमानऽतरा मुक्ते गुदे प्रतिहतोऽनिल:। उर: शिरोर्ति मूर्वोश्च सदनं जनयेद्बली।
बस्ति: स्यात्तत्र बिल्वादि फलश्या:— मादि मूत्रवान्।। च.सि.५-१३, १४

१२६. स्याद्दाहो क्षवथ: शोफ: कंपानाभिहते गुदे।
कषाय मधुरा शीता: सेकास्तत्र सबस्तय:।। च.सि.५-१४, १५

१२७. अतिमात्र प्रणीतेन नेत्रेण क्षणनाद्बले:।
स्यात्सार्ति दाह निस्तोद गुद वर्च: प्रवर्तनम्।।
तत्र सर्पि: पिचू: क्षीरं पिच्छाबस्तिश्च शस्यते।। च.सि.५-१५, १६

१२८. न भावयति मंदस्तु बाह्यस्त्वाशु निवर्तते।
स्नेहस्तत्र पुन: सम्यक् प्रणेय: सिद्धिमिच्छता।। च.सि. ५-१७

१२९. अतिप्रपीडिते कोष्ठे तिष्ठत्यायाति वा गलम्।
तत्र बस्तिर्विरेकश्च गलपीडादि कर्म च।।
च. पा. — गलगमनं तु तीव्राति पीडनात् अनावरणाच्च भवति।
जेज्जट—कोष्ठस्थे बस्तौ विरेको, गलप्राप्ते गल प्रपीडादिकर्मेति।
आदि ग्रहणात् शीतोदक सेचन परिमार्जनांच्छन, विधूनोत्रासनोप-ध्राणादीनि।।

१३०. नात्युच्छ्रितं नाप्यति नीचपादं सपाद पीठं शयनं प्रशस्त।
प्रधान मृद्धास्तरणोपपन्नं प्राक्शीर्षकं शुक्लपटोत्तरीयम्।। च. सि. ३-३४
च. पा. —पूर्व या: शयनविधिरुक्त: स तात्कालिक: अयंतूत्तरकालिक: इति विशेष:।

१३१. अतिपीडितबद्दोषान् विद्धि चाप्यवशीर्षके।
उच्छीर्षके समुन्नाहं बस्ति: कुर्याच्च मेहनम्।।

तत्रोत्तरो हितो बस्ति: सुस्विन्नस्य सुखावह:।
न्युब्जस्य बस्तिर्नाप्नोति पक्वाधानं विमार्गग:।।
हृद्गुदं बाधते चात्र वायु: कोष्ठमथापि वा।
उत्तानस्यावृते मार्गे बस्तिर्नात: प्रपद्यते।।
नेत्र संवेदनभ्रांतो वायुश्चांत: प्रकुप्यति।
देहे संकुचिते दत्त: सक्थ्नोरप्यभयोस्तथा।।
न सम्यगनिलादिष्टो बस्ति: प्रत्येति देहिन:।
स्थितस्य बस्तिर्वत्तस्तु क्षिप्रमायात्यवांड्मुख:।
न चाशयं तर्पयति तस्मान्नार्थकरो हि स:।
नाप्नोति बस्तिर्दत्तस्तु कुत्स्नं पक्वाशयं पुन:।
दक्षिणाश्रित पार्श्वस्य वामपार्श्वानुगो यत:।। सु. चि. ३६-२३ से २८

१३२. नातियोगौ क्लमाध्माने हिक्का हृत्प्राप्तिरुर्ध्वता।
प्रवाहिका शिरोगार्ति परिकर्त: परिस्रव:
द्वादश व्यापदो बस्तेरसम्यग्योग संभवा:।। च. सि. ७-५, ६
च. पा.—क्लमादयोऽपि चाति योगायोग जाता एव, विशिष्ट हेतु लक्षण चिकित्सित-तथा इहापि पृथगुच्यते। ....'केचित् नाति योगात् क्लमाध्माने इत्यादि' तथा 'दशैता व्यापदो बस्ति:' इत्यादि पठंति।

१३३. गुरुकोष्ठेऽनिल प्राये रुक्षे वातोल्वणेऽपि वा।
शीतोऽल्प लवण स्नेह द्रवमात्रघनोऽपि वा।
बस्ति: संक्षोभ्य तं दोषं दुर्बलत्वादनिर्हरन्।।
करोति गुरु कोष्ठत्वं वातमूत्र शकृद्ग्रहम्।
नाभिबस्तिरुजं दाहं हृल्लेपं श्वयथुं गुदे।
कंडु गंडानि वैवर्ण्यमरुचिं वह्निमार्दवम्।।
तत्रोष्णाया: प्रमथ्याया: पानं स्वेदा: पृथग्विधा:।
फलवर्त्योऽथवा कालं ज्ञात्वा शस्तं विरेंचनम्।
बिल्वमूल त्रिवृद्दारु यवकोल कुलत्थवान्।
सुरादि मूत्रवान् बस्ति: सप्राक्पेष्यस्तमानयेत्।। च.सि. ७-७ से ११

१३४. च. पा. —उष्णाया: प्रमथ्याया: इति अतिसारोक्त प्रमथ्यानां या प्रमथ्या उष्णा तस्य: प्रयोग:। प्रमथ्येति पाचनकषायस्यायुर्वेद समयसिद्ध संज्ञेति। च. सि. ७-११पर

१३५. स्निग्ध स्विन्नेऽति तीक्ष्णोष्णो मृदुकोष्ठेऽति युज्यते।
तस्य लिंगं चिकित्साच शोधनाभ्यां समा भवेत्।।
पृश्निपर्णी स्थिरा पद्म काश्मर्य मधुकं बलां।
पिष्ट्वा मधुकंच क्षीरे तंडुल धावने।।
द्राक्षाया: पक्वलोष्टस्य प्रसादे मधुकस्य च।
विनीय सघृतं बस्ति दद्याद्दाहेऽतियोगजे।। च.सि.७-१२ से १४

१३६. बस्तिरत्युष्ण तीक्ष्णाम्ल घनोति स्वेदितस्य च।
अल्पे दोषे मृदौ कोष्ठे प्रयुक्तो वा पुन: पुन:।।
अतियोगत्वमापन्नो भवेत्कुक्षि रुजाकर:।
विरेचनाति योगेन स तुल्याकृति साधन:।। अ. ह. क. ५-२१, २२

१३७. आमशेषे निरूहेण मृदुना दोष ईरित:।
मार्ग रुणद्धि वातस्य हत्याग्नि मूर्च्छयत्यपि।।
क्लमं विदाहं हृच्छ्रलं मोहवेष्टन गोरवं।
कुर्यात् स्वैदैविरुक्षैस्तं पाचनैश्चाप्युपाचरेत्।।
पिप्पली कत्तृणोशीर दारु मूर्बाशृतं जलं।
पिवेत्सौवर्चलं मिश्रं दीपनं हृद्विशोधनम्।।
वचानागर शटचेला दधिमंडेन मूर्च्छिता:।
पेया: प्रसन्नया वा स्युरदिष्टेनासवेन च।।
दारु त्रिकटुकं पथ्यां पलाशं चित्रकं शटीम्।
पिष्ट्वा कुष्ठंच मुत्रेण पिबेत्क्षारांश्च दीपनान्।।
बस्तिमस्य विदध्याच्च समूत्रं दाशमूलिकं।
समूत्रमथवा व्यक्त-लवणं माधुतैलिकम्।। च.सि. ७-१५ से २०

१३८. अल्पवीर्यो महादोषे रुक्षे क्रूराशये कृत:।
बस्तिर्दोषावृतो रुद्धमार्गो रुंध्यात्समीरणम्।।
स विमार्गगोऽनिल: कुर्यादाध्मानं मर्मपीडनम्।
विदाहं गुरु कोष्ठस्य मुष्कवंक्षेण वेदनम्।
रुणद्धि हृदयं शूलैरितश्चेतश्च धावति।
श्यामा फलदिभि: कुष्ठ कृष्णालवण सर्षपै:।।
धूम माषवचा किण्व क्षार चूर्ण गुडै: कृतान्।
करांगुष्ठ निभां बर्ति यवमध्यां निधापयेत्।।
अभ्यक्त स्विन्नगात्रास्य तैलाक्तां स्नेहिते गुदे।
अथवा लवणागार धूम सिद्धार्तकै: कृताम।।
बिल्वादिना निरूह: स्यात् पीलू सर्षप मूत्रवान्।
सरलामरदारुभ्यां सिद्धं चैवानुवासनम्।। च. सि. ७-२१ से २६

१३९. मृदुकोष्ठेऽबले बस्तिरतितीक्ष्णोऽतिनिर्हरन्।
कुर्याद्विकां हितं तस्मै हिक्काध्नं बृंहणंच यत्।।
बला स्थिरादि काश्मर्य त्रिफला गुडसैंधवै:।
सप्रसन्नार नाराम्लैतैलं पक्त्वाऽनुवासयेत्।।
कृष्णां लवणयोरक्षं पिबेदुष्णाम्बुना युतम्।
धूमलेह रसक्षीर स्वेदाश्चात्र च वातनुत्।। च. सि. ७-२७ से २९

१४०. वातमूत्र पुरीषाणां दत्तेवेगान्निगृह्णत:। अति वा पीडितो बस्तिर्मुखे नायति वेगवान्। मूर्च्छाविकारं तस्यादौ दृष्ट्बा शीताम्बुना मुख। सिंचेद् पार्श्वोदरं चाध: प्रमृज्यात् वीजयेच्च तम्। केशैष्वालंब्य चाकाशे धुनुया-त्रासयेच्च तम्। गोखराश्व गजै: सिंहै: राज्यप्रेष्यैस्तथोरगै:। उल्काभिरेव मन्यैश्च भीतस्याध: प्रवर्तते। वस्त्र पाणीग्र है: कंठं रुंध्यात्र म्रियते यथा। प्राणोदान निरोधाद्धि प्रसिद्धतरमार्गवान्। अपान: पवनो बस्तिं तमाश्वेवाप-कर्षति। तत: क्रमुक कल्काक्षं पाययेतालम संयुतं। औष्ण्य तैक्ष्ण्यात् सर-त्वाच्च बस्ति सोऽस्यानुलोमयेत्। पक्वाशय स्थिते स्विन्ने निरूहो दाश-मूलिक:। यव-कोल कुलत्थेश्व विधेयों मूत्रसाधित:। बिल्वादि पंच मूलेन सिद्धो बस्तिरुर: स्थितै।

१४१. स्निग्धे स्विन्ने महादोषे बस्तिर्मृद्वल्प भेषज:। उत्क्लिश्यात्पं हरद्दोषं जनयेच्च

प्रवाहिकाम्।। सबस्ति पायु शोफेन जंघोरु सदनेन वा। निरुद्ध मारुतो जंतुरभीक्ष्णं संप्रवाहते। स्वेदाभ्यंग निरूहांश्च शोधनीयानुलोमिकान्। विध्याल्लंघयित्वा तु वृत्तिं कुर्यात् विरिक्तवत्।। च. सि. ७-४० से ४२

१४२. दुर्बले क्रूरकोष्ठे च तीव्र दोषे तनुर्मुदु:। शीतोल्पश्चावृतो दोषैर्वस्तिस्तदृ विहतोऽनिल:।। मार्गेगात्राणि संधावन् ऊर्ध्व मूर्ध्नि विंहन्यते। ग्रीवां मन्ये च गृह्णातिशिर:।। कंठं भिनत्ति च। बाधिर्य कर्ण नादं च पीनसं नेत्र विभ्रमम्। कुर्यादभ्यंजनं तैल लवणेन यथाबिधि:। युंज्यात् प्रथमनैर्नस्यैर्धूमैरस्थ विरेचयेत्। तीक्ष्णानुलोमिकेनाथ स्निग्धं भुक्तेऽनुवासयेत्।। च. सि. ७-४३ से ४६

१४३. स्नेहस्वेदैरनापाद्य गुरुस्तीक्ष्णोऽतिमात्रया। यस्य बस्ति: प्रयुज्येत सोऽति मात्रं प्रवर्तयेत्। श्रुतेषु तस्य दोषेषु निरूढस्याति मात्रश:। स्तब्धोदावृत कोष्ठस्य वायु: संप्रति हन्यते। विलोमन समुदभूतो रुजत्यंगानि देहिन:। गात्र वेष्टन निस्तोद भेद स्फुरण स्तृंभणै:। तं तैल लवणाभ्यक्तं सेचयेदुष्ण वारिणा। एरण्ड पत्र निष्क्वाथै: प्रस्तरैश्चोपपादयेत् यवान् कुलत्वान कोलानि पंचमूले तथोऽभये। जलाढ़कद्वये पक्त्वा पादशेषेण तेन च। कुर्यात् सबिल्व तैलोष्ण लवणेन निरूहणम्; तैर्निरूढ़ समाश्वस्तम् द्रोण्यां समवगाहयेत् ततो भुक्तबर्वस्तस्य कारयेदनुवासनम्। यष्टीमधुक तैलेन बिल्व तैलने वा भिषग्। च. सि. ७-४७ से ५३

१४४. मृदु कोष्ठाल्प दोषस्यरुक्षस्तीक्ष्णोति मात्रवान्। बस्तिर्दोषान्निरन्याशु जनयेत्परिकर्तिकाम्। त्रिक् बंक्षण वस्तीनां तोदं नाभेरधो रुजं। विबंधोल्पा-ऽल्पभुत्थान बस्तिर्निलेखनाद्भवेत्। स्वादु शीतौषधैस्तत्र पय इक्ष्वादिभि: शृतं यष्टयाह्वा तिलकल्काभ्यां बस्ति: स्याद् क्षीरभोजिन:। ससर्जरस यष्ट्याह्व जिंगिनी कर्दमांजनम्। विनीय दुग्धे बस्ति: स्यात् व्यक्ताम्लमृदु भोजिन:।। च. सि. ७-५४ से ७५

१४५. पित्तरोगेऽम्ल उष्णो या तीक्ष्णो वा लवणोऽथ वा।
बस्तिर्लिखति पायुं तु क्षिणोति विदहत्यपि।।
स विदग्ध: स्रवत्यस्रं पित्तं चानेक वर्णवत्।
सार्यते बहुवेगेन मोहं गच्छति चासकृत्।।
आर्द्रशाल्मली वृंतैस्तु क्षुण्णैराजं मया शृतम्।।
सर्पिषा योजितं शीतं बस्तिमस्मै प्रदापयेत्।।
वटादि पल्लवेष्वेष कल्पो यवतिलेषु च।
सुवर्चलोपदिकयो: कर्बुदारे च शस्यते।।
गुदे सेका: प्रदेहाश्च शीता: स्युर्मधुराश्च यें।
रक्तपित्तातिसारघ्नी क्रिया चात्र प्रशस्यते।।
च. सि. ७-५८ से ६२

१४६. व्यायामो मैथुनं मद्यं मधूनि शिशिराम्बु च।
संभोजनं रथक्षोभा बस्तिष्वेतेषु गर्हितम्।। च. सि. १२-५०
च. पा. — यापनबस्तीषु वर्जनीयमाह।

१४७. शोफाग्नि नाश पांडुत्वशूलार्शा: परिकर्तिका।
स्युर्ज्वरश्चातिसारश्च यापनात्यर्थ सेवनात्।। च. सि. १२-५७

१४८. अरिष्ट क्षीर सीध्वाद्या तत्रेष्टा दीपनी क्रिया।
युक्त्या तस्मात्रिषेवेत यापनात्र प्रसंगत:।। च. सि. १२-५८

१४९. च. पा.— स्नेहानामनुवासनिकानां तद्वदापदां भेषजानामाभिधायिका सिद्धि:।
च. सि. ४-२ पर

स्नेहबस्तीन् निबोधेमान् वातपित्तकफापहान्।। च. सि. ४-३

१५०. (१) यथायथं निरूहस्य पात्रानुवासने।। अ. हृ. सू. १९-२०

(२) यथावधी निरूहाणां वा: मात्रा परिकीर्तिता:।
पादावकृष्टास्ता: कार्या: स्नेह बस्तिषु देहिनाम्।। सु. चि. ३७-२

१५१. (१) ड. — तंत्रांतरेऽपि उक्तं 'षट्पली तु भवेजेष्ठा ....स एवार्थ:।
(संदर्भ क्र. १७ देखें)

(२) च. पा.—तंत्रांतरे स्नेहमात्रा त्रयं प्रमाणैरेवोक्तं यथा, "षट्पली तु भवेज्जेष्ठा ...."
(संदर्भ क्र. १८ देखें)

१५२. व त्वामं प्रणयेत् स्नेहं सह्यभिष्यंदयेत् गुदम्।। च. सि. ४-४८

१५३. शीते वसंते च दिवानुवास्यौ रात्रौ शरद ग्रीष्म घनागमेषु।।
च. पा. — शीतं शब्देनं शिशिरहेमंतयोपि ग्रहणम्।। च. सि. १-२२

१५४. रात्रौ बस्तिं न दद्यात् दोषोत्क्लेशो हि रात्रिज:।
स्नेहवीर्य युत: कुर्यात् आध्मानं गौरवं ज्वरम्।।
वह्निस्थान स्थितें दोषे वह्नौ चान्न रसान्विते।
स्फुटन्नोतो मुखे देहे स्नेहौज परिसर्पाति।।
पित्तोधिके कफे क्षीणे रुक्षे वातरुगर्दिते।
नरे रात्रौच दातव्यं काले चोष्णेऽनुवासनम्।।
उष्णे पित्ताधिके वाऽपि दिवा दाहादयो गदा:।
संभवति यतस्तस्मान् प्रदोषे योजयेत् भिषग्।।
शीते वसंते च दिवा ग्रीष्मे प्रावृड्घनात्यये।
स्नेहो दिनांते पानोक्तान् दोषान् परिजिहोर्षता।।

सु.चि.३७-४७ से ५१

१५५. अहोरात्रस्य कालेषु सर्वेष्वेवानिलाधिकं।
तीव्रायां रुजि जीर्णान्नं भोजयित्वाऽनुवासयत्।। सु. चि. ३७-५२

१५६. संसृष्टभक्तं नमेवह्नि सर्पिस्तं पाययेताप्यनुवासयेद्वा।। च. सि. १-२०

१५७. विरेचनात् सप्तरात्रे गते जात बलाय च।
कृतान्नानुवास्याय सम्यग् देयोऽनुवासनम्।। सु. चि. ३७-१

१५८. निरूह शोधितान् मार्गान् सम्यग् स्नेहोऽनुगच्छति।। सु.चि.३५-१९

१५९. न चाभुक्तवत: स्नेह प्राणिधेय: कथंचन। शुद्धत्वाद् शून्य कोष्ठस्य
स्नेह-मूर्ध्व समुत्पतेत्। सदानुवासयेच्चापि भोजयित्वाऽन्नपाणिनम्।
सु. चि. ३७-५३, ४५

१६०. एकं तथा त्रीन कफजे विकारे पित्तात्मके पंच तु सप्तवापि। वाते
नवैकादश वा पुनर्वा बस्तीनयुग्मान् कुशलो विदध्वात्।। च. सि. १-२५

१६१. दत्तस्तु प्रथमो बस्ति: स्नेहयेत्वस्ति वंक्षणौ। सम्यक् दत्तो द्वितीयस्तु मूर्धस्यमनिलो
जयेत्। जनयेत्बलवर्णो च तृतीयस्तु प्रयोजित:। रसं चतुर्थो रक्तं तु पंचमं स्नेहयेत्तथा।
षष्ठस्तु स्नेहयत्मासं मेद: सप्तम एव च। अष्टमो नवमच्चास्थि मज्जानं च
यथाक्रमम्। एवं शुक्र गतान् दोषान् द्विगुण: साधु साधयेत्। अष्टादशाष्टदशकान्

बस्तीनां वो निषेवते। यथोक्तेन विधानेन परिहारक्रमेणतु। सकुंजर बलोऽश्वस्य
जवैस्तुल्योऽमरं प्रभु:।।
सु. चि. ३७-७१ से ७६

१६२. न चैव गुद कंठाभ्यां दद्यात्सेहमनंतरं।
उभयस्मात् समं गच्छन् वातमग्निं च दूषयेत्।। च. सि. ४-४९

१६३. स्नेहबस्तिं निरूहं वा नैवमेकाति शीलयेत्। उत्क्लेशाग्निबधौस्नेहा-
त्निरूहत् मरुतो भयं। तस्मात्निरूढो संस्नेह्यो निरूह्यश्चानुवासित:।।
च. सि. ४-५०, ५१ तथा सु चि. ३७-७७, ७८ तथा अ. हृ. सू. १९-६५, ६६
(किंचित पाठभेद)

१६४. रुक्षनित्यस्तु दीप्ताग्निर्व्यायामी मारुतामयी।
वंक्षणश्रोण्युदात्तवृवाताश्चार्हा दिने दिने।।
एषां चाशुं जरा स्नेहो यात्यम्बु सिकतास्विव।
अतोऽन्येषां त्र्यहात् प्राय: स्नेहं पचति पावक:।।
च. सि. ४-४६, ४७ तथा टीका

१६५. अथानुवास्यं स्वभ्यक्तं सुष्णांबुस्वेदितं शनै:। ... सु. चि. ३७-५८

१६६. (१) भोज्यं पुनर्व्याधिमपेक्ष्य वद्वत् प्रकल्पयद् यूष पयो रसाद्यै: च. सि. ३-३४

(२) ज्वरं विदग्धभुक्तस्य कुर्यात्स्नेह: प्रयोजित:। न चाति स्निग्ध मशनं
भोजयित्वानुवासनं।। मदं मूर्च्छां च जनयेद् द्विधां स्नेह: प्रयोजित:।
रुक्षं भुक्तवतोह्यन्नं बलं वर्ण च हापयेत्।। युक्त क्षीररसैस्तस्मात्
यथा व्यार्धि समीक्ष्य वा। यथोचिताद् पादहीनं मोजयित्वानुवासयेत्।।
सु. चि. ३७-५५ से ५७

१६७. .....भोजयित्वा यथाशास्त्रं कृतचंक्रमणं तत:।
विसर्ज्य च शकृन्मूत्रं योजयेत्स्नेह बस्तिना।। सु. चि. ३७-३९

१६८. उत्सृष्टानिल विण्मूत्रे नरे बस्तिं विधापयेत्।
एतैहि विहित: स्नेहो नैवांत: प्रतिपद्यते।। सु. चि. ३७-३

१६९. (१) तत: प्रणिहित: स्नेह: उत्तानो वाक् शतं भवेत। प्रसादिते: सर्व गात्रै:
तथावीर्य विसर्पति।। ताडयेत् तलयोरेनं त्रींस्त्रीन् वारान् शनै:शनै:।
स्फिगोश्चैनं तत: शय्यां त्रीन्वारानुत् क्षिपेत् तत:। एवं प्रणिहिते वस्तौ
मंदायाशोथ मंदवाक्। स्वास्तीर्णशयने काममासीताचारिके रत:।।
सु. चि. ३७ से ६२

(२) सानिल: सपुरीषश्च स्नेह: प्रत्येति यस्य तु।
ओष चोष विना शीघ्रं स सम्यगनुवासित:।। सु. चि. ३७-६७

(३) निरूह पादांश समेन तैले नाम्लानिलघ्नौषध साधितेन्।
दत्वा स्फिगौ पाणितलेन हन्यात स्नेहस्य शीघ्रागम रक्षणार्थ:।।
ईषच्च पादांगुलि युग्ममाच्छेतुत्तानदेहस्य तलौ प्रमृख्यात्।
स्नेहेन पाष्ण्यर्गुलि पिंडकाश्च यें चास्य गात्रावयवा रुगार्ता:।
तांश्चावमृदनीत् सुखं ततश्च निद्रामुपासीत कृतोपधान:।।
च. सि. ३-२८ से ३०

(४) सतु सैंधव चूर्णेन शताह्वेन च योजित:। देय: सुखोष्णश्च तथा निरेति
साहसं सुखं। यस्यऽनुवासनो दत्त: सकृदन्वक्षमाव्रजेत्। अत्यौष्ण्यादति

तैक्ष्ण्यात् वा वायुना वा प्रपीडितः। स वातोऽधिकमात्रो वा गुरुत्वाद्
वा सभेषज्जः। तस्यान्योऽल्पतरो देयो न हि स्निह्यत्यतिष्ठति।।
सु. चि. ३७-६३ से ६५

१७०. यस्येह यामाननुवर्तते त्रीन् स्नेहो नरः स्यात् स विशुद्ध देहः।
आश्वागतेऽन्यस्तु पुनर्विधेयः स्नेहो न संस्नेहयति ह्यतिष्ठन्।। च. सि. १-४६

१७१. निवृत्ति कालः परमःस्त्रयो यामास्ततः परम्।
अहोरात्रमुपेक्षेत परतः फलवर्तिभिः।।
तीक्ष्णैर्वा बस्तिभिः कुर्यात् यत्नं स्नेह निवृत्तये।। अ.ह्.सू.१९-३२,३३

१७२. प्रत्यागते चाप्यनुवासनीये दिवा प्रदेयं व्युषिताय भोज्यम्।
सायं च भोज्यं परतो द्व्यहे वा त्र्यहेऽनुवास्योऽहनि पंचमे वा।।
त्र्यहेत्र्यहे—वाऽप्यथ पंचमे वा दद्यान्निरूहादनुवानसनं च।। च.सि.१-२३,२४

१७३. धान्यनागर सिद्धं हि तोयं दधात् विंचक्षिणः।
व्युषिताय निशां कल्पमुष्णं वा केवलं जलम्।।
स्नेहाजीर्ण जरयति श्लेष्माणं तद्भिनति च।
मारुतस्यानुलोम्य च कुर्यादुष्णोदकं नृणाम्।।
वमने च विरेके च निरूहे चानुवासने।
तस्मादुष्णोदकं देयं वात श्लेष्मोपशांतये।। च. सि. ४-४३ से ४५

१७४. वातपित्त कफात्यन्न पुरीषैरावृतस्य च।
अभुक्ते च प्रणीतस्य स्नेह बस्ते षडापदः।। च. सि. १४-२५

१७५. (१) शीतोल्पो बाधिके वाते पित्तेत्युष्णः कफे मृदु। अतिभुक्ते गुरुर्वर्चः संचयेऽल्पबलंस्तथा। दत्तैरावृतस्नेहो न यात्याभिभवादपि। अभुक्तेऽनावृतत्वाच्च यात्यूर्ध्व तस्य लक्षणम्। अंगमर्द ज्वराध्मान शीत स्तंभीरु-पिडनैः। पार्श्वरुग् वेष्टनैर्विद्यात् स्नेहं वातावृतं भिषक। स्निग्धाम्ल लवणोष्णैस्तं रास्ना पीतद्र तिल्वकै। सौवीरक सुराकोल कुलत्थ यव साधितैः। निरूहैर्हनिरेत् सम्यक् समुत्रैः पांचभूतिकैः। ताभ्यामेव च तैलाभ्यां सायं भुक्तऽनुवासनम्।।
च. सि. ४-२६ से ३०

(२) तत्र वाताभिभूते तु स्नेहे मुखकषायता। जृंभा वातरुजास्ताता वेपथुर्विषमज्वरः।।
सु. चि. ३७-८३

१७६. (१) दाहराग तृषामोह वमक ज्वर दूषणैः।
विद्यात् पित्तावृत स्वादुतिक्तैस्त बस्तिभिर्हरित्। च. सि. ४-३१

(२) पित्ताभिभूते स्नेहे तु मुख्यस्य कटुता भवेत्।
दाहतृष्णा ज्वरः स्वेदो नेत्र मूत्रांग पीतताः।। सु. चि. ३७-८४

१७७. (१) तंद्राशीत ज्वरालस्य प्रसेकारुचि गौरवैः।
संमूर्च्छाग्लानिभिर्विद्यात् श्लेष्मणा स्नेहमावृतम्।।
कषाय कटु तीक्ष्णौष्णैः सुरा मूत्रापसाधितैः।
फलतैलयुतैः साम्लैर्भस्तिभिस्तं विनिर्हरेत्।। च. सि. ४-३२, ३३

(२) श्लेष्मामिभूते स्नेहै तु प्रसेको मधुरास्यता।
गौरवं च्छर्दिरुच्छ्वासः कृच्छ्राच्छीत ज्वरोऽरुचिः।। सु. चि. ३७-८५

१७८. (१) च्छर्दि मूर्च्छारुचि ग्लानि शूल निद्रांगमर्दनैः आमलिंगै। सदाहैस्तं

विद्यादत्यशनावृतम्।। कटूनां लवणानां च क्वाथैश्चूर्णेश्च पाचनम्।
विरेको मृदुरत्राम विहिता च क्रिया हिता। च. सि. ४-३४, ३५

(२) अत्याशितेत्राभिभवात् स्नेहो नैति यदा तदा।
गुरुरामाशयः शूलं वायोश्च प्रति संचरः।। सु. चि. ३७-८७

१७९. (१) विण्मूत्रानिल संगार्ति गुरुत्वाध्मान हृद्ग्रहैः।
स्नेहं विडावृतं ज्ञात्वा स्नेहस्वेदैः सवर्तिभिः।।
श्यामा बिल्बादि सिद्धैश्च निरूहैः सानुवासनै।
निर्हरेदविधिना सम्यगुदावर्त हरेण च।। च. सि. ४-३६, ३७

(२) अशुद्धस्य मलोन्मिश्रः स्नेहोनैति यदा पुनः।
तदांगसदनाध्माते श्वासः शूलं च जायते।।
पक्वाशय गुरुत्वं च तत्र दद्यान्निरूहणम्।
तीक्ष्णं तीक्ष्णौषधैरेव सिद्धं चाप्यनुवासनम्।। सु. चि. ३७, ८९, ९०

१८०. (१) अभुक्ते शून्यपायौ वा वेगात् स्नेहोऽतिपीडितः।
धावत्यूर्ध्व ततः कंठादूर्ध्वेभ्यः खेभ्य एति च।।
मूत्रशामा त्रिवृत्सिद्धो यवकोल कुलत्थवान्।
तत्सिद्ध तैल इष्टोऽत्र निरूहः सानुवासनः।।
कंठादागच्छतः स्तंभकंठग्रह विरेचनैः।
च्छार्दिर्ध्निभिः क्रियाभिश्च तस्य कार्य निवर्तनम्।। च. सि. ४-३८ से ४०

(२) शुद्धस्य दूरानुसृते स्नेहे स्नेहस्य दर्शनम्।
गात्रेषु सर्वेन्द्रियाणां उपलेपोऽवसादनम्।।
स्नेहगंधि मुख चापि कास श्वासावरोचकः।
अतिपीडितवत्तत्र सिद्धिरास्थापनं तथा।। सु. चि. ३७-९१, ९२

१८१. अस्वित्र विशुद्धस्य स्नेहोऽल्पः प्रयोजितः।
शीतो मृदुश्च नाभ्येति ततो मंदं प्रवाहते।।
विबंध गौरवाध्मान शूलाः पक्वाशयं प्रति।
तत्रास्थापनमेवाशु प्रयोज्यं सानुवासवम्।। सु. चि. ३७-९३, ९४

१८२. अल्पं भुक्तक्तोऽल्पो हि स्नेहो मंद गुणस्तथा।
दत्तो नैति क्लमोत्क्लेशौ भृशं चारतिमावहेत्।।
तत्रास्थापनं कार्य शोधनीयेन बस्तिना ।। सु. चि. ३७-९५, ९६

१८३. स्नेहवस्तावमायाते नान्यः स्नेहो विधीयते।। सु. चि. ३७-९९

१८४. ह्रस्वायाः स्नेहमात्रायाः मात्राबस्ति समोभवेत्।। च. सि. ४-५३

ह्रस्वायाः स्नेहपानस्य मात्रायाः योजितः समः।
. . . . मात्रा बस्तिः।। अ. ह. सू. १९-६७

१८५. कर्मव्यायाम भाराध्व यान स्त्री कर्षितेषु च।
दुर्बले वातभग्नेच मात्राबस्तिः सदा मतः।
यथेष्टांहार चेष्टास्य सर्वकालं निरत्ययः।। च. सि. ४-५२, ५३

१८६. स्नेहमात्राविधानं हि बृंहणं वातरोगनुत्।। च. सि. ४-५४

१८७. च. पा.— उत्तरबस्ति संज्ञा उत्तरमार्ग दीयमानतया किंवा श्रेष्ठ गुणतया उत्तरबस्तिः
च. सि. ९-५० पर

१८८. डल्हण—तंत्रांतरेप्युक्तं "तत् सौवर्ण राजन वा श्लक्ष्णं गोपुच्छ वत्सस्म्।
अश्मध्न कुंद सुमनः पुष्प वृंताग्र मंडलम्।
सिद्धार्तक प्रवेशाग्रं मूले मध्ये सुकर्णिकाम्।
चतुर्दशांगुलं नेत्रं तत्र कार्य विजानता।"
सप्तांगुलंच परमं प्रणिधानं, तथाच क्षारपाणिः,
"अंगुलान्यच्च चत्वारि पंचषट् सप्त वा तथा।
सप्तांगुलंपरं नेत्रं प्रणिधेयं भिषग्विदा।
हिंस्याद् बस्ति नरचेह प्रमाणादधिकं तथा।। सु. चि. ३७-१०० पर

१८९. औरभ्रः शौकरो वापि बस्ति राजश्च पूजितः
तदालाभे प्रयुंजीत गलवर्म तु पक्षिणाम्।
तस्यालाभे हृतेः पादो मृदुचर्म ततोऽपि वा।।
ङ् ओरभ्रः मेषस्य।। च. चि. ३७-१०७,१०८

१९०. निविष्ट" कर्णिकं मध्ये नारीणां चतुरंगुले। मूत्रस्रोतः परिणाहं मुद्गवाही—
(१) दशांगुलम्। मेढ्रायाम समं केचिदिच्छंति खलु तद्विदः
तासामपत्य मार्गे तु निदध्याच्चतुर्रगुलं।
द्व्यंगलं मूत्रमार्गे तु कन्यायां त्वेकमंगुलम्।। सु. चि. ३७-१०३ से १०५
(२) पुष्प नेत्र प्रमाणं तु प्रमदानां दशांगुलं।।
मूत्रस्रोतः परीणाहं मुद्ग स्रोतोऽनुवाहि च।
अपत्य मार्गे नारीणां विधेयं चतुरंगुलं।
द्वयंगुलं मूत्रमार्गे तु बालायास्त्वेकमंगुलम्।। च. सि. ९-६५, ६६

१९१. (१) तेनाज बस्ति युग्मेन स्नेहस्यार्ध पलं नयेत्।। च. सि. ९-५२
(२) स्नेह प्रमाणं परमं प्रकुंचाश्चास्त्र कीर्तितः।
पंचविंशादधो मात्रां विदध्यात् बुद्धिं कल्पिताम्।। सु. चि. ३७-१०२
डल्हन—पंचविंशादधः इत्यादि वक्ष्यमाण वाक्यात् पंच वर्षमारभ्य स्नेह प्रमाणं परमं प्रकीर्तितम्। . . .सांवत्सरिक बालके स्नेह पलस्य पंचविंशतितममंशमारभ्य द्विवत्सरिकादौ प्रतिवत्सरं पंचविंशति-तमस्यांशस्य बुद्धिं विदध्यात् यावत् पंचविंशति वार्षिकस्य पलमिति।

१९२. स्नेहस्य प्रसृतं चात्र स्वांगुली मूल संमितम्।। सु. चि. ३७-१०६
गर्भाशय विशुद्ध्यर्थ स्नेहेन द्विगुणेन तु।। सु. चि. ३७-११७
क्वाथ प्रमाणं प्रसृतं स्त्रिया द्वि प्रसृतं भवेत्।
कन्येतरस्य कन्यायाः तद्वत् बस्ति प्रमाणकम्।। सु. चि. ३७-११७
डल्हणः—कन्यायाः अप्राप्त द्वादश वर्षायाः। तद्वत् इति पुरुषवत्
यथावयः स्वहस्त संम्मितं प्रसृतं प्रमाणं बस्ति शोधनार्थ न तु द्वि
प्रसृतं तस्य गर्भाशय शोधनार्थ विहितत्वात्।। इति।।

१९३. मूत्रौकसादो जठरं कृच्छ्रमुत्संग संक्षयौ।
मूत्रातीतोऽनिलाष्ठीला वातवस्त्युष्ण मारुतौ।।
वात कुंडलिका ग्रंथिर्विडधातो बस्ति कुंडलम्।
त्रयोदशैते मूत्रस्य दोषा, च. सि. ९-२५, २६
बस्तिमुत्तर बस्तिंच सर्वेषामेव दापयेत्।। च. सि. १-४९

१९४. शुक्रं दुष्ट शोणितं चांगलाना पुष्पोद्रेकं तस्य नाशंच कष्टं।
मूत्राघातान् मूत्र दोषान् प्रवृद्धान योनि व्याधि संस्थितिं चापराणां।।
शुक्रोत्सेकं शर्करामश्मरीच शूलं बस्तौ वंक्षणे मेहने च।
घोरान्यन्यान् बस्तिजांश्चापि रोगान् हित्वा रोगानुत्तरो हंति बस्ति।।
सु. चि. ३७-१३५, २२६

१९५. योनि शूलेषु तीव्रेषु योनिव्याप् स्वसृग्दरे। च. सि. ९-६३,
. . . योनि विभ्रंशजेषु च।।

१९६. स्त्रीणामार्तव काले तु प्रतिकर्म तदाचरेत्।
गर्भासना सुखं स्नेहं तदादत्तेह्यपावृता।
गर्भ योनिस्तदा शीघ्रं जिते गृह्णाति मारुते।। च. सि. ९-६२, ६३

१९७. स्नातस्य भुक्त भक्तस्य रसेन पयसापि वा।
(१) सृष्टविण्मूत्रवेगस्य।। च. सि. ९-५३
(२) यवागुं सघृतक्षीरां पीतवंतं यथाबलं। ..... स्वभ्यक्तबस्तिमूर्धानं
तैलेनोष्णेन मानवं।। च. सि. ३७-१०९

१९८. (१) सृष्टविण्मूत्रवेगस्य पीठे जानुसमे मृदौ। ऋजोः सुखोपविष्टस्य हृष्टे मेढ्र घृताक्तया। शलाकयाविष्यंति यद्यप्रतिहताव्रजेत्। ततः शेफप्रमाणेन पुष्पनेत्रं प्रवेशयेत्। गुदवन् मूत्रमार्गेण प्रवेशयेत् अनुसेवनम्। हिंस्यादति गतं बस्तिमूने स्नेहो न गच्छति। सुखं प्रपीड्य निष्कंपं निष्कर्षेत्नेत्रमेव च प्रत्यागते द्वितीयं च तृतीयं च प्रदापयेत्। च. सि. ९-५३ से ५६
(२) स्त्रियों में— उत्तानाया सम्यग्संकोच्य सक्थिनि।
अथास्याः प्रणयत नेत्रमनुवंशगतं सुखम्।। च. सि. ९-६७
(३) निषण्णाजानु समेपीठे सोपाश्रये समं। ....पूर्व शलाकयान्विष्य ततो
नेत्रमनंतरम। शनैः शनैघृताभ्यक्तं विदध्यादंगुलानि षट्।
सु. चि. ३७-११०,१११
(४) ऊर्ध्व जान्वै स्त्रियैदद्यादुत्तानायै विचक्षिणः। सु. चि. ३७-११४

१९९. द्विस्त्रिचतुरिति स्नेहानहोरात्रेण योजयेत्।
त्रिरात्रं कर्म कुर्वीतु स्नेहमात्रां विवर्धयन्।।
अनेनैव विधिना कर्म कुर्यात् पुनस्त्र्यहात्।। च. सि. ९-६८, ६९

२००. पिप्पली लवणागार धूमापामार्ग सर्षपैः।
वार्ताकुरसनिर्गुंडी शंपाकैः सह सहाचरैः।।
मूत्राम्लपिष्टैः सगुडैर्वर्ति कृत्वा प्रवेशयेत्।
अग्रे तु सर्षपाकारां पश्चार्धे माष संम्मिताम्।
नेत्रदीर्घा घृताभ्यक्तां सुकुमारामभंगुराम्।।
नेत्रवन्मूत्र नाड्यां तु. पायौ चागुष्ठ संम्मिताम्।। च. सि. ९-५८ से ६०

२०१. आरग्वधस्य पत्रैस्तु निर्गुड्या स्वरसेन च। कुर्यात् गोमूत्र पिष्टेषु
वर्तिर्वापि स सैंधवा। मुद्गैला सर्षपसमाः प्रविभज्य बयांसि तु।
बस्तेरागमनार्थाय तां निदध्याच्छलाकला।। सु. चि.३७-१२०, १२१

२०२. आगारधूम बृहती पिप्पली फल सैंधवैः।
कृता वा शुक्त गोमूत्र सुरापिष्टैः सनातरैः। सु. चि. ३७-१२२

२०३. ततः प्रत्यागते स्नेहमपराह्णे विचक्षिण।
भोजयेत्पयसा मात्रां यूषेणाथ रसेन वा।। सु. चि. ३७-११३

२०४. (१) स्नेहे प्रत्यागते ताभ्यामनुवासनिको विधिः।
परिहारश्च सव्यापत् ससम्यग्दत्तलक्षणः।। च. सि. ९-६१

(२) सम्यग्दत्त लिंगानि व्यापदः क्रम एव च।
बस्तेरुत्तर संज्ञस्य समानं स्नेह बस्तिना।। सु. चि. ३७-१२७

२०५. बस्तिर्वय स्थापयिता सुखायुर्बलाग्निमेधा स्वर वर्ण कृच्च। सर्वार्थ-कारी शिशुवृद्धायूनां निरत्याः सर्वगदापहश्च।। विटश्लेष्मपित्तानिल मूत्रकर्षी दार्ढ्यावहः शुक्रबलप्रदश्च। विश्वग्स्थितं दोषचय निरस्य सर्वान् विकारान् शमयेन्निरूहः।। च. सि. १-२७, २८

२०६. देहे निरूहेण विशुद्ध मार्गे संस्नेहनं वर्णबलप्रदश्च। न तैल दानात् परमस्ति किंचिंत् द्रव्यं विशेषेण समीरणार्ते। स्नेहेन रौक्ष्यं लघुतां गुरुत्वादौष्याच्च शैत्यं पवनस्य हत्वा। तैलं ददात्याशु मनः प्रसादं वीर्य बलं वर्णमथानि पुष्टिः।। च. सि. १-२९, ३०

२०७. शिशुनामाशिशुनांच बस्तिकर्मामृतं यथा।। का. सि. १-१९

२०८. तत्रास्थापनानुवासनंतु खलु सर्वत्रोपक्रमेभ्यो वाते प्रधानतमं मन्यंते भिषजः। तदादित एव पक्वाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं वातमूलं छिनत्ति। तत्रावजिते वातेऽपि शरीरांतर्गताः वातविकाराः प्रशांतिमाप-द्यंते। यथा वनस्पतेर्मलेछिन्ने स्कंधशाखा प्ररोह कुसुम फलपलाशादीनां नियतो विनाशस्तद्वत्।। च. सू. २०-१५

२०९. मूले निषिक्तो हि यथा द्रुम स्यान्नीलच्छदः कोमलपल्लवाग्रः। काले महान् पुष्पफलप्रदश्च तथा नरः स्यादनुवासनेन।। च. सि. १-३१

च. पाः— मूलदृष्टांतेन चानुवासनेन साक्षात्तर्पणीयस्य गुदस्य दह मूलत्व दर्शयति। उक्तं हि पाराशरे, "मूलं गुदं शरीरस्य सिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः। सर्व शरीरं पुष्णाति मूर्धानं यावदाश्रिताः।" इति तथा-नुवासनादपि नरो बलवीर्याद्युपेतोऽतोऽपत्यवांश्चापि स्यादित्यर्थः।।

२१०. स्तब्धाश्च ये संकुचिताश्च येऽपि ये पंगवो येऽपि च भग्न रुग्णाः। येषां च शाखासु चरंति वाताः शस्तोविशेषेण हि तेषु बस्तिः। आध्मापने विग्रथिते पुरीषे शूलेषु भक्तानभिनंदितेन। एवं प्रकारांश्च भवंति कुक्षौ ये चामयास्तेषु च बस्तिरिष्टः।। याश्चस्त्रियो वातकृतोपसृष्टा गर्भं न गुह्णाति नृभिः समेताः। क्षीणेन्द्रिया ये च नराः कृताश्च बस्तिः परमं च तेषृ।। च. सि. १-३२, ३३, ३४

२११. पक्वाश्रये तथा श्रोण्यां नाभ्यधस्ताच्च सार्ध्वतः। सम्यग् प्रणिहितो बस्तिः स्थानेष्वेतेषु तिष्ठति।। पक्वाशयाद् बस्तिवीर्य खैर्देहमुपसर्पति। वृक्षमूल निषिक्तानामपां वीर्य क्षिव द्रमम्।। सु. चि. ३५-२४, २५

डह्लणः—कथं तर्हि पक्वाशयमात्र गतो बस्तिः क्वचित् सर्वेषां अवयवानामवसादं क्वचित् सर्वांगानां दोषाणां हरणं शमनं च जनयतीति आह पक्वाशय इत्यादि। बस्तिवीर्य खै स्रोतोभिरनुसर्पति कृत्स्नदेहे, वीर्य शक्ति, प्रभाव इत्यनर्थान्तरम्।

२१२. स चापि सहसा बस्तिः केवलं समलोऽपि वा। प्रत्येति त्वनिलवीर्य अपानैर्विनीयते।

वीर्येण बस्तिरादते दोषानापादमस्तकान्। पक्वाशय स्मौबरगो भूमेरर्को रसानिव।। स कटीपृष्ठकोष्ठस्थान् वीर्येणालोड्य संचयान् उत्खातमूलान् हरति दोषाणं साधु योजितः।। सु. चि. २५-२६, २७, २८

डह्लणः—कथं निर्गतोऽपि तादृशः स्यादित्याह स चापि इत्यादि . . .।।

२१३. दोषत्रयस्य यस्माच्च प्रकोपे वायुरीश्वरं।
वायोः विषहते वेगं नान्या बस्तिऋते क्रिया।
पवनाविद्ध तोयस्य वेलावेगमिबोदधेः।। सु. चि. ३५-२९, ३०

२१४. शरीरोपचयं वर्ण बलमारोग्यमायुषः।
कुरुते परिवृद्धिंच बस्तिः सम्यगुपासितः।। सु. चि. ३५-३१

२१५. Materials introduced by Enema, in some instances pass through the walls into the Illium; Such incompitence may permit the Enema fluid to reach the duodenum.
"Thy Physiological Basis of medical practice". page.580.

२१६. The possibility of materials from even the lower bowel, reaching the mouth is strongly suggested by the fact that lycopodium sporce, introduced into the colon by enema, have been recovered some hours later from washing of the stomach. "Ibid-Page 561"

२१७. च. पा.—वामाश्रये हि ग्रहणी गुदे—तेन वामपार्श्व सुप्तस्य ग्रहणीगुदे प्रकृतिस्थे भवतः। प्रकृतिस्ये ज गुदे गुदस्य बस्तिना सम्यगुपश्लेषात् व्याप्तिर्भवति, तथा वलयश्च लीना भवंति। तेन सुखं बस्तिर्षाति ग्रहणी-गुदयो प्रकृतिस्थतया च बस्तिर्व्याप्य सुखं ग्रहणीं भायवतीति बौद्धव्यम्। च. पा. च. सि. ३-२४ पर

२१८. जेज्जट—नहिनेत्रं त्र्यंगुल प्रवेशमुत्तरगुर्द प्राप्नोति प्रवाहिणी वली तदाश्रिता अपरगुदंच विसर्जनी संवरणी द्वयाश्रयमुक्तं हि 'त्रिभागतरा-स्तिस्रो गुदवलियो गुदस्यार्धपंचांगुलावकाशे गुदद्वयमप्युक्तं, अपरगुदं च प्राप्यकिंचित्करः स्नेहः। न च नेत्र पीडिने तस्मिन्. . . .
ग्रहणीचाग्न्या-धिष्ठान प्रतिबद्धा (प्रसिद्धा), प्रतिविशन् बस्तिः तदुपघातं न करोति, अन्यथा पुनरनियतस्थान बस्तिना प्रतिहन्यते। स च तथावस्थितो न च प्रतिहतस्थानोग्निः समानपवनधूतः स्वकर्म कुर्वाणो बस्तेरूपकरोत्येव। न बस्तिनापि चाल्यते च्छाद्यते प्लाव्यते वा पक्वाशय प्राप्त्या तदग्न्य—धिष्ठानं प्राप्यते इति।।
च. सि. ३-२४ पर

२१९. Statistical Analysis of the 20 cases reveals that (1) the difference between the avarage fatty acid contents before and after the course of treatment highly significant ($T=4.61$, $P < 0.001$). (2) A highly significant increase in Protein Contents was observed ($T=4.32$, $P<0.001$) which indicates that the treatment is effective for increasing the protein contents of the patients."
आयुर्वेदालोक, एप्रिल १९६५ पृष्ट —७८, ७९

२२०. या एव कला पुरीषधरा सव अस्थिधरा इति षंचमे अस्थ्यनुप्रविश्य इत्यविरुद्ध।।
डह्लण — सु. क. ४-४० पर

२२१. सु. क. ४-४० पर

(१) मस्तुलुंगमिती शिरसो बलाधाणं सत्यानधृताकारं मस्तुलुंगभुच्यते।
डह्मण — सु. चि. २-५१ पर

(२) मस्तुलुंग इति अर्धाविलीन धृताकारी मस्तक मज्जा।
डह्मण — सु. सू. ३२-१२ पर

(३) मस्तिष्कः शिरोगतः स्नेहः।। च. पा. शा. ७-१५ पर

२२२. अधोनाभ्यस्थि मज्जानो वातस्थानं प्रचक्षते।। का. सू. २७

२२३. यैव पित्तधरा सैव मज्जधरा इति षष्ठे मज्जानमनुप्रविश्व इति अविरुद्धम्।।
डह्मण — सु. क. ४-४० पर

२२४. आयुर्वेदालोक—एप्रिल ६५, पृ. ७९

२२५. A Textbook of Medical Physiology—Pages 813 to 815. I

२२६. विंशतिविधाः क्रिमयः पूर्वमुद्दिष्टा नानाविधेन प्रविभागेन अन्यत्र सहजेभ्यः।।
च. वि. ७-९

च. पा. — अन्यत्र सहजेभ्यः इत्यनेन शरीर सहजास्त्वैकारिका विंशतेराप्यधिका भवंतीति दर्शयति।

२२७. आयुर्वेदालोक—एप्रिल ६५ पृष्ठ ७९, ८०

२२८. च. सि. १०

२२९. सु. चि. ३५

२३०. च. सि. १०

२३१. सु. चि. ३८

२३२. च. सि. १०

२३३. सु. चि. ३८

२३४. च. सि. १०

२३५. च. सि. ८

२३६. च. सि. ३

२३७. च. सि. ३

२३८. सु. चि. ३८

२३९. अ. ह्र. क. ४

२४०. सु चि. ३८

२४१. च. सि. १२

२४२. च. सि. ४

२४३. सु. चि. ३७

२४४. अ. ह्र. क. ४

२४५. च. सि. १२

२४६. च. चि. ३०

सप्तम अध्याय

नस्य-विज्ञान

व्याख्या एवं सामान्य परिचय

औषधि अथवा औषध सिद्ध स्नेहों को नासामार्ग से दिया जाना नस्य कहालाता है।[१] अरुणदत्त ने 'नासायां भवं नस्यम्' ऐसा कहा है और यहा व्याख्या व्याकरणसिद्ध भी है। भावप्रकाश ने "नासाग्राह्य" औषध को नस्य कहा है। नस्—धातु गत्यर्थक है तथा व्याप्ति के अर्थ में भी प्रयुक्त है। नसति अनासीत् ननास, नेसतुः ऐसे प्रयोग किये जाते हैं। नस्—नासिकायां—नासिका के अर्थ में भी प्रयुक्त है और नस्य का अर्थ जो नासिका के हितकर है वह कर्म ऐसा होता है। नस्तः यह शब्द नस् धातु से संज्ञावाचक हो जाता है, जिसका अर्थ भी नस्यकर्म है।[२]

जत्रु के ऊपर रहने वाले अर्थात् शिर के विकारों के लिए नस्य की विशेष उपयोगिता होती है, क्योंकि नासा को शिर का द्वार समझा जाता है और इस द्वार से नस्यौषध प्रविष्ट होकर संपूर्ण शिर में व्याप्त होकर उन विकारों को नष्ट करती है।[३] नस्य शब्द का ही पर्याय शिरोविरेचन, शिरोविरेक, मूर्धविरेचन भी कहा गया है। दोषों के शोधन के अर्थ में विरेचन शब्द प्रयुक्त होने के कारण यह पर्याय दिया गया हैं। तथापि सुश्रुत ने शिरोविरेचन शब्द नस्य के विशिष्ट भेद के लिए भी प्रयुक्त किया है। चरक ने नस्य के लिए "नस्तः प्रच्छर्दन" शब्द भी प्रयुक्त किया हैं। प्रच्छर्दन का अर्थ वमन है। "नस्तः प्रच्छर्दन" यह नस्य के द्वारा किया जानेवाला शोधन इस अर्थ में प्रयुक्त है। नस्तः प्रच्छर्द में अपामार्ग का प्रयोग करने को कहा है—जिसपर चक्रपाणि कहते हैं कि नस्तः प्रच्छर्दन—यह शिरोविरेचन है।[४] इसी तरह 'नावन' शब्द 'नस्तः कर्म' शब्द का भी प्रयोग मिलता है। नावन नामक नस्य का एक भेद भी है। "नासायां भव" नो नासा में होता है ऐसी नस्य की व्याख्या की गई है—अतः नासा का शारीर संक्षेप में समझ लेने की आवश्यकता है।

नासा शारीर

नासा या नासिका (Nose) को घ्राण, गंधवह, घोणा, नासिका, ये पर्याय हैं। यह तो णास्थि के द्वारा निर्मित अवयव है। सुश्रुत ने "द्व्यंगुलानि वृषण चिबुक दशन नासापुट कर्णमूल नयनांतराणि" कहकर नासा-पुट का प्रमाण २ अंगुल बताया है। डह्मण कहते हैं कि दोनों नासापुट के भागों में प्रत्येक का बाह्य भाग दो अंगुल प्रमाण का जाने। नासापुट के आभ्यंतरविवर का तीर्थक प्रमाण (Transverse diameter) एक तृतीयांश अंगुली कहा गया है। यहां डह्मण कहते हैं कि तरुणास्थि को छोड़कर रहते हुए भाग का यह प्रमाण है।

नासा की अस्थियां घोणास्थि या नासास्थि कहलाती हैं। नासा को ज्ञानेन्द्रिय कहा गया है। जिसका मुख्य कार्य गंधज्ञान कराना है। ज्ञानेन्द्रिय के संबंध में—

१. ज्ञानेंद्रिय
२. इंद्रियाधिष्ठान
३. इंद्रिय द्रव्य
४. इंद्रियार्थ

५. इंद्रिय बुद्धि—ये पांच अध्येतव्य विषय होते हैं। इसमें 'घ्राण' यह इंद्रिय है, नासिका इंद्रियाधिष्ठान है,आकाश, वायु, तेज, अप और पृथ्वी ये इंद्रिय द्रव्य हैं। गंध यह इस इंद्रिय का अर्थ—विषय है। जिघ्रति अनेन इति घ्राणम्' ऐसा कहा भी गया है। "नासाबुद्धि" यह इसकी इंद्रिय बुद्धि है—ध्रेय पदार्थों के विश्लेषण में जो उहापोह करती है वह इंद्रिय बुद्धि है। गंध का ज्ञान कराने का कार्य नासा के एक विशिष्ट भाग में होता है—अरुणदत्त कहते हैं—"घ्राणं नासाया: विशिष्ट एकदेशो घ्राणेंद्रियाधिष्ठानं" नासा के विवर को घ्राणमार्ग कहते हैं। नासा या ऊर्ध्व भाग जहां घ्राण स्थित है—उसे घ्राणमूल कहते हैं। नासा के च्छिद्र को घ्राणरंध्र कहते हैं। नासास्थि से बने नासा को नासावंश भी कहते हैं। नासा में दो गंधवह धमनियां होती हैं, जो नासामूल में गंधज्ञान का वहन करती हैं। इस गंधज्ञान का उहापोह इन्द्रिय बुद्धि द्वारा इंद्रियायतन—शिर में होता है जो यह उहापोह समझता है यह घ्राता—(आत्मा) है। शिर में तर्पक कफ रहता है जो सभी इंद्रियों का तर्पण करता है। प्राणवायु इंद्रियों को धारण करता है।

शिर—शिर या मूर्धा मस्तक का नाम है। इसे उत्तमांग भी कहते है। भेल ने शिर में हृदय की (मस्तिष्क) स्थिति बताई है। जिसे दस धमनियों का केन्द्र कहा है चरक ने कहा कि शिर में इंद्रिय तथा इंद्रियों के प्राणों का वहन करने वाले स्रोतस स्थित है। शिर में जो इंद्रियों का तंत्र बना हुआ है उसे मस्तुलुंग भी कहते है। मस्तुलुंग—शिरस्थ मज्जा से बनता है। इसे स्त्यान धृताकार का कहा गया है। शिर कपालास्थि बना है—और नासा उसका द्वार है। श्रोत्र, शृंगाटक, कंठ, चक्षु, इत्यादि सभी के शिरामुखों के मार्ग शिर में खुलते हैं। सामान्यत: देखा जाता है कि शिर के रोगों का निदान भी नासा से प्रविष्ट होता है। शिरोविकृति जन्य दुष्ट स्राव भी नासामार्ग से स्रवित होता है।

नस्य में प्रयुक्त द्रव्य

चरकोक्त नस्य द्रव्यों का नीचे परिचय दिया जाता है।[५] नस्य द्रव्य आभ्यंतर प्रयुक्त न होने के कारण उनका संक्षेप में सामान्य परिचय ही तालिका में दिया गया है।

नस्य द्रव्य

क्र.	नस्य द्रव्यमान	लेटिन नाम	प्रमुख गुणधर्म
१.	अपामार्ग (बीज)	Achyranthes Aspera.	रुक्ष, तीक्ष्ण, कटु, उष्ण, शोथहर, वेदनास्थापन
२.	पिप्पली	Piper Longum	स्निग्ध, तीक्ष्ण, कटु, अनुष्ण शीत
३.	मरिच	Piper Nigrum	लघु, तीक्ष्ण, उष्ण, कटु

क्र.	नस्य द्रव्यमान	लेटिन नाम	प्रमुख गुणधर्म
४.	विडंग	Embelia Ribes	रुक्ष, तीक्ष्ण, कटु, उष्ण, क्रिमिघ्न
५.	शिग्रु सहिंजन	Moringa Pterygosperma	रुक्ष, तीक्ष्ण, कटु, उष्ण, कफवातघ्न
६.	सर्षप	Brassica Nigra	तीक्ष्ण, उष्ण, कफवात नाशक, कटु, तिक्त
७.	तुंबुरु (नेपाली धनिया)	तेजोवती के गुण देखे	—
८.	अजाजी (जीरक)	Cuminum Cymium	रुक्ष, कटु, उष्ण
९.	अजमोदा	Carum Roxburghianum	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण वेदना स्थापन
१०.	पीलु	Salvadora Persica	स्निग्ध, तीक्ष्ण, उष्ण, वेदनास्थापन
११.	हरेणुका (रेणुका)	—	कटु, तिक्त, अनुष्ण
१२.	पृथ्विका-(कालाजाजी कलौंजी)	Nigella Sativ	रुक्ष, उष्ण, कटु, शोथ-हर, वेदनास्थापन
१३.	सुरसा (तुलसा)	Ocimum Santum	रुक्ष, कटु, तिक्त, जंतुघ्न
१४.	श्वेता (अपराजिता)	Chitoria Terneta.	कषाय, कटु, शीत
१५.	कुठेरक (तुलसीभेद)	तुलसी देखें	—
१६.	फणिज्झक (तुलसी-भेद)	तुलसी देखें	—
१७.	शिरीष (बीज)	Albizzia Lebeck	रुक्ष, तीक्ष्ण, कषाय, शोथहर, वेदना स्थापन
१८.	लशुन	Allium Sativum	कटु, उष्ण, तिक्तकटु
१९.	हरिद्रा	Cureuma longa	रुक्ष , उष्ण, तीक्ष्ण कफवातघ्न
२०.	दारुहरिद्रा	Berberis Arsstata	रुक्ष, तिक्त, कषाय, उष्ण, शोथहर
२१.	सौवर्चल लवण	—	सूक्ष्म, स्निग्ध, उष्ण
२२.	सैंधव लवण	—	अविदाही, सूक्ष्म, उष्ण (शीत)
२३.	ज्योतिष्मती (मालकाँगनी)	Celastrus panniculata	तीक्ष्ण, सर, कटु, उष्ण
२४.	शुंठी	Zingibar offcinale	स्निग्ध, तीक्ष्ण, उष्ण,कटु
२५.	गंडीर	—	—

क्र. नस्य द्रव्यमान	लेटिन नाम	प्रमुख गुणधर्म
२६. शल्लकी (निर्यास)	Boswellia Serrata	रुक्ष, तिक्त, मधुर, शीत, वेदनास्थापन
२७. तेजोवती (तेजबलहि)	Zanthoxylon Alatum	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण
२८. इंगुदी	Balanites Rox Burghii	स्निग्ध, उष्ण, जंतुध्न
२९. त्वक्-दालचिनी	Cinnamomum Zeylanicum.	रुक्ष, तीक्ष्ण, कटु, तिक्त उष्ण, कफवात शामक
३०. वार्ताकी	Solanum Mecongena	रुक्ष, तीक्ष्ण, मधुर शोथहर
३१. एला	Elettairria Cardamomam.	रुक्ष, कटु, मधुर, शीत, दुर्गंधनाशन
३२. सुमुख (तुलसी भेद)	—	—
३३. गंड़ीरक (तुलसी भेद)	—	—
३४. कालमालक (तुलसी भेद)	—	—
३५. पर्णांत (तुलसी भेद)	—	—
३६. शृंगवेर (शुंडी देखे)	—	—
३७. मूलक	Raphanus Sativus	तीक्ष्त, उष्ण, वेदना-स्थापन
३८. तर्कारी	—	—
३९. अर्क	Calotropis Procera	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण, कटु
४०. अलर्क (श्वेतपुष्प का अर्क)	Calotropis Gigantia	
४१. कुष्ठ	Saussurea Lappa.	रुक्ष, तिक्त, कटु, उष्ण, वेदनास्थापन
४२. नागदंती	Croton oblongi-folicus.	स्निग्ध, तीक्ष्ण, उष्ण
४३. वचा	Acorus. Calamus.	लघु, तीक्ष्ण, सर, उष्ण, कफवातध्न
४४. भार्गी	Clorodendron Serratum	लघु, रुक्ष, तिक्त कटु, उष्ण
४५. गवाक्षी (इंद्रायण)	Citrullus Colhcynthis	रुक्ष, तीक्ष्ण, कटु, उष्ण
४६. अवाक् पुष्पी	—	—
४७. वृश्चिकाली (बिछाटी)		
४८. ब्राह्मी	Hydrocotyle Asiatica.	तिक्त, कषाय, शीत

क्र. नस्य द्रव्यमान	लेटिन नाम	प्रमुख गुणधर्म
४९. अतिविष (मूल)	Aconitum Heterophylum.	रुक्ष, तिक्त, उष्ण, (कृमिध्न)
५०. लोध्र	Symplocus Racemosa	रुक्ष, कषाय, कटु, शीत, शोथहर
५१. मदनफल	Randia dumatorum	लघु, रुक्ष, मधुर, तिक्त, उष्ण, शोथहर
५२. सप्तपर्ण	Alstonia Scholaris	तिक्त, कषाय, उष्ण, रोपण
५३. निम्ब	Melia Azadirachta	लघु, तिक्त, शीत जंतुध्न, वेदनास्थापन
५४. देवदारु	Cedrus Deodara	निग्ध, तिक्त, उष्ण
५५. अगरु (निर्यास)	Aquillaria Agallocha	रुक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण, शोथहर, वेदनास्थापन
५६. सरल (निर्यास)	Pinus Longifolia	लघु, तीक्ष्ण, स्निग्ध, उष्ण
५७. हिंगु (निर्यास)	Ferula Narthex	स्निग्ध, तीक्ष्श, उष्ण, कफवातनाशक
५८. गुडूचि (त्वक्)	Tinospora Cordifolia	गुरु, स्निग्ध, उष्ण
५९. बृहती कटेरी	Solanum Xent-hocorpum कटेरी Solanum Indicum (बृहती)	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण, उष्ण
६०. क्षवक (नकछिकनी)	Centipeda Orbicularis	तीक्ष्ण, उष्ण, वातकफ शामक

सुश्रुतोक्त नस्य द्रव्य[६]

१. पिप्पली	२. विडंग	३. अपामार्ग	४. शिग्रु
५. सरसों	६. शिरीष	७. मरिच	८. कनेर
९. बिंबी	१०. श्वेतापराजिता	११. किणिहि (कटभी)	१२. वचा
१३. ज्योतिष्मती	१४. करंज	१५. अर्क	१६. अलर्क
१७. लशुन	१८. अतीस	१९. सोंठ	२०. तालीशपत्र
२१. तमालपत्र	२२. सुरसा	२३. अर्जक	२४. इंगुदी
२५. मेढाशृंगी	२६. मातुलुंगी	२७. मुरंगी (लाल फूल का सहिजन)	२८. पीलू
२९. जाती	३०. साल		३१. ताड
३२. महुआ	३३. लाक्षा	३४. हिंगु	३५. लवण
३६. मद्य	३७. गोमय	३८. गोमूत्र	

वाग्भटोक्त नस्य द्रव्य[७]

१. विडंग	२. अपामार्ग	३. त्रिकटु	४. दारुहरिद्रा
५. राल	६. शिरस	७. बड़ी कटेरी	८. शिग्रु
९. महुवे का सार	१०. सैंधव	११. रसौंत	१२. इलायची
१३. बड़ी इलायची	१४. हिंगु पत्री		

उपर्युक्त द्रव्यों के अतिरिक्त तैल, घृत इन स्नेहों का नस्यार्थ उपयोग किया जाता है।

नस्य के प्रकार

चरक ने नस्य के निम्नलिखित ६ प्रकार बताये हैं।[८]

१. **नावन नस्य**— यह १.स्नेह और २.शोधन दो प्रकार का होता है।

२. **अवपीड नस्य**—यह १.शोधन और २.स्तंभन दो प्रकार का होता है।

३. **ध्मापन नस्य**—

४. **धूम नस्य**— यह १. प्रायोगिक २. वैरेचनिक और ३.स्नैहिक धूम इस तरह ३ प्रकार का होता है।

५. **प्रतिमर्श नस्य**— यह १.स्नेह और २. विरेचन इस तरह दो प्रकार का होता है।

ये पांच प्रकार से विभक्त नस्य कार्मुकता के आधार पर तीन प्रकार से विभक्त किये गये हैं।

१. रेचन २. तर्पण ३. शमन

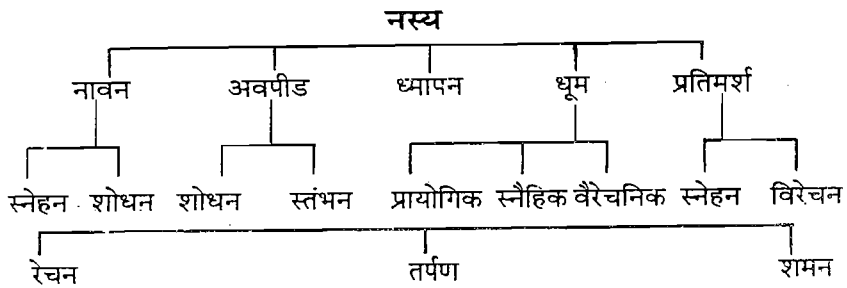

सुश्रुतोक्त प्रकार[९]—सुश्रुत ने नस्य के मुख्य दो प्रकार किये है।

१. शिरोविरेचन २. स्नेहन

इन दो प्रकार के नस्यों के पुनः पांच प्रकार होते हैं।

१. नस्य २. शिरोविरेचन ३. प्रतिमर्श ४. अवपीड ५. प्रधमन

इनमें नस्य का ही विकल्प, प्रतिमर्श और शिरोविरेचन का विकल्प अवपीड और प्रधमन नस्य माना गया है।

वाग्भट— कर्म के अनुसार नस्य को ३ प्रकार में विभक्त किया है।[१०]

१. विरेचन नस्य २. बृंहण नस्य ३. शमन नस्य

काश्यप ने—नस्य के १. बृंहण एवं २. कर्षण ऐसे दो प्रकार किये हैं। विकल्प में शोधन नस्य और पूरण नस्य ऐसे और दो प्रकार किये है।[११]

शार्ङ्गधर ने—नस्य के १.रेचन और २. स्नेहन ऐसे दो प्रकार किये हैं। रेचन का पर्याय कर्षण है, और स्नेहन को बृंहण पर्याय दिया है। विरेचन या रेचन नस्य अवपीड तथा प्रधमन दो प्रकार से विभक्त किया है, और बृंहण नस्य प्रतिमर्श और प्रतिमर्श ऐसे दो प्रकार से विभक्त किया है।[१२]

भोज ने—प्रायोगिक और स्नैहिक दो प्रकार का नस्य कहा है और विदेह ने— १.संज्ञा प्रबोधक और स्तंभन ऐसा दो प्रकार का नस्य कहा है।[१३]

इस तरह नस्य के विविध भेद किये गये हैं। तथापि चरक के भेदों में प्रायः सभी का समावेश किया है। चक्रपाणि ने अन्य भेदों का उसमें समावेश किया है। वे कहते हैं कि सुश्रुत ने धूम को छोड़कर नस्यः शिरोविरेचन, प्रतिमर्श, अवपीड और प्रधमन ऐसे पांच प्रकार बताये हैं। यहां नावन शब्द से ही शिरोविरेचन का ग्रहण होता है। जैसे कि नावन नस्य स्नेहन एवं शोधन दो प्रकार का कहा है। इससे सुश्रुत के स्नेहन नस्य का भी ग्रहण होता है। अवपीड नस्य स्तंभन एवं शोधन दो प्रकार का कहा है—सुश्रुत ने अवपीड का जो संशमन कर्म बताया है वह यहां 'सतंभन' में अंतर्भूत होता है। पीडन के द्वारा जो कल्कादि दिये जाते हैं उसे अवपीड कहते हैं। इससे सैंधव पिप्पल्यादि के कल्कों का अंतर्भाव अवपीड में होता है। ध्मापन नस्य देहस्रोतोविशोधन कर्म वाला कहा गया है। जिससे सुश्रुतोक्त शिरोविरेचन कर्म का अंतर्भाव होता है। धूम के शमनादि प्रकार में प्रायोगिक, स्नैहिक, वैरेचनिक धूमों का समावेश होता है और यह भी स्नेहन और विरेचन से उभयार्थकृत होता है। इन सब नस्यों को चरक ने रेचन तर्पण और शमन तीन प्रकार में विभक्त किया है और प्रायः इसी का अनुसरण आगे सब ने किया है। शमन से स्तंभन का तर्पण से स्नेहन का ग्रहण हो जाता है।[१४]

रेचन नस्य—उसे कहते हैं जो शिरस्थ दोषों को स्थानच्युत करके नासा-मार्ग से बाहर निकाल दे। प्रधमन प्रकार का नस्य, धूमनस्य और प्रतिमार्श नस्य विरेचनार्थ दिये जाते हैं। स्तंभ सुप्ति, गौरवादि शिरोविकार में रेचन नस्य दिया जाता है। तर्पण—या बृंहण नस्य उसे कहते हैं जो शिर में धातु क्षय और दोष क्षय में प्रयुक्त किया जाता है। यह पोषण करता है। वातजशिरोरोग में, शिरः कंप, अर्दित में तर्पण नस्य देना चाहिये। शमन नस्य उसे कहते हैं जिसका उपयोग दोषों के शमन के लिए किया जाता है। इसमें स्तंभन, प्रतिमर्शादि नस्य समाविष्ट होते हैं। रक्तपित्तादि रोगों में स्तंभन नस्य दिया जाता है।

इस तरह नस्य भेद में कुल प्रयुक्त शब्द इस प्रकार के हैं—

१. नावन	२. अवपीड	३. प्रतिमर्श
४. ध्मापन	५. धूम	६ बृंहण
७. शमन	८.विरेचन रेचन	९. कर्षण
१०. स्नेहन	११. मर्श	१२. प्रायोगिक
१३. स्नैहिक	१४. वैरेचनिक	१५. तर्पण
१६. शिरोविरेचन	१७. नस्य	१८. संज्ञाप्रबोधन
१९. स्तंभन	२०. शोधन	

आश्रय भेद से नस्य के प्रकार

नस्यार्थ द्रव्य के विविध अंगों का प्रयोग किया जाता है। चरक ने द्रव्य के उपयुक्तांग के अनुसार नस्य के ७ प्रकार निर्दिष्ट किये हैं।[१५]

१. फलनस्य २. पत्रनस्य ३. मूलनस्य ४. कंदनस्य
५. पुष्पनस्य ६. निर्यास नस्य ७. त्वक नस्य

१. फल नस्य—फलों के द्वारा दिया जाता है—इसमें—अपामार्ग, पिप्पली, विडंग, मरिच, शिग्रु, शिरीष, पीलु, अजवाईन, अजमोदा, एला, हरेणुकादि फलों का उपयोग निर्दिष्ट है।

२. पत्र नस्य—सुमुख, तुलसी, सप्तपर्ण, आरग्वध, नस्यछिकनी, मूलक, शृंगबेर, लशुन, तर्कारी, सर्षप, तालीशपत्र, तमालपत्र, इनके पत्रों का उपयोग निर्दिष्ट है।

३. मूलनस्य—अर्क, अलर्क, कुष्ठ, नागदंती, वचा, भारंगी, मालकांगनी इंद्रायण, ब्राह्मी, अतिविषा, कनेर, कंदूरी, करंज इनके मूल का नस्यार्थ निर्देश किया है।

४. कंदनस्य—हरिद्रा, सोंठ, मूली, लशुन इनके कंद का प्रयोग करना निर्दिष्ट किया गया है।

५. पुष्पनस्य—लोध्र, मदन, सप्तपर्ण, निंब, अर्क इनके फूलों का नस्यार्थ उपयोग होता है।

६. निर्यास नस्य—देवदारु, हिंगु, अगुरु, सरल, शल्लकी, ताड, महुवा, लाक्षा, इनके निर्यास का प्रयोग नस्यार्थ निर्दिष्ट है।

७. त्वक् नस्व—तेजोवती, गुडूचि, इंगुदी, शोभांजन, बड़ी कटेरी, दालचिनी, मेढासिंगी इनकी त्वचा नस्य में प्रयोगार्ह है।

उपर्युक्त द्रव्यों के चूर्ण, कल्क, स्वरस, क्षीर, क्वाथ, सार, उदक, धूम, मांस रस, सिद्धतैल, घृतादि स्नेह, मद्य इनका यथायोग्य प्रयोग नस्य के लिए किया जाता है। नस्य के ये सब प्रकार नीचे निर्दिष्ट प्रकार में बताये जा सकते है। (तालिका देखें पृ. ४६५)

नावन नस्य

नावन यह हमेशा देने योग्य एवं एक प्रमुख नस्य है। इसके स्नेहन और शोधन दो प्रकार पहले बताये गये हैं। नावन के समान नस्य को सुश्रुत ने स्नेहन नस्य कहा है। इसे 'नस्य' ऐसा भी कहा जाता है। जो शिर: शून्यता में लाभ करता है, जो गर्दन, खंदों तथा उर को बल देता है, दृष्टि का तेज बढ़ाता है, उस स्नेहन नस्य को 'नस्य' ऐसा कहते है।[१६] यह नस्य अणु तैलादि स्नेहों के द्वारा दिया जाता है। कपास के पिचु को स्नेह में डुबाकर नासा में बिंदु छोड़ देना नावन कहलाता है।[१७]

यह निम्नलिखित रोगों में देना चाहिये।[१८]

१. वातज शिरोरोग २. दंतपात ३. केशपात ४. श्मश्रुपात
५. तीव्रकर्णशूल ६. कर्णक्ष्वेद ७. तिमिर ८. स्वेदोपघात
९. नासारोग १०. मुखशोष ११. अवबाहुक
१२. अकालज वली—झुर्रियां गिरना
१३. अकालज पलित केश सफेद होना।
१४. दारुण प्रबोध—नींद से जल्दी न जगना, या पल्कों का जल्दी से न खुलना।
१५. वातपित्तज मुखरोग इन रोगों में वातपित्तहर द्रव्यों के सिद्ध स्नेहों से नस्य दे।

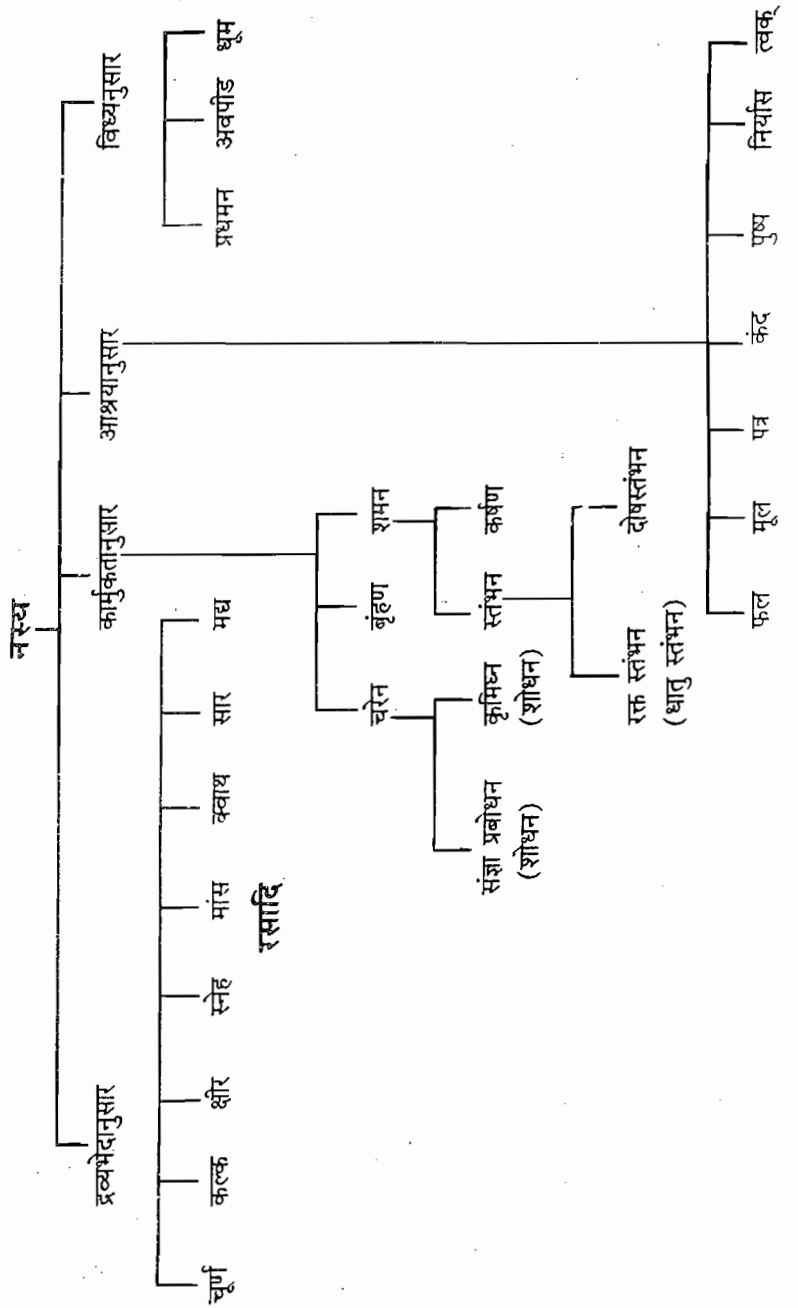

स्नेहन नस्य की प्रथम मात्रा हीन मात्रा कहलाती है। जो प्रति एक नासा में ८ बिंदु इस तरह १६ बिंदु की है। दूसरी मात्रा मध्यम मात्रा कहलाती है जो शुक्ति प्रमाण की है—प्रत्येक नासा में १६ बिंदु इस तरह ३२ बिंदु की है। तीसरी मात्रा उत्तम मात्रा कहलाती है जो पाणिशुक्ति प्रत्येक नासा में ३२ बिंदु इस तरह ६४ बिंदु की हैं।[१९]

भोज ने प्रायोगिक स्नेहन नस्य के लिये ८ बिंदु, स्नैहिक नस्य में १६ बिंदु की मात्रा कही है। इसी तरह दोषों का बल देखकर दुगुनी, तिगुनी मात्रा भी दी जा सकती है ऐसा कहा है। इस तरह ८ बिंदु, १६ बिंदु, २४ बिंदु की मात्रा होती है।

नावन में ही सुश्रुत के 'शिरोविरेचन' का अंतर्भाव होता है—जो शोधन प्रकार का है। यह नस्य कफ से व्याप्त तालु, कंठ शिर की अवस्था में अरुचि शिरोगौरव, शूल, पीनस, अर्द्धावभेदन, कृमि, प्रतिश्याय, अपस्मार, गंधज्ञान का नाश, तथा उर्ध्व जत्रुगत कफरोगों में दिया जाता है। शिरोविरेचन द्रव्य— पिप्पल्यादि अथवा उनके सिद्ध स्नेहों का शिरोविचरेचन या शोधन नावन में प्रयोग करें।[२०] (पिप्पली, विडंग, शिग्रु, अपामार्ग, नकछिकनी इत्यादि शोधन द्रव्य है) शोधन नस्य में स्नेह की मात्रा—हीन मात्रा ४ बिंदु, मध्यम मात्रा ६ बिंदु तथा उत्तम मात्रा ८ बिंदु की देनी चाहिये।[२१] अणुतैल नस्य इस में लाभप्रद है। ३—३ दिन में एक बार नस्य दिया जा सकता है। यह इंद्रियों को बल देता है। सुश्रुत मतानुसार दोनों प्रकार के (स्नेहन—विरेचन) ये नस्य भोजन के पूर्व—अन्नकाल के समय दिये जा सकते हैं। कफज रोगों के लिए पूर्वाह्न में पित्तज रोगों के लिए मध्याह्न में और वातज—रोगों के लिए अपराह्न में देना चाहिये। यदि स्वस्थ पुरुषों में यह नस्य देना हो तो शीत काल में मध्याह्न में दे, शरद बसंत ऋतु में पूर्वाह्न में दे, ग्रीष्म ऋतु में अपराह्न में दे, और वर्षा ऋतु में सूर्य दर्शन हो तब देवे, अर्थात् अदुर्दिन में देना चाहिये।[२२]

अवपीड नस्य

जिस नस्य में औषधियों को निचोड़ कर रस या कल्कादि को नासा में डाला जाता है उसे अवपीड नस्य कहते हैं।[२३] यह नस्य स्तंभन और शोधन दो प्रकार का कहा गया है। सुश्रुत ने शिरोविरेचन का विकल्प अवपीड कहा है। तथापि विरेचन (शोधन) के समान इसका रक्तपित्तादि क्षय जन्य व्याधि में स्तंभन के लिए शर्करा इक्षुरसादि द्रव्यों से प्रयोग निर्दिष्ट किया है।[२४] अत: दोनों में मतांतर नहीं है। इसका प्रयोग विरेचन के समान ४ बिंदु, ६ बिंदु और ८ बिंदु मात्रा में है। चक्रपाणि ने अवपीड के शोधन सतंभन तथा शमन में तीन कर्म बताये हैं और कल्कादि से अवपीडन करने का निर्देश किया है। सैंधवपिप्पल्यादि कल्क विरेचन (शोधन) के लिए विहित है। डल्हण ने विदेह का मत देते हुए अवपीड नस्य के संज्ञा प्रवोधन और स्तंभन ऐसे दो भेद किये है। विसंज्ञ को पुन: संज्ञा प्राप्ति के लिए दिया जानेवाला नस्य संज्ञा प्रबोधन है। यह शोधन स्वरूप का नस्य समझना चाहिये। शोधन नस्य के समान यह शिर के कफ से भरे जानेपर, सर्पदंष्ट से संज्ञानाश होनेपर देना चाहिये। विदेह ने—विषपीड़ित, संन्यास, मूर्च्छा, मोह, अपतंत्रक, मद, अपस्मार, शिरोवेदना, क्रोध, भयादि पीनस रोगों में तथा मन की व्याकुलावस्था में करने का निर्देश किया है। स्तंभन—प्रकारक अवपीड नस्य कल्क, शर्करा, इक्षुरस, दूध, घी, मांसरस, मधु, इत्यादि के द्वारा रक्तपित्त में रक्त स्तंभन के लिए अथवा क्षीणों में दोष शमन के लिए दिया जाता है।[२५] कृश रोगियों में भी रुओं में, सुकुमारों में तथा स्त्रियों में विशेषत: स्नेह और कल्क का नस्य देना हितकर होता है।[२६]

ध्मापन अथवा प्रधमन नस्य

ध्मापन नस्य को ही प्रधमन नस्य कहा जाता है। यह विशेषत: शोधन प्रकार का है और इसमें चूर्ण का प्रधमन किया जाता है। प्रधमन का अर्थ चूर्ण को नासा में फेंकना है। धमन के लिए (फूकने के लिए) ६ अंगुल लंबी नलिका—उभयतो मुखवाली—लेकर उसमें चूर्ण भरकर नासा में फूककर छोड़ दिया जाता है। प्रधमन नस्य मानसिक रोगों में (उन्माद अपस्मार, अतत्वाभिनिवेश इत्यादि) कृमिज शिरोरोग में, तथा विषपीड़ितों में देना चाहिये। इसकी मात्रा विदेह ने ३ मुच्युटी कहीं है। तर्जनी (अंगूठे के समीप की उंगली), तथा अंगूठे के द्वारा एक समय में जितनी मात्रा ली जा सकती है उसे 'मुच्युटी' (चिमटी भर) कहा जाता है।[२७] विदेह ने प्रधमन की दूसरी विधि बताते हुए कहा है कि पतले कपड़े में शुक्तिप्रमाण (दो तोले) में द्रव्य चूर्ण भरकर नासा में वह पोटली रख कर उसे सूंघना चाहिये। जोर से सूंघने पर पोटली में से चूर्ण बाहर निकल कर नासा में प्रविष्ट हो जाएगा। ''वस्त्र से छाना जाना'' यह ही सूक्ष्म चूर्ण का लवण होता है। अतएव यह चूर्ण श्वास के खींचने पर पोटली में से निकलकर नासा में जा सकता है। इसमें मात्रा का भय नहीं रहता। क्योंकि एकबार खींच लेनेपर अल्प मात्रा में ही चूर्ण अंदर जा सकता है और मुच्युटी प्रमाण का मर्यादातिरेक नहीं होता।

धूम नस्य

धूम नस्य मे नासा द्वारा औषधसिद्ध धूम को खींचा जाता है। यह धूम-दान प्रकरण में विस्तार से निर्दिष्ट किया गया है। वस्तुत: मुख से जो धुआं लिया जाएगा उसे धूमपान कहना चाहिये, और नाक से जो धुआं लिया जाएगा उसे धूमनस्य कहना चाहिये। यद्यपि ग्रंथ में 'सेवन करने' के अर्थ में पान शब्द का प्रयोग दोनों के लिए निर्दिष्ट है : चक्रपाणि ने स्पष्ट किया है कि नासा से ग्राह्य धूम को ही नस्य कहना उचित है।[२८] प्रायोगिक या शमन धूम, वैरेचनिक और स्नैहिक धूम ऐसे तीन प्रकार के धूम होते हैं। शिरोरोग, नासारोग, अक्षिरोग, इन में धूमनस्य लेना चाहिये।[२९] वाग्भट ने कहा है कि नासा और शिर में दोष यदि उत्क्लिष्ट हो तो पहले नासा से धूम लेवें, और बाद में मुख से लेवे और यदि नाक और शिर में दोष का उत्क्लेश न हो और उत्क्लेश करना हो तो पहले मुख से और बाद में नाक से धूम लेवे।[३०] नाक से धूम खींच कर मुख से बाहर निकालना विहित है किंतु मुख से खींच कर नाक से बाहर निकालना ठीक नहीं है, क्योंकि नाक से बाहर निकला हुआ धूम आँखों के लिए विघातक होता है।[३१]

धूम नस्य दो प्रकार से किया जा सकता है। नस्यार्थ बताये गये औषधियों का नस्य नलिका में रखकर उसे जलाकर नेत्र (नस्य नेत्र) के दूसरे बाजू से नाक से धुआं खींचकर नस्य लेंवे। यह नस्य नेत्र तीक्ष्ण या विरेचन प्रकार के लिए २४ अंगुल लंबा, स्नैहिक प्रयोग के लिए ३२ अंगुल लम्बा और प्रायोगिक या मध्यम प्रकार के लिए ३६ अंगुल लंबा होना चाहिये। वाग्भट मतानुसार अंतिम नेत्र ४० अंगुल लंबा होना चाहिये। आतुर को सीधे बिठाकर, मन को एकाग्र कराकर नासा को अंगुलि से बंद कर दूसरी से धुआं खींच लेने को कहे। इस तरह ३—३ बार धुआं खींचना चाहिये।[३२]

धूमनस्य का दूसरा प्रकार संहिता के नस्योल्लेख से विकसित स्वरूप की अन्य विधि समझनी चाहिये। औषधियों के धूम के सदृश औषधि के वाष्प का नासा द्वारा ग्रहण करना

यह विधि इसमें की जाती है। यह वाष्पस्वेद का प्रकार भी समझा जा सकता है। लेकिन नासा से वाष्प लेना नस्य में अंतर्भूत है नस्य के लिए उपयुक्त द्रव्यों को जल में उबालकर निकलने वाली वाष्प वस्त्रावृत शिर की अवस्था में नासा से खींचना चाहिये।[३३] इसी तरह कंटकारी आदि के चूर्ण को प्रत्यक्ष २—३ कोयलों को अग्निपर डालकर निकलने वाले धुएँ को वस्त्राच्छादित नासा से खींचना चाहिये। यह नस्य नासावरोध पीनस, नासाप्रतिनाह, तथा कंठरोगों में अतीव लाभप्रद होता है।

प्रायोगिक धूम के लिये—हरेणु, प्रियंगु, केशर, चंदनपत्र, इलायची, उशीर, पद्मक, महुआ, जटामांसी, गुगुल, अगुरु, पीपल, वड, गुलेर, प्लक्ष, लोध्र, सर्जरस, नागरमोथा, इत्यादि द्रव्यों को उपयोग करना चाहिये। स्नैहिक धूम के लिए वसा, घी, मोम के साथ जीवनीय गणों के औषधि से धूम लेना चाहिये। वैरेचनिक धूम के लिए श्वेतापराजिता, मालकांगनी, हरिताल, मन:शिला, अगुरुपत्र इत्यादि का उपयोग करना चाहिये।[३४] धूमनेत्र तथा द्रव्यादिकों का इसी प्रकरण में नस्यपश्चात् कर्म में धूमपान के वर्णन में विस्तार किया गया है।

मर्श—प्रतिमर्श नस्य

मर्श तथा प्रतिमर्श नस्य में स्नेहों का नासाद्वारा प्रयोग किया जाता है। दोनों में केवल मात्रा का भेद है।[३५] यह नस्य बिना व्यापद के सुखपूर्वक लिया जा सकता है।

चरक ने प्रतिमर्श का वर्णन करते हुए कहा है कि यह कभी भी दोष उत्पन्न नहीं करता। प्रात: सायं दो बार यह देना चाहिये। यह रोगों को न बढ़ाकर शरीर को दृढ़ करता है। स्नेह में अंगुली डुबाकर स्नेह के बिंदु नासा में गिराना यह प्रतिमर्श है। गिरे हुए बिंदु को आतुर अंदर खींच ले। इसमें स्नेह की अल्प मात्रा (२ बिंदु) होती है। अतएव सर्व ऋतुओं में देने योग्य है और जिसमें स्नेह की अधिक मात्रा दी जाती है वह नस्य सब ऋतुओं में देने योग्य नहीं होता। प्रतिमर्श में स्नेह की मात्रा इतनी ही होनी चाहिये जितनी की देने पर वह नासा स्रोत से कँठ में पहुंच जाये। लेकिन गले में स्राव उत्पन्न करें इतनी अधिक नहीं होनी चाहिये।[३६] स्नेह प्रतिमर्श नस्य के बाद में लिखते हुए सुश्रुत ने भी यही कहा है।[३७]

वाग्भट ने स्नेह की मात्रा के अनुसार मर्श और प्रतिमर्श ऐसे दो भेद किये हैं। प्रदेशिनी (तर्जनी) अंगुली को दो पर्वतक स्नेह में डुबाकर जो बिंदु गिरता है—ऐसे १० बिंदु (१० minum) उत्तम मर्श की मात्रा है,८ बिंदु मध्यम मर्श की मात्रा है और ६ बिंदु हीन मर्श नस्य की मात्रा है और प्रतिमर्श नस्य में स्नेहमात्रा केवल २ बिंदु दी जाती है।[३८] प्रतिमर्श नस्य आजन्ममरण प्रशस्त है। अर्थात् किसी भी वय में दिया जा सकता है। यह मर्श के समान ही गुणकारक होता है और इसमें अधिक यंत्रणा की भी आवश्यकता नहीं होती। जो अत्यंत दुर्बल है, जो क्षत से पीड़ित हैं, बालकों में, अति वृद्धों में, तो सुखपूर्वक रहन सहन करने वाले हैं, ऐसे लोगों में प्रतिमर्श नस्य दे।[३९] प्रतिमर्श अयोग्य प्रतिमर्श नस्य पीनस से पीड़ित आतुर को, मद्यपीत को, बहरे को, शिर में कृमियुक्त आतुर को उत्क्लिष्ट दोष वाले आतुर को नहीं देना चाहिये।[४०] उपर्युक्त आतुर में न देने का कारण यह है कि इसमें स्नेह की मात्रा बहुत कम होती है, इससे वह दोष- निर्हरण, या कृमिनाश के लिए समर्थ नहीं होता।

प्रतिमर्श और मर्श में मात्रा का ही फरक है, प्रतिमर्श मर्श के समान गुणकारी है, और मर्श में व्यापद की संभावना है जो प्रतिमर्श में नहीं है—ऐसा कहा गया—तो फिर भययुक्त मर्श

नस्य को कौन बुद्धिमान सेवन करेगा ? अतएव ऐसा अविशेष समझने का कारण नहीं है। मर्श नस्य शीघ्रकारी है और गुणों में प्रशस्त है। प्रतिमर्श धीरे-धीरे काम करता है और गुणों में निकृष्ट है। जिस प्रकार अच्छे स्नेहपान और विजारण युक्त स्नेहमान, कुटी प्रावेशिक रसायन और वातातपिक रसायन अनुवासन बस्ति और मात्रा बस्ति इन में शीघ्रकारित्व, और चिरकारित्व, तथा गुणों की उत्कृष्टता और हीनता रहती है उसी तरह मर्श और प्रतिमर्श नस्य में भेद समझना चाहिये।[४१]

मर्श प्रतिमर्श में यद्यपि तैल, घृत, वसादि सभी स्नेहों का प्रयोग हितावह है तथापि तैल का प्रयोग करना श्रेष्ठ है। शिर यह कफ का धाम अधिष्ठान है, अत: स्वस्थों के लिए तैल श्रेष्ठ है— उस तरह इतर स्नेह लाभ नहीं करते है।[४२]

प्रतिमर्शनस्य में काल विचार— प्रतिमर्श नस्य किसी भी काल में दिया जा सकता है। तथापि दिन में निम्नोक्त १४ काल प्रतिमर्श के लिए खास निर्दिष्ट किये हैं। उन-उन कालों में दिया हुआ नस्य ततद् गुणों को करता है। वाग्भट ने १५ काल दिये हैं।[४३]

१. तल्पोत्थित काल	२. प्रक्षालित दंत-काल	३. गृहान्निर्गच्छत:
४. व्यायामोत्तर	५. व्यवायोत्तर	६. अध्वपरिश्रांत-काल
७. मूत्र एवं	८. मल विसर्जनोत्तर	९. कवल तथा
१०. अंजन के बाद	११. भोजनोत्तर	१२. वमन के बाद

१३. दिन में सोकर उठने के बाद

१४. सायंकाल। वाग्भट ने शिरोभ्यंग के बाद, तथा हास्य के बाद प्रतिमर्श देने के लिए कहा है। इस तरह दो अधिक पढ़े हैं, और गृहान्निर्गच्छता—घर से बाहर जाते समय का काल नहीं पढ़ा है। उपर्युक्त काल में प्रतिमर्श लेनेपर निम्नलिखित लाभ होते हैं।[४४]

१. **तल्पोत्थित काल में**—नींद से जग जाने पर प्रात: काल में नस्य लेवे। इससे रात में नासास्रोत में लिप्त कफ को वह निकालता है और मन को प्रसन्न रखता है।

२. **प्रक्षालित दंत**—दातून करने के बाद प्रतिमर्श लिए जाने से दांतों को दृढ़ बनाता है, और मुख को सुगंधित रखता है।

३. **गृहान्निर्गच्छत**—कामकाज के निमित्त जब व्यक्ति बाहर जाने लगे तब प्रतिमर्श नस्य लेकर जाये। इससे नासा स्रोत में तैल की स्थिति बनी रहने से नाक को क्लिन्न रखता है और धूलि तथा धुवें से नासा को बाधा नहीं होने देता।

४. **व्यायामोत्तर**—व्यायाम से थके हुये को प्रतिमर्श देने पर श्रम का परिहार होता है।

५. **व्यवायोत्तर**—व्यवाय के बाद दिया हुआ प्रतिमर्श मैथुनजन्य परिश्रम को दूर करता है।

६. **अध्वपरिश्रांत**—खूब चल कर थके हुए को दिया हुआ नस्य श्रम को दूर करता है।

७. ८. मल और मूत्रत्याग के बाद प्रतिमर्श देने से आँखों को दृष्टि-गुरुता कम करता है। अधिक नंबर का चश्मा पहनने वालों के लिए मलमूत्र विसर्जन के बाद अणुतैल का २ बिंदु नस्य लेना हितावह है।

९. १०. **कवल तथा अंजन के बाद**—कवल धारण नेत्रांजन के बाद प्रतिमर्श नस्य लेनेपर दृष्टि का प्रसादन करता है।

११. भोजनोत्तर—नस्य लेने से स्रौतस शुद्धि और शरीर लघुता उत्पन्न करता है।

१२. वमन के बाद—वमनोत्तर प्रतिमर्श नस्य लेनेपर स्रोतों में (कंठ) लगे हुए कफ को निकालकर भोजन में रुचि उत्पन्न करता है।

१३. दिन में सोफर उठने के बाद—नस्य लेने पर शेष नींद को दूर कर, शरीर की जड़ता को दूर करता है और मलों का नाश कर मन को एकाग्र बनाता है।

१४. सायंकाल में प्रतिमर्श नस्य लेने से जल्दी नींद आती है और प्रातः जल्दी से जागृति आती है। वाग्भटोक्त हास्य के बाद नस्य करने पर वायु की शांति होती है। शेष गुण समान है।

नस्य—योग्यायोग्यों का विचार

नस्य के लिये अयोग्य—जिनमें नस्य देना उचित नहीं है वे आतुर चरक,सुश्रुत एवं वाग्भट के मतानुसार नीचे तालिका में स्पष्ट किये गये हैं।

सभी आतुरों में ऋतु के प्रतिकूल तथा दुर्दिन में नस्य नहीं करना चाहिये। उपर्युक्तों में यदि कोई आत्ययिक परिस्थिति उत्पन्न हुई हो तो उसमें नस्य देना मना नहीं है। उपर्युक्तों के अतिरिक्त बृंहण, रेचन, मर्शादि के अयोग्यों का विचार भी नस्य देते समय करना चाहिये।

अनस्यार्ह-तालिका[४५]

क्र.	अनस्यार्ह	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१.	भुक्तभक्त	+	+	+
२.	अजीर्णि	+	+	—
३.	पीत स्नेह	+	+	+
४.	पीत मद्य	+	+	+
५.	पीत तोय	+	+	+
६.	स्नेहादि पातुकामः	+	—	+
७.	स्नातः शिरः	+	—	+
८.	स्नातुकामः	+	+	+
९.	क्षुधार्त	+	+	+
१०.	श्रमार्त	+		—
११.	मत्त	+		—
१२.	मूर्च्छित	+		—
१३.	शस्त्रदंडहत	+		—
१४.	व्यवायक्लांत	+	—	—
१५.	व्यायामक्लान्त	+	+(श्रांत)	—
१६.	पानक्लांत	+	—	—
१७.	नवज्वर पीड़ित	+	—	—
१८.	शोकाभितप्त	+	—	—
१९.	विरिक्त	+	—	+ (शुद्ध)
२०.	अनुवासित	+	+ दत्तबस्ति	+ दत्तबस्ति

क्र.	अनस्यार्ह	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
२१.	गर्भिणी	+	+	—
२२.	नवप्रतिश्यायार्त	+	—	—
२३.	अपतर्पित	—	+	+ (शुद्ध)
२४.	पीतद्रवः	—	+	+
२५.	तृष्णार्त	+	+	—
२६.	गलार्त	—	+	+
२७.	क्रुद्ध	—	+	—
२८.	बाल	—	+	—
२९.	वृद्ध	—	+	—
३०.	वेगावरोधितः	—	+	+ (वेगार्तः)
३१.	रक्तस्रावित	—	—	+
३२.	सूतिका	—	—	+
३३.	श्वासपीड़ित	—	—	+
३४.	कासपीड़ित	—	—	+

अयोग्यों में नस्य देने से संभाव्य विकार[४६]

अजीर्णि तथा भुक्तभक्त को नस्य देने से दोषोत्क्लेश से ऊर्ध्व स्रोतों को अवरोध होता है और कास, श्वास, च्छर्दि, प्रतिश्याय, ये रोग उत्पन्न होते हैं। अजीर्ण में तथा भोजनोत्तर कफ का अधिक प्रकोप रहता है, और नस्य कफ का विलयनकारक तथा शोधनकारक होने से यह स्पष्ट है कि नस्योत्तर कफ विमार्ग में पहुंच कर उर स्रोत, फुफ्फुस, नासा, गले में अवरोध कर उपर्युक्त कासादि विकार कर सकता है। जिन्होंने स्नेहपान किया है, जलपान किया है, या मद्यपान किया है, उनमें नस्य देने से नासा और गले से स्राव शुरू होता है। आंखों में मल संचय होकर तिमिर और शिरोरोग उत्पन्न होते हैं। सिर के ऊपर से जिसने स्नान किया है, उसे नस्य देने से प्रतिश्याय होता है। नस्य के बाद नासा, नेत्र, गलादि से स्राव होता है, अतएव ऐसी स्थिति में स्नान करने से वही दोष होता है। इससे स्नातुकामः को मना किया गया है। क्षुधा से पीड़ित में नस्य दिया जाये तो वात का प्रकोप होता है। तृष्णा से पीड़ित को नस्य देने से प्यास बढ़ती है और मुंह सूखता है। श्रम से थके हुए—मनुष्यों को नस्य देने से वेदना होती है, मदमत्त तथा मूर्च्छा से पीड़ितों में नस्य देने से संज्ञाभ्रंश होकर मान—सोपघात होता है। शस्त्र, दंडादि से जिनपर अभिघात हुआ है उनको नस्य देने से तीव्र रुजा उत्पन्न होती है। मैथुन से थके हुए, व्यायाम से थके हुए, तथा मद्यपान के अतियोग से जर्जर हुए आतुरों को नस्य देने पर सिर, नेत्र, उर तथा कंधों में पीड़ा उत्पन्न होती है। नवज्वर, शोकाभितप्त इनमें नस्य देने से उष्मा से वाष्प नेत्रनाड़ी तक पहुंच कर तिमिर उत्पन्न करता है तथा ज्वर को बढ़ाता है। विरेचन के बाद नस्य देने से वात प्रकोप होकर इंद्रियों को उपघात होता है। अनुवासन बस्ति दिये हुए को नस्य देने पर कफ का प्रकोप होकर शिर में भारीपन, कंडु और कृमियोग उत्पन्न होते हैं। गर्भिणी को दिया हुआ नस्य गर्भ का अवरोध कर उसमें विकृति उत्पन्न करता है। जिससे गर्भशिशु काणा—आँखों में वैषम्यवाला, कुणी—एक हाथ में

थोटा पक्षहत—एक हाथ और एक पांव का कर्मक्षय युक्त तथा पीठसर्पी—दोनों पांव के कर्मक्षय से पीठ से विसर्पण करनेवाला पंगु—प्रकार का हो जाता है। नवप्रतिश्याय वाले आतुर को नस्य देने से दोष स्रोतों में व्याप्त होकर प्रतिश्याय बढ़ाता है। योग्य ऋतु में योग्य प्रकार से नस्य न देने पर तथा दुर्दिन में नस्य देने पर शीतदोष, पूतिनस्य और शिरोरोग उत्पन्न होते हैं।

उपर्युक्तों में सामान्य नस्य का निषेध समझना चाहिये और इनमें से भी कुछ आतुरों को विशेष नस्य देना तो ग्रंथ में निर्दिष्ट किया ही गया है। उदाहरण—व्यायाम, व्यवाय, मार्ग चलकर थके हुए बालकों, वृद्धों में प्रतिमर्श नस्य दिया जाता है। वैसे ही प्रतिमर्श सब ऋतुओं में और दुर्दिन में भी दिया जा सकता है। प्रतिमर्श भोजन के बाद भी देना निर्दिष्ट है। अवपीड नस्य—का प्रकार संज्ञा प्रबोधन नस्य मूर्च्छा में देना चाहिये। वैसे ही विषपीड़ितों में भी दे सकते हैं। इस तरह यहां आगम विरोध न समझे, अपितु विशिष्ट नस्य की विशिष्ट कार्मुकता समझना चाहिये।

सुश्रुत ने प्रतिषेध युक्त आतुरों में नस्य देने से व्यापद उत्पन्न होते हैं ऐसा कहा है। इसमें तृष्णा, उद्‌गार तथा दोषप्रकोप जन्य और दोषक्षय जन्य अनेक रोग उत्पन्न होते हैं ऐसा निर्देश किया है।[४७] उपर्युक्त संभाव्य विकारों को दोष—क्षय जन्य तथा दोषप्रकोप जन्य प्रकार से विभक्त किया जा सकता है।

नस्य के योग्य—नस्यार्ह

उपर्युक्त निषिद्ध आतुरों को छोड़कर बाकी सब में नस्य देना हितावह होता है। विशेषत: निम्नलिखितों को नस्य योग्य समझे[४८]

१. शिरस्तंभ	२. मन्या-स्तंभ	३. दतस्तंभ-शूल	४. हनुग्रह
५. पीनस	६. गलशुंडिका	७. गलशालूक	८. शुक्ररोग—नेत्रगत
९. तिमिर	१०. वर्त्मरोग	११. व्यंग	१२. उपजीविका
१३. अर्धावभेदक	१४. ग्रीवारोग	१५. स्कंधरोग	१६. अंसशूल
१७. मुखरोग	१८. कर्णशूल	१९. नासाशूल	२०. अक्षिशूल
२१. शिर:शूल	२२. अर्दित	२३. अपतंत्रक	२४. अपतानक
२५. गलगंड	२६. दंतशूल	२७. दंत हर्ष	२८. दंत चाल
२९. राजी—नेत्ररोग	३०. अर्बुद	३१. स्वरभेद	३२. वाग्ग्रह
३३. गदगदत्व	३४. क्रथनादि।		

गलशालूक—बेर के गुठली के आकार वाली कफ द्वारा उत्पन्न कांटे या शूक के जैसी खुरदरी जो ग्रंथि गले में निर्माण होती है—उसे गलशालूक या कंठशालूक कहते हैं। इसे शस्त्र चिकित्सा से साध्य कहा गया है। नस्य से कफ के विलयन में मदद होती है।

गलशुंडिका—तालु के मूल में बस्ति के आकार का शोथ उत्पन्न होता है—जिसमें कफ और रक्त का प्राधान्य होता है। इस मे श्वास, कास, तृष्णा ये लक्षण उत्पन्न होते है।

शुक्ररोग—यह कृष्णमंडल में होने वाला रोग है। सव्रण शुक्र (शुक्ल) और अव्रण शुक्ल ऐसे दो प्रकार हैं। कृष्णमंडल में गहराई में उत्पन्न होनेवाला, कठिनाई से दिखनेवाला,

सूचिविद्ध के समान स्थान दिखता है—जिससे गरम स्राव निकलता है उसे सव्रण शुक्र कहते हैं। कृष्णमंडल में अभिष्यंद के परिणाम से दाहयुक्त चंद्रमा तथा कुंद के वर्ण की सफेदी निर्माण होती है, उसे अव्रण शुक्ल कहते हैं। इसमें कृष्णमंडल पतले बादल से आवृत आकाश के समान दिखता है।

तिमिर—तिमिर नेत्र पटलों में उत्पन्न रोग है जिससे दृष्टि नाश होता है। तृतीय पटल में तिमिर को कांच और चतुर्थ पटल गत तिमिर को लिंगनाश और नीलिका कांच कहते।

वर्त्मरोग—वर्त्म नेत्र कोष का आवश्यक पक्ष्मसंलग्न मांसल भाग है। वर्त्म के कुल २१ रोग सुश्रुत ने दिये हैं जो वहां से पढ़ना चाहिये।

उपजिह्विका—यह जिह्वा के अग्रभाग के समान उत्पन्न शोथ है, जो जिह्वा को ऊपर उठाता है—इसमें कफ और रक्त का प्राधान्य होता है। लालास्राव, खुजली, तथा जलन ये इसके लक्षण हैं।

गद्‌गद्—अस्पष्ट भाषण को कहते हैं और क्रथन—ऊर्ध्वभाग का कार्य—नाश या रोमहर्ष को कहते हैं। शेष स्पष्ट है।

उपर्युक्त रोगों में कफ या वात की प्रधानता दृष्टिगोचर होती हैं तथा नासा, ओठ, शिर ये अधिष्ठानवाले रोग प्रतीत होते हैं। ऊर्ध्व जत्रुगत रोगों में नस्य विशेषत: निर्दिष्ट है, यहाँ उल्लिखित नस्ययोग्यों का भी सामान्य उल्लेख समझना चाहिये। बृंहण नस्य योग्य—विरेचन नस्य योग्य आदि जो शास्त्र में अन्यावस्थाएं वर्णित हैं—उनको विशेष नस्य योग्य समझना चाहिये।

नस्यविधि—विधान

नस्य सामान्य, एवं सरल विधि है। तथापि शास्त्र एवं प्रयोग के अनुसार इसमें अध्येतव्य विषयों पर विचार विमर्श करना चाहिये।

१. पूर्वकर्म—१. संभर संग्रह
२. आतुर वय एवं काल का विचार
३. आतुर सिद्धता।

संभार संग्रह

नस्य के लिए एक स्वतंत्र कमरा—'नस्य भवन' रखना चाहिये। जिसमें प्रत्यक्ष वायु का वेग से प्रवेश न हो, धूलि का प्रवेश न हो ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये।[४९] प्रकाश भरपूर होना चाहिये। इस भवन में निम्नलिखित संभारों का संग्रहीत करना चाहिये।

१. नस्य आसन—आतुर को बिठाकर या लिटा कर नस्य दिया जा सकता है। इसलिए दो आसन--(१) नस्य पीठ और (२) नस्यशय्या निर्माण करना चाहिये। इसका वर्णन उपकल्पना विज्ञान में दिया है। इन दोनों आसनों का उद्देश्य यही है कि आतुर की ग्रीवा से ऊपर के भाग को शरीर की अपेक्षा कुछ नीचे झुकाया जा सके और नाबा को उन्नत कर सके। इस अवस्था में पीछे शिर को विश्राम (Rest) मिले और पांव की ओर से शरीर कुछ ऊपर उठाया हुआ हो यह उद्देश्य है।

२. नस्यौषधि— चूर्ण, कल्क, क्वाथ, क्षीर, उदक, स्नेह, आसव, धूमादि में से जो कोई नस्य देना वांछित हो वह सामग्री तैयार रखे।

सामान्य—नस्योपयोगार्थ—कट्फल चूर्ण, त्रिकटु, कटुतुंबी, श्वासकुठार, वातविध्वंस, पिप्पली, मरिच, बिडंग, इनके चूर्ण तथा अणुतैल, षड्बिंदुतैल, जात्यादि तैल, पमकादि तैल, शुद्ध घृत, रसौन, हिंगु, वचा, पंचगुण तैल, घनसार-योग इनका संग्रह करना चाहिये। आवश्यकतानुसार उपद्रव के चिकित्सार्थ भी औषधि संग्रह करना चाहिये।

३. नस्यदानोपयोगी—नस्य—यंत्र तैयार रखे। नस्योपयोगी नेत्र ६ अंगुल लंबा, और इसका परिणाह नासास्रोत में प्रवेश योग्य रखना चाहिये। धूमनस्य में पीछे कहे अनुसार विरेचन नस्य के लिए २४ अंगुल, स्नैहिक नस्य के लिए ३२ अंगुल तथा प्रायोगिक (शमन) नस्य के लिए ३६ अंगुल लंबाई के नेत्र का उपयोग करना चाहिये। नेत्र की लंबाई के बारे में मतांतर हैं। कोई मानते हैं कि प्रायोगिक धूमपान का नेत्र विरेचन नस्य के नेत्र (२४ अंगुल) से डेढ़गुना लंबा होना चाहिये—इससे यह मान ३६ अंगुल का होता है। दूसरे मानते हैं कि प्रायोगिक नस्य नेत्र, स्नैहिक नस्य नेत्र (३२ अंगुल) से डेढ़गुना लंबा अर्थात् ४८ अंगुल का होना चाहिये।जतुकर्ण विरेचन नेत्र से डेढ गुना कहकर ३६ अंगुल लंबाई कहते हैं। वाग्भट प्रायोगिक नेत्र नस्य को ४० अंगुल लंबाई का बताते हैं। योगीन्द्रनाथ ने टीका में इसका समाधान किया है कि रोगी का बल देखकर यह प्रमाण कम अधिक किया गया है। यदि आतुर का बल उत्तम हो तो प्रायोगिक स्नेह में नलिका की लंबाई ३६ अंगुल, मध्यम हो तो ४० अंगुल और बल यदि हीन हो तो नेत्र की लंबाई ४८ अंगुल रखनी चाहिये।

वस्तुत: नेत्र साधन है। इससे हीन बलों में अधिक लंबाई से औषधि प्रभाव कम करना और उत्तम बल में औषधि प्रभाव उचित रखना उपेक्षित है।

४. मर्श—प्रतिमर्श नस्य के लिए कपास के पिचु रखें। गांज पीस का उपयोग भी हितकर है। इसी तरह वस्त्र की पोटली से नस्य देना हो तो सूक्ष्म-तंतुवाला स्वच्छ वस्त्र संग्रहीत करें।

५. ष्ठीवन पात्र—एनेमेल निर्मित ष्ठीवन पात्र पर्याप्त प्रमाण में।

६. उचित गुणवाले कर्मनिपुण परिचारक रखे।

वस्त्रखण्ड—नेपकिन के आकार के, स्वच्छ मुखादि पोछने के लिए नस्य आसन या शय्या को ही संलग्न कर रखना चाहिये। इसके अतिरिक्त अंगार धनिका, कांच की शीशियां, टेस्ट ट्यूब, रस निकालने के यंत्र, तापस्वेद के साधन, अभ्यंगतैल, ड्रॉपर इत्यादि का भी वैद्य बुद्धिपूर्वक संग्रह करें। ड्रॉपर के लिए शुक्ति या प्रनाडी ऐसा यंत्र संहिता में दिया है।

२. नस्य में आतुरवय और काल का विचार

प्रावृड्, शरद और बसंत ये तीन ऋतु नस्य के लिए उत्तम होते हैं। प्रावृड् वर्षा के पूर्व का काल है। अधिक शीतकाल न हो, अधिक उष्णकाल न हो, वर्षादि में मेघाच्छादि आकाश—दुर्दिन न हो तब नस्य देना चाहिये। ग्रीष्म ऋतु में दोपहर के पहले, शीत ऋतु में दोपहर और वर्षा में अदुर्दिन में नस्य दे।

वय—७ वर्षायु से कम तथा ८० वर्षायु के ऊपर नस्य नहीं देना चाहिये। अर्थात् वय के ८ वें वर्ष से ८० वर्ष तक नस्य दे सकते हैं। प्रतिमर्श नस्य जन्म से मृत्यु तक कभी भी दिया जा सकता है। धूमनस्य १२ वर्ष की उमर से दिया जा सकता है।[५०]

नस्यविधि

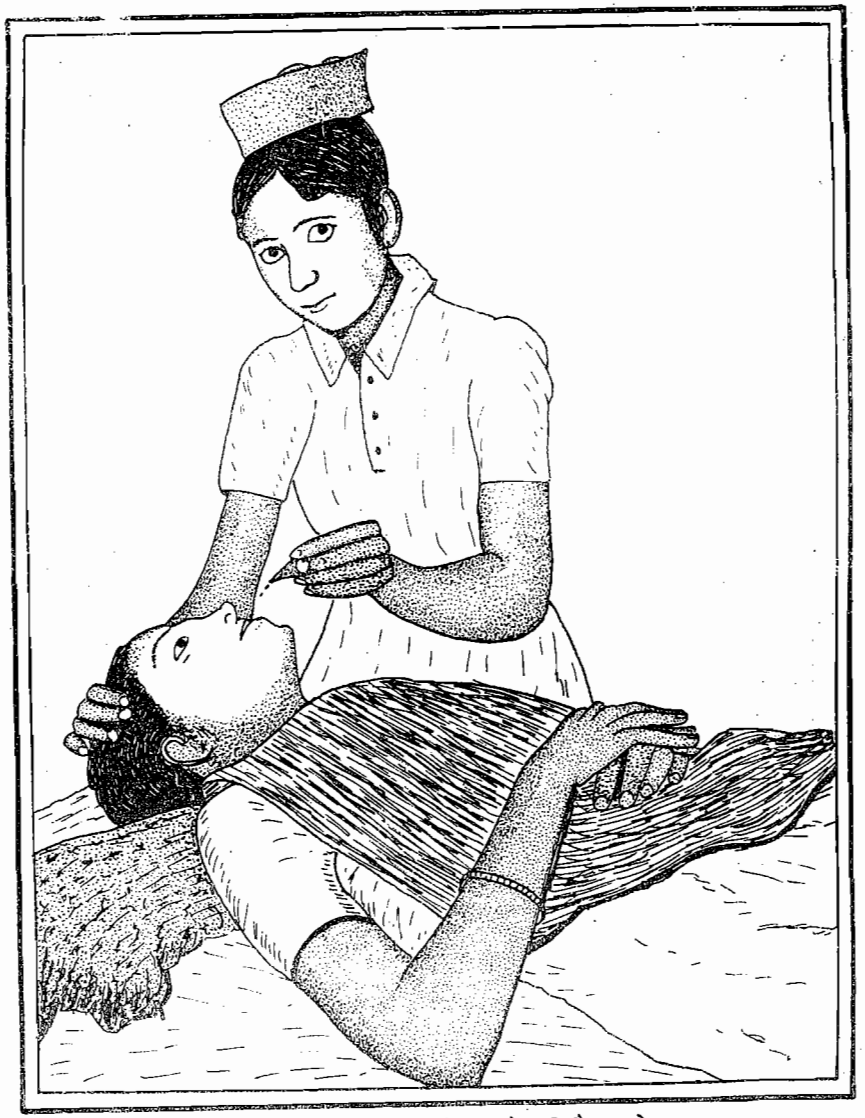

विशेष—उपचारिका बिंदुक (ड्रापर) द्वारा मर्श नस्य दे रही है। उत्सेधयुक्त मन्या, नासा का भाग दर्शनीय है। दक्षिण नासापुट में कार्पास पिचु रखकर उसे बंद रखा हैं।

३. आतुर सिद्धता[५१]

नस्य के पूर्व आभ्यंतर स्नेहपान नहीं करना चाहिये। क्योंकि स्नेहपीत को नस्य का निषेध किया गया है। प्राय: वमनादि सभी कर्मों में स्नेहपान पूर्वकर्म के तौरपर किया जाता है। तथापि दोष विलयन और द्रवीकरणार्थ स्नेहपान कराना हो तो अल्पमात्रा में ३ दिन स्नेह पिलाकर चौथे दिन आराम कराकर ५ वें दिन नस्य दे सकते हैं। आतुर को मलमूत्रादि वेगों से निवृत करानाचाहिये। तत्पश्चात् भोजन करावे और कुछ समय व्यतीत हो जाने पर डातुन कराकर--, विधिवत् धूमपान से नासा और गले के स्रोतसों को शोधन करावे। फिर नस्यासन में बिठावे या नस्यशय्या में लिटा देवे और उत्तमांग पर शिर पर धान्वंतर तैल, क्षीर बला तैल, पंचगुण तैल, इत्यादि में से कोई भी तैल से अभ्यंग करें। अभ्यंगोत्तर शिरपर मृदुस्नेह करें। सिर पर स्वेदन करना शास्त्र में सामान्यत: मना किया है। फिर भी नस्य के पूर्व दोष विलयन और द्रवीकरण के लिए स्वेद करना मना नहीं है। सिर, मुख, नासा, मन्या, ग्रीवा और कंठ पर तापस्वेद करें। स्वेदन के बाद गले, कपोल, ललाट पर हलके-हलके हाथों से मर्दन करें और बाद में नस्य दे।

३. प्रधान कर्म--प्रधानकर्म में निम्नलिखित विषयों का समावेश होता हैं।

१. नस्य --आसन तथा नस्य कर्म
२. नस्योत्तर परिचर्या एवं निरीक्षण
३. व्यापद तथा प्रतिकार।

१. नस्य आसन तथा नस्य कर्म[५२]

नस्य पीठ या नस्य शय्या में बैठे हुए या लेटे हुए, अभ्यक्त और स्विन्न आतुर को उपर्युक्त प्रकार से गल, कपोलादि का मर्दन कर नस्यासन (The position for the Nasal administration of the medicine) देवे। आतुर के पावों को कुछ ऊपर उठा कर रखे, शिर को नीचे झुकाकर प्रलम्बमान लटके हुए रखे। यहा पीठ या शय्या में शिरोविश्रामफलक होने से लटकाने की जरूरत नहीं होती। वैद्य अपने बायें हाथ की तर्जनी से आतुर के नासाग्र को ऊपर उठावे --जिससे नासास्रोत और नासारंध्र एक से सीधा मार्ग तैयार हो सके। आतुर के क्षेत्र पर स्वच्छ वस्त्रखंड रखकर उसे ढांक दे। फिर गरम पानी नस्य स्नेहौषधि का पात्र रखकर गरम किया हुआ स्नेह (या स्वरस क्वाथ इत्यादि) लेकर चांदी, सोने, तांबे अथवा मिट्टी के शुक्ति (ड्रापर) के द्वारा सुखोष्ण नस्य की धारा(बिंदु से) योग्य मात्रा में नाक में छोड़े। स्नेह डालते समय धारा बहुत जल्दी न डाले --न बहुत धीरे से डाले, न रुक रुक कर डाले तथा नेत्र में स्नेह न जाये इसका ध्यान रखे। यह विधि स्नेह, स्वरस, क्वाथ, दूध, मांसरस, उदक, आसवादि द्रव पदार्थ युक्त नस्य के लिए है। चूर्ण नस्य देना हो तो सूक्ष्म वस्त्र से छानने योगय चूर्ण को छ: अंगुल लंबे--नस्य नेत्र के अग्रभाग में रखकर नेत्र को नासास्रोत में रखकर अंतिमभाग से वैद्य फूंक मारकर नस्य द्रव्य अंदर प्रविष्ट करावे। चूर्ण को गरम न करें।

धूमनस्य देना हो तो पीछे कहे गये प्रायोगिकादि द्रव्ययोग से नस्य नेत्र में वर्ति रखकर अग्नि से जलाकर दूसरे मुख से धूम को नासा से खींचे। नासा से खींचा हुआ धूम मुख से बाहर छोड़ना चाहिये। इस तरह ३--४ बार धूम खींच कर नस्य ले। अथवा लोहे की छोटी तवेली पर कुछ कोयलों को जलाकर नस्य-द्रव्य डालकर निकलने वाला धूम-वस्त्रावृत

मुख--से आँखें पर बंधन बांधकर नासा से खींचें। अथवा इन द्रव्यों को पानी में डालकर उबाल कर निकलने वाली वाष्प इसी प्रकार से सेवन करावे। नस्य में मात्रा का वर्णन पीछे कर दिया गया है। यहां प्रयोग सौकार्य के लिए पुन: स्मरण किया जाता है।

नस्य-मात्रा

क्र.नस्य प्रकार	ह्रस्व मात्रा	मध्यम मात्रा	उत्तम मात्रा
१. शमन स्नेह	१६ बिंदु (प्रत्येक नासा में ८)	३२ बिंदु (प्रत्येक नासा में १६)	६४ बिंदु (प्रत्येक नासा में३२)
२. शोधन स्नेह	८बिंदु (प्रत्येक नासा में ४)	१२ बिंदु (प्रत्येक नासा में ६)	१६ बिंदु (प्रत्येक नासा में ८)
३. मर्श नस्य	६ बिंदु	८ बिंदु	१० बिंदु
४. प्रतिमर्श	२ बिंदु	२ बिंदु	२ बिंदु
५. कल्क नस्य	४ बिंदु	६ बिंदु	८ बिंदु

चूर्ण की मात्रा मुच्चुटी कही गई है यह पहले कहा गया है। सामान्यत: २ रत्ती से ४ रत्ती मात्रा में चूर्ण का प्रधमन द्वारा प्रयोग करना चाहिये। शार्ङ्गधर ने नस्य के लिए भिन्न-भिन्न द्रव्यों की मात्रा भिन्न-भिन्न प्रकार की वर्णन की है। वह इस प्रकार की है--

शार्ङ्गधरोक्त नस्य मात्रा[५३]

तीक्ष्णौषध की मात्रा-- १ शाण (२४ रत्ती) = द्रव ८ बिंदु

चूर्ण

हिंगु की मात्रा -- १ यव (आधी रत्ती)
सैंधव की मात्रा -- १ माशा (६ रत्ती)
दूध की मात्रा -- ८ शाण-६४ बिंदु
शर्करा दाडिमादि मधुर द्रव्य--१ तोला
जल (औषधसिद्ध)--की मात्रा--३ तोला

नस्य देते समय (द्रव औषधि का) एक नासा पुट को बंद रखकर दूसरे में औषधि डालकर रोगी को खींचने को कहे। फिर पहली नस्य युक्त नासा बंद रखकर दूसरी नासा में औषध डालकर खींचने को कहे।

२. नस्योत्तर परिचर्या एवं निरीक्षण[५४]

नस्य देने के बाद पुन: रोगी के गले पर, कपोल और ललाट पर स्वेदन करें, तथा हथेलियों, कंधों तथा पांव के तलवे पर धीरे-धीरे मर्दन करें, और रोगी को पुन: पुन: नस्यौषधि बाहर थूंकने को कहे। ष्ठीवपात्र को आतुर के दोनों बाजू में रखकर नाक से होने वाला स्राव उस पात्र में डालने को कहे। नेत्रस्राव को स्वच्छ वस्त्र से पोंछ ले। रोगी का बराबर निरीक्षण करें। यदि नस्यासन में रोगी का शिर ठीक तरह से झुका हुआ न हो तो नस्य ठीक तरह नहीं पहुंचता, और यदि अधिक झुका हुआ हो तो वह शृंगाटक के अंदर जाकर मस्तुलुंग में पहुंच जाता है। दोनों प्रकार दूषित है। नस्यौषधि शृंगाटक तक पहुंच कर वापिस आती है। उसको थूंकना चाहिये। नस्यौषधि गले में वापिस उतरने पर किसी भी प्रकार उसे निगलना

नहीं चाहिये। क्योंकि शृंगाटक से दोषों का प्लावन कर निकालकर लाती है—उन्हें निगलना उचित नहीं है। नस्य के बाद रोगी को एक सौ अंक गिनने तक चित्त लिटाकर रखे और तत्पश्चात कवल ग्रह, गंडूष और धूमपान करावे। इससे मुख की शुद्धि होती है। गरम पानी से कुल्ले कराकर कंठ में उतरी हुई दवा को निकालना चाहिये। धूमपान की विधि आगे विस्तार से वर्णन की है। धूमपान यह नस्य का मुख्य पश्चात्कर्म है। नस्य में कफ का उत्क्लेश होता है। ऐसे समय कफ और स्नेह दोनों मिल जाये तो वह शिर में जमकर बैठता है जिससे गले के मन्या के कर्णादि के रोगों को उत्पन्न करता है। अत: कफ के शोधन के लिए धूमपान करावे। नस्य के समय संक्षेप में निम्नोक्त प्रकार से ध्यान रखे।

१. आतुर का शिर, गात्र, मन्यादि पर पुन: स्वेदन एवं मर्दन करें।
२. सिर को न अधिक झुकावे न अधिक उन्नत रखे।
३. नस्योत्तर आतुर सिर हिलावे नहीं और १०० अंक गिनने तक चित्त लेटा रहे।
४. भाषण न करें, क्रोध न करे।
५. रोगी हंसना इत्यादि की विचेष्टा न करे।
६. नस्यौषधि निगल न लेवे।
७. गंडूष के द्वारा तथा ष्ठीवन से कफ को स्रवित करे।

नस्य में योगायोग का निरीक्षण[५५]

नस्य देने के बाद सम्यक् योग, अयोग और अतियोगों के लक्षणों का निरीक्षण करना चाहिये। सम्यक् शिरोविरेचन से शरीर में हलकापन उत्पन्न होता है। सुख पूर्वक समय पर नींद आती है तथा समय पर खुलती है। जिस विकार के लिए नस्य दिया हो उसका प्रशम होता है। इंद्रियों और मन में प्रसन्नता होती है। शिर में लघुता होती है और स्रोतस शुद्ध होते हैं।

सम्यक् नस्य न होन पर—अयोग में या हीनयोग में वातविकृतियां उत्पन्न होती हैं। इंद्रियों में रुक्षता होती है, और जिस योग के लिए नस्य दिया हो उसका अप्रशम होता है। इसमें पुन: सम्यक् नस्य दे। हीन शुद्धि में कंडु, अंगगौरव, नासा, नेत्र, मुख से कफ तथा लालास्राव उत्पन्न होता है।

अतियोग या अधिक स्नेहन नस्य से कफ का स्राव, शिर में भारीपन, इंद्रियों में विभ्रम ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसमें रुक्ष चिकित्सा करनी चाहिये। शोधन के अतियोग में मस्तुलुंग का बाहर आना, वात प्रकोप, इंद्रिय विभ्रम शिर:शून्यता ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसमें कफ वातघ्न चिकित्सा करनी चाहिये। मस्तुलुंग यह शिर की मज्जा हैं जो सत्यान घृताकार की होती है। मस्तुलुंग का बाहर आना यह शिरोगत व्रण में अन्यत्र भी कहा है। इसका अर्थ शिर से कुछ स्निग्ध पदार्थ जो शिर की रचना में भाग लेते हैं—उनको बाहर निकालना चाहिये। शिर की हीन एवं अतिशुद्धि में कफवातघ्न चिकित्सा करनी चाहिये।

सम्यक् शुद्धि के बाद घी का नस्य देना चाहिये। पित्त प्रकृति में घी का नस्य और वात प्रकृति में तैल नस्य देना हितकर है।

३. व्यापद तथा प्रतिकार

नस्य विभ्रम से अनेक व्यापद उत्पन्न होती है। योग्य काल में नस्य न देने से, अनस्यार्ह—अर्थात् नस्य के लिए अयोग्य को नस्य देने से, एवं विधि विभ्रम से नस्य व्यापद उत्पन्न होती है। इन व्यापदों का स्वरूप दो प्रकार का होता है। एक दोषों का उत्क्लेश होकर तथा दोषों का क्षय होकर। दोषों के उत्क्लेश से जो व्यापद होती हैं, उन्हें शोधन एवं शमन चिकित्सा के द्वारा दूर करें और दोष क्षय से जो व्यापद होती है उनमें बृंहण चिकित्सा करें।[५६]

अनर्हों में नस्य देने से उत्पन्न होने वाले विकारों को पहले कहा गया है। उनमें अजीर्ण—भुक्त भक्त जलपीत आदि को तथा दुर्दिन में नस्य देने से कफ—रोग—श्वास, कास, पीनस अग्निमाद्यं रोग उत्पन्न होते हैं—इनमें कफ-नाशक उष्ण और तीक्ष्ण औषधि से उपचार करें।[५७] इनमें त्रिभुवन कीर्ति, नागगुटी, कस्तूरीभैरव रस, त्रिकटु चूर्ण, दशमूलारिष्ट इन औषधियों का उपयोग करें।

कृश शरीरवालों में विरिक्त आतुरों में गर्भिणी, व्यायाम क्लांत, तृष्णार्त आतुरों में नस्य देने पर रुक्षजन्य वातप्रकोप से वातरोग उत्पन्न होते हैं। इनमें वात नाशन बृंहण उपचार करें। स्नेहन और स्वेदन करें। गर्भिणी को विशेषत: दूध और घी देना चाहिये।[५८] इनमें प्राय: वातज शूल, अंगमर्द, मुख-शोष, गर्भस्तंभ तथा विकृत गर्भ ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। इनमें तापस्वेद, अश्वगंधादि घृत, रसायन चूर्ण, विषतिंदुक वटी, नवजीवन रस, शतावरी चूर्ण, जीवितप्रदावटी, आदि औषधियों का उपयोग करें।

ज्वर, शोकाभितप्त, मद्यपीत में नस्य देने से तिमिर रोग उत्पन्न होता है। इन्हें रुक्ष शीतल अंजन लेप, पुटपाक से चिकित्सा करें।[५९] नस्य देते समय यदि रोगी मूर्च्छित हो जाये तो ठंडे जल से परिषेक ललाट और कपोल पर करना चाहिये।[६०]

पश्चात्कर्म

नस्य देने के बाद निम्नलिखित कर्मों पर ध्यान देना चाहिये।

१. नस्योत्तर तत्कालोन पश्चात्कर्म
२. धूमपान
३. कवलग्रह—गंडूष
४. नस्योत्तर भोजनादि का विचार
५. परिहार्य विषय तथा नस्योत्तर कर्म का विचार

१. तत्कालीन पश्चात्कर्म—जैसे कि विधि में कहा गया है कि नस्य के बाद सौ अंक गिनने तक आतुर को चित्त लिटावे, उसके गले, कपोल एवं ललाट पर तापस्वेद करे। पांव के तलवे, मन्या आदि पर मृदु मर्दन करें। बार-बार नस्यौषधि को तथा सिंघाणक को बाहर निकालने को कहे। गरम जल से मुख प्रक्षालन गंडूष और कवल ग्रह करावे। इससे मुख शुद्ध होता है और गले की उत्तेजना कम होती है।

२. धूमपान—नस्य के बाद विलयीभूत कफ गले, नासास्रोत, तथा शिर में जमा होकर अनेक रोग उत्पन्न कर सकता है। इसलिए कफ शोधन के लिए धूमपान करना चाहिये। धूमपान यह एक अत्यंत गुणकारी उपक्रम है। धूमपान का अर्थ आजकल की सिगरेट या बिड़ी का धूमपान नहीं, अपितु, यह एक शास्त्रीय भैषज्य कल्पना है। धूमपान, कवलग्रह ये नस्य के पश्चात्कर्म होते हुए स्वतंत्र उपक्रम भी हैं। अतएव उनका यहां विस्तार से वर्णन किया जाता है।

धूम प्रकार— चरक ने धूमपान के तीन प्रकार किये हैं।[६१]

१. प्रायोगिक या शमन धूमपान
२. वैरेचनिक धूमपान और
३. स्नैहिक धूमपान।

सुश्रुत ने इसके निम्नलिखित पांच प्रकार किये हैं।[६२]

१. प्रायोगिक २. स्नैहिक ३. वैरेचनिक
४. कासध्न और ५. वामनीय

इसमें प्रथम तीन धूम चरक के समान हैं। जो कास को नष्ट करें वह कासध्न और जो वमन के लिए उपयुक्त हो वह वामनीय धूम कहलाता है। वाग्भट ने धूम के तीन प्रकार अन्य प्रकार से किये है।[६३]

१. स्निग्ध धूम यह वातविकार में
२. मध्यम धूम वातकफ में तथा
३. तीक्ष्ण धूम—कफविकार में करने का निर्देश किया है।

शार्ङ्गधर ने धूमपान के ६ प्रकार बताये हैं।[६४]

१. शमन धूम २. बृंहण धूम ३. रेचन धूम
४. कासहा धूम ५. वामन धूम। ६. व्रणधूपन धूम।

इसमें बृंहण धूम का समावेश अधिक है। तथापि बृंहण को वे स्नैहिक या मृदु धूम ऐसा पर्याय देते हैं। स्नैहिक धूम का वर्णन चरक और सुश्रुत ने किया ही है। शमन का पर्याय मध्य और प्रायोगिक है ऐसा शार्ङ्गधर ने कहा है, और रेचन का पर्याय वे तीक्ष्ण और शोधन धूम ऐसा देते हैं जिससे वाग्भट के धूम का ग्रहण किया है। शार्ङ्गधर ने दिया हुआ छठा भेद 'व्रणधूम' सुश्रुत ने वर्णन क्रम में दिया है, यद्यपि भेद वर्णन में उसे नहीं गिना है। भावप्रकाश ने शार्ङ्गधर के समान वर्णन किया है। चरकोक्त तीन प्रकार के धूमों के द्रव्य पीछे वर्णन किये गये हैं। सुश्रुत के पांच प्रकार के धूम द्रव्य नीचे दिये जाते हैं।

प्रायोगिक धूम[६५]—इसके लिए एलादि गण के द्रव्यों में से कुष्ठ और तगर को छोड़कर शेष द्रव्यों को बारीक पीसकर १२ अंगुल लम्बे और करांगुली के समान मोटे सरकंडे पर रेशम के कपड़े से ८ अंगुल लपेट कर उस पर इनका लेप कर दे। यह वर्ति प्रायोगिक धूमपान के लिए हैं। इसकी विधि शार्ङ्गधर के अनुसार—लेप सूख जानेपर इस सरकंडे को निकाल दे—और औषधि द्रव्यों की जो वर्ति (पाली) तैयार होगी उसे एक बाजू पर जलाकर दूसरी ओर से धूमपान करना—यह है।

प्रायोगिक वर्ति में तगर और कुष्ठ को त्यागने का कारण डल्हण ने 'निमि' के मतानुसार दिया है कि ये दोनों मस्तिष्क में अत्यंत विष्यंदन करते है। जिससे शिरोनाश की संभावना है अत: वर्ज्य करें।

स्नैहिक धूमपान[६६]— एरंड आदि के फल देवदारादि काष्ठ, मोम, राल, गुग्गुलु आदि मिलाकर स्नैहिक धूमपान की वर्ति बनावे।

विरेचन धूमपान[६७]—विडंगादि शिरो विरेचन द्रव्यों की वर्ति से विरेचन धूमपान करावें।

कासध्न धूम[६८]—बड़ी कटेरी, कटेरी, त्रिकटु, कासमर्द हिंगु, हिंगोट मनसिल, गिलोय, काकड़सिंगी इत्यादि कासहर द्रव्यों से वर्ति बनाकर कासहर धूमपान किया जाता है।

वामनीय धूम[६९]— स्नायु, चर्म, खुर, सिंग, केकड़े की हड्डी, सूखी मछली, सूखा मांस, कृमि (केंचुआ) आदि तथा वामक द्रव्यों (मदन फलादि) के द्वारा वर्ति बनाकर वामनीय धूमपान करावे।

धूम नेत्र[७०]—बस्ति नेत्र जिन द्रव्यों से बनाया जाता है—उन्हीं से अर्थात् सुवर्ण, रजत, ताम्र, पीतल इत्यादि के द्वारा धूमनेत्र बनाये। यह कनिष्ठिकांगुली के परिणाह का, मटर के जितने स्रोतवाला, तथा मूल में अंगूठे के परिणाह का होना चाहिये। इसकी लंबाई प्रायोगिक नेत्र के लिए ४८ अंगुल, स्नैहिक धूम के लिए ३२ अंगुल, वैरेचनिक धूम के लिए २४ अंगुल तथा कासध्न और वामनीय धूमपध्न के लिए १६ अंगुल, रखे। कासध्न तथा वामनीय नेत्र का छिद्र बेर की गुठली के प्रमाण का रखे। व्रण—धूपन के लिए उपयुक्त नेत्र ८ अंगुल लंबा, मटर के परिणाह का तथा कुलत्थ जा सके ऐसा छिद्र युक्त होना चाहिये। वाग्भट ने इन नेत्रों की लंबाई २४ अंगुल, ३२अंगुल तथा ४० अंगुल क्रमश: तीक्ष्ण, स्नेहन तथा मध्यम धूमपान के लिए कही है। चरक का मत पीछे कहा गया है।

धूमपान के लिये योग्य तथा अयोग्य

धूमयोग्य[७१]—शिरोगौरव, शिरःशूल, पीनस, अर्द्धावभेदक, कर्णशूल, नेत्रशूल, कास, हिक्का, श्वास, गलग्रह, दांतों का हिलना, मुख से लालास्राव कान नाक इनके रोग तथा उनसे उत्पन्न स्राव, पूतिनस्य, मुख की दुर्गंधी, दंतशूल, अरुचि, हनुग्रह, मन्याग्रह, कंडू, क्रिमि, मुखपांडुता, कफस्राव, स्वरभेद, गलशुंडी उपजिह्विका, खालित्य (गंजापन), पिंजरत्व (बाल सफेद होना) केश-पतन, क्षवणु (छिक्का) अतितंद्रा, बुद्धिमोह, अतिनिद्रा, इन विकारों से युक्त आतुर धूमपान के लिए योग्य हैं।

धूमपान के लिये अयोग्य[७२]— निम्नलिखितों के धूमपान करना नहीं चाहिये।

जिसे विरेचन दिया गया हो, जिसे बस्ति दी गई हो, रक्तपित्ती, विषार्त, शोकग्रस्त, गर्भिणी, श्रमक्लांत, मदमत्त, आमदोष, पित्त की अधिकता में, जागरित, मूर्च्छित, भ्रम से पीड़ित, तृषित, क्षतक्षीण, मद्यपीत, दुग्धपीत, स्नेह पीत, मधु पीत, भोजन किये हुए, दधि का सेवन किये हुए, रुक्ष शरीरी, क्रुद्ध, तालु, शोष, तिमिर, शिरोभिघात, शंखक, रोहिणी, प्रमेह, मदात्यय इनसे पीड़ित, आतुरों को धूम नहीं देना चाहिये। इनको धूमपान कराने से रोग बढ़ जाते हैं। सुश्रुत ने उपर्युक्त के अतिरिक्त—भयभीत, दाह, पांडुरोग, वमनोत्तर, उद्गार अपतर्पित, उदर, आध्मान, उर्ध्ववात, इनसे पीड़ित तथा बालक, वृद्ध, दुर्बल यवागु मछली का सेवन किये हुए तथा अल्प कफ वाले व्यक्ति को धूमपान का निषेध किया है।

धूमपान विधि[७३]—आतुर को सुख पूर्वक आसन पर बिठाकर, प्रसन्न मन एवं एकाग्र चित्त रखकर, कमर में से सीधा बिठाकर, दृष्टि को नीचे रखते हुए बिना आलस के स्नेहाक्त धूमवर्ति अग्नि से जलाकर पानार्थ देवे। पहले धूमपान मुख से करावे, फिर नासा से करावे। मुखपीत धूम को मुख से ही बाहर निकाले और नासा से खींचे हुए (धूमनस्य) धूम को मुख से बाहर निकाले। विशेषत: प्रायोगिक धूम नासा से लेना चाहिये, स्नैहिक धूम मुख और

नासा से लेना चाहिये, वैरेचनिक धूम नासा से लेना चाहिये और कासध्न तथा वामनीय धूम मुख से ही लेना चाहिये। धूमपान में वर्ति प्रयोग दो प्रकार से किया जाता है। प्रायोगिक धूम के द्रव्यों का सरकंडे पर लेप कर सूखने पर सरकंडे को निकालकर, सूखी वर्ति धूमनेत्र के मूल में रखकर उसे जलाकर नेत्र के दूसरी ओर से मुख या नासा से धूम खींचना यह एक विधि है। स्नैहिक और वैरेचनिक धूम भी इसी तरह लिया जाता है। दूसरी विधि वर्ति जो खोखली होती है, उसे एक ओर अग्नि से जलाकर दूसरी ओर से प्रत्यक्ष वर्ति को ही मुंह में रख धूम खींचना यह है। कासाध्न धूम और वामनीय धूम की विधि अलग है—इसमें वर्ति के जल जाने पर धूमरहित अंगारों में शराब में रख दे। इस शराब (चिलिम) पर दूसरा शराव जिसके ऊपर छेद हो रख दे, इस छेद में धूम नेत्र लगाकर नेत्र से धूमपान करें। धूम के शांत होने पर बची हुई वर्ति फिर जलाकर धूम का सेवन करावे। व्रणधूम—शराव संपुट में वर्ति को जलाकर नेत्रद्वारा व्रण तक पहुंचाना चाहिये।

मात्रा—प्रायोगिक धूम में ३—३बार धूम को खींचे। अथवा मुख से और नासा से ३—४ बार लेवें। स्नैहिक धूम आँखों से आंसू आने तक लेवे, वैरेचनिक धूम दोष निर्हरण होने तक सेवन करें।[७४]

विशेष—यवागु आदि भोजन के बाद धूमपान करने का निषेध है। तथापि वामनीय धूम तिल, भात, यवागु खिलाकर देना चाहिये। यह वमन करता है। अत: वमन के समान इसमें भी यवागु सेवन आवश्यक है।[७५]

धूमपान में काल विचार—चरक ने प्रायोगिक धूमपान के ८ काल दिये है। प्रायोगिक धूमपान स्वस्थों में विहित होने के कारण उसके ८ काल दिनचर्या के अनुकूल किये गये हैं। स्नैहिक धूमपान वात—वृद्धिकाल में और वैरेचनिक धूमपान कफवृद्धिकाल में करना चाहिये ऐसा चक्रपाणि का मंतव्य है। तथापि सुश्रुत ने प्रायोगिक स्नैहिक और वैरेचनिक तीनों धूमों के लिए १२ कालों का वर्णन किया है। वाग्भट ने ८ काल त्रिविध धूमपान के लिए दिये है।

चरक के आठ काल—प्रायोगिक धूमपान—

१. स्नानोत्तर २. भोजनोत्तर ३. वमनोत्तर ४. छींक आने पर
५. दंत धावनोत्तर ६. नस्योत्तर ७. अंजनोत्तर तथा

८. नींद से उठने के बाद करना चाहिये। यहां स्पष्ट है कि नस्य के बाद देने का जो धूमपान है वह प्रायोगिक प्रकार का हो। एक-एक काल में ९ बार धूमपान करना चाहिये। इसमें यह ध्यान रखे कि पहले ३ बार धूम सेवन कर कुछ आराम कर पुन: ३ बार धूम लेवे इस तरह ३ बार कर कुल ९ बार धूम लेवे।[७६]

सुश्रुतोक्त त्रिविध धूम के १२ काल—स्नैहिक, प्रायोगिक और वैरेचनिक धूमपान निम्नोक्त १२ काल में करना चाहिये—

१. छींक आने पर	२. दंतधावन के बाद	३. नस्य के बाद
४. स्नान के बाद	५. भोजन के बाद	६. दिन में सोकर उठने के बाद
७. मैथुन के बाद	८. वमन के बाद	९. मलमूत्र विसर्जन के बाद
१०. हंसने पर	११. क्रोध करने के बाद	१२. शस्त्रकर्म के बाद।

इसमें भी—स्नैहिक धूम मूलमूत्र वेग के बाद, छींक के आनेपर, हंसने पर, क्रोध करने पर, और मैथुन के बाद लेवे। वैरेचनिक धूम स्नान, वमन, और दिवा निद्रा के बाद लेवे, और प्रायोगिक धूम, दातुन के बाद, नस्य के बाद, भोजन तथा शस्त्रकर्म के बाद लेवे।[७७]

वाग्भटोक्त धूमकाल—भूख, जंभाई, मल त्याग, मूत्रत्याग, मैथुन, शस्त्रकर्म, हास्य, दांतुन इन ८ कर्मों के बाद मृदु धूम (स्नैहिक) लेना चाहिये। उपर्युक्त ८ काल तथा रात्रि में, भोजनोत्तर, और नस्य के बाद—मध्यम धूम चाहिये, और निद्रा, नस्य, अंजन, स्नान और वमन के बाद, तीक्ष्ण धूम देना चाहिये।[७८]

धूमपान के अयोग, योग अतियोग के लक्षण—अयोग लक्षण जिसका धूमपान बराबर न हो उसे स्वर की अशुद्धि, गले में कफ का प्रकोप, सिर का स्तैमित्य—जड़ होना, इन लक्षणों से जानना चाहिये। सुश्रुत ने रोग का अप्रशम यह अयोग लक्षण बताया है।

सम्यक् योग लक्षण—उर, कंठ और शिर में हलकापन, कफ का ढ़ीला होना, हृदय, कंठ और इंद्रियों की शुद्धि तथा जिस दोष के लिए धूम दिया हो उसका प्रशम और रोग प्रशम ये सम्यक् धूमपीत के लक्षण समझना चाहिये।[७९]

अतियोग के लक्षण—तालु, शिर, कंठ इनमें दाह तथा शोष, बारंबार प्यास, मोह, रक्तस्राव (नासा और मुख से), शिर में चक्कर आना, मूर्च्छा, और इंद्रियों का उपताप (नेत्र, श्रोत्र, नासादि के विकार, कर्णक्ष्वेड, दृष्टि रोग, नासा रोग), और दौर्बल्य ये अति धूमपान के लक्षण है।[८०]

धूमपान के उपद्रव—अतिधूमपान बारंबार अकाल में किया जाए तो उपद्रव उत्पन्न होते हैं— जिनमें— बाधिर्य, आंध्य, मूकत्व, (ये सब इंद्रियोपताप हैं) रक्तपित्त, शिरोभ्रम, ये उपद्रव कहे गये है। इन उपद्रवों में तथा अतियोग लक्षण में—घृतपान, अंजन, नावन नस्य, तर्पण, चिकित्सा करें और कफ प्रकोप में रुक्ष चिकित्सा करें।[८१]

इस तरह धूमपान विषय का विस्तार से यहां वर्णन किया है। इसमें से यथा योग्य को धूम दे। तथा योग्य प्रकार से धूमनस्य भी करना चाहिये। धूम अयोग्य में भोजन युक्त, क्रुद्ध, इन्हें धूम के लिए अयोग्य कहा है और धूमपान के काल में इनका समावेश किया है। यहां विरोध नहीं समझना चाहिये। किंतु तत्तद् धूम की वहां विशेषता समझनी चाहिये।

धूमपान के गुण और उपयोग— स्नैहिक धूम स्निग्धता से वात को प्रशमित करता है, वैरेचनिक धूम कफ को उत्क्लिष्ट कर निकाल देता है, क्योंकि यह रुक्ष, तीक्ष्ण, विशद और उष्ण होता है, और प्रायोगिक धूम स्निग्ध विशद, रुक्ष, उष्ण आदि सभी गुणों में साधारण होने से कफ को उत्क्लिष्ट भी करता है, और शोधन तथा शमन भी करता है, तथा वात का भी शमन करता है। धूमपान के सेवन से इंद्रियाएं प्रसन्न रहती हैं, वाक् शुद्धि (स्पष्ट भाषण) होती है, दृष्टि प्रसादन होता है, सिर के बाल, दांत, श्मश्रु इनमें शोभनता होती है, मुख सुगंधित तथा शुद्ध रहता है तथा धूमपान सेवी को—कास, श्वास अरोचक, मुखलेप, स्वरभेद मुखस्राव, वमथु (वमन), छींक, तंद्रा, निद्रा, हनु, मन्या का जकड़ना, पीनस, शिरोरोग कर्णशूल, अक्षिशूल वातकफ से उत्पन्न मुखरोग, ये रोग नहीं होते।[८२]

नस्य के बाद अन्य कर्म हैं कवलग्रह या गंडूष। यह भी एक स्वतंत्र उपक्रम है। अत: इसका वर्णन नीचे किया जाता है।

३. कवलग्रह तथा गंडूष

कवलग्रह तथा गंडूष ऐसे दो शब्द संहिता में प्रचलित हैं। जिसमें औषधि क्वाथ, तैलादि स्नेह इत्यादि को मुख में इतना भर दिया जाये कि उसे घुमाया फिराया न जा सके उसे कवलग्रह कहते हैं और जो मात्रा मुख में घुमाई फिराई जा सके इतनी हो, उसे गंडूष कहते है।[८३] इन दोनों को कुल्ले करना ऐसा सामान्य भाषा में कहा जाता है।

कवलग्रहण के सुश्रुत ने ४ प्रकार किये हैं। स्नेहन, प्रसादन, शोधन तथा रोपण। वाग्भट ने गंडूष के ये ही चार प्रकार किये हैं और उसे स्निनध गंडूष, शमन गंडूष और शोधन गंडूष और रोपण गंडूष ऐसा कहा है। शमन और प्रसादन को एक ही समझना चाहिये।[८४]

इनमें से स्नेहन गंडूष या कवलग्रह—स्निग्ध और उष्ण तथा मधुर, अम्ल, लवण रस युक्त द्रव्यों से करना चाहिये। यह वातदोष में प्रशस्त है। प्रसादन कवलग्रह—मधुर और शीत द्रव्यों से करना चाहिये। यह पित्त में प्रशस्त है। वाग्भटोक्त शमन गंडूष—तिक्तकषाय और मधुर द्रव्यों से करने का निर्देश है। शोधन प्रकार का कवलधारण तीक्ष्ण, उष्ण, रूक्ष, कटु और अम्ल तथा लवण-रस युक्त द्रव्यों से करना चाहिये। यह कफ में प्रशस्त है। नस्य के बाद शोधन कवलग्रह देना प्रशस्त हैं। रोपण प्रकार का कवलग्रह—उष्ण, कषाय, मधुर, कटु रस युक्त द्रव्यों से करना चाहिये। यह व्रण में प्रशस्त है। उपर्युक्त चारों प्रकार के कवल या गंडूष द्रव्यों में—स्नेह (तैलादि) दूध, मधूदक शुक्त, मद्य, मांसरस, गोमूत्र, धान्याम्ल औषधि के कल्क के साथ मिलाकर यथा योग्य सिद्ध कर उष्ण या शीत तथा योग्य प्रयोग करें। अर्थात् शोधन हो तो गोमूत्र आदि, स्नेहन में तैल मांसरसादि, प्रसादन, में मधुरसादि, रोपण में घृत, क्षीरादि इत्यादि प्रकार विचार करे।[८५]

कवल—गंडूष साध्य विकार— मन्यास्तंभ, शिर:शूल, कर्णशूल, मुख रोग, नेत्ररोग, लालास्राव (प्रसेक) कंठरोग, मुखशोष, हृल्लास, तंद्रा, अरुचि, पीनस, इन रोगों में कवल ग्रहण से लाभ होता है।[८६]

विधि[८७]—त्रिकटु, वचा, सरसूं, हरीतकी, इत्यादि का कल्क तैयार कर इसमें तैल, शुक्त, सुरा, मूत्र, क्षार, मधु इत्यादि में से योग्य द्रव्य तथा लवण डालकर कुछ गरम कर ले। फिर आतुर के गले, कपोल, कपाल, प्रदेशपर तथा कंधे और सिरपर स्वेदन (मृदु) और मर्दनकर कवल धारण करावे। मुख को विवृत्त कर तथा ऊपर के बाजू में रख कर कवल को मुंह में धारण करे या गंडूष प्रकार से घुमावे। जब मुंह में कफ भर जाये, नाक या कान से स्राव होने लगे तब तक इसे मुँह में रखना चाहिये, फिर निकाल देवे और दूसरा कवल या गंडूष धारण करावे।

कवल में योग अयोगादि लवण—व्याधि का प्रशम, मन की प्रसन्नता, मुख में हलकापन, इन्द्रियों की प्रसन्नता, ये कवल से योग्य शुद्धि होने पर उत्पन्न लक्षण हैं। हीनयोग या अयोग में मुख का भारीपन, कफोत्क्लेश, रसज्ञान का अभाव, ये लक्षण उत्पन्न होते है और अतियोग में—मुखपाक, शोष, प्यास, अरुचि, क्लम, ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। विशेषत: शोधन प्रकार के कवलग्रह के अतियोग से तो (क्षारादि के कारण) ये होते ही हैं।[८८]

कुछ गंडूष कवल योग[८९]

१. दंत हर्ष, दंत चाल में, वातिक मुखरोग में सुखोष्ण या शीत तिलकल्क से युक्त जल का गंडूष करावे।

२. नित्य देने के लिए तैल या मांसरस का गंडूष प्रशस्त है।

३. जिनके मुख में पाक है, प्रात: काल दाह होता है, मुखक्षत, विषदग्ध, क्षारदग्ध तथा आगंतु मुख व्याधि में घृत या दूध से कवल—गंडूष करावे।

४. मुख की शुद्धि के लिए, व्रणरोपण के लिए, तथा दाह, तृष्णाप्रशमन के लिए मधु से गंडूष धारण करावे।

५. मुख की विरसता, दौर्गन्ध्य युक्त मुख में—धान्याम्ल (कांजी) का कवल—गंडूष धारण करावे।

६. मुखशोष के लिए—धान्याम्ल का लवणरहित, शीत ही प्रयोग करें।

७. कफ को च्छेदन करने के लिए क्षारयुक्त जल (स्वर्जीक्षार, यवक्षार, शुद्ध—टंकण) का गंडूष कवल धारण करावे।

८. मुख में भारीपन लगता हो तो केवल गरमपानी का गंडूष करावे।

इस तरह नस्य के बाद जब कि कफ का विलयन होता है तब—क्षारयुक्त जल का गंडूष करावे। उपर्युक्त गंडूष भी नस्योत्तर यथा योग्य करना चाहिये। उदाहरण—मुखपाक युक्त आतुर हो तो नस्य के बाद क्षारोदक युक्त गंडूष नहीं, बल्कि—क्षीर, मधु इत्यादि से गंडूष करावे। पांच वर्ष से कम उमर के बालकों में गंडूष नहीं करना जाहिये।[९०]

नस्योत्तर भोजनादि का विचार—नस्य के बाद धूमपान, कवलग्रहादि कर्म के होने पर आतुर को गरम पानी पिलावे और दोष को देखकर लघु आहार के भोजन पर रखना चाहिये। जहां सीधी हवा प्रवेश न करती हो ऐसे कमरे में रखे, उसे सोने न दे।[९१] भोजन में विशेषत: स्निग्ध पदार्थ नहीं देना चाहिये। ये कफप्रकोपक होते हैं तथा पचने के लिए गुरु भी होते है और अभिष्यंद करते हैं।

५. परिहार्य विषय तथा अन्य कर्म का विचार—नस्य के बाद शीत जल सेवन, शीत जल से स्नान न करें। स्नानपानादि के लिए गरम पानी का उपयोग करें। दोष का प्रकोप करनेवाले भोजन को छोड़ दे और इंद्रियों का संयम करते हुए रहना चाहिये। तथा रजोधूम, स्नेह, आतप, मद्य, द्रवपान, शिर:स्नान, अतियानायान, क्रोधादि (शोक भय इत्यादि) का त्याग करना चाहिये।[९२]

नस्य एक दिन के अंतर से, दो दिन के अंतर से सात दिन तक लेना चाहिये। सुश्रुत ने २१ दिन तक या समुचित रूप से फल मिलने तक नस्य लिया जा सकता है। ऐसा कहा है लेकिन वाग्भट ने ७ ही दिन नस्य लेने का निर्देश किया है। यदि आवश्यक हो तो वातव्याधि में—मन्यास्तंभ, स्वर भेद, इन रोगों में तथा जिनके शरीर में वात का अतीव प्रकोप है उसे दिन में २ बार भी नस्य (प्रात: सायं) दिया जाना सुश्रुत और वाग्भट दोनों को संमत है।[९३] यहां स्नेहन नस्य विशेषत: प्रयोज्य है।

अतएव नस्य यदि ७ दिन दिया जाये तो उसके बाद रक्तमोक्षण कर्म करना अभिहित है। यदि रक्तमोक्षण न करना हो तो पंचकर्म की पूर्णता समझ कर

(वमन–विरेचन–निरूह– अनुवासन–नस्य) दूसरे रसायनादि उपचार या शमनादि चिकित्सा जो अभीष्ट है–करें।

चरकोक्त कतिपय नस्य प्रयोग-संदर्भ

क्र.	अधिकार	नस्य विषय	संदर्भ
१.	ज्वर चिकित्सा	विमान स्थान के ८ वें अध्याय में कहे गये शिरोविरेचनोपयोगी औषधियों से ज्वर में नस्य	च.चि. ३-२५४
२.	ज्वर चिकित्सा	मात्राशितीय अध्याय में उक्त तैल (अणुतैल) का नस्यार्थ प्रयोग	चि. ३-२५५
३.	रक्तपित्त चिकित्सा	१. नासाप्रवृत्त रक्त में दुष्ट प्रतिश्याय शिरोरोग, कुणपगंधी रक्तस्राव, नासा से गंधज्ञान का अभाव, इन लक्षणों में नीला कमल, गैरिक, चंदन इनको शर्करा और जल में मिलाकर नस्य देने का उपक्रम तथा २. आम्र की गुठली समंगा, धाय, मोचरस, लोध्र, द्राक्षा, इक्षुरस इनसे नस्य प्रयोग ३. दूर्वा स्वरस से नस्य ४. धमासा, प्याज, इनका नस्य ५. दाडिम के फूलों के स्वरस का नस्य ६. प्रियाल सिद्ध तैल, यष्टिमधु सिद्धघृत, तथा आम्र की गुठली इत्यादि से सिद्ध क्षीर का नस्य ७. सारिवा और कमल के चूर्ण का नस्य	चि. ४-९७ से १०४
४.	कुष्ठ चिकित्सा	उत्तमांग के कुष्ठ में क्रिमिज कुष्ठ में, अवस्था में विडंग चूर्ण का नस्य कफप्रकोप युक्त तथा वैरेचनिक एवं धूम नस्य का प्रयोग किलास और क्रिमि का प्रशमन होता है	चि. ७-४८, ४९
५.	राजयक्ष्मा चिकित्सा	संतुष्ट दोषों में, शिर:शूल असंशूल पार्श्वशूल में नावन नस्य का प्रयोग	चि. ८-३४, ३५
६.	उन्माद चिकित्सा	सामान्य चिकित्सा सूत्र में नस्य	चि. ९-३४
७.	उन्माद चिकित्सा	मन:प्रसादार्थ स्मृतिसंज्ञा के लाभ के लिए आचार विभ्रंश में तीक्ष्ण नस्य	चि. ९-३५
८.	उन्माद चिकित्सा	लशुनादि घृत से नावन नस्य	चि. ९-५६ से ५८
९.	उन्माद चिकित्सा	पुराण घृत (१० वर्ष का) तथा प्रपुराणघृत (१०० वर्ष का) के द्वारा नस्य की प्रशस्ति	चि. ९-६५ से ६८

क्र.	अधिकार	नस्य विषय	संदर्भ
१०.	उन्माद चिकित्सा	शिरीषादि द्रव्यों का नस्य	चि.९-७१,७२
११.	उन्माद चिकित्सा	व्योषादि (त्रिकटु) नस्य	चि.९-७३
१२.	उन्माद चिकित्सा	नस्यप्रशस्ति	चि.९-७९
१३.	उन्माद चिकित्सा	श्वेता आदि द्रव्यों का वैरेचनिक धूमोक्त द्रव्यों का नस्य	चि.९-८१,८२
१४.	अपस्मार चिकित्सा	१.कपिला गाय के मूत्र से नस्य २.श्वान शृगाल, मार्जार, सिंह के मूत्र का नस्य ३.भारंगी वचादि द्रव्यों का नस्य ४.श्यामादि नस्य ५.पिप्पली आदि द्रव्यों का नस्य	चि.१०-४० से ४५
१५.	श्ययथुचिकित्सा	सामान्य चिकित्सा सूत्र में शिरोगत शोथ में नस्य	चि.१२-१७
१६.	हिक्काश्वास चिकित्सा	१.शर्करा, तामलकी, द्राक्षादि का नस्य २.गुड़ और शुंठी का नस्य ३.लशुन और प्याज के स्वरस का नस्य ४.नारिदुग्ध तथा चंदन का नस्य ५.घृतमंड, सैंधव इत्यादि का नस्य ६.शर्करा और मधु का नस्य	चि.१७-१२९से १३४
१७.	कासचिकित्सा	मुख से या नासा से यदि रक्तस्राव होता हो-(यह क्षतज कास में होता है।) तो क्षीर और घृत के द्वारा नस्य दे	चि.१८-१४२
१८.	विष चिकित्सा	मृतसंजीवनोऽगद के द्वारा नस्य	चि.२३-५४ से ६०
१९.	विष चिकित्सा	जंगम विष चिकित्सा में-जटामांसी तेजपत्र, कुंकुम, दालचिनी, हरिद्रा, मोथा, चंदन, मन:शिला.तुलसी इत्यादि को जल के साथ पीस कर नस्य देने का निर्देश। यह शोथध्न है	चि.२३-१९०
२०.	विष चिकित्सा	सर्पविष के लिए शिरीष पुष्प के रस में भावित मरिच और शोभांजन चूर्ण का नस्य	चि.२३-१९३
२१.	विष चिकित्सा	दर्वीकर सर्पविष में सिंधुवार मूलादि का चूर्ण नस्य	चि.२३-१९६
२२.	विष चिकित्सा	वचा,पाठा, मुस्तादि द्रव्यों का रोहितक मत्स्य के पित्त से भावित कराकर नस्य	चि.२३-२१३, २१४

क्र.	अधिकार	नस्य विषय	संदर्भ
२३.	विष चिकित्सा	शिरीष त्वक्, त्रिकटु त्रिफलादि द्रव्यों से सिद्ध घृत+अमृत घृत के नस्य प्रयोग-अपस्मार, क्षय, उन्माद, भूतग्रह, गरविष, उदर पांडु, क्रिमी, गुल्म, प्लीहा, उरुस्तंभ, कामला, हनुग्रह, स्कंधग्रह इत्यादि में लाभप्रद। विष पीड़ित में यह संजीवनी सदृश्य कार्य करता है	चि.२३-२४२
२४.	त्रिमर्मीय चिकित्सा	नासारोग चिकित्सा में रोहिषादि सिद्ध नस्य	चि.२६-१३७
२५.	त्रिमर्मीय चिकित्सा	मन: शिलादि चूर्ण का प्रधमन नस्य	चि.२६-१५१, १५२
२६.	त्रिमर्मीय चिकित्सा	कफज पीनस में लाक्षादि सिद्ध तैल का नस्य	चि.२६-१५४
२७.	त्रिमर्मीय चिकित्सा	वातिक शिरोरोग के सामान्य चिकित्सा सुत्र में नस्य	चि.२६-१५८
२८.	त्रिमर्मीय चिकित्सा	अगुर्वादि तैल, रास्नादि तैल, महा-मायूर घृत का नस्य	चि.२६-१५९से १७४
२९.	त्रिमर्मीय चिकित्सा	पित्तज शिरोरोग में जीवनीय घृत का नस्य	चि.२६-१७६
३०.	त्रिमर्मीय चिकित्सा	पित्तज शिरोरोग में त्वक् पत्रादि से अवपीड नस्य	चि.२६-१७८
३१.	त्रिमर्मीय चिकित्सा	पित्तज शिरोरोग में चंदन अनंत मूल, सिद्ध घृत का नस्य	चि.२६-१७९
३२.	त्रिमर्मीय चिकित्सा	कफज शिरोरोग में सामान्य चिकित्सा सूत्र में नस्य	चि.२६-१८०
३३.	त्रिमर्मीय चिकित्सा	क्रिमिज शिरोरोग में तीक्ष्ण नस्य में त्वक्, दंती, करंज, विडंगादि सिद्ध तैल का प्रयोग	चि.२६-१८३से १८५
३४.	त्रिमर्मीय चिकित्सा	मदनफल, त्रिकटु, शिग्रु, करंज इनका अवपीड नस्य	चि.२६-१८५
३५.	वातव्याधि चिकित्सा	वातव्याधि साधान्य चिकित्सा में नस्य प्रयोग	चि.२८-७८
३६.	वातव्याधि चिकित्सा	संशोधन चिकित्सा से बाद नस्य	चि.२८-८८
३७.	वातव्याधि चिकित्सा	बाहुगत वात शिरोगत वात में नस्य	चि.२८-९८
३८.	वातव्याधि चिकित्सा	अर्दित में नस्य	चि.२८-९९

क्र.	अधिकार	नस्य विषय	संदर्भ
३९.	वातव्याधि चिकित्सा	मूर्धगत वात में बलादि घृत मंड का नस्य	चि.२८-१२४
४०.	वातव्याधि चिकित्सा	अस्थिस्नेह का नस्य	चि.२८-१२५ से १२८
४१.	वातव्याधि चिकित्सा	शिरोगत कफ में नस्य	चि.२८-१९४
४२.	त्रिमर्मीयसिद्धि	शंखक रोग में सामान्य चिकित्सा सूत्र में नस्य	सि.९-७३
४३.	त्रिमर्मीयसिद्धि	अर्धावभेदक में नस्य	सि.९-७५
४४.	त्रिमर्मीयसिद्धि	सूर्यावर्त में जीवनीय घृत का नस्य	सि.९-८२,८३
४५.	त्रिमर्मीयसिद्धि	अनंत वात में नस्य	सि.९-८७
४६.	त्रिमर्मीयसिद्धि	तर्पण नस्य के लिए मधुर स्कंध में उक्त औषधियों का प्रयोग	सि.९-९७

नस्य के कतिपय योग—चरक सुश्रुतादिकों ने वमन तथा विरेचन के जिस तरह अनेक योग दिये हैं, उस तरह नस्य के योग वर्णित नहीं किये है। अवस्थानुसार रोगों में जो कुछ नस्य योगों का उल्लेख मिलता है, उसके पीछे ससंदर्भ प्रस्तुत किया है। शार्ङ्गधर तथा भावप्रकाश ने कुछ नस्य योगों का वर्णन किया है उनकों यहां लिखा जाता है।

शार्ङ्गधरोक्त नस्य कल्प

१. गुड़ादि नस्य—गुड़ और शुंठी की पीस कर उसमें पिप्पली और सैंधव लवण मिलाकर उष्ण जल में घोल कर नस्य दे। इस नस्य के प्रयोग से गला, नाक, कान, आंख, शिर, हनु, बाहु और पीठ के रोग नष्ट होते हैं।

२. मधुक सारादि नस्य—महुवे का शुक्त, पिप्पली, वचा, काली मरिच, और सैंधव लवण—इसमें द्रव्यों के चूर्ण को प्रथम गरम पानी में घोल ले, फिर मधुक शुक्त मिलावे, इससे नस्य दे। इस नस्य के प्रयोग से अपस्मार,उन्माद,सन्निपात ज्वर तथा अपतंत्रक में संज्ञा नाश में लाभ होता है।

३. सैंधवादि नस्य—सैंधव लवण, मरिच चूर्ण (सफेद) सरसू, कुष्ठ इन्हें बकरे के मूत्र में पीस कर उसका नस्य देने से तंद्रा (Stupor or Lithargy) का नाश होता है।

४. मरिचादि नस्य—सैंधव, वचा, कृष्णमरिच, पिप्पली, शुंठी, कंकोल, लहसुन, गुग्गुल, कायफल, इनके चूर्ण को रोहित मत्स्य के साथ पीस कर सुखा ले। इस चूर्ण के प्रधमन विधि से देने से तंद्रा नाश होता है।

५. कुंकुम नस्य—कुंकुम (केशर) को गांय के घी के साथ भलीभांति भूनकर समभाग शर्करा मिलाकर, गाय के दूध के साथ पीस लेवें। इसका नस्य देने से—वातरक्त की वेदना, भ्रू—शंखप्रदेश का शूल, नेत्रकर्ण और शिर के रोग तथा सूर्यावर्त और अर्धावभेदक ये रोग दूर होते है।

६. बृंहणार्थ नस्य योग—नारायण तैल, अणुतैल, माषादि तैल इनके नस्य का तथा

इनके योग में उक्त द्रव्यों से सिद्ध घृत का नस्य बृंहणकर्म करता है। अर्थात् शिरस्थ धातु का बृंहण करता है।

७. माषादि नस्य—उड़द, कौंच के बीज, रास्ना, बला, एरंडमूल, रोहिष तृण और अश्वगंधा इनके क्वाथ में हींग और सैंधव ननक मिलाकर सुखोष्ण नस्य देने से पक्षाघात, कंपवात, अर्दित मन्यास्तंभ और अवबाहुक इनमें लाभ होता है।

८. बिभीतकादि नस्य—बहेड़ा, निंब, गंभारी, हरीतकी, लिसोढा अथवा गूंजा फलों की मज्जा, इनके सिद्ध तैल का प्रतिमर्श विधि से प्रयोग करने से पलित रोग में (बाल सफेद होना) लाभ होता है। भावप्रकाश ने इन्हीं योगों का वर्णन किया है। उपर्युक्त के अतिरिक्त—जात्यादि तैल पद्मकादि तैल का नस्य नासागत रक्तस्राव में षड्बिंदु तैल का नस्य शोधनार्थ शुद्ध गोघृत का नस्य शिर:शूल, आक्षेप तथा बृंहणार्थ, अश्वगंधादि घृत का नस्य शिरोरोग तथा बृंहणार्थ, मायूरघृत, महामायूर घृत इनका नस्य शिरोरोग में यथा योग्य प्रकार से करना चाहिये।

मदनफल, इक्ष्वाकु आदि जो वमन तथा विरेचन की औषधियां कही गई हैं इनके चूर्णों से नस्य देना शोधनार्थ विहित है, तथा इनसे सिद्ध तैल, घृत का भी विरेचनार्थ उपयोग होता है और मधुर स्कंध बस्ति (अध्याय में कहा है) से सिद्ध औषधियों का तर्पण नस्य (बृंहण) के लिए प्रयोग करना चाहिये।

नस्य की कार्मुकता

नस्य को विधि के अनुसार प्रयोग करने से निम्नलिखित गुणों की प्राप्ति होती है।

१. नस्यसेवी को चक्षुरोग नहीं होते।
२. कर्णरोग नहीं होते।
३. नासारोग नहीं होते।
४. केश श्मश्रु,—दाढी के बाल सफेद या भूर नहीं होते।
५. केश जल्दी गिरते नहीं और लंबाई बढ़ती है।
६. पीनस, अर्धावभेदक मन्यास्तंभ, शिर:शूल, अर्दित, हनुग्रह इन रोगों का नस्य से प्रशम होता है।
७. शिर, शिर की हड्डियां, शिर की संधियां, स्नायु और कंडरा इनको बल मिलता है।
८. मुख प्रसन्न और उपचित रहता है।
९. स्वर स्थिर, स्निग्ध और घोषवान बनता है।
१०. इंद्रियों की उनके ज्ञानग्रहण में शक्ति बढ़ती है।
११. नस्य सेवी को ऊर्ध्व जत्रुगत रोग नहीं होते।
१२. वृद्धापकाल देर से आता है।
१३. मुख सुगंधित रहता है
१४. हनु, दांत, सिर, त्रिक् प्रदेश (दो जत्रु अस्थि तथा उर:फलक के संधिस्थान का प्रदेश) बाहु तथा उर ये अवयव दृढ़ और बलवान होते हैं।
१५. वली, पलित, खालित्य तथा व्यंग इत्यादि रोग नहीं होते।[१४]

इनके अतिरिक्त प्रतिमर्श के अमुक काल के सेवन से उत्पन्न होनेवाले अमुक गुण इसमें समाविष्ट करना चाहिये। संक्षेप में नस्य से वातव्याधि, उर्ध्वजत्रुगत रोग, कफ दोष इनमें लाभ होता है और इनमें शमन, शोधन, बृंहण तीनों प्रकार से लाभ पहुंचता है। नस्य के ये गुण किस तरह संपन्न होते हैं इसका विचार करेंगे।

नस्य कर्म के अनुसार दी हुई औषधि नासा स्रोत में रहती है या शिर में जाती है यह प्रमुख विचारणीय प्रश्न है। यदि वह शिर में जा सकती हो, अथवा वीर्य से शिर में पहुंचती हो तो उपर्युक्त अनेक कार्यों को संगती मिल सकती है। आयुर्वेद मतानुसार नासा यह शिर का द्वार है, और इस रास्ते से औषधि शिर में व्याप्त होकर रोगों को नष्ट करती हैं। नस्य की कार्मुकता बताते हुए चरक ने कहा है कि—शिरोविरेचन औषध उत्तमांग में—शिर में पहुंचकर संपूर्ण विकृत दोष को वहां चिपकने न देते हुए उसे बाहर निकाल देता है जैसे मुंजादि में रहे हुए सरकंडे को बिना संलग्न हुए खींचकर निकाला जा सकता है।[१५]

शिर यह इंद्रियों का आयतन है। शिर में पहुंच कर—दृष्टि, कर्ण, त्वग् नासादि के मूलस्थान को बल देना, वहां के दोषों को निकाल देना तथा शमन करना ये कार्य नस्य से हो सकते है। शिर को कफ का धाम कहा है और नस्य का मुख्य कार्य भी कफ पर है। शिर में तर्पक कफ रहता है जो इंद्रियों को तर्पण करता है। शिर में स्नेह के द्वारा निर्मित मज्जा धातु से बना हुआ मस्तुलुंग शिर के कार्यों का मूल है।

नासा का मुख्य कर्म गंधग्रहण हैं। नासा के मूल में गंधवह धमनियां होती हैं जो गंधज्ञान को शिर्से पहुंचाती हैं। इन मूल स्थानों में गंधद्रव्यों के द्वारा उत्तेजना का कार्य होता है। यह उत्तेजना पहुंचने पर संपूर्ण गंधवह स्रोत प्रक्षुभित होता है और जब क्षवथु प्रवृत्ति होती है तो शिरस्थ विलयित कफ के साथ दोष निर्हरण संभव होता है। नस्य द्रव्य में उपयुक्त चूर्ण द्रव्य प्राय: गंध प्रधान है। शुंठी, लशुन, हिंग, वचा, पिप्पली आदि गंध उत्तेजक द्रव्य होते हैं, अन्य द्रव्य कटु, उष्ण और तीक्ष्ण होते हैं। पीछे नस्य द्रव्यों की तालिका दी है, उससे यह स्पष्ट होता है कि प्राय: द्रव्य उष्ण तीक्ष्ण है। ये दोनों गुण आयुर्वेद मतानुसार विष्यंदन, द्रवीकरण, च्छेदन करने का कार्य करते हैं। मधुर औषधियां बृंहण, -शमन-तर्पण का कार्य करती हैं और कषाय रसयुक्त औषधियां स्तंभन करती हैं। ये सब गुण तब मिल सकते हैं जब कि इनका वीर्य शिर में पहुंचता हो।

आधुनिक मत से नासा के मूल में गंध को ग्रहण करने वाली ऑलफॅक्ट्री नाड़ी स्थित है। (allfactory nerve) इस नाड़ी की श्लेष्मल कला नासा के मूल में—दोनों नासा पुट में करीब एक से दो चौरस सेंटीमिटर का क्षेत्र व्याप्त करती हैं। इस गंधवह श्लेष्मल कला का संपर्क गंधवह नाड़ी से होता है— प्राय: सब प्रकार के गंधज्ञान के संकेत जो इस कला से ग्रहण होते हैं—केंद्रीय नाड़ी संस्थान में पहुंच जाते हैं। शिर में स्थित—एमोग्डोलॉईड न्यूक्लिअन्स (Aymgdoloid nuclens) पायरिफॉर्म एरिआ (Pyriform area) तथा प्रीफ्रॉंटेल कॉरटेक्स (Prefontal cortex) इन स्थानों तक भिन्न-भिन्न गंध की संवेदनाएं पहुंच जाती हैं और वहां उत्तेजना करती हैं। ऐसा समझा जाता है कि एमेग्डोलॉईड एरिया तथा पायरी फॉर्म क्षेत्र से ये संवेदनाएँ शिर के अन्यान्य केन्द्र में भी पहुंचती है। इनमें हिप्पोकेंपस (Huppocampus), अंकस (uncus) और डोमिनंट एंग्यूलर गायरस (Dominant angular gyrus) में जाती है। नये अध्ययन से यह मालूम हुआ हैं कि

हिप्पोकेंपस का संबंध मुख्यत: मनुष्य के भावनात्मक (क्रोध, शोकादि) कार्यों से तथा सुप्त प्रवृत्ति से हैं। इसके क्षोभ से ततद प्रकार के नस्य के कार्य का अनुमान कर सकते है। क्रुद्ध और शोकग्रस्त को नस्य न देने का निर्देश किया है—संभवत: ऐसे समय में शिर के इंद्रियों—तथा मन के कार्यों को अधिक उत्तेजित न करना यह उद्देश्य है और प्रतिमर्श जैसा स्नेहन नस्य जो वात क्षोभ को कम करता हैं—संभवत: इसीलिए इनमें उचित कहा है। उपर्युक्त का मतितार्थ यह हुआ कि जो गंध प्रधान द्रव्य हैं—वे वीर्य से निश्चितत: शिर में पहुँचते हैं।

नासा स्थित गंधवह नाड़ी के श्लेष्मल अवयव को उत्तेजित करने में वे द्रव्य जो इसमें जल्दी घुल जाते हैं वे प्रधान माने गये हैं। गंध की उत्तेजना करने वाले द्रव्यों में—

(१) उड़नशीलता होती है

(२) वे कम-से-कम जल में घुलने योग्य होते ही हैं तथा

(३) वे स्नेह में (Lipid soluble) घुलनशील होते है—ये तीन प्रकार के द्रव्य जल्दी से गंधवह को उत्तेजित करते हैं। गंधवह नाड़ी, तथा गंधज्ञान जहां से होता है—वह नासा के मूलभाग में स्थित का केंद्र है। अवयव जिस धातु से बनते है उसमें स्नेह का अत्यधिक प्रमाण उपस्थित रहता है। शायद यही कारण कि स्नेह में घुलने वाले पदार्थ तुरन्त उससे ग्राह्य होते है और उनका स्थानांतर (Transmission) भी शीघ्रता से होता है।[१६]

यहां यह स्मरणीय है कि नस्य द्रव्यों में शुक्त, मद्य इनके साथ औषध प्रयोग करने का निर्देश शास्त्र में है—ये द्रव्य अत्यधिक स्नेह घुलनशील (Lipid soluble) होते है—जिससे इनका नासा से शिर में पहुंचना समझ सकते हैं। दूसरी बात नस्य के लिए तैल की बहुत प्रशस्ति की है—वाग्भट कहते है कि—तैल ही नस्य के नित्य सेवन में प्रशस्त है—क्योंकि शिर यह कफ का स्थान है—और कफ के लिए तैल (उष्ण-सूक्ष्म-अणुप्रवणभावादि गुणों से) प्रशस्य होता है। यहाँ दो तरह के संकेत मिलते हैं। एक तो तैल—घृत—इत्यादि स्नेह द्रव्य हैं—जो नासा में स्थित गंधग्राहक स्नेह रचनामय अवयव के लिए समान द्रव्य है। और 'वृद्धि: समानै: सर्वेषां' के सिद्धांत से उनकी इससे वृद्धि होती हैं। यहां वृद्धि का मतलब वे तुरन्त उनसे ग्रहण किये जाते है और शिर की ओर जाकर समान भाग को बढ़ाने का कार्य (शिरस्थ स्नेह निर्मित मज्जातंत्र को) करते है—इससे जिससे नाड़ी को बल मिलता है। यहां यह संदेह हो सकता है कि नासा के नाड़ी में इन द्रव्यों का पूर्णांश से घुलना संभव है—या नहीं यहां केवल संभाव्यता बताने का ही उद्देश्य है—दूसरी बात स्नेह में जो अणुप्रवण भावता है—जिससे वह बस्ति में भी—ऊपर तक पहुंच जाता है—उसी तरह नासा नाड़ी के अवयव को चिपककर—उनका एक भाग होकर और शारीर पदार्थ की तरह ऊपर जा सकता है। आधुनिक विज्ञान में भी गंधवह स्रोत—उसके ज्ञान ग्रहण, गंधद्रव्य का ऊपर जानेपर कहां कहां क्या कार्य होता है इत्यादि सब विज्ञान पूर्णांश से निश्चित नहीं है। इसीलिए केवल अभावात्मक विचार न करते हुए 'नासा हि शिरसो द्वार' जानना संयुक्तिक ही होता है। यही कारण है कि प्रतिमर्श में जिसमें मात्रा अल्प होती है—अधिक लाभ तथा निरापदता है—और मात्राधिक्य से अधिक संवेदना से द्रव्य बाहर ही आते है। संक्षेप में नस्य द्रव्य के बारे में कहा जा सकता है कि—

(१) स्नेह द्रव्य शिरस्थ नाड़ीतंत्र का बृंहण, शमन तर्पण का कार्य करते है।

(२) मद्य, शुक्तादि से मिश्र पदार्थ तीक्ष्णता से तुरन्त शोधन में लाभप्रद हो सकते हैं।

(३) दूध, शर्करोदक, मांसरस, इत्यादि बृंहण पदार्थ स्नेह के साथ प्रयुक्त करने पर उचित प्रकार से बृंहण तर्पणादि कार्य करते हैं।

(४) चूर्ण—से दिया हुआ प्रधमन नस्य गंधप्राधान्य से, तथा कटु, तिक्त, उष्ण, तीक्ष्ण गुण से तुरन्त संपूर्ण गंधवह स्रोत को उत्तेजित कर श्वेष्मल स्राव करता है—जिससे शोधन का काम करता है।

संदर्भ

१. औषधम् औषध सिद्धं स्नेहो वा नासिकाभ्यां दीयते इति नस्यम्।। सु.चि.४०-२१

२. "वाचस्पत्यम्" लेखक श्री.तारानाथ भट्टाचार्य, पृष्ठ: ४००६

३. ऊर्ध्व जत्रुविकारेषु विशेषन्नस्य मिष्यते।
नासाहि शिरसो द्वारं तेन तद्व्याप्य हंति तात्।। अ. ह्र. सु. २०-१
अ. द.—नासायां भवं—नस्यं ।। अ. ह्र. सू. २०-१पर
नस्यं तद् कथ्यते धीरैनसिाग्राह्यं—यदौषधम्।। भा. प्र. पू. खं.

४. नस्त: प्रच्छर्दनं चैव प्रत्यक्पुष्पी विधोयते। च. सू. १-८५
च.पा-नस्त प्रर्च्छदनं इति शिरोविरेचनम्।।

५. (१) अपामार्गस्य बीजानि पिप्पलीर्मरिचानि च।
विडंगान्यथ शिग्रूणिसर्षपास्तुंबुरुणि च।।
अजाजीं चाजमोदां च पीलून्येलां हरेणुकाम्।
पृथ्विकां सुरसां श्वेतां कुठेरक फणिज्झकौ।।
शिरीषबीजं लशुनं हरिद्रे लवणद्वयं।
ज्योतिष्मती नागरं च दद्याध् शीर्षविरेचने।। च.सू. २-३ ४,५
(२) शिरोविरेचन द्रव्याणि पुनरपामार्ग पिप्पली। मरिच।। च. वि. ८-१५४

६. पिप्पली विडंगापामागंशिग्रु सिद्धार्थक शिरीष मरिच करबीर बिंदीगिरी-कर्णिका किणिहिवचा ज्योतिष्मती करंजाकलिकं लशुनातिविष शृंगवेर तालीश तमाल मुरसार्जकेंगुदी मेषशृंगी मातुलंलुंग मुरंगी पीलु जाती शाल ताल मधुक लाक्षा हिंगु लवण मद्य गोशकृद्रस मूत्राणीति शिरोविरेचनानि। सु. सू. ३९-६

७. वेल्लापामार्ग व्योष दार्वी सुराला, बीजं शैरीषं बार्हतं शैग्रवंच।
सारो माधूक: सैंधवं तार्क्ष्यै शैलं, त्र्युटौ पृथ्वीका शोधनं ह्युत्तमांगम् ।।
अ. ह्र. सू. १५-४

८. नावन चावपीडश्च ध्मापनं धूम एव च।
प्रतिमर्शश्च वित्तेपं नस्त: कर्म तु पंचधा।
स्नेहन शोधनं चैव द्विविधं नावनं स्मृतं।
शोधन: स्तंभनश्चैव अवपीडो द्विधा मत:।
चर्णस्याध्मापनं तद्धि देह स्रोतोविशोधनम्।

विज्ञेयस्त्रिविधो धूमः प्रागुक्तः शमनादिकः।
प्रतिमर्शो भवेत्स्नेहो निर्दोषः उभयार्थ कृत्।
एवं तद्रेचनं कर्म तर्पणं शमणं त्रिधा।। च. सि. ९-८९ से ९२

९. तद्द्विविधम् शिरोविरेचनं स्नेहनं च। तद् द्विविधमपि पंचधा।
तद्यथा-नस्यं शिरोविरेचन, प्रतिमर्शः अवपीडः प्रधमर्न च।।
सु. चि. ४०-२१

१०. विरेचनं ब्रृंहणं च शमनं च त्रिधापि तत्।। अ. हृ. सू. २०-२
११. बृंहणं कर्षणं चैव द्विविध नस्य कर्म तु।। का. सि. अ. २
शोधन पूरणं चैव द्विविधं नस्यमुच्यते।। का. सि. अ. ४
१२. नस्य भेदो द्विधा प्रोक्तो रेचनं स्नेहनं तथा। रेचनं कर्षणं प्रोक्तं स्नेहनं बृंहणं मतम्।।
शा. उ. खं.८-२
अवपीड प्रधमनौ द्वौ भेदावपरौ स्मृतौ। शिरोविरेचनस्यात्र।। शा. उ. खं.८-११
मर्शश्च प्रतिमर्शश्च द्वौ भेदौ स्नेहने मतौ।। शा. उ. खं.८-२४
१३. तथा च भोजः—"प्रायोगिकं स्नेहिकं च द्विविधं नस्यमुच्यते।"
डल्हण सू. चि.४०-२३पर।

तस्य च तंत्रांतरे विषार्तादीनांसंज्ञाप्रबोधकत्वेन रक्तपित्तादीनां स्तंभनत्वेन द्वैविध्यम्
तथाच विदेहः "विष विघात. . ." उ. सू, चि. ४०-४४ पर
१४. च. पा. —अत्र सुश्रुते धूमं वर्जयित्वा पंचविधं नस्त कर्मोक्तं "तद्द्विविधमपि पंचविधबिकल्पम्। तद्यथा नस्यं शिरोविरेचनं, प्रतिमर्शोऽवपीड प्रधमनं च" इति।इह तु नावनशब्देनैव शिरो-विरेचनमपि गृहीतम्। यदुक्तं स्नेहनं शोधनं चैव नावनं द्विविधं स्मृतं, इति, सुश्रुतोऽक्तोर्थो गृहीत एव। शोधनः स्तंभनस्यादबपीड इत्यत्र संशमनमप्यवपीडऽस्य कर्म इच्छंति तच्च स्तंभन एवांर्त-भावनीयम्। अवपीड्य यत्र कल्कादीनि दीयंते इत्यवपीडः। अनेन शिरोविरेचनार्थ दीयमाग सैंधव पिप्पल्यादि कल्कस्याप्यवरोधः। ध्मापनं तद्धिदेहस्रोतो विशोधनं इति वचनाद् ध्मापनं शिरोविरेचन प्रयोजनकमेवेति दर्शयति। शमनादि इत्यत्र शमन शब्देन प्रायोगिकं गृहणाति। तेन प्राओगिक स्नैहिक वैरेचनिक धूमानां नासादीय-मानामिह ग्रहणं। मुखपेयस्तु धूमो न नस्यम्। उभयार्थकृदिति स्नेहविरेचनार्थकृत्। . . . .शमनेन स्तंभनस्यापि ग्रहणम् तर्पणे स्नेहनस्यावरोधः अन्ये ये केचित् प्रभेदास्तंत्रांतरे प्रतिपादितास्तेष्य-त्रैन्तर्भवंति।
च. सि. ९-१२ पर

१५. शिरोविरेचनम् सप्तविधम् फलपत्रमूलकंद पुष्प निर्यास त्वगाश्रय भेदात्।
च. वि.८-१५४

१६. तत्र यः स्नेहार्थ शून्य शिरसां ग्रीवास्कंधोंरसाश्च बलजननार्थै दृष्टि प्रसाद जननार्थ वा स्नेहो विधीयते तस्मिन् वैशेषिको नस्य शब्दः।। सु. चि. ४०-२२
१७. दद्यादेषोऽणुतैलस्य नावनीयस्तसंबिधिः।
पिचुना नावनैस्त्रिभिः।। च.सू.५-६७, ६८
च. पा.—पिचुना इति तूलक पिडिकया।
१८. तत्तु देयं वाताभिभूतेशिरसि दंतकेशश्मश्रुपातदारुण कर्णशूल कर्णक्ष्वेद

तिमिरस्वरोपघात नासारोगास्यशोषावबाहुकाकालजवलीपलित प्रादुर्भाव, दारुणप्रबोधेषु वातपैत्येषु मुखरोगेषृ चान्येषु वातपित्तहरद्रव्य सिद्धेन स्नेहनेति।
सू.चि.४०-२२

१९. तस्य प्रमाणं अष्टौ बिंदवः प्रदेशिनी पर्वद्वय निसृताः प्रथमा मात्रा, द्वितीया शुक्तिः, तृतीया पाणि शुक्तिः इत्येतास्तिस्रो मात्रा तथा बलं प्रयोज्याः। च.सु.चि.४०-२८
डल्हण—अष्टौ इति प्रत्येकं नासा पुटयो, एवं षोडष बिंदवः, ... स्नेहनार्थे तद् द्विगुणा शुक्ति प्रमाणा इति प्रतिपादयति। प्रथमा मात्रा हीनेत्यर्थः, मध्यमा मात्रा शक्तिर्द्वात्रिंशद्बिंदवः। उत्तमा पाणि शुक्ति-श्चतुषष्टिबिदवः। . .तथा च भोजः, "प्रायोगिके बिंदवौष्टौं स्नेहिके शुक्तिरिष्यते। दौषोच्छ्रायं समासाद्य दद्याद द्वित्रिचतुर्गुणम्।।
२०. शिरो विरेचनं श्लेष्मणाभिव्याप्त तालुकंठ शिरोसामरोचक शिरोगौरव-शूल पीनसार्द्धविभेदक कृमि प्रतिश्यायापस्मार गंधाज्ञानेष्वन्नोषु चोर्ध्व-जत्रुगतेषु कफजेषु विकारेषुशिरोविरेचन द्रव्यैः तत सिद्धेन वा स्नेहेन।। सु.चि.४०-२९
२१. चत्वारी विंदवः षड्वा तथाष्टौ न यथा बलं।
शिरोविरेक स्नेहस्य प्रमाणमभि निर्दिशेत्।। सु.चि.४०-३६
२२. तन्नैतद् द्विविधमपि अभुक्तवतोऽन्न काले पूर्वाह्ने श्लेष्म रोगिणां, मध्याह्ने पित्तरोगिणाम्, अपराह्ने वातरोगिणाम्। अ.हृ.सू.४०-३७
डल्हण—स्वास्थ्यवृत्तिक नस्य कालाबधारणं तंत्रांतराज्ज्ञेयं। तथाचवृद्ध वाग्भटः, 'स्वस्थवृत्ते सु शीते मध्याह्ने, शरद्वसंतयोः पूर्वाह्ने, ग्रीष्मेऽपराह्ने वर्षा स्वादित्या दर्शने ...।।"
२३. (१) कल्काद्यैरवपीडस्तु स तीक्ष्णैर्मूर्ध विरेचनः। सु.चि.२०-७
(२) अवपीड़्य पत्र कल्कादीनि दीयते इत्यवपीड।। च.पा.
२४. अवपीडस्तु शिरोविरेचनादभिष्यंद सर्पदंष्ट विसंज्ञेभ्यो दद्याद् शिरो-विरेचन द्रव्याणामन्यतमवपीडयावशिष्य च शर्करेक्षु रस क्षीरघृत मांस-रसानामन्यतमं क्षीणानां शोणित पित्ते च विदध्यात्।। सु. चि.४०-४४
२५. डल्हण—तस्य च तंत्रातरे विषार्तादीनां संज्ञा प्रबोधनत्वेन रक्तपित्तादीनां स्तंभनत्वेन द्वैविध्यम्। तथा च विदेहे, विषाभिघात सन्यास मूर्च्छामोहाप तंत्रके। मदापस्मारकामर्त्ति चित्त क्रोध भयादिषु। मानसेषु च रोगेषु मूढ व्याकुल चेतसाम्। संज्ञा प्रबोध हेत्वर्थमवपीडं प्रयोजयेत्।शिरोविरेचन स्नेह, मुष्काख्यं तद् विरेचनम् क्षौद्रादि कल्क पिष्टच स्तभनंत्वव-पीडनम्।। सु. चि. ४०-४४
२६. कृश दुर्बल भीरुणां सुकुमारस्य योषितां।
शृता: स्नेहा: शिरः शुद्धयै कल्कस्तेभ्यो यथा हितः।। सु. चि. ४०-४५
२७. (१) ....प्रध्मापनस्य तु। तत् षडंगुल्या नाड्या धमेच्चूर्ण मुखेन तु।
च. सि. ९-१०७
(२) चेतोविकार कृमिविषाभिपन्नानां चूर्ण प्रधमेत्।। सु.चि.४०-४६
डल्हण—अत्राहविदेहः, "नाडी षडंगुला यामा द्विमुखी च तथा प्रधमेत्। त्रिश्चूर्ण मुच्युटी मात्रमेष प्रधमने विधिः।। शुक्ति प्रमाणं जिघ्रेद्वा बर्द्ध सूक्ष्मेण वाससा"।इति। तर्जन्यंगुष्ठ ग्राह्यं चूर्ण मुच्युटिमात्रम्।।

२८. तेन प्रायोगिक स्नैहिक वैरेचनिक धूमानां नासादीयमानामिह ग्रहणम्।
मूखपेयस्तु धूमो न नस्यम्।। च. पा. च. सि. ९-९२ पर

२९. धूमयोग्य: पिवेद्दोषे शिरोध्राणक्षि संश्रये। ध्राणेन .... च.सू.५-४५

३०. प्राक्पिबेन्नासयोत्क्लिष्टे दोषे घ्राण शिरोगते।
उत्क्लेशनार्थ वक्त्रेण विपरीतं तु कंठगे। अ. ह्र. सू. २१-१०

३१. १ ....मुखेन ध्राणपो वमेत्। आस्येन धूमकवलान् पिवन् ध्राणेन नोद्धमेत्।
प्रतिलोमं गतो ह्यास्य धूमो हिंस्याद्धि चक्षुषि।। च.सू.५-४६

३२. चतुर्विंशतिनेत्रं स्वांगुलीभिर्विरिचने,। द्वात्रिंशदंगुल स्नेहे प्रयोगेध्यर्ध-मिष्यते।।
च. सू. ५-४८

३३. ऋजुपविष्टस्तच्चेता विवृतास्यास्त्रिपर्ययम्।
पिधाय छिद्रमेकैकं धूभं नासिकया पिब्रेत्।। अ.ह्र.सू.२१-९

३४. हरेणुकां प्रियंगुं च पृथ्विकां केशरं नखं। ह्रीब्रेरं चंदनं पत्रं त्वगेलो-शीरपत्रकं। ....शुष्कां निगर्भा तां वर्ति धूमेनेत्रार्पितंनर:। स्नेहाक्तमग्नि संप्लुष्टां पिवेत प्रायोगिकीं सुखाम्।। वसा घृत मधुच्छिष्टैर्युक्तियुक्तै-वरौषधै:। वर्ति मधुरकै: कृत्या स्नैहिको धूममाचरेत्।। श्वेता ज्योतिष्मतीचैवा हरितालं मन:शिला। गंधाश्चाऽगुरुपत्राद्या धूम: शीर्षविरेचनम्:।
च. सू. ५-२०-२६

३५. (१) प्रतिमर्शो भवेत्स्नेहो निर्दोष: उभयार्थ कृत।। च. सि. ९-१२
(२) मर्शश्च प्रतिमर्शश्च द्विधा स्नेहोऽत्र मात्रया।। अ. ह्र. सू. २०-७

३६. प्रतिमशंस्तु नस्यार्थ करोति न च दोषवान्। तत: स्नेहांगृलिं वद्याद् पात
निंशि च सर्वदा। न चोच्छिद्यदव रोगाणां प्रतिमर्श: स दार्ढ्यकृत।।
च. सि. ९-११७

च.पा.—अयं प्रतिमर्श: स्वल्पस्नेहप्रमाणोऽनुच्छिद्यनश्च सर्वाकालिको ज्ञेय:। यस्तु भूरिस्नेहमात्रा नासौ सार्वकालिक:।। युदुक्तं,ईषदुचिंछद्य-नात्...." तथा प्रतिमर्श तु न पिबेत् कंठास्राव भयान्नर:। यावत् स्नेहो व्रजेदार्स्य तत्प्रमाणं च तस्य तु।।

३७. ईषदुच्छिद्यित: स्नेह: यावद्वक्त्रं प्रपद्यते। तस्ये निषिक्तं तं विद्याद प्रतिमर्श: प्रमाणत:।
सु. चि. ४०-५२

३८. प्रदेशिन्यंगुली पर्व द्वयान्मग्न समुद्धृतात्। यवत्पतति बिंदुर्दशाष्टौ षटक्रमेण ते। मर्शस्योत्कृष्टमध्योन मात्रास्तां एव च क्रमात्। बिंदुर्द्व-योना: कल्कादे:।। .... योज्योंऽतेऽसौ द्वि बिंदुक:।। (प्रतिमर्श) अ. ह्र. सू. २७-९, १०, २८

३९. प्रतिमर्ष: क्षतक्षाम बाल वृद्ध सुखात्मसु। प्रयोज्योऽकाल वर्षेऽपि।
अ. ह्र. सू. २०-२६, २७

४०. नत्विष्टो दुष्टपीनसे। मद्यपीतेऽबल: श्रोत्रे कृमिदूषितमूद्धांनि। उत्क्लिष्टो त्क्लिष्ट दोषे च हीनमात्रा तथा हि.स:।। अ. ह्र. सू.२०-२६, २७

४१. आशुकृश्चिर कारित्वं गुणोत्कृष्टापकर्षता। मर्शे च प्रतिमर्शे च विशेषो न भवेद्यदि। को मर्श स परीहारं सापदं च भजेत्तत:। अच्छपान विचाराख्यौ कुटीवातातपस्थिती:। अन्वास मात्रा बस्ति च तद्वदेव विनिर्दिशेत्।। अ. ह्र. सू. २०-३४, ३५, ३६

४२. तैलमेव च नस्यार्थे नित्याभ्यासेन शस्यते।
शिरस: श्लेष्म धामत्वात् स्नेहा: स्वस्थस्य नेतारे।। अ. ह्र. सू. २०-३३

४३. प्रतिमर्शश्चतुर्दशसु कालेषूपादेय:। तद्यथा-तल्पोस्थितेन प्रक्षालितं-
(१) दंतेन गृहान्निर्गच्छता व्यायाम व्यवायाध्वपरिश्रांतेन मूत्रोच्चार कवलांजतांते भुक्तवता छर्दितवता दिवास्वप्नोत्थितेन सायंचेति।।
सु. चि. ४०-५०

(२) निशार्ह भुक्तवातार्ह: स्वप्नाध्वश्रमरेतसाम्। शिरोऽभ्यंजन गंडूष प्रस्रावांजन वर्चसाम्। दंतकाष्ठस्य हासस्य योज्योऽतेऽसौ द्वि बिंदुक:।
अ. ह्र. सु. २०-२७,२८

४४. तत्रतल्पोत्थितेनासेवित: प्रतिमर्शो रात्रावुपचितं नासास्रोतोगतं मल-मुपहाति मन: प्रसादं च करोति। पक्षालितदंतेनासेवितो दंताना दृढता वदन सौगंध्यंचापादयति। गृहान्निर्गच्छता सेवितो नासास्रोतस: क्लित्र तया रजो धूमो वा न बाधते। व्यायाममैथुनाध्वपरिश्रांतेनासेवित: श्रम-मुपहंति। मूत्रौच्चारांते वा सेवितो दृष्टेर्गुरुत्वम् पनयति। कवलांजनांते सेवितो दृष्टिं प्रसादयति। भुक्तवतासेवित: स्रोतसां विशुद्धिं लघुतां चापादयति। दिवास्वप्नेनोत्थितेनासेवितो निद्राशेषं गुरुत्व मलंचापोह्य चित्तैकाग्रयं जनयति। सायंचासेवित: सुखनिद्राप्रबोर्धचेति।। सु. चि. ४०-५१

४५. (१) अशिरोविरेचनार्हास्तु अजीर्णि भुक्त भक्त पीत स्नेह मद्यतोय पातु काम: स्नातशिर: स्नातुकाम: क्षुत्तृष्णाश्रमार्त मत्तमूर्च्छित शस्त्रदंड-हत व्यवाय व्यायाम पानक्लान्त नवज्वर शोकाभितप्त विरिक्तानुवासित गर्भिणी नव प्रतिश्यायार्ता: अनुतौ दुर्दिने चेति।। च. सि. २-२०

(२) नस्येन परिहर्तव्यो भुक्तवानपतर्पितोत्यर्थतरुणप्रतिश्यायोगर्भिणी पीतस्नेहोदकमद्यद्रवोऽजीर्णि दत्तबस्ति: क्रूद्धो गरार्तस्तृषित: शोकाभिभूत: श्रांतो बालो बृद्धो वेगावरोधित: शिर: स्नातुकामश्चेति। अनार्तवे चाभ्रे नस्य धूमौ परिहरेत्।। सु. चि. ४०-४७

(३) ....योजयेत्र तु नावनम्। तोयमद्यगरस्नेहपीतानां पातुमिच्छताम्। भुक्तभक्त शिर:स्नात स्नातुकामक्षुतासृजाम्।। नवपीनस वेगार्त सूति-काश्वासकासिनाम्। शुद्धांनां दत्तबस्तीनां तथानार्तव दुर्दिने।। अन्यत्रात्ययिकाद्व्याधे
अ. ह्र. सू. २०-११,१२, १३

४६. तत्राजीर्णि भुक्त भक्तयोर्दोष ऊर्ध्ववहानि स्रोतांस्यादृत्याकास श्वास छर्दि प्रतिश्यायां जनयेत्, पीत स्नेहमद्य तोय पातुकामानां कुते च, पिबतां मुखनासात्रादाक्ष्युपदेहतिमिर शिरोगान् जनयेत्। स्नात शिरस: कृते च, स्नानात्शिरस: प्रतिश्यायं, क्षुधार्तस्य वातप्रकोपं, तृष्णार्तस्य पुन:तृष्णाभिवृद्धिं मुखशोषंच श्रमार्त मत्त मूर्च्छितानामास्थापनोक्तं दोषं जनं-येत, शस्त्र दंड हतयो स्त्रींव्रतरां रुणं जनयेत्। व्यवाय व्यायाम पान-क्लान्तानां शिर: स्कंध नेत्रोर: पीडनं, नवज्वर शोकाभितप्तयोरुष्मा नेत्र-नाडीरनुसृत्य तिमिरं ज्वरवृद्धिं च कुर्याद्, विरिक्तस्य वायुरिंद्रियोपघात कुर्यात् अनुवासितस्य कफ: शिरोगुरुत्व कंडुकृमी दोषांजनयेत्, गर्भिण्यां गर्भ सतंभयेत, स काण:, कुणि: पक्षहत: पीठसर्पी वा जायते, नवप्रतिश्यायार्तस्य स्रोतांसि व्यापादयेत् अनुतौ दुर्दिने च शीतदोषान् पूतिनस्य शिरोरोगं च जनयेत् तस्मादेते न शिरोविरेचनार्हा:। च. सि. २-२१

४७. प्रतिषिद्ध प्रदानाश्च व्यापदो भवंति तृष्णोद्गारादयो दोषनिमित्ता:क्षयजाश्च।
सु. चि. ४०-४७

४८. शेषास्त्वर्हा विशेषस्तु शिरो दंत मनयास्तंभगल हनुग्रह पीनसगलशुंडिकाशालूक तिमिर वर्त्मरोग व्यंगोपजिह्वकार्धावभेदक ग्रीवा स्कंधांसास्य नासिका कर्णाक्षिमूर्धकपाल शिरोरोगार्दितापतंत्रकापतानक गलगंड दंत शूल हर्ष चालाक्षि राज्यर्बुद स्वरमेद वाग्ग्रह गद्गद् क्रथनादय ऊर्ध्वजत्रु-गताश्च वातादि विकारा परिपक्वाश्च। च. सि. २-२२

४९. अथ पुरुषाय ....वातातपरजोहित वेश्मनि।। सु. चि. ४०-२५

५०. (१) ङ—तथा च कृष्णात्रेय:- 'सप्तवर्षभुपादाय नस्य कर्म चतुर्विधम्।
प्रतिमर्शोथ वमनं जन्म प्रभृति शस्यतें।।
धूमोथ द्वादशे वर्षे कवल: पंचमे मत:।
दोषव्याधि बलावस्थां वीक्ष्यचैतान् प्रयोजयेत्।।
सु. चि. ४०-५३पर

(२) न नस्यमूनसप्ताद्वे: नातीताशीत वत्सरे।। अ. ह्र. सू. २०-३०

(३) आजन्ममरणं शस्तं प्रतिमर्शस्तु बस्तिवत्।। अ. ह्र. सू. २०-३२

५१. अथ पुरुषाय शिरोविरेचनीयाय त्यक्तंमूत्रपुरीषाय भुक्तवते व्यभ्र काले दंतकाष्ठधुमपानाभ्याविशुद्धवक्त्रस्रोतसे पाणिताप परिस्विन्नं मृदितगलकपोललाट-प्रदेशाय वाततप रजोहीन वेश्मनि ....।। सु. चि. ४०-२५

५२. (१) अथ पुरुषाय ....वेश्मनि उत्तान शायिने प्रसारित करचरणाय किंचित प्रविलंबित शिरसे वस्त्रावच्छादित नेत्राय, वामहस्त प्रदेशि-न्यग्रोन्नमितनासाग्राय विशुद्ध स्रोतसि दक्षिणहस्तेन स्नेहमुष्णांबुना प्रतप्तं रजतसुवर्ण ताम्रमणिमृत्पात्र शुक्तीनामन्यतमस्थं शुक्त्या पिचुना वा सुखोष्णं स्नेहमद्रुतमांसिचेदब्य-वंच्छिन्नधार यथा नेत्रे न प्रापनोति।। सु. चि. ४०-२५

(२) अतएव शयानस्य शुद्ध्यर्थ स्वेदयेच्छिर:।
संस्वेद्य नासामुन्नम्य वामेनांगुष्ठ पर्वणा।।
हस्तेन दक्षिणेनाथ कुर्यादुभयत: समं।
प्रणाड्यपिचुना वाऽपि नस्त: स्नेहं यथाविधिम्।। च. सि. ९-१०१,१०२

५३. नस्य कर्मणि शाणैकं दातव्यं तीक्ष्णमौषधम्।
हिंगु स्याद्यवमात्रंतु माषैकं सैंधवं स्मृतं।।
क्षीरं चैवाष्ट शाणं स्यात् पानीयं च त्रिकार्षिकं।
कार्षिकं मधुरं द्रव्यं नस्यकर्मणि योजयेत्। शा. उ. खं. ८-९,१०

५४. (१) कृतेच स्वदयेद्भूय: आकर्षेच्च पुन: पुन:।
तं स्नेहं श्लेष्मणा साकं तथा स्नेहो न तिष्ठति।।
स्वेदनोत्क्लेशितो श्लेष्मा नस्त: कर्मण्युपस्थित:।
भूय: स्नेहस्य शैत्येन शिरसि स्त्यायते तत:।।
श्रोत्रमन्यागलाद्येषु विकाराय स कल्पते।
ततो नस्त: कृते धूर्म पिबेत्कफ विनाशनम्।। च. सि. ९-१०४,१०६

(२) दत्ते पादतल स्कंधहस्त कर्णादि मर्दयेत्।
शनैरुच्छिन्न निष्ठीवेत् पार्श्वयोरुभयोस्तत:।। अ. ह्र. सू. २०-२०

(३) नस्यांते वाक्शतं तिष्ठेत् उत्तानं धारयेत्तत:।
धूमंपीत्वा कवोष्णांबु कवलान् कंठ शुद्धये।। अ. ह्र. सू. २०-२२

(४) स्नेहेवसिच्यमाने तु शिरो नैव प्रकंर्षयेत्।
न कुप्येन्न प्रभाषेच्च नक्षणयान्न हसेत्तथा।
एतैहि विहित: स्नेह: न सम्यक्प्रतिपद्यते।
तत: कास प्रतिश्याय शिरोक्षिगद संभव:।। सु.चि.४०-२६,२७

५५. योगे लाघव: शिरसो योगे सुख स्वप्न प्रबोधनं।
विकारोपशम: शुद्धिरिंद्रियाणां मन: सुखम्।।
कफ: प्रसेको शिरसो गुरुतेंद्रिय विभ्रम:।
लक्षणं मूर्द्धयति स्निग्धे रुक्षं तत्रावचारयेत्।।
अयोगे वातवैगुण्यमिंद्रियाणां च रुक्षता।
रोगाशान्तिश्च तत्रेष्टं भूयो नस्यं प्रयोजयेत्।। सु. चि. ४०-३३,३४,३५
लाघवं शिरस: शुद्धि: स्रोतसां व्याधि निर्जय:।
चित्तेंद्रिय प्रसादश्च शिरस: शुद्धिं: लक्षणं।।
कंडूपदेहो गुरुता स्रोतसां कफसंस्रवऽ।
मूध्निहीन विशुद्धे तु लक्षणं परि कीर्तितम्।।
मस्तुलुंगागकमो वात वृद्धिरिंद्रिय विभ्रम:।
शून्यता सिरसश्चापि मूर्ध्नि गाढ विरेचिते।। सु. चि. ४०-३८,३९,४०
हीनाति शुद्धे शिरसि कफवातध्नमाचरेत्। सु.चि.४०-४१
सभ्यक् विशुद्धे शिरसि सर्पिर्नस्य निषेचयेतृ।।
डह्वण—सर्पिर्नस्यं निषेचयेत् इति पित्त प्रकृतौ।
वात प्रकृतौ तु पक्वतैलमेव।।

५६. नस्ये शिरो विरेके च व्यापदो द्विविध: स्मृता:।
दोषोत्क्लेशात् क्षयाच्चैव विज्ञेयास्ता: यथाक्रमम्।।
दोषोत्क्लेश जयेत् शमन शोधनै:।
अथ क्षय निमित्तास्तु यथास्वं बृंहणं गतम्।। सु. चि. ४०-४९,५०

५७. अजीर्णे भोजने भुक्ते तोये पीते च दुर्दिने।
प्रतिश्याये नवे स्नाने स्नेहपानेऽनुवासने।।
नावनं स्नेहनं रोगान् करोति श्लैष्मिकान् बहून्।
तत्र श्लेष्महर: सर्वतीक्ष्णोष्णादि विधिर्हित:।। च. सि. ९-१११,११२

५८. क्षामे विरेचिते गर्भे व्यायामाभिहते तृषि।
वाते रुक्षेण नस्येन क्रुद्ध: स्वांजनयेग्ददान्।
तत्र वातहर: सर्वो विधि: स्नेहन बृंहण:।।
स्वेदादि स्याद् घृतं क्षीरं गर्भिण्यास्तु विशेषत:।।
च. सि. ९-११३,११४

५९. ज्वर शोकादितप्तानां तिमिरं मद्यपस्य तु।
रुक्षैः शीतांजनैर्लेपैः पुटपाकैश्च साधयेत्।। च. सि. ९-११५

६०. मूर्च्छायां शीततोयेन सिंचेत् परिहरन् शिरः अ. हृ. सू. २०-२१

६१. विज्ञेयस्त्रिविधो धूमः प्रागुक्तः शमनादिकः।। च. सि. ९-९१

६२. धूमः पंचविधो भवति, तद्यथा प्रायोगिकः स्नैहिकः वैरेचनिकः कासध्नः वामनीयश्चेति।। सु. चि. ४०-३
डल्हण—वामयतीति वामनीयः।।

६३. स्निग्धोमध्यः स तीक्ष्णश्च वाते वातकफे कफे।
योज्य ....।। अ. हृ. सू. २१-२

६४. धूमस्तु षड्विधः प्रोक्तः शमनो बृंहणस्तथा रेचनः कासहा चैव वमनो व्रणधूपनः। शमनस्य तु पर्यायौ मध्यः प्रायोगिकस्तथा।। बृंहणस्यापि पर्यायौ स्नैहिको मृदुरेव चः रेचनस्यापि पर्यायौ शोधनस्तीक्ष्ण एव च।।
शा.उ.खं.९-१,२,३
भा.प्र.पू.खं.।।

६५. तत्रेलादीनां कुष्ठतगर वर्ज्येन श्लक्ष्ण पिष्टेन द्वादशांगुलं शरकांडमंगुली-परिणाहं क्षौमेणाष्टांगुलं वेष्टयित्वा लेपयेदेषा वर्तिः प्रायोगिके। सु.चि.४०-४
डल्हन—तथा च निमि "धूमेहि वक्र कुष्ठाभ्यां विलालयत शक्तितः। मस्तिष्कं तद्धि विषण्णं नाशाय प्रतिद्यपते।।" तस्मात् कुष्ठतगर वर्जितेने-लादिना लेपयेत्।

६६. स्नेहफल सार मधुच्छिष्ट सर्जरस गुग्गुलु प्रभृतिभिः स्नेहमिश्रैः स्नैहिके।

६७. शिरोविरेचन द्रव्यैविरेचने।

६८. बृहती कंटकारिका त्रिकटु कासमर्द हिंग्विगुदीत्वक् मनःशिलाछिन्न-रुहांकर्कटशृंगीप्रभृतिभिः कासहरैश्च कासध्ने।

६९. स्नायु चर्म खुर शृंग कर्कटास्थि शुष्कमत्स्य वल्लूर कृमिप्रभृतिभिः वामनीयैश्य वामनीये। सु.चि.४०-४

७०. धूमनेत्रंतु कनिष्ठिपरिणाहमग्रे कलायमात्रस्रोतः मूलेऽगुष्टपरिणाहं धूमनेत्र प्रवेश स्रोतोंगुलान्यष्ट चत्वारिशप्रायोगिके द्वात्रिंशत् स्नेहने, चतुर्विंशति विरेचने षोडशांगुलं कासध्ने बामनीयेच। एतेपि कोलास्थिमात्राछिद्रे भवतः। व्रणनेत्रमष्टांगुलं व्रणधूपनार्थ कलायपरिमंडलं कुलत्थवाही स्रोत इति। सु. चि. ४०-५

७१. गौरवं शिरसः शूले पीनसार्द्धविभेषकौ। कर्णाक्षि शूलं कासश्च हिक्का-श्वासौ गलग्रहः। दंत दौर्बल्यमास्रावः श्रोत्र घ्राणाक्षि दोषजः। पूति घ्राणास्यगंधश्च दन्तशूलामरोचकः। हनुमन्या ग्रहः कंडूः क्रिमयः पांडुता मुखे। श्लेष्म प्रसेको वैस्वर्य गलशुंड्यूपजिह्विका। खालित्यं पिंजरत्वं च केशानां पतनं तथा। क्षवयुश्चातितंद्रा च बुद्धेर्मोहोऽति निद्रता। धूमपानात्प्रशाभ्यंति बलं भवति चाधिकं।
च. सू. ५-२७ से ३२

७२. (१) न विरिक्तः पिबेद्धू मं न कृतं बस्ति कर्मणि। न रक्ती न विषेणार्तो न शोचन्न च गर्भिणी। न श्रमे न मदे नामे, न पित्ते न प्रजागरे। न मूर्च्छा भ्रम तृष्णास्तु नक्षीणे नापि च श्रते। न मद्यदुग्धे पीत्वा च न स्नेहं न च माक्षिकं। धूमं न भुक्त्वा दध्ना

च न रुक्षः क्रुद्ध एव च। तालुशोषे तिमिरे शिरस्यभिहते न च न शंखके न रोहिण्यां न नेहे न मदात्यये। .... रोगास्तस्य प्रवर्धते दारुणा धूमविभ्रमात्।
च. सू. ५-४१ से ४५

(२) तत्र शोकश्रमभगामर्ष ....न धूममासेवेरन्।। सु. चि. ४०-११

(३) न रक्तापित्तार्ति .... जागरिते निशि।। अ.हृ.सू.२१-२,३

७३. (१) अथ सुखोपविष्टः सुमना ऋृज्वधोदृष्टिरतंद्रितः स्नेहाक्तदीप्ताग्रां वर्ति नेत्र स्रोतांसि प्रणिधाय धूमं पिबेत्। .... विशेषयस्तु प्रायोगिकं घ्राणेनाददीत स्नैहिकं मुखनासिकाभ्यां.नासिकया वैरेचनिकं मुखे-नैवेतरौ।। सु.चि.४०-६ से ९

(२) ऋृज्वंग चक्षुस्तच्चेताः सूपविष्टस्त्रिपर्ययम्। पिबेत् च्छिद्रं पिधायैकं नासाया धूममात्मवान्। च. सू. ५-४८

(३) तत्र प्रायोगिके वर्ति व्यपगत शरकांडां निवातातप शुष्कामंगारेष्वव-दीप्य नेत्र मूल स्रोतसि प्रयुज्य धूममाहरेनि बूयात्। एवं स्नेहन वैरेचनिकं च कुर्यादिति। इतरयोर्व्यपेतधूमांगारे स्थिरे समाहिते शरावे प्रक्षिप्य वर्ति मुलच्छिद्रेणान्येन शरावेण पिधाय तस्मिन् च्छिद्रे नेत्रमूलं संयोज्य धूमनासेवेत। प्रशांते धूमे वर्तिमवशिष्टां प्रक्षिप्य पुनरपि धूमं पाययेदादोष विशुद्धेः। एष धूमपानोपाय विधिः।। सु. चि. ४०-१०

७४. प्रायोगिकं त्रींस्त्रीनुच्छ्वासानाददीत्त, मूखनासिकाभ्यां च पर्याया-स्त्रीचतुरोवेति, स्नैहिक यावदस्तु प्रदृत्तिः वैरेचनिकमादोषदर्शनात्।। सु.चि.४०-१८

७५. तिलतंडुल यवागृपीतेन पातव्यो वमनीयः।। सु.चि.४०-१८

७६. प्रयोगपानेतस्याष्टौ कालाः संपरि कीर्तिताः।
वात श्लेष्म समुत्क्लेशः कालेष्वेषु हि लक्ष्यते।।
स्नात्वा भुक्त्वा समुल्लिख्य क्षुत्वा दंतान्निघृष्य च।
नावनांजन निद्रांते चात्मदान् धूमपो भवेत्।।
पेया स्युः आपानस्त्रिस्त्रयस्त्रयः।। च.सू.५-३३ से ३५
एकैकास्मिन् धूमपानकाले नवधूमाभ्यवहार मोक्षाः कर्तव्याः।
त्रीस्त्रीनभ्यवहारान् कृत्वा विश्रम्योंऽतरा कर्तव्य इत्यार्थः।। च.पा.

७७. आद्यास्तु त्रयो धूमः द्वादशः कालेषूपदेयाः।
तद्यथा-क्षुतदंतप्रक्षालन नस्य स्नान भोजन दिवा स्वप्न मैथुन च्छर्दि मूत्रोच्चार हसित रुदित शस्त्रकर्मान्तेष्विति।
तत्र विभागो .... सु. चि. ४०-१३

७८. क्षुतजृंभितविण्मूत्र स्त्रीसेवा शस्त्र कर्मणां।
हासस्य दंत काष्ठस्य धूममंते पिबेन्मृदुम्।
कालेष्वेषु निशाहार नावनांते च मध्यमम्।
निद्रानस्यांजन स्नान च्छर्दितांते विरेचनम्।। अ.हृ.सू.२१-५,६

७९. अविशुद्धः स्वरोयस्य कंठश्च सकफो भवेत्।
स्तिमितो मस्तकश्चैवमपीतं धूममादिशेत्।। अ.हृ.सू.२१-५३
अयोगो रोगाप्रशमनः।। सु.चि.४०-१७

हृत्कंठेंद्रिय संशुद्धिर्लघुत्वं शिरसः शमः।
यथोदितानां दोषाणां सम्यक् पीतस्य लक्षणम्।
यदा चोरश्च कंठश्च शिरश्च लघुतां व्रजेत्।
कफश्च तनुतां प्राप्तः सुपीतं धूममादिशेत्।। सु.चि.५-३७,५२
तत्र योगो रोगप्रशमनः।। सु.चि.४०-१७

८०. तालुमूर्धांच कंठश्च शुष्यते परितप्यते।
तृष्यते मुह्यते जंतु रक्तं च स्रवतेऽधिकं।।
शिरश्च भ्रमतेऽत्यर्थं धूमोत्वर्थं निषेवते।। च.सू.५-५४,५५
तालु गलशोष परिदाह .... अतियोगो जनयति।। ४०-१७

८१. बाधिर्यमांध्यं मूकत्वं रक्तपित्तं शिरोंभ्रमः।
अकाले चातिपीतश्च धूमः कुर्यादुपद्रवान्।।
तत्रेष्टः सर्पिषः पानं नावनांजन तर्पणम्।
स्नैहिकं धूमजे दोषे वायुः पित्तानुगो यदि।
शीतं तु रक्तपित्ते स्यात् श्लेष्मपित्ते विरुक्षणम्।। चं.सं.५-३ से ४०

८२. नरो धूमोपयोगाच्च प्रसन्नेंद्रिय वाङ्मना।
दृशकेशद्विजश्मश्रुः सुगंधी विशदाननः तथा कास श्वासारोचकास्योपलेप स्वरभेद
मुखास्राव वमथुक्षवथु क्रथ तंद्रा निद्रा हनुमन्या स्तंभाः पीनस शिरोरोग कर्णाक्षिशूला
वातपित्त कफ निमित्ताश्चास्य मुखरोगा न भवंति। सु. चि. ४०-१५, १६

८३. सुखं संचार्यते या तु मात्रा सा कवले स्मृतः
असंचार्या तु या मात्रा गंडूषः स प्रकीर्तितः।। सु. चि. ४०-६२

८४. चतुर्धाकवलः स्नेहो प्रसादी शोधिरोपणौ। सु. चि. ४०-५८
चतुष्प्रकारो गंडूषः स्निग्धः शमन शोधनौ।
रोपणश्च ....।। अ. हृ. सु. २२-१

८५. (१) स्निग्धोष्णौ स्नैहिकोवाते स्वादु शीतैः प्रसादनः।
पित्ते, कटूंवम्ललवणौः रुक्षोष्णौः शोधनः कफे।
कषाय तिक्त मधुरैः कटूष्णौः रोपणो व्रणे।।
सु. चि. ४०-५८, ५९

(२) .... त्रयस्तप त्रिषु योज्याश्चलादिषु।
अंत्यो व्रणघ्नः, स्निग्धोऽत्र स्वाद्वम्ल कटुसाधितै।।
स्नेहैः संशमनस्तिक्त कषायमधुरोषधैः।
शोधनस्तिक्त कटूंवम्लकटूष्णै रोपणः पुनः।
कषाय तिक्तकैः तत्र स्नेह क्षौरं मधुदकं।
शुक्तं मद्यं रसो मूत्रं धान्याम्लं च यथायथम्।
कल्कैर्युक्तं विपक्वं वा यथा स्पर्श प्रयोजयेत्।।
अ. हृ. सू. २२-२ से ४

८६. मन्या शिरः कर्ण मुखाक्षिरोगाः,
प्रसेक कठामय वक्त्र शोषाः।

हृल्लास तंद्रारुचि पीनसाश्च,
साध्या विशेषात्कवल ग्रहेण।। अ. हृ. सु. २२-१२

८७. (१) तत्र त्रिकुट वचा सर्षप हरीतकी कल्कमालोड्य तैल शुक्त सुरा मूत्रक्षारा मधूनामन्यतमेन सलवणाभिप्रवृप्तमुप स्विन्नमृदित गल कपोल ललाट प्रदेशे धारयेत्।
तावच्च धारयितव्योऽन्यमनसोन्नत देहेन यावद्दोष परिपूर्ण कपोलत्व नासास्रोतो नयन परिप्लावश्च भवति, तदा विमोक्तव्यः पुनश्चान्यो गृहीतव्यः इति।।
सु.चि.४०-६१,६२

(२) निवातेस्वातपे स्विन्न मुदितस्कंध कंधरः।
गंडूषमभिभवन् किंचित् उन्नतास्यो विधारयेत्।।
अ.हृ.सू. २२-१०

८८. व्याधेरपचयस्तुष्टिवैशद्यं वक्त्रलाघवं।
इंद्रियाणां प्रसादश्च कवले शुद्धि लक्षणम्।।
हीने जाड्यकफोत्क्लेशावरसज्ञानमेव च।
अतियोगानमुखे पाकः शोषस्तृष्णारुचिंक्लमाः।
शोधनीये विशेषेण भवत्येव न संशयः।। सु. चि. ४०-६५,६६

८९. अ.हृ.सू.२२-५ से १०

९०. कवलो नोन पंचमे। अ.हृ.सू.२०-३१

९१. (१) विरक्त शिरसस्तूष्णं पाययित्वांबु भोजयेत्।
लघु स्निग्धविरुद्धं च ।। च.सि.९-१०८
(२) भोजयेच्चैनमभिष्यंदी।। सु.चि.४०-३१

९२. (१) हितान्न भुक् विवातोष्ण सेबी स्यात् नियतेंद्रियः। च.सि.९-१०६
(२) ततोऽस्याचारिकमादिशेत-रजो धूम स्नेहातप मद्य द्रवपान शिरः-स्नानातियान क्रोधादीनि च परिहरेत्।। सु.चि.४०-३१

९३. (१) एकांतरं द्व्यंतरं वा सप्ताहं वा पुनः पुनः।
एकविंशंति रात्रं व यावद्वा साधु मन्यते।।
मारुते नाभि भूतस्य वात्यंतं यस्य देहिनः।
द्विकालंचापि दातव्यं नस्यं तस्य विजानता।।
सु.चि.४०-४२,४३

(२) मध्यास्तंभे स्वरभ्रंशे सायं प्रातर्दिने दिने।
एकाहांतरमन्यत्र सप्ताहं च तदाचरेत्।।
अ.हृ.सू.२०-१६

९४. (१) नस्तः कर्म यथाकालं यो यथोक्तं निषेवते। न तस्य चक्षुनंश्राणं न श्रोत्रमुपहन्यते। नस्युःश्वेता न कपिला केशाः श्मश्रूणि वा पुनः। न केशाः प्रचुच्यंते वर्धते च विशेषतः। मन्या स्तंभः शिरःशूलमर्दितं हनुसंग्रहः। पीनसार्द्धविभेदौ च शिरः कंपश्च शाम्यति। शिरा शिरःकपालानां संधयः स्नायुकंडराः। नावन प्रीणिताश्चास्य लघ्वंतेऽभ्यधिकं बलं। प्रसन्नो-चित्तं स्वरः स्निग्धः स्थिरोमहान्।

सर्वेंद्रियाणां वैमल्यं बलं। मुखं भवति चाधिकं। न चास्यरोगाः सहसा प्रभवंत्यूर्ध्व जत्रुजाः। जीर्यतश्चोत्तमांगेषु जरा न लभते बलम्।।

च.सि.५-५७, ६२

(२) नस्येन रोगाः शाम्यंति नराणामूर्ध्व जत्रुजाः।
इंद्रियाणां च वैमल्यं कुर्यादास्यं सुगंधि च।।
हनुदंत शिरोग्रीवा त्रिक् बाहुरसां दलम्।
बलिपलित खालित्यं व्यंगानां चाप्यसंभवम्।। सु.चि.४०-५४,५५

१५. एतेषु शिरोविरेचनं प्रधानतममित्युक्तं।। तद्धि उत्तमांगमनुप्रविश्य मुंजादीषिकामिवासक्तां केवलं विकारकरं दोषमपकर्षति।। च.सि.२-२२

१६. .....How-ever, those substances that do produce smell usually have certain characteristics, first, they are Volatile, Second they are atleast slightly watersoluble and third they are usually highly lipid soluble. It has been found that the cilia of the alfactory cells and perhaps the portions of the body of the alfactory cells contain relatively large quantities of lipoid materials, this could explain why a substance must be lipid soluble to cause marked stimulation of an alfactory cell. Text book of Medical Physiology.

Page 712

अष्टम अध्याय

रक्तमोक्षण-विज्ञान

सामान्य परिचय

रक्तमोक्षण यह पंचकर्म में समाविष्ट इस तंत्र का पांचवाँ कर्म कुछ विवाद्य विषय है, तथापि उपक्रम और कर्म की दृष्टि से एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण विषय है इसमें विवाद नहीं है। रक्त को शरीर में से मुक्त करना, निर्हरण करना, निकाल देना, बहा देना यह क्रिया रक्तमोक्षण कहलाती है। रक्त के लिए तथा मोक्षण के लिए जो पर्याय भाषा में उपयुक्त हैं वे सब इस कर्म के लिए भी पर्याय शब्द हो जाते हैं। उदाहरण—अस्त्रविस्रुतिः, शोणितमोक्षण, रक्तनिर्हरण, रक्तस्त्रावण, रक्तहरण इत्यादि का उपयोग किया गया है। रक्त के लिए—शोणित, अस्त्र, तथा कभी-कभी ओज का भी पर्याय की तरह उल्लेख मिलता है।

पंचकर्म चिकित्सा के अब तक वर्णन किये गये कर्म—वमन, विरेचन, बस्ति, नस्य इनमें दोषों का शोधन यह प्रधान उद्देश्य रहा है। जहां रक्तमोक्षण कर्म में दोष की अपेक्षा—धातु-रक्त का निर्हरण यह प्रधान विषय है। रक्त शरीर का एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण धातु है। यह दुष्ट होने पर अनेक रोगों को उत्पन्न करता है। रक्त की रोगोत्पादकता इतनी व्यापक है कि रक्त को दोष मानने की तरफ प्रवृत्ति कभी-कभी देखी जाती है और संहिता में आये हुए अनेक संदर्भों के आधार पर इसे चौथा दोष मानना चाहिये या नहीं ऐसा विवादात्मक प्रश्न उपस्थित होता है। प्रस्तुत इस विवाद की कोई चर्चा यहाँ करने का कारण नहीं है, केवल रक्त का महत्त्व ही वक्तव्य है। अतएव दुष्ट रक्त को निकाल देना यह स्वास्थ्य रक्षण के लिए तथा रोगों के अनुत्पत्ति के लिए आवश्यक होता है। रक्त को निकालते समय दोष का—पित्त का निर्हरण भी होता है क्योंकि इनमें आश्रयाश्रयी भाव है तथा पित्त व्याधियों के लिए रक्तमोक्षण एक उपाय प्रधानता से प्रतिपादित किया गया है।[१] रक्तमोक्षण एक आशुफलप्रद चिकित्सा है, किंतु प्रमाद से आशु आत्यिकता भी उत्पन्न करता है। अतएव रक्तमोक्षण कर्म को ठीक तरह से समझने के लिए प्रथम रक्त का स्वरूप तथा कार्यादि के बारे में कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों को समझ लेना अत्यावश्यक है।

रक्त वर्णन—जानपद भाषा में रक्त का अर्थ होता है लाल रंग। शरीर में जो लाल रंग की वस्तु है वह रक्त है। रक्त को 'लोहित' ऐसा भी एक पर्याय है। रक्त शरीर में रसधातु के साथ संमिश्र रहता है। रसधातु, स्निग्ध, ईषत्-श्वेत, आप्यप्रधान द्रव धातु है,

और रक्त को स्वकार्य में अणु परमाणु स्तर में पहुंचना आवश्यक होने से द्रवानुसारी विक्षेपण योग्य धातु रस के साथ उसका मिला रहना आवश्यक होता है। शरीर के बाहर यदि रसरक्त धातु को कांच की नली में रखा जाये, तो उसमें स्थित रस और रक्त अलग हो जाते हैं। कांच की नली में जो लाल भाग जमा हुआ मिलेगा उसे रक्त समझना चाहिए, और जो श्वेताभ, पतला, स्निग्ध स्रवणशील पदार्थ मिलेगा उसे रस समझना चाहिये। पांचभौतिक आहार जो भोज्य, पेय, लेह्य, भक्ष्य प्रकार से चार प्रकार का होता है, षड्स-मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु एवं कषाय से संयुक्त होता है, गुरु, लघु, उष्ण, शीतादि गुणों से युक्त होता है, उस आहार का सम्यक् पाचन होकर प्रथम तेजोभूत जो सारभाग उत्पन्न होता है उसे रस कहते हैं।[३] यह आप्य कहा गया है क्योंकि यह द्रवानुसारी होता है। यह स्नेहन, जीवन, धारण, तर्पणादि कार्य करता है। यह आहार रस जब यकृत् और प्लीहा में पहुंचता है तो वहां रंजक पित्त के द्वारा लाल वर्ण को प्राप्त करता है— उसे 'रक्त' कहा जाता है। जिस स्रोतस में रक्त का निर्माण, पोषण विक्षेपण तथा कार्य संपन्न होता है उसे रक्तवह स्रोत कहते हैं। यकृत् और प्लीहा रक्तवह स्रोतों के मूल कहे गये हैं।[३]

रक्त की उत्पत्ति एवं कार्य—रक्त की उत्पत्ति यकृत्, प्लीहा, आमाशय, तथा सरक्तमेद (मज्जा) स्थान में होती है। इसकी उत्पत्ति में जठराग्नि, पाचक पित्त, धात्वाग्नि, रक्तधात्वाग्नि, रंजक पित्त ये महत्त्व का कार्य करते हैं। रस धातु इसका पूर्ववर्ति धातु होता है। आहार रस जो आमाशय में तथा ग्रहणी में जठराग्नि तथा अन्य पाचक स्रोतों के परिपाक कार्य के अनंतर उत्पन्न होता है—उस पर रस धात्वाग्नि तथा आप्याग्नि का पचन कार्य होकर 'रसधातु' निर्माण होता है। इसे स्थूल रसधातु कहते हैं और इसके ही पोषण, तर्पण, स्नेहन इत्यादि प्रकार के कार्य कहे गये हैं। इसके निर्माण समय में सूक्ष्म रक्त, कफ तथा स्तन्य व मल और उपधातु भी उत्पन्न होते हैं। सूक्ष्म रक्त पर—रक्त धात्वाग्नि, आप्याग्नि, तैजसाग्नि, इत्यादि का कार्य होकर स्थूल रक्त धातु निर्माण होता है। जिसका कार्य 'जीवन' कहा गया है। रक्तधातु की निर्मिति के समय मल में पित्त तथा उपधातु—कंडरा, सिरा और मांस का पूर्व धातु 'सूक्ष्ममांस' उत्पन्न होता है। सूक्ष्ममांस पर मांसाग्नि, पार्थिवाग्नि का कार्य होकर मांसधातु, त्वचा, वसा, तथा सूक्ष्म मेद उत्पन्न होता है। इस तरह धातु पोषण क्रम से शुक्रपर्यन्त धातु, उपधातु, मलादि की उत्पत्ति होती जाती है।[४] इस क्रम को निम्नलिखित प्रकार से बताया जा सकता है। (पृष्ठ ४९५ देखिये)

यद्यपि यह कहना अतीव कठिन है कि रक्तधातु कहां, कब और कैसे उत्पन्न होता ह, यह अनुमान है कि साधारणतः आहार लेने के २४ घंटे के बाद ५ दिन में इसकी उत्पत्ति होती है। सुश्रुत ने एक-एक धातु की उत्पत्ति में ३०१५ कला का समय कहा है जो लगभग ५ दिन का है। आमाशय में वाग्भट ने रंजक पित्त का स्थान कहा है[५] और रस का रंजन आमाशय में भी होता है, इसका संकेत किया है। आधुनिक विज्ञान आमाशय में एनट्रिंझिक (Intrinsic factor) को मानता है जो पांडुविरोधी (Antianaemic) तत्वों के निर्माण में अर्थात् रक्त निर्माण में भाग लेता है। कुछ विद्वान ''रक्तसारत्व'' के घटक के साथ भी इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं। यकृत् और प्लीहा में रक्त की मुख्यतः उत्पत्ति होती है। ये दोनों रक्तवह स्रोत के मूल भी हैं। रक्तक्षय में यकृत् का आभ्यंतर सेवन करने का उल्लेख

किया गया है।[६] जो रक्त वर्धनार्थ प्रयुक्त उपाय है। प्लीहा का कार्य रक्त घटकों पर नियंत्रण रख उसे शुद्ध रखना, तथा अल्प प्रमाण में रक्त के पूरक आशय की तरह काम करना यह है। यद्यपि प्लीहा का प्रत्यक्ष कोई कार्य नहीं कहा गया है, तथापि रसवह स्रोत की व्याधि में ज्वर में—जीर्ण ज्वर होने पर प्लीहावृद्धि, मेदक्षय में प्लीहावृद्धि लक्षण बताये गये हैं।[७] रस यह रक्त का पूर्ववर्ती धातु है और मेद स्नेहन करने वाला अस्थि का पूर्ववर्ती धातु है। सरक्त मेद नामक मेद सुश्रुत ने दिया है— और कहा है कि स्थूल अस्थियों में मज्जा होती है और अन्यत्र सरक्तमेद होता है। यह मज्जा के समान रक्तवर्ण मेद या-स-सहरक्त-मेद होता है—ऐसा समझ कर मज्जा का विशेष भाग रक्त निर्माण में कुछ कार्य करता होगा ऐसी प्रतीति प्राचीनों को थी ऐसा अनुमान कुछ वैद्य करते हैं। (आधुनिक विज्ञान के रक्तमज्जा (Red Bone Marrow) में रक्त कणों का निर्माण माना जाता है)। इस तरह मेदक्षय में—अस्थि-मज्जा इत्यादि के क्षय के परिणामस्वरूप रक्त पर असर होकर तज्जन्य कार्यभार से प्लीहा वैगुण्य की संभावना है। रक्त दुष्टि से भी प्लीहा रोग की उत्पत्ति कही गई है।

पांच भौतिक आहार

↓

+

जठराग्नि + भौतिकाग्नि + पाचकपित्तादि

↓

आहार रस

+

रस धात्वाग्नि + भौतिकाग्नि (विशेषतः आप्य)

↓

स्थूल रस + सूक्ष्म रक्त + कफदोष + स्तन्य उपधातु

↓

+

रक्त धात्वाग्नि + भूताग्नि (आप्य + तैजस)

↓

रक्तधातु + सूक्ष्ममांस + कंडरा + शिरा + पित्त

↓

+

मांस धात्वाग्नि + भौतिकाग्नि (पार्थिव)

↓

मांसधातु + वसा + त्वचा + सूक्ष्ममेदादि

↓

+

मेदधात्वग्नि + भूताग्नि इत्यादि

शुद्ध रक्त के गुण एवं लक्षण—शुद्ध रक्त में पांचभौतिक निम्नलिखित गुण कहे गये हैं।[८]

१. विस्रता—रक्त में एक विशिष्ट गंध होता है। उसे विस्रता कहते हैं। यह गंध उद्वेग जनक होता है—और बहुत से नाजुक प्रकृति के लोग इस गंध से मूर्च्छित हो जाते हैं! यह गंध पित्त की विस्रता के कारण रक्त में आता है और रंजक पित्त द्वारा रस के रंजन करते समय उत्पन्न होता है। यह पार्थिव गुण है।

२. द्रवता—द्रवः आलोडने, तथा द्रवः प्रक्लेदने के अनुसार रक्त द्रवत्व अर्थात् घोल और क्लेदन करनेवाला घटक है। इसमें संमिश्र लोहित घटक-प्राणवायु को संयुक्त रखता है। द्रव गुण बढ़ जाए तो त्वचा, मांस स्नायु इनका भी क्लेदन करता है[९] जिससे उनका पोषण बराबर नहीं हो सकता। यह अतिद्रवत्व—भयंकर व्याधि को भी उत्पन्न कर सकता है। यह आप्य गुण है।

३. राग—राग का अर्थ है रंग। शुद्ध रक्त लाल वर्ण का होता है। यह लाल रंग इंद्रगोप (वीर बहुटी) कीड़े के समान समप्रकृति वाले लोगों में होता है। वातादि प्रकृतियों में तपाये हुए सुवर्ण के समान, लाल कमल के समान, लाक्षारस के समान तथा गुंजा फल के समान लाल होता है। इस वर्ण में विकृति (विवर्ण) होना दुष्टि समझना चाहिए। रक्त का वर्ण—तेजमहाभूत का गुण है।[१०]

४. स्वेदन—स्वेदन का अर्थ किंचित् चलन है। बहना, यह रक्त का गुण है। यह वायव्य गुण है।

५. लघुता—लघुता का अर्थ हल्कापन हैं। यह आकाशीय गुण है। लघुत्व के कम ज्यादा होने से भी रक्त के अनेक रोग उत्पन्न होते हैं।

अन्यगुण—रक्त असंहत होना चाहिये। अर्थात् बहुत अधिक गाढ़ा नहीं होना चाहिये। रक्त बहकर स्वयं स्कंदन हो जाता है यह इसका विशिष्ट गुण है।

शरीरस्थ रक्तधातु हृदय में जाकर जब फुप्फुस में आता है तो उसका प्राणवायु के साथ संयोग होने पर उपर्युक्त लाल वर्ण उसमें निखर जाता है। यह धमनियों में (Arteries) बहने वाला होता है। जो शिराओं में (या Veins) बहता है उसमें यह रक्तवर्ण कुछ अल्प प्रमाण में होता है, तथापि उसे दुष्ट रक्त नहीं समझना चाहिये। दुष्ट रक्त में आगे कहेंगे वे लक्षण तथा विकृति कारकत्व होना चाहिये।

रक्त के कार्य

रक्त का श्रेष्ठ कार्य जीवन है।[११] जीवन यह आयुष्य का पर्याय है। शरीर, इंद्रिय, सत्व, और आत्मा के संयोग को आयु या जीवन कहते हैं। यह संयोग बराबर कायम रखना यह रक्त का कार्य है। जीवन का अर्थ प्राण को धारण करना यह किया गया है। यह धारण शब्द भी महत्त्व का है। जो शरीर को पूतिभाव (सड़ने से) से बचाता है—उसे धारि कहते हैं।[१२] रक्त फुप्फुस में प्राण से संयुक्त होकर सर्व शरीर में परिभ्रमण कर प्राण द्वारा जीवित कार्य करता है। यह प्रत्यक्ष है कि किसी अवयव को कसकर बांध दिया जाये तो बंधन के नीचे के अवयव में रक्त का संचार बंद होने के कारण वह अवयन सड़ने लगता है और उसका प्राण नष्ट होता है—वह आयुहीन—जीवित विहीन हो जाता है। अतएव रक्त को शरीर का मूल कहा गया है। कहा है कि रक्त ही शरीर का मूल है, रक्त

से ही शरीर का धारण होता है और रक्त ही शरीर का 'जीव' है।[१३] रक्त के अन्य कार्य निम्नलिखित प्रकार के हैं।[१४]

१. रक्त मांस का पोषण करता है।
२. रक्त वर्ण का प्रसादन करता है।
३. सभी धातुओं की पुष्टि करता है।
४. शरीर में बल को उत्पन्न करता है।
५. सुखपूर्वक आयुष्य का अनुबंधन करता है।
६. प्राणियों के प्राणों का संयोजन करता है।
७. त्वचा के द्वारा स्पर्शज्ञान के निश्चिति में सहायता करता है।
८. इंद्रियों के द्वारा अपने-अपने ज्ञान ग्रहण में शुद्धता रखता है।
९. जठराग्नि का कार्य समावस्था में रखता है।

रक्तसारता[१५]—जिस व्यक्ति में शुद्ध रक्त उचित प्रमाण में उचित कार्य करता हो उसे रक्तसार पुरुष कहते हैं। रक्तसारता से मनुष्य सुखी, मेधावी, सुकुमार, क्लेश सहन करने में असमर्थ, उष्णता, सहन करने में असमर्थ होते हैं। उनके कान, आंख, मुख, जिह्वा, नासा, ओठ, हथेली व पांव के तलवे, नख, ललाट और शिश्न स्निग्ध तथा लालवर्ण के होते हैं।

रक्तदुष्टि के हेतु[१६] —प्राकृत गुण से विपरीत गुण युक्त रक्त को 'प्रदुष्ट रक्त' 'स्वप्रकृति विपरीत' दुष्ट रक्त कहते हैं। रक्त दुष्टि करने वाले सामान्य हेतु निम्नलिखित प्रकार के हैं।

(अ) आहार हेतु—

१. उष्ण, तीक्ष्ण तथा दुष्ट मद्य का अधिक मात्रा में सेवन करना।
२. अति लवण, क्षार, अम्ल तथा कटु द्रव्यों को अधिक सेवन करना।
३. कुलत्थ, माष, निष्पाव (श्वेत शिंबी धान्य), तिल का अधिक सेवन।
४. आलू, मूला तथा हरित शाकादि, जलज, आनूप और प्रसह तथा बिलेशय प्राणियों के मांस का अधिक सेवन।
५. दही, दधिमस्तु, अम्लकांजी, सुरा, सौवीरक का अधिक सेवन।
६. विरुद्धाहार, सड़े गले हुए, क्लिन्न आहार का अधिक सेवन। द्रव्य, स्निग्ध अतिगुरु द्रव्य सेवन।

(आ) विहार हेतु—

१. भोजन के बाद सोना।
२. दिन में सोना।
३. धूप में तथा खुली हवा में ज्यादा देर तक रहना।
४. छर्दि के वेग को रोकना।
५. रक्त दुष्टि के काल में (शरत्काल) रक्तमोक्षण न करना।
६. श्रम करना।
७. अभिघात।

(इ) मानसिक हेतु—१. अत्यंत क्रोध करना। २. शोक करना। ३. अत्यधिक भयभीत होना।

(ई) **काल**—शरदऋतु में यह काल स्वभावतः ही रक्तप्रकोप में हेतु है।

दुष्ट रक्त के लक्षण[१७] — रक्त में वातादि दोष प्रकुपित हो कर दुष्टि करते हैं।

वातज दुष्ट रक्त —अरुणाभ, झागयुक्त, विषद और पतला हो जाता है। सुश्रुत ने फेनिलता, कृष्णवर्णता, परुषता, तनुता तथा जल्दी न जमने वाला (अस्कंदी) ये वात दुष्ट रक्त के लक्षण कहे हैं। पित्त दोष से रक्त दुष्टि होने पर रक्त का वर्ण पीत, ईषत श्याव होता है तथा जल्दी से स्कंदन नहीं होता। सुश्रुत ने नील, पीत, हरित, श्यामवर्णता, विस्रता तथा पिप्पीलक (चुंटी-मकोड़े), मक्खियों आदि की उसके सेवन में अप्रवृत्ति और अस्कंदी ये पित्तदुष्ट रक्त के लक्षण कहे हैं। (रक्त का प्राकृत स्कंदन समय ३ से ५ मिनिट का माना गया है। कफ से दुष्ट तथा रक्त तंतुयुक्त होकर ईषत पांडु और घन हो जाता है। सुश्रुत ने गैरिक मिश्रित जल के समान वर्ण, स्निग्ध, शीत, बहल, पिच्छिल तथा अधिक देर तक स्रवित होना, मांसपेशी के समान वर्ण का रहना ये कफ दुष्ट रक्त के लक्षण कहे हैं। द्विदोषज रक्त दुष्टि में दो-दो दोषों के वर्ण एवं गुण रक्त में मिलेंगे तथा त्रिदोषदुष्टि में तीनों दोषों के दुष्टि के लक्षण मिलेंगे। सुश्रुत ने त्रिदोषज दुष्टि में कांजी वर्ण के समान तथा दुर्गन्धयुक्तता रहना ये लक्षण कहे हैं। इस तरह वातादि दोषों से प्रदुंष्ट रक्त का निर्हरण करना चाहिये। अन्यथा कंडु, शोथ, दाह, पाक, वेदना, को उत्पन्न करता है।[१८] दुष्ट शोणित की चिकित्सा न करने पर अनेक रोग उत्पन्न होते हैं, उनको 'रक्तप्रदोषज' व्याधि या शोणितज रोग कहा जाता है। उनका आगे विचार किया गया है।

रक्त में वातादि दुष्टिलक्षण तालिका

दोष	स्पर्शतःरूपतः परीक्ष्य लक्षण	गंधतः परीक्ष्य लक्षण	अन्य विशेष
वात दोष	अरुण, फेनिलता, कृष्ण परुष, श्याव, पतला, विशद रक्तता	—	जल्दी स्कंदन न होना।
पित्त दोष	पीत, नील, हरित, श्याव वर्णता	विस्रता	पिपीलक तथा माक्षिकाओं के सेवन में अप्रवृत्ति, अस्कंदी।
कफ दोष	ईषत् पांडुवर्ण, गैरिकमिश्रित जल के समान, स्निग्ध, शीत बहल, पिच्छिल, मांसपेशी की वर्णयुक्तता	—	अधिक देर तक स्रवित होनेवाला।
द्विदोषज	दो-दो दोषों के लक्षण से युक्त	—	—
त्रिदोषज	कांजी के समान वर्णवाला	दुर्गंधता	—
सन्नि-पातज	सर्व लक्षण युक्तता		—

शोणितज रोग की चिकित्सा में रक्तमोक्षण, विरेचन, उपवास, तथा रक्त-पित्त की चिकित्सा करनी चाहिये।[१९] संक्षेप में रक्तप्रदोषज व्याधि को ही रक्त-मोक्षणार्ह व्याधि समझना चाहिए।

रक्त प्रदोषज विकार—नीचे चरक, सुश्रुत और वाग्भट के मत से रक्त-विकारों को तालिका में बताया गया है। इन व्याधियों में रक्तमोक्षण करना चाहिए।

रक्तप्रदोषजविकार तालिका[२०]

क्र.	विकार नाम	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१.	कुष्ठ	+	+	+
२.	विसर्प	+	+	+
३.	पिड़का	+	+	–
४.	रक्तपित्त	+	+	+
५.	असृग्दर	+	+	–
६.	गुदपाक	+	+	–
७.	मेढ्रपाक	+	+	–
८.	मुखपाक	+	+	+ (मुखरोग)
९.	प्लीहा (दोष, वृद्धि)	+	+	+
१०.	गुल्म	+	+	+
११.	विद्रधि	+	+	+
१२.	नीलिका	+	+	–
१३.	कामला	+	–	+
१४.	व्यंग्य	+	+	+
१५.	पिप्लु	+	–	–
१६.	तिलकालक	+	+	+
१७.	दद्रु	+	–	–
१८.	चर्मदल	+	–	–
१९.	श्वित्र	+	–	–
२०.	पामा	+	–	–
२१.	अस्त्रमंडल	+	–	–
२२.	अक्षि रोग	+	–	+
२३.	पूति आस्यगंधता	+	–	–
२४.	उपकुश	+	–	+
२५.	प्रमीलक	+	–	–
२६.	रक्तमेह	+	–	–
२७.	वातरक्त	+	–	+
२८.	वैवर्ण्य	+	+	–
२९.	अग्निमांद्य	+	–	+
३०.	पिपासा	+	+	+

क्र.	विकार नाम	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
३१.	गुरुगात्रता	+	–	–
३२.	संताप	+	–	+ (ज्वर)
३३.	अतिदौर्बल्य	+	–	–
३४.	अरुचि	+	–	–
३५.	शिरोरुजा	+	–	–
३६.	अन्नपान विदाह	+	–	–
३७.	तिक्तोद्गार	+	–	–
३८.	अम्ल उद्गार	+	–	+
३९.	कटु उद्गार	–	–	+
४०.	क्लम	+	–	–
४१.	क्रोधाधिकता	+	–	–
४२.	बुद्धिसंमोह	+	–	+ (संमोह)
४३.	लवणास्यता	+	–	+
४४.	स्वेद	+	–	–
४५.	शरीर दौर्गंध्य	+	–	+
४६.	मद	+	–	–
४७.	कंप	+	–	–
४८.	स्वरक्षय	+	–	–
४९.	अतिनिद्रा	+	–	–
५०.	अति तमोदर्शन	+	–	–
५१.	कंडु	+	+	–
५२.	कोठ	+	–	–
५३.	मशक	+	+	–
५४.	न्यच्य	–	+	–
५५.	इंद्रलुप्त	–	+	–
५६.	अर्बुद	–	+	–
५७.	अंगमर्द	–	+	–
५८.	उपजिह्विका	–	+	–
५९.	रक्तत्वक्	–	–	+
६०.	रक्तनेत्रता	–	–	+
६१.	रक्तमूत्रता	–	–	+
६२.	भ्रम	–	–	+
६३.	अर्श	–	+	–

उपर्युक्त रोगों में नीलिका न्यच्य, व्यंग, पिल्लु, तिलकालक, मशक, पिड़का, कंडु, कोठादि त्वगाश्रय से उत्पन्न क्षुद्ररोग में निर्दिष्ट रोग हैं। उपकुश दंतरोग हैं। पामा, दद्रु, श्वित्र, ये कुष्ठ रोग हैं। प्रमीलक-प्रमेह का पर्याय है। इंद्रलुप्त का अर्थ सिर के बाल गिरकर वहां खलवाट का निर्माण होना यह है (गंजापन)।

उपर्युक्तों के अतिरिक्त चरक और वाग्भट ने निर्देश किया है कि—वे रोग जिनकी शीत और उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष आदि विपर्यय प्रकार से उचित चिकित्सा करने पर भी शांत नहीं होते उनको रक्तज विकार समझना चाहिये।[२१] ऐसे रोगों में रक्तमोक्षण करना चाहिये।

इन रोगों के वर्णन के बाद चरक ने इसी अध्याय में (सू. २४) रक्तवह स्रोतों दुष्टी के द्वारा उत्पन्न होनेवाले कुछ विकार दिये हैं वे भी महत्त्व के हैं। रक्त यह रक्तवह स्रोत में स्रवण होनेवाला पदार्थ है। स्रोत, स्रोतोगत पदार्थ, स्रोतोमूल ये परस्पपर भिन्न होते हैं। रक्तवह स्रोत अणुस्तर (Cellular Level) पर रहनेवाला रक्तकोष का छिद्र (Pores of the Blood cells) है— जिससे उसका पोषण उसे मिलता है यथा मल का निस्सरण होता हैं। इनकी दुष्टि होने से—मद, मूर्च्छा, संन्यास (coma) ये रोग उत्पन्न होते हैं।[२२] मदरोग में—मन का विक्षोभ, संज्ञामोह, तथा व्याकुलता ये सामान्य लक्षण उत्पन्न होते हैं—और इसके बाद आतुर मूर्च्छित होता है। मद से मूर्च्छा और मूर्च्छा में संन्यास ये उत्तरोत्तर गंभीर रोग हैं। मद और मूर्च्छा में दोषवेग के शांत होने पर पुनः संज्ञा प्राप्ति की संभावना होती है, लेकिन संन्यास औषधि चिकित्सा के बिना ठीक नहीं होता। इसमें व्यक्ति प्राणायतन (शिर) में दोष और रक्त प्रकोप से—मूर्च्छित होकर लकड़ी के समान मृत के समान निचेष्ट हो जाता है और प्राणों को छोड़ देता है।[२३]

रक्तमोक्षण के लिए अयोग्य—जिसके संपूर्ण शरीर में शोथ है, जो रोग के कारण अत्यंत दुर्बल हुआ हो, तथा अभ्लाति-सेवन से उत्पन्न पांडु, अर्श, उदर शोष ये रोग उत्पन्न हुए हो उसे एवं गर्भिणी का रक्त विस्त्रावण नहीं करना चाहिये।[२४] इनके अतिरिक्त सिराव्यध के लिए जो अयोग्य कहे गये हैं उन अनेक रोगों का भी समावेश अरक्त मोक्षणार्ह में हो सकता है— उनका विचार आगे किया जायेगा।

रक्तमोक्षण के योग्य काल—सामान्यतः शरद ऋतु रक्त प्रकोप का काल माना गया है। अतएव शरत्काल में रक्तमोक्षण करना चाहिये। जिस दिन अधिक ठंडी हवा न चलती हो, अधिक गरमी न पड़ी हो, दुर्दिन-मेघावच्छादित दिन न हो ऐसे दिन में रक्तमोक्षण करना चाहिये।[२५] वर्षा ऋदतु में बादल न हो तब, ग्रीष्म ऋतु में, शीतसमय में (प्रातः या सायं) तथा हेमंत ऋतु में, मध्यान्ह काल में रक्तमोक्षण करना चाहिये।[२६]

रक्तमोक्षण के प्रकार

रक्तमोक्षण के मुख्य दो प्रकार हैं। १. शस्त्रद्वारा रक्तविस्त्रावण २. शस्त्ररहित-अनुशस्त्र विस्त्रारण। शस्त्र विस्त्रावण वह है जिसमें लोहे के शस्त्र द्वारा रक्तमोक्षण किया जाता है। यह दो प्रकार का है। १. प्रच्छान २. सिरावेध या सिराव्यध[२७] अनुशस्त्र वे हैं जो लोहादि धातु से बने हुए नहीं होते—उनसे रक्तमोक्षण करना सुकुमारों के लिए हितकर होता है। इसमे १. जलौकावचारण २. शृंगावचारण तथा ३. अलाबु अवचारण

४. घटीयंत्र ऐसे चार प्रकार हैं। वाग्भट ने जलौका, क्षार, दाहकर्म, काच, नख, पत्थर, आदि अलौह वस्तु को अनुशस्त्र कहा है, और इनका तथा इनके सदृश् अन्यों की कल्पना कर बुद्धिपूर्वक उपचार करने को कहा है[२८] इन पांचों प्रकारों का प्रयोग रक्तमोक्षणार्थ १. दोष के अवस्थानुसार २. रक्त के अवस्थानुसार तथा ३. आतुर के अवस्थानुसार किया जाता है।

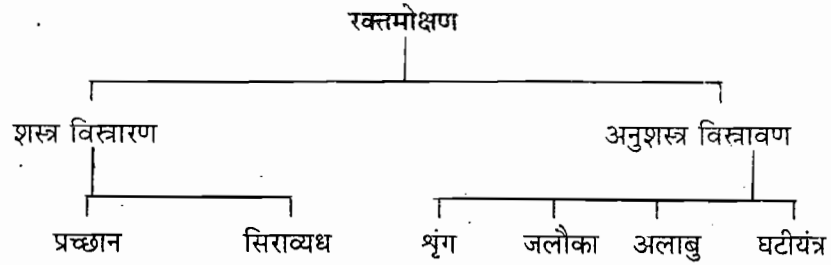

१. दोष के अवस्थानुसार—जिस रक्त में प्रधानता वात से दुष्टि हुई हो उसका निर्हरण शृंग से करना चाहिये। क्योंकि गाय का सींग उष्ण मधुर और स्निग्ध होता है जो वात के शीत और रुक्ष गुण के विपरीत है, तथा मधुर रस वातशामक होता है। जिस रक्त की दुष्टि प्रधानतया पित्त से होती है उसका निर्हरण जलौका से करे, क्योंकि जलौका जल में रहने से शीत, मधुर होती है, और उष्ण कटु पित्त के निर्हरण के लिए प्रशस्त होती है। जिस रक्त में प्रधानतया कफ से दुष्टि होती है, उसे अलाबु (तुंबी) से निकाले, क्योंकि अलाबु रस में कटु और गुण में रुक्ष और तीक्ष्ण होता है। ये गुण कफ के मधुर, शीत, स्निग्ध के विपरीत होते हैं।[२९]

वाग्भट ने कहा है कि पित्त दूषित रक्त को अलाबु या घटीयंत्र से नहीं निकालना चाहिये। क्योंकि इनमें अग्नि के उष्ण गुण का संयोग होता है, अतएव कफ और वातदुष्ट रक्तनिर्हरण में ये प्रशस्त है। कफदुष्ट रक्त का निर्हरण शृंग से न करें, क्योंकि वह रक्त को जमा देता है। शृंग से वातपित्त दुष्ट रक्त निकालना चाहिए। यह रक्त दोष-विचार विशेषावस्था में करें, अथवा सामान्यावस्था में भी सभी का उपयोग सभी में किया जा सकता है।[३०]

२. रक्त के अवस्थानुसार—दोषों के अतिरिक्त रक्त के अवस्थानुसार उपर्युक्त प्रयोग भेदों का विचार किया जाता है। रक्त अवगाढ़ है या अवगाढ़तर है या अवगाढ़तम है, तथा रक्त में त्वचा में स्थित है या अमुक स्थान में पिंडित (जमा हुआ) है, या सार्वदैहिक दुष्टि है इसका विचार कर निम्नोक्त प्रकार से जलौकादि प्रकार का प्रयोग किया जाता है। यदि रक्त ग्रथित–जमा हुआ हो तो जलौका का उपयोग करें। एक स्थान में जमा हुआ हो तो प्रच्छान का प्रयोग करें। सर्वांग में व्याप्त हो तो रक्त सिराव्यधन से स्त्रवित करावे। त्वचा में–सुप्त रक्त हो तो शृंग, अलाबु तथा घटीयंत्र के प्रयोग से निर्हरण करें।[३१]

डल्हण के मतानुसार उत्तान-यानी त्वचा में समीपवर्ती स्थान में रक्त हो तो प्रच्छान प्रयोग से निकाले उससे अंदर हो तो जलौका से निकाले, बहुत अंदर हो तो तुंबी से, तथा अत्यंत गंभीर हो तो शृंग, से निकाले। सर्वांगगत रक्त दुष्टि में सिराव्यध करना चाहिये।[३२]

शृंग और अलाबु में जैसा कि आगे वर्णन किया जायेगा प्रच्छान तो करना पड़ता ही है, अतएव अवगाढ़ तर तम भाव से—उनका निर्देश निर्वात स्थिति के द्वारा रक्तापकर्षण में सहाय्यक होने से उचित ही लगता है।

३. आतुर के अवस्थानुसार—आतुर का शरीर बल देखकर इस प्रयोग में भिन्नता की जा सकती है। डल्हण ने कहा है कि शृंग और अलाबु का उपयोग सुकुमार (नाजुक) प्रकृति के लोगों में करना चाहिये, और जलौकावचारण का प्रयोग उनमें करे जो अत्यंत सुकुमार होते हैं। सुश्रुत ने राजा, राजसदृश, बाल, वृद्ध, भीरु, दुर्बल शरीरवाले, स्त्रियां, तथा परमसुकुमार लोगों को जलौका वचारण करने का निर्देश किया है। इस विधि में जरा भी वेदना नहीं होती अतएव इनमें प्रशस्त कहा है और जो असुकुमार हैं—उनमें, अच्छे दृढ़, शरीरवालों में प्रच्छान तथा सिरावेध करना चाहिए।[३३]

उपर्युक्त दोषादि भेद के अनुसार रक्तमोक्षण का प्रयोग निम्नलिखित प्रकार से तालिका में स्पष्ट हो जाएगा।

रक्तमोक्षण के प्रयोग भेद तालिका

क्र. प्रमोद-भेद	चरक	सुश्रुत	वाग्भट
१. शृंग	वात दुष्टि में	वात दुष्टि में अवगाढ़तम रक्त में तथा त्वचा में दुष्टि हो तब सुकुमारों में	वातपित्त द्वारा दुष्टि में त्वचागत दुष्टि में
२. जलौका	पित्त दुष्टि में	पित्त दुष्टि में अवगाढ़ ग्रथित रक्त में, सुकुमार-तम आतुरों में	पित्त दुष्टि में ग्रथित रक्त में सुखी लोगों में
३. अलाबु	कफ दुष्टि में	कफ दुष्टि में, अवगाढ़तर रक्त में, त्वचा में रक्त हो तब, तथा सुकुमारों में	वात कफ दुष्टि में, सुप्त रक्त में त्वचा में रक्त हो तब
४. सिरा व्यध	विकार के नजदीक की सिरा से रक्त-स्रावण। संचार्यमाण रक्त में	सर्वांगगत दोष हो तब	सर्व शरीर में व्याप्त दोष में
५. प्रच्छान	देशात्देशं व्रजत् (संचार्यमाण)	उत्तान रक्त में	एक देशास्थित पिंडित रक्त में
६. घटीयंत्र	बद्धमूल गुल्म के शस्त्र कर्म में	—	कफ और वात से दुष्ट रक्त घटीयंत्र से निकाले

रक्तमोक्षण के सभी उपर्युक्त प्रकारों का एकैकशः विस्तारपूर्वक विचार प्रस्तुत किया जाता है। सर्व प्रथम सहज साध्य, कर्म सुलभता में सर्वसुकर, कार्य में अनपायि, तथा सुकुमारों में प्रशस्त ऐसे जलौकावचारण का विचार किया जायेगा।

१. जलौकावचारण

जलौका परिचय—जलौका का लौकिक नाम जोंक है। ये जल में पैदा होती हैं, जल में रहती हैं, तथा जल ही इनका आयुष्य है—खानपान, पोषण का मुख्य प्राप्ति स्थान हैं— अतएव जलौका ऐसा कहा है।[३४] ये प्रायः जल में, कीचड़ में तथा आनूप देश में प्राप्त होती है। जलौका-सविष और निर्विष भेद से दो प्रकार की होती है। सविष जलौका का प्रयोग चिकित्सा में वांछनीय नहीं है। इसके दंश से, शोथ, भयंकर कंडू, मूर्च्छा, ज्वर, दाह, च्छर्दि, मद, अंगसाद ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।[३५] सविष जलौकाएं वे हैं जो विषैले मत्स्य, कीड़े, मेढ़क के सड़े हुए, गले हुए मल मूत्र से युक्त दुष्ट जल में उत्पन्न होती हैं।[३६] वाग्भट ने मत्स्य, मेढ़क, कीटकादि के मल मूत्र के अतिरिक्त उनके मृत शरीर के सड़ान से भी इनकी उत्पत्ति बताई है।[३७] जो जलौकाएं दंश स्थान में उपर्युक्त प्रकार से शोथ, कंडु आदि उपद्रव न करें, और जो रक्तमोक्षण में प्रयोगार्ह होती है उसे निर्विष जलौका कहते हैं। ये जलौकायें ऐसे पानी में रहती हैं, जिसमें कमल, उत्पल, नलिन कुमुद, पुंडरीक, कुवलय (ये सब कमल के प्रकार हैं।) तथा शैवल प्रचुर प्रमाण में रहते हों, इनके सड़ान में इनकी उत्पत्ति होती है। ये जलौकाएं निर्मल एवं सुगंधित जल में रहती हैं। विषैले पदार्थों का भक्षण नहीं करती, और कीचड़ में नहीं रहती।[३८]

उपर्युक्त जलौकाएं सामान्यतः यवन देश में, पांड्य देश में, सह्य और पौतन क्षेत्र में रहती हैं। ये शरीर से मोटी, बलवान, जल्दी-जल्दी खून चूसनेवाली, अधिक खून लेनेवाली, और निर्विष होती है।[३९] यवन देश को तुरुष्क देश (तुर्क), पांड्य—मद्रास, प्रांत के चोल देश का नैऋत्य भाग, सह्य—नर्मदा तीर समीपस्थ सह्याद्रि के पास (महाराष्ट्र तथा मध्य प्रदेश) का भाग, पौतन मथुरा प्रदेश—ऐसी मान्यता है।

सविष और निर्विष जलौका का शास्त्र में विस्तृत वर्णन दिया गया है। तत्पूर्व जलौका का आधुनिक शास्त्र के अनुसार परिचय दिया जाता है।

आधुनिक मत के अनुसार जलौका उन प्राणियों का नाम है जिनका हिरुडिनीया वर्ग में (Hirudinea) समावेश होता है। अंग्रेजी में इसे लिच (Leach) कहते हैं। इनके मुख के लालास्राव में एक विशिष्ट पदार्थ पैदा होता है जो रक्त को जमने नहीं देता।[४०] इन जलौका के दो प्रकार होते हैं। १. हिरुडो मेडिसिनेलिस (Hirudo medicinalis) नामक जलौंकाएं (जो आयुर्वेद में निर्विष कही है) चिकित्सा में प्रयुक्त की जाती हैं। २. दूसरी—हिरुडो डेट्रिमेंटल (Hirudo Detrimental) नामक हैं— (जो आयुर्वेद में सविष कही हैं) जो काटने पर विषाक्त लक्षणों को पैदा करती है।[४१]

जलौका के स्वरूप के बारे में प्राणिशास्त्र संबंधित वर्णन विस्तार से देना हो तो उसमें बहुत कुछ लिखा जा सकता है, किंतु वह सब रक्तमोक्षण कर्म की दृष्टि से आवश्यक नहीं है। यहां कुछ आवश्यक ऐसा वर्णन दिया जाता है जिससे प्रयोग में कुछ साहाय्य होता हो, तथा आयुर्वेद में जलौका का जो वर्णन दिया है उसे समझने में लाभ होता हो।

जलौकाएं जो चिकित्सोपयोगी होती हैं वे तालाब में छोटे-छोटे डबकों में, और वेगरहित झरनों में पाई जाती हैं। दुनिया के बहुत से प्रांतों में ये मिलती हैं। हिरुडो मेडिसिनेलिस ये ब्रिटेन में और आर. मेडिसिनेलिस (R. Medicinalis) ये जलौका

जलौका

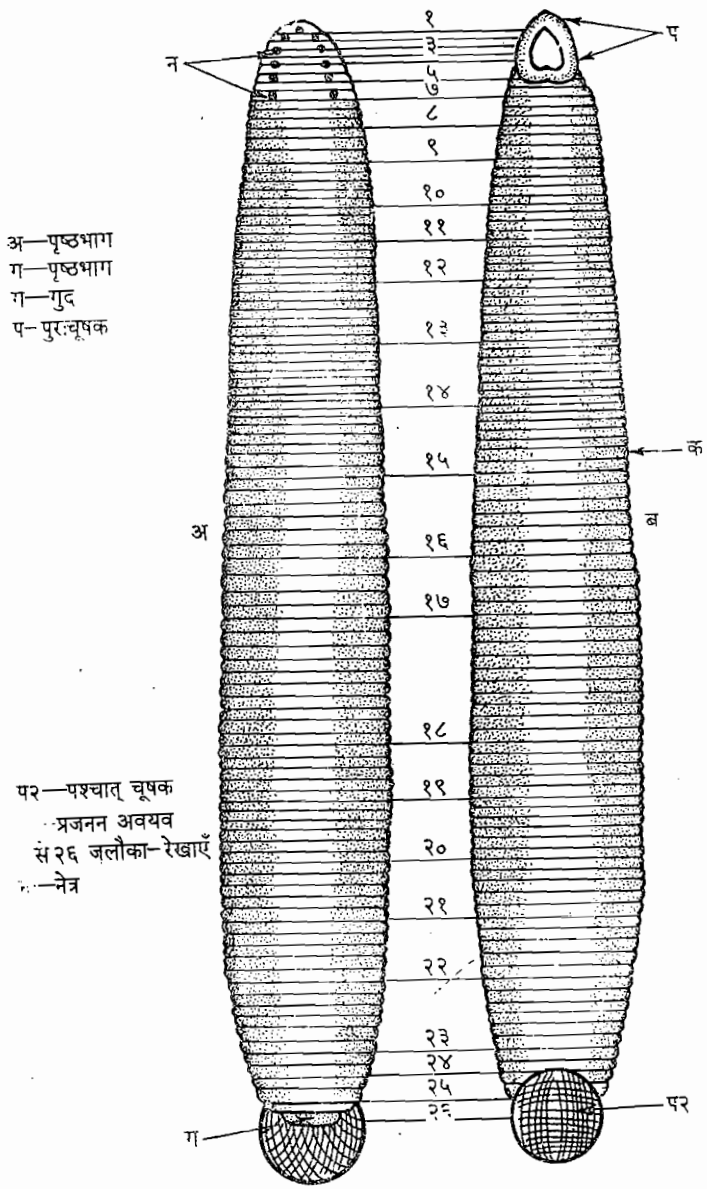

आस्ट्रेलिया में मिलती हैं। ये प्रायः ६ से १० सें. मी. अर्थात् २ से ३ इंच लंबी होती हैं, किंतु इन में संकोच और प्रसरणशीलता होती है जिससे ये अपनी लंबाई को कम ज्यादा करती हैं। इसी संकोच और प्रसरण की गति के द्वारा ये चेष्टाएं करती हैं ये पानी में अच्छी तरह तैरती हैं। इनका ऊपरी भाग (Convex) और आभ्यंतर भाग गोल फूला हुआ होता है। जलौका के दोनों बाजू में सामने और पीछे के भाग में एक विशिष्ट प्रकार की चूषक (Succer) जैसी रचना होती है—इस से वह दोनों बाजू से अपने शरीर को आधार स्तर पर पकड़ कर रखती हैं। इसका रंग चमकदार, धूमिल लाल होता है। इसके संपूर्ण शरीर पर आड़ी वर्तुलाकार (Transvers circular) रेखाएं होती हैं। इन रेखाओं के द्वारा वह छोटे-छोटे विभागों में (Annuly) विभक्त होती हैं। यह रचना गंडूपदकृमि (Earthworm) के समान होती है। सामने के चूषक (Succer) के पास पांच जुड़वे काले धब्बे होते हैं। ये इनकी आंखें हैं। इनके शरीर पर एक बहुत पतली त्वचा का आवरण होता है। यह आवरण सतत बदलता रहता है। इसी के नीचे त्वचा होती है। इन की त्वचा मानवीय कोष (Human cells) के सदृश कोषयुक्त होती है इन त्वचा के कोष में नीचे ही रक्त के स्रोतस (Blood capillaries) रहते हैं। जलौका का रक्त सतत जल के सान्निध्य में रहता है। इनका श्वासोच्छ्वास त्वचा के द्वारा होता है। त्वचा और पाचन संस्था (Elementry canal) के बीच का भाग मज्जा सदृश् धातु से (connective tissue) से व्याप्त रहता है। इनकी त्वचा पर असंख्य सूक्ष्म ग्रंथियां होती हैं जो एकस्निग्ध स्राव सतत त्वचा के ऊपर छोड़ती है। इस स्राव के कारण इनकी त्वचा अत्यंत मुलायम और फिसलने वाली हो जाती है। जलौका में मांसपेशियाँ भी विकसित होती है। इनकी पेशियाँ वर्तुलाकार (Circular) तथा दीर्घाकार (Longitudinal) रहती हैं। जिनसे ये संकोच और विकास की गतियां करती हैं।

पाचन संस्थान में मुख, जबड़ा (jaw), आमाशय, आंत्र, अंतर्गुद, बाह्यगुद, ये अवयव विकसित रहते हैं। ये जो रक्त—चूसती हैं—मुंह के बाद कंठ में जाता है—और नीचे आमाशय में पहुँच जाता है। मुंह से लालास्रावी ग्रंथियाँ लालास्राव (Hirudin) को स्रवित करती है। यह रक्त को स्कंदन (coagulation) होने से रोकता है। पाचन संस्थान को आशयों की प्रसारण शक्ति खूब होती है। लिये हुए रक्त का स्वरूपांतर तुरन्त प्रारंभ होता है। किंतु पूर्ण पाचन के लिए कई महीने लग जाते हैं। जलौका का मल विसर्जन संस्थान (excretory system), वातवह संस्थान (Nervous System) भी होता है। रक्तवह संस्थान गंडूपद कृमि के सदृश् होता है। इनमें प्रजनन संस्थान (Reproductive System) भी होता है और नर तथा मादी के अवयव विकसित होते हैं।

जलौका का आयुर्वेदीय वर्णन

सुश्रुत ने तथा वाग्भट ने जलौकाएं सविष और निर्विष ऐसे दो प्रकार की कही है। इन दोनों के छः छः भेद करके कुल १२ प्रकार की जलौकाएं कही है।[४२] सुश्रुत ने प्रत्येक का नमतः वर्णन किया है—और वाग्भट ने इन्हीं नामों का प्रयोग स्वरूप दर्शक किया है। वस्तुतः जलौका के ये नाम उनका स्वरूप दर्शक ही समझना चाहिए। ये नाम इनकी आकृति, वर्ण, त्वचा की विशेषता, सिर की विशेषता इत्यादि के बोधक हैं। इन सबका सम्मिलित वर्णन देखने पर ऊपर जो आधुनिक विज्ञान के अनुसार जलौका का वर्णन किया गया है— वह प्रायशः उक्त हो जाता है—

सविष जलौकाएं[४३] —सविष जलौकाओं का नाम और स्वरूप निम्नलिखित प्रकार का है।

१. **कृष्णा जलौका**—ये अंजन-कज्जल के समान काली होती हैं—इसका शिर चौड़ा होता है। वाग्भट ने भी भृशं कृष्णा जलौका को सविष कहा है।

२. **कर्बुरा जलौका**—ये जलौका वर्मि नामक मत्स्य के आकार की होती हैं। पेट की ओर नमी हुई और बाहर की ओर आयत (convex) होता हैं। इसके कुक्षि भाग में छेद होते हैं। (रेखाएं)। डल्हण ने वर्मिमत्स्य का अर्थ सर्पाकार किया है, और कुछ लोग रोहिष मत्स्य के आकार की जलौका कर्बुरा मानते हैं ऐसा कहा है। अतः कुक्षि में छेद का अर्थ कहीं पर कुक्षि छेदयुक्त नीचे झुकी हुई और कहीं पर उन्नत कुक्षि—ऊपर उठी हुई—ऐसा किया है। कर्बुर यह शब्द भूरे रंग के लिए प्रचलित है। रक्तवर्ण में श्वेत वर्ण मिलाने पर हलका लाल और वैवर्ण्य युक्त जो रंग होता है उसे कर्बुर कहते हैं। वाग्भट ने 'रक्तःश्वेत' ऐसी वर्णवाली जलौका सविष मानी है।

३. **अलगर्दा**—इसके शरीर पर वलियां (रेखाएं) होती हैं जो रोम के सदृश् दिखाई देती हैं। इसके दोनों पार्श्व फूले हुए होते हैं, और मुख काला होता है। वाग्भट ने "राजयो रोमशाश्चता" राजी युक्त तथा रोमश जलौका को सविष कहा है।

४. **इंद्रायुधा जलौका**—इंद्रधनुष्य के समान ऊपर के भाग में चित्रविचित्र वर्णवाली, रेखाओं से युक्त जलौका इंद्रायुधा कहलाती है वाग्भट ने भी इंद्रायुधा जलौका का समावेश सविष में किया है।

५. **सामुद्रिका जलौका**—ये जलौकाएं किंचिद् काली तथा पीले रंग की होती हैं और कई रंग के बिंदयुक्त फूलों के समान चित्रित होती हैं।

६. **गोचंदना जलौका**—इनके नीचे का भाग बैल के वृषण के समान दो भागों में विभक्त सा दिखाई देता है, तथा मुख छोटा होता है। वाग्भट ने अति चपल और स्थूलता—पिच्छिलता ये सविष जलौका के सामान्य लक्षण कहे हैं।

निर्विष जलौकाएं[४४]

निर्विष जलौकाएं जो चिकित्सा में प्रयोज्य हैं, वे निम्नलिखित छः प्रकार की होती हैं।

१. **कपिला जलौका**—मनःशिला (मनसील) के समान वर्णवाली पार्श्व बाजू में, तथा पृष्ठ (पीठ) मुद्ग (मूंग) के वर्ण की ओर स्निग्ध होती है। यहां कापिल शब्द ही कपिल वर्ण का द्योतक है।

२. **पिंगला जलौका**— यह किंचित् लाल-पिंगल वर्ण की, गोल आकार की और शीघ्र चलनेवाली होती है।

३. **शंकुमुखी जलौका**— यकृत् खंड के समान वर्णवाली जल्दी से रक्त चूसनेवाली, तीक्ष्ण मुख-शंकुवाली (या Succer) जलौका शंकुमुखी कहलाती है।

४. **मूषिका जलौका**—मुषिक—लांगुल के समान आकृति वाली, और उसी वर्णवाली तथा अनिष्ट गंध (दुर्गंध) वाली जलौका मूषिका कहलाती है।

५. **पुंडरीकमुखी जलौका**— मूंग के समान वर्णवाली, हरितवर्ण और पुंडरीक मुखी कमल (श्वेत कमल) के समान विस्तीर्ण मुखवाली जलौका को पुंडरीक मुखी कहते हैं।

६. सावरिका जलौका— यह स्निग्ध कमलपत्र के समान वर्णवाली और १८ अंगुल लंबी होती है यह जलौका पशुओं का रक्त (हाथी, घोड़े आदि में) निकालने के लिए प्रयुक्त करनी चाहिये। मनुष्यों में इसका उपयोग न करें।

वाग्भट ने निर्विष जलौका का सामान्य वर्णन करते हुए कहा है कि ये शैवल के सदृश् श्याम वर्ण की होती है, गोल होती हैं, इनके ऊपर नीले रंग की रेखाएं होती हैं, तथा इनकी पीठ बरगद आदि के छाल के सदृश् कषाय रंग की होती है, इनका शरीर पतला-कोमल होता है और पेट कुछ पीले रंग का होता है।[४५] वृद्ध वाग्भट ने अष्टांग संग्रह में कहा है कि—जलौका की अधिकाधिक लंबाई १८ अंगुल की होती है। इनमें चार, पांच या छः अंगुल लंबी जलौका मनुष्यों में प्रयुक्त करनी चाहिये और इनमें जो बड़ी होती है वे हाथी-घोड़ों में प्रयुक्त करनी चाहिये। इनमें भी स्त्री और पुमान ऐसे दो भेद होते हैं जो कोमल शरीरवाली होती है, कोमल त्वचावाली, छोटे सिरवाली, तथा नीचे का शरीर जिसका बड़ा होता है उसे स्त्री जलौका समझना चाहिये। इससे विपरीत—अर्थात् कठिन त्वचावाली, बड़े सिरवाली मध्यभाग में जो छोटी हो, और अर्ध चंद्र के समान गोल हो, उसे पुमान जलौका समझना चाहिए। दोषों के प्राबल्य में चिरोत्थित रोगों में पुमान जलौका लगावे और अन्यत्र स्त्री जलौका का प्रयगो करें।[४६]

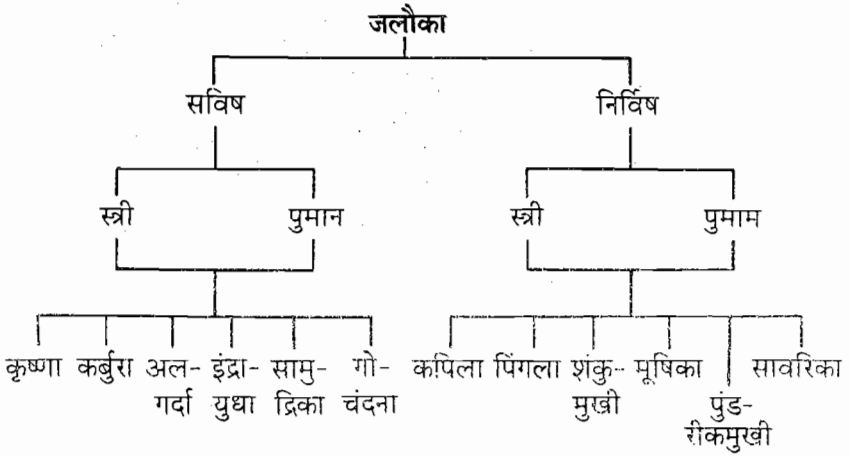

जलौका के विषय में उपर्युक्त वर्णन से उसका स्वरूप आधुनिक विज्ञान के वर्णन से मिलता जुलता है यह स्पष्ट होता है। आयुर्वेद में वर्णित कपिला पिंगलादि तथा कृष्णा कर्बुरादि सविष जलौका का पृथक् जो वर्णन किया हैं वह सम्मिलित प्रकार से किसी में उपलब्ध किसी में अनुपलब्ध ऐसा मानना चाहिये। जलौका की लंबाई ४, ५ या ६ अंगुल का कहा जाना, जो करीब २ से ४ इंच होता है, उसके मुख का शंकुभत्व, कृष्ण, श्याव, रक्त, शैवल वर्ण, कपिल वर्ण इत्यादि वर्ण, रेखा पूर्णता, स्निग्ध-तनुता , तथा स्त्री और पुरुष जलौका वर्णन, शीघ्र गतिता (Nervous System) इत्यादि का वर्णन आचार्यों की निरीक्षण कुशलता को स्पष्ट करता है।

जलौकावचारण विधि

१. पूर्वकर्म— पूर्वकर्म में निम्नलिखित विषयों का समावेश होता है।

१. जलौका संग्रहण तथा पोषण
२. जलौकावचारण साध्य आतुरों की परीक्षा
३. रक्तमोक्षण पूर्व जलौका शोधन
४. आतुर-सिद्धता

१. जलौका संग्रहण तथा पोषण—जलौका को पकड़कर प्रयोगार्थ संरक्षित रखने की तथा बारंबार प्रयोगार्थ उन्हें क्षम रखने के लिए जो विधि है वह संग्रहण-पोषण विधि है। जलौका के संग्रहणादि विषय पर प्राचीन काल से खास ध्यान दिया गया था ऐसा प्रतीत होता है। सुश्रुत कहते हैं कि, जलौका का क्षेत्र वे कहां उत्पन्न होती हैं वह उनको ग्रहण करने की पद्धति, उनके प्रकार, उनके पोषण की पद्धति, उनसे रक्त निकालने की उपचार पद्धति जो ठीक तरह से जानता है वही वैद्य साध्य रोगों की चिकित्सा करने में समर्थ होता है।[४७] जलौका को ग्रहण करने की पद्धति बहुत सरल है। तालाब में, झरनों पर, या शैवल पंकज युक्त क्षेत्र में गीले चमड़े के द्वारा उनको पकड़ा जाता है।[४८] अर्थात् ऐसे स्थान में गीले चमड़े को या मोटे कपड़े को बिछाकर रखे धीरे-धीरे जलौकाएँ उस पर जमा हो जाएँगी, तब चमड़े को उठाकर उस पर से जलौकाओं को पकड़ ले। दूसरा प्रकार यह है कि मृत जीवजंतु का ताजा मांस, मक्खन, घी, दूध, इनसे किसी प्राणी के जंघा पर या मनुष्य खुद अपने जंघापर लेपन कर वह पांव जलौका युक्त स्थान में पानी में डालकर बैठे। जलौकाओं को ये सब द्रव्य प्रिय होने से उनको खाने के लिए वे जमा होती हैं—तब जंघा-पांव को बाहर निकाल कर उस पर नमक बुरका दे—जिससे जलौकाएं छोड़ देंगी—तब उनको पकड़ कर शुद्ध जलयुक्त कांचपात्र या मुत्पात्र में रख दें।

जलौका ग्रहण काल—जलौका संचय करने का अच्छा काल शरद् काल है। इसका कारण संभवतः यह है कि निर्विष जलौकाएं शुद्ध जल में रहती हैं। शरद ऋतु के पहले वर्षा ऋतु होती है जिसमें बादल तथा वर्षा से जल में अनेक दुष्टियां होती हैं। बारंबार वर्षा से जलाशयों में बाढ़ आती है—जिससे सतत् प्रवाहमान जल की गति से जलौकाएं ऊपर के स्तर पर आने की संभावना नहीं होती। वर्षा काल के दुष्ट जल में सविष जलौका की उत्पत्ति होना ही अधिक संभव होता है। जल का माहात्म्य कहते हुए शरद् ऋतु के हंसोदक की बहुत प्रशस्ति की गयी है। दिन में सूर्यकिरणों में तपा हुआ, और रात्रि में चंद्रमा की चांदनी में शीतल हुआ—शरद् ऋतु के काल प्रभाव से ही जल अतीव शुद्ध होता है—उसे हंसोदक कहते हैं।[४९] यह स्नानपान के लिए अत्यंत श्रेयस्कर माना गया है। हंस शब्द सूर्य और चंद्र का पर्याय है। सूर्य और चंद्रकिरणों से शुद्ध जल वह हंसोदक ऐसा इसका अर्थ है। तालाब, झरनों में—शरद् ऋतु के काल में उपर्युक्त प्रकार के निर्मल जल में निर्विष और उत्तम जलौकाएँ प्राप्त होंगी—इसी दृष्टि से शरदत् काल में इनका ग्रहण प्रशस्त माना है।

जलौका संग्रह—इस प्रकार पकड़ी हुई जलौकाएं बड़े आकार के नये मटके में—तालाब का अच्छा पानी तथा कीचड़ डालकर उसमें रख दें। इनको खाने के लिए शैवल,

सूखा मांस, छोटे-छोटे कंदों का चूर्ण डालें। उनको विहरने के लिए जल में उगने वाली घास, पत्तियाँ डाल देवें। दो या तीन तीन दिन को ताजा पानी और खाने के पदार्थ घड़े में डालना चाहिये। सात दिन के बाद एक बार पहले का संपूर्ण जल एवं खाद्य वस्तुओं को बदलकर नया जल और नये पदार्थ डालना चाहिये[५०] अथवा घड़ा ही बदल दें।

नोंद—जलौका को रखने के लिए बड़े आकार का सलिलशरक (जलपात्र) (Aquarium) या जलाशय का उपयोग किया जा सकता है। इस पात्र में शैवल, मांस चूर्णादि तथा घास, पत्ते आदि डालकर नैसर्गिक वातावरण उत्पन्न करना चाहिए। जल को बारंबार बदलना चाहिए। नदी या तालाब का पानी डालना श्रेयस्कर है। क्लोरिन से शुद्ध जल होते हुए भी जलौका को हानि करता है— ऐसा देखा गया है। जलौका को बड़े-घड़े में (महति) रखने को कहा है, संभवतः उन्हें विहरणार्थ भरपूर अवकाश मिले और मानसिक रीत्या उन्हें नैसर्गिक स्थान की प्रतीति हो यह हेतु हो सकता है, किंतु देखा गया है, कि वृद्ध वैद्य-अत्यंत छोटे से घड़े में पचासों जलौकायें आर्द्र मिट्टी में रख देते हैं, और वे अच्छी तरह रहती हैं। उनका भरण पोषण होता है इतना ही नहीं बल्कि उनका प्रजनन संस्थान भी कार्यकर होता है—और नई नई जलौकाओं की अभिवृद्धि होती है। छोटा घड़ा हो या बड़ा-घड़े के ऊपर का भाग वस्त्र से आच्छादित रखना चाहिए। प्रयोग से यह भी देखा गया है कि केवल कांचपत्र में, या जल में रखी हुई जलौका भी महीनों तक अच्छी और स्वस्थ रहती है— और रक्तपान करती हैं। संभवतः यह इसलिए है कि जलौका एक बार जो खाद्य लेती है उनके पचन में महीनों तक का काल लगता है—और जल, मिट्टी या शैवाल में उपस्थित जंतु आदि का खाद्य उन्हें जीवित रखने के लिए पर्याप्त होता है।

जलौका को संग्रहित करने पर वैद्य उनकी अच्छी तरह परीक्षा कर लें। सविष जलौका को निकाल कर फेंक दें। जो जलौकाएं मध्यभाग में मोटी हों, जो दिखने में भयजनक हों, बहुत बड़ी हों, जिनकी चेष्टाएं मंद हों, जो अल्प रक्त चूसती हो तथा जो सविष हों उनकी प्रयोग के लिए अनुचित समझकर त्यागना चाहिये।[५१]

२. जलौकासाध्य आतुरों की परीक्षा—जलौकावचारण से साध्य रोगों में गुल्म, अर्श, विद्रधि, कुष्ठ, वातरक्त, कंठरोग, नेत्ररोग, विषदष्ट, विसर्प इनकी गिनती की गयी है।[५२] इनसे पीड़ित आतुर की उचित प्रकार से परीक्षा कर रोगनिश्चित करना चाहिए। भिन्न-भिन्न प्रकार से क्षुद्र कुष्ठ, विद्रधि में जलौका से रक्त निर्हरण बहुत लाभ करता है। इसी तरह कुछ वैद्य अर्श में तथा नेत्ररोग में नेत्रपर भी जलौका प्रयोग करते हैं और उससे अच्छा लाभ मिलता है यह अनुभव है। शिरोरोग में भी शंखप्रदेश पर जलौका लगाकर रक्त निर्हरण करना तुरंत लाभप्रद होता है। जलौका परम सुकुमारों के लिए प्रशस्त होने से राजाओं, धनिकों, डरपोक, स्त्रियों, बालकों वृद्धों तथा नाजुक प्रकृति वालों में विशेष कर प्रयुक्त करनी चाहिए यह पहले कहा गया है। गुल्म आदि कहे हुए रोगों में जलौकावचारण का खास प्रयोग निर्दिश्य समझना चाहिए। अन्यथा रक्तमोक्षणार्थ रक्तज सभी विकारों में पित्त दोष और अवगाढ़ रक्तता तथा सुकुमार प्रकृति ध्यान में रखकर जलौकावचारण के लिए योग्य समझना चाहिए।

३. रक्तमोक्षण पूर्व जलौका शोधन—आतुर के शरीरपर जलौका लगाने के पूर्व उनका शोधन करना चाहिए। शोधन के लिए सरसूं, हल्दी, इनसे मिश्र जल में या तो

उनके शरीर पर हल्दी और सरसूं के चूर्ण का लेप करके उनको सलिल सरक (जलपात्र) में मुहुर्तक (४८ मिनिट तक) रख देना चाहिए।[५३] इससे उनकी भूख बढ़ती है, चपलता बढ़ती है और रक्तग्रहण करने के लिए इच्छा उत्पन्न होती है। वाग्भट ने हल्दी के पानी के अतिरिक्त कांजी में या तक्र में डुबाकर फिर निर्मल जल में डालकर, फिर रुग्णांग पर प्रयोग करने को कहा है।[५४] वाग्भट कहते हैं कि निर्विष जलौका का भी प्रयोग करना तब इच्छनीय नहीं है—जब कि उनका सम्यक् शोधन न किया हुआ हो, जलौका द्वारा पहले लिया हुआ रक्त उचित प्रकार से वमन द्वारा न निकला हो, और इनका सतत प्रयोग किया हुआ हो तो जल में से शिथिल हो जाती हैं—उनको रक्त मत्त समझकर प्रयोग में न लें।[५५]

४. आतुर सिद्धता—रक्तमोक्षण कर्म के लिए भी स्नेहन और स्वेदन ये पूर्वकर्म इच्छनीय है। सुश्रुत ने सिरा व्यधन कर्म के लिए स्नेहन स्वेदन करने का निर्देश किया है। यह यहां भी लागू समझना चाहिए। सिरावेध में सार्वदैहिक दुष्टि के कारण संपूर्ण शरीर का स्नेहन स्वेदन करना उचित है जहां जलौकादि अवचारण (शृंग, अलाबू) में स्थानिक किया जाना चाहिए। स्नेहन और स्वेदन से रसरक्त में क्लेदन होकर अनेक दोष उनमें घुल जाते हैं यह पहले कहा गया है। अतः रक्तस्रुति में घुले हुए दोष निकालने के लिए ये पूर्वकर्म जरूरी हैं। शिरःशूल, कुष्ठ आदि रोगों में प्रयोग द्वारा यह स्पष्ट हो गया है कि स्नेहन स्वेदन कर जलौकावचारण करने से ही अधिक लाभ होता है। तथापि यह ध्यान रखना चाहिए कि स्नेहन किये हुए गात्र पर जलौका नहीं लगती और रक्त को चूसती नहीं है। अतएव यह क्रिया खूब पहले करनी चाहिए। वमन कर्म में स्नेहन स्वेदन के बाद एक दिन, विरेचन में स्नेहन के बाद ३ दिन रुकने को कहा ही गया है। वैसे ही जलौकावचारणार्थ भी एक दिन पूर्व स्नेहन और स्वेदन करना उचित है। तत्पश्चात् प्रयोग के समय आतुर के रक्तमोक्षणार्ह अंग का निरुक्षण करना चाहिए। आतुर को बिठाकर या सुलाकर मृत्तिका या गोमयचूर्ण को बुरक कर रुक्षता करें। यदि रुजायुक्त (व्रणादि) अवयव हो तो मिट्टी-गोमय नहीं लगाना चाहिए।[५६] यहाँ ध्यान रहे कि रुक्षणार्थ प्रयुक्त मृत्तिका शुद्ध और जंतुरहित होना चाहिए। यहां विरुक्षण और स्नेहन परस्पर विपरीत उपक्रम समझने का कारण नहीं है। स्नेहन यह दोषविलयनादि गुणों के लिए आवश्यक है और विरुक्षण केवल त्वचा का तत्कालीन उपक्रम है—जो जलौका अपने दोनों शंकु मुखों को (Succer) त्वचा में जमाने के लिए जरूरी है अन्यथा वे पकड़ नहीं सकतीं। जब तक जलौका अपने दोनों मुखों से त्वचा में जमकर नहीं बैठती तब तक रक्त भी नहीं चूसती।

२. प्रधान कर्म[५७]

१. प्रयोग—उपर्युक्त प्रकार से सिद्ध किये आतुर के विरुक्षित विकारवाले गात्र के ऊपर जलौका लगावें। जलौका अत्यंत स्निग्ध और पिच्छिल तथा मृदु अवयव के कारण हाथ में से फिसल जाती है। जो वैद्य जलौका को देखने के, स्पर्श करने के आदि नहीं हैं, एवं नवीन अभ्यासु हैं— भय रखते हैं, उनको चाहिए कि वे हाथ में रबर ग्लाउझ पहनकर जलौका को पकड़ कर रुग्ण शरीर पर रखें। कभी-कभी जलौका उपचारक के ही हाथ को पकड़ने की कोशिश करती है। इसलिए डर के कारण नवाभ्यस्त लोग उसे छोड़ देते हैं—इसलिए ग्लाउझ का उपयोग हमेशा प्रशस्त है। विकृत अवयव को क्षीरादि लगाकर

या कुछ छेदकर किंचिद् रक्त बिंदु बाहर आने पर वहां जलौका को लगावें। इससे जल्दी पकड़ लेती है।

कुछ लोगों का मत है कि—प्रयोग के समय विकार के स्थान पर ऐसा कागज रख दे जिस के बीच में छेद हो और वह छेद बराबर दंशस्थान के ऊपर आ जाये। कागज पर रखी हुई जलौका उस छेद स्थान पर जाकर उसे पकड़ कर रक्त चूसती है। जब गले में, गर्भाशय में, गुदा पर, जोंक लगानी हो तब उसे विशिष्ट प्रकार के कांच की नली में रखकर लगावे। यह नली ऐसी हो जिसके मुंह में से जोंक का केवल मुख बाहर प्रविष्ट हो सके। इस तरह जोंक गर्भाशय के भीतर, या गुद के भीतर न जाये इसलिए यह विधि है। जोंक जल्दी पकड़ न लेती हो तो दूध या रक्तबिंदु अवयव पर लगावे, या तो शस्त्र से थोड़ा सा क्षत करें और तब भी जोंक न लगे तो उसे निकाल कर दूसरी जोंक लगावें।

जब जलौका रक्तपान करना प्रारंभ करती है तो उसके शरीर पर सफेद गीला कपड़ा या गोजपीस लपेट दे। मुख का भाग खुला रखे। जब वह घोड़े के खुर के समान मुंह को करके, कंधों को ऊंचा करके रक्त चूसने लगे तो समझना चाहिए कि जलौका लग गयी और उपर्युक्त प्रकार से गीला श्वेत वस्त्र ढक कर थोड़ी-थोड़ी देर से उस पर जल बिंदु डालते जायें।

१. निरीक्षण—१. जौंक रक्तपान, करने लगती है तब उसके मुख के समीपवर्ती गले के भाग से रक्ताचूषण की गतियां और स्पंदन दिखाई देता है।

२. धीरे धीरे मध्य का भाग फूलने लगता है।

३. दंश स्थान में खुजली और शूल (ईषत्) होता है तो समझे कि शुद्ध रक्त ले रही है— और उसे निकाल देवें।

४. शुद्ध और दुष्ट रक्त के मिश्रण से वह प्रथम दुष्ट रक्त को ही चूसती है—जैसे हंस में क्षीर और जल का विवेक होता है वैसे ही जौंक प्रथम दुष्ट रक्त लेती है।

जब वह शुद्ध रक्तपान का प्रारंभ करें तब उसे निकाल लेवें। निकालने के लिए उस पर सैंधव नमक का चूर्ण बुरक दे—जिसके वह तुरन्त रक्त लेना बंद कर दंशस्थान को छोड़ देती है। जलौका छुड़वाने के बाद दक्ष वैद्य पश्चात्कर्म से सावधानी रखें।

२. पश्चातकर्म— १. जलौका का उपचार
२. आतुर का उपचार

१. जलौका का उपचार[५६]—जलौका को दंशस्थान से सैंधवचूर्ण या सैंधव जल डालकर अलग करा दे। फिर उसके मुख पर सैंधव मिश्रित तैल मलना चाहिए और शरीर पर चावल का तुष मलना चाहिए इसलिए कि पिच्छिल शरीरवाली जलौका पकड़ने में सुविधा हो। फिर बायें हाथ की कनिष्ठिका और अंगुष्ठ के द्वारा पूंछ की ओर दृढ़ पकड़कर दायें हाथ के अंगूठे और उंगली से धीरे-धीरे पूंछ से मुख की ओर निचोड़े। इससे जौंक को रक्त का वमन होता है। सम्यक् वांत जलौका को सलिलसरक (जलपात्र) में या 'महति' घट में रख दें। यदि वह भक्ष्य के शोधन के लिए इधर उधर फिरने लगे तो समझना चाहिए कि जौंक को वमन ठीक हो गया है। यदि एक ही स्थान में बैठ जाये, तो असम्यग् वान्त (दुर्वान्त) समझ कर पुनः वमन करावें। यदि जलौका को वमन न कराया जाये,

और पिया हुआ रक्त को वापिस न लिया जाये तो उसे 'इंद्रमद' नामक रोग (मद) होता है। जिससे वह मर जाती है या पुनः रक्तपान करने में असमर्थ होती है यदि बहुत अधिक वमन कराया जाये तो उसे अतियोगजन्य क्लम होता है अथवा वह मर जाती है। एक बार प्रयुक्त जलौका को फिर से ७ दिन तक पुनः प्रयोग के लिए नहीं लेना चाहिए। इसलिए ये जरूरी है कि प्रयुक्त जलौका को अलग घड़े में रखें, अन्यथा उन्हें पहचानता कठिन होता है। वाग्भट ने जौंक को अलग अलग घड़े में रखने के लिए कारण दिखाते हुए कहा है कि लालास्राव के संपर्क से उनमें सबिषत्व उत्पन्न होता है इसलिए अलग अलग घड़े में मिट्टी तथा जल मिलाकर उन्हें रखें।

जौंक को वमन कराने के लिए निचोड़ते समय सावधानी से मृदु पीड़न से दबाये—अन्यथा वह पीड़नांतियोग से मर सकती है। वमन का दूसरा प्रकार यह है कि दंशस्थान से ली हुई जलौका तुरन्त सैंधवजल में डाल दे, अथवा सैंधवयुक्त तिलतैल में डाल दे। इससे वह तुरन्त वमन करती है। वमित जलौका को उसी समय पकड़कर हरिद्राजल में और शुद्ध जल में डालना चाहिए और जब पूर्णतः रक्तवमन हो गया है ऐसे लक्षण मिल जाये तब उसे घड़े में रख दे। यह विधि सरल और अनुपघाती है।

२. आतुर का उपचार—रक्तमोक्षण करते समय ही दो उपचारक को सज्ज रहना चाहिए, क्योंकि जलौकावचारण के बाद एक व्यक्ति जौंक को वमनादि शोधन करें, तथा साथ-साथ दूसरा व्यक्ति आतुर पर उपचार करें। जौंक के लालास्राव में रक्तास्कंदी (Anticoagulant) हिरुडीन नामक (Hirudin) पदार्थ होता है जो दंश से जौंक के अलग करने पर भी रक्त को जल्दी जमने नहीं देता और पर्याप्त समय तक रक्तस्राव करता है। अतएव उपचारकर्ता को चाहिए कि बिना किसी भूल के उसका रक्तस्राव बंद कराने का तथा व्रणरोपण का उपचार करें। रक्तमोक्षण के योग, अयोग तथा अतियोग के लक्षण को देखते हुए शतधौत घृत का दंशस्थान पर लेप करें अथवा अभ्यंग कर शतधौत घृत का पिचु रखें, अथवा मधु से पीड़न करें शीतपरिषेक करें या लेप करके बंधन बांध दें। अर्थात् सम्यग् योग में शतधौत का अभ्यंग या पिचु रख दें। हीनयोग में जलोकाव्रण को मधु के द्वारा अवघट्टन—पीड़न करे—ताकि रक्त स्रवित हो जाये और अतियोग में शीतजल का परिषेक कर बंधन बांध दें और मिथ्यायोग में कषाय, मधुर शीत औषधि का प्रदेह (लेप) करें। यह रक्त का प्रसादन करता है।[५६]

यहां ध्यान में रहे कि जलौका निकालने के बाद व्रण से फुआरे के समान रक्तस्राव होता है। अतएव सौराष्ट्री चूर्ण डालकर जौंक को निकालना प्रशस्त है। इससे जौंक दंशस्थान को छोड़ भी देती है, साथ व्रण का कषायरस से रक्तस्तंभन होता है। आवश्यक हो तो जात्यादितैल या पद्मकादि तैल से व्रण-बंधन करे। यह रक्त को बंद करता है। एक खास विषय ध्यान में रहे कि जौंक एक समय २ सी. सी. से १५ सी. सी. तक रक्त ज्यादा से ज्यादा लेती है। और योगायोग के लक्षण में जो प्रमाण कहा है— उतनी मात्रा में रक्त निकालना हो तो एक जौंक से काम नहीं होगा। एक साथ दो, चार या छः, जलौकाएं भी लगाई जा सकती हैं। अथवा जौंक के छुड़ा लेने पर, कुछ काल तक रक्तस्राव होने दें, और फिर बंधन बांध दें। यदि वैद्य यह समझे कि तुरन्त रक्त बंद करना है, तो भी जलौका पृथक् करने के बाद थोड़ा सा रक्त जाने देवे, और व्रणमुख को कपास या

गोजपीस से स्वच्छ करके फिर व्रणबंधन करें। इसका कारण यह है कि व्रणमुख पर रहा हुआ हिरुडीन रक्त को जमने नहीं देता, यदि उसके साथ ही धृतपिचु इत्यादि लगाया जाये तो पर्याप्त समय थोड़ा थोड़ा करके रक्त स्रवित होता रहता हैं। यह अनुभव है कि कभी कभी व्रणबंध में दो से तीन घंटे तक भी रक्तस्राव होता रहता है। इसलिए दक्षचित्त रहकर बारंबार व्रण मुख को स्वच्छ करने के बाद बंधन बांध दें।

योग—अयोग—अतियोग लक्षण[६०]—सुश्रुत वाग्भट ने जलौका स्रावण में योग में रक्त के मान का उल्लेख नहीं किया है। अशुद्ध रक्त निकल जाने पर शुद्ध रक्त जाने लगे तब— कंडवादि लक्षण देखकर जौंक छुड़ावे ऐसा कहा है। व्रण में वेदना और लालिमा की शांति होना (मूल वेदना) यह दुष्टरक्त निकल गया इसका लक्षण है। डल्हण ने टीका में रक्त का मान पुरुष बल प्रमाण, दोष बल प्रमाण, वातादिजन्य व्याधि बलप्रमाण के अनुसार रक्त स्रावण करावे—ऐसा कहते हुए पल में मान दिया है वह सिरावेध का एक प्रस्थयुक्त (१३ १/२ पल-५४ तोला) मान बताया हैं। यहां केवल शुद्धरक्त निर्गम के लक्षण देखकर, अथवा जौंक की फूली हुई अवस्था को देखकर अनुमान से जौंक निर्हरण काल निश्चित करना प्रशस्त है।

सविष जलौकादंश—लक्षण एवं उपचार[६१]—यदि भूल से जलौका सविष निकले, या पहले की निर्विष जलौका सविष हो जाये (वाग्भट मतानुसार यह संगत हैं) और उसका प्रयोग किया जाये, अथवा जलौका संग्रह करते समय सविष जलौका दंश हो जाये—तो दंशस्थान में शोथ, अत्यधिक खुजली, मूर्च्छा, ज्वर, दाह, छर्दि, मद तथा अंगसाद ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। ऐसी अवस्था में 'महागद्' नामक औषधि का पान, लेपन, नस्य आदि के द्वारा उपयोग करना चाहिए।

महागद—इसका वर्णन सर्पदंष्ट विष चिकित्सा के संदर्भ में सुश्रुत ने कल्पस्थान के पांचवें अध्याय में किया है। निशोथ, कलिहारी, मुलेठी, हल्दी, दारुहल्दी, मंजीठ, आमलतास, पांचों नमक, त्रिकटु इन सबका चूर्ण बनाकर मधु में मिलाकर सींग में भरकर रख दे। इस महाप्रभावी औषधि को महागद कहते हैं। इसके आभ्यन्तर सेवन, अभ्यंग, अंजन और नस्य से विष वेग नष्ट होता है।

सामान्यतः दंशस्थान में कंडू, दाह, शोथादि लक्षण हो तो जात्यादि तैल, जात्यादि घृत, पद्मकादि तैल इनका बाह्योपयोग तथा मंजिष्ठादि क्वाथ, आरग्वध हरीतकी क्वाथ, पुनर्नवाष्टक क्वाथ, चंद्रप्रभावटी, इनका आभ्यंतर प्रयोग प्रशस्त है।

जलौकावचारण में अवधान

१. जलौकावचारण करते समय एक बड़े सलिल सरक के अतिरिक्त अन्य अनेक छोटे छोटे कांच के पात्र, एनेमेल बाउल्स, इत्यादि जल से, सैंधव जल से, हरिद्रा जल से, सैंधव तैल से, सर्षण चूर्ण जल से भरकर रखना चाहिए ताकि प्रयोग में जिसका चाहे यथा शीघ्र उपयोग कर सके तथा दंश स्थान में प्रयत्नपूर्वक न लगी हुई, (अगृह्णाती) लगी हुई, अल्प वमित अति वमित तथा सम्यग् वमित इत्यादि जलौकाएं अलग अलग पात्र में रख सके, एवं उन्हें तदनुकल पोषण दे सके। प्रत्येक कांचपात्र पर उस प्रकार का नामांकन (लेबल-अल्पवमित, सम्यग् वमित अगृह्णाती जलौका इत्यादि) कर रखे। इससे जलौकाएं एक दूसरे में मिलेगी नहीं और प्रयोग सौकर्य होगा।

२. जलौका सामान्यतः प्रातः काल में लगावे इससे आतुरोपचार में सुविधा होती है।

३. स्त्रियों में, बालकों में भीरुओं में जौंक लगानी हो तो प्रयोग पूर्व उनकी आंखों के ऊपर पट्टी बांध दे। क्योंकि जल में होनेवाली जलौका की गतियां, उनका संकोच प्रसरणशील आकार देखकर ये आतुर भयभीत होते हैं।

४. जलौका दुष्ट व्रण से कभी कभी भयानक रक्तस्राव होता है। अतएव रक्त स्कंदन के उपाय जो आगे सिरावेध में कहे गये हैं, तैयार रखना चाहिए और यथायोग्य चिकित्सा करनी चाहिए। केवल स्वस्तिक बंधन (Cross bandage) भी रक्तस्राव बंद करने में पर्याप्त सफल होता है।

५. **अध्ययन**—आधुनिक शास्त्र के अनुसार त्वक् स्तरीय शोथ तथा रक्तसंचय हारक होने के कारण इनका—ग्रंथि, आवरककला (Seroos membrane) त्वचा, अस्थि इनके शोथ में, फुप्फुस शोथ (Pheumonia) में, फुप्फुसावरणशोथ (Pleuricy) हृच्छोथ (Myocarditis), कर्णमूलग्रंथि शोथ (Parotitis), हृदयावरण शोथ (Pericarditis), मस्तिष्क शोथ (Meningitis), गलातग्रंथि शोथ (Tonsillitis), में तथा विद्रधि, मोच, आघातादि से रक्त जमने की अवस्था में उपयोग करना चाहिए। वर्षों पहले यूरोप और अमेरिका के चिकित्सक इसका अतीव उपयोग करते आये हैं।

सिराव्यध

सिरावर्णन[६२]—सिर, धमनी, रक्तवह, स्रोतस ये शरीर के रसरक्त का संवहन करने वाले अवयव हैं। यद्यपि इन अवयवों की परिभाषा संदिग्ध और व्यक्तिगत मतभेद से रहित नहीं है तथापि यहां शिरामोक्षण के कर्म की दृष्टि से विचार प्रस्तुत किया जाता है। सुश्रुत ने सिराओं की ७०० संख्या दी हैं और वाग्भट ने इसी का अनुसरण किया है। शरीर में इनकी संख्या निश्चित करना वस्तुतः बहुत कठिन है। स्थूल रूप में उपर्युक्त प्रकार का विवेक किया गया है। सिराओं में सरण कार्य होता है और इनसे शरीर का पोषण होता है। इस पोषण के दो प्रकार है। (१) उपस्नेहन तथा (२) अनुग्रहण। उपस्नेहन वह प्रकार है जिसमें रसरक्त स्रवण पद्धति से (Ozzing method) अपने स्थान पर जाकर शोषण करते हैं। जिस तरह बड़े बड़े जलाशयों में रहनेवाले जल-स्रवण होकर आस पास के किनारों पर रहने वाले वनस्पतियों का पोषण होता है, इसमें सूक्ष्म छिद्रों से स्रवण कार्य होता है—उसी तरह सिराओं के द्वारा धातु के अणु परमाणु स्तर पर उपस्नेहन प्रकार से पोषण कार्य होता है। अनुग्रहण वह है जिसमें कूल्या के द्वारा पोषण होता है। जिस तरह उपवन में (आराम) बगीचे में खेतों में—कूल्या—जलहारिणी— (नहरों) के द्वारा जल पहुंच कर पोषण करती है, वैसे ही सिरा द्वारा संवहन या सरण होनेवाला रसरक्त विशिष्ट स्थान में पहुंच कर पोषण करता है। उपस्नेहन में कूल्या के बिना पोषण है और अनुग्रहण में कूल्या से पोषण है यह दोनों में फरक है। ये दोनों कार्य सिराओं के आकुंचन प्रसरणादि कार्य से संपन्न होते हैं। उपग्रहण और उपस्नेहन सूक्ष्म—सुक्ष्मतर—सूक्ष्मतम पोषण के सूचक हैं।

सिराओं के आगे आगे प्रतान होकर द्रुमपत्र (पेड़ के पत्तों पर) पर रहनेवाली सिरा

जलिकाओं के समान उनकी सूक्ष्म-सूक्ष्मतम रचना त्वक्स्तरीय परमाणु अवयव तक हो जाती हैं। इनका मूल 'हृदय' होता है—अष्टांग संग्रह में कहा है कि मूलस्थान में इनका प्रमाण यव के जितना होता है तथा आगे आधा यव तथा द्रुमपत्र सेवनीयों के समान हो जाता है। ये सिराएं हृदय से सर्वांग को ओज पहुँचाती हैं। चरक ने हृदय से निकलनेवाला ओजवह धमनियां द्वारा ओज का प्रसारण होता है ऐसा कहा है—और इनका कार्य 'रसात्मक ओज' का वहन करना कहा है जो वस्तुतः रसरक्त धातु ही है। यहां जिन्हें धमनी कहा गया है, और जो रस का संवहन करती है ऐसा कहा हैं वे सिरा के समान ही अवयव हैं।

सिराओं में वस्तुतः रसरक्त का संवहन होता है—और उसे ओज भी पर्याय कहा गया है। जिनमें सरण होता हैं वह सिरा कहलाती है, जिनमें स्रवण ही उसे स्रोत कहा जाता है और जिनमें धमन हो उसे धमनी कहा जाता है। सिरा और धमनी को क्रमशः व्हेन (Vein) और आर्टेरी (Artery) के तौर पर लेने की वैद्यों में मान्यता है—तथापि इन दोनों के द्वारा कोषिकाएं (Capillaries), व्हेनस (Veins), आर्टेरीज (Arteries), तथा नर्व्ह (Nerves) का भी बोध हो सके ऐसे उद्धरण संहिता में मिलते हैं। यहां अधिक भ्रम में न पड़ते हुए यह समझना चाहिए—कि स्रोत, सिरा, धमनी, रसायनी, रसवाहिनी, नाड़ी पंथ, मार्ग, शरीर च्छिद्र, संवृतासंवृत, स्थान, आशय, क्षय, निकेत—सब शरीरधात्वाकाश के लक्ष्य (निर्देश्य) और अलक्ष्य (अनिर्देश्य) अवयवों के नाम है[६३] और मृत शरीर में विच्छेदन करते समय वे इतने मिलजुल जाते हैं कि उनकी निश्चित पहचान भी संशयातीत नहीं रहती। अतएव ऐसा नामांतर शास्त्र में मिलता है— फिर भी कार्य व्याप से कुछ तत्वों को समझना चाहिए और इनका वैद्यकीय उपयोग (Medical or practical Application) पर अधिक विचार करना चाहिए।

सिरा के चार प्रकार हैं। वातवह, पित्तवह, कफवह और रक्तवह सिरा। इन प्रत्येक सिरा की १७५ शाखाएं होकर कुल ७०० सिरा संख्या होती हैं। वातवह सिरा को अरुणा कहा जाता है। संभवतः अरुणवर्ण के कारण ये सब प्रकार की चेष्टाएं बुद्धीन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों के कर्मों में व्यवस्थित ज्ञानप्रवृत्ति कराना, ये कार्य करती हैं। इनमें जब वात का प्रकोप होता है तो अनेक वात रोग उत्पन्न होते हैं। वाग्भट ने इन्हें श्यावारुण वर्ण वाली तथा प्रस्पंदन करने वाली और वात का वहन करने वाली सिरा कहा है। अरुणा का कर्म वस्तुतः वातवाहिनी नाड़ी (Nerve) के समान है। अतएव इनसे रक्त का मोक्षण करने का प्रश्न उपस्थित नहीं होता।

पित्तवह सिराओं को नीला-नील वर्ण के कारण—कहा जाता है। अग्नि को दीप्त करना, अन्नपान में रुचि करना, शरीर वर्ण को प्रसन्न बनाना, ये काम इनसे होता है। इनमें पित्त का प्रकोप होने पर अनेक पित्तरोग उत्पन्न होते हैं। वाग्भट ने पित्तवह सिरा को स्पर्श में उष्ण रहनेवाली, जल्दी से रक्तवहन करने वाली, नील पित्तरक्त का वहन करनेवाली सिरा कहा है। इनको व्हेन (Vein) समझा जा सकता है और रक्तमोक्षण में इनका अनन्य साधारण महत्त्व है। कफ को वहन करने वाली सिरा को गौरी कहा जाता है और वे स्नेहन करती हैं। वाग्भट ने इन्हें स्निग्ध, शीत और स्थिर सिरा कहा है। इनका कर्म— लिम्फॅटिक (Lymphatics) के समान है तथा संधिस्थान की कुछ कलाओं (Membranes) के सदृश है—इनमें कफ का प्रकोप होने पर अनेक कफ रोग उत्पन्न होते हैं।

चौथी सिरा रोहिणी नामक होती है जो केवल शुद्ध रक्त को वहन करती है। यहां शुद्ध और अशुद्ध रक्त ये संज्ञाएँ ऑक्सीजन संयुक्त (Oxigenated) रक्त तथा ऑक्सीजन विहीन रक्त (Unoxigenated) के लिए दी हुई प्रतीत होती है। धातुओं का पोषण करना, वर्ण को उज्वल करना, असंदिग्ध स्पर्शज्ञान करना, ये कार्य इनमें स्थित रक्त करता है। जब इनमें रक्त का प्रकोप होता है तो अनेक रक्त के रोग उत्पन्न होते हैं। इनको आर्टेरी कहा जा सकता है। वाग्भट ने इनको गूढ़स्थान में रहने वाली सिरा और शुद्ध रक्त को वहन करने वाली सिरा कहा है। ये सभी सिराएं केवल वात, केवल पित्त, केवल कफ का वहन नहीं करती, अपितु सभी में सभी का वहन करती है, तथापि तत्तद् सिरा में तत्तद् दोष का प्राधान्य समझना चाहिए।

इनमें से प्रायः नील सिरा (Vein) का ही व्यध न किया जाता है। क्योंकि ये स्तरीय रक्त को हृदय की ओर ले जाती है— और दुष्टियाँ प्रायः स्तरीय रक्त में होती हैं। पित्त के प्रकोप से रक्त का भी प्रकोप होता है और इनमें आश्रयाश्रयी भाव है। रोहिणी में शुद्ध रक्त का वहन होता है— और वे हृदय से स्तरीय धातु की ओर ले जाती हैं। ये गंभीर रहती हैं और नियमानुसार गंभीर सिरा का व्यधन नहीं करना चाहिए। इनको अवेध्य सिरा कहा गया है। अरुणा-गौरी के मोक्षण का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

कुल सिराओं की ७०० संख्या सुश्रुत और वाग्भट ने दी है। वेध्य और अवेध्य सिरा का वर्णन करते समय दोनों में कुछ अलग दृष्टिकोण मिलता है। इनकी संख्या का गौणत्व समझा जाये तो वेध्य अवेध्य सिरा के स्थानों में मूलतः कोई मतभेद इनमें दृष्टिगोचर नहीं होता।

शाखा में कुल ४०० सिरायें (प्रत्येक में एक सौ) होती हैं इनमें १६ सिरा अवेध्य होती है। श्रोणि में कुल ३२ सिराएं होती हैं जिनमें ८ अवेध्य हैं। पार्श्व में कुल १६ सिराएं होती हैं जिनमें ४ अवेध्य सिरा हैं। पृष्ठ में कुल २४ सिराएं होती हैं जिनमें ४ अवेध्य सिरा हैं। उदर में कुल २४ सिराएं होती हैं जिनमें चार अवेध्य सिरा है। वक्ष में ४० सिराएं होती है जिनमें १४ अवेध्य सिराएं होती हैं। यहां तक दोनों ग्रंथ में मतैक्य है। ग्रीवा में सुश्रुत ने कुल ५६ सिराएं कही हैं, जहाँ वाग्भट ने २४ गिनी है, इनमें अवेध्य सिराएं दोनों ने १६ कही हैं। हनु में कुल १६ सिराएं कही गयी हैं, जिनमें अवेध्य २ हैं। जिह्वा में सुश्रुत ने कुल ३६ सिराएं और वाग्भट ने १६ सिराएं कही हैं। इनमें अवेध्य ४ में दोनों का एक मत है। नासा में कुल २४ में ५ अवेध्य सिराएं कही गयी हैं। एकमत है। नेत्र में सुश्रुत ने ३८ और वाग्भट ने ५६ सिराएं गिनी है, इनमें सुश्रुत ने ६ और वाग्भट ने १३ अवेध्य सिराएं कही हैं। डल्हण ने टीका में ३६ कुल सिराएं नेत्र में गिनी है। कर्ण में सुश्रुत ने १० और वाग्भट ने १६ सिराएं कही है। दोनों के मत से इसमें अवेध्य दो सिराएं हैं। शंख प्रदेश में सुश्रुत ने १० और वाग्भट ने १६ सिराएं गिनी हैं। इनमें अवेध्य २ हैं जिसमें मतभेद नहीं है। मूर्धा में दोनों ने १२ सिराएं कही हैं। जिनमें अवेध्य ८ सिराएं हैं। उपर्युक्त विषय स्थानादि में साथ आगे तालिका में तुलनात्मक अध्ययन के लिए स्पष्ट किया है। वह तालिका देखें।

इनका अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि जो प्रायः गंभीर सिराएं होती हैं, जो

वात नाड़ी (Nerve) का काम करने वाली होती है किसी नाजुक अवयव में स्थित होती है उसे अवेध्य कहा है। उदाहरण—जिह्वा में वातवह और रसवह सिरा को, कर्ण में शब्द वाहिनियों को, नांसा में गंध वाहिनी को, अवेध्य कहा है, मातृका, नीला, स्थपनी, अधिपति, उर्वी, लोहिताक्ष, जालधरा आदि गंभीर स्थान की सिराएं हैं।

सिरामर्म[६४]—उपर्युक्त के अतिरिक्त मर्मो में सिरामर्म नामक प्रकार है। मर्म वह है जो अभिहत होने पर मनुष्यों को मारता है—भयंकर आत्यथिकता उत्पन्न करता है मारयंतीति मर्माणि ऐसा कहा है। सिरा के द्वारा निर्मित कुल ४१ मर्म हैं। इनमें ४ धमनियां, ८ मातृका, ४ श्रृंगाटक, २ अपांग, एक स्थपनी, २ फणा, २ स्तनमूल, दो अपस्तंभ, २ अपलाप, १ हृदय, १ नाभि, २ पार्श्व संधि, २ बृहती, ४ लोहिताक्ष, ४ उर्वी इस तरह कुल ४१ सिरामर्म हैं ये स्वभावतः ही शस्त्र कर्म में परिहर्तव्य हैं। इनको हाथ नहीं लगाना चाहिए। मर्मो के बारे में कहा है कि इनमें मांस, सिरा, स्नायु, अस्थि, संधि इनका एक स्थान में सन्निपात होता है। इनमें स्वभावतः प्राण रहते हैं अतः उनके अभिघात से तत्तद् भाव (सद्यः प्राणहरादि) उत्पन्न होते हैं। इसी तरह वातवह सिरा, पित्तवह सिरा, इत्यादि जो चार प्रकार की अरुणा, नीली, गौरी, रोहिणी सिराएं कही हैं—वे प्रायः मर्म में संनिविष्ट होकर स्नायु, अस्थि संधि, मांसादि का पोषण करती हैं। शरीर का वर्धन करती हैं। इन मर्मों को विज्ञ वैद्य सुरक्षित रख कर्म करे।

वेध्यावेध्य सिराएं—तालिका

	सुश्रुत	वाग्भट(अ. हृ. + अ. सं.)	
स्थान तथा कुल संख्या	अवेध्य सिराएं	स्थान तथा कुल संख्या	अवेध्य सिराएं
शाखा १०० × ४ = ४००	जालधरा १ × ४ = ४ उर्वी २ × ४ = ८ लोहिताक्ष १ × ४ = ४	शाखा १०० × ४ = ४००	जालंधरा १ × ४ = ४ उर्वी २ × ४ = ८ लोहिताक्ष १ × ४ = ४
श्रोणि ३२	विटप २ × २ = ४ कटीक तरुण २ × २ = ४	श्रोणि ३२	विटप = ४ कटीक तरुण ४
पार्श्व १६	उर्ध्वगा १ × २ = २ पार्श्वसंधिगत १ × २ = २	सुश्रुतवत्	सुश्रुतवत्
पृष्ठ २४	बृहती १ × २ = २ उर्ध्वगा १ × २ = २	सुश्रुतवत्	सुश्रुतवत्
उदर २४	मेढ्रोपरि रोमराजी के उभय बाजू में २ × २ = ४	सुश्रुतवत्	सुश्रुतवत्

	सुश्रुत	वाग्भट(अ. हृ. + अ. सं.)	
स्थान तथा कुल संख्या	अवेध्य सिराएं	स्थान तथा कुल संख्या	अवेध्य सिराएं
वक्ष ४०	हृदय २ स्तनमूल २ × २ = ४ स्तनरोहित २ × २ = ४ अपलाप १ × २ = २ अपस्तंभ १ × २ = २ कुल १४	सुश्रुतवत्	सुश्रुतवत्
ग्रीवा ५६	मर्मसंज्ञक = १२ (मातृका, नीला मन्या) कृकाटिका = २ विधुर = २ कुल = १६	ग्रीवा = २४	नीला = २ कृकाटिका = २ मन्या = २ विधुर = २ मातृका = ८ कुल = १६
हनु १६	हनुसंधिगत २	हनु १३	संधिगत २
जिह्वा ३६	रसवह २ वातवह २	जिह्वा १६	रसवेदिनी २ वाकप्रवर्तिनी २
नासा २४	औप्यनासिक्य ४ तालु १	नासा २४	गंधवेदिनी २ तालु १
नेत्र ३८ डल्हण ३६	अपांग— १ × २ = २ केशांतगा ४ आवर्त २ स्थपनी १ कुल ६	नेत्र ५६	उन्मेषक्रिया-वाली २ निमेष-क्रिया- वाली २ अपांगगत २ केशानुगा ४ आवर्त २ स्थपनी १ कुल १३
कर्ण १०	शब्दवाहिनी— १ × २ = २	कर्ण १६	शब्दवाहिनी २
शंख १० मूर्धा १२	शंखसंधिगत २ उत्क्षेप २ सीमंत ५ अधिपति १ कुल ८ कुल अवेध्य सिराएं ६८	शंख १६ मूर्धा १२	शंखसंधिगत २ उत्क्षेप २ सीमंत ५ अधिपति १ कुल ८ कुल अवेध्य सिराएं १००

सिरा व्यध विधि—सिरा व्यध का अर्थ है सिरा को बींधना। सिराएं स्वभावतः चंचल होती हैं, और पकड़ने का प्रयत्न करने पर मछलियों के समान फिसल जाती हैं, अपनी स्थिति बदलती हैं, जिससे यंत्र और शस्त्र में से छूट जाती हैं। स्वतः कोई शिक्षित-या निपुण नहीं होता— अतः प्रयत्न पूर्वक सिरा के विषय में नैपुण्य प्राप्त करना चाहिए।[६५]

सिराव्यधन विधि को पूर्वकर्मादि विषय के अनुसार वर्णन करने के पूर्व एक बात यहां स्पष्ट करनी है कि नीचे लिखी हुई यंत्र शस्त्रादि के साथ कथित विधि शास्त्रानुसार कही गयी हैं। सिरावेध के लिए आज उत्तम उपाय इंजेक्शन सिरींज द्वारा रक्त निकालना यही है। ग्रंथ में जो विधि कही गयी है, उसमें सिरा का प्राचीन काल में प्रत्यक्ष वेधन किया जाता था ऐसा स्पष्ट होता है। आजकल अत्यधिक अवस्था में मेदस्वी पुरुषों में—जल्दी सिरा न मिलने पर जिस तरह प्रत्यक्ष छेदन (Direct cut) कर पांव में सिरा को (इंजेक्शन के लिए) पकड़ा जाता है, यह पद्धति कुछ प्राचीनों के सिरावेध से मिलती जुलती है। कुठारिका शस्त्र, ब्रीहिमुख शस्त्रों का उपयोग पहले के जमाने में किया जाता था। कुठारिका शस्त्र से ऊपर की त्वचा में प्रथम भेदन किया जाना ही संभव है। जो यवादि प्रमाण में करने का निर्देश है। फिर सिरा को पकड़कर ब्रीहिमुख से रक्त को स्रवित किया जाता था। आजकल जिस तरह सिरींज से रक्त खींच लिया जाता है और कांच की बरनयों में भर दिया जाता है, उसी तरह रक्त को सुरक्षित रखने की प्रथा संभवतः नहीं थी। रक्त की प्रत्यक्ष बहाया जाकर अनुमानतः प्रमाण का निश्चय कर रक्तविस्रावण बंद किया जाता था। इसीलिए सिरावेध करते हुए सिरा संपूर्णतया नहीं कट जाये इसका ध्यान रखने के लिए बारंबार ग्रंथ में निर्देश मिलता है। इस कर्म में व्यापद की भी संभावनाएं अधिक रहती थी। सुश्रुत ने कहा है कि यंत्र और शस्त्रों का उपयोग अपनी कल्पना के अनुसार कर अन्यान्य शिरोस्थापन—शिरावेधादि के उपाय किये जा सकते हैं।[६६] ऐसे उपाय व्याधि तथा शरीर के स्थान के अनुकूल होने चाहिए इतना ही वहाँ आगम है। इससे इंजेक्शन सिरींज का उपाय ग्राह्य समझना चाहिए। तथापि आज भी कतिपय परंपरा प्रिय वैद्य पूर्ववत प्रत्यक्ष वेध करते हैं— और सफल चिकित्सा करते हैं ऐसा देखा जाता है।

१. पूर्वकर्म—पूर्वकर्म में

१. सिराव्यधन योग्य आतुरों का विचार।

२. उपकरण सिद्धता।

३. आतुर सिद्धता। इन तीन कर्मों पर विचार करना चाहिए।

१. सिराव्यध योग्य आतुरों का विचार—रक्तप्रदुष्ट सभी विकारों में सिरामोक्षण करना चाहिए। वाग्भट ने विशेषतः विसर्प, विद्रधि, प्लीहावृद्धि, गुल्म, अग्निमांद्य, ज्वर, मुखरोग, नेत्ररोग, मद, तृष्णा, लवणास्यता (मुंह में नमकीन स्वाद रहना), कुष्ठ, वातरक्त, रक्तपित्त, कटु अम्लोद्गार और भ्रम इन विकारों को सिवावेधन के लिए योग्य कहा है। इसी तरह जो रोग-शीत, उष्ण, स्निग्ध रुक्षादि चिकित्सा करने पर भी शांत नहीं होते उनको रक्तज समझकर उनमें सिराव्यध द्वारा रक्त निकालना चाहिए।

सिराव्यध्य के लिए अयोग्य—जो कमसीन हैं, बूढ़े हैं, अत्यंत रुक्ष शरीर वाले हैं, क्षतक्षीण, डरपोक, श्रांत, मद्यपीत, खूब चलने के परिश्रम से थके हुए व्यवाय के कृश, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन दिए हुए, रात्रि जागरण किए हुए, क्लैव्य, कृश, गर्भिणी, कास, श्वास, शोष, तीव्र ज्वर, आक्षेपक, पक्षाघात, उपवास पिपासित, मूर्च्छादि से पीड़ित आतुर है—उनमें सिरावेध नहीं करना चाहिए। इसी तरह वेधन योग्य सिरा भी यदि वह दिखाई न देती हो, दिखाई देने पर भी योग्य प्रकार से नियंत्रित न की जाती हो, नियंत्रण की जाने पर यदि उन्नत न की जा सकती हो तो उनका भी वेधन न करें।[६७]

सिरा वेधनार्थ काल—पहले कहा गया है कि जब अधिक ठंडी न हो, अधिक गरमी

न हो, तेज ठंडी हवा न चलती हो ऐसे समय सिरा का व्यधन करना उचित होता है। अत्यंत ठंडी हो तो सिरा से रक्तस्राव बराबर नहीं होता, अत्यधिक गरमी हो तो अतिस्राव, पित्तजन्य भ्रम, दाह, मूर्च्छादि रोग संभव होते हैं, और तेज हवा के चलत हुए सिरा का नियंत्रण ठीक तरह नहीं हो सकता।[६८] वर्षा ऋतु में निरभ्र आकाश में, ग्रीष्म ऋतु में, शीत समय में और शीत ऋतु में उष्णकाल (मध्याह्न) में रक्तमोक्षण करे। यदि आतुर अत्यधिक अवस्था में हो तो असिरावेधनार्ह का तथा किसी भी काल में सिरावेध किया जा सकता है।[६९] बहुत ठंडी में सिरावेध करना हो तो आतुर को 'कुटीस्वेद' या होलाक स्वेद विधि से गरम कमरे में विठाकर, सिरा स्थान में ताप स्वेद कराकर रक्तमोक्षण कर सकते हैं एवं बहुत गरमी में शीत भवन में—वायुवीजन के साथ सिराव्यध कर सकते हैं। इसी तरह तेज हवा में निवात स्थान में सिवावेध किया जा सकता है।

२. उपकरण सिद्धता—सिरावेधन कर्म के लिए निम्नलिखित साधन सामग्री तैयार रखनी चाहिए।

१. कुठारिका शस्त्र—यह शस्त्र चौड़ा, गाय के दांत समान और मुखपर आधे अंगुल प्रमाण का होता है। इसके हत्थे को सीधा ऊपर दंडाकार पकड़कर अस्थियों की ऊपर की सिरा विंधी जाती है। यह शस्त्र क्षत करने में भेदन के लिए काम आता है। इसके उपयोग की पद्धति यह है कि बाये हाथ से गात्र को पकड़कर दायें हाथ की मध्यांगुली और अंगूठे के बीच कुठारिका पकड़ कर चोट करे।[७०]

२. ब्रीहिमुख शस्त्र—ब्रीहिमुख शस्त्र का फलक डेढ़ अंगुल होता है। इसका उपयोग सिर एवं उदर के सिरा वेधनार्थ निर्दिष्ट है। यह विस्रावण के लिए उपयोगी है— वृत्ताग्र भाग को पकड़ कर इसका उपयोग कर।[७१]

३. त्रिकूर्च शस्त्र—इसमें ३ कूर्चाएं लगी होती है। कूर्चिका सूई का नाम है। यह शस्त्र राजाओं, बालकों, भीरु, स्त्रियों तथा सुकुमारों के लिए रक्तविस्रावण कर्म में उपयोगी है।[७२]

उपर्युक्त सभी शस्त्रों के बदले, ५ सी. सी., १० सी. सी. या २० सी. सी. या ५० सी. सी. वाली सिरींज का उपयोग करना अनुचित नहीं है।

४. रक्त का विश्लेषणात्मक परीक्षण करना हो तो स्कंदनावरोधी औषधि (सोडियम साइट्रेट) को तैयार रखे। कांचपात्र, बिस्चुरी, आर्टरी फॉरसेप्स (Artery forceps), चाकू (Knife) कर्तरिकाएँ, रबर ट्यूब, कनेक्शन ट्यूब, कांच की बरनियां (रक्त संग्रहार्थ इत्यादि वस्तुएं) यथावश्यक उपयोगार्थ तैयार रखनी चाहिए।

५. कर्पास — कपास शुद्ध (Sterlised), एवं व्यवस्थित जमाया हुआ (Pads) तैयार रखना चाहिए।

६. पिचु प्लोत (गोझ पीस), रस्सी बंधन (Bandages) पट्ट, कपड़ा यंत्रशाटक (वल्कल, चर्मादि) इत्यादि अवयव नियंत्रण, रक्तमोक्षणोत्तर बंधनादि के लिए तैयार रखें।

७. जात्यादि तैल, जात्यादि घृत, सौराष्ट्री, चूर्ण, उदुंबर सार, दग्धकर्म के लिए शलाका ये व्रणकर्म तथा विस्राव निरोधनार्थ संग्रहित करें।

८. शृंग, जलौका, अलाबु ये अनुशस्त्र तैयार रखे। सिरावेध न हो तो इनका उपयोग करने के लिए तथा सिरावेध के बाद शेष दोषों का विस्रवण करने के लिए इनका निर्देश है।

३. **आतुर सिद्धता**[७३]—सिरावेधन के पूर्व स्नेहन और स्वेदन करना चाहिए। स्नेहन बाह्य और आभ्यंतर दोनों करना चाहिए। प्रायः तिक्तघृत, पंचतिक्तघृत, गुग्गुल, महातिक्त घृत, खदिरादि, घृत, ये स्नेहपानार्थ उत्तम है। स्नेहपान क्रम आभ्यंतर दोषों के उत्क्लेश के लिए आवश्यक होता है। यदि त्वचा पर पिड़का, कंडू, विचर्चिकादि विकार हो तो बाह्य स्नेहनार्थ करंज तैल, निंबु तैल, मरिच्यादि तैल, वाकुची तैल, तुवरक तैल इत्यादि का यथावश्यक उपयोग करें। अन्यथा केवल तिल तैल, क्षीरबला तैल, चंदनबला लाक्षादि तैल आदि का अभ्यंग करना भी उचित है।

स्वेदन के लिए—सार्वदैहिक दोष में जब त्वचापर अस्वेदनीय व्याधि न हो तब वाष्पस्वेद करें। अन्यथा स्थानिक तापस्वेद वस्त्र-जल-बालुका-हस्त द्वारा करे।

स्निग्ध स्विन्न आतुर का रक्तमोक्षण करने का निर्देश किया गया है। कुछ लोग जिस शिरा का वेधन करना हो वहां पर स्थानिक अभ्यंग और स्वेदन करने का अर्थ करते हैं; किंतु सिरावेध सर्वांग दोष में उपयोगी उपक्रम होने से केवल स्थानिक स्नेहन स्वेदन उचित नहीं है। बल्कि ऊपर लिखे हुए प्रकार से सार्वदैहिक कर्म करना चाहिए। दूसरी बात—सिरावेधन के समय स्थानिक स्नेहन नहीं करना चाहिए। इससे सिरा का यंत्रण ठीक तरह नहीं हो सकता। स्नेहन स्वेदन कर्म पूर्व दिन तक करना उचित है और वेधन समय केवल तापस्वेद करना चाहिए।

भोजन—वेध्य आतुर को द्रव प्रधान भोजन देना चाहिए। यवागु का सेवन करावें। सिरावेध के पूर्व भोजन (लघु) देना जरूरी है। अन्यथा अल्पसत्व आतुर रक्तदर्शन से या रक्तगंध से मूर्च्छित हो जाते हैं। भोजन के बाद यथाकाल उसे योग्य आसन में बिठाकर या लिटाकर, खड़ाकर, वस्त्र से, पट्ट से, चर्म से या वृक्षादि के अंतर्वल्कल से योग्य प्रकार से बांधकर सिरा उत्थापित कर वेधन करना चाहिए।

प्रधान कर्म—प्रधान कर्म में निम्नलिखित कर्मों का समावेश होता है।

१. सिराव्यधनार्थ आसन
२. रोगानुसार वेध्य सिराओं का विचार
३. सिरावेध में निरीक्षण एवं उपचार
४. दुष्टविद्ध सिराओं का निरीक्षण

१. **सिराव्यधनार्थ आसन**—सिरावेध के लिए भिन्न-भिन्न सिराओं के नियंत्रण के लिए भिन्न आसन में आतुर को रखना होता है।

१. **शिरस्थ सिरावेध**[७४]—रोगी का स्नेहन कराकर सभी उपकरणों को तैयार रखकर, बलवान रोगी को स्निग्ध, द्रवान्त, यवागु, सेवन कराकर स्वस्तिवाचन कराकर, अग्नि तथा धूप से स्वेदन कराकर पसीना आने के बाद घुटने-योग्य आसन पर बिठावें। टांगों को घुटने में से मोड़कर, दोनों कोहनियाँ घुटने पर रख, अंगूठे को अंदर दबाकर मुट्ठियां बंद कर मुट्ठियों को गर्दन पर रख दें। फिर गर्दन और मुट्ठियों को यंत्रण शाटक से (बांधने के लिए प्रयुक्त मजबूत वस्त्र पट्ट) लपेट लेवें। यह वस्त्र इस तरह लपेटे कि मुट्ठियां और

गर्दन को लपेटकर कपड़े के दोनों छोर घुमाकर पीछे आवे। पीछे एक सहायक दोनों छोर को बायें हाथ में पकड़कर खड़ा रहे। वैद्य शस्त्र सज्ज होने पर सहायक को दाहिने हाथ का छोर धीरे-धीरे कसने को कहे—वस्त्र के कसते हुए—वैद्य मूर्धस्थ सिरा का उत्थापन देखता रहे।

जब सिरा उत्थापित दृगोचर हो जाये तो शस्त्र से उसका बेधन करें। रक्त का निर्हरण ठीक हो इसलिए पीठ के मध्य में कपड़े को खींचना चाहिए। रोगी मुख में हवा भरकर बैठे। यह विधि सिरा के—आभ्यंतर मुखवाली सिराओं को छोड़कर अन्य सिराओं के बेध के लिए है।

२. **पाद सिरावेधन**[७५]—पैर को सिरा बीधता हो तब रोगी के पांव समान स्थान पर व्यवस्थित रूप से रख दें। दूसरे पांव को थोड़ा संकुचित कर ऊपर उठाकर रखें। व्यध्य पांव के घुटने के नीचे यंत्रण शाटक बाँध दें। हाथ से गल्फस्थान में धीरे-धीरे पीड़न करे, अथवा गुल्फ के ऊपर जहां बेधन करना हो—वहां प्लोत (वस्त्र), चमड़ा आदि से बांधकर उत्थापित सिरा का बेधन करे।

३. **हस्तसिरा बेधन**[७६]—हाथ की सिरा बीधना हो तब अंगूठे को मुठ्ठी के अंदर दबा कर अच्छी तरह आसन पर बिठाकर कूर्पर के पास वस्त्र से बांधकर उत्थापित सिरा का बेधन करें।

४. **अन्यत्र**[७७]—दोनों हाथों को लंबा लटकवा कर पार्श्व में सिराबेध करें। श्रोणि और स्कंध के सिराबेध के लिए पीठ को झुका कर बिठाकर सिराबेध करें। गृध्रसी और विश्वाची में—घुटने और कोहनी को संकुचित कर सिरा का बेधन करें। पेट और छाती में सिराबेध करना हो तब शिर को ऊंचा कर छाती और मध्य शरीर को फैलाकर सिरा दिखाई देने पर बेधन करें। मेढ्र में मेढ्र को बिना झुकाये सिराबेध करें। चिह्वा में जिह्वाग्र को दबाकर नीचे सिराबेध करें। तालु और दंत की सिरा बेध में मुख को खोलकर सिराबेध करें।

सामान्यतः जहाँ की सिरा बीधना हो वहाँ स्थान के ऊपर यंत्रशटक बांध कर सिरा को हस्तांगुलियों में ताड़न कर जब स्पष्ट दिखाई दे तब कुठारिका लगावें और कुठारिका द्वारा भिन्न सिरा में आवश्यक हो तो ब्रीहिमुख या अन्य शस्त्र लगाकर रक्त को बहावें। मांसल स्थान में १ यव प्रमाण का बेध करें, अन्यत्र आधा यव प्रमाण में व्यध करें।[७८] अथवा ब्रीहिमुख प्रमाण का बेध करें। अस्थि के ऊपर सिरा हो तो कुठारिका से आधा यव प्रमाण में बेध करें।

२. **रोगानुसार बेध्य सिराओं का विचार**—रोगानुसार जिस जिस सिरा का बेध करने के लिए शास्त्र में कहा गया है, उनका विवरण सुश्रुत तथा वाग्भट के मतानुसार—तालिका में स्पष्ट किया है। इससे स्पष्ट होता है कि प्रायः विकृति जिस अधिष्ठान में है उस अधिष्ठान से आगे जाने वाली सिरा का ऊपर के भाग में व्यधन किया जाता है। जिससे दुष्ट दोषों का अन्यत्र विसर्पण रोका जा सके। उदाहरण—तालिका में क्रम १, २, ३, ४, १३, १४, १६, २०, २१, २२, २५ इत्यादि से इस प्रकार की सिराएं हैं जो अधिष्ठान के सानिध्य में है।

तथापि कुछ ऐसी सिराओं का व्यधन करने का उल्लेख भी मिलता है, जिनमें रोगानुसार कारण कार्य भाव संबंध दिखाना संभव नहीं है—अथवा अब तक स्पष्ट ज्ञान नहीं है। हो सकता है इस पर आगे कुछ मालुमात मिल सके। उदाहरण—तालिका में निर्दिष्ट क्रम ६-गलगंड में उरुमूल की सिरा का व्यधन, क्रम ७-प्लीहारोग में वामकूर्पर की सिरा का व्यधन, क्रम ८-यकृतरोग में दक्षिणकूर्पर सिरा का व्यधन, क्रम ५-अपची में इंद्रबस्ति मर्म के दो अंगुल नीचे सिरा व्यधन। शिरःशूल, शिरोरोग, ग्रंथि, पिड़का, वातरक्त, गृध्रसी शूल, इत्यादि रोगों में देखा जाता है कि सिराबेध से तुरन्त रोगप्रशम मिलता है।

वाग्भट ने कहा है कि जो सिरा जिस रोग में व्यधन करने के लिए कहा गया है यदि वह दिखाई न दे यंत्रित न हो तो उसके समीप में—जो मर्म को लगी हुई न हो ऐसी अन्य का व्यधन करना चाहिए।[७९]

रोगानुसार सिराबेध तालिका[८०]

क्र.	रोग नाम	सुश्रुत-बेध्य सिरा	वाग्भट बेध्य सिरा
१.	पाददाह, हर्ष, अवबाहुक चिप्प, बिसर्प, वातरक्त, विचर्चिका, पाददारि, वात कंटक	क्षिप्र मर्म के ऊपर दो अंगुले पर	अवबाहुक, विसर्प विचर्चिका छोड़ कर इन शेषरोग में क्षिप्रमर्म के ऊपर दो अंगुलपर सुश्रुतवत्
२.	क्रोष्टुक शीर्ष खंज, पंगु वातवेदना	जंघा में गुल्फ के ऊपर चार अंगुल पर सिराबेध करें	सक्थिशूल तथा क्रोष्टुक शीर्ष में गुल्फ के ऊपर, ४ अंगुल पर सिराव्यधन
३.	गृध्रसी में	जानुसंधि के ऊपर या नीचे ४ अंगुल पर सिराव्यधन करें	तद्वत्
४.	विश्वाची	कूर्पर संधि के नीचे या ऊपर चार अंगुलपर	तद्वत्
५.	अपची	बस्ति मर्म के दो अंगुल नीचे (जंघा में)	तद्वत्
६.	गलगंड	उरुमूल में रहनेवाली सिरा	उरुणा शिरा का बेधन
७.	प्लीहा रोग	वामबाहु में कूर्पर संधि की सिरा का अथवा कनिष्ठिका और अनामिका के बीच में स्थित सिरा	—
८.	यकृदाल्युदर, कफोदर कास, श्वास	दक्षिणबाहु में कर्पूर के पास या दक्षिण अनामिका और कनिष्ठिका अंगुली के बीच की सिरा	—

क्र.	रोग नाम	सुश्रुत-बेध्य सिरा	वाग्भट बेध्य सिरा
९.	प्रवाहिका, शूल	श्रोणि के पास दो अंगुल की सिरा	सुश्रुतवत्
१०.	परिकर्तक, उपदंश, शुक्रदोष, शुक्ररोग	मेढ्रस्थित सिरा	शुक्ररोग और मेढ्ररोग में मेढ्रसिरा
११.	मूत्रवृद्धि	वृषण के पीछे की सिरा	—
१२.	जलोदर	वामपार्श्व में नाभि के नीचे चार अंगुल पर	—
१३.	अंतर्विद्रधि, पार्श्वशूल	पार्श्व, कक्षा तथा स्तनों के बीच की सिरा	सुश्रुतवत्
१४.	बाहु शोष अवबाहुक	दोनों अंस के बीच में रहनेवाली सिरा	—
१५.	तृतीयक ज्वर	त्रिक् संधि के बीच की सिरा	दोनों अंस के बीच में रहनेवाली सिरा
१६.	चतुर्थक ज्वर	अंस संधि के नीचे किसी एक पार्श्व में स्थित सिरा	सुश्रुतवत्
१७.	अपस्मार	हनुसंधि के मध्य की सिरा	हनु में कहीं भी, अथवा भ्रू के मध्य भाग की सिरा
१८.	उन्माद	शंख और केशान्त के बीच में, उरःप्रदेश में ललाट प्रदेश में या अपांग की सिरा	उर, अपांग तथा ललाट की सिरा
१९.	जिह्वा रोग तथा दंत-रोग	जिह्वा के नीचे की सिरा	—
२०.	मुखरोग	—	जिह्वा, ओष्ठ, हनु तालु को जाने वाली सिरा
२१.	तालुरोग	तालुगत सिरा	— (अथवा उपर्युक्त)
२२.	कर्णरोग	कान में ऊपर की सिरा	कर्णगा सिरा का बेधन
२३.	नासारोग, या गंधग्रहण की विकृति	नासाग्र की सिरा	तद्वत्
२४.	पीनस	—	नासा और ललाट के बीच में
२५.	तिमिर, अक्षिपाक, शिरोरोग अधिमंथ इत्यादि	नासा के समीप (उपनासिका सिरा) की सिरा, ललाट की सिरा तथा अपांग की सिरा	ललाट या अपांग की या उपनासिका सिरा
२६.	जत्रुर्ध्व ग्रंथि	—	ग्रीवा, कान, शंख और शिराश्रित सिरा

उपर्युक्त तालिका में जो विवरण है—उससे स्पष्ट है कि सुश्रुत और वाग्भट में बहुत अधिक मतांतर नहीं है। वाग्भट ने "गृध्रस्यामिव विश्वाच्याम्" ऐसा कहकर गृध्रसी के समान विश्वाची में करें ऐसा कहा है। इससे गृध्रसी रोग में जानु के ऊपर या नीचे सिरा बेध करने को कहा है। उसी तरह विश्वाची में भी जानु के पास ही करना चाहिए ऐसा कुछ लोग कहते हैं। अरुणदत्त ने भी इसकी टीका में गृध्रसी में जानु के नीचे सिराबेध किया जाता है वैसे ही विश्वाची में करें ऐसा कहा है। तथापि गृध्रसी में कटि-पृष्ठ में शूल रहता है और विश्वाची में अंस में। अतएव कूर्पर में करना उचित है। सुश्रुत ने अवबाहुक में एक जगह क्षिप्रमर्म के ऊपर दो अंगुल पर सिराबेध कहा है (क्रम १) और बाहुशोष और अवबाहुक में (क्रम १४), अन्यत्र दोनों अंस के बीच में सिराबेध करने को कहा है। क्रम १ में—अवबाहुक के सिराबेध में—क्षिप्रमर्म—हस्ततल का क्षिप्र लेना उचित है। वाग्भट ने मुखरोग में जहां जिह्वा, ओष्ठ, हनु और तालुगा सिरा का बेध करने को कहा है—वहां मुखरोग के तत्तद् प्रकार में—जिह्वारोग में जिह्वागा ओष्ठरोग में ओष्ठगा, हनुरोग में हनुगत तथा तालुरोग में तालुगा सिरा का बेध ऐसा अर्थ करना चाहिए। क्रम २५ में इसी तरह तिमिर और अक्षिरोग में उपनासिका तथा अपांग की सिरा, और शिरारोग—अधिमंथ में ललाट और अपांग की सिरा ऐसा अन्वय करना चाहिए।

३. सिराव्यधन में निरीक्षण—सिरा का सम्यक् प्रकार से व्यधन किया जाने पर दुष्ट रक्तस्राव को बहाना चाहिए। सिरा का बेधन होनेपर रक्त स्वयं प्रवृत्त होता है। जिस तरह कुसुंभपुष्प (करड के फूल) में छेद करने से प्रथम पीला रंग का द्रव बाहर निकलता है, उसी तरह सिराबेधन करने पर प्रथम दुष्ट रक्त का स्राव होता है।[८१] वस्तुतः सिराबेध के बाद द्रवानुसारी रसरक्त धातु नियमानुसार (द्रवत्व-सरत्व) प्रवाहित होता है—यदि शरीर में सम्यक् स्नेहपान किया गया हो, उत्क्लेश बराबर हुआ हो, स्नेह स्वेद से दोष रसरक्त में घुल जाये तो रसरक्त के साथ उनका निर्हरण होगा। सिरा से रसरक्त के निर्गमन होते समय सावधानी से निरीक्षण कर निम्नलिखित विषयों पर ध्यान रखना चाहिए।

१. सम्यक्-असम्यक् और अतिस्राव के लक्षणों का निरीक्षण करते रहें और योग्य चिकित्सा करें। सम्यक् विद्ध सिरा में रक्त का स्वयं स्राव होता है, और कुछ समय के बाद स्वयं बंद होता है।[८२] शरीर का हलकापन, वेदना का प्रशम, व्याधि लक्षणों का प्रशम, और मन की प्रसन्नता ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।[८३] यदि रक्त का स्राव ठीक न हो—असम्यक् स्रवित रक्त में—शेष दोष शोथ, दाह, राग और पाक ये लक्षण उत्पन्न करते हैं।[८४] यदि अत्यंत उष्णकाल हो, या अधिक स्वेद कर दिया जाए, या अतिविद्ध-शस्त्र से जोर से चोट कर दी जाये तो अतिस्राव के लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसमें शिरोभिताप (शिर में दाह या पीड़ा), आंध्य, अधिमंथ, तिमिर, धातुक्षय, आक्षेपक, दाह पक्षाघात, एकांगरोग, हिक्का, श्वास, कास, पांडु अथवा मरण ये लक्षण उत्पन्न होते हैं।[८५]

यदि रोगी भयभीत हो, यंत्र शिथिल होने के कारण सिरा का उत्थापन ठीक न हो, शस्त्र धारदार न हो, आतुर ने अत्यधिक भोजन पान किया हो, आतुर दुर्बल हो, संजात वेगों को उसने रोक दिया हो, स्वेदन ठीक न किया गया हो, उसी तरह मद, मूर्च्छा, श्रम, निद्रा से आतुर पीड़ित हो तो सम्यक् बेधन करने पर भी रक्तस्राव ठीक प्रकार से नहीं होता।[८६] अतएव सिराबेध करते समय उपर्युक्त विषयों का ध्यान रखकर उनका परिहार करना चाहिए।

उपचार—इस तरह यदि रक्तस्राव न हो तो इलायची, कर्पूर, कूठ, तगर, देवदारु, वायविडंग, चित्रकटु, आगार धूम (रसोई घर का धुआ) हल्दी, अर्क के अंकुर, बड़ा करंज, इनमें से जो प्राप्त होवे वे सब या कोई—तीन चार या सब (यदि मिले) औषधियों का चूर्ण करके सैंधव लवण और तिल तैल में अच्छी तरह मिलाकर व्रण के मुखपर इनको रगड़े। इससे अप्रवृत रक्त स्रवित होता है।[८७] उपर्युक्त द्रव्य प्रायः उष्ण, विष्यंदी और विलयन-प्रसारण करने वाले हैं—इनका उपयोग रक्तवाहिनी के मुख का विस्तार (Vaso dialator) करने के लिए तथा रक्तस्कंद विरोधी के तौर पर सूचित होता है।

यदि रक्त की अति प्रवृत्ति हो तो उसे रोकने के लिए उपाय करें—

१. लोध्र, यष्टीमधु, प्रियंगु, पत्तंग, गैरिक, सर्जरस (राल), रसांजन, शाल्मली पुष्प, शंख, शुक्ति (सींप) माष, जव, गेहूं इनके चूर्ण को व्रणमुख मुख पर लगाकर अंगुली से दबा दे।

२. साल, सर्जरस, अर्जुन, अरिमेद, मेढासिंगी, धव, दालचिनी इनकी छाल का चूर्ण बनाकर मधु के साथ

३. या समुद्रफेन का भस्म और लाक्षा चूर्ण को मधु के साथ मिलाकर लेप कर क्षौम वस्त्रादि से कसकर बंधन बाँध दे।

४. शीतल भोजन, शीतल आच्छादन, शीत परिषेक, शीत गृह, शीत प्रदेहों का उपयोग करें।

५. क्षार अथवा अग्नि से जलावे।

६. काकोल्यादि गण के क्वाथ को मधु और शर्करा मिलाकर पिलावें।

७. हरिण, वराह, शश, महिष (भैंसा) इनका रक्त पिलावें।

८. दूध, मूंग या यूष और मांसरस पिलावें। शिरोरोगादि उपद्रव उत्पन्न हो तो यथायोग्य उपाय करें।[८८]

रक्त को जल्दी से बंद करने के लिए ४ प्रकार के उपाये कहे गये हैं।[८९]

१. संधान २. स्कंदन ३. पाचन ४. दहन

इनका उपचार ऊपर औषधियों में कहा ही गया है। तथापि इन शब्दों का परिभाषिक शब्द के तौरपर (Terms) महत्त्व हैं—अतएव सुश्रुत ने इनका पुनः खास निर्देश किया है।

१. संधान—कषाय रसयुक्त द्रव्यों के उपयोग से संधान किया जाता है। लोध्र, प्रियंगु, गैरिकादि का प्रयोग, संधानार्थ होता है। चरक ने यष्टीमधु, पाठा, समंगा, मोचरस, धाय, कटफल, लोध्र, प्रियंगु, इनको संघनीय वर्ग कहा हैं। इसी तरह यष्टीमधु, मधु, रुधिर, मोचरस, मृत्कपाल (खर्पर) लोध्र, गैरिक, प्रियंगु, शर्करा, लाजा इनको शोणित स्थापन गण में निर्दिष्ट किया है। इन द्रव्यों का उपयोग संधानार्थ करें। जहां पर रक्त का स्कंदन न होता हो वहां पर संधान द्रव्यों का प्रयोग करें।

२. स्कंदन—रक्त को जमाने का उपाय स्कंदन कहलाता है। इसके लिए शीत द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है। शीत जलपरिषेक, बर्फ का टुकड़ा व्रणपर रखना, न्यग्रोधादि गण के कषाय का शीत परिषेक व्रणगत रक्तस्राव के स्कंदन के लिए करना चाहिए।

३. पाचन—भस्म और क्षार का प्रयोग पाचनार्थ किया जाता है। जिसका रक्तस्राव संधान और स्कंदन करने पर भी बंद नहीं होता उसे पाचन चिकित्सा करनी चाहिए।

४. दाह-या-दहन—जिस सिरा से अत्यधिक स्राव होता है, और उपर्युक्त सभी उपायों से स्राव रुकता न हो, उसके लिए दग्धकर्म करना चाहिए। दाह सिरा का संकोच करता है। एतदर्थ सिरा के कटे हुए दोनों छोर को नजदीक लाकर तप्त शलाका से उसे दहन करे। यह पद्धति आधुनिक विज्ञान में कॉटराइझेशन (cotrizaration) नाम से प्रसिद्ध है। इससे तुरन्त रक्तस्राव बंद होता है। ये चारों कर्म उत्तरोत्तर करना चाहिए।

२. रक्तस्राव में नियम—रक्तस्राव करते हुए वैद्य निम्नलिखित नियमों का पालन करें।

१. रक्त की संपूर्ण दुष्टि निकल जाने तक स्राव न करें। उसे सशेष-दोष रखना चाहिए।[६०] क्योंकि दोषों को अवशिष्ट रखने से उतना व्याधिभय नहीं है, जितना अति प्रवृत्ति से होता है।

२. शेष दोषों का जलौका, शृंग, या अलाबु से निर्हरण करना चाहिए।

३. अथवा शेष दोषों की शमन चिकित्सा करनी चाहिए।

४. आतुरबल, रोगबल, तथा आशय को देखकर रुधिर को बहावे। आशय का अर्थ सिरा का स्थान है। कूर्पर, गुल्फ की सिराएं पर्याप्त रक्तस्रुति करती हैं। किंतु—ललाट, नासा इत्यादि स्थान में अल्प रक्तस्राव होता है।

५. स्राव्य रक्त का अधिक से अधिक प्रमाण १ प्रस्थ तक का है—इससे अधिक रक्त न निकाले। रक्तमोक्षण का प्रस्थ १३।। पल (५४ तोला) का होता है। डल्हण ने उत्तम मात्रा १ प्रस्थ, मध्यम मात्रा आधी प्रस्थ और हीनमात्रा एक कुडव (३ पल ८ माष = १३ तोला) बताकर यह मात्रा दो दिन में रक्त स्राव में लेनी चाहिए ऐसा कहा है न कि एक दिन में उसी समय लेनी चाहिए।[६१]

४. दुष्ट विद्ध सिराओं का निरीक्षण—जिस वैद्य को शस्त्रकर्म का साद्यंत ज्ञान और अनुभव नहीं हैं, उसके द्वारा सिराबेध किया जाने पर अनेक व्यापद उत्पन्न होते हैं। सिरा सम्यक् विद्ध नहीं होती—ऐसे दुष्ट विद्ध सिरा को दुर्विद्ध सिरा कहते हैं। बेधन की दुष्टियाँ अथवा दुर्विद्ध सिराएं २० प्रकार की होती हैं। ये प्रकार दुर्विद्धा, अतिविद्धा, कुंचिता पिच्चिता, कुट्टिता, अप्रसूता, अत्युदीर्णा, अंतेविद्धा परिशुष्का वेपिता, कूणिता, अनुस्थित विद्धा शस्त्रहता, तिर्यंग्विद्धा, अपविद्धा, अव्यध्या, विद्रुता, धेनुका, पुनःपुनः विद्धा सिरास्नाथ्वस्थि मर्मसुविद्धा—नामक कही गयी है।[६२] इनके लक्षण इस प्रकार के हैं।

१. दुर्विद्धा सिरा[६३]—बहुत सूक्ष्म शस्त्र से जिसका व्यधन किया हो, जो रक्त को बराबर न बहाती हो, जिसमें शोथ और रुजा उत्पन्न होती है उसे दुर्विद्धा सिरा कहते हैं।

२. अतिविद्धा[६४]—प्रमाण से ज्यादा चोट करने पर, अधिक बेध करने से अति स्रावी, जिसका रक्त अंदर भी स्रवित होता हो (Internal Haemorrhage) उसे अतिविद्धा कहते हैं।

३. कुंचिता[६५]—अतिविद्धा के समान लक्षण कुंचिता में होते हैं, इसमें सिरा टेढ़ी होती है—उसे कुटिला-कुंचिता कहते हैं।

४. पिच्चिता[६६]—शस्त्र में धार न होने पर सिराएं फैल कर चिपट जाती हैं—उसे पिच्चिता कहते हैं।

५. कुट्टिता[६७]—जल्दी न मिलने पर जिसे बार बार शास्त्र से ताड़न किया हो उसे कुट्टिता

कहते हैं।

६. अप्रसूता[६८]—ठंडी से, भीति से, मूर्च्छादि कारणों से जिसमें रक्त स्राव न हुआ हो वह अप्रसूता कहलाती है।

७. अत्युदीर्णा[६९]—बड़े मुखवाले तीक्ष्णशस्त्र से जो बींधी गयी हो उसे अत्युदीर्णा कहते हैं—यह भी रक्त को अधिक बहाती है।

८. अंतेविद्धा[१००]—जो किनारे में बींधी गयी हो और अल्प रक्त को स्रवित करती हो उसे अंतेविद्धा कहते हैं।

९. परिशुष्का[१०१]—रक्तक्षय के कारण प्रकुपित वात से जो सूख गई हो उसे परिशुष्का कहते हैं।

१०. कूणिता[१०२]—सिरा के चौथाई भाग में ही शस्त्र प्रवेश हुआ हो तो अल्प रक्तस्रवित होता है उसे कूणिता कहते हैं।

११. वेपिता[१०३]—बंधन ठीक जगह न बांधने पर जो सिरा कंपित होती हैं उसे वेपिता कहते हैं। इसमें रक्तस्राव नहीं होता।

१२. अनुस्थित विद्धा[१०४]—इसमें भी सिरा ठीक उठाई न जाने के कारण बराबर स्राव नहीं होता।

१३. शस्त्रहता[१०५]—अधिक छेदन से अधिक रक्त निकल जाने के कारण जो चेष्टा प्रवृत्ति का अवरोध करती है उसे शस्त्रहता कहते हैं।

१४. तिर्यक विद्धा[१०६]—शस्त्र के तिरछे लग जाने पर जो सिरा कटने से बच गयी हो उसे तिर्यक विद्धा कहते हैं।

१५. अपविद्धा[१०७]—अधिक जगह चोट लगने के कारण तथा खराब शस्त्र से चोट करने पर जो अलग स्थान में क्षतयुक्त होती हैं उसे अपविद्धा कहते हैं।

१६. अव्यद्धा[१०८]—शस्त्रकर्म के लिए जिसे अयोग्य कहा है, उसका व्यध करने से अव्यधा-विद्धा सिरा दोष उत्पन्न होता है।

१७. विद्रुता[१०९]—चलायमान सिरा के विद्ध होने पर विद्रुता कहते हैं।

१८. धेनुका[११०]—बहुत कसकर यंत्रण शीटक बांधने से व्यधन स्थान के ऊपर ही क्षत होने से पुनः पुनः रक्तस्राव होता है उसे धेनुका कहते हैं।

१९. पुनः पुनः विद्धा[१११]—सूक्ष्मशस्त्र से जिसको अनेक बार विद्ध किया गया हो उसे पुनः पुनः विद्धा कहते हैं।

२०. सिरास्नाय्वस्थि मर्मसु विद्धा[११२]—सिरा, स्नायु, अस्थि, संधि, मर्म इन स्थानों में विद्ध होने पर रुजा, वैकल्प तथा मरण उत्पन्न हो सकता है।

इस तरह सिरा के दुष्ट व्यध २० प्रकार के हैं। इनमें प्रायः रक्त की अप्रवृत्ति, अतिप्रवृत्ति दुष्प्रवृत्ति (आभ्यंतर स्राव), तथा सिरा अवयव का वैगुण्य ये प्रमुख लक्षण है। इनका बेधनकर्म में बराबर निरीक्षण कर समयोचित चिकित्सा करनी चाहिए। अति रक्तस्राव में रक्त को रोकने के लिए, अल्पस्राव में स्रवित कराने के लिए तथा रुजा, शोथ, वैकल्प, व्रणकर्म तथा व्याधिहर चिकित्सा करें।

उपर्युक्त प्रकार से दुष्टव्यध आधुनिक उपकरणों की सहायता से टाले जा सकते हैं। इंजेक्शन की सिरींज में लगी हुई सूई—सिरा में सूक्ष्म छिद्र करती है, सिरींज में यथावश्यक रक्त निकाला जा सकता है, और अंत में सुलभतया बंद किया जा सकता है। अतएव यह पद्धति प्रशस्त है। यदि अभ्यस्त उपचारक न हो तो इसमें भी जल्दी सिरा न मिलना, सिरा के दोनों भित्तियों से सूई पार निकल जाना, अनेक जगह क्षत होना, हस्तकंप से सिरा सूई में से फिसल जाना, पीछे लेते समय धातु में क्षत करना इत्यादि दोष उत्पन्न होने हैं, लेकिन वे बहुत अधिक भयकारक नहीं हैं। ये सभी व्यापद में अज्ञान और अनुभ्यास ये ही हेतु होते हैं।[११३] अतएव वैद्य को चाहिए कि वह निपुण उपचारक को तैयार करें।

पश्चात्कर्म—सिराव्यधन के बाद नीचे लिखे हुए अनुसार पश्चात्कर्मों का ध्यान रखना चाहिए।

१. उपद्रवों की चिकित्सा २. परिहार्य विषय ३. शमनौषधि चिकित्सा

१. **उपद्रवों की चिकित्सा**—सिरा व्यधन में अति रक्तस्राव, अस्राव, अल्प-स्राव तथा सिरा की दुष्टविद्धताएं ऐसे उपद्रव होते हैं—इनका वर्णन और चिकित्सा प्रधानकर्म के साथ ही बताए गये हैं। क्योंकि ये उपद्रव उसी समय उत्पन्न होते हैं। तथापि इन उपद्रवों से चिरकाल के लिए अन्य व्याधियां भी उत्पन्न हो सकती हैं। इनकी चिकित्सा करनी चाहिए। यदि रक्त का बहुत अधिक क्षय हो जाये तो अम्लसेवन में इच्छा, शीत पदार्थों के सेवन में रुचि, सिरा का शैथिल्य तथा शरीर की रुक्षता ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। त्वचा म्लान परुष और स्फुटित हो जाती है।[११४] सिरा शैथिल्य की परीक्षा करने की पद्धति यह हैं कि—सामान्यतः हाथ जब नीचे की ओर लटकाए होते हैं तब मणिबंध के नीचे सिरा भरी हुई और नेत्रगम्य मिलती है—अब हाथ को ऊपर कर दिया जाए तो सिरा का रक्ताल्पता होने से सिरा दृष्टिगोचर नहीं होगी। जब सिरा गायब होगी—तब हाथ पुनः नीचे लायें, रक्त की प्राकृतावस्था हो तो तुरंत सिरा का पूरण होकर वह दृगोचर होगी। यदि रक्तक्षय होगा तो जल्दी से पूरण न होने से वह दृष्टिगोचर नहीं होगी। इसी तरह सिरा से रक्त के साथ रक्तस्राव भी होता है जिससे रसक्षय के लक्षण मिलेंगे। इनके अत्यधिक क्षय से—पांडु, कामला, मूर्च्छा, पक्षाघातादि पीछे कहे हुए विकार उत्पन्न हों तो उनकी चिकित्सा करनी चाहिए। सामान्यतः तीव्र शूल हो तो निद्रोदय रस २ रत्ती से ४ रत्ती-२ या ३ बार (२४ घंटे में) देना चाहिए। तथा जहरमोहरापिष्टी, सुवर्ण सूतशेखर, कामदुधारस, मुक्ता, प्रवाल, पंचामृत हेमगर्भ, शोणितार्गल रस, तृणकांतमणि पिष्टी, चंद्रकला रस, द्राक्षासव, उशीरासव, चंदनासव, लोध्रासव, पत्रांगासव, इत्यादि का यथायोग्य उपयोग प्रशस्त है। अल्पस्राव या अस्राव में रक्तस्राव के उपाय तथा सिरा दृष्टि में व्रणकर्म करना चाहिए।

२. **परिहार्य विषय**[११५]—रक्तस्रुति के बाद निम्नलिखित परिहार्य विषय नियमानुसार त्याग दे और कर्तव्य कर्मों का सेवन करें।

१. रक्तस्रुति के बाद अधिक ठंडा या अधिक गरम भोजन न ले।

२. लघु—अग्निदीपन आहार का सेवन करें। तक्र, यूष, यवागु, पेया, ईषद् अम्ल या अनम्ल, स्निग्ध आहार दें। यह रक्तक्षयजन्य धातु क्षय में प्रकुपित वात के लिए प्रशस्त होता है।

३. वात प्रकोप के लिए धृत परिषेक करें, अथवा शीतजल का परिषेक करें।

४. अग्नि का विशेषतः रक्षण करें।

५. रक्तवर्धक अन्नपान का सेवन करावे।

६. क्रोध, आयास, मैथुन, दिवास्वप्न, व्यायाम, वाहनों की सवारी, बहुत अधिक अध्ययन, बहुत अधिक एक आसनपर बैठे रहना, बहुत घूमना, बहुत शीत में घूमना, या शीतसेवन, धूप में घूमना विरुद्ध असात्म्य भोजन तथा अजीर्ण में भोजन इन सब का एक महीने तक त्याग करना चाहिए।

३. **शमनौषधि चिकित्सा**—जिस व्याधि के लिए रक्तमोक्षण किया गया हो, रक्तमोक्षण के बाद उसकी शमन चिकित्सा यथाविधि करनी चाहिए।

अन्यविशेष नोंद[११६]— १. रक्तमोक्षण एक सप्ताह में एकबार इस तरह ३-४ बार किया जा सकता है।

२. यदि प्रथम शुद्धि ठीक न हो तो उसी दिन शाम को या दूसरे दिन रक्त का स्रावण करावें और बहुत अशुद्धियां शेष हो तो पुनः स्नेहन कराकर १५ दिन के बाद रक्तविस्रावण करावें।

३. वय के अनुसार १६ वर्ष के नीचे और ७० वर्ष के ऊपर की उमरवालों में सिराव्यध नहीं करना चाहिए।

४. अधिक रक्तस्राव से भयंकर वातव्याधियां उत्पन्न होती हैं—इसलिए वातव्याधि में रक्तस्रावण करते समय विशेष ध्यान रखना चाहिए।

५. स्वस्थ व्यक्ति का सिरा मोक्षण नहीं करना चाहिए।

६. जिसका एक बार रक्तमोक्षण किया है—उसका उसी समय दुबारा सिराव्यध नहीं करना चाहिए।

३. प्रच्छान-विधि

प्रच्छान—नश्तर या पांछने को कहते हैं। इसी को 'शस्त्रपद' या 'पद' ऐसा भी पर्याय है। पिंडित रक्त में— (जमे हुए रक्त में), पाछना लगाकर उसका निर्हरण करना चाहिए। यह त्वचा के स्तरीय उत्तान भाग का स्थानिक रक्तमोक्षण का उपाय है।

विधि—जहां प्रच्छान करना हो, उस स्थान के कुछ ऊपर रस्सी से या पट्टी से (Bandage) बांध देवें और स्नायु, संधि, अस्थि, मर्म को छोड़कर पाछना लगावें।[११७]

नियम—पांछने की छेदवाली रेखाएं नीचे से ऊपर प्रतिलोम करनी चाहिए। ये बहुत गहरी नहीं होनी चाहिए, न बहुत एक दूसरे के नजदीक हो और न तिरछी गति युक्त हो। एक स्थान में पांछना लगाने के बाद पुनः उसी स्थान में उसका प्रयोग उसी समय नहीं करना चाहिए।[११८]

शस्त्र— (पांछना) शीघ्र चलाना चाहिए। वह समांतर रखें, एक दूसरे से अलग रखे, न बहुत गंभीर न बहुत उत्तान और स्थानिक मर्म, सिरा, स्नायु, संधियों को छोड़कर (बचाकर) लगाना चाहिए।[११९] प्रच्छान यह लेखन कर्म है। जहां त्वचापर पिंड़का, मंडल,

व्रणादि द्वारा उत्सेध हो, व्रणमुखों को काटकर रक्त को बहाना हो वहां प्रच्छान लगाना चाहिए।

प्रच्छान का उपयोग शृंगावचारण, जलौकावचारण, तथा अलाब्वावचारण एवं घटीयंत्र की विधि में 'पूर्वकर्म' के रूप में (सहायक रूप में) भी किया जाता है।

४. शृंग-अवचारण-विधि

शृंग—गाय का सींग है। यह अवकाशयुक्त (खोखला) होने से इसका उपयोग चूषणार्थ कर रक्त निर्हरण में प्रयोग किया जाता है। शृंग उष्ण, मधुर, स्निग्ध होने से वात द्वारा प्रदुष्ट रक्त के निर्हरण में प्रशस्त है।

विधि—शृंगावचारण के पूर्व रुग्णांग पर प्रच्छान लगाकर क्षत करें और कुछ रक्त बहा देवें। फिर शृंग के मुखपर पतला कपड़ा रस्सी से बांध कर वह मुख क्षतस्थान में लगाकर ऊपर के मुख से—वैद्य मुंह से रक्त को चूस कर रक्त का निर्हरण करें।[१२०] शृंग के मुखपर कपड़ा लगाने का हेतु यह है कि रोगी की त्वचा और सींग के किनारे इनके बीच में वायु का प्रवेश रोकना चाहिए। चूषण के लिए सींग के बीच में कुछ निर्वात स्थिति(Partial vacume) होना जरूरी है। मुख से वायु खींचने पर सींग में कुछ निर्वात स्थिति उत्पन्न होती है। डल्हण ने टीका में कहा है कि पतले कपड़े की जगह कुछ लोग बस्ति अर्थात् मूत्राशय का भी उपयोग सींग के मुखपर बांधने का निर्देश करते हैं।[१२१]

शृंग की आकृति एवं प्रमाण का उल्लेख भालुकी तंत्र में से देते हुए डल्हण ने कहा है—सींग चक्राकार और ७ अंगुल लंबा होना चाहिए। इसके मूल भाग के छिद्र का प्रमाण अंगूठे के आकार का और अग्र भाग में (जो मुख व्रण पर लगाया जाता है) छिद्र मुख का प्रमाण मूंग के प्रवेश योग्य होना चाहिए। इस मुख की ओर पिचु (कपड़े का खंड) या पेशी (मांसपेशी का टुकड़ा) लगाकर इसका (उपर्युक्त प्रकार से) उपयोग करना चाहिए।[१२२]

५. अलाबु-अवचारण विधि

अलाबु-अलाबु को लौकिक भाषा में लौकी, लौआ, कद्दू कहा जाता है। यह एक लता का फल है। अलाबु को तुम्बी ऐसा भी पर्याय है। यह दो प्रकार का होता है—एक वह जिसका फल दीर्घ-लंबे आकार का होता है—उसे दीर्घालाबु कहते हैं। दूसरा वह जो गोलाकार का होता है उसे वृत्तालाबु कहते हैं।[१२३] इसके अतिरिक्त रसभेद से भी अलाबु दो प्रकार का होता है—एक मधुर रस युक्त होता है उसका शाकभाजी में प्रयोग होता है। दूसरा तिक्तरस युक्त—कड़वा होता है—इस का चरक ने वमनकर्म के लिए प्रयोग निर्दिष्ट किया है। पहले यह निर्देश किया गया है कि अलाबु कटु-रुक्ष तीक्ष्ण होने के कारण कफदुष्ट रक्त के निर्हरण में प्रयोज्य है। अतएव यह स्पष्ट है कि रक्तमोक्षणार्थ मधुर अलाबु का नहीं अपितु तिक्त कटु अलाबु का प्रयोग करना चाहिए। मधुर अलाबु स्निग्ध गुण युक्त होता है जो कफवर्धक है तथापि मधुर अलाबु का पित्त और वातदुष्ट रक्त में प्रयोग संभव है।

यहां युक्तिसंगत और एक तर्क है कि अलाबु में उसके मधुर तिक्तादि रसों की

अपेक्षा उसका आकार यही रक्तमोक्षण में प्रधान साधन है। अतएव दोनों का उपयोग अनुचित नहीं है। भावप्रकाश ने कहा है कि जलौका एक हाथ की दूरी का रक्त चूसकर निकाल सकती है, तुम्बी १२ अंगुल की दूरी का रक्त निकाल सकती है और प्रच्छान से एक अंगुल तक दूरी का रक्त निकाला जा सकता है तथा सिरा बेध सर्वांग के रक्त को निकालता है।[१२४] डल्हण ने भालुकी तंत्र के संदर्भ से आठ अंगुल परिणाह का और चार अंगुल नलिका से संयुक्त अलाबु रक्तावसेचन में श्रेष्ठ कहा है।[१२५]

मधुर और तिक्त अलाबु का परिचय नीचे संक्षेप में दिया जाता है।

अलाबु परिचय-तालिका

क्रम	मधुर अलाबु	तिक्त अलाबु
१.	**नाम**	
	लैटिन-Cucurbita Lagneria कुकरविटा लेगनेरिया संयुक्त-अलाबु, तुम्बी हिंदी-लौकी, लौआ, कद्दू बंगाली-लाउ, कोदू मराठी-दूधी भोपळा गुजराती-दूधी अंग्रेजी-White Pumkin व्हाईट पमकिन कन्नड-कर्ड उबल काई तेलगू-तीय-तुरवडी काया	लैटिन-Lagnaria Vulgaris लेगनिरिया वलगेरिस संस्कृत-ईक्ष्वाकु, कटुतुम्बी, तिक्ता लाबु पिंडफला हिंदी-तितलौकी कड़वी लौकी बंगाली-तितलागु मराठी-कडु भोपळा गुजराती-कड़वी तुम्बडी अंग्रेजी-Bitter Gourd बिटर गोर्ड कन्नड-कहि सोरे तेलगू-सोरी आई काई
२.	**सामान्य परिचय**	
	इसकी लता भारत में सर्वत्र प्राप्य एवं प्रसिद्ध है। मधुर फल आकार में गोल और लंबा दो प्रकार का होता है। इसके पत्ते कुम्हले के पत्ते से सदृश ६" से ७" के घेरे में गोल आकार के पंच कोणाकार या पांच भाग वाले होते हैं। फूल सफेद रंग के आते हैं।	इसकी प्रताननी लता होती है। जो बहुत दूर तक फैली हुई होती है। पत्र कठिन ६" व्यास के फल इत्यादि मधुर अलाबु के समान होते हैं। इस का स्वाद अत्यंत कड़वा होता है।
३.	**गुणकर्म**	
	गुरु, सर, स्निग्ध, वातपित्तशामक। वीर्य-शीत, रस-मधुर विपाक-मधुर	लघु, रुक्ष, तीक्ष्ण, कफपित्त संशोधन वीर्य शीत। रस-तिक्त-कटु, विपाद-कटु

अलाबु द्वारा रक्तमोक्षण प्रयोग—अलाबु सफेद, कोमल, ताजा, जो न बहुत बड़ा हो न बहुत छोटा, साधारण दीर्घ वृत्त रक्तमोक्षण कर्म के लिए प्रशस्त होता है। ऐसे अलाबु को मुख की ओर छेद कर आभ्यंतर मज्जा को निकाल कर उसे अवकाश युक्त

बनाया जाता है। इस खोखले अलाबु का पात्र के सदृश या साधन सदृश के अब उपयोग हो सकता है। रक्तमोक्षणार्ह रोगी को पूर्वकर्मादि सब पूर्वोक्त विधि से समझना चाहिए। अर्थात् स्नेहपान क्रम करना चाहिए। रुग्ण के जिस अंग से रक्तमोक्षण करना हो उस पर पहले पाँछना लगाकर क्षत करें। अथवा कूर्चादि से या शस्त्र से थोड़ा खुरचकर (Scraping) क्षत करें। फिर अलाबु लगाकर जावे। अलाबु लगाने की पद्धति यह है कि .... इसके अवकाश युक्त भाग में एक दीप रख दे (अंतर्दीप अलाबु) और अलाबु को मुख की ओर से क्षतस्थान पर रख दें।[१२६] रखते समय ऐसे रखे कि अलाबु के किनारे और रुग्णांग की त्वचा इसमें हवा जाने का जरा भी अवकाश न रहे। यह विधि अत्यंत वैज्ञानिक है। इस तरह तुंबी के अंदर जो हवा होगी इसमें से ऑक्सीजन का भाग (एक पंचमांश) जलन कर्म में नष्ट हो जाएगा और दीप बुझ जाएगा। अब अलाबु के अंदर कुछ निर्वात स्थिति उत्पन्न होगी— जिसके बाहर के वातावरण का दबाव और अंदर के वातावरण का दबाव इनके बीच विषमता उत्पन्न होगी। परिणामस्वरूप अलाबु के अंदर इस दबाव को समान करने के लिए वह आकर्षण या चूषण करने लगता है—जिससे त्वचा के भीतरी भाग का रक्त चूसने के बाहर निकलने लगता है। यह विधि स्तरीय रक्त (Peripherea! blood) को ही बहा सकती है, और रक्त, स्रवण विधि से (Ozzing method) से अलाबु की ओर खींचा जाता है। इसका उपयोग घटीयंत्र के सदृश ही है—अतएव वाग्भट ने 'अलाबु घटिका' ऐसा समास किया है, तथापि अलाबु और घटिका ये दोनों अलग प्रकार हैं। घटीयंत्र धातु से निर्माण कर इसका भी प्रदीप के साथ उपयोग किया जाता है। साधारणतः १० से १५ मिनिट तक अलाबु को रुग्णांग पर रखकर उसे जोर से खींचकर निकाल लेवें। तत्पश्चात् जात्यादि तैल, जात्यादि घृत, पद्मकादि तैल, या अन्य पीछे कहे हुए व्रणोपचार औषधियों से व्रणकर्म करें। यह विधि आधुनिकों के कपिंग-ग्लास (Couping glass) के समान उपयोगी है। कपिंग-ग्लास—जो घंटी (bell) के आकार का होता है उसे त्वचापर रख दीप से निर्वात कर रक्तहरण किया जाता है। भालकी ने अलाबु को काली मिटटी से लेपकर आठ अंगुल परिणाह चार अंगुल लंबी नलिका से (अन्तभाग नलिका युक्त होता है। संयुक्त अलाबु का उपयोग करने को कहा है।

६. घटीयंत्र अथवा घटिका-प्रयोग[१२७]

घटिका, या घटीयंत्र यह भी उपर्युक्त कपिंग-ग्लास के सदृश् (Couping glass) प्रयोग है। वाग्भट ने 'अलाबु-घटिका' ऐसा समास भी किया तथा अलग प्रयोग भी कहा है। 'युंज्यान्नालाबुघटिका' रक्ते पित्तेन दूषिते-तासामनल संयोगात् ऐसा 'तासां' में अनेक वचन प्रयोग किया है। तथा अरुणदत्त ने 'तासां अलाबूना' 'घटिकानांच' ऐसा अलग उल्लेख चकार से कर दिया है। इसके अतिरिक्त अष्टांग संग्रह में इसका अलग वर्णन कर दिया है।

चरक ने इस प्रयोग का बहुत सुंदर वर्णन गुल्म प्रकरण में दिया है। कठिन गुल्म का स्नेहन स्वेदन कर शिथिल होने पर उसका शस्त्रकर्म करने के लिए उसे संपूर्ण रूप से पकड़ने के लिए—मूल में संलग्न स्तर को (Addherent Surface) दूर करने के लिए इस विधि का प्रयोग निर्दिष्ट किया है।

घटीयंत्र या घटिका यह छोटे आकार का घड़ा है। इस कुंभी या घड़े में बल्व (तृण विशेष) अथवा कुशों से दीपक जलावे, यह घटी-गुल्म स्थान को कपड़े से वेष्टन कर बराबर रख दें। थोड़ी देर में गुल्म मूल से चलायमान होकर घटी की ओर खींचा जाएगा। फिर घटी निकाल कर—विमार्ग, अजपद एवं आदर्श इन शस्त्रों से गुल्म का यथायोग्य आंत्रादि अवयव को छोड़कर भेदन करे। विमार्ग वह शस्त्र है जिसको मोची लोग रेखा डालने के काम में उपयोग करते हैं। यह लकड़ी का लंबा गोल बना होता है। अजपद बकरी के पांव के सदृश् शस्त्र है—दोषों को बाहर निकालने के लिए—विलयन के लिए तथा मर्दन-पीड़न के लिए इसका उपयोग होता है। आदर्श-दर्पण है—काँच के चिकने और तीक्ष्ण किनारों से गुल्म मूल को छेदने का काम किया जाता है। वृद्ध वाग्भट ने घटिका को यही विधि वर्णन की है। यह विधि यद्यपि गुल्म को मूल से अलग करने के लिए, खींचने के लिए निर्दिष्ट की गयी है तथापि इसका मुख्य उद्देश्य रक्त तथा धातु से गुल्म को खींचना यह होने के कारण रक्त निर्हरण के लिए भी इसका उपयोग मान्य समझना चाहिए।

अनुभवी वैद्य आजकल रुग्णांश पर पांछना इत्यादि से क्षत करते हैं, और उस पर तांबे का पैसा (पहले तांबे का एक बड़े आकार का पैसा चलता था जो ढब्बु पैसा नाम से लोगों में पहचाना जाता था—इसके अभाव में ताम्रपत्र का उपयोग करें) रखकर उस पर कपूर की टिकी जलाकर, एक ग्लास उल्टा कर रख देते हैं। थोड़ी देर के बाद इसको खींचकर निकाला जाता है—जिसमें स्तरीय रक्त खींचा जाता है।

७. सूचि आदि साधनों द्वारा रक्तमोक्षण[१२८]

चरक ने रक्तमोक्षण के प्रकार में सूचि के द्वारा रक्त निकालने का निर्देश किया है। यहां पर कहते हुए सूचि (सूई) का उपयोग सिरींज के समान खींचने के लिए नहीं है। संभवतः सूई से प्रत्यक्ष बारंबार क्षत निर्माण कर रक्त निकालना यह विधि इसमें कही गयी है। (८) पित्तज जिव्हाकंटक में सुश्रुत ने गोजी और शेफालिका के पत्तों से जीभ को घिसकर 'विघर्षण' रक्तनिर्हरणोपाय बताया है।

इस तरह रक्तमोक्षण के लिए १. शृंग २. जलौका अलाबु ३. प्रच्छान ४. सिराव्यध ५. घटीयंत्र ६. सूचि और ७. विघर्षण, इनका यथायोग्य प्रयोग करना चाहिए। रुजा, दाह, शूल, और तोद को तो जलौका से रक्त निकाले। सुप्ति, कंडु और चिमचिमायन हो तो शृंग और तुम्बी से रक्त निकाले और एक जगह से दूसरे जगह फिरनेवाले रक्त दोष में सिराव्यध अथवा तत्तद स्थान में प्रच्छान कर निकाले। यदि आतुर के शरीर में ग्लानि हो तो रक्तमोक्षण न करें। इससे वातप्रकोप के कारण शोथ, स्तंभ, कंप, स्नायुरोग, सिरारोग, ग्लानि, संकोच, खंज पंगु आदि रोग उत्पन्न होते हैं।

रक्तमोक्षण का कार्मुकत्व

रक्तमोक्षण कर्म की प्रशस्ति न केवल शस्त्र कर्म विद् सुश्रुत ने की है, प्रत्युत चरक और वाग्भट ने भी इस करम का विपुल प्रयोग और उपयोगिता बारंबार निर्दिष्ट की है। 'रक्तं जीव इह स्थितिः' होने के कारण रक्त बिगड़ने पर 'जीवन' क्रम भी बिगड़ता है और अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। इन रोगों की व्यापकता इतना बड़ी है कि शरीर पर होनेवाली पिड़का, न्यच्च, तिलकादि। (देखें पृ. ५६६)

सुश्रुतोक्त रोगानुसार कतिपय रक्तमोक्षण संदर्भ

वमनादि कर्मों में चरक के मतानुसार सभी कर्मों का आवस्थिक संदर्भ दिया है। यहां सुश्रुतानुसार रक्तमोक्षण के संदर्भ दिये जाते हैं क्योंकि इसमें सुश्रुत का प्राधान्य स्वीकार्य है।

क्र.	अधिकार	रक्तमोक्षण विषय	संदर्भ
१.	द्विव्रणीय	व्रण में वेदना और शोफ प्रशम के लिए शृंग, जलौका और प्रच्छान से रक्तमोक्षण	सु. चि. १-२७, २८, २९
२.	वातव्याधि	सर्वांगज वात में सिराव्यध से रक्तमोक्षण	चि. ४-११
३.	महावातव्याधि	वातशोणित में रक्तप्राबल्य में पुनः रक्तमोक्षण	चि. ५-६, १२
४.	महावातव्याधि	गृध्रसी, विश्वाचि, क्रौष्टुक, शीर्ष पाददाह, पादहर्ष, अवबाहुक, बाधिर्य, धमनीगत वात में यथोक्त यथादेश शिराव्यधन	चि. ५-२३
५.	कुष्ठ	कुष्ठ में छः छः मास में एक बार रक्तमोक्षण करने का निर्देश	चि. ९-४३
६.	उदर	प्लीहोदर में वामबाहु में कूर्पर में सिराव्यध	चि. १५-३
७.	उदर	यकृद्दाल्युदर में दक्षिण बाहु में कूर्पर सिरा का व्यध	चि. १५-१५
८.	विद्रधि	वातज विद्रधि में रक्तमोक्षण	चि. १६-६
९.	विद्रधि	पित्तज विद्रधि में जलौकावचारण	चि. १६-१२
१०.	विद्रधि	कफज विद्रधि में यथोद्दिष्ट शिराव्यधन	चि. १६-३४
११.	विद्रधि	मज्जागत विद्रधि में रक्तमोक्षण	चि. १६-३९
१२.	विसर्प	सामान्य चिकित्सा में रक्तमोक्षण की श्रेष्ठता	चि. १७-१६
१३.	ग्रंथि-अर्बुदादि	पित्तज ग्रंथि में जलौकावचारण	चि. १८-८
१४.	ग्रंथि-अर्बुदादि	कफज ग्रंथि में रक्तमोक्षण	चि. १८-१२
१५.	ग्रंथि-अर्बुदादि	वातार्बुद में शृंग से रक्तमोक्षण	चि. १८-३१
१६.	ग्रंथि-अर्बुदादि	पित्तार्बुद में रक्तमोक्षण	चि. १८-३३
१७.	ग्रंथि-अर्बुदादि	कफजार्बुदादि में अलाबु अवचारण	चि. १८-३५
१८.	ग्रंथि-अर्बुदादि	मेदोज अर्बुद में रक्तमोक्षण	चि. १८-४३

क्र.	अधिकार	रक्तमोक्षण विषय	संदर्भ
१९.	ग्रंथि-अर्बुदादि	वातजगंड में रक्तमोक्षण	चि. १८-४५
२०.	ग्रंथि-अर्बुदादि	मेदोज गलगंड यथोद्दिष्ट सिवा (उरुसंधि) का रक्तमोक्षण	चि. १८-५२
२१.	वृद्धि उपदंश श्लीपद	रक्तजवृद्धि में जलौकावचारण	चि. १९-१०
२२.	वृद्धि उपदंश श्लीपद	आंत्रवृद्धि में शंखोर्ध्व प्रदेश में कान के पीछे सेवनी को छोड़कर सिराव्यधन	चि. १९-२४
२३.	वृद्धि उपदंश श्लीपद	उपदंश में मेढ्रसिराव्यधन	चि. १९-२५
२४.	वृद्धि उपदंश श्लीपद	वातज श्लपद में गुल्फ के ४ अंगुल ऊपर सिराव्यधन	चि. १९-५२
२५.	वृद्धि उपदंश श्लीपद	पित्तज श्लीपद में गुल्फ के नीचे सिराव्यधन	चि. १९-५५
२६.	वृद्धि उपदंश श्लीपद	कफज श्लीपद में अंगूठे के पास की सिरावेधन	चि. १९-५६
२७.	क्षुद्ररोग	क्षिप्र में रक्तविस्रावण	चि. २०-१०
२८.	क्षुद्ररोग	विदारिका में जलौकवचारण तथा प्रच्छान से रक्तमोक्षण	चि. २०-१४
२९.	क्षुद्ररोग	पाददारि में सिराव्यधन	चि. २०-१९
३०.	क्षुद्ररोग	इंद्रलुप्त में मूर्ध सिराव्यधन	चि. २०-२४
३१.	क्षुद्ररोग	इंद्रलुप्त में प्रच्छान	चि. २०-२५
३२.	क्षुद्ररोग	अरुषिका में रक्तमोक्षण	चि. २०-२७
३३.	क्षुद्ररोग	दारुणक में सिराव्यधन	चि. २०-२९
३४.	क्षुद्ररोग	न्यच्छ-व्यंग में सिराव्यधन	चि. २०-३३
३५.	क्षुद्ररोग	वल्मीक में रक्तमोक्षण	चि. २०-५०
३६.	शूकदोष	अष्ठीला जलौकावचारण	चि. २१-४
३७.	शूकदोष	अलजी में जलौकावचारण	चि. २१-७
३८.	शूकदोष	संमूढ पिड़का में जलौकावचारण	चि. २१-९
३९.	शूकदोष	अवमंथ में जलौकावचारण	चि. २१-११
४०.	मुखरोग	पित्त ओष्ठ प्रकोप, रक्तज ओष्ठ प्रकोप और अभिघातज ओष्ठ प्रकोप में जलौकावचारण	चि. २२-६

क्र.	अधिकार	रक्तमोक्षण विषय	संदर्भ
४१.	मुखरोग	शीतादि में रक्तमोक्षण	चि. २२-१०
४२.	मुखरोग	दंत पुप्पुटक में रक्तमोक्षण	चि. २२-१३
४३.	मुखरोग	दंत वेष्टक में रक्तमोक्षण	चि. २२-१४
४४.	मुखरोग	शौषिर में रक्तमोक्षण	चि. २२-१६
४५.	मुखरोग	उपकुश में रक्तमोक्षण	चि. २२-१६
४६.	मुखरोग	पित्तज जिह्वा कंटक में गोजी शोफफालिका के पत्तों से घिसकर रक्तमोक्षण करें	चि. २२-४४
४७.	मुखरोग	साध्य रोहिणी में रक्तमोक्षण	चि. २२-५६
४८.	मुखरोग	एकवृंद में रक्तमोक्षण	चि. २२-६५
४९.	शोफ	शोफ की सामान्य चिकित्सा में उपद्रवरहित शोथ में सिराव्यध	चि. २३-१२
५०.	नेत्ररोग चिकित्सित प्रविभागीय	सिरोत्पात, सिराहर्ष, नेत्रपाक, अन्यतोवात, पूयालय, वातविपर्यय, अधिमंथ, अभिष्यंद में सिराव्यधन करे	सु. उ. ८-८
५१.	पित्ताभिष्यंद प्रतिषेध	पित्ताभिष्यंद में रक्तमोक्षण	उ. १०-३
५२.	रक्तभिष्यंद प्रतिषेध	रक्तभिष्यंद में पुराणघृत पिलाकर सिराव्यधन करे	उ. १२-४
५३.	शिरोरोग प्रतिषेध	अनंतवात में शिराव्यधन	उ. २६-३६
५४.	गुल्मप्रतिषेध	सशूल, उन्नत, स्पंदन रहित, दाह पाक, रुजा से युक्त गुल्म में जलौका या सिरा से रक्तमोक्षण	उ. ४२-५२
५५.	अपस्मार प्रतिषेध	अपस्मार में हनुसंधिगत सिरा का व्यधन	उ. ६१-४१
५६.	उन्माद प्रतिषेध	उर, अपांग, ललाट में सिरा से रक्तमोक्षण करे।	उ. ६२-३३

क्षुद्र रोगों से लेकर मूर्च्छा, संन्यास और मृत्यु तक गंभीर अवस्थाएं भी इनमें समाविष्ट हैं। अतएव रक्तमोक्षण कर्म की उपयोगिता भी बहुत व्यापक है। इसकी कार्मुकता देखने के पूर्व इनके उपयोगिता के शास्त्रीय सिद्धांत नीचे स्पष्ट किये जाते हैं।[१२६]

१. सुश्रुत कहते हैं कि रक्तमोक्षण चिकित्सा की जाने पर त्वग्रोग, ग्रंथि, शोफ तथा रक्तदुष्टिजन्य रोग उत्पन्न नहीं होते।

२. स्नेहन, स्वेदन, वमनादि चिकित्सा, तथा शमन चिकित्सा लेपन इत्यादि, क्रियाओं के द्वारा उस तरह, जल्दी लाभ नहीं पहुंचता जैसे कि शिरा से रक्तमोक्षण से पहुंचता है। अर्थात् यह आशुफलप्रद चिकित्सा है।

३. रक्तविशोधन बराबर किया जाने पर (शुद्धरक्त युक्त) मनुष्य का वर्ण प्रसन्न होता है, उसके इंद्रिय अपने अपने विषय में दक्षता से कार्य करते हैं। पाचन की शक्ति अर्थात् अग्नि की शक्ति बढ़ जाती है, और मन का संतोष शरीर का बल तथा सुख की वृद्धि होकर व्यक्ति आयुष्यमान हो जाता है।

४. जिस तरह सम्यक् दी हुई बस्ति काय चिकित्सा में इतना महत्त्व रखती है कि उसे 'चिकित्सार्ध' कहा जाता है, उसी तरह शल्यतंत्र के रोगों में सिराव्यध 'चिकित्सार्ध' का महत्त्व रखता है।

५. विसर्प चिकित्सा में अन्य सब चिकित्सा उपक्रम एक तरफ और रक्तमोक्षण कर्म एक तरफ ऐसा रक्तमोक्षण का महत्त्व कहा गया है।

उपर्युक्त का सारांश इस प्रकार है—

१. त्वचा के रोगों को रक्तमोक्षण दूर करता है। इनमें पिड़का ग्रंथि व्यंग्य, न्यच्च, कुछ कुष्ठ इत्यादि का समावेश होता है।

२. रक्तमोक्षण से वर्ण का प्रसादन होता है।

३. शरीर का बल बढ़ता है।

४. ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय तथा मन प्रसन्न होकर अपने कार्य में संन्निहित हो जाते हैं।

५. अग्नि का कार्य बढ़ता है— जिससे पाचन संबंधित रोगों में लाभ होता है।

६. शोथ में लाभ होता है। इसमें निर्द्रधि, ग्रंथि, अर्बुद, ये एकांग तथा सर्वांग में होनेवाले शोथ का ग्रहण किया जाता है।

७. शूल वातव्याधि, वातरक्त, विसर्पादि, कुष्ठादि में रक्तमोक्षण का खास महत्त्व है।

उपर्युक्त रोगों का रक्तमोक्षण कर्म से प्रशम होती है। इनको कुछ स्पष्ट समझाने के लिए पहले आधुनिक दृष्टिकोण से रक्तमोक्षण का विचार करेंगे।

रक्तमोक्षण-आधुनिक विज्ञान का दृष्टिकोण

जलौका विषय में यह पहले कहा गया है कि आधुनिक वैद्य शास्त्र कुछ दिन पहले जलौका का भरपूर उपयोग किया करते थे। इसी तरह सिराव्यधन भी खूब प्रमाण में किया जाता था। सिरा से रक्त निकालने की पद्धति करीब प्राचीनों के समान ही रही है। इस विधि को व्हिनेसेक्शन (Venesection) कहा जाता है। व्हिनेसेक्शन यह उपचार सेविल ने अपने चिकित्सा ग्रंथ में अनेक रोगों में दिया है—

व्हिनेसेक्शन का अर्थ है शरीर में सिरा पर छेद करके रक्त को निकालना। जिसे पहले ब्लीडिंग (Bleeding) कहा जाता था। इस विधि के लिए सूचि या ट्रोकार (Trochar) का उपयोग

कर निश्चित प्रमाण में लिया जाता है, स्थानिक रक्त-जलौका और स्थानिक विघर्षण (Scarifying) के द्वारा लिया जा सकता है।[१३०]

सिराव्यध में प्रायः इसी प्रकार की विधि निर्दिष्ट है। चिकित्साशास्त्र में एक और शब्द भी प्रयुक्त है—वह है व्हिनेपंचर। (Vene-Puncture) व्हेन में पंक्चर–क्षत करना व्हिने पंक्चर कहलाता है। सेविल ने विनेपंक्चर के बारे में निम्नलिखित प्रकार का वर्णन किया है।

विनेपंक्चर[१३१]—रक्त निकालने की आवश्यकता सीरम के लिए, संस्करण प्रयोग के लिए, केमिकल तथा अन्य उद्देश्यों के लिए होती है। विनेपंक्चर—रक्त चढ़ाने के लिए, व्हेन में औषधि देने के लिए तथा केवल रक्तस्राव कराने के लिए भी जरूरी होता है। व्हिनेपंक्चर के लिए सब में सुलभ कूर्पर के सामने रहने वाली स्तरीय सिरा का है। इसके लिए कूर्पर के ऊपर हाथ में टोरनीक्वेट (टोरनीक्वेंट–आयुर्वेद के यंत्रणशाटकवत् बांधने का कपड़ा है) बांध देना चाहिए जिससे सिरा में से लौटने वाला रक्त अवरोध हो जाता है। फिर आतुर को मुठ्ठी बंद करने को कह दें। इससे सिरा ऊपर उठ कर स्पष्ट होती है। मेदस्वी रोगी में यदि वह दिखाई न दे तो हाथ को स्पर्शगम्य होती है। यदि सिरा दृष्टिगोचर न हो या स्पर्शगम्य न हो तो हाथ को गरम पानी में रखकर या हाथ पर गरम टोवेल रखकर गरम करें। फिर ७० प्रतिशत अल्कोहल से त्वचा को स्वच्छ करें—और सूचि कूर्पर संधि में त्वचा के समांतर दिशा में अंदर प्रविष्ट करें। जब रक्त निकलना शुरू हो तो पूरी सिरींज भरके रक्त लें, फिर बंधन को ढीला कर दे, छोड़ दे और सूचि बाहर निकाल कर छेद पर कपास रख कर रक्तस्राव बंद कर दे। स्वच्छ और निर्जतुक कांच नलिका में रक्त को रख दें। यदि रक्त का सीरम जरूरी हो तो उसे सूखा लेवे। यदि संपूर्ण रक्त की आवश्यकता हो तो रक्तस्कंदन विरोधी दवा (Anti-coagulant) मिलाकर रखें। इसके लिए सोडियम साईट्रेट (Sodium citrate) मिलाना चाहिए। व्हेनपंक्चर के लिए बच्चों में एक्स्टर्नल जुगलर व्हेन (मन्या के बाहरी भाग से जानेवाली सिरा) का व्यध किया जा सकता है इसमें सहाय्यक उपचारिका की गोद में बालक को ऐसा सुलावे कि उसका सिर एक बाजू में हो और नीचे की ओर झुका हुआ हो। बालक रो पड़े तो सिरा और फूलकर ऊपर उठती है जिससे अधिक सुविधा होती है।

एक व्यस्क व्यक्ति के शरीर में से १५ से २० औंस की मात्रा में रक्तनिर्हरण करना चाहिए।

उपर्युक्त विवरण में सिरा को उत्थापन विधि, जल्दी न मिलने पर स्वेदन तथा रक्त मात्रा १५ से २० औंस जो ३७ १/२ तोले से ५० तोले के लगभग होती है—सब वर्णन आयुर्वेद वर्णन के साथ मिलता जुलता है।

सेविल ने निम्नलिखित रोगावस्था में व्हिनेसेक्शन करने को कहा है।

१. **एक्यूट पेरिकार्डाइट** (Acute Pericarditis)— पेरिकार्डियमस यह हृदय की आवरक कला है— इसके तीव्र शोथ को एक्युट पेरिकार्डाइटिस कहते हैं— वह हृद्रोग हैं। इसमें जब शरीर नीला काला पड़ने लगे (Cyanosis), लेटकर श्वास लेने में तकलीफ होने से बैठकर लेना पड़े (Orthopnea), और सिराएँ फूली हुई मिले— (Venous distention) तो समझना चाहिए कि हृदय पर अत्यधिक भार आ रहा है- और १५ से २० औंस की मात्रा में रक्त निकाल लेवे– इससे तुरन्त लाभ और वेदना प्रशम मिलता है।[१३२]

२. **क्रॉनिक हार्टडिसीज** (Chronic Heart disease)— यह जीर्ण हृद्रोग है— इसमें हृदय मांस पेशी का शोष (Myocardial degeneration) तथा हृदय कपाटों का वैगुण्य (Valvular disease) का समावेश होता है। इस रोग में जब पल्मोनरी कंजेक्शन (Pulmonary congestion) के लक्षण मिलते हैं (फुप्फुस का शोथ) तब व्हिनेसेक्शन करने से तात्कालिक लाभ मिलता है। इसी तरह हृदय की दक्षिण बाजू का जब तीव्रतर अवसाद होने लगे (Severe Failure of Right heart) जिसमें जुगलर व्हेन फूलने लगती है—शरीर श्याम-नीला पड़ने लगता है, यकृत् प्रदेश पर गुरुता होती है, जब कि यकृत् पर्शुका से खूब नीचे तक आ जाता है, और हृदय की गुरुता (ठेपन पर गुरुध्वनि)— जब कि हृदय खूब दाहिने बाजू में परिवृद्ध मिलता है—तब व्विनेसेक्शन करना चाहिए। इससे तात्कालिक वेदना प्रशम मिलता है।[१३३]

३. **एक्यूट पल्मोनरी एडिमा** (Acute pulmonary Oedema)—तीव्रतर फुप्फुस प्रणाली शोथ में जब कि श्वासकृच्छ्र, नाड़ी तीव्रता, कास, जुगलर व्हेन का उत्सेध आदि लक्षण मिलते हैं और जिसमें रक्तचाप बढ़ा हुआ हो–तथा एओरटा (Aorta–हृदय से निकलने वाली प्रधान धमनी) का वैगुण्य हो— १५ से २० औंस तक रक्त व्हेनेसेक्शन कर निकाल लेना चाहिए।[१३४]

४. **एक्यूट लोबार प्निमोनिया**[१३५] (Acute-Lobar perneumonial)— यह फुप्फुस का शोथ है—इसमें श्वासकृच्छ्र, तीव्रज्वर, कास, श्वास तीव्रता, मुख की ईषत् श्यावता इत्यादि लक्षण उत्पन्न होते हैं। इस रोग में दक्षिण हृदय का वैगुण्य उत्पन्न होता है—जो शरीर के श्यावनील वर्ण से तथा जुगलर व्हेन के फूलने से ज्ञात हो सकता हैं–यकृत की वृद्धि और स्पर्शासहत्व होता है—ऐसी अवस्था में व्हेनेसेक्शन कर १२ से १५ औंस रक्त निर्हरण करने में काफी फायदा होता है।

५. **युरेमिया** (Uraemia)—रक्त में यूरिया-इनऑर्गेनिक द्रव्यों के बढ़ने से जो मूत्रवह स्रोतों का अवसाद (Renal failure)— होता है उसे युरिमिया कहते हैं। इसमें बारंबार मूत्रता, श्वासकृच्छ्र, शिरःशूल, भ्रम, मानसिक.अस्वस्थता, अनिद्रा, तंद्रा, पिंडिकोद्वेष्टन, पाचनतंत्र की विकृतियां-छर्दि–अतिसार, शोष, शोथ ये लक्षण उत्पन्न होते हैं। ऐसी अवस्था में रक्तचापाधिक्य हो तब व्हिनेसेक्शन कर १/२ से १ पाईंट तक रक्त निकालना उचित होता है। जब आतुर पांडु (anemia) से पीड़ित न हो तभी यह करना चाहिए।[१३६]

कार्मुकता में सिद्धांत—ऊपर कुछ विकारों में आधुनिक दृष्टि से रक्तमोक्षण का महत्त्व स्पष्ट किया है। वस्तुतः ये रोग अत्यंत गंभीर हैं। ये सब सर्वांग शोथ, एकांग शोथ, मूत्ररोग, भ्रम, मूर्च्छा, संन्यास, श्वासकृच्छ्र, यकृतवृद्धि प्लीहावृद्धि, वृक्कावसाद, रक्तचाप (आवृतवात) इत्यादि अनेक रोगों के हेतु या उपद्रव या रोगसंस्कार हो जाते हैं जिनमें आयुर्वेद, ने भी रक्तमोक्षण उपाय कहा है इनकी विकृति रक्त के दुष्टि से होती है–यह दुष्टि अनेक घटक पदार्थों की विकृति है। उनका विचार करने पर ये सभी गंभीर रोग तथा अन्य क्षुद्र रोग और त्वचा की विकृतियों में रक्त निकालने से किस तरह लाभ हो सकता है यह अनुमान कर सकते हैं।

रक्त के घटक—रक्त में निम्नलिखित घटक होते हैं।

१. Red corpuscles—रक्तकण, White corpuscles—श्वेत कण और Plateless

२. प्लाझमा या रससदृशधातु—इसमें जल ९१ से ९२ प्रतिशत, घनपदार्थ—७ से ९ प्रतिशत इसमें प्रोटीन ७% सीरम एलब्यूमिन, सीरम ग्लोब्यूलिन और फिब्रिनोजिन प्रोटीन घटक है। इनॉर्गेनिक घटक (निर्रीद्रिय घटक) सोडियम, कैलशियम, पोटेशियम, मेगनेशियम, फॉस्फोरस आयोडीन, आयर्न (लोह), कॉपर (ताम्र) इत्यादि ०.९% प्रतिशत होते हैं। ऑर्गेनिक घटक (सेंद्रिय द्रव्य) में—जॉन प्रोटोन नाइट्रोजिनस पदार्थ (यूरिया, युरिक एसिड, झेंथीन, हायवोझेथीन, क्रियाटीन, क्रियाटिनीन, अमोनिया, (ऐमनो एसिड) न्यूट्रल फैट (स्नेह), ग्लुकोज (शर्करा) ये होते हैं।

इसके अतिरिक्त अंतर्ग्रंथि के स्राव, एंझाइम, एंटिबॉडी इत्यादि रहते हैं। ये सब घटक शरीर के पोषण, जीवन, तर्पण, बलवर्धन तथा निरोगता में अनन्य साधारण भाग भजते हैं। इनका विस्तार यहां अप्रस्तुत है।

जब हम कहते हैं कि रक्त की दृष्टि हुई है—तो उपर्युक्तों में कहीं पर भी दृष्टि संभाव्य हैं ऐसा समझना चाहिए इसमें कितना सूक्ष्म विचार संभव है इसका केवल निर्देश किया जाता है— रक्त के लाल कण आदि पदार्थों की वृद्धि क्षय अथवा असम्यग् उत्पत्ति, उनका जीवन (Life) प्राकृत न होना, उनका नाश (Distruction) प्राकृत न होना—नाश के बाद उत्पन्न भाव विशेष (Biproducts) उनका बराबर विलयन न होना, संवहन न होना, ताम्र, लौह, स्नेह आदि में भी इसी तरह कल्पना करें, रक्तवह स्त्रोत-सिरा, धमनी, त्वक् प्रताननी (Vanule) स्त्रोत (Pores)—हृदय, यकृत, प्लीहा इनमें अवयव वैगुण्य, कार्य वैगुण्य आदि अनेक विकार संभव हैं। शरीर में सेवित अन्न का वायु का तथा जल की संपूर्ण स्थिति रसरक्त द्वारा कृत्स्नकाय में संचारित, परिणमित, स्थित तथा प्रणाश को प्राप्ति होती रहती है। अतएव इनकी दृष्टि से अनेक रोग संभव है जो रक्तमोक्षण से प्रशम हो सकते हैं। इनका संपूर्ण विज्ञान—कारण कार्य भाव से बताना यद्यपि आज कठिन है तथापि इस विषय में गवेषणा से कुछ दृढ़ निश्चय की प्राप्ति हो सकती है। रक्तमोक्षण विधि में विचार्य कुछ समान भावों का शरीर दृष्टि से यहां निर्देश करेंगे।

शरीर में रक्तकण जो निर्माण होते हैं वे अपना कार्य करते करते नाश को प्राप्त होते हैं। इनका आयुष्य सामान्यतः ९० दिन से १४० दिनका माना जाता है। अर्थात् रक्तकण सरासर १२० दिन तक जीवित रहता है। यदि मज्जादि घटकों (Bone marrow) द्वारा रक्त का निर्माण बराबर न हो तो पांडुता प्रारंभ होती है। यहां रक्तोत्पत्ति तथा रक्तविनाश में एक समतुला होती है जिसमें यह कार्य अबाधमान चालू रहता है। लेकिन यदि किसी कारण से रक्त कण जल्दी विनाश को प्राप्त होने लगे तो यह क्रम टूटता हैं। रक्तकण के जल्दी विनाश का एक मुख्य कारण यह है कि—रक्त का निर्माण होते समय बराबर न होना। ये अपरिपक्व रक्तकण—स्रोतों से भ्रमण करते समय टूट जाते हैं। इनके टूटने से कई घटक स्वतंत्र हो जाते हैं (जो हम आम नाम से कह सकते हैं) जिनका योग्य विनिमय या विसर्जन होना चाहिए।

रक्त के विनाश में प्लीहा महत्त्व का काम करती है। इन लाल कणों का नाश कर रक्त नियमन में वह कार्य करती हैं, इसी तरह रक्त का संचय रखने का भी यह कार्य करती है। इन टूटे रक्तकणों से पित्त का निर्माण होता है। आयुर्वेद में "पित्तं रक्तस्य विकृतेः" ऐसा कहा है। यकृत रक्त के निर्माण में और प्लीहा इस तरह नियंत्रण में कार्य

करती है। अर्थात् रक्त दुष्टि का परिणाम इन पर अवयव वैगुण्य कारक होता— इसी तरह इसकी दुष्टि से रक्त विकृति भी होती है। अतएव ऐसे रोगों में रक्तनिर्हरण उनका भार कम करने में सहाय्यक होता है तथा ऐसा भी माना जाता है कि रक्त निःसृति के बाद वृद्ध प्लीहा भी प्राकृत स्वरूप पर आ जाती है। इस तरह यकृत प्लीहा ये घटक उत्तेजना से कार्य कर शुद्ध रक्त निर्माण में लग जाते हैं। जिस तरह आम में उपवास और पाचन-शोधन काम करता है उसी तरह यहां समझना चाहिए। प्राकृत रक्त निर्माण, रक्त विनाश के वेग पर भी आधार रखता है। ऐसा समझा जाता है कि एक मास में लगभग १२५० मि. लि. रक्त उत्पन्न होता है। (यहां रक्तकण ऐसा अर्थ करें)। यदि शरीर प्राकृत हो तो रक्तस्राव (Haemorrhage) से उत्पन्न क्षति की पूर्ति करने के लिए १ मास लगता है। (यहां ध्यान में रहे कि रक्तमोक्षण के बाद आयुर्वेद में १ मास परिहार काल कहा है— जिनमें बल प्राप्ति होती है ऐसा हेतु बताया है)— इसका अर्थ ऐसा है कि रक्तप्रणाश से रक्त निर्माण कार्य चार गुना अधिक होता है, तथापि रक्त के रोगों से जिनके रक्त का क्षय होना हो (अथवा रक्त का निर्हरण कर दिया जाये) तो रक्त निर्माण का कार्य १० से १५ गुना ज्यादा वेग से होने लगता है।[१३७] संभवतः यही हेतु है कि आयुर्वेद रक्तमोक्षण द्वारा रक्तशोधन मानता है। नूतन निर्मित रक्त शुद्ध ही होगा।

यह रक्तकण के बारे में है। श्वेतकण का निर्माण, विनाश इत्यादि में तथा अन्य रक्त घटकों के संबंध में इसी तरह का विचार संभव है।

त्वचा के नीचे व्हीनस प्लेक्सेस (Venous plexus) में सतत रक्त की स्थिति रहती है और प्रायशः त्वचा का वर्ण इस रक्त के ऊपर निर्भर होता है। इस पर उष्ण, शीत वातावरण का भी प्रभाव होता है। रक्त के कार्य प्रसादन कार्य का इससे अनुमान करना चाहिए। रक्त-शरीर में श्वासोच्छ्वास (प्राणवह स्त्रोतस) के संस्थान का, भरण पोषण (Nutritive) का विसर्जन (excretary) का, जल और आप्य धातु की तुला की समानता रखने का (The maintainence of water content of tissue) शरीरताप का नियंत्रम, शरीर का बाह्य प्रतिघात से संरक्षण का कार्य प्राकृत अवस्था में करता है। इसी को आयुर्वेद में जीवन पोषण, रसात्मक ओज संवहन, प्राणानुबंधन इत्यादि कार्य के अंतर्गत बताया है। इन कार्यों का जितना गंभीर अध्ययन किया जाए—रक्तमोक्षण की कार्मुकता उतनी स्पष्ट होती रहती है।

सामान्यतः रक्तमोक्षण (अ)

१. रक्त की दुष्टियों को निकालकर

२. रक्त निर्माण वेग को बढ़ाकर

३. रक्त स्त्रोतों पर आने वाले दबाव को कम कराकर

४. रक्तवह स्त्रोतोमूल-यकृत-प्लीहा का दबाव कम कराकर-कार्य में उत्तेजना देकर

५. तथा उनके पोषण स्थान पर शुद्ध रक्त भरबूर मात्रा में भेजकर—रक्तज विकृति में लाभ करता है।

(आ) १. नवनिर्मित रक्त के द्वारा शरीर का पोषण, जीवन, बलवर्धन होकर तथा अन्य धातु, उपधातु, इनकी पुष्टि होकर शरीर के भावों का संपूर्ण चक्र बदल जाता है।

२. पित्तज दोष के शोधन के द्वारा पित्तज विकृतियां प्रशमित होती है।

३. नवनिर्मित शुद्ध पित्त स्वान् स्वान् गुणों और कर्मों को करता है और शरीर में पाचन, दीपन के कार्य के साथ पित्त के अन्य कार्य-साधक पित्त का मन संबंधित अभिप्रेतार्थ साधन इत्यादि का, रंजक पित्त का, रसरंजनादि का, भ्राजक पित्त द्वारा त्वक् भ्राजन का कार्य-सुधर जाता है।

(ई) स्थानिक— प्रच्छान, शृंग, जलौका-अलाबु के द्वारा निर्हरण किया हुआ रक्त स्थानिक शोथ को कम करता है और दुष्ट घटकों के निकल जाने से रोपण में सहायक होता है।

संदर्भ

१. पित्तं तु स्वेदरक्ताश्रयां . . . . तेनेषामाभयाश्रयिणी मिथः।
यदेकस्य तदन्यस्य बर्धनं सपणमौषधम्।। अ. ह. सू. ११-१६

२. तत्र पांचभौतिकस्य चतुर्विधस्य . . . स रसः इत्युच्यते। स खल्वाप्यो रसः यकृतप्लीहानौ प्राण्य रागमुपैति। रंजितास्तेजसास्त्वापः शरीरस्थेन देहिनां। अव्यापन्ना प्रसन्नेन रक्तमित्यभिधीयते।। सु. सू. १४-१ से ६

३. शोणितवहानां स्त्रोतसां यकृन्मूलंप्लीहाव।। च. वि. ५-१२

४. (ड) अन्नात्पच्यमानात् विण्मूत्र मलः, सारो, रसः, रसादाग्निपक्वात् मलः कफः, स्थूलो भागो रसः, अणुभागोरक्तम् रक्तादाग्नि पक्वाद् मलः पित्तं, स्थूलभागः शोणितं अणुभागस्तु मांसमिति। ततोऽपि . . . . सु. सू. १४-१० पर

५. आमाशयाश्रयं पित्तं रंजर्क रसरंजनात्।। अ. ह. सू. १२-१३

६. अति निसृःतरक्तो वा क्षौद्रयुक्तं दिवेदस्रृक्।
यकृद्वा भक्षयेदाजमामं पित्त समायुतम्।। सु. उ. ४५-२८

७. १. . . . प्लीहाभिवृद्धि कुरुते स जीर्ण ज्वर उच्यते।। मा. नि.
२. मेदसि स्वपनं कटयां प्लीहावृद्धिः कृशांगता।। अ. ह. सू. ११-१८

८. विस्रता द्रवता रागः स्यंदनं लघुता तथा।
भूम्यादीनां गुणाह्येते दृश्यन्तें चात्र शोणिते।। सु. सू. १४-१६

९. त्वकं मांस स्नायु संक्लेदो रक्तक्लेदाद्विजायते।। च. चि. २१-७०

१०. १. तपनीयेद्रगोपाभं पद्मलक्तक संन्निभम्।
गुंजाफल सवर्णच विशुद्ध विद्धि शोणितं। च. सू. २४-२२
२. इंन्द्रगोप प्रतीकाशमसंहतमविवर्णच प्रकृतिस्थं जानीयात्। सु. सू. १४-१८

११. प्रीणनं जीवनं लेपः .... धातुनां श्रेष्ठ कर्म क्रमात्स्मृतम्।। अ. ह. सू. १

१२. धारयतीति-शरीरं पूतितां गतु न ददादि इति धारि। च. पा.
जीवयति प्राणान् धारयतीति जीवितम्।। च. सू. १-४२

१३. देहस्य रुधिर मूलं रुधिरेणैव धार्यते।
तस्माद् यत्नेन संरक्ष्यं रक्तं जीव इहस्थितिः।। सु. सू. १४-४४

१४. रक्तवर्ण प्रसादं मांस पुष्टिं च जीवयति।
तेषां (धातूनां) क्षयवृद्धिः शोणित निमित्तेः।। सु. सू. १४-२१

तद्विशुद्धं हि रुधिरं बलवर्ण सुखायुषा।
युनक्ति प्राणिनां प्राणः शोणित ह्यनुवर्तते।। च. सू. २४-४
धातूनां पूरणं वर्ण स्पर्शज्ञानम संशयम् :
स्वाः सिराः संचरद्रक्तं कुर्याच्चान्यान् गुणांश्चपि।। सु. शा. ७-१४
प्रसन्न वर्णेद्रियमिद्रियार्थान इच्छंतमभ्याहत पक्तृवेगं
. . . . विशुद्ध रक्तं पुरुषं वदंति। च. सू. २४-२४

१५. कर्णाक्षिमुख जिह्वनां नासौष्ठ पादतल नख ललाट मेहनं स्निग्धरक्त वर्ण श्रीमद् भ्राजिष्णु रक्तसारणां।। सा सारता सुखमुद्वतां मेधां मनस्विनं सौकुमार्यमननिबलमक्लेश सहिष्णुत्थ उष्णासहित्वं चाचष्टे।। च. वि. ८-१४

१६. १. प्रदुष्ट बहु तीक्ष्णोष्णैमद्यैरन्यैश्च तद्विधैः।
तथाति लवण क्षारैरम्लैः कटुभिरेव च।।
कुलत्थ माष निष्पाव तिलतैल निषेवणैः।
पिंडालु मूलकादीनां प्रसहानांच सेवनात्।।
जलजानूप बैलानां प्रसहानांच सेवनात।
दध्यम्लमस्तु शुक्तानां सुरासौवीरकस्य च।।
विरुद्धानामुपक्लिन्न पूतीनां भक्षणेन च।
भुक्त्वा दिवा प्रस्वपतां द्रविस्निग्ध गुरुणि च।।
अत्यादानं तथा क्रोधं भजतां चातपानिलौ।
छर्दिवेग प्रतीघाताद् काले चानवसेचनात्।।
श्रमाभिघात संतापैरजीर्णाध्यशनैस्तया।
शरत्काल स्वभाववाच्च शोणितं संप्रदुष्यति।। च. सू. २४-५ से १०
२. क्रोध शोक भययासोपवास . . . पित्तं प्रकोपमापद्यते।
पित्त प्रकोपेणेव चामीक्ष्णं . . . असृक प्रकोपमापद्यते।। सु. सू. २१-२१, २५

१७. १. अरुणाभं भवेत् वातात् विशदं फैनिलं तनु।
पित्तात्पीतासितं रक्तं स्त्यायत्यौष्ण्याच्चिरेण च।।
ईषद पांडु कफात् दुष्टं पिच्छिलं तंतुमद् घनं।
संसृष्ट लिङ्ग संसर्गात् त्रिलिङ्ग संन्निपातिकम्।। च. सू. २४-२१
२. तत्र फेनिलमरुणं कृष्णं परुषं तनु शीघ्रमस्कंदि च वातेन दुष्टं, नीलं पीतं हरितं श्यावं विस्त्रमनिष्टं पिपीलिका मक्षिकाणामस्कंदिच, पित्तेन दुष्टं, गैरिकोदक प्रतीकाशं स्निग्धं शीतलं बहलं पिच्छिलं चिरस्त्रावी मांसपेशी प्रभं च श्लेष्म दुष्टं, सर्वलक्षण संयुक्तं कांजिकाभं, विशेषतो दुर्गंधी च सन्निपात दुष्टम्। द्विदोष लिङ्ग संसृष्टम्। सु. सू., १४-२१

१८. तद् दुष्टशोणितमनिर्हियमाणं कंडुशोफ राग पाक वेदनां जनयेत्।। सु. सू. १४-२३

१९. कुर्यात् शोणितरोगे तु रक्तपित्तहरी क्रियाम्।
विरेकमुपवासंच स्त्रावणं शोणितस्य च ।। च. सू. २४-१६

२०. १. ततः शोणितजा रोगाः प्रजायंते पृथग्विधाः।
मुखपाकोक्षिरोगश्च पूतिघ्राणास्यगंधिता।।
गुल्मोपकुश वीसर्प रक्तपित्त प्रमीलकाः।
विद्रधी रक्तमेहश्च प्रदरो वातशोणितम्।।
वैवर्ण्यमग्निसादश्च पिपासा गुरुगात्रता।
संतापश्चातिदौर्बल्यमरुचिः शिरसश्च रुक्।।
विदाहश्चान्नपानस्य तिक्ताम्लोद्विगरणं क्लम्ः।

क्रोधः प्रचुरता बुद्धेः संमोहो लवणास्यता।।
स्वेदः शरीर दौर्गंध्यं मदः कंपः स्वरक्षयः।
तंद्रानिद्राति योगश्च तमसश्चाति दर्शनम्।।
कंड्यूरुः कोठपिडका कुष्ठ चर्मदलादयः। च. सू. २४-११ से १६

२. वक्ष्यंते रक्तदोषजा। कुष्ठवीसर्प पिडका रक्तपित्तमसृग्दरः।।
गुदमेद्रास्यपाकश्च प्लीहा गुल्मशोथ विद्रधीः।।
नीलिका कामला व्यंग्यं पिप्लवस्तिल कालकाः।
दद्रुश्चर्मदलं श्वित्रं पामा कोठोस्र मंडलम्।।
रक्तप्रदोषाज्जायंते . . . . ।। च. सू. २८-२४, २७

३. कुष्ठविसर्पपिडका मशक नीलिका तिलकालक, न्यच्य व्यंग्य इंद्रलुप्त प्लीहविद्रधि गुल्म वातशोणितार्शोऽर्बुदांगमर्दासृग्दर पित्त प्रभृतयोः रक्तदोषजाः गुदमेद्र पाकाश्च।। सु. सू. १४-६

४. . . . . रक्तं विसर्पप्लीह विद्रधीन्।
कुष्ठ वातास्र पित्तास्र गुल्मोपकुश कामलाः।
व्यंगाग्नि नाश संमोह रक्तत्वक् नेत्र मूत्रताः।। अ. ह. सू. ११-६

५. . . . . प्रायो दुष्यते कुरुते ततः।
विसर्प विद्रधि प्लीह गुलमाग्नि सदन ज्वरान्।
मुख नेत्र शिरारोग मद तृट् लवणास्यता।
कुष्ठ वातास्रपित्तास्र कट्वम्लोदिगरणं भ्रमात्।। अ. ह. सू. २७-२, ३

२१. शीतोष्णस्निग्ध रुक्षाद्यैरुपक्रांताश्च ये गदाः।
सम्यक् साध्या न सिद्धयंति रक्तजांस्तान् विभावयेत्।। च. सू. २४-१७
अ. ह. सू. २७-५

तेषु स्रावयितुं रक्तमुद्रिक्तं व्यर्धयेत्सिराम्। अ. ह. सू. २७-५

२२. यदा तु रक्त वाहीनि रससंज्ञा वहानिच।
पृथक् पृथक् समस्ता व स्रोतांसि कुपितो मलाः।
. . . जार्यते व्याधयस्तदा।
मदमुर्च्छायिः संन्यासस्तेषां विद्याद् विचक्षणः।। च. सु. २४-२५, २६

२३. यथोतरं बलाधिक्यं हेतु लिंगोपशांतिषुः। च. सू. २४-२७ से २६
दोषैषु मदमूर्च्छायाः कृतवेगेषु देहिनां।
स्वयमेवोपशाभ्यंति संन्यासो नौषधैर्विनां।। च. सू. २४-४२
स ना संन्यासस्तः काष्ठी भूतो मृतोपमः।
प्राणैर्वियुज्यते शीघ्रं मुक्त्वा सद्यः फलां क्रियाम्।। च. सू. २४-४४

२४. अविस्त्राव्याः सर्वांग शोफः, क्षीणस्य चाम्लभोजन निमित्ताः।
पांडु रोग्यर्श सोदरि शोषि गर्भिणीणां च श्वयथवः। सु. सू. १४-२४

२५. तस्मान्नशीते नात्युष्णे नास्विन्ने नातितापिते।
. . . . शोणितं मोक्षयेद्भिषक्।। सु. सू. १४-२४
नैवाति शीते नात्युष्णे न प्रवाते न चाग्निते।। सु. शा. ८-७

२६. व्यभ्रे वर्षासु विध्येत्तु ग्रीष्मकाले तु शीतले।
हेमन्त काल मध्याह्ने शस्त्रकालास्त्रयः स्मृताः।। सु. शा. ८-१०

२७. तत्रशस्त्रविस्त्रावर्ण द्विविधम्। प्रच्छानं सिराव्यधनं च ।। सु. सू. १४-२५

२८. जलौकः क्षारदहनः काचोपल नखादयः।
अलौहान्यनुशस्त्राणि तान्येवंच विकल्पयेतृ।। अ. ह. सू. २६-२७

२९. १ भिषग् वातान्वितं रक्तं विषाणेन विनिहरेत्।
पित्तान्वितं जलौकाभिः च. चि. २१-६६, ७०
कफान्वितमलाबुभिः। यथासन्नं विकारस्य व्यधयेयाशु वा सिराम।।

२ तत्र वात पित्त कफदुष्ट शोणितं यथासंख्य शृंग जलौकालाबुभिःअवसेचयेत् सर्वाणि सर्वैर्वा विशेषस्तु विस्त्राक्ष्यं शृंगजलौकाबुभिः गृह्णीयात्।

३ उष्णं समधुरं स्निग्धं गवां शृंगं प्रकीर्तितं। तस्माद्वातोपसृष्टे तु हितं। तदवसेचने। शीताधिवासा मधुरा जलौकां वारि संभवा। तस्मात्पित्तोपसृष्टे तु हिता सा त्ववसेचने।। अलाबु कटुकं रुक्षं तीक्ष्ण वा परिकीर्तितम्। तस्मात् श्लेष्मोपसृष्टेतु हितं तदवसेचने।। सु. सू. १३-३ से ७

३०. युंज्यान्नालाबु घटिका रक्तपित्तेन दूषिते। तासामनल संयोगात्। . . . . युंज्यातु कफ वायुना। कफेन दुष्टं रुधिरं न शृंगेण विनिर्हरोत्। स्कन्नत्वात्, वातपित्ताभ्यां दुष्टं शृंगेण निर्हरेत्।। अ. ह. सू. २६-४६

३१. १ प्रच्छानेतैकदेशस्यं ग्रथितं जलजन्मभिः। हरेत् शृंगादिभिः सुप्तं असृग्वापि सिराव्यधैः।
प्रच्छानं पिंडिते वा स्यात् अवगाढे जलौकसः। त्वक्स्थेऽलाबु घटी शृंगै सिरै
ध्यापकेऽसृजि।। अ. ह. सु. २६-५०, ५१

२ सिरा विषाग तुंबैस्तु जलौकाभिः पदैस्तथा। अवगाढं यथापूर्व निहरेद् दुष्ट शोणितम्। अवगाढे जलौकास्याद् प्रच्छानं पिंडिते हितं। सिरांग व्यापके रक्ते शृंगालाबु त्वचिस्थिते।। सु. शा. ८-२५, २६

३२. डल्हणः–इदानीं शिराविषाणादीनां रक्तावसेचनोपायाना यथापूर्व गुरुता दर्शयन्नाह-शिराविषाणेत्यादि। पदैः प्रच्छानैः अवगाढभ्यंतराश्रयं यथा पूर्व पूर्वानाति क्रमेण, एतेन उत्तानं पदैः, अवगाढं जलौकाभिः, अवगाढतरं तृंबैः अवगाढतमं विषाणेन सर्वांगिकमवगाढतमं सिरादिभिरति।। उपर्युक्त पर।।

३३. १ डल्हणः–शृंगालाबु सुकुमारोपायौ, जलौकसः तु परमसुकुमारोपायः असुकुमारौ-पायश्च प्रच्छानं सिरा व्यधनंच।। सु. सू. १३-२ पर

२ जलौकासस्तु सुखिनां रक्तस्त्रावाय योजयेत। अ. ह. सू. २६-३५

३ नृपाढ्यबालस्थविर भीरु दुर्बल नारी सुकुमाराणामनुग्रहार्थ परम सुकुमारीयं शोणितावसेचनोपायोऽभिहितो जलौकसः।। सु. सू. १३-२

३४. जलमासायुरिति जलायुकाः। जलमासामोकमिति जलौकसः।। सु. सू. १३-६

३५. नाभिर्दष्टे पुरुषे दंशे श्वयथु मात्रं कंडू मूर्च्छा ज्वरो दाह च्छर्दि मदः सदनमिति लिंगानि।
सु. सू. १३-६

३६. तत्र सविष मत्स्य कीटक दर्दुर मूत्रपुरीषकोथ जाताः कलुष्वेष्वंभसु च सबिषाः।
सु. सू. १३-१३

३७. तत्र दुष्टाम्बु सर्प मंडूक मत्स्यादि शाव कोथ मूत्र पूरीषजाः।। अ. ह.

३८. पद्मोत्पल नलिन कुमुद सौगांधिक कुवलय पुंडरीक-शैवल कोथ जाताः विमलेष्वंभसु च निर्विषाः। क्षेत्रेषु विचरंत्येताः सलिलाढ्या सुगंधिषु। न च संकीर्णचारिण्यो न पंकेशयाः सुखा।।
सु. सू. १३-१३, १४

३९. तासांयवनपांड्यसह्यपौतनादोनिक्षेत्राणि। तेषू महाशरीराः बलवत्यः शीघ्रपायित्वो महाशना निर्विषाश्च विशेषेण भवंति।। सु. सू. १३-१२ सटीक

४०. 1. Leach:– Any Parasitic annalid of the class Hirudinea,

2. Hirudin–The active principle of a secretion derived from buccal glands of Leaches. It prevents coagulation of the blood.

3. Hirudo– A genus of Leaches of the class Hirudinea.

४१. 1. Some Leaches have been detrimental and some have aided medicinally Infesitation by Leaches may be either internal on external.

2. Hirudo medicinalis– The medicinal Leach Formarly extensively used for blood Letting. (Blackinston's Illustrated Pocket Medical Dictionary).

४२. तत्र द्वादशस्तांसा, सविषा षट् तांवत्येष निर्विषाः।। सु. सू. १३-८

४३. १. तत्र सविषाः कृष्णा कर्बुरा अलगर्दा इंद्रायुधा सामुद्रिका गोचंदना चेति। तासु अंजनचूर्ण वर्णा पृथुशिराः कृष्णा,वर्मिमत्स्यायता च्छिन्नोऽतःकुक्षिः कर्बुरा रोमशा महापार्श्वा कृष्णमुखी अलगर्दा इंद्रायुधावदूर्ध्वं राजिभिश्चित्रिता इन्द्रायुधा, गोवृषणवदधोभागे द्विधाभूताकृतिरणुमुखी गोचंदना चेति।। सु. सू. १३-९

२. डल्हण–तासामाकृतिं निर्देष्टुमाह तास्वंजनेत्यादि। अंजनं कज्जलं। पृथुशिराः महामस्तकाः, वर्मिमत्स्यः सर्पाकारः, अन्ये रोहित मत्स्यमाहुः, च्छिन्नोन्नत कुक्षिः इति क्वचित् छिन्न कुक्षि, क्वचित् उन्नत कुक्षिः रोमशः इति वलियुक्तत्वाद् रोमशब्देन प्रतिभाति इंद्रायुधं शक्रधनुः, चित्राविचित्रता मंडित्येत्यर्थः, विचित्रपुष्पाकृति चित्रेति नाना संस्थान धवलवदिंद्रचित्रा, गोदृष्णावादिति-वृषमांड इन अधोभागे द्विप्रकार भूता इति।।

३. रक्तःश्वेतः भृशंकृष्णश्चपलाः स्थूलः पिच्छिलाः। इंद्रायुध विचित्रोर्ध्वं राजयो रोमशास्तथा। सविषा वर्जयेत्।। अ. हृ. सू. २६-३६

४४. कपिला पिंगला शंकुमुखी मूषिका पुंडरीकमुखी सावरिका चेति।। (निर्विषाः) तत्र-मनः शिलारंजिताभ्यामिव पार्श्वाभ्यां पृष्ठे स्निग्धमुद्गवर्णा कपिला, किंचिद्रक्ता वृत्तकाया पिंगाशुगा च पिंगला यकृद्वर्णा शीघ्रपायिनी दीर्घतीक्ष्णमुखी च शंकुमुखी, मूषिकाकृतिवर्णाऽनिष्टगंधा च मूषिका मुद्गवर्णा पुंडरीकवत्तुस्यवक्त्रा, पुंडरीकमुखी। स्निग्धापद्मपत्रवर्णाष्टादशांगुलप्रमाणा च सावरिका सा च पश्चर्थे। इत्येता अविषाः व्याख्याताः। सु. सू. १३-१२

४५. निर्विषा शैवल श्यावा वृत्ता नीलोऽर्ध्वराजयः।
कषायपृष्ठास्तन्व्यंग्यः किंचित्पीतोदराश्च याः।। अ. हृ. सू. २६-३८

४६. सर्वासांच परं प्रमाणं अष्टादशांगुलानि तत्र चतुष्पंच षडंगुला नृपु योजयेत् गजवाजिषु अपरा, तासु सुकुमारास्तनु स्वचोऽल्प शिरस्का वृहद्धारकायाच स्त्रियः, विपरीता पुमांसोऽर्धछेंद्राकृति पुरोवृत्ताश्च। तत्र बहुदोषेषु चिरोत्थितेषु चामयेषु पुर्मासी योजयितव्याः। स्त्रियो विपरीतेषु।। अ. स.

४७. क्षेत्राणि ग्रहणं जाति पोषणं सावचारणम्।
जलौकसां च यो वेत्ति तत्साध्यान् स जयेत् गदान्।। सु. सू. १३-२४

४८. तासां ग्रहणमार्द्रचर्मेणान्यैर्वा प्रयोगैर्गृह्णीयात्। सु. सू. १३-१६
डल्हण–तासां ग्रहणोपायं दर्शयन्नाह, तासां ग्रहणमित्यादि।
ग्रहणंवासां शरत्काले-तंत्रांतर वचनात्, अन्यैर्वा प्रायोगैरिति सद्योहत जंतुमांस पेशी नवनीतघृत क्षीराद्यभ्यक्त जंघाद्यवयवैर्वा।।

४९. १. दिवा सूर्यांशुसंतप्तं निशिचद्रांशु शीतलं।
. . . . कालेन पक्वं निर्दोषमगस्त्येनाविषीकृतं।।

हंसोदकमिति ख्यातं शारदं विमलं भुवि।
स्नानपानावगाहेषु हितमम्बु यथामृतम्।। च. सू. ६-४६, ४७

२. तप्तं तप्तांशुकिरणैः शीतं शीतांशुरश्मिभिः।
. . . . शुचिहंसोदकं नाम निर्मलं मलजिज्जलम्। अ. हृ. सू. १ २ ५ ३-५

५०. अथैनां नवे महति घटे सरस्तडागोदकपंकमवाप्य निदध्याद। भक्ष्यार्थे चासामुपहरेत्शैवलं वल्लुरंऔदकांश्च कंदाश्चूर्णीकृत्य, शय्यार्थं तृणमौदकानि च पत्राणि द्व्यहात् त्र्यहात् चाभ्योऽन्यज्जलं भक्ष्यं च दद्यात् सप्तरात्रात् सप्तरात्राद् घटमन्यं संक्रामयेत्।। सु. सू. १३-१७

५१. स्थूलमध्या परिक्लिष्टा पृथ्व्यो मंदविचेष्टिताः।
अग्राहिण्योऽल्प पायिन्यः सविषाश्च न पूजिताः। सु. सू. १३-१८

५२. गुल्मार्शी विद्रधीन् कुष्ठ वातरक्त गलामयान्।
नेत्ररुग् विषदीसपान् शमयति जलौकसः।। अ. हृ. सू. २६-३५

५३. गृहीताश्च ताः सर्षपरजनीकल्कोदक प्रदिग्ध गात्रीः सलिल सरकमध्ये मुहूर्त स्थित्वा विगतक्लमाज्ञात्वा ताभिः रोगं ग्राहयेत्।। सु. सू. १३-१९

५४. अथेतरानिशा कल्क युक्तेऽम्भसि परिप्लुताः।
अवंतिसोमे तक्रे वा पुनश्चाश्वासिता जले। लागयेत् . . . . ।। अ. हृ. सू. २६-४०

५५. ता अप्यसभ्यग्वमनात् प्रततं च निपातनात्।।
सीदंतीः सलिलं प्राप्य रक्तमत्ता इति त्यजेत्।। अ. हृ. सू. २६-३९

५६. अथ जलौकोऽसेकसाध्य व्याधितमुपवेश्य संवेश्य वा विरूक्ष्य चास्य तमवकाशं मृद्गोमय चूर्णेः यद्यरुजः स्यात्।। सु. सू. १३-१९

५७. १. . . . . श्लक्ष्ण शुक्ल आर्द पिचुप्लोतावच्छन्नां कृत्वा मुखमपावृणुयात्। अगृहणंत्यै क्षीरबिंदु शोणितबिंदुनां दद्याद्, शस्त्रपदानि वा कुर्दीत। यद्येवमपि न गृह्णीयात् तदन्यां ग्राहयेत्।। सु. सू. १३-९

२. लागयेत् धृत मृत्यन्य रक्त शस्त्र निपातनैः। अ. हृ. सू. २६-४१

३. यथा च निविशतेऽश्वखुरवदाननं कृत्वोन्नम्य च स्कंधं तथा जानीयात् गृह्णातीति, गृह्णातीं च आर्द्रवस्त्रावच्छन्नां कृत्वा धारयेत।। सु. सू. १३-२०

४. पिवंतीरुन्नत स्कंताश्छादयेन्मृदु वाससा। अ. हृ. सू. २६-४१

५. दंशे तोद कंडू प्रादुर्भावैविंजानीयाद् शुद्धमिदमाददातीति।। सु. सू. १३-२१

६. संपुक्तादद्युष्ट शुद्धास्त्राज्जलौका दुष्ट शोणितं।
आदत्ते प्रथमं हंसः क्षीरं क्षीरादकापिव।। अ. हृ. सू. २६-४२

७. अथशोणित गंधेन मुंचेन्मुखमस्याः सैंधव चूर्णेनावकिरेत्।। सु. सू. १३-२१

५८. १. अथ पतितां तंडुलं कंडन प्रदिग्ध गात्रीं तैल लवणाभ्यक्तमुखीं वामहस्तांगुष्ठांगुलीभ्यां गृहीतपुच्छां दक्षिणहस्तांगुष्ठांगुलीभ्यां शनैः शनैः अनुलोमयन् मार्जयेदामुखात्, वाप-येतावद् यावद् सम्य ग्वांत लिंगानि इति। सम्यग्वांता सलिल सरकन्यस्ता भोक्तुकामा सति चरेत्। या सीदति, न चेष्टते, सा दुर्वासा, तां पुनः सम्यग्वा मयेत्। दुर्वाताया व्याधिरसाध्य इंद्रमदो नाम भवति। अथ सुवतां पूर्ववद् सन्निदध्याद्।। सु. सू. १३-२२

२. पटुतैलाक्त वदनां श्लक्ष्ण कंडन रूषिताम्।
रक्षत् रक्तमदान्भूयः सप्ताहं तां न पातयेत्।
पूर्ववत् पटुता दाढ्र्य सम्यगवांते जलौकसाम्।
क्लमोतियोगान्मृत्युर्वा दुर्वान्ते स्तब्धता मदः।

अन्यत्रान्यत्रतास्थाप्याः घटे मृत्स्यांबुगर्भिणि।
लालादि कोथनाशार्थं सविषास्त्युः स्तदन्वयाद्।। अ. ह. सू.२६-४३ से ४५

५९. १. शोणितस्यच वेगावेगान् आवेक्ष्य शतधौत धृताभ्यंगस्तद् पिचु धारणं वा, जलौको ब्रणान् मधुनावघट्टयेद् शीताभिरद्भिश्च परिषेचयेत् वध्नीत वा, कषाय मधुर स्निग्ध शीतैश्च प्रदेहैः प्रदिह्यात् इति।। सु. सू. १३-२३

डल्हणः– तत्र योगे शतधौत धृताभ्यंगः, शतधौत धृताक्त पिचुधारणंवा, हीनयोगे किं कुर्यादित्याह-जलौक इत्यादि–अवघट्टयेत् चालयेत्स्रावणार्थम् अतियोगे किं कुर्यादित्याह-शीताभिरद्भिश्च परिषेचयेत् वध्नीत देति। शीतलजलपरिषेचनं बंधनंचजलौका मुखपदस्य रक्तस्थित्यर्थम्। मिथ्यायोगे-उपक्रममाह–कषायेत्यादि प्रदिह्यात्-लिंपेत्।।

२. शतधौताज्यपिचवस्ततोलेपाश्च शीतलाः।। अ. ह. सू. २६-४७

६०. डल्हण—शोणितस्रावणमपि पुरुष बल प्रमाणाद् दोष बलप्रमाणात् वा वातादिजनित व्याधिबल प्रमाणाद्वा, रक्तप्रस्थश्चकैकस्यां सिरायां मोक्षणीयः।। सु. सू. १३-२३ पर

२. दुष्टरक्तापगमनाद् सद्यो रागरुजां शमः। अ. ह. सू. २६-४७

६१. १. तार्भिदंष्टे पुरुषे दंशस्थाने श्वयथुरतिमात्रं कंडुर्मूर्च्छा ज्वरो दाह च्छर्दिमंर्दः सदनमिति लिंगानि भवति। तत्र महागदः पानालेपन नस्यकर्मादिषूपयोज्यः।। सु. सू. १३-६

२. त्रिवृद्विशल्ये मधुकं हरिद्रे रक्ता नरेंद्रो लवणश्च वर्गः।
कटुत्रिकं चैव विचूर्णितानि श्रृंगे निदध्यान्मधु संयुतानि।।
एषोऽगदो हंति विषं प्रयुक्तः पानांजनाभ्यंजन नस्ययोगैः।
अवार्य वीर्यो विषवेग हन्ता महागदो नाम महाप्रभावः।। सु. क. ५-६१, ६२

६२. १. सु. शा. ७
२. अ. ह. शा. ३ सर्वांश से
३. अ. सं. शा. ६

६३. स्रोतांसि सिरा धमन्यो रसायन्यों नाड्यः पंथानो मार्गाः शरीर छिद्राणि संवृता संवृतानि स्थानानि आश्रयाः क्षयाः निकेताश्चेति शरीरधात्वदकशानां लक्ष्यालक्ष्याणां नामानि भवंति। च. वि. ५-१७

६४. सु. शा. ६-२ टीका, ६-२२, ६-२७, २८ देखें।

६५. शिरासु शिक्षितो नास्ति चलाह्येताः स्वभावतः।
मत्स्यवत्परिवर्तते तस्माद् यत्नेन ताडयेत्।। सु. शा. ८-५६

६६. एवं यंत्रोदायनान्यांश्च शिरोत्थापन हेतून् बुद्ध्या वीक्ष्य शरीरबलेन व्याधिबलेन च विदध्याद्।। सु. शा. ८-१७

६७. बाल स्थविर रुक्ष क्षतक्षीण भीरु परिश्रांत मद्यपाध्व स्त्रीकर्षित वमितविरिक्तास्थापित अवासित जागरित क्लीब कृश गर्भिणीनां कासश्वास शोष प्रवृद्ध ज्वराक्षेपक पक्षाघातोपवास पिपासा मूर्च्छा प्रपीडितानां च न सिरां विध्येत्। यश्चाव्यध्याः, व्यध्याश्चा दुष्टाः, दुष्टाश्चायंत्रिताः, यंत्रिताश्चानुत्थिताः इति।। सु. शा. ८-३

६८. नैवातिशीतेनात्युष्णे।। सु. शा. ८-७ से १०

६९. प्रतिषिद्धानामापि च विषौपसर्ग आत्ययिके च सिरा व्यधनम् प्रतिषिद्धम्।। सु. शा. ८-५

७०. पृथुः कुठारी गोदंतसदृशार्धांगुलाननां
तयोर्ध्वदंडया विध्येदुपर्यस्थां स्थितां सिराम्।। अ. ह. सू. २६-१२

७१. . . . तथाध्यर्धांगुलं फले।।
व्रीहि वक्त्रं प्रयोज्यंच तच्छिरोदरयोर्ध्यधे।। अ. ह. सू. २६-११

७२. कूर्चोवृतैकपीठस्थाः सप्ताष्टौ वा सुबंधनः।। अ. ह. सू. २६-२२

७३. तत्र स्निग्ध स्विन्नमातुरं यथादोष प्रत्यनीकं द्रवपायमन्नं भुक्तवतं यवागूं पीतंवंत यथाकालमुपस्थाप्यासीनं वा प्राणानवाध्यमानो वस्त्रचर्म बल्कल लतानामन्यतमेन वा यंत्रयित्वा नाति शिथिलं शरीर प्रदेशमासाद्य प्राप्तं शस्त्रमादाय शिरा विध्येत्।
सु. शा. ८-६

७४. तत्रव्यध्यसिरं पुरुषं प्रत्यादित्य मुखमरत्नि मात्रोच्छ्रिते उपवेश्यासने सक्थनो संकुचितयोर्निवेश्य कूपरे संधिद्वयस्योपरि हस्तावंतर्गूढांगुष्ठकृतमुष्ठी मन्ययोः स्थापयित्वा यंत्रणशाटकं ग्रीवामुष्टियोरुपरि परिक्षिप्यानेन पुरुषेण पश्चात्स्थितेन वामहस्तेनोत्तानेन शाटकांतद्वय ग्राहयित्वा ततो ब्रूयात् दक्षिणहस्तेन शिरोत्थापनार्थ नात्यायतशिथिलं यंत्रमावेष्टयेति। असृग्स्रावणार्थच यत्र पृष्ठमध्ये पीडयेति। कर्मपुरुषंच वायुपूर्ण मुख स्थापयेत्। एव उत्तमांगगतानामंतर्मुखवर्ज्यानां सिराणां व्यधने यंत्रणविधिः।।
सु. शा. ८-८

७५. पादव्यध्यासिरस्य पादं समे स्थाने सुस्थितं स्थापयित्वाऽन्यपाद्भीषत् संकुचितमुच्चैः कृत्वा व्यध्यसिरं पादं जानुसंधेरधः शाटकनावेष्ट्य हस्ताभ्यां प्रपीड्य गुल्फं व्यध्यप्रदेशस्योपरि चतुरंगुले प्लोतादीनामन्यतमेन पादसिरां व्यधेत्।

७६. अथोपरिष्टाद्धस्त्रो गूढांगुष्ठावृत मुष्टी सम्यगासने स्थापयित्वा सुखोपविष्टस्य पूर्ववत् यंत्रबद्धा हस्तसिरां विध्येत्।

७७. गृध्रसोविश्वाच्योः संकुचित जानु कूर्परस्य, श्रोणि पृष्ठ स्कंधेषुन्नामित पृष्ठस्यावाक् शिरस्कोपविष्टस्य विस्फूर्जित पृष्ठस्य विध्येत्। उदरोरसोः प्रसारितोरस्कस्योन्नमित शिरकस्य दिस्फूर्जित देहस्य, बाहूभ्यामवलंब्यमान देहस्य पार्श्वयोः अवनामित मेढ्रस्य मेढ्रो, उन्नमित विदष्ट जिह्वाग्रस्याधो जिह्वायाम् अतिव्यत्ताननस्य तालूनि दंतमुलेषु च। सु. शा. ६-८

७८. मांसलेष्वकाश्रेषु यवमात्रं शस्त्र निदऽध्याद्, अतोऽन्ययार्धयव मात्रं व्रीहिमात्रं वा व्रीहि मुखेन। अस्थ्यामुपरि कुठारिकया विध्येदर्धयवमात्रम्।। सु. शा. ८-६

७९. यथोक्तानामदर्शने। यथासत्त्वे मर्महीने देशेभ्यां व्यधयेत्सिराम्।। अ. ह. सू. २७-१८

८०. सु. शा. ८-१७, अ. ह. सू. २७-६ से १६

८१. यथा कुसुंभ पुष्पेभ्यः पूर्वंस्रवति पीतिका।
तथा सिरासुविद्धासु दुष्टमग्रे प्रवर्तते।। सु. शा. ८-१२

८२. सम्यग्शस्त्र निपातेन धारया वा स्रवेदसृक्।
मुहूर्त रुद्धा तिष्ठेऽच्च सुविद्धां तां विनिर्दिशेत्। सु. शा. ८-११

८३. सम्यग् गत्वा यदा रक्तं स्वयमेवावतिष्ठते। शुद्धं तदा विजानीयात् सम्यक् विस्रावितं च तत्।। लाघवं वेदना शांति वर्याधिर्वेग परिक्षयः। सम्यग् विस्राविते लिङ्ग प्रसादो मनसस्तथा।। सु. सू. १४-३२, ३३

८४. तदुदुष्टशोणितम् अनिर्हीयमाणं शोफ दाह राग पाकवेदनां जनयेत्।। सु. सू. १४-१६

८५. अत्युष्णेऽतिस्निग्धेऽतिविध्देऽज्ञेविस्रावितमति प्रवर्तते। तदतिप्रवृत्तं शिरोऽभितापमांध्यमधिमंथ तिमिर प्रादुर्भावं धातु क्षयमाक्षेपकं पक्षाघातमेकांगविकारं तृष्णा दाहौ हिक्कां कासं श्वासं पांडुरोगं मरणंचापादयति।। सु. सू. १४-३०

८६. मूर्च्छा यंत्र शौथिल्य कुष्ठ शस्त्रातितृप्तयः।
क्षामत्व वेगितास्वेदा रक्तस्यास्रुति हेतवः।। अ. ह. सू. २७-३५

८७. अप्रवृत्तमाने रक्ते एला शीतारि कुष्ठतगर पाठा भद्रदारु विडंग चित्रक चित्रकटुकागार धूम हरिद्रा किंकुर नक्तमाल फलैर्यथालाभं त्रिभिश्चतुर्भि समस्तैर्वा चूर्णीकृतैर्लवणतैल प्रगाढैः व्रणमुखमवधर्षयेदेवं सम्यक् प्रवर्तते।। सु. सू. १४-३५

८८. अयातिप्रवृते लोध्रमधुक प्रियंगुपत्तंगौरिफ सर्जरस रसांजन शाल्मलीपुष्प शंख शुक्ति माष यव गोधूम चूर्णैः शनैः शनैः व्रणमुखमवचूर्ण्यागुल्याग्रेण अवपीडयेत्। शाल सर्जार्जुनादि मेद मेषशृंग धवन त्वकभिर्या चूर्णिताभिः क्षौमेण, वाध्मापितेन लाक्षाचूर्णैर्वा, यथोक्त व्रणबंधनद्रव्यैर्गाढं वध्नीयात् शीताच्छादन भोजनागारैः शीतैः परिषेक प्रदेहैश्चोपाचरेत्। क्षारेणाग्निना वा दहेत यथोक्तं। व्यधनादनंतरं वा तामेवातिप्रवृत्तां सिरां विध्येत्।। काकोल्यादि क्वाथं वा शर्करामधु मधुरं पाययेत्। एणहरिणोरभ्रशंश महिष वराहाणां वा रुधिरं, क्षीरयूषैः सुस्निग्धैश्चाश्नीयात् उपद्रवांश्चे तथास्वमुपाचरेत्।।

सु. सू. १४-३६, ३७

८९. चतुर्विधं यदेतद्धि रुधिरस्य निवारणम्। संधानं स्कंदनंचैव पाचनं दहनं तथा।। व्रण कषायः संधत्ते रक्तं स्कंदयते हिमम्। तथा संपाचयेत् भस्म दाहः संकोचयेच्छिराः।। अस्कंदमाने रुधिरे संधानानि प्रयोजयेत्। संधाने भ्रश्यमाने तु पाचनैः समुपाचरेत्।। कल्परेतैस्त्रिभिर्वैद्यः प्रयतेत यथाविधि। असिद्धिमासु एतेषु दाहः परम इष्यते।। सु. सू. १४-३६ से ४२

९०. १. रक्तं सशेष दोषं तु कुर्यादपि विचक्षणः। न चाति निःसृतं कुर्यात् शेषं संशमनौर्जयेत्।। सशेष दोषे रुधिरे न व्याधिरतिवर्तते। सावशेषः ततः स्थेयं न कुर्यादति क्रमम्।।

सु. शा. ८-१४, १५

२. बलिनोबरुदोषस्य वयस्थास्यशरीरिणः। परं प्रमाणमिच्छति प्रस्थं शोणित मोक्षणे।। वमने च विरेकेच तथा शोणित मोक्षणे। सार्धत्रयो दशपलं प्रस्थमाहुर्मनीषिणः।।

सु. शा. ८-१६

बलदोष प्रमाणाद्वा विशुद्ध्या रुधिरस्य वा।
रुधिरं स्त्रावयेज्जंतोः आक्षयं प्रसमीक्ष्य वा।। च. सू. २४-१६

३. शेषं संशमनैर्जयंत्। हरेत् शृंगादिभिः शेषं प्रसादमथवा नयेत्।। अ. हृ. सू. २७-४७

९१. डल्हण . . . . रक्तप्रस्थश्चैकैकस्यां सिरायां मोक्षणीयः, तदपि द्वाभ्यां दिवसाभ्यां, प्रस्थश्चात्र उत्तममात्रा।
मध्यम मात्रा अर्धप्रस्थ :– अर्धप्रस्थश्चात्र कर्षाधिक षट्पलानि, एतदपि द्वाभ्यां अहोभ्यां स्त्रावणीयम्।
अधम मात्रा कुडवम्–अष्टमाषाधिकानि त्रीणि पलानि।। सु. सू. १३-२० पर

९२. तत्र दुर्विद्धातिविद्धा कुंचिता पिच्चिता, कुट्टिताऽप्रस्तुतात्युदीर्णा, अंतेऽभिहता परिशुष्का, कूणिता, वेपिता, अनुत्थित विद्धा, शस्त्रहता, तिर्यग्विद्धा अपविद्धा अव्यध्या धेनुका पुनः पुनर्विद्धा मांसशिरास्नाखस्थि संधि मर्मसुचेति विंशति दुष्टव्यधा।। सु. शा. ८-१७

९३. तत्र या सूक्ष्मशस्त्र विद्धाऽव्यक्तमसृक् स्रवति रुजा शोफवती च सा दुर्विद्धा।

सु. शा. ८-१८

९४. प्रमाणातिरक्तबिद्धामन्तःप्रविशति शोणितं शोणिताति प्रवृत्तिर्वा सतिविद्धा।

सु. शा. ८-१८

९५. कुंचितायामपि एवम्।

९६. कुंठ शस्त्र प्रमाथिता पृथुलीभाषमापन्ना पिच्चिता।

९७. अनासादिता पुनःपुनरंतयोश्च बहु शस्त्राभिहता कुट्टिता।

९८. शीत भय मूर्च्छाभिरप्रवृत्त शोणिता अप्रसूता।

९९. तीक्ष्णा महामुखशस्त्रविद्धा अत्युदीर्णा।

१००. अल्परक्तस्त्रावीण्यन्ते विद्धा।

१०१. क्षीणशोणितस्यानिलपूर्णा परिशुष्का।

१०२. चतुर्भागासादिता किंचित्प्रवृत्त शोणिता कूणिता।

१०३. दुःस्थान बंधनात् वेपमानायाः शोणित संमोही भवति सा वेपिता।

१०४. अनुत्थितविद्धायामपि एकमेव।

१०५. च्छिन्नतिप्रवृत्त शोणिता क्रियासंगकरी शस्त्रहता।

१०६. तिर्यक प्रणिहस्तशस्त्रा किंचिच्छेषा तिर्यक्विद्धा।

१०७. बहुशः क्षता, हीनशस्त्र प्रणिधानेनापविद्धा। सु. शा. ८-१८

१०८. अशस्त्रकृत्या अव्यद्ध्या।

१०९. अनवस्थित विद्धा-विद्रुता।

११०. प्रदेशस्य बहुशोऽवधट्टनातारोहद् व्यथा मुहुर्मुहुः शोणितस्त्रावा धेनुका।

१११. सूक्ष्म शस्त्र व्यधनात् बहुशो भिन्ना पुनः पुनर्विद्धा।

११२. सिरास्नाख्वस्थि संधि मर्मसु विद्धा रुजां शोफं वैकल्यं मरणं चापादयति।

सु. शा. ८-१८ (उपर्युक्त ९४ से ११३ तक सब)

११३. अजामतागृहीते। तु शस्त्रे काय निपातिते।
भवंति व्यापदश्चैता बहवश्चाप्युपद्रवाः।। सु. शा. ८-२१

११४. रक्तेऽम्ल शिशिर प्रीतिशिरा शैथिल्य रुक्षताः।। अ. हृ. सू. ११-१७
परुषा स्फुटिताम्लातां त्वग्रुक्षा रक्तसंक्षये।। च. सू. १७-६५

११५. १. नात्युष्णशीतम् लघु दीपनीयं रक्तेऽपनीते हितमन्नपानम्।
तदा शरीरं ह्यनवस्थिःतासृक अग्निर्विशेषेण च रक्षितव्यः।। च. सू. २३-२४

२. स्रुतरक्तस्य सेकाद्यैः शीतैः प्रकुपितेऽनिले।
शोफं सत्तोदं कोष्णे न सर्पिषा परिषेचयेत्।। सु. सू. १४-२५

३. धातुक्षयात्स्रुतेरक्ते मंदः संजायतेऽनलः।
पवनश्च परं कोपं याति तस्मात्प्रयत्नतः।।
तनोति शीदैलंघुभिः स्निग्धैः शोणितवर्धनैः।
ईषदम्लैरनम्लैर्वा भोजनैः समुपाचरेत्।। सु. सू. १४-३८

४. तत्रस्निग्ध स्विन्नवांत विरिक्तास्थापितानुवासितसिराविद्धैः परिहर्तव्यानि क्रोधायास मैथुन दिवास्वप्न व्यायाम यानाध्ययनस्थानासन चंक्रमण शीतवातातप विरुद्धासात्म्या जीर्णान्न्या बल लाभात् मासमेके मन्यतें। सु. शा. ८-२४

११६. १. अशुद्धंस्त्रावयेद्मूयः सायमह्न्य परेऽपि वा।
स्नेहोपस्कृत देहस्य पक्षाद्वा भृश दूषितम्।। अ. हृ. सू. २६-६

२. न तूनशोडशातीत सप्तत्यद्वस्रुतासृजाम्।। अ. हृ. सू. २६-६

३. . . . . शिराणां व्यधनं कार्यमरोगे वा कदाचन्। (न. इति. पूर्वः) सु. शा. ८-६

११७. गात्रं बद्ध वोपरि दृढं रज्वा पट्टेन वा समम्।
स्नायु संध्यस्थि मर्माणि त्यजन् प्रच्छानमाचरेत्। अ. हृ. सू. २६-५१

११८. अधोदेश प्रविसृतैः पदैरुपरिगामिभिः।
गाढधनतिर्यग्भिः न पदे पदमाचरन्।। अ. हृ. सू. २६-५२

११९. तत्र ऋज्वसंकोर्ण सूक्ष्मं समनवगाढं अनुत्तानमाशु च शस्त्रं पातयेन्मर्म सिरा स्नायु संधीनां चानुपघाती।। सु. सू. १४-२६

१२०. तत्र प्रच्छिते तनुवस्त्रपटल सूत्रावनद्धेन शृंगेण शोणितमवसेचयेत्। सु. सू. १३-७

१२१. डल्हण—अन्येतु . . . . . तनुबस्तिपटलसूत्रेणेति पठंति व्याख्यानयंति च-तत्रबस्तिर्मूत्राशयः, पटलं घनं सूत्रं मर्कटिका जालकं–तनुशब्दः उभयोरपि संबद्ध्यते। सु. सू. १३-७ पर

१२२. डल्हण—शृंगालाब् प्रमाणं भालुकी सकाशादवगंतव्यमं। तथाच तद्वच्च— ''विषाणश्वेत-गोरिदं चक्रं सप्तांगुलायतम्। क्षिप्तांतः पिचुपेशीकं योज्यं वातयुजेऽसृजि। अंगुष्ठमूलवन्मूले छिद्रमप्रेऽस्य मुदगवत्।। उपर्युक्त पर।।

१२३. अलाबुः कथिता तुम्बी द्विधा दीर्घा च वर्तुला। भा. प्र.

१२४. जलौका हस्तमात्रंतु तुंबी द्वादशांगुलं।
पदमंगुलमात्रस्य शिरा सर्वांगशोधिनी।। भा. प्र. पू. खं.

१२५. डल्हण—अष्टांगुलपरिणाहा चतुरंगुल नालसंमिता सुमुखी।
कृष्णमृदालिप्ततनुः श्रेष्ठा रक्तावसेचनऽलाबु।। सु. सू. १३-७ पर

१२६. तत्र प्रच्छिते तनुवस्त्र दढलावनद्धेन शृंगेण शोणितमवसेचयत् आचूषणात्।
सांतदीपयाऽलाध्वा। सु. सू. १३-७

१२७. १. स्निग्धस्विन्न शरीराय गुल्मे शैथिल्यमागते।
परिवेष्ट्य प्रदीपांस्तु बल्वजानथवा कुशान्।।
भिषक्कुंभे समावाप्य गुल्मं घटमुखे न्यसेत्।
संगृहीतो यदा गुल्मस्तदा घटमथोद्धरेत्।।
वस्त्रांतरं ततः कृत्वा भिद्याद् गुल्मं प्रमाणवित्।
विंमार्गाजपदादर्शयथा लाभं प्रपीडयेत्।। च. चि. ५-१३७ से १३९

२. . . . . स्निग्धस्विन्न शरीरस्य शिथिलतां गते गुल्मे यथोक्ता घटिकां लागयेत्।
तथा संग्रहीते च गुल्मे घटीमपदयेत् भिद्याद्वा।। अ. सं. चि. १६

१२८. १. तत्र मुंचेदसृक शृंग जलौका सुच्यलाबुभिः।
प्रच्छनैर्वा सिराभिर्वा यथादोषं यथाबलं।।
रुग्दाह तोदशूलार्तादशृक् स्राध्यं जलौकसा।
शृंगैस्तुंबैहरेत्सुस्निकंडू चिमचिमायनात्।।
देशाद्देशं व्रजत्स्राव्यं सिराभिः प्रच्छनेन वा।
आदग्लानौ न तु स्रावं रुक्षे वातोत्तरे च यत्।।
गंभीरं श्वयथुं स्तंभं कंपं स्नायुसिरास्रयात्।
ग्लानिचापि ससंकोचां कुर्याद्वायुरसृक् क्षयात्।
खांज्यादीन्वात रोगांश्च मृत्युं चात्यवसेचनात्।। च. चि. १५-३६ से ४०

२. पित्तजेषु विषृष्टेषु निस्तुते दुष्ट शोणिते।। मधुरं हितम्।। सु. चि. २२-४४

१२९. १. स्नेहादिभिः क्रियायोगैः न तथा लेपनैरपि।
यात्याशुव्याधयः शांति यथा सम्यक् सिराव्यधात्।। सु. शा. ८-२२

२. त्वक् दोषाः ग्रंथयः शोफाः रोगाः शोणितजाश्च ये
रक्तमोक्षण शीलानां न भवंति कदाचन्।। सु. सू. १४-३४

३. प्रसन्नवर्णेन्द्रियमिंद्रियार्थान् इच्छन्तमव्याहत पक्तृवेगं।
सुखान्वितं तुष्टि बलोपपन्नं विशुद्ध रक्तं पुरुषं वदंति।। च. सू. २४-२४

४. सिरांव्यधिश्चिकित्सार्द्ध शल्यतंत्रे प्रकीर्तितः।
यथा प्रणिहतः सम्यग् बस्तिः काय चिकित्सिते।। सु. शा. ८-२२

५. यान्यहोक्तानि कर्माणि विसर्प विनिवृत्तये।
एकतस्तानि सर्वाणि रक्तमोक्षणमेकतः।। च. चि. २१-१४१

१३०. The abstraction of blood from the body by incising the vein (in venesection), popularly known as bleeding. In practice, blood is usually removed in measured quantity by the use of needle or Trochar, passed into the vessel. Locally, small amount of blood may be removed by 'Scarifying' or leeching. "Blakistan's Illustrated Pocket Medical Dictionary."

१३१. Savill's system of clinical medicine
Page 1419 (Edition Fourteenth)

१३२. उक्त ग्रंथ-पृष्ठ-६७

१३३. उक्त ग्रंथ-पृष्ठ-१०८ और १०६

१३४. उक्त ग्रंथ-पृष्ठ-१८६

१३५. उक्त ग्रंथ-पृष्ठ-२००

१३६. उक्त ग्रंथ-पृष्ठ-५३२

१३७. Text book of Medical Physiology p—370 to 372

नवम अध्याय

उपकल्पनीय-विज्ञान

उपकल्पना के विषय में जो कथ्य है—वह उपकल्पनीय कहा जाता है और उपकल्पनीय के विषय में अर्थात् उपकल्पानाओं के बारे में जो विज्ञान है वह उपकल्पनीय विज्ञान–प्रस्तुत अध्याय का वर्ण्य विषय है। चरक ने भी शोधनादि कर्मों से पूर्व कुछ संभार संग्रह करना आवश्यक है, ऐसा कहकर सूत्रस्थान के १५वें अध्याय को 'उपकल्पनीय' अध्याय नाम देकर वक्ष्यमाण कर्मों के आवश्यक संभारों का इसमें निर्देश किया है। पंचकर्म विज्ञान में जो साधन सामग्री—भेषजादि कल्पों—उपकल्पों की आवश्यकता होती है उनका यहां विस्तार से वर्णन किया जाता है। वस्तुतः यह अध्याय प्रारंभ में देना चाहिए। किंतु उपयोग्य वस्तुओं का उपयोग मालूम होने पर उनका अधिक सरलता से विचार किया जा सकता है यह समझकर पहले पंचकर्म विषयों को स्पष्ट किया गया है।

चरकमत—सर्व प्रथम चरक ने उपकल्पनीय अध्याय में जिन संभारादि का निर्देश किया है—उनका विचार करेंगे। क्योंकि करीब दो से ढाई हजार वर्षपूर्व रचित इस ग्रंथ में आतुर–आतुरोपचार, आतुरयोग्य स्थान-आतुरालय इत्यादि का कितना सुंदर और समग्र वर्णन किया है वह पाठकों के समक्ष रखना प्रशस्त है।

चरक ने कहा है कि वमन-विरेचनादि कर्म करने के पहले वैद्य को चाहिए कि वे संभार संग्रह करें, क्योंकि औषधि का सम्यक् कार्य हो जाये तो भोजन आदि भोगों के लिए तथा व्यापद उत्पन्न हो जाए तो प्रत्येक व्यापद की कल्पना करते हुए उनके प्रतिकार के लिए इनका उपयोग होता है। 'देखा जाएगा' ऐसी वृत्ति इसमें नहीं होनी चाहिए, क्योंकि समय आने पर अत्यधिक अवस्था में धन होते हुए भी बाजार में वस्तु मिलेगी ही ऐसा नहीं होता। अतएव बुद्धिपूर्वक आवश्यक वस्तुओं का संग्रह करना चाहिए। ये संभार निम्नलिखित प्रकार से निर्दिष्ट किये गए हैं।

सर्व प्रथम कर्मों के लिए अनुकूल ऐसा गृहनिर्माण करना चाहिए। इसके लिए कुशल तज्ञों के द्वारा उत्तम प्रकार का मकान (आतुरालय) बनावे–जो दृढ़-पक्का होना चाहिए–इसमें खुली-तेज हवा न आ सके, किन्तु एकदेश में वायु ठीक तरह से आ सकती हो, जिसमें सुविधा से घूमा फिरा जा सके (भव्य) ऐसा हो। यह मकान उपत्यक—पहाड़ की तराई में न हो—अर्थात् आसपास की भूमि समतल हो, पास में दूसरे बड़े बड़े मकान बिल्कुल नजदीक में न हो, धुआँ, धूप, बारिश का जल, धूली जिसमें न आ सकें, अनिष्ट शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध जहां न पहुंच सके, उदपान (जलपान-प्याउ), ऊखल, मूसल,

वर्च–स्थान (मलमूत्र विसर्जन स्थान), स्नानगृह, महानस-रसोई घर, जिसमें यथास्थान ही ऐसा सुंदर और भव्य मकान (आतुरालय अथवा पंचकर्मचिकित्सालय) बनाना चाहिए।

इस वर्णन से स्पष्ट है कि कर्मों के अनुकूल, आतुरों के सुविधानुकूल ऐसा यह गृह होना चाहिए। सामान्यतः दर्शनी विभाग में बहिरंग विभाग और पीछे ५० या १२० शय्याओं का रुग्णालय होना चाहिए। इनके अतिरिक्त प्रत्येक कर्म के लिए स्वतंत्र भवन होना चाहिए। अभ्यंग के लिए एक स्वेदनार्थ कुटी और जेंताक स्वेद के अलग दो भवन, वाष्पस्वेदनार्थ एक भवन, षाष्टिकशाली पिंडस्वेद के लिए एक, पिपिंचिल के लिए एक तापस्वेद, कुंभी, बालुका, स्वेद, पत्रपिंड स्वेद इनका सम्मिलित एक, भूस्वेद, अवगाह, कूपस्वेद, कर्षु स्वेद, और होलाक स्वेद के स्वतंत्र एक एक भवन–इस तरह स्वेद के कुल-११ कमरे होने चाहिए। उर्ध्वतन शिरोधारा और शिरोबस्ति के लिए एक कमरा रखे। वमन के लिए एक बस्ति के लिए सामान्य बस्ति के लिए एक और बृंहण विधि के लिए एक-ऐसे दो कमरे हों, अथवा एक ही कमरे में सामान्य विधि के लिए काष्ठ टेबल और बृंहण बस्ति के लिए मृदु आस्तरण युक्त शय्या का पलंग रखना चाहिए। बस्ति के कमरे को संडास संलग्न होना चाहिए। नस्य और रक्तमोक्षण के लिए एक कमरा रखे। इस तरह कुल-१६ कमरे रहें। इसके अतिरिक्त प्रत्येक कर्म के पूर्व ठहरने के लिए (Waiting Room) एक बरामदा हो और कर्म के बाद विश्राम करने के लिए पुरुषों के लिए एक, और स्त्रियों के लिए एक ऐसे दो अलग विश्राम भवन हों। आतुरालय (अंतरंग विभाग) और बहिरंग विभाग दोनों को अनुकूल और नजदीक हो ऐसा यह ''पंचकर्म भवन'' चिकित्सालय में बनायें।

अनिष्टशब्द स्पर्श रूप रस गंधादि का निषेध आरोग्य का दृष्टिकोण बताता है। आतुरालय ऐसे मुख्य रहदारी के रास्ते पर नहीं हो जहां सतत वाहनों से कर्ण कर्कश शब्द आते हैं। बाजू में सिनेमागृह, नाटकगृह इत्यादि गर्दी एवं ध्वनिउत्पादक स्थान न हो। अन्यथा आतुर के परीक्षा समय में विघ्न होता है तथा आतुर को आराम नहीं मिल सकता। अनिष्ट स्पर्श यहां मृदु आस्तरण युक्त शय्याओं से सम्पन्न ऐसा अर्थ करें। अनिष्ट रस-रसोई घर में पथ्याहार को सूचित करता है। अनिष्टरूप-विभत्स रूपदर्शन का निषेध और अनिष्ट गंधस्नानगृह, मूत्रविसर्जन गृह, संडास आदि के योग्य प्रबंध का सूचक है।

गृहनिर्माण के अनंतर अनुकूल कर्मचारियों को नियुक्त करना भेषजादि तथा आहारादि की व्यवस्था रखना ये विषय क्रमप्राप्त हैं। कर्मचारी चरित्रसंपन्न हो, पवित्र, स्वच्छ और आचार में श्रेष्ठ तथा वैद्य में अनुराग रखने वाले होना चाहिए। इनको योग्य वेतन देना चाहिए। ये कर्म विपुण और सेवा सुश्रुषा को जाननेवाले होने चाहिए। इसमें **पाचक** (रसाई बनाने वाले), **स्नापक** (रोगी को स्नान कराने वाले), **संवाहक** (शरीर को मृदु मर्दन करने वाले), **उत्थापक** (उठाने वाले), **संवेशक** (लिटाने वाले), **औषधपेशक** (दवा पीसने वाले)— कर्मचारी तत्तद कर्म में निपुणता वाले नियुक्त करना चाहिए। इनके अतिरिक्त गाने बजाने वाले, **स्तोत्रपाठक** (स्वस्ति वाचनादि), कहानी-इतिहास-पुराण में चतुर, अभिप्राय को समझने वाले, देशकाल को जाननें वाले, सज्जन पुरुषों के अनुमत (शिफारस किए हुए) ऐसे अन्य कर्मचारी रखें। ये मानसोपचार के लिए आवश्यक होते हैं।

इस आतुरालय में मांस रसादि के लिए—लाव, कपिंजल, (सफेद तितर), शश (खरगोश), हरिण, एण (हरिण का प्रकार), कालपुच्छक (हरिणभेद), मृग मातुका (बड़े पेटवाला हरिण), उरभ्र (मेंढा), इन्हें तथा दूध के लिए— सुशील, निरोगी, बछड़ेवाली दुधारु गायों का पालन करें। इनको खाने के लिए तृणादि तथा रहने के लिए पृथक् गृह की व्यवस्था होनी चाहिए।

जलपात्री (पीने के ग्लास आदि), **आचमनीय** (चमच आदि), **उदकोष्ठ**, (माणिक), मटका, **पिठर** (हांडी), **घड़ा**, **पर्योग** (कड़ाही), **कुंभी** (सुराही), **कुंभ** (कलश-गागर), **कुंड** (पानी के लिए बनाये हुए जलाशय), **शराब** (सकोरा-प्याला इत्यादि) **दर्वी कट**, (चटाई), **उदंचन** (रकेबी-पतली ढक्कन योग्य तश्तरियाँ), **परिपचन** (तवा), **मंथान** (मंथनिका-खज), आदि रसोई के साधन, चमड़ा, **चेल** (कपड़ा), **सूत्र** (रस्सी-धागा), **रूई** तथा ऊन आदि को संग्रहीत करें।

शयनस्थान तथा आसनस्थान के पास शृंगार (वह जलपात्र जिसमें नलिका लगाई हो) और **प्रतिग्रह** (निष्ठीवादि डालने के लिए) हो, मृदु शय्या-आस्तरणादि से युक्त चारपाई या पलंग, **उत्तरप्रच्छद** (चादर आदि) तथा **उपधान** (सिरहना) ठीक प्रकार से बिछे हों।

सोने, बैठने, स्नेह, स्वेद, अभ्यंग, प्रदेह, परिषेक, अनुलेप, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, शिरोविरेचन, करने के लिए एवं टट्टी पेशाब इत्यादि के लिए सुखकर साधन संग्रहीत करें। इसमें स्नेहादि के उपकरण आगे कहेंगे, **बेडपॅन, यूरेनाल, कॅथेटर** (मूत्रशलाका), फलवर्ति, इत्यादि का निर्देश समझना चाहिए।

औषधि पीसने के लिए अच्छी तरह धोकर स्वच्छ रखे हुए **शिलापत्र** (उपधान), श्लक्षण रबर, तथा सम प्रकार की (भिन्न भिन्न) शिलाएं होनी चाहिए अर्थात् खल्वादि भैषज्य निर्माण के साधन होने चाहिए। द्रव्य काटने के चाकू, छुरी, कैंची बस्तिनेत्र, धूमनेत्र, उत्तरबस्ति यंत्र, कुशहस्त (झाड़ू), तुला, मानभाण्ड— (मापने के लिए माप, कर्ष, बिंदु, रति आदि अलग-अलग प्रमाण के पात्र) रखने चाहिए।

घी, तैल, वसा, मज्जा, शहद, फाणित, नमक, राब, ईंधन, जल, सीधु, सुरा, सौवीरक (कॉंजी प्रकार), तुषोदक (काजीभेद) मैरेयक, मेदक (मद्य-प्रकार), दही, दही का पानी, उदस्वित् (तक्रभेद); धान्याम्ल, तथा मूत्रवर्ग (८ प्रकार के मूत्र) ये संग्रहीत करें।

भोजनार्थ—षष्ठिकशाली (सांठी के चावल), मूंग, उड़द, जौ, तिल, कुलथी, बेर, अंगूर, मुनक्का, किसमिस, फालसा, हरड़, बहेड़ा, आँवला, ये संग्रहित करें। भिन्न स्नेह तथा स्वेद के उपयोगी द्रव्य और उपकरण वमन, अनुलोमन उभयतो भागहर, संग्रहणीय, दीपनीय, पाचनीय, उपशमनीय, वातहर औषधियां संग्रहित करनी चाहिए, तथा उपद्रवों की कल्पना कर प्रतीकार के लिए अन्यान्य औषधि, भोजन, कर्मानुकूल औषधि, यंत्र आदि साधन तथा वैद्य जिन जिनको अनुकूल और आवश्यक समझे ऐसे अन्य साधनों का भी संग्रह करें।

इस तरह यह आतुरालय का समग्र वर्णन चरक ने दिया है।[१] इसके आधार पर पंचकर्म चिकित्सा विज्ञान के लिए आवश्यक संभारों को यहां प्रस्तुत किया जाता है। उपर्युक्त संदर्भ से उपकल्पनाएं तीन प्रकार की प्रतीत होती हैं।

१. भैषज्य-उपकल्पनाएं

२. आहार तथा पथ्य की उपकल्पनाएं

३. यंत्रादि-उपकरण की उपकल्पनाएं

इनका क्रमशः विचार करेंगे।

१. भैषज्य उपकल्पनाएं

वमन, विरेचन, बस्ति, नस्य इन में उपयोग करने योग्य भैषज्य कल्पों का निर्देश तत्तद् प्रकरण में किया गया है। यहां अभ्यंग, स्नेहपान तथा अन्य कुछ प्रयोगों के लिए प्रसिद्ध योगों का निर्देश किया जाता है।

१. बला तैल अथवा धान्वंतर तैल—बला मूल के ६ भाग, दूध ६ भाग, जौ, बेर, कुलथी और दशमूल इनका सम्मिलित क्वाथ १ भाग, (तैल के समान)— ये सब १३ भाग, तैल का १४वाँ भाग इनमें मेदा, महामेदा, दारुहरिद्रा, मंजिष्ठा, काकोली, क्षीर-काकोली, चंदन, सारिबा, कूठ, तगर, जीवक, ऋषभक, सैंधव, शैलेय, वचा, अगुरु, पुनर्नवा, अश्वगंधा, शतावरी, विदारी, मुलेठी, त्रिफला, सौंफ, माषपर्णी, मुद्गपर्णी, इलायची, दालचीनी, तेजपत्र, इनका बारीक चूर्ण कर कल्क स्वरूप में डाल दें और विधिवत् तैल सिद्ध करें। यह वातरोग नाशक तैल है।[२]

विशेष—इस तैल का उपयोग-शोष एवं कर्मक्षय प्रधान वातव्याधि में अभ्यंगार्थ करें।

२. **क्षीरबला, क्षीरबला शतपाकी तथा क्षीरबला सहस्रपाकी तैल**—बलामूल का क्वाथ ८० भाग, बला कल्क ५ भाग, तिल तैल २० भाग, और समान भाग दूध मिलाकर दुग्धशेष पाक करना चाहिए। यह क्षीरबला तैल है। इसी तरह एक सौ बार पाक किया जाए तो क्षीरबला शतपाकी और एक हजार बार दूध मिलाकर दुग्धशेष पाक किया जाये तो क्षीरबला सहस्रपाकी तैल तैयार होता है। यह तैल रसायन गुणयुक्त है। इंद्रियों का प्रसादन करता है। वातरक्त को नष्ट करता है यह जीवन, बृंहण और स्वर तथा शुक्रदोष के लिए प्रशस्त है।[३]

विशेष — यह तैल भी शोष प्रधान वात व्याधि में उपयुक्त है। इसका आभ्यंतर उपयोग–विशेषतः शतपाकी सहस्रपाकी तैल का बहुत गुणकारी सिद्ध होता है। इनका पित्त दोष में उपयोग करें।

३. **सहचर तैल**[४]—सहचर (झिंटी) का मूल और शाखा के साथ एक सौ पल, दशमूल एक सौ पल, शतावरी ५० पल, लेकर ४ द्रोण जल में क्वाथ करें। चौथाई शेष रख कर इसमें खस, कूठ, चंदन, नेत्रबाला, अगुरु, देवदारु, हल्दी, सौंफ, तगर प्रत्येक एक पल, तैल १ आढ़क मिलाकर तैल सिद्ध करें। यह तैल कंपवात, आक्षेप, स्तंभ, शोध प्रधान वातरोग, उन्माद इनमें प्रशस्त हैं। इसी तरह–सहचर क्वाथ १०० पल, तैल १ आढ़क, मूली का कल्क १० पल और तैल से ४ गुना दूध (४ आढ़क) लेकर तैल सिद्ध करें। यह तैल भी अभ्यंग तथा आभ्यंतर प्रयोग में उपयुक्त हैं। इसका कफप्रधान दोष में उपयोग करें।

४. **प्रसारणी तैल**[५]— भैषज्य रत्नावली में पुष्यराज प्रसारणी तैल, कुब्ज प्रसारणी

तैल, त्रिशती प्रसारणी तैल, सप्तशतिक प्रसारणी तैल, एकादश शतिक प्रसारणी तैल, अष्टादश शतिक प्रसारणी तैल, महाराज प्रसारणी तैल, इस तरह ७ तैलों का निर्देश है इन में प्रक्षेप कल्क द्रव्यों में तथा पाक संख्या में भेद होता है। इनमें से एक तैल (प्रथम) यहां दिया जाता है।

गंधप्रसारणी १ तुला (५ सेर), असगंध की जड़ १/२ तुला (२।। सेर), लेकर २ द्रोण, जल में (२४ सेर २४ छटांक ८ तोले) क्वाथ कर चौथाई शेष रखे। इसमें एक चतुर्थांश (१।। सेर १।। छटांक १/२ तोला) तिल तैल डालकर समान मात्रा में गाय या भैंस का दूध, तथा तैल के बराबर कमलपुष्प का रस अथवा क्वाथ, और उतना ही शतावरी का क्वाथ और शतावरी डालकर, शतपुष्पा, छोटी पीपल, छोटी इलायची, कुष्ठ, कंटकारी की जड़, सोंठ, मुलेठी, देवदारु, शालपर्णी, पुनर्नवा की जड़, मंजीठ, तेजपत्र, रास्ना, वचा, पुष्करमूल, अजवाइन, गंधतृण, जटांमांसी, निर्गुण्ड़ी, बला, चित्रक, गोक्षुर, मृणाल इनका कल्क (१-१ तोले) डालकर विधिवत् तैल सिद्ध करें।

५. नारायण तैल[६] — बेल की छाल, अरणी की छाल, सोनापाठे की छाल, नीम की छाल, गंधप्रसारणी, कंटकारी, असगंध की जड़ अथवा पंचांग वला, अतिवलामूल, गोक्षुर और पुनर्नवा का मूल या पंचांग प्रत्येक १/२ सेर लेकर ४ द्रोण जल में चौथाई शेष क्वाथ करें। फिर सौंफ, देवदारु, वचा, जटांमांसी, लालचंदन, तगर, कुठ, छोटी इलायची, शालपर्णी, पृश्निपर्णी, मृद्वपर्णी, माषपर्णी, रास्ना, असगंध, सैंधव, पुनर्नवा प्रत्येक ८ तोला–कल्क डालकर– तिलतैल (३ सेर १६ तोले) बकरी या गाय का दूध (१२ सेर, १२ छटांक ४ तोला), मिलाकर विधिवत् तैल बनावे। यह तैल अर्धांग वात, मन्यास्तंभ, हनुस्तंभ, कंपवात, क्षीणेन्द्रिय, बाधिर्य वाक्संग में उपयोगी है।

६. माषतैल[७] — माषतैल के भै० र० में ४ पाठ हैं, और महामाष तैल के २ पाठ हैं। महामाष तैल एक सामिष (मांस के साथ) और दूसरा निरामिष होता है। यहां महामाष–सामिष का पाठ दिया जाता है। उड़द आधा आढ़क, दशमूल, १/२ तुला, बकरे का मांस ३० पल, जल १ द्रोण, मिलाकर चौथाई शेष क्वाथ बना लें। इसमें तिल तैल १ प्रस्थ, दूध ४ प्रस्थ, शुद्ध कौंच के बीज, एरंड मूल, सौंफ, सैंधव, सुवर्चल, विडलवण, जीवनीयगण की औषधियाँ, मंजिष्ठा, चव्यचित्रक, कायफल, सोंठ, मरिच, पिप्पली, पिप्पलीमूल, रास्ना, सैंधव, देवदारु, गिलीय, कुष्ठ, असगंध, वचा, कचूर प्रत्येक एक एक तोले सब का कल्क मिलाकर विधिवत् तैलपाक करें। इसका पान, बस्ति अभ्यंग, नस्य और कर्णपूरणार्थ उपयोग करें। पक्षाघात, अर्दित, बाधिर्य, हनुस्तंभ, कर्णशूल, मन्याशूल, शिरःशूल, कंपवात, कलाय खंज में यह प्रशस्त है।

७. विषगर्भ तैल[८] — तिल तैल ३२० भाग, करवीरमूल, धत्तूरमूल, अर्क मूल, निर्गुण्डी मूल का क्वाथ संमिलित ३२० भाग, कांजी ३०० भाग, इसमें धत्तूर, कुष्ठ, कलिहारी, विष (वत्सनाभ), देवदारु, दार्वी, स्वर्णक्षीर, रास्ना, करवीर, ज्योतिष्मति, मरिच, दंती, जटामांसी, चित्रक, सर्षप, एरंड, लाक्षा, त्रिफला लज्जालु इनके कल्क का प्रत्येक का ४ भाग मिलाकर विधिवत् तैलपाक करे। यह पक्षाघात, हनुस्तंभ, कटिग्रह, पीठ, त्रिक् और शिरःकंप तथा सर्वांग की जकड़ाहट को दूर करता है।

विशेष — यह जीर्ण आमवात तथा शोथ युक्त शूल में लाभ करता है।

८. चंदनबला लाक्षादि तैल[९] —भैषज्य रत्नावली में ज्वर और राजयक्ष्मा अधिकार में इसका निर्देश हैं। दोनों में पाठ एक ही है। चंदन, बलामूल, लाख और लामज्जक एक एक प्रस्थ-१ द्रोण जल में क्वाथ चौथाई भाग बना कर १ आढ़क (४ सेर) दूध मिलाकर निमोक्त कल्क द्रव्य डाल कर विधिवत् तैल पाक करें। कल्क-सफेद चंदन, खस, मुलेठी, सोया, कुटकी, देवदारु, हल्दी, कुठ, मंजीठ, अगर, नेत्रबाला, असगंध, बला, दारु हल्दी, मूर्दा मोथा, मूली, इलायची, दालचिनी, नागकेशर, रास्ना, लाक्षा, अजमोदा शिलारस, सारिवा, विड्लवण, सैंधव। यह तैल धातुओं को पुष्ट करता है।

विशेष — शोष, दाह, कार्श्य तथा वातपित्त प्रधान दोषों में इसका उपयोग हितावह है।

९. पिंड तैल[१०]—मोम, मंजीठ, सर्जरस, सारिवा इनका क्वाथ—दोनों को मिलाकर तिलतैल डालकर, चतुर्गुण जल में विधिवत् तैल पाक करें। यह तैल वातरक्त के रुजा में अभ्यंगार्थ उपयुक्त है।

१०. शतपाकी यष्टीमधु तैल[११]—यष्टीमधु क्वाथ को १० गुना दूध में सिद्धकर (चौथाई भाग) तिल तैल मिलाकर–यष्टीमधु, महुवा, गंभारी, इनका कल्क (प्रत्येक १ पल) मिलाकर तैल सिद्ध करें। (२) अथवा-यष्टीमधु १ पल, १ प्रस्थ तैल और ४ प्रस्थ दूध मिलाकर तैलपाक करें। इस तरह एक सौ बार पाक करने से शतपाकी यष्टीमधु तैल तैयार होता है। यह वातरक्त श्वास, कास-हृद्रोग, पांडु, विसर्प कामला, दाह में उपयोगी है।

११. अष्टकट्वर तैल[१२]—पिप्पलीमूल और सोंठ-१-१ पल, ८ पल तक्र, एक प्रस्थ तैल और समभाग दही मिलाकर विधिवत् तैल पाक करें। यह गृध्रसी तथा उरु की जकड़ाहट में उपयोगी होता है।

१२. रास्ना तैल[१३]—एक हजार पल रास्ना, १ द्रोण जल में क्वाथ कर तैल मिलाकर, अगुरु कुष्ठ, इलायची, प्रियंगु, हरेणुका, बड़ी इलायची, तगर, नल का कल्क मिलाकर तैल सिद्ध करें। यह वेदना प्रधान वातव्याधि में उपयोगी है।

१३. अस्थिस्नेह प्रयोग[१४]—ग्राम्य, आनूप और औदक प्राणियों के अस्थियों को जल में पकाकर (जिन की मृत्यु हुए अधिक समय नहीं हुआ है ऐसे प्राणियों की अस्थि) स्नेह अलग करें, इनमें दशमूल क्वाथ मिलाकर (समभाग) पुनः पाक करें। फिर दूध मिलाकर, जीवक, ऋषभक, विदारी, कौंच के बीज, और वातघ्न तथा जीवनीय गण की औषधियों का कल्क मिलाकर, तैल सिद्ध करें। यह नस्य, अंजन, पान अभ्यंग तथा अनुवासन बस्ति में उपयोगी है। इसका उपयोग सिरागत वात, पर्व शूल, कोष्ठगत वात, अस्थिगत वात में करें। यह तैल विशेषतः मज्जाक्षय और शुक्रक्षय युक्त लक्षणों में उपयोगी होता है।

१४. वेदनाहर तैल[१५]—कारस्करा १६० भाग, तैल ८० भाग, अहिफेन बीज १६० भाग, कारस्कर कल्क १ पल मिलाकर विधिवत् तैल सिद्ध करें। यह तैल वेदना को तुरन्त प्रशमित करता है।

विशेष—इसका उपयोग केवल बाह्य प्रयोग में करना चाहिए। इसका पाठ 'वैद्यमनोरमा' में तथा चि. प्र. में उपलब्ध है।

१५. सैंधवादि तैल[१६]—इसके दो पाठ हैं। यहां बृहत्सैंधवादि तैल का पाठ दिया जाता है। सैंधव लवण, गजपिप्पली, रास्ना, सौंफ, अजवाइन, तंजीक्षार, काली मरिच, कुष्ठ, सौंठ, सौवर्चल लवण, बिडलवण, वचा, अजमोदा, मुलेठी, जीरा, पुष्करमूल, छोटी पिप्पली प्रत्येक आधे पल लेकर कल्क बनावे, इसमें एरंड तैल तथा सौंफ का क्वाथ २-२ प्रस्थ कांजी और दधिमस्तु ४-४ प्रस्थ, मिलाकर तैलपाक करें। यह तैल आमवात, हृत्शूल, पार्श्वशूल, पृष्ठ शूल, मूत्रकृच्छ्र अश्मरी, बाह्यायाम, अर्दित, आनाह, श्वास इनमें अभ्यंगार्थ तथा पानार्थ उपयोगी है।

विशेष—संकोच, शूल, ग्रह, और कफप्रधान दोषों में इसका उपयोग हितावह है।

१६. दशमूल तैल—इसके कुल ८ पाठ भैषज्य रत्नावली में हैं। इसमें से मध्यम 'दशमूल तैल'का पाठ यहां दिया जाता है। सरसों का तैल २ सेर तथा क्वाथार्थ-दशमूल के द्रव्य पृथक् पृथक् २ पल, करंज मूल या बीज, निर्गुंडी का मूल, जयंती, धत्तूर के पंचांग ६-६ पल लेकर २ द्रोण जल में मिलाकर पकाकर ८ सेर शेष रखे। यह क्वाथ और सरसों का तैल मिलाकर– उपर्युक्त द्रव्यों के कल्क ६-६ तोला मिलाकर तैल सिद्ध करें। यह शिरःशूल (वातकफज), कास, शोथ, कर्णरोग, नेत्ररोग, मन्यास्तंभ श्लीपद आदि में उपयोगी है। यह वात-कफ प्रधान वातव्याधि में उपयुक्त करें।

१७. अश्वगंधा तैल—इस तैल के–वातव्याधि चिकित्सा तथा बाजीकरण प्रकरण में–दो–स्थान में–दो भिन्न भिन्न पाठ है। यहां वातव्याधि चिकित्सा का पाठ दिया जाता है। ५ सेर अश्वगंधा १ द्रोण जल में पकाकर चौथाई शेष क्वाथ बनावे। इसमें तिल तैल १ प्रस्थ, दूध ४ प्रस्थ, कमल की डंठल तथा जड़, कमल के तंतु, केशर, मालतीपुष्प, सुगंधवाला, मुलेठी, सारिवा, कमल के फूल, नागकेशर, मेदा, पुनर्नवा, मुनक्का, मंजीठ, छोटी कटेरी, बड़ी कटेरी, नागरमोथा, लाल चंदन, पद्माख, एलवा, त्रिफला, सबका सम्मिलित कल्क पाव भाग, डालकर तैल सिद्ध करें। यह बाह्याभ्यंतर प्रयोग के लिए उपयोगी है। यह रक्तगतवात, रक्तपित्त, प्रदर, योनिरोग, शुक्ररोग को दूर करता है। मांस तथा शुक्र को बढ़ाता है। इसका अनुवासन तथा अभ्यंग में उपयोग करें।

घृत योग—स्नेहपानार्थ शमन, बृंहण तथा शोधन विधि के लिए जिन भिन्न घृतों का रोगानुसार प्रयोग किया जा सकता है उनमें से कुछ उपयुक्त घृतों के कल्प यहां दिये जाते हैं।

१. तिक्तक घृत—तिक्त रस से सिद्ध-तिक्तक घृत, महातिक्तक, घृत, पंचतिक्तक घृत तथा तिक्ताद्य घृत ऐसे नाम से कुछ द्रव्यों के भेद से चार पाठ भै. र. में मिलते हैं। इनमें से तिक्ताद्य घृत व्रणशोथ प्रकरण में और अन्य तीन कुष्ठ प्रकरण में दिये गये हैं इनमें कुष्ठाधिकार के तीनों का पाठ यहां दिया जाता है।

तिक्तक घृत—हरड़, बहेड़ा, आंवला, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, अडुसा, जवासा, पित्तपापड़ा, पटोलपत्र, त्रायमाणा, कुटकी, और निंब की छाल, प्रत्येक २ पल, जल १ द्रोण में, क्वाथ ४ सेर अवशिष्ट रहने तक पकावे। इसमें गोघृत १ सेर, तथा पिप्पली, मोथा, लालचंदन, त्रायमाणा, इंद्रजव और चिरायता इनका कल्क २० तोले मिलाकर यथाविधि घृत सिद्ध करें। यह घृत १ तोला की मात्रा में २ बार दूध के साथ पिलावे। यह

कुष्ठ, ज्वर, अर्श, शोथ, ग्रहणी, पांडु और विसर्प में हितकारी है। शोधनार्थ १६ से २४ औंस तक ७वें दिन की मात्रा आये, इस तरह दिया जा सकता है।

महातिक्त घृत—सप्तपर्ण की छाल, अतीस, आमलतास, कुटकी, मोथा, पाठा, खस, त्रिफला, पटोल, निंब, पित्तपापड़ा, धमासा, लालचंदन, पिप्पली, गजपिप्पली, पद्माख, हरिद्रा, दारुहरिद्रा, वचा, इंद्रायण, शतावरी, अनंतमूल, श्यामा, इंद्रयव, अडूसा, मूर्वा, गुडूचि, चिरायता, मुलेठी और त्रायमाणा इनका कल्क १ सेर, गोघृत ४ सेर, आंवले स्वरस ८ सेर, जल ३२ सेर मिलाकर विधिवत् घृत सिद्ध करें। यह कुष्ठ, रक्तपित्त, रक्तार्श, विसर्प, अम्लपित्त, वातरक्त, पांडु, हृद्रोग, गुल्म पिड़का आदि में उपयोगी है।

पंचतिक्त घृत—निंब की छाल, पटोल पत्र, कंटकारी का पंचांग, गिलोय, अडूसा, प्रत्येक १० पल, १ द्रोणजल में पकाकर चौथाई क्वाथ तैयार करें, फिर १ सेर गोघृत, त्रिफला कल्क २० तोले, मिलाकर घृत सिद्ध करें। यह पंचतिक्त घृत ८० प्रकार के वातरोग, ४० प्रकार के पित्तरोग तथा २० प्रकार के कफरोग दुष्टव्रण, कृमि, अर्श, कास, इत्यादि से उपयोगी है।

२. पंचतिक्त घृत गुग्गुलु—नीम की छाल, गुडूचि, अडूसा, पटोल और कंटकारी इनको २ पल (प्रत्येक) प्रमाण में २ द्रोण जल में अष्टमांश क्वाथ, पकाये। फिर इसमें ५ पल शुद्ध गुग्गुलु और गोघृत १ सेर, मिलाकर पकावे। पाक सिद्ध होने पर पाठा, विडंग, देवदारु, गजपिप्पली, स्वर्जीक्षार, यवक्षार, सोंठ, हरिद्रा, सौंफ, चव्य, कुष्ठ, तेजोवती, काली मरिच, इंद्रयव, जीरा, चित्रक, कुटकी, शुद्धभल्लातक फल, वचा, पिप्पलीमूल, मंजिष्ठा, अतीस, त्रिफला, अजवाइन, को एक एक कर्ष प्रमाण में कल्क प्रक्षिप्तकर आलोडित कर स्वांगशीत होने पर कांचपत्र में भर देवे। यह घृत–विषदोष, प्रबलवात, संधिगत वात, अस्थिगत वात, मज्जागत वात, धातुगत कुष्ठ, नाड़ीव्रण, अर्बुद, भगंदर, गंडमाला हृद्रोग, पांडु विद्रधि इत्यादि में अतीव प्रशस्त है। मात्रा-३ माशा से ६ माशा।

विशेष—पंचतिक्त घृत गुग्गुलु यह एक चमत्कारिक लाभ देनेवाली औषधि है। यह कुष्ठ, नाड़ीव्रण, तथा संधि अस्थि मज्जागत वात में, स्नेहपान क्रम में, शोधन मात्रा में सब वैद्यों को अवश्य उपयोग करनी चाहिए। इसकी शोधनमात्रा १० तोले से २० तोले तक दी जा सकती है। ६ठें दिन या ११वें दिन विधिवत् विरेचन और रक्तरोग में सिरावेध करने पर निश्चित लाभ होता है।

३. महाखदिर घृत—महाखदिर घृत नामक इस घी का पाठ भै. र. में कुष्ठ प्रकरण में है। खदिर की छाल ५ तुला, सीसम की लकड़ी या छाल, असन की छाल, वेतस, पित्त पापड़ा, कुडा की छाल, अडूसा, वायविडंग हरिद्रा, दारु हरिद्रा, आमलतास, गिलोय, त्रिफला, निशोथ, सप्तपर्ण, सब मिलाकर ३ सेर २ छटांक लेकर यवकुट कर २० द्रोण पानी में अष्टमांश क्वाथ सिद्ध करें। क्वाथ में आँवलों का स्वरस ४ सेर, गोघृत ४ सेर मिलाकर महातिक्त घृत के सप्तपर्ण से त्रायमाणा तक के द्रव्य कल्क स्वरूप में डालकर विधिवत् घृत सिद्ध करें। यह घृत कुष्ठ में पान तथा अभ्यंग के लिए बरतना चाहिए।

४. इंदुकांत घृत—पूर्तिकरंज, देवदारु, दशमूल क्वाथ तथा षट्पल घृत इनको क्षीर के साथ में सिद्धकर इंदुकांत घृत होता है। यह गुल्म, उदर, शूल, वातरोग और जीर्ण ज्वर में देना चाहिए।

५. सारस्वत घृत (चि. प्र.)— आर्द्रक, वचा, शिग्रु, हरीतकी, पिप्पली, मरिच, पाठा, सैंधव ये प्रत्येक ५-५ भाग, घृत १६० भाग और बकरी का दूध ६४० भाग मिलाकर विधिवत् घृत सिद्ध करें। सारस्वत घृत को भैषज्य रत्नावली में ब्राह्मीघृत कहा है—इसका पाठ निम्नलिखित प्रकार का है।

ब्राह्मीकल्क से स्वरस निकाल कर ४ प्रस्थ प्रमाण में ले, गोघृत १ प्रस्थ ले, इसमें हल्दी, आंवला, मीठा कूठ, त्रिवृत और हरड़ प्रत्येक का कल्क १ पल, एवं पिप्पली, वायविडंग, सैंधव, चीनी, वचा, प्रत्येक का कल्क १-१ तोला मिलाकर घृत सिद्ध करें। यह स्मरणशक्ति को बढ़ाता है, वाणी को शुद्ध करता है, कुष्ठ, अर्श, गुल्म, प्रमेह, कास, क्लैब्य और स्त्रियों के बंध्यत्व दोष में लाभप्रद है।

६. पंचगव्य घृत—गोक्षीर १ भाग, गोमय १ भाग, गोमूत्र १ भाग, गोदधि १ भाग और गोघृत ४ भाग लेकर घी सिद्ध करें। यह उन्माद और अपस्मार, चतुर्थिक ज्वर, ग्रहबाधा इनके लिए बरतना चाहिए।

७. त्रिफला घृत—त्रिफला घृत और त्रिफलादि घृत ऐसे दो पाठ भै. र. में नेत्ररोगाधिकार में दिये हैं। गोघृत १ सेर, त्रिफला १ सेर का सिद्धक्वाथ ३ सेर, गोदुग्ध १ सेर, कल्क-त्रिफला, मुनक्का, त्रिकटु, मुलेठी, कुटकी, पुंडरीका काठ, छोटी इलायची, विडंग, नागकेशर, नीलकमल, श्वेत सारिवा, कृष्णसारिवा, श्वेचचंदन, हरिद्रा, दारु हरिद्रा, कल्क १-१ तोला मिलाकर घृत सिद्ध करें। यह त्रिफला घृत है।

गोघृत १ सेर, त्रिफला क्वाथ तथा शतावरी स्वरस या क्वाथ २-२ सेर और कल्कार्थ मुलेठी २० तोला डालकर घृत सिद्ध करें। यह त्रिफलादि घृत है। ये दोनों तिमिर में लाभप्रद हैं। तथा नेत्रस्राव, कामला, काच, अर्बुद, विसर्प, प्रदर, कंडु, शोथ, रक्तस्राव, खालित्य, पालित्य-वर्म, शुक (नेत्ररोग), तथा वर्त्मगत रोगों में इसका उपयोग करें।

८. अश्वगंधादि घृत—अश्वगंधा, विदारी, शतावरी, गोक्षुर, आमलकी, यष्टींमधु, पुनर्नवा, उशीर, एरंडमूल, तृणपंचमूल में सब समभाग, निंबुक रस—१० गुना, घृत निंबुक रस के समान लेकर विधिवत् सिद्ध करें। चि. प्र.)।। भै. र. में अश्वगंधा घृत का पाठ इस प्रकार हैं गोघृत १ सेर, अश्वगंधा का क्वाथ ४ सेर, अश्वगंधा कल्क १ सेर, गोदुग्ध ४ सेर में विधिवत् घी सिद्ध करें। यह वात रोगों को नष्ट करता है और वृष्य है।

९. कल्याण घृत—गोघृत २ सेर, कंटकारी पंचांग का क्वाथ ८ सेर, तथा कल्क-शंखपुष्पी, वचा, ब्राह्मी, त्रिफला, किसमिस, खांड़, सोंठ, जीवंती, जीवक, बला, कचूर, जवासा, बेलगिरि, अनारदाने, तुलसी, शालपर्णी, मोथा, पुष्करमूल, छोटी इलायची, गजपीपल, एक एक कर्ष—मिलाकर विधिवत् घृत सिद्ध तैयार करें। यह बालकों के रोगों के लिए, ग्रहदोष, कृमि, दंतरोग इत्यादि में लाभप्रद हैं।

विशेष— यह घृत दशमूल क्वाथ के साथ अपस्मार में उपयोगी है।

अन्य कुछ घृत, उनके उपयोग तथा अधिकार निम्नलिखित प्रकार के हैं।[१७]

१.	कूष्मांड घृत—	अपस्मार अधिकार	शमन प्रकार से दें।
२.	क्षीरकल्याणक घृत—	उन्माद अधिकार	शमन प्रकार से दे।
३.	महाकल्याणक घृत—	उन्माद अधिकार	शमन तथा शोधन
४.	महापैशाचिक घृत—	उन्माद अधिकार	शमन प्रकार से दे,

५.	जीवंत्यादि घृत—	राजयक्ष्मा अधिकार	शमन प्रकार से / बृंहण प्रकार से } दें
६.	दशमूलषट्पल घृत—	ज्वर, कास, उदर अधिकार	ज्वर, गुल्म, उदर, कास, श्वास, हिक्का, आमवात, प्लीहा वृद्धि, गुल्म, भगंदर, गृध्रसी इत्यादि में लाभप्रद
७.	कंटकारी घृत—	कास	—
८.	वासा घृत—	रक्तपित्त	रक्तपित्त, ज्वर, गुल्म, शूल, यकृत् वृद्धि, प्लीहा वृद्धि, हृद्ग्रह इत्यादि रोगों में उपयोगी
९.	फल घृत—	योनि व्यापद्	योनिशूल, योनिरोग, तथा बंध्यत्व में उपयोगी
१०.	शतवारी घृत—	अम्लपित्त रक्तपित्त	रक्तपित्त, वातरक्त, पित्तज्वर, योनिशूल, दाह मूत्रकृच्छ्र इत्यादि में देवे।
११.	सुकुमारकुमार घृत—	मूत्रकृच्छ्र	मूत्रकृच्छ्र, कटिस्तंभ विबंध, मेढ्र शूल, वंक्षणशूल, योनिशूल, गुल्म, वातरक्त इत्यादि में दे।
१२.	षट्पल घृत—	गुल्म	गुल्म, संग्रहणी, पांडु प्लीहावृद्धि, कास, ज्वर में उपयोगी।

अन्य भैषजन्य संग्रह

१. इच्छा भेदी[१८] —शुंठी १ भाग, मरिच १ भाग, पारद १ भाग, गंधक १ भाग, टंकण १ भाग, जयपाल बीज ३ भाग खरल करके रख दें। यह तीव्र विरेचन के लिए १ से २ रत्ती की मात्रा में दे।

२. नाराचरस —टंकण १ भाग, मरिच १ भाग, पारद १ भाग, गंधक २ भाग, शुंठी २ भाग, पिप्पली २ भाग, जयपाल बीज ६ भाग-महीन पीसकर रख दे। तीक्ष्ण विरेचन के लिए इसका उपयोग करें। मात्रा १ से २ रत्ती।

३. जलोदरारि रस[१९] —पिप्पली, मरिच, ताम्र भस्म, हल्दी, प्रत्येक का चूर्ण- १-१ तोला, जयपाल बीज ४ तोले, थूहर के दूध के साथ खरल करके रख दें। मात्रा— २ रत्ती यह भी तीक्ष्ण विरेचन के लिए उपयोगी है।

४. आरग्वध हरीतकी फांट —आरग्वध मज्जा १ भाग, हरीत की १ भाग— फांट विधि से उबाल कर रखें। मात्रा—५ तोले। यह मध्य विरेचनार्थ प्रयुक्त करे।

५. विरेचन कषाय[२०] —मार्कंडिका (स्वर्णपत्री) १ भाग, हरीतकी १ भाग, द्राक्षा १ भाग, यष्टीमधु १ भाग, गुलाब कलिका १ भाग, शुंठी १ भाग, निशोत्तर १ भाग—क्वाथ विधि से सिद्ध कर रख दे। मात्रा २ से २।। तोला। यह मृदु विरेचन के लिए उपयोगी है।

६. बालरेचन —इच्छा भेदी १ भाग, यष्टीमधु ८ भाग एकत्र मर्दन कर रख दे। मात्रा २ से ८ रत्ती। बालकों को विरेचन के लिए अथवा बड़ों और बूढ़ों को मृदुरेचन के लिए उपयोगी है।

७. गंधर्वहस्तादि क्वाथ[२१] —एरंड मूल, चिरबिल्व (करंज भेद), चित्रक, शुंठी, हरीतकी, पुनर्नवा, धमासा, भूमिताल (भूताल) इनका क्वाथ सैंधव और गुड़ मिलाकर प्रयुक्त किया जाता है। यह सब वातरोग के लिए लाभप्रद है तथा मलशोधन के लिए इसका उपयोग होता है। अतएव पिंडिचिल और पिंडस्वेद के काल में (२१ दिन तक) प्रतिदिन २।। तोला २ बार यह क्वाथ देना चाहिए।

८. राजयापन बस्ति क्वाथ — मुस्ता, पाठा, गिलोय, रास्ना, पुनर्नवा, मंजीठ, आमलतास, खस, त्रायमाणा, बहेड़ा, कुटकी, लघु पंचमूल, ये १-१ पल, मदनफल आठ इनको एक आढ़क जल में पकाकर चौथाई शेष क्वाथ करें। इसमें २ प्रस्थ दूध मिलाकर पुनः दुग्ध शेष पाक करें। यह क्वाथ राजयापन बस्ति देने के लिए उपयुक्त है। दूध के साथ पाक किये हुए क्वाथ को तुरन्त उपयोग करना चाहिए।

उपयोग —दुग्ध शेष क्वाथ में चतुर्थांश जांगल रस, घी, मधु सैंधव, मुलेठी, सौंफ, श्यामा, इंद्रजी, रसौत, कल्क मिलाकर मंदाग्नि पर गरम कर सुखोष्ण बस्ति दे। यह बस्ति—मांस, अग्नि, बल, शुक्र को बढ़ाती है। वातरक्त मोह, मेह अर्श, गुल्म, मल, मूत्रावरोध, विषम ज्वर, वीसर्प, वर्ध्म, आध्मान, प्रवाहिका, वंक्षणशूल, कटिशूल, कुक्षिशूल, मन्याशूल, श्रोत्रशूल, शिरःशूल, असृग्दर, उन्माद, शोथ, कास, अश्मरी, इत्यादि रोगों में परम लाभ करती है। यह चक्षुष्य है, पुत्रपद है, रसायन है तथा यापन बस्ति में राजा (श्रेष्ठ) है— अतः राजयापन कहलाती है।

९. फलवर्ति—मदनफल, पिप्पली, कूठ, वचा, सफेद सरसों, गुड़ और क्षार सबको महीन पीसकर वर्ति बना लेवे। यह वर्ति गुदा में प्रविष्ट करने से आनाह और उदावर्त में लाभ होता है। वमन विरेचन व्यापद तथा बस्ति व्यापद में इसका उपयोग करना चाहिए।

२. आहार तथा पथ्य की उपकल्पनाएं

शोधन पूर्व अथवा शोधनोत्तर–पेया, विलेपी आदि संसर्जन क्रम, कहीं तर्पण क्रम, मंथादि, कहीं औषधियों के साथ मंड, सुरा, कांजी आदि के कल्प देने का उल्लेख तत्तद संदर्भ में पीछे किया गया है। उन कल्पनाओं को यहां स्पष्ट किया जाता है।

१. मंड–पेया–विलेपी—मंड, पेया और विलेपी यह तीनों यवागु के भेद हैं। यवागु में जहाँ सिक्थ (नीचे जमा होनेवाली सिट्टी) को छोड़कर केवल ऊपर का द्रवभाग लिया जाता है— उसे मंड कहते हैं। जिस यवागु में द्रवभाग अधिक और सिक्थभाग कम हो उसे पेया कहते हैं और जिस यवागु में सिक्थभाग अधिक हो और द्रवभाग कम हो उसे विलेपी कहते हैं। इसके मान का प्रमाण सुश्रुत ने ऐसा दिया है कि—एक समय एक व्यक्ति

को जितना भात खाने के लिए लगता हो—उसके चतुर्थांश प्रमाण में चावल यवागु के लिए लेना चाहिए। यदि मंड की कल्पना देनी हो तो—उक्त चावल में १४ गुना औषधि सिद्ध जल डाल कर पकावे। जब चावल अच्छी तरह पक जाये तब ऊपर का द्रव भाग-नीचे के घन सिट्टी को छोड़ते हुए निथार लेवे। यह मंड पीने को देवे। पेया बनानी हो तो—मोटें पीसे हुए चावल में छः गुना औषधि सिद्ध जल डालकर पकावे और द्रवांश अधिक तथा सिक्थ कम हो ऐसे समय निकाल कर पीने को देवे। विलेपी बनानी हो तो मोटे-पीसे गए चावल में ४ गुना औषधि सिद्ध जल डालकर सिक्थ अधिक रहे और जल कम रहे ऐसे पकावे। यवागु कल्पना में प्रयुक्त चावल पहले भूंज लेना अच्छा होता है।

चावल के अतिरिक्त जौ, साँवां, गवेधुक (तिनी), आदि शूक धान्यों के तंडुल से भी यवागु बना सकते हैं। औषधि सिद्ध जल के सिवाय छाछ, मांसरस केवल जल आदि डालकर यवागु पका सकते हैं। यवागु देने के पाठ में चावल न लिखा हो और केवल औषधि द्रव्य ही लिखें हों तो वहाँ परिभाषोक्त प्रमाण में चावल डालना चाहिए। यदि जौ, साँवां आदि का पाठ लिखा हो तो चावल न लेकर उनसे ही यवागु बनानी चाहिए। अनार, खटाई, लवण, मीठा द्रव्य डालने का पाठ हो तो आतुर की रुचि के अनुसार मात्रायुक्त प्रयोग करना चाहिए।

शार्ङ्गधर ने, १६ तोला औषधि द्रव्य में ६४ पल (३ सेर १६ तोला) पानी डालकर आधा अवशिष्ट (१।। सेर लगभग) रहने तक पकाकर जो कल्पना सिद्ध होती हैं उसे यवागु कहा है। कल्क साध्य यवागु बनानी हो तब—तीक्ष्ण वीर्य औषधि १ तोले, मध्यवीर्य औषधि हो तो २ तोले और मृदु वीर्य औषधि हो तो ४ तोले औषधि लेकर, सूक्ष्म कपड़छान चूर्ण बनावे। फिर जल में पीसकर कल्क बनावे, इसमें उपर्युक्त प्रमाण में चावल मिलाकर ६४ तोले जलमें पकाकर मंड–पेया–या विलेपी विधान से यवागु बनावे।

२. यूष निर्माण—औषधि द्रव्य के साथ जल, क्वाथ, छाछ आदि द्रव पदार्थ और मूंग, मसूर, मोठ, आदि शिंबी धान्य को पकाकर जो कल्प तैयार किया जाता है उसे 'यूष' कहते हैं और चावल, जौ, सांवां आदि शूक धान्य को पकाकर बनाये हुए कल्प को यवागु कहते हैं। यहां पर भी औषधि प्रमाणतीक्ष्ण का १ तोला, मध्य का २ तोला और मृदु का ४ तोला लेना चाहिए। औषधि का कल्क बनाकर उसमें ४ से ८ तोले मूंग आदि धान्य डालकर ६४ तोला जल में पकावे। आधा या चौथाई शेष रहने पर मूंग आदि अच्छी तरह पक जाने पर कपड़े से छानकर-द्रवभाग (यूष) पीने को देवे।

३. कृत और अकृत यूष —जिस यूष में नमक, सोंठ, मरिच आदि मसालें, अनारदाने दही, आदि अम्लद्रव्य न डाला हो और स्नेह (घी या तेल) का छौंका देकर न बनाया हो, उसे, अस्नेह लवण कट्वादि युक्त साध्य यूष को अकृत यूष कहते हैं और जिसमें नमक, सोंठ, मरिच, अम्ल द्रव्य डाले जाते हैं, और स्नेह का छौंका दिया जाता है, उसे 'कृत यूष' कहते हैं। यूष की कल्पना बिना औषधि द्रव्य के भी बनाई जा सकती है।

पेया लघुतरा होती है। इसका विलेपी और यूष की अपेक्षा पाचन जल्दी होता है। यह ग्राही होती है, धातु की पुष्टि करती है।[२२] अतएव शोधनोत्तर पहले पेया दी जाती है। विलेपी–बृंहण करती हैं, तर्पण करती रहती है, हृदय को बल देती है, मधुर होती है और पित्त का नाश करती है। यूष बल को बढ़ाता है कंठ के लिए हितकर होता है, इसका भी

पचन जल्दी होता है और कफशामक होता है। कृत यूष में कटु रस के मसाले होते हैं अतएव ये यूष शोधनोत्तर पहले यूष के बाद देने को कहा गया है।

४. मांसरस की कल्पना—मांसरस बनाना हो तब जल उतना लेना चाहिए जिससे मांस अच्छी तरह पककर उसका सारभाग जल में आ जाये। एकमत ऐसा है कि गाढ़ा मांस रस बनाना हो तब ३२ तोला मांस और ६४ तोले जल डालकर बनाये, मध्यम बनाना हो तो ६४ तोले जल में २४ तोले मांस और पतला बनाना हो तब ६४ तोला जल और १६ तोला मांस डालकर पकाकर बनावे। पकाने की विधि क्वाथ के समान चतुर्थांश की है। मांस पक जाने पर कपड़े से छान लेवे। मांसरस के भी अकृत मांसरस कृतमांस रस दो प्रकार हैं उन्हें यूषवत् समझना चाहिए। अर्थात् सोंठ, मरिच, अम्लादि संयुक्त स्नेह से छौंका हुआ मांसरस कृत मांसरस है, उसके बिना तैयार किया हुआ मांसरस अकृत कहलाता है।

५. प्रमथ्या — ४ तोला औषधि के चूर्ण को जल में पीसकर कल्क बनाकर ३२ तोले जल में पकाकर ८ तोला शेष रहने पर छान कर जो कल्पना तैयार होती है उसे प्रमथ्या कहते हैं।

६. उष्णोदक — जितना जल चाहिए उससे चौगुना जल लेकर अग्निपर उबाल कर चौथाई शेष रख कर कपड़े से छान लेवे। यह उष्णोदक वमन, विरेचनादि कर्मों के बाद सेवनार्थ प्रयुक्त करें।

७. भेषज सिद्ध जल — एक तोला औषधि और ६४ तोला जल मिलाकर आधा शेष रहने तक पकावे। यह औषधि सिद्ध जल है।

८. मंथ — कूटे हुए ४ तोले द्रव्य को मिट्टी के बर्तन में डालकर उसमें १६ तोला ठंडा जल मिलाकर मंथलिका से खूब मथकर कपड़े से छान लें। इसकी ८ तोला मात्रा दिन में दो बार पीने के लिए दे। सत्तू ४ तोला लेकर घी में मसलकर इसमें १६ तोला पानी डालकर खूब मंथन कर मंथ तैयार ही करें, अथवा उतना पानी डाले जिससे सत्तू न अधिक गाढ़ा हो न पतला। इस मंथ में—शक्कर, गुड़, मधु मिलाकर यथायोग्य पिलावे। यह मंथ तर्पण के लिए देना चाहिए।

९. सीधु — गन्ने के रस आदि मीठे द्रव पदार्थों को अग्नि पर पकाये बिना संधान कर जो मद्य तैयार किया जाता है उसे शीतरस या सीधु कहते हैं। इन्हीं को पकाकर संधानकर जो मद्य किया जाता है उसे पक्वरस सीधु कहते हैं।

१०. सुरा— चावल, यव आदि अन्न को पकाकर उसमें जल और किण्व डालकर संधान करने से जो मद्य तैयार किया जाता है उसे सुरा कहते हैं। सुरा के ऊपर के स्वच्छ भाग को **प्रसन्न**, उससे जो गाढ़ भाग है उसे **कादंबरी**, कादंबरी के नीचे के गाढ़े भाग को **जंगल** और जंगल से भी नीचे गाढ़े भाग को **मेदक** कहते हैं। सुरा को कपड़े से छान लेने पर जो सार (द्रवहीन) भाग रहता है उसे **बक्कस** कहते हैं। इसे ही **किण्व** या **सुराबीज** कहते हैं। यह—आसव, अरिष्ट बनाने के लिए संधान के लिए उपयोगी होता है।

११. शुक्तकल्पना — अरिष्ट आदि मद्य बिगड़ कर खट्टे बन जाये, या गन्ने आदि का मीठा रस खराब हो जाये तो उसे शुक्त या चुक्र (सिरका) कहते हैं। जल में राई, नमक, कंद, मूल, फल तैलाक्त मूंग आदि डाल कर रखने पर ४-५ दिन में वे बिगड़कर खट्टे होते हैं उसे भी शुक्त कहते हैं। गन्ना, अंगूर, जामुन, आदि के रस को मिट्टी के घड़े में रख मुंहपर कपड़ा बांधकर उसको धूप में रखे। जब रस खट्टा हो जाये तो निकाल कर पात्र भर दे। इसे भी सिरका कहते हैं।

१२. कांजी या कांजिक की कल्पना — चावल को जल में पकाकर मिट्टी के घड़े में तीन गुना पानी में डालकर घड़े के मुंह को कपड़े से बांधकर उसमें खटाई उत्पन्न हो जाये तब तक रखे। साधारणतः ७ दिन तक रखना होता है। इसे धान्याम्ल, आरनाल या कांजिक कहते हैं।

३. यंत्रादि उपकरण की उपकल्पनाएं

पंचकर्म प्रयोगोपयोगी जिन साधनों का पीछे उल्लेख किया गया है, उनका यहां प्रत्यक्ष निर्माणार्थ वर्णन किया जाता है। इस यंत्रोपकरणों का शास्त्रार्थ पीछे किया। यहां केवल उनका प्रयोगार्ह वर्णन और प्रयोग पद्धति में उपयोग का निर्देश किया जाएगा। यहां उन्हीं उपकरणों का वर्णन किया जाएगा जिनके निर्माण में कुछ विशेषता है अन्य उपकरणों को तत्तद् प्रकरणानुसार समझ लेना चाहिए। सामान्यतः निम्नलिखित यंत्र परिश्रम पूर्वक तैयार कर पंचकर्मभवन में रखना चाहिए।

१. अभ्यंग टेबल	२. वाष्पस्वेदन यंत्र	३. अवगाह कोष्ठक
४. तैल द्रोणि	५. धारा टेबल	६. धारापात्र
७. गलन्ती	८. शिरोबस्तियंत्र	९. बस्तिनेत्र
१०. उत्तरबस्ति-यंत्र एवं उपयोगी उपकरण		११. वमन पीठ
१२. नस्य पीठ	१३. कुटारिका शस्त्र	१४. व्रीहिमुख शस्त्र

१. अभ्यंग टेबल—यह एक काष्ठ निर्मित सादा टेबल है जिसकी आकृति बाजू में दी गई है। द्रोणी के लिए उपयोगी जो लकड़ी कही गई है, उनमें से किसी एक से अभ्यंग टेबल बनाना उचित है, अथवा साग की लकड़ी से कम से कम संधि रखते हुए टेबल बनाये। यह एक ऐसा टेबल है जिसकी लंबाई ६ फीट (क ड = ६'), चौड़ाई २।। फीट (अ क = २'' = ६") और ऊंचाई २।। फीट (अ ब २' = ६") होती है। ऊपर का स्तर प्रशस्त स्निग्ध, श्लक्ष्ण दृढ़ हो और हो सके तो एक ही काष्ठ से निर्मित अन्यथा एक संधिवाला हो। संधिस्थान पक्का हो, तैलादि का स्त्रवण इसमें से न हो, और आतुर के शरीर को चिमट से ऐसा न हो इसका ध्यान रहे। स्तर के कोने से चारों बाजू पर आधा इंच गहरा, १ से १।। इंच चौड़ा एक ढलाव रखना चाहिए। यह ढलाव इस टेबल को बहुलक्षी (Multipurpose) बनाता है। और समयानुसार इसका धारा के लिए भी उपयोग किया जा सकता है। टेबल के सतह पर शिर के बाजू में ६" व्यास की गोलाकार पीतल के तवे के आकार की अंदर की ओर ढलाव वाली एक ऐसी चक्रिका लगानी चाहिए जिसके मध्य में एक छिद्र हो और वह छिद्र टेबल के उसी स्थान के छिद्र के साथ संयुक्त होकर आरपार छिद्र बनाता हो। यह चक्रिका इस टेबल को शिरोधारा के लिए उपयोगी बनाती है।

उपयोग—इस टेबल पर आतुर को बिठाकर, या लिटाकर या उक्त प्रकार से ७

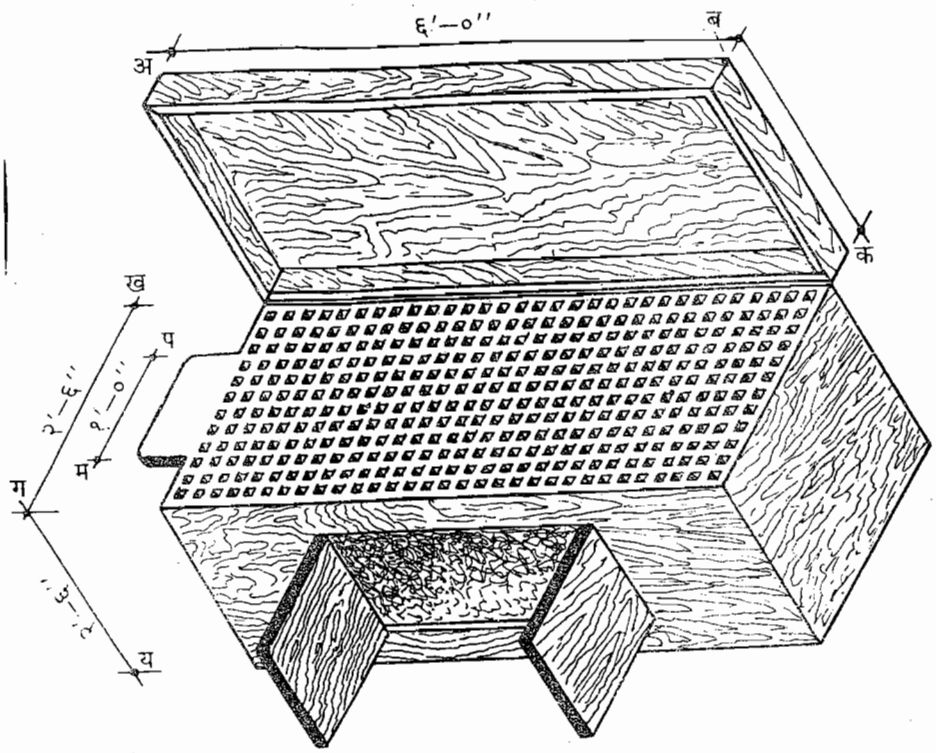

बाष्पस्वेदन-यंत्र

अ ब = ६'—०'' ब क = २'—६''
ख ग = २'—६'' ग य = २'—०''
म प = १'—०''

अभ्यंग टेबल

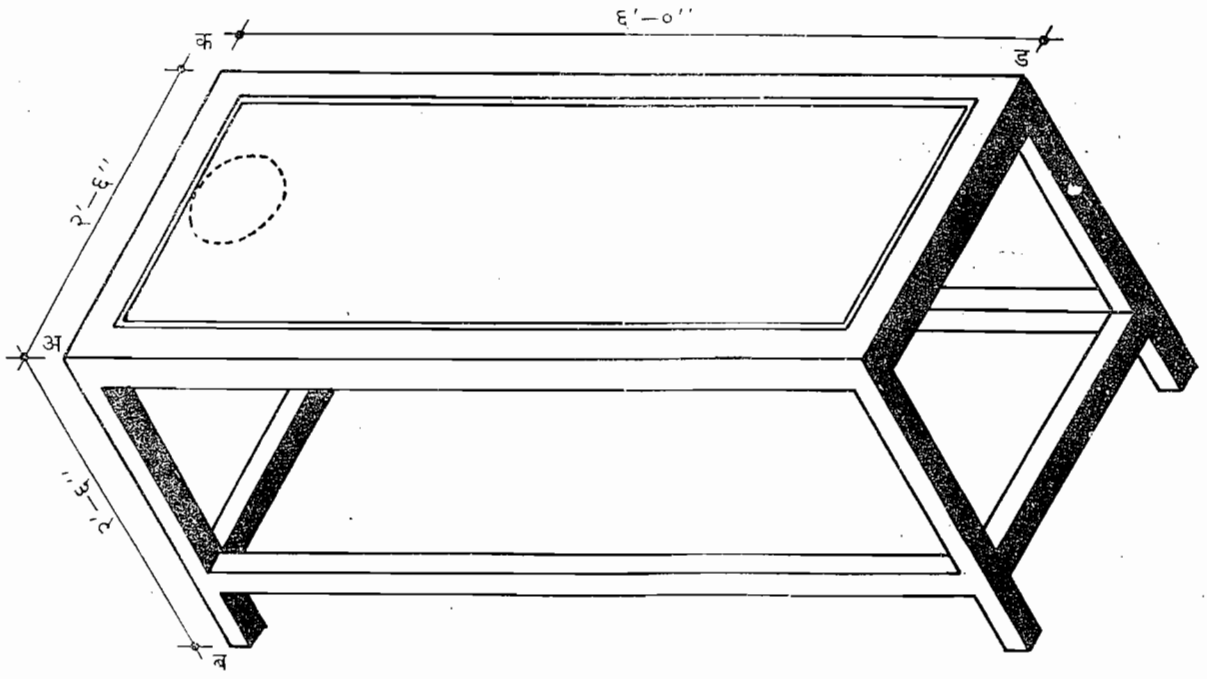

अ ब = २'—६'' अ क = २'—६'' क ड = ६'—०''

अवस्था में रखकर अभ्यंग किया जाता है। यदि शरीर धारा के लिए उपयोग करना हो तो ढलाव में गिरे तैल को निकालने की व्यवस्था करें और शिरोधारा के लिए उपयोग करना हो तो चक्रिका गत छिद्र के नीचे स्टूल पर एक पात्र रखकर उसमें तैल को पुनः प्राप्त करना चाहिए। इस टेबल पर अभ्यंग, उद्वर्तन, मर्दन, लेपन, संवाहन, इत्यादि कर्म किए जा सकते हैं।

२. वाष्पस्वेदन यंत्र—सर्वांग में वाष्पस्वेद करने के लिए निर्मित यह लकड़ी की पेटी के आकार का टेबल के सदृश ही उपकरण है जिसकी आकृति बाजू में दी है। चित्र में इस पेटी के द्वार को खुला रखकर, तथा नीचे के अंगारधनिका रखने के स्थान के कपाटों को खुला रखकर; दृष्टिगोचर होनेवाला दृश्य बताया गया है। यह ६ फीट लंबा २।। फीट चौड़ा और २ फीट ऊँचा लकड़ी का ऐसा टेबल है—जिसकी चारों बाजुएं लकड़ी से बंद है–जिससे वह पेटी के आकार का दिखाई देता है। चित्र में ग ख २'–६" इसकी चौड़ाई है, अ ब–६' इसकी लंबाई है और य ग–२ फीट इसकी ऊंचाई है। इसके ऊपरी सतह पर लकड़ी के एक से डेढ़ इंच परिणाह का ऊपर के बाजू में गोलाई लिए हुए पट्टियों के द्वारा एक जालीदार सच्छिद्र चौरस तैयार किया जाता है— जिसमें साधारणतः प्रत्येक छिद्र एक इंच चौरस प्रमाण का बनता है। सिर के बाजू में चित्र में दिग्दर्शित प्रकार से एक शिरःफलक बनाना चाहिए जो ६" लंबा और १" चौड़ा होता है (म य = १ फुट)। चित्र में अ ब क ड से बना हुआ फलक इस जालीदार स्तर को ढकने का फलक है जो सीधा और स्तर पर अंतर न रखते हुए उससे चिपटकर ढक लेता है। कुछ लोग इसे बहिरायाम प्रकार का ऐसा बनाते हैं कि आतुर को चौरस पर लिटाने के बाद यह फलक उसे ढक सके तथापि आतुर को केवल कम्बल से ढकना ठीक होता है और यह फलक सीधा रखना ठीक है। इसका उद्देश्य केवल चौरस को काम के अतिरिक्त समय में ढकना इतना है। इसी तरह फलकावृत इस यंत्र को ऊपरी-स्तर अभ्यंग टेबल के सदृश् काम में लाया जा सकता है। वाष्पस्वेदन यंत्र के बाजू में तो कपाट होने चाहिए—जिनको बंद करने पर अंदर के भाग को पूर्णतः बंद कर सके।

उपयोग—कपाटों में अंगार धनिका रख उस पर दशमूलादि क्वाथ के पात्र रखा जाये। चौरस पर एक सच्छिद्र— (खादी की) चद्दर ढंक कर उस पर आतुर को अभ्यंग के बाद लिटावे–और ऊनी कंबल उस पर ओढा देवे। आतुर को ऐसा लिटाया जाये कि उसका शिर, खास निर्मित 'म य' शिःफलक पर आ जाये। कुछ ही देर में क्वाथ में से वाष्प तैयार हो कर वह ऊपरी स्तर के छिद्र में से आतुर के गात्रों तक जाकर स्वेदन करती है। स्वेदन के बाद कपाटों में से अंगार धनिका, क्वाथ पत्र निकाल कर स्वेदन यंत्र का आवरक फलक नीचे उतारकर उसे ढ़क देना चाहिए।

३. अवगाह कोष्ठक—यह नहाने का टब है। इस कोष्ठक के लिए एलम्युनीयम के टब उपलब्ध होते हैं उनसे काम चलाया जा सकता है। इसी तरह पीतल, स्टील, या फायबरग्लास के द्वारा भी टब बनाये जा सकते हैं। यह ५।। फीट लंबा, २।। फीट चौड़ा तथा १६ इंच ऊंचा कोष्ठक होता है जिसका चित्र बाजू में दिया है। ब क लंबाई–५।। फीट, अ ब १६ इंच ऊंचाई तथा क ड-२।। फीट चौड़ाई दृष्टिगोचर होती है। इस कोष्ठक के तल में एक बहिःस्रोत (छिद्र) रखना चाहिए जिसकी संपूर्णताः बंद करने के लिए

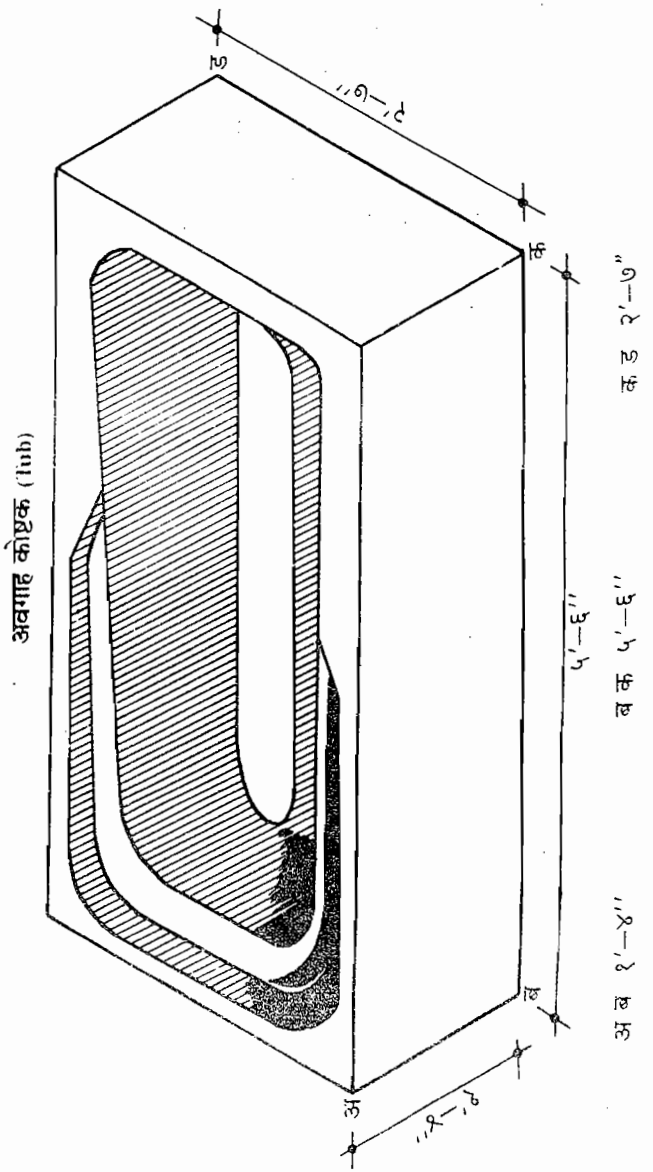

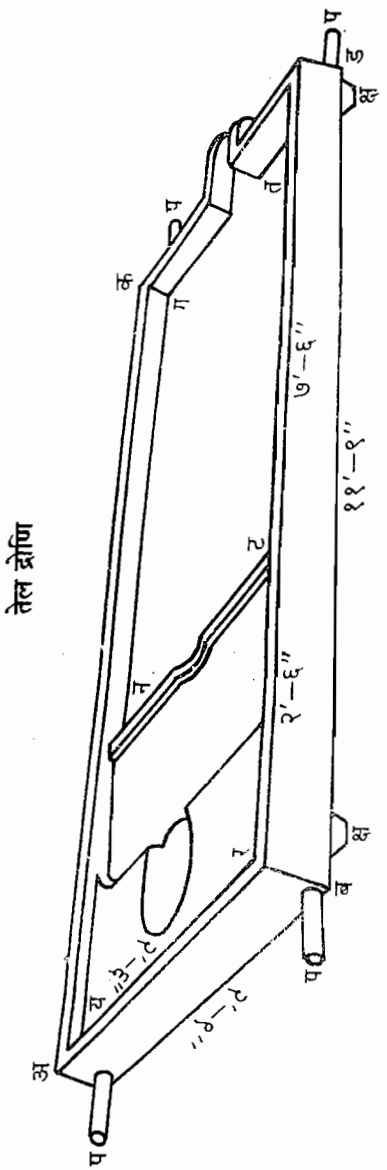

तेल द्रोणि

अ क = ११'–९"
ब ड = ११'–९"
अ ब = २'–९"
क ड = २'–९"
र त = १०'–०"
य ग = १०'–०"
क्ष-पाद = ०'–९"

ब र = २'–६"
ग त = २'–६"
य न = २'–६"
र ट = २'–६"
न ट = २'–६"
ट त = ७'–६"
न ग = ७'–६"

अ य, ब र = १ 1/2

मजबूत डाट या ढक्कन होना चाहिए। कोष्ठक का अवगाहोत्तर जल इस स्रोत से बाहर निकाल देना चाहिए।

उपयोग—इस कोष्ठक को करीब १२ इंच तक भरकर इसमें आतुर का विधिवत् अवगाह स्वेद करना चाहिए।

४. **तैल द्रोणि**—पिषिंचिल के प्रयोग के लिए खास प्रकार का उपकरण तैयार किया जाता है जिसे तैल-द्रोणि कहा जाता है। इसका निर्माण निम्नलिखित प्रकार से करना चाहिए।

यह एक काष्ठ निर्मित पात्र है जिसकी आकृति बाजू में दी गई है। यह द्रोणि एक ही काष्ठ से निर्माण करना चाहिए—मतलब यह है कि इसमें संधि नहीं हो, क्योंकि संधिस्थान कितना भी अच्छी तरह बनाने पर भी कुछ दिन के बाद इसमें से तैल का बहिःस्राव प्रारंभ होता है। द्रोणी बनाने के लिए प्रथम ग्यारह फीट नौ इंच लंबा और २ फीट ६ इंच चौड़ा मजबूत काष्ठ फलक लेवे। इस फलक के दोनों बाजू में ६-६ इंच का अंतर छोड़कर गोल आकार के दो दो हस्तक तैयार करें (Handles)—जिनका परिणाह २ इंच का हो। अर्थात् काठ को ऐसा काटे की दोनों बाजू में से दो दो हस्तक तैयार हो— (चित्र में 'प' से चारों हस्तक को बताया है।) अब ऊपर के स्तर में चारों ओर किनारे से १।।-१।। इंच की जगह हांसिया छोड़ कर १० फीट लंबा और २।। फीट चौड़ा स्तर बनायें। (जब ११ फीट ९" इंच में से ९" का हस्तक तैयार होगा—तो ऊपर की सतह १० फीट ३ इंच की लंबाई वाली होगी और इसमें १।। इंच दोनों बाजू में छोड़ देने से स्तर की लंबाई १० फीट हो जायेगी। उसी तरह २ फीट ९" चौड़ाई में दोनों बाजू से १।। इंच जाकर ३" कम होने पर चौड़ाई २ फीट ६ इंच होगी। चित्र में ब र, अ य, क ग, और ड त द्वारा यह हांसिया का स्थान बताया गया है। अर्थात् द्रोणी का मूल उपयोगी स्थान 'य ग र त' चौकोन से तैयार होगा)। द्रोणी के अंदर का भाग अब दो उपभागों से विभक्त करना चाहिए। सामने का 'पुरो-विभाग अथवा शिरोविभाग (Anterior Compartment or Head Compartment) ऐसा तैयार करें जिसकी लंबाई २।। फीट और चौड़ाई २।। फीट हो और दूसरा 'पश्चात् विभाग या शरीर विभाग' (Posterior Compartment or Body Compartment)— ७।। फीट लंबा और २।। फीट चौड़ा हो। इसके लिए सामने के बाजूसे २ फीट ४ इंच अंतर पर स्तर की चौड़ाई में छेद करने वाली एक रेखा पट्टिका डाल देवे। अब १।। इंच के फासले पर इस रेखा को समांतर दूसरी रेखा पट्टिका डाल देवे। इन दो रेखाओं के द्वारा शिरो विभाग और शरीर विभाग एक दूसरे से पृथक् हो जाएगा। इसी तरह इन रेखाओं से निर्मित उत्सेध युक्त स्थान पर आतुर को शिर रखने की सुविधा हो जाती है। देखें चित्र में न ट नामक रेखाएं द्रोणी स्तर को दो भागों में विभक्त करती हैं। अब य न र ट नामक शिरो विभाग तैयार होता है जिसमें र ट तथा य न ये २।। फीट लंबाई लिये हुए है, और न ट स्वाभाविक रीति से ही २।। फीट परिमाण का है। 'न ग ट त' नामक चौकोन से शरीर विभाग तैयार होता है—जिसमें ट त–७।। फीट और तग २।। फीट परिमाण के हैं।

अब शिरोविभाग जो कि २ फीट ४।। इंच वस्तुतः लंबा है— और २।। फीट चौड़ा है पुनः दो छोटे विभागों में विभक्त करना चाहिए। एक विभाग जो सामान्य स्तर का होगा और सिर की ओर होगा जिसका परिमाण ११ इंच का होगा। दूसरा विभाग जो

१ फुट ५ १/२ इंच परिमाण का होगा— विभागीय मध्य रेखा से सिरा की ओर ढलाव वाला (Sloping) होगा। अब शिरो विभाग के ११" स्तर के स्थान में पहले के हांसिया से २ इंच छोड़कर एक ऐसा गड्ढा बनावे जो अर्ध वृत्ताकार हो और १० इंच परिमाण का तथा ६ इंच गहराई का हो। यह गड्ढा एक बाजू से ऊपर निर्माण किए हुए ढलाव वाले स्तर से कुछ मिला हुआ रखना चाहिए। यह गड्ढा इसलिए है कि आतुर का शिर जो रेखा पट्टी पर स्थित होता है, शिरोधारा करने पर गिरा हुआ द्रव ढलाव वाले स्तर से बहते हुए इसमें संचित हो जाये—और पुनः प्रयोग के लिए इसका उपयोग किया जा सके। रेखापट्टिका से इस गड्ढे तक का स्तर ऐसा रखे की जो गड्ढे की ओर ढलाव रखता हो। (चित्र में शिरोविभाग में यह गड्ढा और ढलाववाला स्तर स्पष्ट किया है।) इस गड्ढे के दोनों ओर काष्ठ स्तर पर जो जगह बची होती है— (य और र के पास) उस पर धारा कर्म के समय आवश्यक स्वल्प सामग्री—छोटे छोटे अभ्यंग तैल पात्र तैल धारणऔषधि के कल्क-पात्र, टॉवेल आदि रखे जा सकते हैं।

'शरीर विभाग' का स्तर ऐसा हो जो पांव की ओर क्रमशः ढलाव लिये हुए ७।। इंच का गहरा हो और अंत भाग में इसमें एक स्रोत-छिद्र हो—जिससे द्रव पदार्थ द्रोणी के बाहर स्रवित हो सके। (चित्र में ग त के बीच में 'स्र' नामक यह स्रोत बताया गया है।) अब शिरोविभाग तथा शरीर विभाग को ऐसा श्लक्ष्ण और स्निग्ध बनाये कि उस पर आतुर को लिटाया जा सके। कोई स्थान में काष्ठ शलाका, उत्सेध आदि कंटकियुक्तता न रहे इसका ध्यान रखे। दो विभागों को विभक्त करनेवाली रेखा पट्टिका ऊपरी भाग से गोलश्लक्ष्ण और मध्य भाग में अंतरायाम (Concave) गर्त वाली हो जहां पर सुविधा से सिर रखा जा सके। अंत में चार गोलाकार के ४ इंच परिणाह के और २ इंच मोटाई के पादकाष्ठ—इस द्रोणी के तल में चारों ओर में लगावे जो द्रोणी को जमीन पर रखने की सुविधा प्रदान करते हैं। यह केरलीय चिकित्सा पद्धति की द्रोणी है।[२३] जहां द्रोणी के दोनों बाजू में कर्मचारी गण बैठकर पिषिंचिल करते हैं। तथापि सुविधा के लिए खड़े रह कर धारा या पिषिंचिलादि करना ज्यादा आसान होता है। अतएव इस द्रोणी को रखने के लिए इसी प्रमाण के काष्ठ का (स्टॅण्ड) प्रतिष्ठान तैयार करना चाहिए जो मजबूत और वजन संभाल सके ऐसा हो। यह प्रतिष्ठान २।। फीट ऊंचा और १० फीट लंबा, तथा २।। फीट चौड़ा होना चाहिए। उत्तम यह हैं कि शिरो विभाग की ओर कुछ ज्यादा ऊंचाई रखे और पांव की ओर ढलाव रखे— अर्थात् कम ऊंचाई रखे।

द्रोणी के लिए—प्लक्ष, उदुंबर, गंधासार, वरुण, बड़, देवदारु, पुन्नाग, कवीथ, चोच, बकुल, अशोक, असन, आम्र, चंपक, बेल, निंब, खैर, अमोघ, अग्निमंथ, अर्जुन इत्यादि वृक्षों के काष्ठ प्रशस्त माने गये हैं। धारा कल्क में कहा है कि इसी तरह अन्य किसी का भी उपयोग करना चाहिए। प्रायः एक काष्ठ में निर्माण करने के लिए इतना बड़ा काष्ठ जल्दी में नहीं मिलता—अतएव—फायबरग्लास नामक नवीन धातु जो उष्णसहत्व में उत्तम और वजन में हलका होता है—उसका उपयोग करना उचित हो सकता है।

उपयोग—द्रौणी का उपयोग शिरोधारा और पिषिंचिल के लिए होता है। शिरोधारा—पूरोविभाग में और पिषिंचिल पश्चात् विभाग में करना चाहिए। शिरोधारा के समय रेखापट्टिका पर एक तकिया रखकर आतुर को सुलावे और धारापतित द्रव-गड्ढे में से पुनः प्राप्तकर बारंबार उपयोग करें। शरीर धारा के समय स्रवित स्नेह द्रोणी के अंत भाग के

धारा टेबल

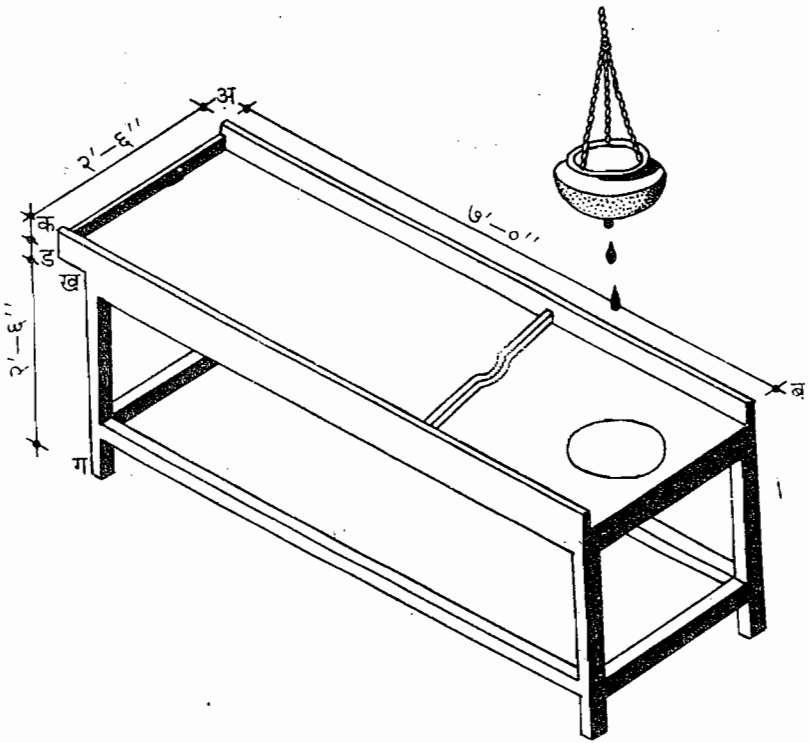

अ ब = ७'—०''
अ क = २'—६''
ख क = २'—६''
क ड = ०'—३''
ड ख = ०'—३''

स्रोत में से स्रवित होता है जो उसके नीचे एक पत्र रखकर जमा करें और सुखोष्ण कर पुनः पिषिंचिल करें।

५. धारा टेबल—स्नेहधारा और शिरोधारा के लिए 'तैलद्रोणी' जिसका वर्णन ऊपर किया है— का उपयोग किया जाता है, तथापि द्रोणि के समान ही उपयोगी, अल्प व्यय में साध्य और सुविधावाला अन्य उपकरण तैयार किया जा सकता है। इसे 'धारा टेबल' नाम से चित्र में प्रदर्शित किया है। यह एक ऐसा टेबल है जो ७ फीट लंबा, २।। फीट चौड़ा, २।। फीट ऊंचा होता है। इसकी ऊपरी सतह पर दोनों बाजू में किनारों से तीन तीन इंच तक ऊपर तक ऊँचाई की दीवारवाली रखनी चाहिए। जिससे टेबल पर गिरा हुआ द्रव टेबल से बाहर नहीं जा सकेगा। (देखें-चित्र में) अ ब ७ फीट लंबाई, अ क

शिरोधारा पात्र (शिरोधारा कर्म में)

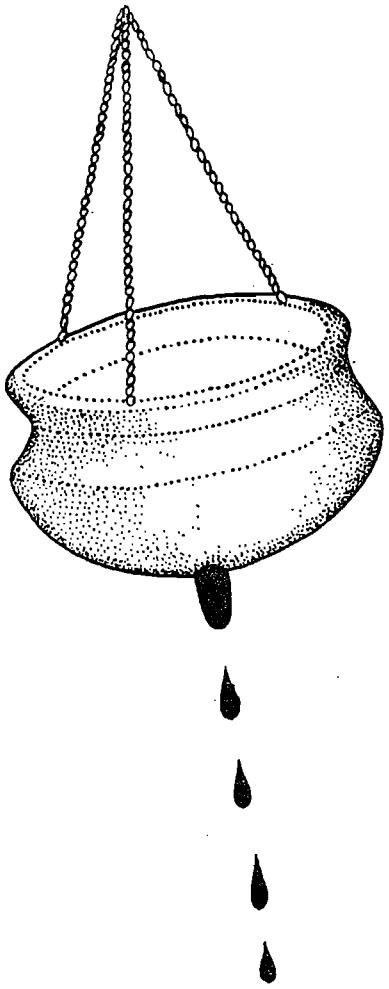

शिरोधारा पात्र (अ)

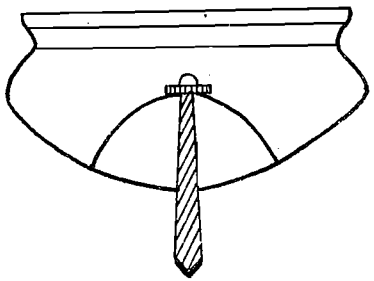

२।। फीट चौड़ाई और ख ग २'-६" ऊंचाई दृष्टिगोचर है। अ ब ख के ऊपर से ड क नामक ३" ऊपरवाली दीवार दोनों बाजू में तैयार होगी। इस टेबल के सतह पर सिर की ओर से २।। फीट अंतर पर एक मध्यरेखापट्टिका द्वारा टेबल को दो भागों में विभक्त करें। ऊपर का छोटा भाग शिरोभाग जो शिरोधारा के काम में लाया जाता है– और दूसरा 'शरीर भाग' जो पिषिंचिल के लिए काम में लाया जाता है। शिरोविभाग में किनारे से ३" की जगह छोड़कर, पीतल या किसी धातु निर्मित्त ६ इंच व्यास का वृत्ताकार ढलाव में युक्त–अंतर्मध्यछिद्र से युक्त एक चक्रिका इस तरह जोड़ दे कि उस स्थान में टेबल पर

किए हुए उसी आकार के गर्त में वह बराबर बैठ जाये और उसके छिद्र के समांतर टेबल के छिद्र द्वारा आर पार स्रोत तैयार हो जाये। इस चक्रिका में शिरोधारा का द्रव आकार स्रवित होगा और छिद्र द्वारा वह नीचे रखे हुए पात्र में संचित किया जा सकेगा। शरीर विभाग का पांव की ओर ढलाव होना चाहिए और अंतभाग में एक छिद्र रख कर उससे संलग्न धातु निर्मित पात्र टेबल में ऐसा जोड़ देवे कि सभी द्रव उसमें जमा किया जा सके। शिरोधारा के लिए निर्मित विभाग के ऊपर एक तार या मजबूत डोरी बांधकर उसमें धारापात्र ऐसा लटका दे कि वह कम अधिक अंतर से धारा गिरा सके।

उपयोग–इसका उपयोग द्रोणी के समान हैं। इसमें अनावश्यक लंबाई कम की गई है, और उपयोग में फरक नहीं होता। इसके निर्माण में द्रोणी की उपेक्षा कम व्यय लगता है।

६. धारा पात्र—शिरोधारा के लिए उपयोगी पात्र को धारापात्र कहा जाता है। यह पीतल, सुवर्ण, स्टील, खर्पर या काष्ठ में से या किसी अन्य धातु का तैयार करना चाहिए। यह एक ऐसा पात्र है जिसका मुख चौड़ा होता है, नीचे की ओर गोलाई में सिकुड़ा होता है और गहराई में ५ या ६ इंच का होता है। इसमें २ प्रस्थ या ६४ औंस द्रव की क्षमता कम से कम होनी चाहिए। इस पात्र के नीचे तल भाग में—कनिष्ठिका अंगुली का अग्रभाग प्रविष्ट हो सके इस तरह का लगभग २ सें. मि. परिणाह का छिद्र कर दे—जो बिल्कुल मध्य में हो। इस तल भाग पर एक वर्तुलाकार सिकुड़ा लकड़ी का या धातुनिर्मित कप के आकार का—मध्यभाग में छिद्रवाला पात्र उलटा कर ऐसा रख दें—कि पात्र का छिद्र और धारापात्र का छिद्र ठीक समांतर दिशा में आ जाये। इस पात्र के स्थान पर नारियल का बराबर आधा काटा हुआ कवच भी उपयोग ला सकते हैं। पात्र के या नारियल कवच के किनारे स्निग्ध और धारापात्र में ठीक तरह अवकाश न रखते हुए बैठ जायें इसका ध्यान रखें। ऊपर उलटाकर रखे हुए पात्र के छिद्र में से कपड़े की या कपास की दृढ़ वर्ति इस तरह संन्नद्ध कर दे कि वर्ति के ऊपर का भाग पात्र के छिद्र को संपूर्णतः बंद न करे—बल्कि थोड़ा-थोड़ा और सतत धारा युक्त द्रव छिद्र में से पूर्ति में उतर सकें। वर्ति का दूसरा भाग धारा पात्र के छिद्र से उतरकर पात्र के बाहर आतुर शिर से करीब ४ इंच ऊंचाई तक लटकता रहना चाहिए। वर्ति के पात्र ऊपर के ग्रंथिस्थान में छोटी सी लकड़ी की पट्टी डाट के स्वरूप में लगा दे जिससे वह छिद्र में से गिर न जाये।

यह धारापात्र आतुर के सिर के ऊपर धारा टेबल पर लटका देना चाहिए। एतदर्थ दृढ़ डोरी पात्र के सभी ओर छिक्के के जैसा किनारे में बांध दे और तीन बाजूसे तीन डोरियां इसमें बांधकर ऊपर एक कर-समतुला रखते हुए लटका देना चाहिए। डोरी का कोई भी भाग पात्र में न जाये इसका ध्यान रखें। (चित्र में धारापात्र का आभ्यंतर तथा धाराकर्म में धारापात्र का दृश्यमान स्वरूप दिखाया गया है।)

उपयोग—इसका उपयोग शिरोधारा कर्म में—द्रव पदार्थ की अखंडित-सम प्रकार की धारा आतुर के शिर पर—कपाल पर गिराने के लिए किया जाता है।

७. गलन्ती—यह पिषिंचिल या स्नेहधारा में उपयोगी ऐसा पात्र है जिसकी तुलना 'झारी' से की जा सकती है। यह पीतल, चांदी या सोने का, तांबे का या कांसे का बनाया जा सकता है। वह चौड़े मुख के फ्लास्क (Flask)— चंचुपात्र के आकार का दिखाई देता

उपकल्पनीय विज्ञान

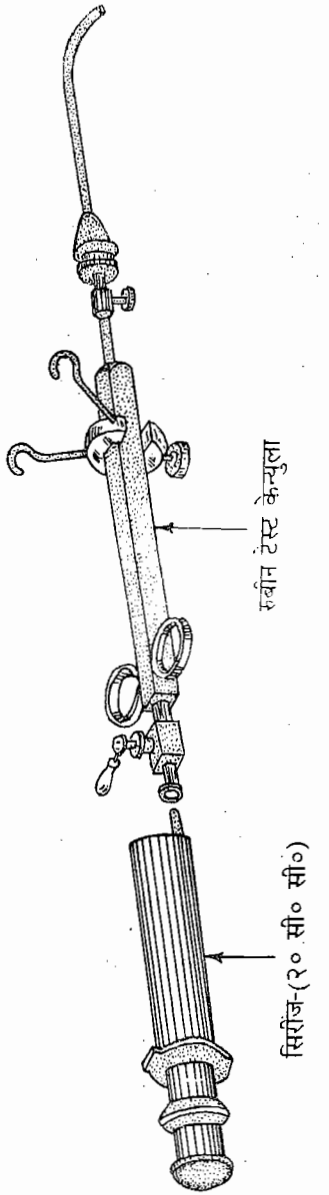

है जिसके बाहरी किनारे वक्राकार बहिरायाम के होते हैं। इसके एक बाजू में एक नलिका–झारी– संलग्न होती है––जो पात्र के तल में खुलती है—तथा दूसरा मुख क्रमशः पात्र के भाग पर कुछ झुक कर खुला रहता है। झारी की नलिका गलंती के बाजू पर ४५° डिग्री का कोण तैयार करते हुए संनद्ध करनी चाहिए। इस तरह के चार पात्र—अपने हाथ में रखकर चार कर्मचारी इस झारी के मुख से द्रव को आतुर के शरीर पर धारा से गिराते हैं पिषिंचिल किया जाता है। यह गलन्ती आजकल उपयोग में नहीं ली जाती। इसके स्थान पर १८" × १८" के वस्त्रखंड को स्नेह में डुबो कर धारा गिराई जाती है।

८. **शिरोबस्ति यंत्र**—शिरोबस्ति यंत्र यह एक चमड़े के टोप के आकार का गोल—दोनों बाजू में खुला हुआ—वेष्टनयोग्य पट्ट है जिसका चित्र बाजू में दिया है। साधारणतः १८ इंच, २० इंच, २२ इंच, २३ इंच, २४ इंच के परिणाह के चर्मपट्ट बनाना चाहिए। आकृति में य र यह इस चर्मपट्ट के सामने का सिर के साथ संनद्ध होनेवाला अर्थात् मूल तल का भाग है और क ड रेखा से तथा अ ब रेखा से इसके पीछे की बाजू को बताया है। सामने से यह य र न ल के आकार का दिखाई देगा। इसका परिणाह तल की ओर से ऊपर शिखर की ओर क्रमशः कम होकर करीब ३ इंच कम होता है। अर्थात् तल में २३" का परिणाह हो तो शिखर में २०" का परिणाह रखे। इसकी ऊंचाई (अ क = ६ इंच) नौ इंच रखनी चाहिए। सामने की ओर एक पट्टा रखना चाहिए—जो कसकर गोलाई का अंतर कम करने के लिए—और छोटे शिरवाले व्यक्ति पर इसे संनद्ध करने के लिए उपयोग में लाया जा सके ऐसा हो। चर्मपट्ट का चमड़ा दृढ़, स्निग्ध, श्लक्ष्ण और छिद्ररहित हो।

उपयोग—शिरोबस्ति कर्म में तैल को सिर पर रखने के लिए आधार देने के लिए इसका उपयोग किया जाता है। इसको आतुर के सिर पर रखकर अवकाशयुक्त स्थान को माप के गुँदे हुए आटे से भरकर निःस्रोत कर कपड़े से कपाल पर बंधन बांधकर–इसमें तैल–यथोक्त प्रकार से भरकर शिरोबस्ति दी जाती है।

९. **बस्तिनेत्र**—यह धातु निर्मित गोल–दोनों बाजू से खुले मुख वाली नलिका है–जिसकी लंबाई लगभग ७ इंच होती है। इसके मूल भाग में छिद्र लगभग ७५ इंच (पावना इंच) व्यास का और अग्र भाग का छिद्र २.२" व्यास का होता है। अग्र-भाग से ३ से ४ इंच के अंतर पर एक कर्णिका रखनी चाहिए जो नेत्र को गुद में अधिक प्रवेश से रोकती है। मूल भाग पर प्रथम एक कर्णिका रखे—और १ इंच के अंतर पर दूसरी कर्णिका रखे। इन दोनों के बीच बस्तिपुटक को अच्छी तरह बांध दिया जाता है। चित्र में बस्ति नेत्र तथा क्र. ८ के चित्र में बस्तिपुटक से संनद्ध बस्ति यंत्र बताया गया है।

१०. **उत्तरबस्ति यंत्र एवं उपयोगी उपकरण**—उत्तरबस्ति यंत्र का शास्त्रीय विधान बस्ति प्रकरण में दिया गया है। यहां आधुनिक उपकरणों का वर्णन किया जाता है जिनमें उत्तरबस्ति देना बहुत ही सरल होता है। उत्तरबस्ति के लिए व्होल्सेलम फॉर्सेप्स (volsellum forceps), सिम्स यूटराइन साउंड (sims uterine sound), ब्लॅडर साउंड फिमेल और मेल कॅथेटर (रबर या मेटल) यूटराइन केन्युला (uterine canula) या रुबीन्सटेस्ट केन्युला (Rubin's Test Canula) और मेटल सिरींज इनका उपयोग करना चाहिए। इनके चित्र साथ में संलग्न है। व्होल्सेलम फॉर्सेप्स (चित्र क्र. १) में तेज दांत लगा होता है– जो यंत्र को

दबाने पर गर्भाशय ग्रीवा (cervix) को दृढ़ पकड़ने के काम में आता है–इसके अवयव पर क्षत नहीं होता। २० सें. मि. (८ इंच) लंबा सीधा या कुछ वक्राकार का शस्त्र होता है। इससे गर्भाशय-ग्रीवा को पकड़कर सामने की ओर खींचना चाहिए ताकि उसका स्रोत स्पष्ट हो। यूटराइन साउंड वह यंत्र है— जो एक सीधे नेत्रकार की शलाका है और इसका उपयोग गर्भाशयग्रीवा के—स्रोत को खुला करने के लिए तथा गर्भाशयमार्ग के अन्वेषणार्थ किया जाता है। (देखें चित्र क. २)।

ब्लॅडर साउंड (Blader Sound)— यह मूत्राशय शलाका है जो अलग-अलग आकार की भिन्न-भिन्न मोटाई की-संग्रह (Set-) में प्राप्त होती है। ये साउंड पुरुष और स्त्रियों में दोनों में उपयोग किये जा सकते हैं। इनकी लंबाई सामान्यतः २५ सें. मि. (१० इंच) के लगभग होती है। ब्लॅडर साउंड और यूटराइन साउंड (मूत्राशय शलाका और गर्भाशय शलाका) में पहचानने में कुछ दिक्कत हो सकती है। इसमें निम्नलिखित प्रकार का भेद है।

१. मूत्राशय शलाका की वक्रता क्रमशः (uniform) होती है और इसमें कोन नहीं होता।

२. ब्लॅडर साउंड के ऊपर इंच या सें. मि. से निशान अंकित किए हुए नहीं होते–जो यूटराइन साउंड पर होते हैं। इनका उपयोग मूत्राशय (Bladder) की मर्यादा ज्ञान कराने के लिए होता है। मूत्रवह पथ में अवरोध हो तो उसके निदान के लिए इसका उपयोग होता है। यदि मूत्रवह पथ में पूयभाव (Sepsis) उत्पन्न हुआ हो तो इसका उपयोग नहीं करना चाहिए। (देखें चित्र क्र. ३ और ४)

फीमेल कॅथेटर—(Female Catheter)— ये भी शलाकायें होती हैं जो धातु की, कांच की, प्लास्टिक की, रबर की या किसी संकोच प्रसरणशील (Elastic) द्रव्य की बनाई जाती हैं। कांच और धातु की शलाकाएं अग्रभाग में कुछ वक्र होती हैं (चित्र क्र. ५ और ६ देखें) इनमें एक या दो स्रोत (Chennel) होते हैं। इन में भी अलग अलग आकार प्राप्य होते हैं। सामान्यतः नं. ६ और ८ की शलाकाएं उपयुक्त की जाती हैं। रबर कॅथेटर–निरापद और प्रयोग सौकर्यकर होता है।

मेल कॅथेटर—इन में भी अनेक आकार (मोटाई के अनुसार क्र. १ से १२ तक के सेट में प्राप्त होते हैं। रबर कॅथेटर का उपयोग सुकर है। इनमें भी नं.–६, ७, ८ का उपयोग सामान्यरीत्या किया जाता है। ये दोनों–स्त्री और पुरुष की शलाकाएं मूत्राशय में से मूत्र को निकालने के लिए प्रयुक्त की जाती हैं।

यूटराइन केन्युला—रुबिन टेस्ट केन्युला—(Uterene Canula-Rubin's Test Canula)—यूटराइन केन्युला यह धातु की करीब ६" लंबी एक अंत स्रोतवाली नलिका होती है–गर्भाशय में प्रविष्ट कराकर पीछे मेटल सिरींज से संलग्न कर–गर्भाशय में औषधि पहुंचाने के काम में लाई जाती है। इसका अग्रभाग क्रमशः कुछ वक्र होता है और उसमें तीन या चार छिद्र होते हैं। रुबिन टेस्ट केन्युला यह ऐसा ही उपकरण है जो स्त्रियों में बंध्यत्व परीक्षा में–फौलोपियन ट्यूब के स्रोतोरोध की परीक्षा में उपयुक्त किया जाता है। इसके अग्रभाग में करीब ६ या ७" लंबी यूटराइन केन्युला ही होता है जो– ८" लंबे धातुनिर्मित रिक्त नेत्र से संलग्न होता है। पीछे के भाग में पकड़ने के लिए कर्णिकाएं होती हैं। अग्रभाग के रबरकॅप लगी होती है जो गर्भाशय में विशिष्ट अंतर तक प्रवेश कराने

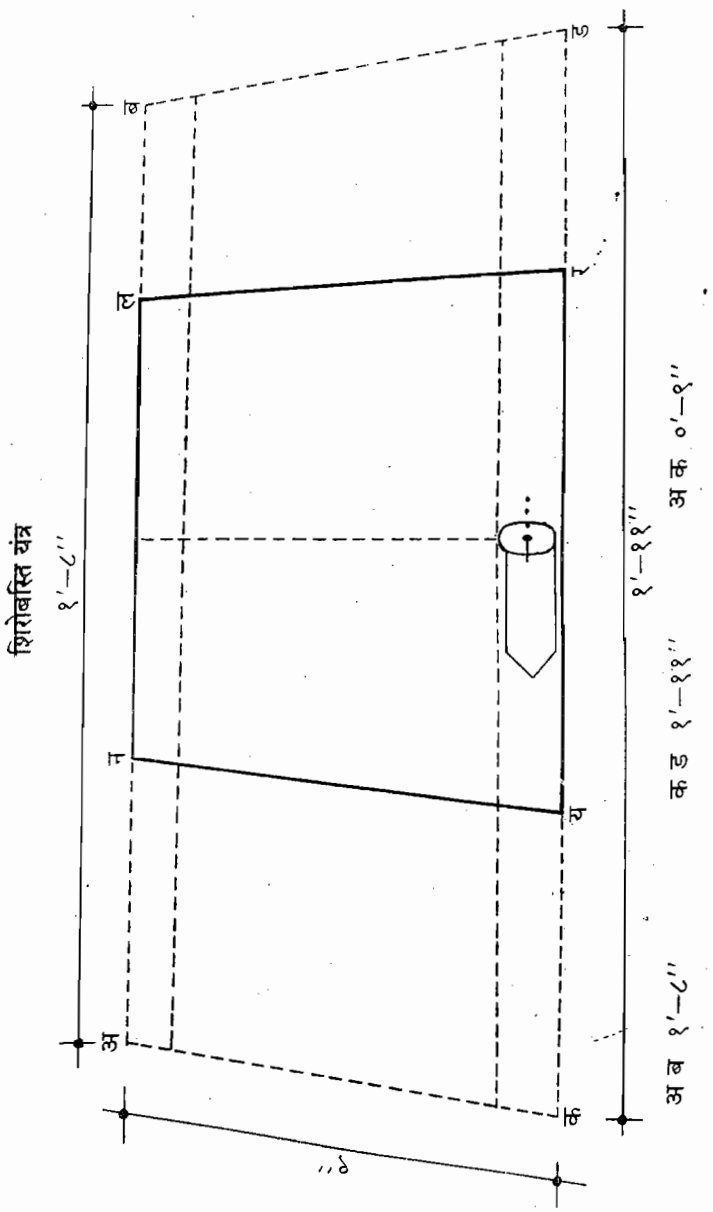

बस्ति नेत्र

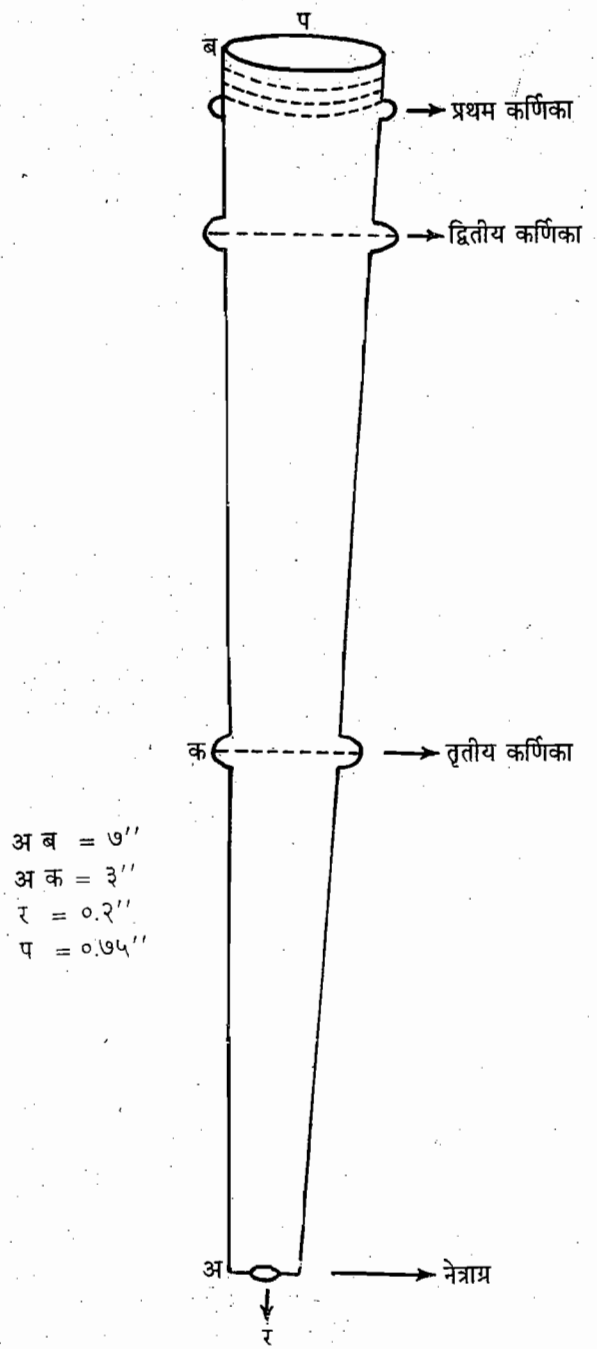

के लिए और उससे अधिक प्रवेश को रोकने के लिए कर्णिका सदृश काम करती है। इसके अग्रभाग में वक्रनेत्र में ३ या ४ छिद्र होते हैं। इसके पीछे के नेत्र भाग में कर्णिका के पीछे एक कपाट मुद्रिका लगी होती है– जिसे घुमाकर नेत्रस्रोत को बंद कर सकते हैं या खोल सकते हैं। इसके पीछे के स्रोत में औषधि से भरी हुई मेटल सिरींज, या प्लास्टिक सिरींज जोड़ी जा सकती है।

उपयोग पद्धति—स्त्री आतुर को चित्त लिटाकर जानु में पैरों को मोड़कर खड़ा रखना चाहिए। उत्तर बस्ति देने के समय वैद्य सब उपकरणों को अत्यंत स्वच्छ और निर्जतुक रखे। यदि स्त्री में मूत्राशय में बस्ति देनी हो तो प्रथम ब्लॅडर साउंड प्रविष्ट कराकर मूत्रवह स्रोत का मार्ग निश्चित करें। फिर फीमेल रबर कॅथेटर या धातु का कॅथेटर प्रविष्ट करावें। इससे मूत्रप्रवृत्ति हो जाती है। तत्पश्चात् कॅथेटर के मूलभाग में मेटल या ग्लास सिरींज जोड़कर स्नेह या क्वाथ धीरे धीरे मूत्राशय में प्रविष्ट करावें। औषधि अंदर चली जाने के बाद क्षत न हो इस प्रकार कॅथेटर निकाल लेवे। पुरुष आतुर में मूत्राशयगत बस्ति देने की यही विधि है। आतुर को टेबल पर लिटा दें। मेढ्र के स्रोत में से प्रथम ब्लॅडर साउंड प्रविष्ट कराकर मूत्रमार्ग का अंतर तथा अश्मरी इत्यादि से अवरोध नहीं है इसकी निश्चिति कर लें। फिर साउंड निकालकर यथोपयोगी क्र. वाली रबर शलाका प्रविष्ट करावे। शलाका प्रवेश अनंतर मूत्र प्रवृत्ति हो जाए इसलिए थोड़ी देर प्रतीक्षा करनी चाहिए। (बेहतर यह है कि मूत्राशय गत बस्ति देने के पूर्व आतुर को मूत्र विसर्जन करावे)। फिर रबर कॅथेटर के बाहरी अंतभाग में सिरींज जोड़कर यथोक्त औषधि धीरे धीरे प्रविष्ट करें और बाद में अवयव को क्षत न करें इस प्रकार कॅथेटर को निकाल लेवे।

स्त्री में गर्भाशयगत उत्तर बस्ति देने के लिए उपर्युक्त अवस्था में प्रथम व्होल्सेलम फॉर्सेप्स से गर्भाशय ग्रीवा (Cervix) को पकड़कर सामने की ओर ऐसा खींचे की उसका स्रोत दृष्टिगोचर हो। इस स्रोत में से गर्भाशय शलाका (Uterine Sound) प्रविष्ट करकर गर्भाशय पथ तथा अवयव की मर्यादा को समझ ले। इसी तरह साउंड के प्रवेश से ग्रीवा स्रोत खुलकर शिथिल (Relax) होता है फिर इस स्रोत में से यूटराइन केन्युला प्रविष्ट करावे। यदि रुबिन टेस्ट केन्युला हो तो ग्रीवा मुख को खींचकर उसे हानि पहुंचाने की जरूरत नहीं पड़ती। इसकी लंबाई कुल करीब १२ से १४ इंच होती है—अतएव इसे सुविधा से गर्भाशयग्रीवा के स्रोतोमुख तक प्रविष्ट कराकर गर्भाशय में प्रविष्ट किया जा सकता है। फिर बाहर के अंतिम भाग में सिरींज जोड़कर औषधि अंदर प्रविष्ट करावें। औषधि के चले जाने पर आशय को देखते हुए केन्थुला निकाल लेवे। उपर्युक्त कर्म सावधानी से हस्तलाघव से तथा कृतकर्म निपुण वैद्य को ही करना चाहिए।

११. **वमनपीठ** —यह एक कुर्सी है जो १।। से २ फीट ऊंची, उतनी ही चौड़ी अथवा आराम दे सके इतनी अधिक चौड़ी और तीनों बाजू में कुशनवाली तथा बैठने के स्थान में भी मृदु आसनवाली अच्छे काष्ठ द्वारा निर्मित होनी चाहिए। यह वमनपीठ वमन के समय आतुर को बिठाने के लिए उपयोग में लाये। इसके पीछे के भाग में गर्दन को आराम देने के लिए एक गर्त गद्दे के साथ रखना चाहिए। वमनकर्म में श्रांत आतुर इस पर शिर रखकर कुछ समय आराम कर सके दोनों बाजू में जो हाथ लगे हो—वे काफी चौड़े और आराम दायक होने चाहिए। इन पर स्वच्छ-नेपकीन लटकाते रखे, जो वमन कर्म में लालास्राव या उत्क्लेशयुक्त मुख को पोंछने के लिए उपयोग में लायें।

विविध यंत्र शस्त्र

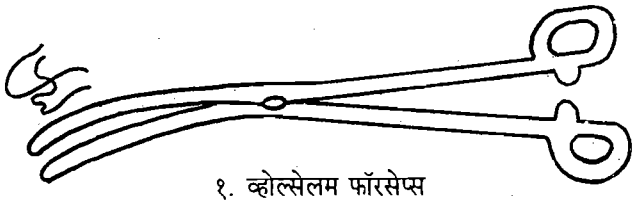

१. व्होल्सेलम फॉरसेप्स

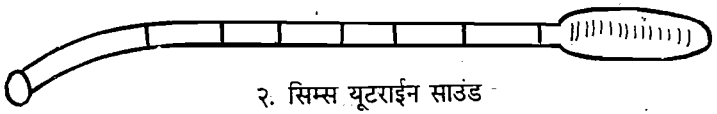

२. सिम्स यूटराईन साउंड

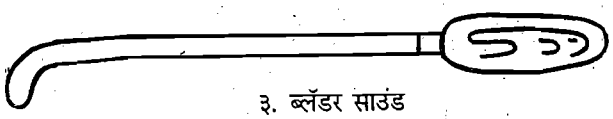

३. ब्लॅडर साउंड

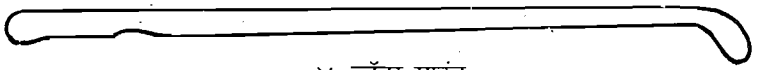

४. ब्लॅडर साउंड

विविध यंत्र शस्त्र

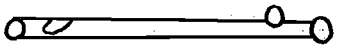

५. फीमेल कैथेटर

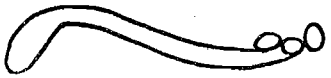

६. फीमेल कैथेटर

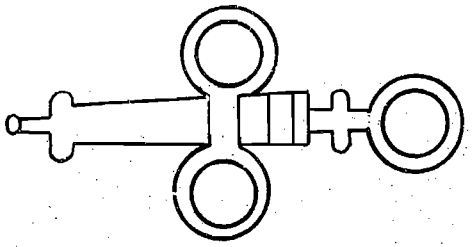

७. मेटल सिरींज

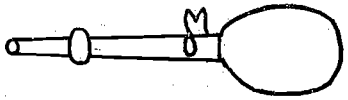

८. बस्ति यंत्र

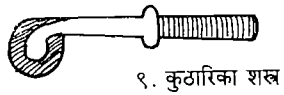

९. कुठारिका शस्त्र

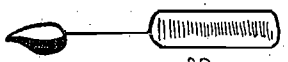

१०. व्रीहिमुख शास्त्र

१२. नस्यपीठ —यह भी उपर्युक्त प्रकार की कुर्सी है—जिसके पीछे के पृष्ठ विश्रामीय स्थान पर शिर के ऊंचाई पर—पीछे की ओर झुका हुआ मृदुशय्यांकित-अर्धवृत्ताकार गंन्याविश्रामीय काष्ठ पट्ट संलग्न होना चाहिए। जिस पर मन्या को झुकाकर रखकर, आतुर के नासापुट उन्नत कर नस्य दिया जाता है।

१३. कुठारिका शस्त्र— कुठारिका शस्त्र गाय के दांत के समान, मुख पर एक या आधा अंगुल होता है। इसको ऊपर सीधा दंडाकार पकड़कर अस्थियों के ऊपर स्थित शिरा वेधन करें। इसके लकड़ी के बने हत्थे की लंबाई सात अंगुल की होती है और फलक गोदंत के आकार का आधे से एक अंगुल लंबा रखे इसके स्थान में चाकू का या स्कालपेल का उपयोग किया जा सकता है आकृति क्र. ६ देखें।

१४. ब्रीहीमुख शस्त्र—ब्रीहिमुख शस्त्र ट्रोकार (Trochar) के सदृश होता है। इसका मुख ब्रीहि के समान आगे तीक्ष्ण होता है। इसका उपयोग मांसल प्रदेश के सिरावेध के लिए, वृद्धि, जलोदर, गुल्म, विद्रधि आदि में वेधनार्थ किया जाता था। चित्र क्र. १० देखें।

प्रथम कर्पूरादि स्थान में त्वचा में कुठारिका द्वारा चीरा लगाया जाये, फिर व्रण के दोनों किनारे पृथक् कर, मांस, वसा को पृथक् करें, जिससे भीतर की सिरा दृष्टिगोचर होती है। सिरा नजर आने पर ब्रीहिमुख शस्त्र का तीक्ष्ण भाग अंदर प्रविष्ट कराकर रक्तावसेवन करे। आजकल ट्रान्सफ्यूजन के लिए इस तरह व्हीनस सेक्शन कर सिरा में केन्युला प्रविष्ट किया जाता है।

उपर्युक्त उपकरणों के अतिरिक्त साधनों, भैषज्यों तथा आहारादि कल्पों को बुद्धिपूर्वक वैद्य यथायोग्य प्रकार से संग्रहीत करें और पंचकर्म चिकित्सा के लिए कार्यदक्ष रहे।

***मानपरिभाषा**—इस ग्रंथ में प्रायः जहां जहां आयुर्वेदीय मान का संदर्भ आया है वहां वहां आधुनिक मान—तोले-औंस इत्यादि में दिया है, तथापि हो सकता है—पुनरुक्त दोषभय से कहीं कहीं छूट गया हो इसलिए यहां सभी मानों का उल्लेख किया जाता है।

३ राजिका	१ रक्तसर्षप
२ रक्तसर्षप	१ गौर सर्षप
४ गौर सर्षप	१ तंडुल
२ तंडुल	१ धान्यमाष या यव
२ धान्यमाष	१ रत्ती
२ रत्ती	१ निष्पाव (अंडिका)
६ रखी	१ सुवर्णमाष
४ सुवर्णमाष	१ शाण (चाँदी की चवन्नी) (टंक पर्याय)
२ शाण	१ कोल (चाँदी की अठन्नी)
२ कोल	१ कर्ष (१ रुपया भार- १ तोला = ६६ रत्ती)
२ कर्ष	१ शुक्ति (२ तोला) अष्टमिका (पलार्ध)

२ शुक्ति	१ पल (४ तोला) (मुष्टि, बिल्व)
२ पल	१ प्रसृति (८ तोला)
२ प्रसृति (४ पल)	१ कुडव (१६ तोला)
२ कुडव	१ शराव (३२ तोला)
२ शराव (४ कुडव)	१ प्रस्थ (६४ तोला)
४ प्रस्थ	१ आढ़क (२५६ तोला)
२ आढ़क (८ प्रस्थ)	१ कंस (५१२ तोला)
४ आढ़क (१६ प्रस्थ)	१ द्रोण (१०२४ तोला)
२ द्रोण	१ शूर्प (२०४८ तोला)
१०० पल	१ तुला (४०० तोला)
द्रव्यमान	
१ बूँद	प्रदेशिनी अंगुली दो पर्वों को द्रव में डुबोकर ऊंचे उठाने से गिरी हुई एक बूंद
८ बूँद	१ शाण
३२ बूँद	१ शुक्ति
६४ बूँद	१ पाणि शुक्ति
दैर्ध्य का मान	
१ अंगुल	८ यवों को मध्यभाग में सूई में पिरोने से जो लंबाई होती है वह (लगभग ३/४ इंच)
१२ अंगुल	१ वितस्ति (लगभग ६ इंच)
अरत्नि	लगभग २२ अंगुल (१६।। इंच)
२ वितस्ति	१ हाथ (१८ इंच)
व्याम	४ हाथ (६ फीट)
कालमान	
१ अक्षिनिमेष	अ आदि लघ्वक्षर उच्चारने का समय, ३ निमेषोन्मेष का समय अथवा १ चुटकी बजाने में जितना समय लगे उतना काल लगभग ६/६० सेकंड
१५ अक्षिनिमेष	१ काष्ठा-लगभग ४।।। सेकंड
३० काष्ठा	१ कलां-२ मिनिट २।। सेकंड
२० १/१७ कला	१ मुहूर्त-लगभग ४८ मिनिट

*उपर्युक्त सभी परिभाषायें वैद्य यादवजी विक्रमजी आचार्य लिखित 'द्रव्यगुणविज्ञानम उत्तरार्ध-परिभाषा खंड' में से दी गई हैं।

संदर्भ

१. च. सू. १५-१ से ७ तक देखें
२. अ. हृ. शा. २
३. च. चि. २६
४. अ. हृ. चि. २१
५-६. भैषज्य रत्नावली
७. भैषज्य रत्नावली
८. चिकित्सा प्रदीप
९. भैषज्य रत्नावली
१०. च. चि. २६
११. च. चि. २६
१२. च. चि. २७
१३. च. चि. २८
१४. च. चि. २८
१५. चिकित्सा प्रदीप, वैद्यमनोरमा
१६. भैषज्य रत्नावली
१७. क्र. १ से १२–भैषज्य रत्नावली
१८. चिकित्सा प्रदीप
१९. भैषज्य रत्नावली
२०. सहस्त्रयोग
२१. अ. हृ. क. ४
२२. पेया लघुतरा ज्ञेया ग्राहिणी धातु पुष्टिवा।
यूषो बल्यस्ततः कंठ्यो लघुपाको कफावहः।।
बृंहणी तर्पणी हृद्या मधुरा पित्तनाशिनी (विलेपी)।। शा. म. ख.
यहां अनिर्दिष्ट संदर्भ में सभी कल्पनाएं आचार्य यादवजी त्रिकमजी विरचित द्रव्यगुण विज्ञानम्–उत्तरार्ध परिभाषा खंड से समझनी चाहिए।
२३. Ayurvedic Treatment of Kerala.

दशम अध्याय

प्रतिरोग-पंचकर्म विवेचनीय-विज्ञान

प्रयोजन—पंचकर्म चिकित्सा समस्त तथा पृथक्-पृथक् रूप से अनेक रोगों में की जाती है। प्रायः सभी रोगों में इस चिकित्सा का उपयोग होता ही है। स्नेहन, स्वदेन, वमन, विरेचनादि अध्यायों के अंत में प्रत्येक रोग में वे कर्म कैसी-कैसी अवस्था में निर्दिष्ट किये है इसका उल्लेख किया है। यहाँ प्रत्येक रोग में कौन-कौन कर्म किस-किस अवस्था में किये जाते हैं, इसका विवेचन किया जाएगा। इसका उद्देश्य यह है कि चिकित्सकों को तत्तद्रोगों की चिकित्सा में अनुकूलता हो तथा छात्रों को अध्ययन में सुविधा हो। यहाँ एक बात ध्यान में रखनी चाहिये कि नीचे जो-जो कर्म जिन-जिन रोगों में कहे गये हैं,वह उस रोगी की संपूर्ण चिकित्सा नहीं है। अपितु प्रस्तुत ग्रंथ केवल प्रयोजनीय विषय ही यहाँ उद्धृत किया है।

एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए कि पंचकर्म पृथक्शः अथवा समस्त रूप से भी किये जा सकते हैं। ऐसा करने से उनका पंचकर्मत्व विवाद्य नहीं होता। उरुस्तंभ प्रकरण में अग्निवेश ने आत्रेय को प्रथम ही प्रश्न पूछते हुए कहा है कि— पंचकर्म चिकित्सा पृथक्-पृथक रूप से तथा समस्त रूप से करने का सभी रोगों में निर्देश किया गया है।[१] लेकिन क्या ऐसा भी कोई दोषजन्य (निज रोग) है जिसमें ये पंचकर्म नहीं किये जा सकते ? इसके उत्तर में आत्रेय ने कहा कि उरुस्तंभ ऐसा रोग है— जिसमें पंचकर्म नहीं किये जा सकते। अस्तु। यहाँ मतलब केवल इससे ही है कि पंचकर्म पृथक्-पृथक् तथा समस्त रूप से किये जा सकते हैं।

यहाँ पर प्रत्येक रोग में अवस्था, कर्म निर्देश तथा विधि इन शीर्षकों से विवेचन किया गया है। प्रायः प्रत्येक कर्म के निर्देश करते समय उस कर्म की विधि का उल्लेख शास्त्र में किया गया है। यदि न किया गया हो तो कल्पोक्त प्रकार से करने का निर्देश है। यदि ऐसा न हो तो अनुभव और सामान्य बुद्धि का उपयोग कर यह विधि वर्णन की गई है। अतएव नीचे लिखित वर्णन समस्त प्रकार से शास्त्रीय है और वैद्यों को इसका अवश्य लाभ उठाना चाहिये ऐसी हमारी दृढ़ धारणा है।

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
१. ज्वर तरुण ज्वर	स्वेदन	गुरुप्रावरण, उष्णसदन, क्षुधा धारण उपनाह
आमाशयगत उत्क्लिष्ट कफ-प्रधान दोष में, वम्य आतुर हो तो	वमन	मदनफल सैंधव, वचा का योग ३ माशा गरम जल के साथ वमनोत्तर ६ दिन यवागु भोजन
कषाय पानादि उक्त चिकित्सा से प्रशम न होने पर, अक्षीण बल मांस वाले आतुर को	विरेचन	त्रिफला, त्रिवृत विरेचन क्वाथ आरग्वध, हरीतकी क्वाथ या केवल दूध से
पित्त या कफपित्त—पित्ताशय में स्थित हो तब	विरेचन	स्रंसन-द्राक्षा, कटुका, त्रिफला, फांट, त्रिवृत और शर्करा चूर्ण
पुराण ज्वर में— क्षीण आतुर, कफ पित्तज्वर—अग्निबल युक्त आतुर में, रुक्ष तथा बद्धमल प्रवृत्ति युक्त आतुर हो तो	अनुवासन	तिल तैल या जीवंत्यादि तैल ४ औंस से
शिरःशूल, शिरो गौरव, इंद्रिय जाड्य के लिये जीर्णज्वर में—अवस्थानुसार	नस्य	कंटकफल चूर्ण, त्रिकटु, अणु तैल या धूम नस्य
धातु क्षीणता में	अभ्यंग	चंदनबला लाक्षादि तैल
शरीर उष्मा में	परिषेक,अवगाह	शीतजल, क्षीर, घृत से
शरीर शैत्य में	उष्णप्रदेह	अणुर्वादि तैल से
कषायमान, वमन, लंघनादि चिकित्सा से ज्वर प्रशम न हो तो रुक्ष आतुर में	घृतपान	शुद्ध गोघृत, वासादि घृत, बलादि घृत १ से २ तोला २ बार ज्वरघ्न कषाय के साथ
बहुदोषयुक्त ज्वर	वमन विरेचन	मदनफलादि योग, लवणजल, मद्य द्राक्षा, आमलकी रस, त्रिवृत से द्राक्षा आरग्वध क्वाथ से
संन्निपात ज्वर के अंत में कर्णमूल में शोथ हो तो	रक्तावसेचन	प्रच्छान, जलौका
	घृतपान	उपर्युक्त
	नस्य	उपर्युक्त
ज्वरोक्त शीतोष्ण क्रम से प्रशम न हो तो	रक्तमोक्षण	सिराव्यध
विसर्प, अभिघात, विस्फोट इत्यादि से ज्वर हो और कफपित्त प्रधान न हो तब	घृतपान	पुर्वोक्त वासादि घृत

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
पक्वाशयगत दोष में, ज्वरक्षीण आतुर में	निरूह	गुडूचिसिद्ध बस्ति, पटोलादि-क्वाथ बस्ति
विषमज्वर-वात प्रधान में	बस्ति	उपर्युक्त
विषमज्वर-पित्त प्रधान	विरेचन	दूध, त्रिवृत्त, त्रिफला, कटुका या दूध से
	घृतपान	पूर्वोक्त
विषमज्वर-कफ प्रधान	वमन	घृत पिलाकर या मद्य पिलाकर वमन
	नस्य	सैंधव, पुराणघृत, पिप्पली चूर्ण से
रसगत ज्वर	वमन	उपर्युक्त
रक्तगत ज्वर	परिषेक, प्रदेह	उपर्युक्त
मांसगत ज्वर	विरेचन	उपर्युक्त
अस्थि मज्जागत ज्वर	निरूह	गुडूचिसिद्ध
	अनुवासन	जीवंत्यादि तैल
अभिघातजज्वर, मेदोगत ज्वर	घृताभ्यंग	यद्योक्त
	घृतपान	उपर्युक्त
	रक्तमोक्षण	सिरा व्यध जलौका
पुनरावर्तक ज्वर (प्रशमित पुनः अपथ्याहार से आया हुआ)	मृदु शोधन (वमनविरेक)	यथोक्त
	यापन बस्ति	बस्ति अध्यायोक्त
	अभ्यंग	यथायोग्य प्रकार से
	उद्वर्तन	यथायोग्य प्रकार से
	तिक्तघृतपान	यथायोग्य प्रकार से
२. रक्तपित्त		
बहुदोष, बलवान आतुर, अक्षीण बल मांस युक्त और संतर्पणजन्य	विरेचन	त्रिवृत, हरीतकी, आरग्वध इनको मधु और शर्करा के साथ दे
ऊर्ध्वग रक्तपित्त बहुदोष, बलवात, अधोग रक्त पित्त	वमन	मदनफलादि योग, इक्षुरस या कुटज फल से
		वासाघृत-१ से २ तोला २ बार
अतिरक्तस्राव में सामान्य चिकित्सा	घृतपान	शीत विधि से
	अभ्यंग	
	परिषेक	
	अवगाह	
कास, ज्वर, आनाह, विबंध, शूल से युक्त रक्तपित्त में	घृतपान	शतावर्यादि घृत १-२ तोला २ बार

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
नासा से कुणप गंधी रक्तस्राव हो तो	नस्या	नील कमल, गैरिक, शंखभस्म चंदनचूर्ण, इन्हें शर्करा और जल के साथ पीसकर नस्य, आम के गुठली से स्वरस या क्वाथ से नस्य, धाय के फूल का रस, सर्जरस का नस्य, द्राक्षारस, इक्षु रस, दूर्वा स्वरस, पलांडु स्वरस, दाडिम पुष्प, जल, घृत, दुग्ध का नस्य
रक्तपित्त में दाह हो तो	परिषेक अवगाह	घृत, तैल, उशीर, चंदन, कमल, उदुम्बर लोध्रसिद्ध जल से
३. गुल्म		
वातज गुल्म-तीव्र वेदना, रुक्ष, वात, मलनिबंध में	स्नेहन	ऋषणादि घृत, पिपल्यादि वासादि घृत इत्यादि
	स्वेदन	नाड़ी प्रस्तर, संकर
आनाह में	निरूह अनुवासन	दशमूल क्वाथ, एरंडमूल क्वाथ इत्यादि तिल तैल
ऊर्ध्व नाभिगत, पक्वाशयगत जठर में	स्नेहपान बस्ति	पूर्वोक्त
वातज गुल्म में कफ के अनुबंध के लक्षण हों, अरुचि, हृल्लास, गौरव, तंद्रा हो	वमन	मनदफलादि रोग से
वातज गुल्म में—पित्त वृद्धि हो	विरेचन अनुलोमन	आरग्वध, त्रिवृत, द्राक्षादि से
वातज गुल्म यदि उक्त चिकित्सा से प्रशमित न हो	रक्तमोक्षण	प्रच्छान, सिराव्यध, जलौका घटीयंत्र
पित्तज गुल्म में—स्निग्धोष्ण हेतु से उत्पन्न हो तो	विरेचन	द्राक्षा, हरीतकी-स्वरस या क्वाथ दंतीहरीतकी प्रयोग
रुक्षोष्ण हेतु से उत्पन्न हो तो पक्वाशय स्थित पित्तगुल्म	घृतपान क्षीरबस्ति	दूध ८ औंस मधु ४ औंस, तैल ४ औंस घृत ४ औंस बस्ति-भोजन पूर्व
	विरेचन	दूध से या तिक्त विरेचन कटुका चूर्ण से
तृष्णा, दाह, ज्वर, शूल, अग्निमांद्य, अरुचि से युक्त में	रक्तमोक्षण	प्रच्छान, सिराव्यध, घंटीयंत्र या जलौका

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
कफज गुल्म में—मंदाग्नि, मंद वेदना गुरुस्तिमिति कोष्ठता, उत्क्लेश और अरुचि को देखकर	वमन	पूर्वोक्त
आनाह, विबंध युक्त कठिन उन्नत गुल्म में (कफज)	स्वेदन	तापस्वेद उपनाह, प्रदेह
कफज गुल्म स्थान से च्युत होने पर	विरेचन स्नेहबस्ति निरूह	पूर्वोक्त दाशमूलिक
अतिप्रवृत्त रक्त में	अनुवासन	जीवनीय घृत को तिक्त क क्वाथ से सिद्ध कर अनुवासन दे
४. प्रमेह		
दोष बलाधिक प्रमेही में अर्थात्	शोधन	वमन-विरेचन के यथोक्त योगों से
कफज प्रमेह	वमन	
पित्तज प्रमेह	विरेचन	
वातज प्रमेह में	सिद्धतैलपान घृतपान	वातहर, तैल, घृत से
पित्तज प्रमेह में	घृतपान	
कफज प्रमेह में	तैलपान	कफहर तैल
५. कुष्ठ		तिक्त घृत, महातिक्तघृत, महा
वातोत्तर कुष्ठ	घृतपान	खदिर घृत
कफोत्तर कुष्ठ	वमन	यथावत्
पित्तोत्तर कुष्ठ	विरेचन	विवृत, दंती, त्रिफला प्रच्छान
	रक्तमोक्षण	सिराव्यध
दोषोत्क्लिष्ट हृदय में	वमन	कुटज, मदनफलादि से
वातोल्वणता में	विरेचन	त्रिवृतादि
	निरूह	मदनफल कुटजादि क्वाथ निरूह
	अनुवासन	सदनफल, करंज, पटोल सिद्ध तैल द्वारा
क्रिमि कुष्ठ में कफ प्रकोप हो, स्थिर कठिन मंडल में	नस्य	विडंग चूर्ण, वैरेचनिक धूम
	स्वेदन	प्रस्तर नाड़ी, आनूप, जलज मांस के पोटली से पिंडस्वेद
	रक्तमोक्षण	कूर्चा से प्रच्छान (कूर्चशस्त्र में ३ या अधिक सूईयां हत्थे में लगी होती हैं) तथा शृंगजलौका अलाबु
पित्तज कुष्ठ	स्नेहपान	निंब, पलाश, लोध्र, पर्पटक, सिद्ध घृत

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
कफज कुष्ठ	स्नेहपान	निब सप्तपर्ण, वचा, भल्लातक सिद्धघृत या तैल
कुष्ठ सामान्योपक्रम	अभ्यंग	करंज तैल-प्रतिदिन
	वमन	१५-१५ दिन के अंतर के वमन
	विरेचन	एक एक मास को विरेचन
	नस्य	३-३ दिन को १ बार नस्य
	रक्तमोक्षण	६-६ महीने में १ बार रक्तमोक्षण
६. राजयक्ष्मा		
लाक्षणिक चिकित्सा में पीनस हो तो	अभ्यंग स्वेदन	अगुर्वादि तैल से
	धूम परिषेक	बाष्पस्वेद
	अवगाह	धूमनस्य दशमूल
	स्वेद	कृशरा, पायस, उत्कारिका माष यव से संकर स्वेद कंठ, उर, पार्श्व पर पत्रपिंड स्वेद आरनाल, मांसरस, पंचमूल क्वाथ से नाड़ीस्वेद
	नस्य	धूमनस्य, नावन नस्य
	बस्ति	निरूह-दाशमूलिक
		अनुवासन तिलतैल
शिर, पार्श्व, अंसशूल में	रक्तमोक्षण	शृंग, जलौका, अलाबु सिराव्यध
	परिषेक	माहेंद्र जल, चंदन शृतशील जल
दोष की अधिकता में	स्नेहन	यथोक्त
	स्वेदन	यथोक्त
	वमन	मृदु लवण जल से
	विरचन	मृदु—आरग्वध हरीतकी, फांट, त्रिवृत चूर्ण द्राक्षा आमलकी रस इत्यादि
हस्तपाद में दाह, ज्वर, ऊर्ध्वग रक्त प्रवृत्ति	घृतपान	वासाघृत, शतावरीघृत
अति क्षीण आतुर में	बस्ति	बृंहण बस्ति, रसायन बस्ति—यथोक्त—क्षीर घृत से
यक्ष्मा में बाह्योपचार	अभ्यंग	चंदनबला लाक्षादि तैल,
	अवगाह	क्षीर, जल, स्नेह कोष्ठ में
	मर्दन उत्सादन	मिश्रक स्नेह
७. उन्माद		
वातज उन्माद	स्नेहपान	सारस्वत घृत, ब्राह्मी घृतपंचगव्य घृत शोधन विधि से
	मृदु शोधन	विरेचन आरग्वधादि

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
पित्तज उन्माद	रक्तमोक्षण	सिराव्यध
कफ पित्तोद्भव	वमन	यथोक्त
	विरेचन	यथोक्त
सभी उन्मादों में शोधन के बाद	निरूह	नस्य—पुराण घृत
	अनुवासन नस्य, प्रदेह, उत्सादन, अभ्यंग, धूमपान सर्पिष्पान	
८. अपस्मार		
सामान्य चिकित्सा	तीक्ष्ण वमन	मदनफलादि योग लवण जल
	विरेचन	इच्छाभेदी रस, आरग्वध हरीतकी फांट तथा एरंड तैल के साथ
वातिक अपस्मार	बस्ति	दशमूल सिद्ध निरूह
पैत्तिक अपस्मार	विरेचन	यथोक्त
श्लैष्मिक अपस्मार	वमन	यथोक्त
अतत्वाभिनिवेश	स्नेहन	बाह्याभ्यंतर
	स्वेदन	वाष्पस्वेद
	वमन	यथोक्त
	विरेचन	यथोक्त
९. श्वयथु (शोथ)		
सामान्य चिकित्सा आमजन्य शोथ	लंघन पाचन के बाद शोधन	विरेचन
शिरोगत शोथ	नस्य	विडंग, शिग्रु, शिरीष बीज, कट फल या अणु तैल से
अधोगत शरीर के अधोभाग में शोथ हो तो	विरेचन	आरग्वधादि, एरंड तैल
ऊर्ध्व शरीरशोथ	वमन	यथोक्त
कफज शोथ	विरेचन	त्रिफला, हरीतकी, कटुका
वातज शोथ	विरेचन	दंती, त्रिवृत सिद्ध क्षीर
वात पित्तज शोथ	विरेचन	एरंडमूल, त्रिकटु सिद्ध क्षीर, एरंड तैल से
१०. उदर		
वातोदर-बलवान रोगी	स्वेदन स्नेहन	चित्रकादि घृत इत्यादि
	स्निग्ध विरेचन	तापस्वेद, नाड़ी, स्वेद एरंड तैल, द्राक्षा आरग्वध, त्रिवृत चूर्ण
वातोदर में आतुर रुक्ष हो और उदावर्त हो तो	स्नेहन	यथोक्त
	स्वेदन	यथोक्त
	आस्थापन	दशमूलिक
	अनुवासन	तिल तैल

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
पित्तोदर-बलवान रोगी	विरेचन	आरग्वधादि
दुर्बल अनुवास्य को	निरूह	क्षीर बस्ति
	अनुवासन	तिल तैल
संजात बल संजाताग्नि को	विरेचन	त्रिवृत सिद्ध दूध एरंड सिद्ध दूध आरग्वध सिद्ध दूध
	रक्तमोक्षण	सिराव्यध स्थानिक जलौका, शृंग प्रयोग
सकफ पित्तोदर में	विरेचन	गोमूत्र-दूध पिलाकर या गोमूत्र हरीतकी प्रयोग
सवात पित्तोदर	विरेचन	तिल्वक घृत, त्रिवृत घृत
कफोदर	स्नेहन	यथोक्त
	स्वेदन शोधन	विरेचन
संन्निपात्तोदर	सर्वकर्म	आवश्यकतानुसार
प्लीहोदर	स्नेहन	यथोक्त
	स्वेदन	यथोक्त
	विरेचन	यथोक्त
	बस्ति	यथोक्त
	रक्तमोक्षण	सिराव्यध वामकूर्पर में
यकृतोदर	स्नेहन स्वेदन विरेचन बस्ति	
	रक्तमोक्षण	सिराव्यध दक्षिण कूर्पर में
बद्धोदर	स्वेदन	नाड़ी, संकर
	निरूह	तिल तैल, लवणयुक्त दाशमूलिक
	अनुवासन	तिलतैल
छिद्रोदर	स्नेहन	शमन
	शोधन	विरेक
जलोदर	विरेचन	नारायण चूर्ण
सभी उदर	विरेचन	स्नूही क्षीर, घृत, हरीतकी इत्यादि तथा कल्पोक्त
११. अर्श		
स्तब्धार्श—शोफ, ग्लानित	अभ्यंग	चित्रक तैल, क्षार तैल, तिल तैल, घृत, कुष्ठ तैल
	स्वेदन-संकर	यव, माष कुलत्थ की पोटली से संकरस्वेद वचा, सौंफ पिंडस्वेद
	परिषेक	वासा, अर्क, बिल्व पत्रों के क्वाथ से परिषेक स्वेद

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
	अवगाह	अग्निमंथ-शिग्रु-अश्मंतक क्वाथ से अवगाह
शोतोष्ण, स्निग्ध रुक्षादि, अभ्यंग प्रदेह इत्यादि चिकित्सा से प्रशमन हो तो	रक्तमोक्षण	जलौकावचारण (अर्श में) सूचि से
अर्श में—उदावर्त हो, वात और मल का संग हो, वात प्रतिलोमता हो, शूल हो	अनुवासन	पिप्पल्यादितैल ४ औंस से अनुवासन
पिच्छस्राव होता हो, गुदा में शोथ हो तो	निरूह	दशमूल क्वाथ में गोमूत्र, स्नेह, लवण मिलाकर
स्रावी अर्श-पित्तकफ प्रधान	शोधन	विरेचन—अभया, त्रिवृत्त
दोष, दोष क्षय हो रक्त और वात की प्रधानता हो तो	आभ्यंतर स्नेहन	यथोक्त घृत
	अभ्यंग	यथोक्त
	अनुवासन	यथोक्त
कफवात अर्श में रक्त और पित्त का प्राबल्य हो तो	परिषेक	यष्टीमधु पंचवल्कल (वटादि वृक्ष) बेर, पटोल पत्र, वासा अर्जुन नीम की छाल इनके क्वाथ से
रक्तविप्रवृत्ति दाह क्लेद में	अवगाह	कमल, यष्टीमधु, पद्माख, चंदन, कुशादि क्वाथ से अवगाह
यदि रक्तस्राव बंद न होता हो	पिच्छाबस्ति	यवासक, कुश, काश, आमलकी के क्वाथ से, वट, उदुंबर, पिंपर इनके शृंग के क्वाथ से, शाल्मली निर्यास (सर्जरस) तथा घृत और मधु से, मोचरस सतैल क्वाथ से
१२. ग्रहणी		
आम प्राधान्य हो तो (उत्क्लिशष्ट)	वमन	गरम जल से, या मदनफलादि योग से या पिप्पली सर्षप
पक्वाशयगत लीन दोष में	विरेचन	क्वाथ से
शरीरानुगत रसगतआम	स्नेहन	मृदु आरग्वाधादि दीपनीय घृत से
	अभ्यंग	यथोक्त तैल
	स्वेदन	वाष्पस्वेद
	निरूह	दाशमूलिक
	विरेचन	एरंड तैल
	अनुवासन	तिल तैल
	स्नेहपान	घृतपान-दशमूलघृत ऋषणादि घृत इत्यादि

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
दुर्बल और अग्निमांद्य युक्त आतुर	स्नेहपान	दीपनीय घृत
उदावर्त के कारण अग्निमांद्य में	निरूह स्नेहबस्ति	दाशमूलिक निरूह तिल तैल
१३. पांडु		
सामान्य चिकित्सा	तीक्ष्ण वमन विरेचन	यथोक्त त्रिवृत शर्करा द्राक्षारस, गोमूत्र हरीतकी, आरग्वध रस इत्यादि
	स्नेहपान	कल्याणक घृत
१४. कामला—हमीलक		
कामला सामान्य चिकित्सा	विरेचन	कटुका, आरग्वध, त्रिफला, द्राक्षारस
हलीमक	विरेचन यापन बस्ति क्षीरबस्ति	त्रिवृत, आमलकी रस, द्राक्षावलेह बस्ति अध्याय देखें पूर्वोक्त
१५. हिक्का—श्वास		
सामान्य चिकित्सा	अभ्यंग स्वेदन वमन धूमनस्य धूमपान कंठ, उर	लवण तैल प्रस्तर, नाड़ी, संकर पिप्पली चूर्ण, सैंधव मधु से यथोक्त स्नेहधारा, शर्करोदक
कफ वृद्धि में	परिषेक उपनाहस्वेद रुक्षस्वेद	उत्कारिका-तिल, माष-गोधूम चूर्ण, वातहर द्रव्य से सालसक्षीर बालुका स्वेद ईंट वस्त्र से
वमनोत्तर लीन दोष में	वमन अनुलोमन	यथावस्थानुसार लवणजल हिंगु—पीलू—विडलवण से
क्षीण आतुर, रुक्ष, गर्भिणी, पित्त प्रधान आतुर में	वमन विरेचन	यथोक्त यथोक्त
नवज्वर आमदोष से युक्त आतुर को	विरेचन	यथोक्त
उदावर्त आध्मान युक्त में	नावननस्य	शुंठी और गुड़, नारीक्षीर, सुखोष्ण घृतमंड, जीवनीयघृत इत्यादि से
कफपित्त प्रधान बलवान रोगों में	विरेचन	घृत विरेचन
तमक श्वास में सामान्य चिकित्सा	स्नेहन	घृतपान-कंटकारी घृत, पिप्पल्यादि घृत
श्वास और हिक्का		
हिक्का में		
१६. कास		
रुक्ष वातज कास में		

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
	बस्ति अभ्यंग परिषेक स्निग्धस्वेद	दशमूल सहचारादि तैल से सहचारादि तैल से पिंडस्वेद पायसादि से
सकफ	स्निग्धविरेचन	एरंडतैल
सपित्त	घृतपान	पूर्वोक्त
पित्तज कास में कफानुबंध में	वमन	घृतपानोत्तर मदनफलादि योग से यष्टीमधु फांट मिलाकर
पित्तज कास में, अल्प कफ में	विरेचन	त्रिवृत्त, द्राक्षादि
पित्तज कास, में घन कफ में	विरेचन	तिक्त द्रव्य से—कटुकादि
कफज कास बलवान रोगी में	प्रथमवमन	पूर्वोक्त द्रव्य
वात कफज कास	मृदु विरेचन	मधु, हिंगू, हरीतकी, कचूर का प्रयोग
वात पित्तज का	अभ्यंग	घृताभ्यंग, वातघ्न तैल
क्षतज कास—रक्तष्ठीवन में	नस्य घृतपान	घृतनस्य
क्षयज कास बहुदोषी	सस्नेहमृदु विरेक	क्षारग्वध, द्राक्षाघृत, एरंडतैल
मेढ्रशोथ, वेदना, गुदा, शोथ, श्रोणिवंक्षण शूलयुक्त आतुर में	अनुवासन	घृतमंड, मिश्रकस्नेह से
१७. अतिसार		
नवीन अतिसार में	अनुलोमन	अभया
गुदभ्रंश में	अनुवासन	दशमूल तैल, बिल्वतैल, शताह्वादि तैल, मषक तैल से
स्तब्ध-भ्रष्ट गुद में	स्नेहन स्वेदन (पुनःस्थापन)	
पित्तातिसार में बलवान रोगी को दोषस्राव के बाद यदि शूल हो यदि चिकित्सा के बाद भी प्रशम न हो	विरेचन अनुवासन पिच्छाबस्ति	दूध से या पलाशसिद्ध दूध से उपर्युक्त तैल या घृत शाल्मलीवृंत के स्वरस
अल्पाल्पयुंक्त रक्तस्राव हो	पिच्छाबस्ति	सिद्धतैल से
वात कफ दोष में विबंध में या	पिच्छाबस्ति	सिद्धतैल से
अधिक कफस्राव हो तो	अनुवासन	उपर्युक्त तैल से
१८. छर्दि		
सामान्य चिकित्सा	विरेचन	अभया मधु के साथ
पित्तज छर्दि	अनुलोमन	द्राक्षा, विदारी, इक्षुरस त्रिवृत
कफाशय (आमाशय) गत पित्त दोष में तथा कफज छर्दि में	मृदवमन	लवण जल से पिप्पली, सर्षप, निंब जल, मदनफल, सैंधव से

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
१६. विसर्प		
कफस्थानगत (ऊर्ध्व शरीर) के विसर्प में	वमन	मदनफल, यष्टीमधु, निंबजल से पटोल पत्र क्वाथ या इंद्रजव-चूर्ण से
कफ पित्तज विसर्प में पित्त स्थानागत (मध्य शरीर) के बिसर्प में	विरेचन	त्रिवृत, कटुका, द्राक्षा, गरमजल, त्रिफला के द्वारा
वातोल्वण (अर्धः शरीर) में	घृतपान	तिक्त घृत या विरेचन घृत
शाखा दुष्टि में	रक्तावसेचन	शृंग जलौका, प्रच्छानादि
रक्त और पित्त प्रधान ग्रंथि विसर्प में (वातकफज)	वमन	यथोक्त
	विरेचन	यथोक्त
	रक्तमोक्षण	सिराव्यध, जलौका
वातकफज-ग्रंथि विसर्प	वमन	उपर्युक्त
	विरेचन	
	रक्तमोक्षण	
	+	
	धूमनस्य	
	उपनाह	उत्कारिका, बेशवार, कुष्ठ तैल,
	स्वेदन	सैंधव तैल
	परिषेक	
२०. तृष्णा		
सामान्य चिकित्सा	अवगाह	शीतजल से
	अभ्यंग	जीवनीय घृत
	परिषेक	जीवनीय घृत
	नस्य	जीवनीय घृत तथा नारी दुग्ध इक्षुरस से
कफज तृष्णा में आतुर यदि वम्य हो तो	वमन	दधि, मधु, लवण जल से
भक्तोपरोधज तृष्णा वा स्नेह जन्य तृष्णा में	वमन	मद्य, उष्णोदक या पिप्पली जल
	अवगाह	पिलाकर
२१. विष		
सामान्य चिकित्सा	अवगाह वमन	यथोक्त
	विरेचन	
	नस्य रक्तमोक्षण	
दंष्ट्रा विष-दंश स्थान में	रक्तमोक्षण	प्रच्छान शृंग जलौका, प्रघर्षण से
विषपीत में तुरन्त	वमन	मदनफलादि योग, लवण जल, सर्षप जल, निंब जल इत्यादि

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
द्वितीय वेग में	विरेचन	इच्छाभेदी, नाराचरस, एरंडतैल के द्वारा
पंचम–षष्ठ वेग में	संज्ञाप्रबोधन नस्य	शिरीष बीज नस्य
सप्तम वेग में	नस्य	उपर्युक्त तथा मृतसंजीवनअगद से
वातस्थानगत—पक्वाशयगत विष	स्वेदन	दधिस्वेद अवगाह + विरेचन
	विरेचन	
कफस्थानगत—आमाशयगत	आमाशय स्वेदन	
	सिराव्यध	
रक्तस्थ दूषित विष में	सिराव्यध	
	वमनादिकर्म	
असाध्य लक्षणयुक्त विष में	नस्य	वार्ताकु बीजपुर, ज्योतिष्मती चूर्ण से या तैल से
नासा कंठ, नेत्र, कर्ण, जिह्वा विरोध में		
विष में वातजन्य लक्षण में	अभ्यंग	मृत संजीवनी अगद तथा
	स्वेद	चंदनबला लाक्षादि तैल नाड़ी, पुलाक परिषेक
विष में कफ लक्षण हो तो	वमन	यथोक्त
	स्वेदन	यथोक्त
कुक्कुर विष तथा अन्य व्याल	वमन	
विष में, हृदयदाह, प्रसेक	विरेचन	
लक्षणों में		
शिरोगत विष लक्षण में	नस्य	तुलसी, भारंगी
सर्वशोथ लक्षण में	नस्य	मनःशिला—सूक्ष्म चूर्ण से
२२. मदात्यय		
वातिक मदात्यय में	अभ्यंग उत्सादन	स्निग्ध उष्ण द्रव्यों से
पित्तज मदात्यय में, आमाशय	स्वेदन	गुरुप्रावरण
में, उत्क्लिष्ट कफ पित्तावस्था में		उष्ण प्रावरण
बहुदोष तथा दाह-तृष्णा हो तो	वमन	द्राक्षारस और मद्य पिलाकर
अत्यधिक तृष्णायुक्त	विरेचन	द्राक्षारस
वातपित्तज मदात्यय में		
कफज मदात्यय	वमन	मधुपान कराकर वमन
ध्वंसक तथा विक्षय रोग में	बस्ति	क्षीर बस्ति
	सर्पिष्पान	क्षीर—घृतपान
	अभ्यंग	चंदनबला लाक्षादि तैल यवचूर्ण,
	उद्धर्तन	चणकचूर्ण—माषचूर्ण—माष तैल में मिलाकर या विषगर्भ तैल में मिलाकर

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
२३. द्विव्रणीय		
सामान्य चिकित्सा यथासन्न शोधन	वमन	यथोक्त
	विरेचन	यथोक्त
	बस्ति	यथोक्त
	रक्तमोक्षण	यथोक्त
शोफ प्रधान पूर्व रूप में	उपनाह	तिल आतसी दध्यम्ल, किण्व, कुष्ठ, लवण से
वातरक्त प्रधान-ग्रंथि, पिडका, कोष्ठ, रक्तमंडल, कुष्ठाभिहत, शोथयुक्त व्रणातुर में	रक्तमोक्षण प्रच्छान	प्रच्छान, जलौका शृंग यथोक्त
शुष्क, महारुजा, स्तब्ध, वात-प्रधान व्रण में	स्वेदन संकर	संकर-कृशरा, पायस, ग्राम्य, विलेशय, जलज मांस के पिंड से
	स्वेद-उपनाह	उत्कारिका, तिल, पायस से उपनाह
	परिषेक	दशमूल क्वाथ, निंब, क्वाथ, शिग्रु क्वाथ इत्यादि
२४. त्रिममर्मीय		
१. उदावर्त—	स्वेदन	
	अभ्यंग पूर्वक फलवर्ति	पटुतैल या हिंगुत्रिगुण तैल से नाभि पक्वाशय पर अभ्यंग + तापस्वेद
		श्यावादि वर्ति फलादि वर्ति इत्यादि
	बस्ति	एरंडमूल क्वाथ सिद्ध या माधुतैलिक वस्ति
	अनुवासन	तिल तैल से
आनाह में उत्क्लिष्ट दोष में	विरेचन	गोमूत्र, प्रसन्ना, दधिमंड से
	वमन	यथोक्त
२. मूत्रकृच्छ्र	विरेचन	एरंड तैल से
वातज मूत्रकृच्छ्र	अभ्यंग	हिंगुत्रिगुण तैल से वंक्षण बस्ति प्रदेश पर
	स्नेहपान	घृतपान एरंड मूलादि क्वाथ से
	बस्ति	स्थिरादि गण, पुनर्नवा, एरंडा,
	उपनाह	दशमूल, कुलत्थ बेर इन से
	उत्तरबस्ति	यथोक्त
	परिषेक	यथोक्त
पित्तज मूत्रकृच्छ्र	विरेचन	दूध, दाक्षा, इक्षुरस
	उपनाह	पूर्वोक्त

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
कफज मूत्रकृच्छ्र	स्वेदन	पूर्वोक्त
	वमन	पूर्वोक्त
सामान्य चिकित्सा	उत्तरबस्ति	विधिवत्
सन्निपात में कफ बलवान हो	वमन	
पित्त बलवान हो	विरेचन	
वातबलवान हो	बस्ति	
३. अश्मरी-शर्करा-पित्त-प्रधान दोष में	बस्ति	क्षीरबस्ति
	उत्तरबस्ति	यथाविधि
४. मूत्र घात में	उत्तरबस्ति	यथाविधि
५. हृद्रोग		
वातज हृद्रोग में	तैलपान	सौवीरक तैल + मस्तु + लवण + तक्र हिंगुत्रिगुण तैल
	तैलाभ्यंग	पंचगुणतैल
पित्तज हृद्रोग में	परिषेक	यथोक्त
	विरेचन	द्राक्षा, सिता, कटुका, इक्षुरस
कफज हृद्रोग में	स्वेदन	तापस्वेद
	वमन	यथोक्त
भुक्त भोजन में शूल हो तो	वमन	यथोक्त
भोजन के जरण काल में हो तो	स्निग्धविरेचन	एरंड तैल
भोजन के जीर्ण होने पर शूल हो तो	विरेचन	फल विरेचन-द्राक्षा, गंभारी
भुक्तकाल, जरणकाल जीर्णकाल में शूल हो तो	विरेचन	स्वरस से
		मूलविरेचन-त्रिवृत
६. शिरोरोग (मर्म संबंध में)		
प्रतिश्याय	स्वेद	पाणिस्वेद
		उपनाह
		संकर
शृंगाटक, नासा, अक्षि, दोष में	नस्य	तैलनस्य अवपीडननस्य—यष्टी मधु क्वाथ से
पीनस—वातज	अभ्यंग	अगुर्वादि तैल
	बस्ति	एरंडमूलादि सिद्ध
पित्तज पीनस—पाकार्थ	घृतपान	शृंगबेरादि घृत
पक्व होने पर	नस्य	दंती तैल, जात्यादि तैल घृत, क्षीर से
पूयास्र, रक्त पित्त में	नावन	कषाय, मधुर रस से, क्षीर घृत से
	नस्य	संकर नाड़ी
कफज पीनस में—प्रथम	स्वेदन	संकर नाड़ी

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
दोषोत्क्लेश	वमन	यथोक्त
घ्राणस्राव में	अवपीडनस्य	कटुद्रव्य से कट्फल, मरिच, शुंठी— गुड़
	प्रधमननस्य	विडंग चूर्ण, मदनफल चूर्ण तुलसी से
मेदोऽनिभ रक्तस्राव में	नस्य	लाक्षादि तैल, पद्मकादि तैल, जात्यादि तैल से
वातज शिरोरोग में	स्नेहन	अभ्यंग तथा घृतपान अश्वगंधादि घृत
	स्वेदन	अगुर्वादि उपनाह
	नावन	क्षीरनस्य, रास्नादि तैल, बला तैल मायूर तैल, मायूर घृत से
पित्तज शिरोरोग में	परिषेक	स्नेह से, घृत से, क्षीर से
	नस्य	जीवनीय घृत
	नवपीडननस्य	घृत से
	नावन	यष्टीचंदन, द्राक्षा शर्करा, सिद्धक्षीर से
कफज शिरोरोग में	स्वेदन	यथोक्त (नाड़ी)
	नस्य	धूमनस्य
	बस्ति	तीक्ष्ण
क्रिमिज शिरोरोग	नस्य	अपामार्ग बीज, शिरीष बीज, शिग्रु, करंज प्रधमन अवपीड नस्य-घृत से
शंखक रोग	नस्य	घृत, क्षीर, प्रधमन
	परिषेक	उपर्युक्त
अर्धावभेदक	स्नेहपान	अश्वगंधादि घृत, जीवनीय घृत
	स्वेदन	नाडी उपनाह
	शिरोबस्ति	विधिवत् चंदनबला लाक्षादि तैल या क्षीरबला तैल से
सूर्यावर्त	नस्य	जीवनीय घृत से
	विरेचन	द्राक्षा, आरग्वध, हरीतकी, एरंड स्नेह
	घृतपान	अश्वगंधादि घृत, जीवनीय घृत
	मूर्धतैल	अभ्यंग, सेंक, पिचु और शिरोबस्ति
अनंतवास	स्नेहन	चंदनबला लाक्षादि तैल
	स्वेदन	उपनाह
	नस्य	घृत, प्रधमन

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
	रक्तमोक्षण	सिराव्यध अथवा जलौकावचारण
७. मुखरोग—मुखपाक	विरेचन	यथोक्त
	सिराव्यध	यथोक्त
८. कर्णशूल	नस्य	अणुतैल
९. खालित्य पालित्य	नस्य	अणुतैल
१०. कफज स्वरभेद	तीक्ष्णनस्य	उक्त प्रकार से
	वमन	उक्त प्रकार से
	विरेचन	उक्त प्रकार से
पित्तज स्वरभेद	विरेचन	उक्त प्रकार से
रक्तज स्वरभेद	सिराव्यध	उक्त प्रकार से
११. अपतानक	नस्य	तीक्ष्ण संज्ञाप्रबोधन-मरिच, शिग्रु, विडंग
	शोधनबस्ति	तीक्ष्ण
१२. तंद्रा	वमन	यथाविधि
	विरेचन	यथाविधि
	रक्तमोक्षण	सिराव्यध
२५. उरुस्तंभ		
पंचकर्म के सभी कर्मों का	निषेध	
२६. वातव्याधि		
सामान्य चिकित्सा	स्नेहन	बाह्य आभ्यंतर
निरुपस्तंभ में	स्वेदन	प्रस्तर, नाड़ी, संकर
	बस्ति	
यदि पुनः पुनः स्नेहन स्वेदन तथा उक्त चिकित्सा से प्रशम न हो तो	मृदुविरेचन	ससनेह, तिल्वक घृत, एरंड तैल
दुर्बल अविरेच्य आतुर को	निरूह	दाशमूलिक, द्विपंच मूलादि, बला गुडूच्यादि
संशोधन के बाद	पुनः स्नेह स्वेद	
विशेष चिकित्सा	नस्य	
गुदगतवात पक्वाशयगत	उदावर्तकर्म	यथोक्त
	स्वेदनः	पूर्वोक्त
	फलवर्ति	
	बस्ति	
	विरेचन	
सर्वांगगत वात	निरूह	बला गुडूच्यादि
	अनुवासन	क्षीरबला तैल
त्वग्गत वात	अभ्यंग	क्षीरबला तैल
	स्वेद	अवगाह
रक्तगत वात	रक्तमोक्षण	सिराव्यध

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
मांस मेदगत वात	निरूह	क्षीरबस्ति राज यापनबस्ति
अस्थि मज्जागत वात	बाह्याभ्यंतर स्नेह अर्थात् अभ्यंग स्नेहपान बस्ति	चंदनबला लाक्षादि तैल पंचतिक्त घृत गुग्गुल १ तोला २ बार क्षीरबस्ति राजयापन बस्ति
शुक्रगत वात में विबद्ध मार्ग युक्त आतुर में	विरेचन	बृंहणबस्ति द्राक्षादि से या बलवान आतुर में नाराचरस, इच्छाभेदी से
वात से वेष्टमान गात्र में संकोचयुक्त गात्र में	उपनाह स्वेह उपनाह अभ्यंग	साल्वण उपनाह साल्वण उपनाह सैंधव तैल या माष सैंधव तैल से
बाहुगत वात (अवबाहुक) मूर्धगत वात (कंप विषम चेष्टा चक्षुर्विभ्रम, वाक्संग आदि रोगों में) अधोनाभिगत वात	नस्य शिरोबस्ति नस्य शिरोबस्ति बस्ति नस्य	प्रधमन, अवपीड विधिवत् प्रधमन अवपीड विधिवत् एरंडमूलादि बस्ति अवपीड घृत
अर्दित	नावन नस्य स्वेदन शिरोबस्ति शिरोधारा शिरःपिचु शिरोऽभ्यंग	विधिवत् नाडी, उपनाह—आनूप मांस से विधिवत् विधिवत् क्षीरबला तैल विधिवत् पंचगुण तैल विधिवत् पंचगुण तैल
पक्षाघात	स्नेहन स्वेदन विरेचन	तिल तैलपान अभ्यंग वाष्पस्वेद एरंडतैल + आरग्वध हरीतकी क्वाथ के साथ नाराचरस या इच्छाभेदी २ रत्ती तक
गुध्रसी	अभ्यंग स्वेदन	पंचगुण तैल, नारायण तैल, धान्वंतर तैल पत्रपिंड, अवगाह, उत्कारिका उपनाहन, पिषिंचिल, वाष्पस्वेद
वल्ली	सिराव्यध उपनाह	कंडरा और गुल्फ के बीज में माष, सैंधव, साल्वण, तिल,

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
		आतसी यव, गोधूम, पायस, कृशरा, मांस, तैल और घृत साधित
हनुस्त्रंस (व्यात्तानन) या स्तब्ध हनु	अभ्यंग स्वेदन (पुनःस्थापन)	धान्वन्तर तैल नाड़ीस्वेद
पित्तावृत वात	घृतपान बस्ति यापनबस्ति विरेचन स्वेद-परिषेक	जीवनीय घृत क्षीरबस्ति बस्ति अध्याय देखें मृदु-आरग्वधादि मधुयष्टी तैल, बला तैल घृत क्षीर से
कफावृतवात	स्वेदन तीक्ष्ण निरूह वमन विरेचन	वाष्पस्वेद यथोक्त यथोक्त यथोक्त
आमाशयगत वात में कफ दोष का अनुबंध हो पक्वाशयगत वात में पक्वाशयगत कफ, पित्त की प्रधानता में पित्त स्रंसृष्ट कफ में शिरोगत कफ प्रधान वात दोष में	वमन विरेचन बस्ति निरूह धूमनस्य	यथोक्त द्राक्षादि एरंडमूलादि क्षीरबस्ति क्षीरबस्ति कंटकारी धूम या धूमवर्ति
रक्तावृत वात मांसावृत वात	रक्तमोक्षण अभ्यंग स्नेहपान स्वेदन	सिराव्यध विषगर्भ तैल पंचतिक्त घृत गुग्गुल वाष्पस्वेदन
अस्थि मज्जावृत वात अन्नावृत वात मूत्रावृत वात	महास्नेहपान वमन स्वेद उत्तरबस्ति	सर्पि + तैल + वसा + मज्जा यथोक्त अवगाह, परिषेक यथोक्त
प्राणावृत व्यान	नस्य शिरोबस्ति	प्रधमन-विडंग, मरिच, त्रिकटु इत्यादि विधिवत् एरंड तैल
व्यानावृत प्राण प्राणावृत समान	स्नेहविरेचन चतुःस्नेहपान यापनबस्ति	उक्त विधि से
प्राणावृत उदान उदानावृत प्राण	नस्य परिषेक	प्रधमन अवपीड, मर्श-प्रतिमर्श यथोक्त

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
उदानावृत अपान	बस्ति	एरंडमूलादि
	विरेचन	एरंडतैल, आरग्वाधादि
अपानावृत उदान	वमन	यथोक्त
व्यानावृत अपान	स्नेह विरेचन	एरंडतैल
समानावृत व्यान	स्वेद	वाष्पस्वेद
कफपित्तावृत वात	यापनबस्ति	यथोक्त
	स्त्रंसन	आरग्वध, त्रिवृतादि
	अनुलोमन	हरीतकी, एरंड तैल
२७. वातरक्त		
सामान्य चिकित्सा	रक्तमोक्षण	शृंगजलौकादि यथावश्यक
	विरेचन	स्निग्ध विरेचन— एरंड तैल
	बस्ति	क्षीरबस्ति
	परिषेक	चंदनबला लाक्षादि तैल
	अभ्यंग	पिंड तैल, बला तैल
मलावृत वात में	बस्ति	क्षीर बस्ति
उदावर्त-बस्ति, वंक्षण, पार्श्व	निरूह	गुडूचिसिद्ध
रुजा, जठर रुजा	अनुवासन	यष्टीमधु तैल, गुडूची तैल
		सुकुमार तैल, बला तैल
२८. योनि व्यापत्		
वातज योनि रोग	स्नेहन	स्नेहपान—फलघृत
	स्वेदन	अभ्यंग—बला तैल इत्यादि
		वाष्पस्वेद, नाड़ी,
		परिषेक स्वेद
		उपनाह कुंभी
	बस्ति	दशमूलबस्ति, एरंडमूलादि
योनि भ्रंश	स्नेहन-स्वेदन (पुनःस्थापन)	यथावत्
सर्व योनिरोग	वमन	यथोक्त
	विरेचन	यथोक्त
	बस्ति इत्यादि	यथोक्त
पित्तला योनि	परिषेक	क्षीर, उदुंबर क्वाथ, पंच बल्कल क्वाथ इत्यादि
पित्तला योनि	अभ्यंग	चंदनबला लाक्षादि तैल, धान्वंतर तैल
	पिचु	उपर्युक्त तैल तथा जात्यादि तैल पद्मकादि तैल से
	बस्ति	मधुर द्रव्यसिद्ध
श्लेष्मा योनि	योनिपूरण पिचु	उदुंबर तैल, धातकी तैल

रोगावस्था	कर्मनाम	विधि
	बस्ति	एरंडमूल क्वाथ समूत्र
पित्तज असृग्दर	विरेचन	यथोक्त
	उत्तरबस्ति	गंभारी कुटक क्वाथ सिद्ध तैल
कर्णिनी, अचरणा, शुष्का	उत्तरबस्ति	गंभारी कुटक क्वाथ सिद्ध तैल
योनि प्राक्चारणा—कफ वात		तैल—जीवंत्यादि क्षीरबला
की प्रधानता में		
अतिचरणा	उत्तरबस्ति	बलातैल—शतपाकी
	आस्थापन	यथोक्त
	अनुवासन	उपर्युक्त
उदावर्ता योनि	उत्तरबस्ति	त्रिवृत्त स्नेह से
महायोनि	उत्तरबस्ति	त्रिवृत्त स्नेह से
स्त्रस्ता योनि	उत्तरबस्ति	त्रिवृत्त स्नेह से
२९. शुक्रदोष		
बीजोपघातन क्लैव्य	स्नेहन	फलघृत वृष्यघृत
	स्वेदन	वाष्पस्वेद
	विरेचन	यथावत्
	आस्थापन	वाजीकरण बस्ति
	अनुवासन	पलाशतैल, एरंडतैल,
		मुस्तादितैल
ध्वजभंगकृत क्लैव्य	परिषेक	(व्रणोक्त)
	रक्तमोक्षण	सूचि शृंग, जलौका
	स्नेहपान	फलघृत, वृष्यघृत
	विरेचन	स्निग्ध विरेचन
	अनुवासन	जीवंत्यादि तैल
जरासंभवज क्लैव्य	स्नेहन	बाह्याभ्यंतर
	शोधन-वमन	यथोक्त
	विरेक	यथोक्त
	यापनबस्ति	यथोक्त
३०. स्तन्य दोष	स्नेहन	बाह्याभ्यंतर
	स्वेदन	स्थानिक उपनाह
	वमन	वचा, प्रियंगु, यष्टी, कुटज, सर्षप, लवणजल पटोल, निंबपत्र, क्वाथ, लवणजल से
	विरेचन	त्रिवृत हरीतकी, आरग्वधादि

संदर्भ

१. भगवन्पंच कर्माणि समस्तानि पृथक् तथा।
निर्दिष्टान्यामयानां हि सर्वेषामेव भेषजम्।। च. चि. २७-५

संदर्भ ग्रंथ सूची

१. चरक संहिता—चक्रपाणि टीका, गंगाधर टीका
२. सुश्रुत संहिता—डल्हण टीका, श्री. घाणेकर टीका
३. अष्टांग हृदय—हेमाद्रि, अरुणदत्त टीका
४. अष्टांग संग्रह—इंदु टीका
५. काश्यप संहिता
६. भेल संहिता
७. भाव प्रकाश
८. शार्ङ्गधर संहिता
९. भैषज्य रत्नावली
१०. आयुर्वेदीय क्रिया शरीर—वैद्य रणजितराय देसाई
११. द्रव्यगुण विज्ञान—यादवजी त्रिकमजी आचार्य
१२. द्रव्यगुण विज्ञान—परिभाषा खंड
१३. द्रव्यगुण विज्ञान—प्रियव्रत—शर्मा
१४. भाव प्रकाश निघंटु—ब्रह्म शंकर मिश्र टीका
१५. काय चिकित्सा—रामरक्ष पाठक
१६. चिकित्सा प्रदीप—भास्कर विश्वनाथ गोखले
१७. आयुर्वेद का बृहद् इतिहास—अत्रिदेव विद्यालंकार
१८. वाचस्पत्य—बृहत्संस्कृताभिधानम् तारानाथ भट्टाचार्य
१९. पारिषद्यं शब्दार्थ शारीरम्—दामोदर शर्मा गौड़ संपादित
२०. सहस्रयोगम्—(मलियालम्)
२१. नाड़ी परीक्षा, वैद्य मनोरमा धाराकल्प—संपादित यादवजी त्रिक्रमजी आचार्य
२२. Ayurvedic Treatment of Kerala By—Varaskar N. S. Mooss
२३. Text Book of Medical Physiology By—Aurthur C. Guyton
२४. Textt Book of physiology By—K. M. Bykov
२५. Physiological Basis of Medical Practice By—Best and Taylor
२६. Savill's System of Clinical Medicine edition—14th, 1964
२७. Blaklston's Illustrated pocked Medical Dictionary—IInd edition
२८. A History of Medicine, volume I By—Henry E. Signerist
२९. A History of Mankind—Volume I By—Jacquccttа Haws and Sir Leonard Wolley
३०. A Text Book of Zoology By—T. J. Parkar F. W. A. Namanell

आयुर्वेदीय पंचकर्म-विज्ञान परिशिष्ट विमर्श

पंचकर्म शास्त्र एक सद्यःफलप्रद शास्त्र है। यह चिकित्सा का एक अपना विशेष महत्त्व रखता है। शोधन प्रधान चिकित्सा के कारण वह शरीर के रोगों को जड़मूल से हटाता है और जैसे अविरत काम करनेवाले कोई यंत्र को ओव्हर हॉलिंग के द्वारा संपूर्णतया नवीनतम बनाया जाता है—वैसे ही इस चिकित्सा द्वारा सतत कार्यशील ईश्वर निर्मित इस यंत्र को पुनर्नवीन करने का प्रयास किया जाता है। उद्भूत रोगों की चिकित्सा के लिए जैसे यह चिकित्सा प्रभावकारी होती है वैसे ही संभाव्य रोगों को उत्पन्न न होने देने के लिए शरीरबल बढ़ाने के लिए और रोग प्रतिकारक क्षमता बढ़ाकर शरीर को शक्तिमान बनाने के लिए भी पंचकर्म चिकित्सा वैशिष्ट्यपूर्वक कार्य करती है।

यद्यपि पंचकर्म में उपर्युक्त कर्म शब्द आयुर्वेद में अनेक अर्थ में प्रयुक्त है, तथापि यह शब्द चिकित्सा प्रवृत्ति के लिए मर्यादित है। चिकित्सा प्रवृत्ति स्नेहादि क्रिया, अर्थात् स्नेहन, स्वेदन, वमन, विरेचन, आस्थापन, अनुवासन, धूम, नस्य, कवलग्रह, गंडूष तथा दीपन पाचनादि सभी क्रियाओं द्वारा की जाती है। इन सब कर्मों का समावेश 'पंचकर्म विज्ञान' के पूर्वकर्म, प्रधान कर्म, तथा पश्चात्कर्म के अंतर्गत किया गया है। पाचन, दीपन, स्नेहन, स्वेदन ये पूर्वकर्म; वमन, विरेचन, त्रिविध बस्ति, नस्य तथा रक्तमोक्षण ये प्रधान कर्म और धूम्रपान, कवलग्रह, गंडूष, संसर्जन कर्म, शमनौषधि, रसायनादि औषधि सेवन ये पश्चात्कर्म—यथोक्त प्रकार से इस ग्रंथ में वर्णित हैं।

वस्तुतः किन कर्मों को पंचकर्म कहना चाहिए इसकी विस्तारपूर्वक चर्चा ग्रंथ में है। इस ग्रंथ में लेखक ने 'रक्तमोक्षण' को 'कर्म' में समाविष्ट किया है— इस पर अनेक चर्चाएं और मतभेद उत्पन्न हुए हैं। चरकसंहिता के सूत्रस्थान द्वितीय अध्याय तथा सिद्धिस्थान द्वितीय अध्याय के संदर्भ के अनुसार— वमन; विरेचन, अनुवासन बस्ति, निरूह बस्ति अथवा आस्थापन बस्ति और नस्य इन पांच कर्मों को पंचकर्म में समाविष्ट किया गया है। जहां शोधन कर्म की प्रधानता होती है वहाँ अनुवासन को छोड़कर बाकी चार को शोधन कहा गया है इसलिए शोधन प्रधान पंचकर्म का विचार करते समय दोनों बस्तियों को एक 'बस्ति' शब्द से समाविष्ट कर 'शोधनार्थ उपयोगी' 'रक्तमोक्षण' कर्म को समाविष्ट करने की प्रथा है।

यद्यपि पंचकर्म केवल शोधन नहीं है उसमें बृंहण, शमन, रसायनदि का भी समावेश होता है तथापि कर्मप्राधान्यता से ऐसा किया गया है।कभी-कभीअध्यापक तथा विद्वान लोग इस तरह छात्रों को समझाते हैं कि चरक-कायचिकित्सा प्रधान ग्रंथ है— अतः यहां पंचकर्म में रक्तमोक्षण को समाविष्ट नहीं किया गया, और सुश्रुत, शल्य का प्रधान ग्रंथ है जिससे उसने पंचकर्म में रक्तमोक्षण का समावेश किया है, तथापि यह धारणा उचित नहीं है। कायचिकित्सा प्रधान चरकसंहिता में रक्तमोक्षण को उचित महत्त्व दिया

हैं, इतना ही नहीं रक्तमोक्षण के प्रकार तथा कौन-कौन सी अवस्थाओं में किस प्रकार से रक्तमोक्षण करना चाहिए इसका विस्तृत वर्णन किया है। वातरक्त प्रकरण में शृंग, जलौका, अलाबु तथा सूचिवेध द्वारा रक्तमोक्षण करने का निर्देश क़िया गया है।[१] और प्रच्छान तथा सिराव्यध करने का भी निर्देश है। दोषानुसार रुजा, दाह, तोद-प्रधान अवस्था में जलौका द्वारा (पित्त प्रधान दोषों में शीत जलौका के कारण) तथा सुप्ति, कंडु, चिमचिमायन (वातज दोष प्रधानता) में शृंग (स्निग्धता से) द्वारा रक्तनिर्हरण का निर्देश है। इसी तरह शल्य प्रधान सुश्रुत संहिता में पंचकर्मों के कर्मों का इतना विस्तारपूर्वक और अवस्थानुसार उचित उपचारपूर्वक वर्णन किया है कि कदाचित् इतना समर्पक वर्णन उस विषय का चरकसंहिता में भी नहीं हो। बस्ति चिकित्सा के बारे में सुश्रुत ने जो अत्यंत विस्तारपूर्वक और विषय प्राधान्यता (To the point) से वर्णन किया है कि उतना विस्तार चरक में भी नहीं है। इस संबंध में महान् विद्वान् लेखक आचार्य सुरेंद्रनाथ दास गुप्ता अपने 'ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलोसॉफी' ग्रंथ में इंडियन मेडिसिन के अध्याय में जो मत व्यक्त करते हैं वह मनन करने योग्य है। कहा है—

..... Not it is proper to think that work of revising Sushruta was limited up to a pre– Chakrapani period. It is possible to point out to least one case in which it can be almost definitely proved that a new edition was made to a Sushruta Samhita after Chakrapani or the text of Sushruta known to Dalhana was not known to Chakrapani. Thus in dealing with the use of Cathetes and the process of the introducing the medicines through the Anus (Vasti kriya) in IV-38, the text book of Sushruta Samhita commented by Dalhana revel many interesting details which are untouched in the chapter on vasti in Charaks Samhita (Uttar vasti siddhisthana XII) .....

(A History of Indian Philosophy Volume II Page 426 By Surendranath Dasgupta)

अर्थात् सुश्रुतसंहिता का संस्करण चक्रपाणि पूर्व काल तक हो होता रहा यह जो धारणा है वह ठीक नहीं है। कम-से-कम एक संदर्भ के आधार पर तो यह सिद्ध किया जा सकता है कि चक्रपाणि के बाद भी सुश्रुत में एक नया अभिगम प्रविष्ट किया गया, अथवा तो ऐसा कहा जा सकता है कि सुश्रुत का मूलविषय जो डल्हण को अभिज्ञान था वह चक्रपाणि को ज्ञात नहीं था ऐसा एक स्थल है। बस्ति चिकित्सा में उपर्युक्त नेत्र तथा गुद द्वारा प्रविष्ट औषधियों के वर्णन में चिकित्सा स्थान के ३८वें अध्याय में सुश्रुत में इतना विस्तारपूर्वक सुंदर वर्णन मिलता है कि उसके पर्यायवर्ती चरक सिद्धिस्थान के १२वें अध्याय के टीकाकार चक्रपाणि द्वारा वह विषय बिल्कुल अस्पष्ट रहा है।

चक्रपाणि ने खुद का एक 'चक्रदत्त' नामक ग्रंथ लिखा है तथा सुश्रुत के ऊपर टीका भी लिखी है। अतः यह कहना ठीक नहीं होगा कि चक्रपाणि ने ज्ञात हुए भी वह विषय चरक टीका में लिया न हो। इसका मतलब सुश्रुत का यह अपना स्वतंत्र योगदान है—और जो भी हो प्रायः सुश्रुतसंहिता में—जो डल्हण टीका समेत है कुछ अंश में पंचकर्म का वर्णन चरक से भी श्रेष्ठ प्रकार का है।

सुश्रुत ने प्रत्यक्ष पांचकर्म गिनाए नहीं है किंतु डल्हण ने टीका में निश्चित किये हैं यह हमने स्पष्ट किया है, और डल्हण ने वमन, विरेचन, बस्ति, नस्य तथा शिरामोक्ष को प्रधान कर्म कहा है। यहां भी रक्तमोक्षण के एक ही प्रकार का समावेश होता है—और यह शोधनांग प्रधानता से वर्णन है। वाग्भट ने संतर्पण—अपतर्पण दो प्रकार की चिकित्सा निर्दिष्ट की—और अपतर्पण अर्थात् लंघन को शोधन तथा शमन प्रकार से दो में विभक्त किया, तथा शोधन के निरूह, वमन, विरेचन, नस्य तथा रक्तमोक्षण ये पांच प्रकार निर्दिष्ट किये हैं। यहां भी केवल शोधनांगता समझनी चाहिए, क्योंकि इसमें अनुवासन का, उत्तरबस्ति का समावेश नहीं होता, तथापि वाग्भट का कम-से-कम एक संदर्भ ऐसा मिलता है कि वह देखकर कहा जा सकता है कि वाग्भट रक्तमोक्षण को पंचकर्म में समाविष्ट नहीं करते थे। वे कहते हैं—

'स्नेहपीते प्रयुक्तेषु तथा पंचसु कर्मसु . . . .' अ. द-तथा
पंचसुकर्मसु बमनादिषु कर्मसुविहितेषु सिरां न व्यधयेत् :

अ. हृ. सू. २७-८

यह वर्णन सिरामोक्षण के लिए कहा गया है। जिसका वमनादि द्वारा पांचकर्मों द्वारा उपचार किया गया हो (वमन—विरेचन—निरूह—अनुवासन—नस्य) उनका सिराव्यध नहीं करना चाहिए। इसका मतलब वाग्भट सिरामोक्ष को पंचकर्म से अलग रखने के समर्थक हैं।

तथापि पंचकर्म विषय में चरक-सुश्रुत-वाग्भट—ऐसा मतभेद उपस्थित नहीं करना चाहिए अपितु कर्म प्राधान्य से जहां जो विषय उत्कृष्ट प्रकार से निर्दिष्ट है वहां से लेकर यह शास्त्र उपबृंहित करना चाहिए।

पंचकर्म चिकित्सा के मुख्य तीन प्रयोजन हैं। एक स्वस्थ मनुष्यों में स्वास्थ्य की रक्षा करने के लिए पंचकर्म कराना—जिसमें दिनचर्या में और ऋतुचर्या में करने योग्य कर्मों का समावेश होता है। उसी तरह वेगावरोधजन्य अवस्था में कर्तव्य कर्मों का भी समावेश होता है। दूसरा प्रयोजन—रसायनादि कायाकल्प के असाधारण गुणप्राप्ति के लिए पंचकर्म कराना। इससे देह शुद्धि के लिए सभी कर्मों को क्रमशः किया जाता है और तीसरा प्रयोजन हैं प्रतिरोगानुसार विशिष्ट पंचकर्म चिकित्सा, जिसका उल्लेख इस ग्रंथ में किया गया है।

एक ही व्यक्ति को यदि सभी कर्म करना हो तो प्रवर शोधन में १३० से १३८ दिन, मध्य शोधन में ८५ और ऊपर शोधन में ५७ दिन लगते हैं। यह काल बस्ति कर्म में चला जाता है। यह देखा गया है कि बस्तियों में कर्म बस्ति में ३०, कालबस्ति में १५ और योगबस्ति में ८ संख्या होती है, और जितने दिन बस्ति क्रिया में लगते हैं उसका दुगना परिहारकाल—होता है जिसमें विश्राम करना पड़ता है—अतः ६० दिन, ३० दिन और १६ दिन का अमूल्य समय आतुर का नष्ट होता है।

बस्ति संख्या मे दूसरा नियम ऐसा है कि वात रोगों के लिए ६-११ अनुवासन, पित्त रोगों के लिए ५ से ७ अनुवासन और कफज रोगों के लिए १-३ अनुवासन बस्ति देनी चाहिए। प्रायः सभी बस्तियों में यह नियम है कि केवल अनुवासन या केवल निरूह नहीं देना चाहिए। इस तरह ११ + ११ ऐसी २२ बस्तियाँ वात रोगों में, पित्त रोगों में

७ + ७ = १४ बस्तियां और कफ रोगों में ३ + ३ = ६ बस्तियाँ देनी चाहिए। ये बस्ति एकांतर से अर्थात् एक दिन निरूह और दिन दूसरे अनुवासन इस क्रम से दी जा सकती है इस तरह दिन संख्या घट कर २२ दिन, १४ दिन और ६ दिन हो जाएगी। इसमें भी कि मान मर्यादा में लेने पर १८ दिन, १० दिन और २ दिन की संख्या होगी। काल और कम करना हो तो निरूह के दिन ही अनुवासन शाम को दिया जा सकता है। चक्रपाणि ने निरूह के दूसरे दिन अनुवासन देने के पक्ष में हारित तथा जतूकर्ण संहिता का संदर्भ दिया है, तथापि उसी दिन स्नेहबस्ति दी जा सकती है ऐसा अपना मत भी दिया है। इस तरह दोनों बस्तियां एक ही दिन दे कर ६ दिन, ५ दिन या ३ दिन में यह कोर्स पूर्ण कर सकेंगे। फिर परिहार काल ६० दिन के बदले १८ दिन, १० दिन और ६ दिन में पूर्ण कर सकते हैं।

सुश्रुत ने धातुकार्य को ध्यान में रख कर कुल ६ बस्तियां देने को कहा है और १८ बस्तियां देने से पुरुष हाथी के समान बलवान होता है ऐसा कहा है। (पृ. ४१५) सारांश कर्मादि संज्ञक बस्ति के स्थान पर उपयुक्त क्रम के द्वारा समय बचा सकते हैं।

स्नेहन और सवेदन पंचकर्मचिकित्सा के लिए मुख्य पूर्वकर्म हैं। स्नेहन में आभ्यंतर स्नेहपान तथा बाह्य अभ्यंगादि विधियों का समावेश किया जाता है। स्नेहपान के विषय में अनेक प्रश्न छात्र तथा अध्यापकों के मन में उपस्थित होते हैं। मुझे अनेक स्थल पर भाषण देने के लिए बुलाया गया जहां पर स्नेहपान के बारे में शंकाएं उपस्थित की गई। उनका सारांश यहां देना उचित होगा।

प्राय; आयुर्वेद चिकित्सा के लिए आनेवाले रोगियों में पक्षाघात के रोगियों की संख्या काफी बड़ी होती है। सभी चिकित्सकों के मन में यह आशंका बनी रहती है कि यदि आतुर मेदस्वी हो, हृद्रोग से पीड़ित हो, उसका रक्तगत कोलिस्टिराल बढ़ा हो और ब्लड प्रेशर ऊंचा हो तब आये हुए पक्षाघात के आतुर में क्या स्नेहपान करना चाहिए ?

यहां एक सामान्य नियम याद रखना चाहिए कि आतुर पक्षाघात का हो या अन्य किसी रोग का, वह स्नेहनार्ह है या नहीं यह आयुर्वेद सिद्धान्त के अनुसार निश्चित करना चाहिए। जैसा कि इसी ग्रंथ में निर्दिष्ट किया जा चुका है कि रुक्षणार्हता, स्त्रोतोरोध प्रधानता, आम एवं अग्निमांद्य की प्रधानता, दौर्बल्य तथा विषलक्षणों से अभियुक्त कितनी सारी अवस्थाओं में स्नेहन नहीं करना चाहिए। वातव्याधि में भी 'तत्रादी निरुपस्तंभमादौ स्नेहैरुपाचरेत्' ऐसा कहा है। अर्थात् जिसमें साम दोषों की प्रधानता न होगी उनमें स्नेहपान करना चाहिये। 'सर्वदेह प्रसूतान् सामान् दोषान् निहरित्' ऐसा भी सूत्र है। अर्थात् वमनादि शोधन के पूर्व भी यहीं विचार किया जाता है कि सामता कितने अंश में है ? आम प्रधानता में पहले दीपन पाचन देना चाहिए और निराम होने के बाद उन्हें स्नेहन के साथ शोधन कराना चाहिए।

पक्षाघात में भी 'मृदुभिः स्नेह संयुक्तैर्पक्षाघाते विरेचनम्' ऐसा सिद्धान्त है। अतः स्नेह के पूर्व आम आतुरों में लशुनादि वटी, लशुनसिद्ध क्षीरपाक, पिप्पली वर्धमानविधि से क्षीरसंयुक्त देकर पाचन कराना हितावह होता है। तदनंतर स्नेहपान और विरेचन और बस्ति चिकित्सा करनी चाहिए। वैसे भी यह जानने योग्य है कि तिल तैल से स्नेहपान कराने पर ब्लडप्रेशर वाले, मेदस्वी अथवा जिनका रक्तगत कोलीस्टीरोल वृद्ध है, ऐसे आतुरों

में भी कोई दुष्परिणाम नहीं मिलते, बल्कि आतुर को रोगप्रशम मिलता है। अतः उन आतुरों में तिलतैल द्वारा स्नेहपान करा सकते हैं।

यदि एक्यूट सेरिब्रलथ्रांबोसिस—नव पीड़ित पक्षाघात का आतुर हो तो आप निम्नांकित चिकित्सा आंख मूंदकर कर सकते हैं—दर्दी अच्छा हो जाएगा—लशुन ५ से १० कली, १० तोला दूध और १० तोला जल में क्षीरशेष पकाकर प्रातः पिलावे अथवा पिप्पली चूर्ण १ माशा प्रथम दिन, २ माशा दूसरे दिन, ३ माशा तीसरे दिन, ३ माशा चौथे दिन, २।। माशा पांचवे दिन, २ माशा ६वें दिन और १ माशा ७वें दिन उपर्युक्त प्रकार से दूध के साथ देकर ७ दिन में क्रमशः पिप्पली देकर बंद करावे। अब आम पाचन के लक्षण देखकर ८वें दिन से 'तिल तैल २ तोला' प्रारंभ करें। यह ७ दिन तक बढ़ा सकते हैं। अथवा स्निग्ध लक्षण को देखकर बढ़ावे और 'आरग्वध हरीतकी क्वाथ' एरंड तैल के साथ देकर विरेचन कराए। विरेचन के बाद कृतसंसर्जन क्रम से आतुर को 'वाष्पस्वेद, पिषिंचिल, पिंडस्वेद'—यथायोग्य स्वेद तथा बस्ति कर्म आरम्भ करें। इस क्रम से आतुर निश्चित प्रकार से रोगमुक्त होता हुआ हमने अनेक बार देखा हैं।

वैसे स्नेहपान के लिए स्नेह सात्म्य न हो जाए इतनी मात्रा में ७ दिन में देने का नियम है। साधारणतः सम्यक् स्निग्ध लक्षणों के लिए सात दिन का नियम आचार्यो ने दिया है, तथापि कोष्ठ की अपेक्षा से यह क्रम कम ज्यादा हो सकता है। बनारस हिंदू युनिवर्सिटी में अन्वेषण कर्ताओं के अध्ययन में यह अनुभूत हुआ है कि तीन चार दिन में भी स्नेहन पूर्ण हो सकता है, तथापि यहाँ यह याद रखना चाहिए कि वैद्य को निरंतर स्निग्ध लक्षणों का अध्ययन करना चाहिए। स्नेहपानकाल में रसरक्त गत फेटी एसिड लेबल की मात्रा वृद्धिंगत होती है और वृद्ध स्नेह पदार्थों में शरीर के टिश्यु लेबल से मेटाबोलिक क्रिया में परिणामपद्यमान भाव घुस जाते हैं। तदुपरांत स्वेद करने से स्त्रोतोविकास, द्रवीकरण तथा निध्यंदन और दोषवृद्धि के कारण वे कोष्ठ में आ जाते हैं जहां वमन अथवा विरेचन द्वारा उनकी शुद्धि की जाती है।

स्नेह-स्वेद जहां पूर्वकर्म के तौर पर करना हो वहां शोधन मात्रा में स्नेह दिया जाता है और सार्वदैहिक वाष्पस्वेद किया जाता है, तथापि जहां रोग की चिकित्सा के स्वरूप में प्रधान चिकित्सा के तौर पर देना हो वहां शमन स्नेह तथा बृंहण स्नेह प्रकार से देना चाहिए। स्नेद में भी रोग प्रधानता के अनुसार षष्टिकशाली पिंडस्वेद, पिषिंचिल, निर्गुण्डी पत्रपिंड स्वेद, दशमूलवाष्पस्वेद, नाड़िस्वेद, अवगाह स्वेद, जेंताक स्वेद, इत्यादि का प्रधान चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

विगत पांच सात वर्षों में षष्टिकशाली पिंडस्वेद के ऊपर अनेक अन्वेषकों ने कार्य किया है। भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न प्रकार से रिसर्च प्रोजेक्ट में इस पर आतुरलक्षी (Clinical) तथा प्रयोगशाला विश्लेषणात्मक (Laboratory analysis) पद्धति से कार्य हुआ है और अध्ययन कर्ताओं ने यह सिद्ध किया है कि आयुर्वेद में पिंडस्वेद की जो कार्मुकता बताई है वह उचित ही है।

खंज और पंगु (Poliomylitis) के असंख्य आतुरों में प्रस्तुत लेखक ने इस पद्धति का उपयोग किया है। १९६४ में सर्वप्रथम डॉ. पी. एन्. बी. कुरुप और श्री करतुरे ने

१२ आतुरों पर निरीक्षण कर निबंध प्रकाशित किया। उस समय सभी आतुरों को जीर्णावस्था में चिकित्सा की गई थी किंतु उनके लक्षणों में पर्याप्त लाभ हुआ।

तदुपरांत १९६६—६७ वर्ष के दरम्यान श्री कस्तुरे, श्री होल्ला तथा श्री गुप्ता ने अखंडानंद आयुर्वेद हॉस्पिटल अहमदाबाद में कराकर मिश्रण के आभ्यन्तर प्रयोग के साथ पोलियो के कुल ३७६ आतुरों का अध्ययन प्रस्तुत किया जो रुमेटिझम वोल्यूम नं. ३ अंक नं. १ प्रकाशित है। इस अध्ययन में खंज (एक पांव का पोलियो पेरालिसिस) के २५३ आतुर तथा पंगु (दोनों पांव के कर्मक्षय युक्त) के १२३ आतुरों पर विश्लेषण किया गया। इन आतुरों में—एक्यूट केसेस की संख्या भी पर्याप्त थी। कुल ६९ आतुर ऐसे थे जो व्याधि उत्पत्ति के बाद एक सप्ताह में आए थे। जिनमें ३१ आतुर तो ४८ घंटे में आयुर्वेद—चिकित्सा के लिए आए थे। यह ध्यान देने योग्य विषय है कि नवपीड़ित ये सभी रुग्ण रोगमुक्त हुए। इनमें कुछ भी लाभ न मिला हो ऐसा एक भी रुग्ण न था।

१९७३ में प्रस्तुत ग्रंथकर्ता ने श्री मणिबेन अमृतलाल हरगोवनदास आयुर्वेद हॉस्पिटल अहमदाबाद में कुल १९६ पोलियों के आतुरों का अध्ययन पूर्ण कर निबंध प्रस्तुत किया। इनमें ९४ आतुरों को षष्टिकशाली पिंडस्वेद मात्र से उपचार किया गया और ७१ आतुरों में पिंडस्वेद के साथ मात्रा बस्ति भी दी गई। इस अध्ययन का फल भी बहुत उत्साहजनक सिद्ध हुआ। प्रथम सप्ताह में आए हुए २२ आतुरों में से १० आतुरों में पूर्ण प्रशम मिला। ८ आतुरों में रोग लक्षण प्रशमित हुए। चार आतुरों में लाभ का प्रमाण नगण्य रहा—अप्रशम। कुल आतुरों में १९६ में से ६९ आतुर लाभान्वित हुए हैं जिसका परिणाम प्रतिशत ३५.८% होता है। ४१.८% प्रतिशत आतुरों में मुख्य लक्षणों में लाभ हुआ और ७.१% आतुर अप्रशम के रहे तथा १५.३% आतुरों ने चिकित्सा छोड़ दी जिन्हें अलाभ में गिना जा सकता है। फिर भी ७७.६% आतुरों में यह चिकित्सा सफल हुई ऐसा कह सकते हैं। ता. २१-११-७८ के श्री मणिबेन अमृतलाल हरगोवनदास आयुर्वेद हॉस्पिटल के प्रसिद्ध रिपोर्ट के अनुसार १९७० से १९७८ तक कुल १९२३ पोलियों के आतुरों की चिकित्सा यहां की गई है। और तदनुसार यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि पोलियो में षष्टिक शालीपिंडस्वेद तथा मात्राबस्ति चिकित्सा का अत्यंत सफल उपयोग होता है।

पिंडस्वेद पर बनारस हिंदू युनिवर्सिटी में श्री. आर. एच. सिंह, यू. के. झा तथा एस्. एन्. सिंह ने प्रयोग कर आमवात के रुग्णों का विश्लेषण प्रस्तुत किया है। जो १९७२ में जर्नल ऑफ रिसर्च इन इंडियन मेडिसिन वॉल्यूम ७, अंक ४ में प्रकाशित है। श्री सिंह तथा उनके सहायकों ने आतुरलक्षी परीक्षणों के (Clinical Observation) साथ कुछ प्रयोगशाला विश्लेषण भी किया है जो अत्यंत महत्व का है। षष्टिक शालीपिंडस्वेद का कार्मुकत्व समझने के लिए यह एक निःसंशय महत्त्वपूर्ण योगदान है। प्रस्तुत अन्वेषकों ने १२ प्राकृत इच्छुकों (Volunteess) तथा २० रुग्णों पर प्रयोग कर प्राकृत व्यक्तियों के साथ रोगावस्था की कार्मुकता को स्पष्ट किया है। अन्वेषकों ने यह सिद्ध किया है कि पिंडस्वेद के द्वारा चिकित्सा काल में आमवात के रुग्णों में जिनको एरिथ्रोसाईट सेडिमेंटेशन रेट (E.S.R.) बहुत अधिक था चिकित्सा के बाद न्यूनता देखी गई। जिसकी पी वेल्यू ०.०५ तक (PLO.05) घटी हुई देखी गई है इसका मतलब पिंडस्वेद से केवल आमवात

के शूलादि का ही प्रशम नहीं होता, किन्तु रोगोत्पत्ति कारक घटना (संप्राप्ति) का भी विच्छेद होता है।

मूत्र में विसर्जित नाईट्रोजन प्रमाण में चिकित्सा के बाद न्यूनता पाई गई जिसका मतलब है कि शरीर के संपूर्ण मेटाबोलिझम के कार्य पर पिंडस्वेद का नियामक प्रकार का प्रभाव है। मूत्र में हायड्रोक्सीप्रोलीन (Hydroxiprodline) और म्यूको पालीसेक्राईड (Mucopolysaechirides) का प्रमाण बढ़ा हुआ मिलता है जिसका मतितार्थ यह है कि कनेक्टिव टिश्यु (शरीर में अस्थि-कंडरा मज्जा जिससे बनते है) का विच्छेद होता है और आमवात में (Rheumatism) यह कार्य महत्त्वपूर्ण है। इसी तरह एड्रिनो कॉर्टिकल ग्लैंड (Adrino Cortical) के कार्य में भी पिंडस्वेद के द्वारा सहायता प्राप्त हुई ऐसे निर्देश मिले जिससे आमवात की रोगावस्था के लक्षणप्रशम का कारण कार्यभाव भी स्पष्ट होता है।

पिपिंचल यह ऐसा ही एक और महत्त्वपूर्ण स्वेद है जिसका पक्षाघात में अत्यंत सफल उपयोग होता है। पिपिंचिल यह शास्त्रानुसार स्नेहधारा स्वेद है। जिसमें एक साथ स्नेहन, अभ्यंग तथा स्वेदन का कार्य होता है। इसका कार्य जैसा कि हम समझते है केवल बाह्यतः त्वचा पर, या मांसपेशी पर ही नहीं होता, बल्कि आभ्यंतर धातुपाक शरीर का मेटाबोलिझम पर भी होता है। जामनगर में डॉ. पी. एन्. बी. कुरुप—कस्तुरे तथा मेहता के द्वारा पक्षाघात के १२ आतुर तथा एक स्वस्थ व्यक्ति में पिपिंचिल प्रयोग के कार्मुकत्व का अध्ययन किया गया। सभी १२ आतुरों में लाक्षणिक लाभ के साथ उनके रक्त परीक्षण किया गया अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण रहा। सभी आतुरों का प्रवेश काल के समय, प्रवेश काल के बाद ७ दिन तक कंट्रोल रखने के बाद तथा २१ दिन पिपिंचिल के बाद और पुनः ७ दिन के बाद रक्त परीक्षण किया और रक्त में फैटी एसिड प्रोटीन, पायप्यूविक एसिड तथा फ्टिो एसिड की मात्रा परीक्षण की गई। परिणामतः स्पष्ट हुआ कि पिपिंचिल द्वारा रक्त में फैटी एसिड प्रमाण बढ़ता है इससे अनुमान निकलता है कि पिपिंचिल में उपर्युक्त तैल का त्वचा द्वारा शोषण होता है और रक्त में स्नेह स्तर को वह बढ़ाता है। रक्त गत दोष स्नेहाम्लों में घुलने पर कोष्ठ में आते हैं जिन्हें मृदु विरेचन देकर निकाला जाता है। इसीलिए पिपिंचिल के प्रयोग काल में दररोज मृदु विरेचन गंधर्व हस्तादि क्वाथ से देने का नियम है। यदि न दिया जाये तो आतुर को आध्मान, आनाह और कोष्ठगत आम के लक्षणों की उत्पत्ति होती है।

रक्त के प्रोटीन मात्रा की भी वृद्धि मिलती है जिससे पिपिंचल का बृंहण कर्म स्पष्ट होता है। कीटो एसिड का प्रमाण घटता है जिससे कार्बोहाइड्रेट मेटाबोलिझम की उद्दीप्ति का ख्याल आता है। पायप्यूविक एसिड का प्रमाण भी घटा हुआ मिला जिससे अनुमान है कि शरीर के जनरल मेटाबोलिझम पर इसका जरूर असर होता है और विषकारी तत्वों को दोषों के वह रक्त में से हरा देता है। सभी आतुरों में पिपिंचिल द्वारा देहभार में वृद्धि देखी गई जिससे इसकी बृंहण कार्मुकता स्पष्ट होती है। यह विश्लेषण जुलाई १९६५ के आयुर्वेद लोक (जामनगर प्रकाशन) में प्रकाशित है। इस तरह स्पष्ट होता है कि पिपिंचिल के द्वारा शरीर में रोग लक्षणों के प्रशम के साथ बलसंजनन भी होता है। यह एक अत्यंत लाभप्रद चिकित्सा है।

पत्रपिंड-स्वेद यह एक अत्यंत सरल और सस्ती चिकित्सा है। निर्गुण्डी पत्र, एरंडपत्र,

श्योनाकपत्र, निंबपत्र इत्यादि वातहर पत्रों के द्वारा यह स्वेद किया जाता है। विशेषतः शूल प्रधान विश्वाची तथा गृध्रसी रोगों में निर्गुण्डी पत्र पिंड स्वेद का अद्‌भुत कार्य मिलता है। अखंडानंद हॉस्पिटल अहमदाबाद में प्रस्तुत लेखक ने १९६७ में विश्वाची के १५ रुग्णों पर तथा गृध्रसी के ३० रुग्णों पर प्रयोग कर पेपर प्रस्तुत किया है जो सचित्र आयुर्वेद मई, १९६७ तथा सितंबर, १९६७ में प्रकाशित हुआ है। जिसमें स्पष्ट है कि विश्वाची के १५ आतुरों में से १३ आतुरों में संपूर्ण प्रशम और २ आतुरों में अल्पप्रशम मिला। गृध्रसी में पत्रपिंडस्वेद के साथ बस्ति चिकित्सा भी की गई और माधुतैलिक बस्ति दी गई परिणाम में ८० प्रतिशत आतुरों को लाभ मिला है। इन परीक्षणों के बाद विश्वाची, गृध्रसी तूनी, प्रतितूनी, मन्याग्रह, पार्श्वशूल, पिंडिकोद्वेष्टन इत्यादि शूल प्रधान व्याधियों के अनेक आतुरों को इसी चिकित्सा से लाभान्वित होते हुए देखा है।

वाष्पस्वेद—दशमूल क्वाथ से यह प्रायः किया जाता है और सर्वांगवात, पक्षाघात, कंपवात, मेदोगतवात, मांसगत वात में इसका अच्छा लाभ मिलता है। यह सरल चिकित्सा है और बहिरंग विभाग में प्राइवेट प्रैक्टिस में भी वैद्य कर सकते हैं इसका जरूर लाभ उठाना चाहिए। हमारे आतुरालाय में दररोज लगभग ५० रुग्णों पर वाष्पस्वेद का प्रयोग होता है।

जेन्ताक स्वेद गृह मणिबेन हॉस्पिटल की एक खास विशेषता है। मेरे ख्याल में और किसी भी आयुर्वेद आतुरालय में जेंताक स्वेद की व्यवस्था नहीं है। हमारे आतुरालय में हमने चरकोक्त प्रमाण से जेंताक स्वेदगृह बनाया है। १६ अरली–अर्थात् २४ फीट परिणाह का गोलाकार कमरा इस स्वेद का कूटागार कहलाता है। इस के बीच पुरुष प्रमाण ऊंचा और ४ हाथ = ६' प्रमाण का विस्तारयुक्त अंगार कोष्ठक स्तंभ बनाया गया है और गोलाकार भित्ती को संलग्न १।' ऊंची और उतनी ही चौड़ी पिंडिका तैयार की गई है। इस स्वेद गृह में हमने अनेक आतुरों का स्वेदन किया और संहिताकारों की क्षमायाचना के साथ निम्नोक्त सुधारणाएँ करनी चाहिए ऐसी सलाह देने के पक्ष में लेखक है।

यह स्वेद गृह उपर्युक्त प्रमाण में बनाया जाये (जो हमने बनाया है) तो बहुत बड़ा होता है। इसके अंगारकोष्ठक स्तंभ को संपूर्ण भर कर प्रदीप्त करने के लिए लगभग चार बोरी कोयले (एक बोरी = ४० किलो) की जरूरत होती है और यह आर्थिक दृष्टि से भारी व्ययकारक होता है। फिर प्रमाणतः विशाल गृह में अंगार स्तंभ के ऊपर के भाग में अत्यंत अग्निताप रहता है और जहां पिंडिका पर आतुर होता है वहां अग्निताप ठीक नहीं लगता। अतएव हमारी धारणा है कि अंगार कोष्ठक स्तंभ कंदुकाकार जमीन के ऊपर न बना कर जमीन के नीचे बनाना चाहिए और ऊपर केवल एक या २ फीट तक ऊंचाई पर उसे पूर्ण करना चाहिए। जिसमें उसका स्तर पिंडिका के स्तर के साथ समान ऊंचाई पर होना चाहिए। इससे अग्निताप ऊपर न जाकर पिंडिका के स्तर पर पहुंच सकेगा। इसी तरह या आगार २४ परिणाह के बदले छोटा बनाया जा सकता है और १६ परिणाह का बनाकर उसी अनुपात में अंगार कोष्ठक छोटा बनाया जा सकता है अर्थात् ४' विस्तार और ऊंचाई का अंगार कोष्ठक होगा। अब इस अंगार कोष्ठक के ऊपर धुवां निकल जाने के लिए चिमनी की व्यवस्था करनी चाहिए। इस स्वेद गृह में चारों बाजू में चार इलेक्ट्रिक सेगड़ी या रूमहीटर के प्लग रखकर जब जरूरत हो तब केवल इलेक्ट्रिक सेगड़ी से रुक्षस्वेद

करने की व्यवस्था रखनी चाहिए। ये सुधारणाएँ हमने अपने जेंताक स्वेद गृह में जारी कर दी है जिससे अनुभव का लाभ अन्यत्र उठाना चाहिए।

शोधन चिकित्सा में वमन विरेचन एक अत्यंत महत्त्व की चिकित्सा है। इसमें भी वमन के बारे में वैद्यों में बहुत अनावस्था है। वमन प्रक्रिया की जटिलता के कारण संभवतः यह होगा तथापि कृतकर्मा वैद्य के पास एक बार प्रत्यक्ष करने के बाद यह जटिलता दूर हो सकती है। वमन प्रक्रिया में सबसे अच्छा योग मदनफल योग ही है। जिसमें मदनफल, वचा और सैंधव का समावेश किया जाता है। यह योग मधु के साथ देने की प्रथा है, तथापि वमनौषधि जब आमाशय के नीचे के भाग में पहुंचती है— पायलोरिक एण्ड (Pyloric End) में पहुँचती है तभी उसका वामक कार्य प्रारम्भ होता है, अतः मधु के स्थान पर जल का ही प्रयोग करना अधिक हितावह है। इस योग को जल में घोलकर अधिक द्रव बनाकर पिलाना चाहिए। द्रवत्त्व के कारण वह जल्दी Puporic End तक पहुँच जाता है और शीघ्र ही वमन प्रारंभ होता है। इस विषय में सुश्रुत कितना प्रत्यक्षलक्षी वर्णन देते हैं यह ध्यान देने योग्य हैं। सुश्रुत ने क्वाथ की मात्रा १६ तोला, चूर्ण की मात्रा १ तोला और कल्क की मात्रा १ तोला देने का निर्देश किया है। यह प्रमाण उचित ही लगता है।

डल्हण ने वर्गांतर से प्रधान—मध्य—अवर भेद से तीन मात्राओं का निर्देश 'चक्षुष्य' के नाम से किया है। यदाह चक्षुष्य—''क्वाथ पाने नवप्रस्था ज्येष्ठा मात्रा प्रकीर्तिता। मध्यमाषण्मिता प्रोक्ता त्रिप्रस्था च कनीयसी।'' वमन-विषये च सार्द्धत्रयोदशपलप्रमाणं प्रस्थमानंति वृद्धाः। कलकादिमानं तु 'कल्क मोदक चूर्णानां कर्षमद्याच्च लेहत। कर्षकमपलं वापि वयोरोगाद्यपेक्षया।' इति।। अर्थात् क्वाथ के द्वारा वमन कराना हो तो ६ प्रस्थ = ५७६ तोला ज्येष्ठ मात्रा, ६ प्रस्थ = ३८४ तोला मध्यम मात्रा और ३ प्रस्थ = १९२ तोला हीनमात्रा में प्रयोग करना चाहिए। इसी मात्रा का उल्लेख शार्ङ्गधर ने किया हैं। यह मात्रा बारंबार दिये जानेवाले वमनौपग द्रव के (fluid Intake) प्रमाण के साथ मेल खाती है।

वमन श्वास, कास, कुष्ठ, क्षुद्र रोग, त्वग्‌रोग, अम्लपित्त, शीतपित्त, उदार्दादि, रोगों में सफल प्रभावकारी होता है, तथापि कुछ अन्वेषकों ने पक्षाघात में भी वमन का प्रयोग किया है। बंबई में पोद्दार आयुर्वेद महाविद्यालय में वैद्य के. एन्. मेहता तथा टीम के द्वारा १७७५-१९७६ के रिपोर्ट के अनुसार पक्षवध के ६ रोगियों पर स्नेह स्वेद पूर्वक वमन कराया गया और ८० प्रतिशत रोगियों के वाक् कार्य का सुधार तथा अंश पेशियों के उत्क्षेपण में सुधार देखा गया। इसी टीम ने पक्षाघात में विरेचन के प्रयोग किये हैं और लाक्षणिक लाभ दृग्‌गोचर हुआ है।

अहमदाबाद में अखंडानंद आयुर्वेद हॉस्पिटल में वैद्य डी. डी. गिरी, वैद्य बी. डी. नंदुरबारकर तथा ए. एम्. व्यास ने क्षुद्रकुष्ठ पर शोधन का अध्ययन किया है। विचर्चिका के कुल ५८ रोगियों पर प्रयोग किया है। जिनमें ७ में वमन किया गया, ३५ में विरेचन किया गया और १६ में रक्तमोक्षण किया गया। वमन प्रयोग अधिक उत्साहजनक नहीं हुआ लेकिन विरेचन का अत्यंत लाभ देखा गया है और कुछ आतुरों में १०० प्रतिशत लाभ दृष्टिगोचर हुआ है वैद्य श्री नंदुरबारकर, वैद्य जी. के. दवे, वैद्य सुमनबेन कुर्रे, वैद्य डी. टी. जोशी की टीम ने 'स्नूहि भावित त्रिफला' का कुष्ठ रोग में शोधनार्थ प्रयोग किया। यहां विशेष ध्यान देने योग्य विषय है कि— जब वमन के लिए देना हो तब

—माप—तंडुल की उत्कारिका, दही का भोजन प्रथम दिन देकर दूसरे दिन दूध पिलाकर 'स्नूहिभावित त्रिफला' का प्रयोग १ ग्राम मात्रा में किया गया और विरेचन के लिए देना हो तब २ ग्राम की मात्रा में रिक्त कोष्ठ में दिया गया। ऐसे ४२ आतुरों का विवरण इस टीम ने 'बैद्यनाथ शास्त्र चर्चा परिषद्' हैदराबाद की गोष्ठी में प्रकाशित 'बाह्यरोग निदेर्शिका' सितम्बर, १९७८ में प्रस्तुत किया है। यह एक महत्त्वपूर्ण सिद्धि है और एक ही औषध उभयतोभागहर संशोधन में प्रयुक्त किया जा सकता है— इसका यह सुंदर उदाहरण है और वमन के लिए इसका उत्तम प्रभाव देखा गया है और कोई भी उपद्रव नहीं देखा गया। उपर्युक्त प्रयोग में त्रिफला और स्नूही क्षीर को समान भाग लेकर एक दिन तक खरल में पीसकर सुखाया गया और शुष्क चूर्ण का उपयोग किया गया है। ४२ आतुरों में से २० में पूर्ण प्रशम (४०), १२ आतुरों में लक्षणालयता (२८.५%) और १० आतुरों में (२३.८) अलाभ देखा गया है।

श्री गिरी के नेतृत्त्व में उसके बाद लगभग ३०० से अधिक आतुरों में शोधन—(विरेचन) किया गया है और ८० आतुरों को लाभ मिला है ऐसा विवरण है।

राजकीय आयुर्वेद हॉस्पिटल हैदराबाद में डॉक्टर संजीवराव की टीम ने परिणामशूल में वमन सदृश— 'आमाशय शोधन' का प्रयोग वरुणादि क्वाथ, नारिकेल लवण, केवल उष्णोदक तथा त्रिफला क्वाथ के द्वारा किया। वरुणादि क्वाथ द्वारा आमाशय शोधन से १६ आतुरों में से लगभग सबको प्रशम प्राप्त हुआ ऐसा विवरण रिपोर्ट में प्रकाशित है।

सारांश वमन विरेचन के प्रयोग में युक्ति द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रयोग किए जा सकते हैं जिससे निश्चित लाभ मिलता है।

बस्ति प्रयोग—बस्ति चिकित्सा आयुर्वेद की एक विशिष्ट चिकित्सा पद्धति है। इस विषय पर ग्रंथकर्ता ने इस ग्रंथ में सबसे अधिक पृष्ठ लिखे हैं। तथापि ज़ब भी मैं इस विषय का विचार करता हूँ— तब और बहुत कुछ लिखने का मन होता है। बस्ति को चरकादि आचार्यों ने 'चिकित्सार्ध' कहां है— अर्थात् सभी रोगों में ५० प्रतिशत चिकित्सा बस्ति द्वारा की जा सकती है। इस कथन का तथ्य से परीक्षण करने के लिए हमने विगतवर्षों में अनेक प्रयोग किये— और यह समझ कर आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि अल्पमात्र फरक करने से एक ही बस्ति अनेक रोगों में काम करती है। वहां उन परीक्षणों का सार संक्षेप में प्रस्तुत करेंगे।

वातव्याधि पक्षाघात, गृध्रसी, अस्थिमज्जागत वात, मांसगत वात, अर्दित; आवृत वात (मेदोऽवृत वात), कोष्ठगत वात, खंज-पंगु (Poliouryelitis) इत्यादि अनेक रोगों में बस्ति काम करती ही है तथापि वातव्याधि, अतिरिक्त, ज्वर, जीर्ण ज्वर, रक्तपित्त, रक्तातिसार, अतिसार, ग्रहणी (collitit), पांडु, शूल, परिणाम शूल, हिक्का, श्वास, मूत्रकृच्छ्र मूत्राघात, अश्मरी शूल, हृच्छूल, शिरोरोग, अपस्मार, इत्यादि रोगों में भी अद्‌भुत लाभ करती है। जीर्ण ज्वर के कुछ आतुरों को जिन्हें आधुनिक सब औषधि प्रयोग किये थे और उन्हें लाभ नहीं हुआ था (Pyraxia-unknown reason) ऐसे आतुरों में केवल गुडूचिसिद्ध बस्ति का प्रयोग अत्यंत सफल हुआ है। अतिसार और ग्रहणी के अनेक आतुरों में हमने ग्राही बस्ति और स्तंभन बस्ति, पिच्छा बस्तियों का प्रयोग किया है। कोलाईटिस, (collitis), (Ulcerative Collitis), के आतुरों में पिच्छ बस्ति एकमात्र सफल चिकित्सा

पद्धति है। कई आतुरों तथा डाक्टर आतुरों पर हमने इसका प्रयोग किया है। अलसरेटिव कोलाईटि जिसमें रक्त और पूय के साथ मल प्रवृत्ति असंख्य बार होती थी ऐसे आतुरों में पिच्छा बस्ति के ७ दिन के प्रयोग में संपूर्ण नियंत्रण हुआ देखा गया है। उदुंबर सार का क्वाथ अथवा पंचवल्कल क्वाथ ८ औंस, पद्मकोदि तैल ४ औंस और शतावरी घृत २ औंस के मिश्रण द्वारा यह पिच्छा बस्ति देनी चाहिए यह—

रक्तपित्त—(अर्श, कैन्सर, इत्यादि ज्ञात कारणों के अतिरिक्त) में होनेवाले रक्तस्राव को रोकने में भी यह बस्ति लाभ करती है। सर्विक्स के कैन्सर (cancer of cervix) में इस की उत्तरबस्ति—रक्त रोकने के लिए अत्यंत लाभ करती है। शरीर के तिर्यक मार्ग (रोमकूपों) द्वारा कभी-कभी रक्तस्राव होता है ऐसे थ्रांबो साईटोपीनिया के (Thrombocytopenia) आतुरों में पिच्छा बस्ति और राजयापन बस्ति से न केवल रक्तस्राव बंद होते हुए देखा अपितु उसका मुख्य लक्षण थ्रांबोसाईट—प्लेटलेट (Platelets) की संख्या हजारों में बढ़ती हुई १५ दिन में १०००० से २ लाख तक पहुंची हुई देखी गई है। ल्यूकीमिया (Leukemia) के आतुरों में डब्ल्यू बी. सी. (श्वेतकण) की संख्या घटाने में राजयापन बस्ति का लाभकर प्रभाव देखा गया है। पांडु—रक्तक्षय के आतुरों में रक्तबस्ति का तृणपंचमूल क्वाथ के साथ प्रयोग लाभकर होता है। हिक्का के आतुरों में एरंडमूलादि बस्ति का प्रयोग अत्यंत सफल सिद्ध हुआ है। श्वास रोग में स्नेहपान और विरेचन के बाद दशमूलनिरूह तथा अपामार्गक्षार त्रिकटु, गोमूत्र, सैंधव साधित तीक्ष्ण बस्ति पूरक चिकित्सा के प्रकार से बहुत लाभप्रद होती। एरंडमूलादि क्वाथ—शिग्रु, आरग्वध क्वाथ, तथा इनमें गोमूत्र—क्षार से सिद्ध बनाई हुई तीक्ष्णबस्ति मेदोहर सिद्ध हुई है— और देहभार कम करने के लिए अन्य चिकित्सा के साथ अत्यंत लाभप्रद होती है। मूत्रकृच्छ्र, मूत्राघात और अश्मरी में दाह शूल प्रशम के लिए— क्षीर बस्ति और राजयापन बस्ति श्रेष्ठ कार्य करती है। इन रोगों में उत्तरबस्ति प्रयोग भी करना चाहिए। हृच्छूल, पार्श्वशूल तथा शिरःशूल के शोधन बस्ति और स्नेहबस्ति (भागविधि) एकांतर से देने पर योग बस्ति (८ बस्ति) कोर्स से अनेक आतुरों में लाभ होते देखा गया है।

शूल और परिणाम शूल-उदर शूल के विविध प्रकारों में मणिबेन हॉस्पिटल में अन्वेषण किया गया। १९७१ से १९७४ तक कुल२०५ आतुरों पर केवल बस्ति द्वारा उपचार किया गया। जिनमें से १५७ दर्दिओं ने संपूर्णतया चिकित्सा चालू रखी। इन सब में क्षीरबस्ति का प्रयोग किया—जिसमें दूध २ प्रसृति (८ औंस), मधु १ प्रसृति (४ औंस), तिल तैल १ प्रसृति (४ औंस) और घृत १ प्रसृति (४ औंस) लिया जाता है। कुल १५७ आतुरों में से ८३ आतुरों में संपूर्ण प्रशम (cured) हुआ, (५२.८१%), ४८ आतुरों में लक्षण प्रशम (Releaved—३०.५७%) मिला और २६ आतुरों में अप्रशम (unchanged ११.५६%) मिला। संपूर्ण प्रशम और रोग प्रशम दोनों को हुक करने पर ८३.३८ प्रतिशत परिणाम सफलता दर्शक निकलता है। यह कार्य वैद्य कस्तुरे के मार्गदर्शन में वैद्य चतुर्वेदी, वैद्य तिवारी, हसमुख शाह तथा वैद्य देशपांडे ने किया था।

इस प्रयोग में हमने बस्तिविधि में नवीनता का प्रयोग किया और बस्तियाँ बिंदु बिंदु से (Drip Method से) जिसे हमने बृंहण विधि नाम दिया— देना प्रारंभ किया और ग्लूकोज सलाईन स्नेह के द्वारा इस तरह बस्ति दी ताकि कुल द्रव १ घंटे में पक्वाशय में

पहुँच जाए। बस्ति पाठ को और घटा कर दूध २ औंस तिल तैल २ औंस और घृत २ औंस मिला कर यह बस्ति दी गई। बृंहणविधि का परिणाम सामान्य विधि के परिणामों से शीघ्र आता है और द्रव्य व्यय भी अल्प होता है।

इसी क्षीर बस्ति का प्रयोग कटिशूल, गृध्रसी और अस्थिमज्जागत वात में किया गया। 'अस्थ्याश्रयाणां व्याधीनां पंचकर्माणि भेषजम्। बस्तयः क्षीरसर्षीपि तिक्तकोपहिंतानि च'। सूत्रानुसार क्षीर बस्ति में घृत के स्थान पर तिक्त घृत प्रयुक्त किया गया। कटिशूल के २८ आतुरों का विवरण प्रस्तुत ग्रंथकर्ता ने रुमेंटिझम वॉल्यूम ३, अंक ४ में १९६९ में प्रकाशित किया गया तद्नुसार २२ आतुरों में रोगप्रशम, ५ आतुरों में लक्षणप्रशम और १ आतुर में अप्रशम मिला। इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया कि बस्ति द्वारा आतुर के देहभार में २ से ९ पौंड तक वृद्धि हुई, फैटी एसिड के अनुपात में ३९ ग्रा. से ८५ मि. ग्रा. तक वृद्धि हुई, प्रोटीन अनुपात में ०.३ मि. ग्रा. से १.० मि. ग्रा. तक वृद्धि हुई और पायायूविक एसिड के अनुपात में ०.३ से १.० तक की घट देखी गई। इस तरह बस्ति वस्तुतः बृंहण कार्य करती है यह सिद्ध हुआ है। रुमेटिझम वॉल्यूम ८ अंक २ में प्रस्तुत ग्रंथकर्ता ने पुनः अस्थिमज्जागत वात में बस्ति प्रयोग के कुल ३० रुग्णों का वृत्तांत प्रकाशित किया है। जिसमें १० रुग्णों में पूर्ण प्रशम, १४ रुग्णों में लक्षण प्रशम और ६ रुग्णे में अप्रशम मिला है। अतः कटिशूल (Lumbago) अस्थि मज्जा गत वात (जिसका कारण— osteo Arthritis Disce Lesion, Spondylitic changes, Kochi, spine Rheumatic Pain, Rheumatoid Arthritis इत्यादि हो सकता है), गृध्रसी, आमवात (जीर्ण), उरुस्तंभ, वातरक्त इन व्याधियों में निःशंक प्रयोग इस बस्ति का करना चाहिए।

राजयापन बस्ति—जिसे मुस्तादि बस्ति कहा गया है—इसका प्रयोग सर्वांग वात, मांसगत वात, शिरोभिघात (Mental Retardation) और अपस्मार के आतुरों में सफल सिद्ध हुआ है। मांसगत वात — जिसमें आधुनिकों के (Myopathy)का समावेश होता है और आधुनिक विज्ञान के अनुसार यह रोग बच्चों को २० वें साल के उमर तक मृत्यु लाता है— इतना घातक है— ऐसे ४० रुग्णों में अन्य चिकित्सा के साथ बस्ति प्रयोग किए गये, और बिलकुल असाध्य लक्षणान्वित (clincally Hopeless) रुग्णों को छोड़कर बाकी रुग्णों में उत्साहजनक परिणाम मिला है।

खंज-पंगु—(Polomyclites) यदि नवीन रुग्ण हो तो बस्ति प्रयोग से अद्भुत लाभ मिलता है। एक सौ से अधिक रुग्णों में इसका परीक्षण किया गया है। यह कार्य मणिबेन हॉस्पिटल में १९७४ से १९७९ मार्च तक किया गया— और इसमें लेखक के नेतृत्व में वैद्य देशपांडे तथा वैद्य हसमुख शाह ने कार्य किया है। इसका विवरण सेंट्रल कौन्सिल को प्रस्तुत किया है।

पोद्दार आयुर्वेद महाविद्यालय मुंबई में वैद्य ए. एन्. मेहता की टीम ने पक्षाघात में बस्ति प्रयोग के कुल १६ रोगियों का अध्ययन १९७५-७६ में किया और १० रुग्णों में लाभ मिला है।

डॉ. पी. के. पारियर के नेतृत्व में आर्य वैद्य शाला कोटेकस में परिणाम शूल में कुल ३४ आतुरों में विशिष्ट चिकित्सा के साथ अनुवासन का प्रयोग किया है— और १६

रोगियों में पूर्ण प्रशम, ६ रोगियों में अल्पप्रशम तथा १ रोगी को अप्रशम देखा गया। यह १९७५-७६ का विवरण है।

इस तरह बस्ति प्रयोग पर विविध-कार्य चल रहा है और उनकी सफलता से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि 'बस्तिः चिकित्सार्थमिति प्रदिष्टम्। सर्वा चिकित्सामपि बस्तिमेके' आचार्यों के इस कथन में बहुत बड़ा तथ्य भरा हुआ है। इसके पूर्व यह बताया गया है कि डॉ. दासगुप्ता के मतानुसार सुश्रुत ने चरक अथवा चक्रपाणि से भी अधिक सुंदर वर्णन दिया है और इसके जो विशिष्ट कल्प दिये हैं उनका तत्सृत चरकोक्त अध्याय सिद्धिस्थान में इतना सुंदर वर्णन नहीं है। खास महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि सुश्रूत ने बस्ति के संबंध में क्वाथ, तैल, घृत, मांसरस, कल्कादि द्रव्यों का एक बार सामान्य वर्णन किया और बाद में इसी प्रमाणानुसार बस्ति तैयार करनी चाहिए ऐसा कह दिया है तथापि टीकाकार डल्हण ने एक-एक बस्ति में क्वाथ, कल्क स्नेहादि की मात्रा, निर्माण विधि तथा देने की विधि और उस बस्ति का प्रभाव अत्यंत सविस्तार वर्णन किया हैं। शायद डल्हण एकमात्र ऐसे टीकाकार हैं जिन्होंने प्रत्येक विषय का इतना सूक्ष्म और सभी पहलुओं के साथ वर्णन किया है। इन बस्तियों में से कुछ महत्त्वपूर्ण बस्तियों का विधिपूर्वक हम नीचे वर्णन करते हैं जिससे बस्ति तैयार करने में और देने में वैद्यों को सुविधा हो और शास्त्रीय बस्ति कल्पों का लाभ सभी वैद्य उठा सकें।

सुश्रुतोक्त कतिपय बस्ति प्रयोग

पृष्ठशूल, त्रिक्शूल, ग्रहणी, वातरोगों में उपयुक्त, रक्तमांस, बलप्रद।

१. संपाकादि बस्ति—

क्वाथ निर्माण —शंपाक (कृतमाल) पुनर्नवा, अश्वगंधा, शटी, लघुपंचमूल बला रास्ना, गुडूचि, देवदारु, मुक्ता।

उपर्युक्त १४ द्रव्यों के प्रत्येक १ पल से १४ पल द्रव्य लें। इनको यवकूट बनाकर इसमें मदन फल ८ संख्या (४ मदन फल = १ पल — डल्हण) इस तरह द्रव्य १६ पल लेकर ८ गुना जल अर्थात् १२८ पल जल डालकर चथुर्थांश ३२ पल क्वाथ बनावें। यह ३२ पल ३-४ बस्तियों के लिये क्वाथ है। अतः इनमें से पूरक ग्राह्य ८ पल क्वाथ लेना चाहिए। क्वाथ कपड़े से छान लें।

कल्कद्रव्य— मागधिका (पिप्पली), मुस्ता, हपुषा, मिसि, सैंधव, प्रियंगु यष्टीमधु रसांजन। सब द्रव्य समान भाग लेकर इनका कल्क ३ पल मात्रा में लेवे।

निर्माण—एक गहरा तामपात्र लेकर उसमें सैंधव ३ माशा डाले, फिर स्नेह २, क्षीर १, कांजी १, गोमूत्र १ और मांस १ रस इनका सम्मिलित ६ पल डालकर मंथन करें। एकीकरण होने के बाद कल्क डालकर मंथन करें।

अब निम्नांकित आवाप डालें—

मांसरस १।। पल, क्षीर १।। पल, कांजी आधा पल और गोमूत्र आधा पल, मधु ३ पल लें और मंथन करें। इस तरह —

शंपाकादि क्वाथ	— ८ पल
मागधिका कल्क	— ३ पल
क्षीरादि स्नेह	— ६ पल
मधु	— ३ पल
मांसरस	— १।। पल
कांजी	— आधा पल
गोमूत्र	— आधा पल
दूध	— १।। पल
	कुल २४ पल की बस्ति देना चाहिए।

१ पल = लगभग ४ तोला।

यह बस्ति पृष्ठशूल, उरुशूल, त्रिक्शूल, अश्मरीशूल को मिटाती है, वात-मूत्र-मल के संग को दूर करती है, ग्रहणी, अर्श को मिटाती है और रक्त तथा मांस के लिये बलप्रद होती है।

२. वातघ्न बस्ति

वात रोग में उपयोगी वयः स्थापन गुडूच्यादि बस्ति—

क्वाथ—गुडूची दशमूल, त्रिफला रास्ना बला।

इन १६ द्रव्यों के १६ पल में १६ मांस डालें इसमें १३६ पल डालकर ३२ पल रहे इस तरह क्वाथ बनाकर ८ पल एक बस्ति के लिए लें।

कल्क—प्रियंगु, रसांजन, सैंधव, शतपुष्पा वचा, पिप्पली, पिप्पली यमानी कुष्ठ बिल्वफल, गुड़, मदन फल आधा पल।

कल्क—३ पल

इसमें :—	मधु	३ पल	काँज	१/२ पल
	तैलघृत	६ पल	शुक्त	१/२ पल
	क्षीर	२ पल	गोमूत्र	१/२ पल
			दधिमस्तु	१/२ पल

इस तरह २४ पल की बस्ति होती है।

यह बस्ति सभी वात रोगों को दूर करती है तथा तेज, वर्ण, बल, उत्साह, वीर्य तथा अग्नि को बढ़ाती है।

३. पित्तदोषहर तथा पित्तरोगों में उपयोगी कुशादि पंचमूलादि बस्ति

क्वाथः—कुशादि पंचमूल		त्रिफला	उत्पल (कमल)
	मुस्त	अरुषक	सारिका उशीर
	मंजिष्ठा	रास्ना	पर्पटक आत्मगुप्ता

इन १७ द्रव्यों के १७ पल यवकूट में १३६ पल जल डाल कर ३४ पल शेष क्वाथ बनावें। इसमें से ८ पल बस्ति के लिए लेवें।

कल्क —	शृंगाटक	आत्मगुप्ता	केशर	अगुरु
	चंदन	विदारी	मिसि	मंजिष्ठा
	प्रियंगु	इंद्रयव	सैंधव	मदन फल
	यष्टीमधु	पद्माक		

कल्क — ३ पल।

आवाप —	घृत	४ पल	इक्षुरस — २ पल	
	दुध	२ पल	मधु — ४ पल	
	मांसरस	१ पल		

इस तरह कुल २४ पल की बस्ति दें।

यह बस्ति शीत है। पित्त दोषघ्न है। रक्तपित्त, ज्वर, दाह, रक्तप्रदर, गुल्म रोगों में तथा सभी पित्तरोगों में देनी चाहिए।

४. कफ रोग, मेदोरोग में उपयोगी भद्रानिंबादि

बस्ति —

क्वाथ —भद्रा (कट्फल)		निंब	कुलत्थ	अर्क
	कोशातकी	गुडूची	कुटज	सारिका
	कंटकारी	पाठा	मूर्वा	आरग्वध
	अमर			

इन १३ द्रव्यों के यवकूट से १६ पल लेकर इसमें १२८ पल जल डालकर चतुर्थांश ३२ पल शेष रखें। इनमें से ८ पल बस्त्यर्थ लें।

कल्क ३ पल—

बला	मदन	सैंधव	सर्षप	अमर
कुष्ठ	एला	पिप्पली	बिल	सुंठ

आवाप — कटुतैल और तिल तैल सम्मिलित ३ पल, मधु ६ पल, यवक्षार १ पल, गोमूत्र १।। पल, कांजी १।। पल।

इस तरह कुल २४ पल की बस्ति दें। यह बस्ति कफघ्न है, मेदोघ्न है, गलगंड, गंडमाला, श्लीपद, उदर रोग, कामला, पांडु, प्रमेह तथा विष पीड़ितों में इसका उपयोग करना चाहिए।

५. संसृष्ट तथा सन्निपात दोषों में उपयोगी वृषादि

बस्ति—

क्वाथ —वृषा (वासा),		पाषाणभेद	पुनर्नवा	धान्यक	एरंड
	दशमूल	बला	मूर्वा	यव	कोल (बदर)
	शठी	कुलत्थ	बिल्वफल	भूनिंब	

इनका यवकूट १६ पल लेकर १२८ पल जल डालकर ३२, क्वाथ शेष रख कर ८ पल लेवें।

कल्क—मदन, यष्टीमधु, अमर, सर्षप, पिप्पलीमूल, सैंधव, यमानी, मिसी कुटज। इनका कल्क ३ पल।

आवाप—घृत २ पल
तैल २ पल
मधु ३ पल
क्षीर १।। पल
इक्षुरस १।। पल
गोमूत्र १।। पल
मांसरस १/२ पल

इस तरह कुल २४ पल की बस्ति देय है। यह बस्ति दोषसंसर्ग तथा संन्निपात में देनी चाहिए। संसर्ग में दोषों की अंशांश कल्पना के अनुसार क्षीरादि आवाप द्रव्यों का प्रमाण कम-अधिक कर सकते हैं। इसी तरह संन्निपात में भी दोषों की न्यूनाधिकता के अनुसार प्रमाण कम-अधिक करना चाहिए।

यह बस्ति गृध्रसी, शर्करा, अष्ठीला, तूनी-प्रतितूनी, गुल्म रोगों को नष्ट करती है।

६. मांस शुक्र बलवर्धन सर्वरोगहर रास्नादि बस्ति

क्वाथ— रास्ना अरग्वध पुनर्नवा कटुका उशीरा मुश्ता
त्रायमाण गुडूची रक्त पुनर्नवा पंचमूल बिभीतक बला।

इन १६ द्रव्यों को १६ पल प्रमाण में लेकर १२८ पल जल डालकर ३२ पल शेष क्वाथ बनावें। इसमें से ८ पल क्वाथ लेवें।

कल्क—मदनफल यष्टीमधु, मिसि, सैंधव, इंद्रयव, रसांजन

इनका कल्क ३ पल लें।

आवाप—स्नेह ६ पल मांसरस १ पल
मधु ३ पल क्षीर १ पल
रसांजन १ पल सौंबीर १ पल

इस तरह २४ पल की बस्ति दें।

कर्म —यह बस्ति मांस-शुक्र-बलप्रद है। आयुष्य-वर्धक हैं। गुल्म, असृग्दर, मूत्रकृच्छ्र क्षवक्षय, विषम-ज्वर, अर्श, ग्रहणी, वातकुंडल, जानु-जंघा-शिर-बस्तिशूल, उदावर्त, वातरक्त, शर्करा, अष्ठीला, कुक्षिशूल, उदर-रोग, अरुचि, रक्तपित्त, कफोन्माद, प्रमेह, आध्मान, हृद्ग्रह इन रोगों को दूर करती है।

७. रक्तदोषहर न्यग्रोधादि बस्ति

क्वाथ—न्यग्रोध (वट) उदुम्बर अश्वत्थ (पीपल) प्लक्ष (कर्कटी) मधुक (यष्टी) कपीतन (आम्रातक) अर्जुन आम्र कोशाम्र लाक्षाबृक्ष जंबु प्रियाल मधूक (महुआ) कट्फल वेतस कदंब बदरी तिंदुक शल्लकी लोध्र भल्लातक पलाश नंदीवृक्ष (पारस पीपल)।

१६ पल यवकूट + १२८ पल जल—शेष ३२ पल और उपयोगार्थ ८ पल लें।

कल्क ३ पल—काकोली, क्षीरकाकोली, जीवक, ऋषभक, मुद्गपर्णी, माषपर्णी, मेदा, महामेदा, गुडूची, कर्कटशृंगी, वंशलोचन पद्मकाष्ठ, प्रपौंडरीक, ऋद्धि, वृद्धि, मृद्वीका, जीवंती, यष्टीमधु इनका कल्क ३ पल।

आवाप— शर्करा १ पल
घृत ४ पल
सैंधव १ तोला
मधु ४ पल
इक्षुरस १ पल
क्षीर ४ पल

इस तरह २४ पल की बस्ति दें।

यह बस्ति पित्त तथा रक्तदोष में देनी चाहिए।

८. रक्त में हितकर द्वितीय क्षीरीवृक्षादि बस्ति

क्वाथ — क्षीरवृक्ष अर्थात् न्यग्रोधादि गण का क्वाथ ८ पल
काकोल्यादि गण से निर्मित कल्क— ३ पल

आवाप — सैंधव १ तोला
मधु ४ पल
घृत १ पल
शर्करा १ पल
इक्षुरस } ३ पल ७ टंक (१ टंक = ४ माशा)
क्षीर } ३ पल

इस तरह २४ पल की बस्ति दे। पित्त और रक्तदोष में यह हितावह होती है।

९. लेखन बस्ति

क्वाथ — त्रिफला क्वाथ पूर्वोक्त प्रकार से ८ पल

कल्क — उषकादि गण का कल्क। २ पल ऊषक (क्षार मूत्तिका वाराणसी देशे बढतरदेशें बाहुल्येन भवति)

कासीस, मधुक (यष्टी) पिप्पली, सैंधव, वचा, हपुषा।

इनका कल्क २ पल।

आवाप — गोमूत्र ३ पल
क्षौद्र ४ पल
सैंधव १ तोला } १ पल
यवक्षार ३ तोला }
कटुतैल ६ पल

इस तरह २४ पल की बस्ति दे।

यह लेखन बस्ति है—मेदहर-कफहर कार्य करती है।

१०. उत्क्लेशन बस्ति

उत्क्लेशनार्थ वातादि दोषों के अनुसार उक्त क्वाथ ८ पल और एरंड बीजादि कल्क ३ पल डालें। इसमें एरंड बीज, यष्टीमधु, पिप्पली, सैंधव, बचा और हपुषा का समावेश होता है।

आवाप — में यथा दोष—मधु ४ पल, कटु तैल २ पल, क्षीर २ पल, सैंधव १ पल, गोमूत्र २ पल, कांजी २ पल मिलाकर बस्ति दे।

उत्क्लेशनार्थ (२) द्वितीय कल्क—शतावरी, यष्टी, कुटज, मदन फल, का कल्क दे, तथा उपर्युक्त प्रकार से बस्ति दे। यह दोषहर बस्ति है।

तृतीय—दोषशमन—प्रियंगु, यष्टी मधु मुस्ता, रसांजन इनका कल्क ले कर क्षीर के साथ उपर्युक्त क्वाथ की बस्ति दोषशमन करती है।

सुश्रुतानुसार प्रथम उत्क्लेशन बस्ति देनी चाहिए तत्पश्चात् दोषहर बस्ति देनी चाहिए और तदनंतर दोष शमन बस्ति देनी चाहिए। सैंधव, गोमूत्र, क्षार कटु तैल आदि से दोषों का उत्क्लेशन होता है, क्षार, गोमूत्र, शतावरी, यष्ट्यादि दोषहर द्रव्य है और प्रियंग्वादि—क्षीर के शमन का कार्य करते हैं।

११. बृंहण बस्ति

क्वाथ—विदारिगंधादि क्वाथ ८ पल।

विदारिगंधा	(शालीपर्णी)	विदारी कंद,	सहदेवा (बला)
विश्वदेवा	(गाँगेरुकी)	पुनर्नवा	पृथक्पर्णी
शतावरी	सारिवा	कृष्णसारिवा	जीवक
ऋषभक	माषपर्णी	मृद्गपर्णी	कंटकारी
एरंड	हंसपादि	वृश्चिकाली	ऋषभी (कपिकच्छु)
गोक्षुर			

काकोल्यादि गण (उपर्युक्त) का कल्क ३ पल।

मधु ४ पल	सैंधव १ तोला
घृत ६ पल	मांसरस ३ पल ७ टंक (१ टंक = ४ माशा)

इस तरह २४ पल की बस्ति दें।

यह बस्ति बृंहण करती है।

१२. प्रियंग्वादि ग्राही बस्ति

क्वाथ—प्रियंग्वादि गण का क्वाथ ८ पल। प्रियंगु, समंगा, धातकी, पुन्नाग : (तुंग:) नागपुष्प, चंदन (रक्त चंदन), कुचंदन (मलयाद्रि चंदन) मोचरस, रसांजन, कुंभीक (श्लक्ष्ण त्वक् कुंभी वृक्ष), सौवीरांजन, पद्मकेशर, मंजिष्ठा, दुरालभा।

कल्क—अंबष्ठादि गण का कल्क ३ पल। अंबाष्ठा-पाठा, धातकी फूल, समंगा, कटंगा (अरलुका), यष्टीमधु, बिल्वगिरी, लोध्र, पलाश, पद्मकेशर।

आवाप—मधु ४ पल। संग्राही घृत (दाडिमादि घृत, कुटज घृत इत्यादि) ६ पल तक्र-३ पल।

इस तरह २४ पल की बस्ति दें। यह संग्राही बस्ति, अतिसार, ग्रहणी, जीर्ण प्रवाहिका, जीवादान इत्यादि में कार्य करती है।

विमर्श—इस तरह कुछ बस्तियों का वर्णन ऊपर दिया है। यहां क्वाथ, कल्क, आवाप इत्यादि सभी का वर्णन डल्हण के अनुसार किया है। डल्हण ने ३२ पल बस्ति क्वाथ में से ८ पल एक बस्ति पुटक के लिए लेने को कहा है। यदि अन्य ४ दर्दी उपस्थित हो तो शेष क्वाथ का उपयोग उनमें करें। अन्यथा हमारे मत से उपर्युक्त क्वाथ द्रव्य १६ पल के बदले ४ पल लेकर उसमें ३२ पल जल डालकर ८ पल ही शेष रखना चाहिए। इसी तरह यह बस्ति मान २४ पल संपूर्ण वयमान का है। वय और देहबल और दोषबल के अनुसार १२ पल से १६ पल तक यह कम कर सकते हैं और तदनुसार कल्क और आवाप द्रव्य को कम कर सकते हैं।

साधारणतः क्वाथ ८ पल, कल्क ३ पल और स्नेह मांसरस क्षीरादि—१३ पल इस तरह ८:३:१३ का प्रमाण है। इस तरह यदि संपूर्ण बस्ति १२ पल की बनानी हो तो क्वाथ ४ पल, कल्क १।। पल और आवाप द्रव्य ६।। पल होंगे। यदि १६ पल की बस्ति देनी हो तो क्वाथ लगभग ५। पल, कल्क २ पल और आवाप द्रव्य ६ पल लेना चाहिए।

नस्य कर्म—बस्ति के अनंतर नस्य अथवा शिरोविरेचन कर्म का क्रम है। गत अनेक वर्षों में अपस्मार (Epilepsy) शिरःशूल शिरोभिघात-जन्य बौद्धिक अविकास (Mental Retardation), अर्दित, तथा दृष्टि गौरव के अनेक आतुरों में नस्य का प्रयोग किया गया और इससे लाभ हुआ देखा गया। अर्दित तथा पक्षाघात में षड्बिंदु तैल, अणुतैल का मर्श नस्य तथा कट्फल चूर्ण, त्रिकटु, शुंठी इनका प्रधमन नस्य देने से ओष्ठजिह्वता, जिव्हाजिह्वता तथा वाग्संग में सुधार देखा गया है।

अपस्मार में ब्राह्मीघृत आभ्यंतर पान के साथ उसी घृत का नस्य देने पर लाभ देखा गया है। बेंगलोर में डॉ. वर्मा के अंतर्गत टीम ने उन्माद एवं वातज शिरःशूल पर क्षीरबला तैल के नस्य का प्रयोग १९७४-१९७६ वर्ष में संशोधन विभाग में किया और ३२ रुग्णों का परीक्षण किया गया।

पक्षवध रोग में बंबई में डॉ. मेहता के अंतर्गत अन्वेषकों ने १९७५-७६ में मर्श नस्य का अध्ययन किया और ५ दिन के नस्य प्रयोग से अवसाद युक्त अंगों के संचालन में ५ रुग्णों में सुधार देखा गया ऐसा विवरण है।

काशी हिंदू विश्वविद्यालय में संशोधन विभाग में डॉ. पी. जे. देशपांडे जी के नेतृत्व में अन्वेषकों ने ४५ रुग्णों पर नस्य का प्रयोग किया। जीर्ण शिरःशूल में, एलर्जित राईनाईटिस एवं साईनोसाईटिस साईनोसाइटिस के पुनरावर्तन पर प्रभावकारी परिणाम देखा गया ऐसा विवरण है।

प्रतिमर्श नस्य में ब्राह्मीघृत का नस्य ग्रंथकर्ता ने दृष्टीगौरव (जिनकी आंखों पर जल्दी नंबर वाला मोटा चश्मा लगता है) के आतुरों में किया और अनेक आतुरों में २ से ३ मास की चिकित्सा काल में नंबर कम होते हुए देखा है।

रक्तमोक्षण—रक्त दोष में रक्तमोक्षण के अनेक आतुरों में किया गया है और

त्वग्रोग के पुनरावर्तन में वह प्रभाव रखता है यह सिद्ध हुआ है। अमरावती के वैद्यराज श्री वं. ऋ्यं. म. गोगटे महोदय ने रक्तमोक्षण तथा अग्निकर्म का अत्यंत गंभीर अध्ययन किया है। अहमदाबाद में रक्तमोक्षण शिविर के लिए आपको आमंत्रित किया था और मन्या सिरा (Juglar vein) में से भी रक्तमोक्षण करा कर उन्हें कोई भय नहीं रहता यह सिद्ध किया है। ब्लडप्रेशर, त्वग्दोष और शिरोरोग को असंख्य रुग्णों में आपने रक्तमोक्षण किया है। साधारणतः ४ औंस (१ औंस = ३० c. c. लगभग) रक्त किसी भी उपद्रव के बिना निकाला जा सकता है।

इस तरह पंचकर्म शास्त्र का विहंगावलोकन करने पर प्रतीत होता है कि भारत भर के वैद्य किसी-न-किसी कर्म पर निश्चित रीति से प्रयोगात्मक संशोधन कर रहे हैं और इस सद्यःफलप्रद चिकित्सा का लाभ उठा रहे हैं। भारत में ही नहीं अपितु विदेश के शास्त्रज्ञ भी अब इस विषय में रुचि ले रहे हैं और अब वह दिन दूर नहीं जब विश्व वैज्ञानिक पंचकर्म प्रयोगों में गंभीरता से अध्ययन द्वारा अद्‌भुत साफल्य की खोजों पर प्रकाश प्रक्षेप करना शुरू कर देंगे।

संदर्भ

१. तत्र मुंचेदसृक् शृंगजलौकासूच्यलाबुभिः। प्रच्छनैर्वा सिराभिर्वा यथा दोषं यथा बलं।।
रुग्दाद तोदं शूलार्तादसृक् स्राव्यं जलौकसा। शृंगैस्तुंबैहरिद् सुस्निकंडुचिमचिमायनातं।
देशाद्देशं व्रजेत्स्राव्यं सिराभिः प्रज्जनेन वा। अंगग्लानौ न तु स्राव्यं . . . . . ।।
च.चि. २६-३६, ३७, ३८

परिशिष्ट विमर्श-२

वैद्य ह. श्री. कस्तुरे

स्नेहन-स्वेदन ये दो पंचकर्म के लिए मुख्य पूर्वकर्म कहलाते हैं। तथापि सुश्रुत के टीकाकार डल्हण ने पूर्वकर्म में 'पाचन' कर्म का भी समावेश किया है। इसका निर्देश इस ग्रंथ में पृ. ७ पर किया गया है, तथापि ग्रंथ प्रारंभ करते समय 'स्नेहविज्ञानीय' अध्याय से प्रारंभ किया गया। वस्तुतः पाचन यह कर्म ऐसा है कि वह स्नेहन से भी अधिक महत्त्व का है और न कि केवल महत्त्व का अपितु स्नेहन के पूर्व वह किया जाना चाहिए। अतएव इस कर्म पर यहाँ संक्षेप में विचार किया जाना है।

पाचन—डल्हणाचार्य ने योग्य हि कहा कि ''अन्ये तु 'संशोध्यस्य' पाचन स्नेहन स्वेदनानि पूर्वकर्म'' अर्थात् शोधन के पूर्व पाचन-स्नेहन और स्वेदन करना चाहिए ऐसा अन्य आचार्य कहते हैं। यह 'अन्य' कौन है इसकी स्पष्टता नहीं है, तथापि चरकादि सभी आचार्यों ने पाचन पर विशेष जोर तो दिया ही है। सुश्रुत कहते हैं—

'मंदाग्नि क्रूर कोष्ठश्च सक्षार लवणैर्धुतै।
संधुक्षिताग्निं स्निग्धश्च स्विन्नंचैव विरेचयेत्'।। सु. चि. ३३

अर्थात् जिसका अग्नि मंद हो, और कोष्ठ क्रूर हो उसे क्षार और लवण से मिश्र घृत से अग्नि दीप्त होने पर स्नेहन और स्वेदन कराकर विरेचन देना चाहिए।

चरक ने इसे और स्पष्ट करते हुए कहा है कि जब सर्व शरीर में आग के साथ दोष प्रसृत हो जाते हैं, तब उनका सहसा निर्हरण नहीं करना चाहिए। यदि ऐसा किया जाएं तो न वे दोष जिस आश्रय में स्थित है उसी धात्वादि का नाश करते हैं। एतदर्थ एक दृष्टान्त दिया है— जिस तरह कच्चे फल में से यदि रस निकालने की कोशिश की जाए तो वह फल ही नष्ट होता है लेकिन रस नहीं निकलता— उसी तरह धातुओं में लीन होकर जो दोष चिपक कर बैठे हैं, उन्हें बिना पाचन किए निकालने की कोशिश करने पर वह आशय नष्ट होता है लेकिन दोष नहीं निकलते। उन्हें निकालने के लिए पाचन-दीपन प्रकार के स्नेह दे कर स्वेदन कराकर निकालने चाहिए। (देखे पृ. १५)

पाचन कर्म क्या है ? वह कैसे करे ? क्या बास्ति-नस्य-रक्तमोक्षण इत्यादि सभी कर्मों के पूर्व यह करना जरूरी है ? अथवा मात्र वमन-विरेचन कर्म के लिए ही जरूरी है ?

डल्हण ने तो स्पष्ट किया है कि पाचन, स्नेहन, स्वेदन ये पूर्वकर्म है, वमन, विरेचन, बस्ति, नस्य और सिरामोक्षण (रक्तस्रुति) ये प्रधान कर्म है— इससे स्पष्ट है कि सभी कर्मों के पूर्व पाचन करना चाहिए।

आयुर्वेद ग्रंथों में पाचन शब्द का प्रयोग प्रायशः 'दीपन पाचन' अथवा आमपाचन, अग्निदीपन इस नाम से किया जाता है। क्या दीपन पाचन एक ही क्रिया है या अलग ? सिद्धांत की दृष्टि से देखे तो दोनों अलग है। दोनों की भी अलग-अलग व्याख्याएं ग्रंथ

में की गई है। व्यवहार में दोनों को अलग ढंग से प्रयोग करना अशक्य तो नहीं है लेकिन कठिन अवश्य है।

पाचन की व्याख्या शार्ङ्गधर ने इस प्रकार की है— ''पचत्यन्नं न वह्निं च कुर्यात्तद्धि पाचन ? नागकेश्वरवद् विद्यात् .....' शारंगधर पूर्वखंड पूर्वखंड अर्थात् जो औषधि अन्न का आम का पाचन करती है लेकिन अग्नि को नहीं बढ़ाती वह पाचन कहलाती है। वह अग्नि स्थान में रहने वाले पाचक स्रावों को नहीं बढ़ाती। उदाहरण के लिए नागकेशर। अग्नि मंद होने के कारण आम उत्पन्न होता है। पाचन द्रव्यों में अग्नि और वायु महाभूत की प्रधानता होती है। इसलिए वे सामान्य से अग्नि बढ़ावे यह तर्क्य है। अग्नि दीपन हुए बिना आम का पाचन कैसे होगा यह प्रश्न होगा। फिर भी—प्रायोगिक विधि में यह शक्य होता है। उदाहरण अजीर्ण में केवल गरम पानी से भी अपक्व अन्न का पचन होता है। गरम पानी अग्नि स्रावों को बढ़ाते हैं ऐसा कहा नहीं जा सकता। धान्यक-धनिया, पिप्पलीमूल, लौंग, मरिच, सूंठ, नागरमोथा से पाचन द्रव्य के उदाहरण है।

आम पाचन हो जाने के बाद स्वभावतः ही अपने आप अग्नि दीपन होकर भूख खुल जाती है। इसलिए पाचन द्रव्यों का भी अंततोगत्वा कार्य दीपन तो होना ही है। डल्हण ने पूर्वकर्म में पाचन कहा है— वहां दीपन का प्रयोग न करे ऐसा अर्थ नहीं होता 'दीपन पाचन' शब्द ही लेना अधिक उचित है। जिस आतुर को वमन या विरेचन त्याग शोधन करना हो उसका शरीर स्नेहपान के लिए अधिक सक्षम बने तदर्थ उसे दीपन पाचन देकर उसे भूख अधिक लगे, पहले रहे हुए आम का संपूर्ण पाचन हो जाए यह बहुत जरूरी होता है। शोधन पूर्व स्नेह प्रक्रिया में अग्नि मंद होकर उत्पन्न आम-धातुनाशकारक कोई अवस्था खड़ी न करें इसलिए दीपन पाचन प्रथम आवश्यक ही है। दीपन की व्याख्या शारंगधर इस प्रकार करते हैं— ''पचेन्नामं न वह्निकृच्च दीपनं तद् यथा मिसि'' अर्थात् जो औषधि द्रव्य आम का साक्षात् पाचन नहीं करते किंतु अग्नि को उद्दीप्त करते हैं, अर्थात् अग्नि स्रावों को बढ़ाते हैं उन्हें दीपन कहते हैं उदाहरण मिश्रेया-मिसि। इन द्रव्यों में अग्नि, वायु और पृथ्वि महाभूत की प्रधानता होती है। चित्रक, हिंग, मरिच, जीरक, अजवाईन, अद्रक, मधु, तक्र, क्षार ये सब दीपन के उदाहरण हैं।

पंचकर्म पूर्व जो दीपन पाचन करने के लिए कहा है वह दीपन पाचन घृत द्वारा करने का विधान है। घृत-अग्नि प्रदीपक कहा गया है। उचित मात्रा में इसका प्रयोग अग्निवर्धक होता है, तथापि चूर्ण, बटी, क्वाथ, पेया, विलेपी, यूष आसव, अरिष्ट इत्यादि अनेक कल्प दीपन पाचन के लिए प्रयोग कर सकते हैं। यहां उदाहरण के लिए कुछ कल्पों को निर्दिष्ट किया जाता है।

दीपन पाचन चूर्ण— पंचकोल चूर्ण, क्षारद्वय चूर्ण, पिप्पल्यादि चूर्ण, लवण-भास्कर चूर्ण, शिवाक्षार पाचन चूर्ण, त्रिकटु चूर्ण, हिंग्वष्टक चूर्ण, अग्नि मुख चूर्ण, चित्रकादि चूर्ण ये सब दीपन पाचन कारक है। इन्हें १ से ३ ग्राम मात्रा में तक्र के साथ या उष्णोदक के साथ प्रयुक्त करें।

दीपन पाचन बटी कल्प— शंखवटी, चित्रकादि बटी, लशुनादि बटी, आम-पाचन बटी, अग्नितुंडी बटी, जंबीर लवण बटी, विषतिंदुक बटी, इत्यादि १-२ से ३ गोली दो बार भोजन के बाद या भोजन के पूर्व भी इसका प्रयोग किया जा सकता है।

दीपन पाचन क्वाथ—बीजपूरादि क्वाथ, पिप्पल्यादि क्वाथ, धान्य पंचक क्वाथ, धान्यनागर, क्वाथ, शुंठी जीरक क्वाथ, जीरकादि क्वाथ, ऋषभणादि क्वाथ इत्यादि दीपन पाचन क्वाथ है। इन्हें २।। से ५ तोले के मात्रा में प्रयुक्त करें।

दीपन पाचन घृत—पिप्पल्यादि घृत, हपुषादि घृत, द्राक्षादि घृत, ऋषभणादि घृत, क्षीर, षट्पलक घृत, क्षार घृत, इत्यादि घृत की मात्रा २ तोले से ४ तोले तक दी जा सकती है।

आसवारिष्ट—कभी आसव अरिष्ट दीपन पाचन गुण वाले होते हैं। दशमूलारिष्ट, खदिरासव, पंचकोलासव, द्राक्षासव, मूलासव (च. चि. १५), मधूकासव (च. चि. १५) जीरकाद्यरिष्ट, कुमारी आसव इत्यादि ये सभी आसवारिष्ट २ तोले की मात्रा में भोजनोत्तर दिये जाते हैं।

पेयादि— पेया, विलेपी, यूष, यवागु सभी दीपन पाचन होते हैं। चरक ने सूत्रस्थान के दूसरे अध्याय के अंत में अनेक पेया और यवागु का वर्णन किया है। वे सब दीपन पाचन है।

चरक कहते हैं—

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि यवागूर्विविधौषधाः।
विविधानां निकाराणां तत्साध्यानां निवृत्तये।। च. सू. २-१७

और अंत में कहते हैं—

अष्टाविंशतिरित्येक्ता यवाग्वः परिकीर्तिताः।
पंचकर्माणि चाश्रित्य भोक्तो भेषज संग्रहः।। च. सू. २-३४

अर्थात् यहां पर २८ यवागुओं का उल्लेख है। इनका प्रयोग पंचकर्म जनित अग्निमांद्य को दूर करने के लिए किया जाता है। इन यवागुणों में पिप्पल्यादि यवागु, कपित्थ यवागु, शालपर्ण्यादि यवागु, दाडिमादि यवागु, हीबेरादि यवागु, इत्यादि अनेक प्रयोग है। चक्रपाणि इनका प्रमाण देते हुए कहते हैं— 'यवागु साधन तावद् द्विविधं वीर्यभेदात्। तीक्ष्ण वीर्य यथा शुंठ्यादि, मध्यवीर्य बिल्वाग्निमंथादि, मृदुवीर्य चामलकादि। तत्र तीक्ष्णाणां कर्षः, मध्यानां अर्धपलम्, मृदूनां पलमित्युत्सर्गः। अर्थात् तीक्ष्म वीर्य शुंठ्यादि से बनाई हुई यवागु १ कर्ष १ तोला देनी चाहिए, मध्यवीर्य बिल्व अग्निमंथादि से बनाई हुई पेया-यवागु-आधापल। २ तोला मात्रा में दे और मृदु द्रव्य आमलकादि से बनाई हुई यवागु पल प्रमाण खाने ४ तोला मात्रा में दे। क्वाथादि में भी यह प्रमाण प्रयोगार्ह है, तदनुसार मात्रा निर्धारण करें।

२. पंचकर्म प्रयोग में कितना काल लगता है ?

संपूर्ण पंचकर्म किसी आतुर में या स्वस्थों में करना हो तो कितना काल लग सकता है इस विषय का इसी ग्रंथ के पृष्ठ २० से २२ तक विरेचन किया गया है। तदनुसार अवर शुद्धि के लिये लगभग १२२ दिन, मध्य शुद्धि के लिए ८५ दिन और अवरशुद्धि के लिए ५७ दिन लगते हैं। इस क्रम में जो दिन संख्या अधिक है उससे उस काल में औद्योगिक युग में लोगों को इतना समय निकालना कठिन होता है, और यह काल किस तरह कम

किया जा सकता है ये प्रश्न मुझ से बारबार पूछे जाते हैं। खास करके अमेरिका में मैं प्रवचन देता था उसमें लोगों का यह प्रश्न रहता कि यह काल कम कैसे किया जाए? और भारत में प्रश्न यह पूछा जाता है कि संपूर्ण पंचकर्म करने के लिये व्यय कितना लगता है ? क्या यह खर्च कम किया जा सकता है ? यदि हम काल कम कर सके तो व्यय भी कम होता है। लेकिन प्रथम हम पहले प्रश्न का उत्तर देखेंगे।

यह देखा जाता है कि काल का प्रमाण बढ़ने का कारण मुख्यतः बस्ति कोर्स है और दूसरा कारण संसर्जन क्रम है।

बस्ति संख्या कर्म-काल और योगबस्ति प्रकार से ३०, १५ और ८ दिन होती है जिसका द्विगुण परिहार काल-विश्राम काल होकर ६०, ३० और १६ दिन की वृद्धि होती है। इसमें कटौती करने के लिए दो विधियां है, एक तो सभी में योगबस्ति कोर्स (८ दिन) करे। दूसरा उपाय इन परिहार काल में आतुर के चिकित्सालय में रखे बिना घर पर विश्राम कराना। जिससे पंचकर्म चल रहा है यह मानसिक भावना नहीं रहेगी।

दूसरी और विधि यह है कि बस्ति के लिए शास्त्र में एक अन्य प्रकर की भी संख्या दी है। कफज विकारों में १-३ बस्तियां पित्तज विकारों में ५ से ७ बस्तियां और वातज विकारों में ६ से ११ बस्तियां देने का विधान है। कुछ विद्वानों का मत है कि यह क्रम तो योगावस्था में होने से इसे स्वस्थवृत्ती सा रसायनकांक्षी पुरुषों में प्रयोग नहीं कर सकते। इसका उत्तर यह कि एक तो स्वास्थ को हम 'तथाशक्ति स्वस्थ' कहते हैं। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य को कुछ-न-कुछ स्वास्थ्यविषय की समस्या तो होती ही है— उसको ध्यान में रखकर वात-पित्त-कफ दोषों का निर्धारण कर बस्तिसंख्या सीमित की जा सकती है। यदि रोग के अनुसार विचार करना न हो तो प्रवृत्ति के अनुसार विचार किया जा सकता है, और वात प्रकृति, पित्त प्रकृति—और कफ प्रकृति में ६-११, ५-७ तथा १-३ बस्तियाँ देकर अवधि कम कर सकते हैं। मिश्र प्रकृति में—वात पित्त में ११ पित्तकफ में ३/५ और वातकफ में ६ बस्तियां दी जा सकती हैं।

कालक्रम में अधिकता का दूसरा कारण संसर्जन क्रम है। प्रवर शोधन में ७ दिन, मध्य शोधन में ५ दिन और अवर शोधन में ३ दिन तक संसर्जन क्रम दिया जाता है। इसे वमनोत्तर और विरेचनोत्तर दो बार करने से ६ से १४ दिन तक काल बढ़ता हैं। संसर्जन क्रम में पेया विलेपी १ दिन, दूसरे दिन खिचड़ी (यवागु) और तीसरे दिन लघुभोजन दीपन पाचन औषधों के साथ देने पर ५ से ७ दिन संसर्जन क्रम के समान अग्नि संधुक्षण हो सकता है और कुछ काल कम किया जा सकता है।

पंचकर्म में व्यय—पंचकर्म खुद खर्चीली चिकित्सा पद्धति है। अधन तथा करणविहीनों के लिए पंचकर्म नहीं करना चाहिए ऐसा स्वयं ग्रंथकार कहते हैं। राजाओं तथा राजाओं के समान जो धनिक हैं उनके लिए यह विशिष्ट चिकित्सा व्यवस्था है, तथापि सामान्य वैद्य चिकित्सा व्यय कम करने के लिए अनेक उपाय कर सकता है। चिकित्सा व्यय बढ़ने के कारण ये हैं— (१) आतुरालय में मेहनत का काम करनेवालों को मासिक पगार अच्छा खासा देना होता है। (२) तेल, घी इसका प्रचुर उपयोग है और इसका मूल्य काफी बढ़ा हुआ है। (३) बस्ति में स्नेह का प्रमाण तथा पिषिंचिल अवगाह जैसे स्वेद में तैल का प्रमाण बहुत अधिक लगता है। (४) शिरोधारा में तैलादि का

उपयोग अधिक लगता है। (५) वैद्य स्वयं अपनी कार्यशैली के अनुसार उसकी फीस बहुत अधिक रहता है।

प्रथम कारण अनिवार्य है। फिर भी वैद्य नये शिक्षणार्थी (अप्रेंटिस) रखकर उन्हें शिष्यवृत्ति (Stipend) देकर यह व्यय कम कर सकता है। तैल और घी का निर्माण वैद्य स्वयं करे तो आधा खर्च कम हो सकता है। दशमूल तैल, माष सैंधव तैल, अश्वगंधा तैल जैसे तैलों का निर्माण बहुत सरल है। बस्ति को बृंहण विधि (Drils method) से देने पर स्नेहों की वमन हो कर परिणाम भी शीघ्र और सुंदर मिलते है। आखरी समस्या वैद्य की अपनी है।

पंचकर्म चिकित्सा के महत्त्व के विषय में—इस ग्रंथ के पृष्ठ २५ से ३० तक विस्तारपूर्वक यह विषय समझाया गया है। अब इस संबंध में कुछ खास बात यहां स्पष्ट करनी है। आयुर्वेद में पंचकर्म द्वारा स्त्रोतस शोधन को महत्त्व दिया गया है। स्त्रोतस क्या है। शरीर के अणु परमाणु (cell) स्तर पर जो बारीक-बारीक आकाशीय तत्त्व छिद्र रूप में है उसे स्त्रोतस कहते हैं। 'नियत सुषिरमणि' कहा गया है। इन स्त्रोतस के द्वारा ही सभी मूर्तमान भावों की उत्पत्ति होती है और जब तक से प्रावृत्त रहते हैं तब तक व्यक्ति निरोगी रहता है। इनके विकृत होने पर व्याधि प्रारंभ होती है।

चरक कहते हैं, ''सर्वे हि भावाः पुरुषे नांतरेण स्त्रोतां स्यभिनिर्वतंते। क्षयं वाप्याधिगच्छति। ..... तदेतत्स्त्रोतसां प्रकृतिभूतत्वात् न विकोरेरुपसृज्यते शरीरम्।'' (च. वि. ५, १ से ६) अब इस तथ्य को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में देखें—

"We know that all the cells of the body are supplied with information and nutrients through certain channels. The key Neutrient channels are the capillaries. Thus leading investigators today are convinced that 'you are as old as your capillaries'. The use of the capillary Microscope displays the 'drying of the capillaries' with age. Age and death go hand in hand with withering of pathways feading to the cell. It makes sense. It also is visible through the microscope. If we can keep these pathways open and elastic we can keep on living.

Naturama living text book Page-75

इसी को चरक ने शोधन गुणकर्म में, 'जरां कृच्छेण लभते चिरं जीवत्यनामयः।। (च. सू. १६) इत्यादि द्वारा स्पष्ट किया है।

आधुनिक वैज्ञानिकों का मत है कि मृत्यु का प्रारंभ आंत्र से होता है। न कि हम समझते हैं उस तरह हृदय, वृक्क, यकृत या मस्तिष्क के द्वारा मृत्यु समीप आती है

इस विषय में स्मर्तव्य है कि कुछ दिन पूर्व लदंन में एलेमेंटरी टोक्सीमिया (Alimentary Intestinal Toximia) पर सभी आधुनिक विशेषज्ञों की परिषद् हुई थी। जिसमें रॉयल कॉलेज ऑफ मेडिसिन विभाग में ५७ अति प्रसिद्ध मान्यता प्राप्त चिकित्सक, शल्यज्ञ तथा वैज्ञानिकों ने भाग लिया था। उनके मत के अनुसार आंत्र में अत्यधिक मात्रा में विषकारी द्रव्य सतत पैदा होते हैं और उनका निर्हरण योग्यकाल में न हुआ तो अनेक भयानक रोग उत्पन्न होते हैं जो मनुष्य को मृत्यु के समीप ले जाते हैं। उस चर्चा का सार नीचे उद्धृत किया जाता है।

"The following is a list of the various poisons noted by the several speakers. Indol, Skarol, Phenol, Cresol, Indican, Sulfurated, Hydrogen, Amonia, Histidine, Indicane, Urrobitin, Methyemlmereaptan, Terramerthylendiamin, Pentamethy lendiamin, Putrscin, Neurin, Cholin, Muscarine, Butrie acid, Bera-Imida 220 lenthylamine, Ptomarropine, Botulin, Turamine Agamatine, Tryptophane, Scpsin, Idolathylamine, Sulpherroglobine. Amonque the poisons mentioned above, several are highly active, producing more profound effects and in very small quantities, in case of alimentary toximia—one or a combination of these poisons is constantly bathing the delicate body cells and setting up changes which finally results in grave diseases. It should be understood that these finding are not merely theories, but are the results of demonstration in actual practice by eminent physicians ".

(संदर्भ १०८, १०६ पृष्ठ १२३)

उपर्युक्त बार्गन से यह स्पष्ट होता है कि अग्निमांद्य आम और स्त्रोतोरोध इन कारणों से मनुष्य की आयु अनेक वर्ष से घट जाती है और उसे ठीक करने का उपाय मात्र पंचकर्म चिकित्सा है। इसी लेखक ने कहा है—

"Then why do we die ? Because we fail to throw off the waste products set free by our cells. Because we fail to keep our system clean. Our arterier harden because of the deposits left in them. Our cells dry up because their pores (स्त्रोतस) become so clogged with waste that they can no longer absorb the life giving substance around them. Learn how to clean the cells and there is no reason why you cannot prolong life ".

स्त्रोतस शोतन का और अच्छा वर्णन क्या मिलेगा ?

शोधन कर्म के लिये ऋतु क्रम कौनसा ले ?

विषय प्रवेश विज्ञान में ऋतुचर्या में पंचकर्म विषय पर पृ. १६ से १९ तक एक सविस्तार नोंद की गई है। ऋतु के संबंध में ग्रंथों में मतमतांतर है। चरक संहिता में ही प्रावृडारि और शिशिरादि ऐसे दो अलग-अलग क्रम ऋतु के दिये हैं। इसलिये शोधन कार्य में काफी संभ्रम होता है। मैं जब अमेरिका में था तब यही प्रश्न बारबार पूछे जाते थे। वहां तो ऋतुओं में भी बहुत वैचित्र्य है, और अलग प्रांतों में अलग-अलग प्रकार के ऋतु चलते हैं। ऋतु का विभाजन शीत, उष्ण और बरसात के मान पर ही नहीं अपितु क्लेद पर भी निर्भर करता है। ऋतु के संभ्रम को दूर करने के लिए अष्टांग हृदय के टीकाकार पं. हेमाद्रि ने बहुत ही सुंदर विश्लेषण दिया है उसे नीचे संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं।

वाग्भट नें माघ, फाल्गुन शिशिर ऋतु, चैत्र-वैशाख बसंत ऋतु, ज्येष्ठ-आषाढ़ ग्रीष्मऋतु, श्रावण-भादप्रद वर्षा ऋतु, अश्विन-कार्त्तिक शरद ऋतु, मार्गशीर्ष-पौष-हेमंत ऋतु इस तरह विभाजन किया है। इस पर हेमाद्रि कहते हैं— सुश्रुत ने भाद्रपदादि से वर्षादि ऋतु बताए हैं। उनके क्रम से—भादप्रद—अश्विन—वर्षा ऋतु, कार्तिक—मार्गशीर्ष शरद ऋतु, पौष—माघ हेमंत ऋतु और फाल्गुन-चैत्र वसंत ऋतु, वैशाख ज्येष्ठ ग्रीष्म ऋतु,

आषाढ़ श्रावण प्रावृड् ऋतु, ऐसे ऋतु होते हैं। यह क्रम अलग प्रकार से होने से विरोध हो जाएगा। तो ऐसा नहीं समझना चाहिए। न कि फाल्गुन चैत्र वसंत ऋतु है और न चैत्र-वैशाख वसंत ऋतु है, परंतु मीन और मेष को वसंत समझे। जब फाल्गुन मास के आदि में मीन संक्रांति (सूर्य का मीन राशि में भ्रमण) होगी तब फाल्गुन चैत्र वसंत ऋतु होगा, जब फाल्गुन मास के अंत में मीन संक्रांति होगी तब चैत्र-वैशाख वसंत ऋतु होगा। इसी तरह वृषभ और मिथुन में ग्रीष्म होगा, कर्कट सिंह में वर्षा, कन्या-तुला में शरद, वृश्चिक-धनु में हेमंत, मकर-कुंभ में शिशिर— इस तरह ऋतुओं को समझे। ज्योतिष शास्त्र में कहा गया है, "मृगादि राशिद्वय भानु भोगात् षडर्तवः स्युः शिशिरो वसंतः। ग्रीष्मश्च वर्षा च शरच्च तद्वत् हेमंत नामा कथितोत्र षष्ठः" दर्शाविधिं मासमुशंति चांद्र सौरं तथा भास्कर राशि भोगात्' त्रिंशद् दिन सावन संज्ञ मार्या नाक्षत्र मिंदोर्भ गण भ्रमाच्च" अर्थात् मृग अपि दो-दो राशि में जब सूर्य का भ्रमण होता है तब तक एक ऋतु रहती है इस तरह छः ऋतुओं बनती है। वे क्रमशः शिशिर, वसंत, ग्रीष्म, वर्षा, शरद और हेमंत है। जो मास अमावस्था में पूर्ण होता है उसे चांद्र मास कहते हैं, और जो सूर्य के राशि भोग के अनुसार होता है उसे सौर मास कहते हैं। सावन संज्ञक मास के ३० दिन कहे जाते हैं, और चंद्र के नक्षत्र भ्रमण के साथ उसे जोड़ा जाता है। इसे आवश्यक तथा स्वीकार करना पड़ेगा। यदि ऐसा न करे तो अधिक मास जब आता है (प्रत्येक २।। वर्ष के वाद अधिक मास आता हैं— इस वर्ष आषाढ़ अधिक मास है।) तब एक ऋतु ३ मास का मानना पड़ेगा। इस दृष्टिकोण का ध्यान में रखकर अष्टांग संग्रह में वाग्भट कहते हैं—

"मासराशि स्वरुपाख्यमृतोर्यलक्षणत्रयम्।
यथोत्तरं भजेच्चर्यां तत्र तत्र बलादिति।।" सू. अ. ४

अर्थात् मास और राशि लक्षणों के अनुसार ३ प्रकार के ऋतु (उष्ण, वर्षा और हिम) के लक्षण होते हैं उनके अनुसार ऋतुचर्या का सेवन करना चाहिए। आगे हेमाद्रि कहते हैं कि मास के लक्षणों की अपेक्षा राशि लक्षण अधिक बलवान होते हैं। इसलिये राशि लक्षणों को ही स्वीकार किया गया है जो योग्य है, क्योंकि लक्षणों का तो ऋतु विपर्यय भी हो जाता है। अष्टांग संग्रह में इस दृष्टिकोण से कहा है, (सू. ४) कि उस उस ऋतु में उन ऋतु के लक्षण हो तो ही इस प्रकार की चर्या करे, अन्यथा जो ऋतु के लक्षण उत्पन्न हो उसी प्रकार की चर्या करे। अतएव शिशिरादि क्रम और प्रावृडादि क्रम में संज्ञा मात्र का भेद समझे। कुछ विद्वान अन्न रसादि में संभाव्य हीनादि लक्षणों के आधार पर शिशिरादि छः ऋतु और पंचकर्म के शोधन को ध्यान में रखकर प्रावृडादि छः मानते हैं। वह गलत है, चरक संहिता, खारण संहिता में भी शिशिरादि षट्क को ध्यान में रखकर ही चयादि क्रम बताकर चैत्र, श्रावण, कार्तिक में शोधन क्रम बताया है। इन मास में शोधन क्रम के लिये ऋतु की अपेक्षा नहीं है। हेमाद्रि के मत से गंगा के उत्तर तीर पर शीताधिक्य से और दक्षिण तीर पर वर्षाधिकता से क्रमशः प्रावृडादि और शिशिरादि क्रम बताते हैं वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि दोनों स्थानों में चार मास वर्षा और शैत्य तो होता ही है। दोनों देशों में अश्विन मास में दिव्योदक ग्रहण बताया है। यदि ऋतुभेद होता तो दोनों का दिव्य जल भी अलग-अलग ऋतु का होता। इस तरह वाग्भट ग्रन्थानुसार जो ऋतु का शोधनार्थ दिये हैं वे ही उचित है।

स्नेह विज्ञान विषय में—घृत, तैल, वसा और मज्जा इनको उत्तम स्नेह माना गया है। इस ग्रंथ में पृष्ठ ५३ से ५६ तक चरक सुश्रुतादि वचनों के आधार पर इनके गुणों की विस्तृत चर्चा की है। अष्टांग हृदय कार वाग्भट ने सूत्र स्थान अध्याय ५ में इनके अनेक विशेष गुणों पर प्रकाश डाला है और टीकाकार अरुणदत्त तथा हेमाद्रि ने कुछ विशेष बातें भी निर्दिष्ट की है उनका संक्षिप्त सार यहां प्रस्तुत किया जाता है। कहा है—

स्नेहानामुतमं शीतं-वयसः स्थापनं परं।
सहस्त्रवीर्य विधिभिर्धुतं कर्म सहस्त्रवृत्।। सू. ५-३६

अर्थात् सभी स्नेहों में घृत उत्तम है। वह शीतवीर्य है, वय स्थापन है और विधिपूर्वक उपयोग करने से हजारों काम करता है।

यहां 'सहस्त्रवीर्य' शब्द का अलग-अलग प्रकार से अर्थ किया है। अरुणदत्त कहते हैं सहस्त्र शब्द अनेकार्थवाची है। अर्थात् घी में अनेक प्रकार की शक्ति है। कैसी ? संस्कार के द्वारा वह अनेक प्रकार से शक्ति युक्त होता है। जिस द्रव्य का संस्कार उस पर किया जाता है, उसके शक्ति को वह बढ़ाता है अथवा उसके संयोग से कोई अलग प्रकार की भी शक्ति (शक्त्यंतर) उसमें आती है। इसलिए 'सहस्त्र' शब्द का प्रयोग किया है। द्रव्य तो असंख्य है, इसलिए १० × १०० सहस्त्र शब्द कैसे लगाया जा सकता है ? वह यहां अनेकार्थी है। दूसरे विद्वान इसे दस गुने सौ—१००० शब्द का ही बोधक मानते हैं। वे कहते हैं कि यहां सहस्त्रपाकी घृत को अनेक कर्म कृत् कहा है। यहां घी के १००० बार ही पाक करने का ही निर्देश है न कि उससे अधिक ऐसा अर्थ लेते हैं, क्योंकि एक सहस्त्र से अधिक पाक आवश्यक नहीं है। हजार बार पाक करने तक उस घी में अनेक प्रकार की शक्ति (शक्त्यंतर) आ जाती है। उसके बाद पाक करने पर भी कोई विशेष प्रकार का शक्त्यंतर नहीं होता। अर्थात् यह सहस्त्र पाकी घृत के विशेष गुण यहां निर्दिष्ट है, ऐसा समझना चाहिये। योग, संस्कारादि के द्वारा यह सम्पन्न होता है। हेमाद्रि ने विधि के स्पष्टीकरण में योग, संस्कार, पान, अभ्यंग, अनुवासन इत्यादि द्वारा ऐसा अर्थ कर सहस्त्रपाक शब्द पर कोई विस्तरण नहीं किया।

आज कल दक्षिण की फार्मेसियां तैल खास कर क्षीरबला तैल को भी सहस्त्रपाकी बनाकर अनेक कर्मों में शक्ति उत्पन्न बनाते हैं।

तैल—तैल के गुणों में अष्टांग हृदय में एक विशेष स्पष्टीकरण मिलता है। वाग्भट कहते हैं—

तैलं स्वयोनिवत्तत्र मुख्यं तीक्ष्णं व्यवायि च।
त्वग् दोषकृदचक्षुष्यं सूक्ष्मोणां कामकृन्नच।।
कृशानां बृंहणायालं स्थूलानां कर्षणाय च।
बद्धविद्कं कृमिघ्नं च संस्कारात्सर्व रोग जित्।। सू. ५-५५, ५६

अर्थात् तैल जिस द्रव्य (तिल, एरंड, सर्षप इत्यादि) से बनाया जाता है उसके गुणों के अनुसार कार्य करता है। मुख्यतः वह तीक्ष्ण है, व्यवायी, त्वचा की दुष्टि (त्वक् दुष्टि कृद्) करता है। आंख के लिए अहितकर है। सूक्ष्म हैं, उष्ण है, कफ नहीं बढ़ाता।

कृशों को स्थूल बनाता है और स्थूलों को कृश करने में उपयोगी है। विबंध कृमि नाशक है और संस्कार से सभी प्रकार के रोगों को जीतता है।

यहां पर 'त्वक् दोष कृत्' और 'त्वग् दोषं हृत्' ऐसे दो पाठ है। शिवदास ने द्रव्यगुण संग्रह टीका में इसे त्वक् दोष कृत कहा है। अरुणदत्त टीका में कहते हैं, ''तथा त्वग् दोषवृत्पानाभ्यासेन त्वचं दूषयति'' इसका अर्थ यह हुआ कि अभ्यंग के अथवा आभ्यंतर तैल पान करने से त्वचा की दुष्टि होती है। अरुणदत्त समंत तो यही अर्थ हुआ। इंदु तथा चंद्रनंदन इन दो टीकाकारों ने ''अथवा त्वक् दोषान् कृतंति-छिन्नति'' ''कृति छेदने इत्यस्य धातो रसं प्रयोगः'' ऐसा स्पष्टीकरण करके त्वक् दोष कृत् शब्द का अर्थ भी त्वक् दोष को नष्ट करने वाला ऐसा किया है। हेमाद्रि ने इसका समन्वय करते हुए कहा है, कि सुश्रुत ने इसे त्वक् प्रसादन और चक्षुष्य कहा है, यहां त्वक् दोष कृत् और अचक्षुष्य कहा है— यह विरोध कैसे ? हेमाद्रि कहते हैं कि इसका निराकरण यह है कि आभ्यंतर पान में यह त्वक् दोषकर और नेत्र के लिये अहितकर है किंतु अभ्यंग में त्वक् प्रसादन और चक्षु के लिये हितकर है ऐसा समझे।

दूसरा महत्त्व का स्पष्टीकरण 'कृशानां बृंहाणाय' और 'स्थूलानां कर्षनाय' के सम्बन्ध में अरुणदत्त कहते हैं कि, एक ही वस्तु ऐसे को परस्पर विरुद्ध कार्य कैसे कर सकती है ? कहते हैं कि— कृश लोगों में स्त्रोतस संकुचित होने के कारण दूसरे बृंहण करने वाले द्रव्य भी प्रविष्ट नहीं होते। जिससे वे बृंहण नहीं कर सकते। तैल उष्ण-तीक्ष्णादि गुणों के द्वारा शीघ्र ही स्त्रोतस में प्रविष्ट होकर उनका शोधन करता है जिससे द्रव्यों का प्रवेश और पाचन, शोषण प्रारम्भ होकर बृंहण होता है। स्थूलों में उष्ण तीक्ष्ण गुणों के द्वारा स्त्रोतसों में प्रविष्ट होकर मेद का क्षपण करता है। इससे कर्षन होता है। इस तरह दोनों कार्य सम्पन्न होने से 'कृशानां बृंहणायालं ....' इत्यादि उचित ही है।

हेमाद्रि ने इसी को स्पष्ट करते हुए—कृशों के संकुचित स्त्रोतसों को शुद्ध करने के बाद वहां इसका संवहन (आहार का पोषक रस धातु) योग्य हो जाने से बृंहण होता है यह बताया है और स्थूलों में धातु साम्य करता है ऐसा कहा है।

इस श्लोक में और एक विरोधाभास पर अरुणदत्त ने स्पष्टीकरण किया है। 'तैल अगर स्वयोनिवत्' है तो तिल योनि होने से वह 'कफकृत्' होगा। 'कफ कृन्न च' कैसे होगा ? अष्टांग संग्रह में वाग्भट कहते हैं, ''मेध्यास्तिलः स्पर्श शीतो मेध्यं तैलं खलो हिमः। तस्यैव श्लेष्म कर्तृत्वं न तैलस्य खलस्य वा।'' अर्थात् तिल मेध्य और शीत हैं, तैल मेध्य हैं, खल (तिल की खली) शीत हैं— वे ही (तिल) कफकारक हैं। तैल या खल कफकारक नहीं हैं।

स्नेह व्यापद प्रतीकार के बारे में—स्नेह व्यापद प्रतीकार का विषय इस ग्रंथ में पृष्ठ ७१-७२ पर दिया गया है। यहां स्पष्ट किया गया है कि नाशुकारी व्यापदों में उष्णोदक, विरूक्षण, लंघन, अरिष्ट प्रयोग, गोमूत्र तक्र प्रयोग, त्रिफला, वमन, विरेचन इत्यादि मुख्य उपचार हैं।

हेमाद्रि ने अष्टांग संग्रह का संदर्भ यहां विशिष्ट प्रकार के चिकित्सा के लिए दिया है। वह विशिष्ट चिकित्सा शीतोपचार हैं। अन्यथा स्नेह पाचनार्थ सही जगह उष्णोदकोपचार की ही बात आती है। यहां कहते हैं—

स्नेहेन पैत्तिकभ्याग्निर्यदा तीक्ष्ण तरी कृतः।
स्नेहमाशु जरां नीत्वा सुनरोजोऽमितश्चरन्।।
उदीरसेत्सीपसर्गां पिपासामस्य चाधिकां।
सोऽसूं स्त्येद्यद्युकं न पिबेदाशु शीतलं।
शीतसेकावगाहांश्च तत्तुष्णा पीडितो भजेत्।।
स्नेहाग्निनः दहय मानः स्वविषेणैव पन्नगः।
अजीर्णे बलवत्यां तु शीतैर्दहयात् शिरोमुखं।।
च्छर्द ये त्तदशांतौ च पीत्वा शीतोदकं पुनः।
रुक्षान्नमुल्लिखेद्भुक्त्वा तादृश्यां तु कफनिले।।
समदोषश्च निःशेषं स्नेहमुष्णांबुनोद्धरेत्।।
ततो दोषादि बलतः पूर्वोक्तं च विधिंश्रयेत्।। अ. स. सू. अ. ५

अर्थात् स्नेहपान के द्वारा अत्यंत तीक्ष्ण हुआ अग्नि स्नेह को तुर्त पचा कर ओज के साथ इधर-उधर संचारण करता है और उपद्रव स्वरूप में तीव्र तृष्णा उत्पन्न करता हैं। यह उपद्रव इतना घातक होता है कि यदि रोगी को तुर्त शीतल जल पीने के लिए न दिया जाए तो वह प्राण त्याग करता है। इस उपद्रव में शीत जल से अवगाह, शीत जल का परिषेक (धारा) इत्यादि शीतोपचार करना हितकर होता है। वस्तुतः स्नेहपान के बाद शीत सेवन विरुद्ध है, फिर भी जिस तरह से सर्प अपने विष से ही शांत होता है उसी तरह स्नेहाग्नि द्वारा जो रोगी दग्ध हुआ है उसे शिर और मुख पर शीत द्वारा उपचार करने से शांत होता है। इसके उपरांत भी तृष्णा शमन न हो तो शीतोदक पिलाकर वमन करावे। कफ-वात का प्रकोप हो तो रुक्ष अन्न (जव इत्यादि) का भोजन कराकर वमन करावे और दोषों की समता हो तो बचा हुआ स्नेह उष्णोदक पिलाकर वमन द्वारा हरण करे। इस तरह उपद्रव (तृष्णा) शांत हो जाए, अतिस्नेह का निर्हरण हो जाए तब पहले कही गई विधि (पथ्यापथ्य) का पालन करे।

शमन बृंहणादि स्नेह में विशिष्ट स्नेह कल्प अवपीडक— शमन एवं बृंहण स्नेह के शीर्षक में इस ग्रंथ के पृष्ठ ७३-७४पर अष्टांग हृदय सूत्र स्थान के १६वें अध्याय में विस्तृत वर्णन किया गया है, तथापि वाग्भट ने सूत्रस्थान के चौथे अध्याय में एक और विशिष्ट प्रकार के स्नेह का उल्लेख किया है। उसे 'अवपीडक स्नेह' कहते हैं। जैसे अवपीड नामक नस्य का प्रकार बहुश्रुत है। अष्टांग हृदय का सूत्रस्थान चौथा अध्याय 'रोगानुत्पादनीय' नाम का है जिसमें अधारणीय वेगों के धारण करने से उत्पन्न रोग और उनके उपचार बताएं गये हैं।

इस संदर्भ में 'मूत्र' वेग को धारण करने से जो रोग उत्पन्न होते हैं, (शरीर टूटने जैसी वेदना, अश्मरी, बस्ति-मेढ्र और वंक्षण में वेदना तथा मल वेग और अधोवात–अपान वेग के अवरोध जन्य सभी रोग) उनमें अवपीड घृत का प्रयोग बताया है। कहते हैं—

''मूत्रजेषु तु पानेच प्राग् भक्तं शस्यते घृतम्।
जीर्णांतिकं चोत्तमया मात्रया योजना द्वयन्।

अवपीडक मेतच्च संज्ञितम् . . . . . ।। सु. ४।६, ७

अरुणदत्त—प्राग्भक्तं भोजनात्पूर्वम् घृतं पाने शस्तम्। जीर्णांतिकं घृतं च शस्यते। कथं ? उत्तमया मात्रया, अहोरात्र जरणया लक्षणया। योजना द्वय मेतच्चावपीडक संज्ञितं अवपीडकमुच्यते। योजन योर्द्वयं—योचनाद्वयम् प्राग्भक्त स्नेहयोजना—जीर्णांतिकं स्नेह योजना च। तत्र प्राग्भक्तं यंत्र घृतपान समंतरं भक्तं भुज्यते। जीर्णांतिकं यत् ह्यस्तनेऽन्ने जीर्णे घृतं युज्यते। प्रदेशांतरेष्वव पीडंक शब्देन योजनाद्वयमेतद् अस्मिन् तंत्रे वेद्यम्। तथा च वक्ष्यति, 'रसैः कोष्णैश्च सर्पिर्भिरवपीडक योजितैः।'' इति (अ. हृ. चि. ८-१२४) अष्टांगावतारे मूत्रोदावर्त चिकित्सायां, अवपीडक सर्पिश्च विशेषान्मूत्रजे गदे इति।।''

अर्थात्—मूत्र वेग के अवरोध के कारण उत्पन्न विकारों में भोजन पूर्व तथा भोजन जीर्णाव में उत्तम मात्रा में घृत देना हितकर है। इस तरह घृत की दो बार योजना करना 'अवपीडक' कहलाता है। इसपर अरुणदत्त का विवेचन बहुत महत्त्व का है। अरुणदत्त कहते हैं—प्राग्भक्त याने भोजन के पूर्व और जीर्णांतिकं—जीर्ण काल में घृतपान रास्त है कैसे ? उत्तम मात्रा में अर्थात् जो २४ कजाक में जरण होती है वह उत्तम मात्रा। योजनाद्वय को अवपीडक कहते हैं। भोजन के पूर्व और भोजन जीर्ण होने के बाद—यहां प्राग्भक्त का अर्थ घृतपान करके उसी समय भोजन करना यह अर्थ है और जीर्णाविक यानि स्नेह जीर्ण होने के बाद। इस तंत्र में इस योजनाद्वय को अवपीड कहते हैं। आगे (चि. ७-१२४) कहा भी हैं— सुखोष्ण मांस रस के साथ घी देना अवपीडक कहते हैं। खास करके मूत्रज उदावर्त इत्यादि रोगों में अवपीडक स्नेह देना चाहिए।

यह वाग्भट की विशेषता है। अन्य ग्रंथों में यह उल्लेख नहीं मिलता। नस्य में औषधि को पीडन कर बिंदु नाक में गिराने से अवपीड शब्द कहलाता है। संभवतः घृत भोजन के पूर्व और भोजन जीर्णांत काल में दो समय देने से दो घृतों के बीच अन्न-अवपीडन कराने से अवपीडक कहा गया है।

अभ्यंग— अभ्यंग का विषय इस ग्रंथ के पृष्ठ ८३ से ८७ तक विस्तार पूर्वक वर्णन किया है। अभ्यंग नित्य करना चाहिये (अभ्यंग माचरेन्नित्यं — अ. हृ. सू. २.) ऐसा कहा है। इस विषय में अरुणदत्त और हेमाद्रि ने दो महत्त्वपूर्ण विषयों पर नोंद लिखी है। अरुण दत्त कहते हैं, 'नित्य ग्रहणं उपलक्षणार्थ, एकं द्वि त्रिदिनांतरमपि यथोदित माचरतो न दोषः।। अर्थात् यहां नित्य शब्द उपलक्षण मात्र है। यदि हररोज अभ्यंग करना शक्य न हो तो एक दिन छोड़कर या दो दिन छोड़कर या तीन दिन छोड़कर अभ्यंग करने में भी कोई दोष नहीं है। (२) दूसरी नोंद हेमाद्रि की है। वे कहते हैं— 'स च उत्पन्नायां क्षुधि विधेयः तदा हि शुद्ध स्रोतस्तस्या रोमकूपैः स्नेहो देहं व्याप्नोति। तं चोष्मा पचति।। अर्थात् अभ्यंग हमेशा भूखे पेट करना श्रेयस्कर है, क्योंकि उस समय स्रोतस शुद्ध रहते हैं और रोमकूपों के द्वारा स्नेह का ग्रहण होकर संपूर्ण शरीर मं फैल जाता है और उष्मा (अग्नि) के द्वारा उसका पचन (शोषण) होता है। जिससे उसका कार्य उत्तम होता है।

अभ्यंग के द्वारा तैलाक्त त्वचा को दृढ़ बनाती है। त्वचा के छिद्रों में तेल बना रहने से बाहर जीने के बाद त्वचा के द्वारा कोई जीवाणुओं का प्रवेश होने का भय नहीं रहता। त्वचा की रोग प्रतिकारक शक्ति बढ़ जाती है। अहमदाबाद में लगभग ७ वर्ष पूर्व 'रोग प्रतिकार क्षमता' (Immunity) विषय पर राष्ट्रीय परिषद् बुलाई गई थी। जिसमें

भारत भर के आयुर्वेद विद्वान और आधुनिक निष्णातों ने भाग लिया था। भारत के अन्यान्य संशोधन केन्द्र, इम्युनिटी विभाग के राष्ट्रीय निर्देशक, प्रोफेसर इत्यादि लोगों ने इसमें भाग लिया था। तब आधुनिक विद्वानों ने भी अंगीकार किया कि प्रायशः रोग के जीवाणु त्वचा के माध्यम से शरीर में प्रविष्ट होकर रोग उत्पन्न करते हैं। ऐसी अवस्था में त्वचा पर लगाया हुआ तेल उन्हें रोक सकता है। सुश्रुत ने तो घर से बाहर निकलने के पूर्व नाक में भी तैल (प्रविमर्श नस्य) डालने का विधान दिया है। जिससे नासा स्रोत भिन्न होने से धूल और धुवा (वा इत्यादि) — इत्यादि नाक में से शरीर में पहुँच कर बाधा नहीं करते (देखे पृष्ठ ४५७) इस तरह अरुण दत्त ने अभ्यंग से शरीर से सर्व व्याति तेल पाचन द्वारा रोग प्रतिकार का संकेत दिया है।

खास करके विसर्ग काल में प्रातः अभ्यंग का बहुत महत्त्व बताया है।

दैर्घ्यान्निशानामेतर्हि प्रातरेण बुभुक्षितः।
अवश्य कार्य संभाव्य यथोक्तं शीलसेदनु।।
वातघ्न तैलमभ्यंगं मूर्ध्नि तैल निषेवणं।। अ. हृ. सू. ३/६-६०

अर्थात् इस काल में रात बहुत लंबी होती है। इसलिये सुबह में ही भूख लगती है। प्रातः शौचादि आवश्यक क्रिया पूर्ण कर बुभुक्षित ही अभ्यंग सेवन करें।

हेमाद्रि कहते हैं— क्या अन्नपान इच्छा के बिना ही अभ्यंग करें ? ना ! नहीं, बुभुक्षित ही अर्थात् भूख लगने के बाद ही। इससे स्रोतसों के शुद्धि का महत्त्व बारबार स्पष्ट किया जाता है यह स्पष्ट है। गात्र पर लगा हुआ संपूर्ण स्नेह निकल न जाए इसलिये ''कषायापहृतः स्नेहस्ततः स्नातो यथा विधिः'' (सू. ३-११) कहा है—अर्थात् लोध्र इत्यादि सहस्र कषाय रस प्रधान चूर्ण से स्नेह को साफ करे न कि साबुन इत्यादि द्वारा। जिससे कुछ स्नेह बचा रहता है और कषाय रस से स्रोतोमुख संकोच होकर स्नेह अंदर ही रहेगा तथा अन्य जीवाणुओं इत्यादि का अंतर्प्रवेश भी न हो सकेगा जिससे रोग उत्पन्न होने की संभावना घटती जाएगी।

तर्पण पुटपाक— नेत्र तर्पण— पुटपाकादि विषय इस ग्रंथ के पृष्ठ ९८ और १०० पर विस्तृत वर्णित है। इसका उपयोग आंख के अनेक रोगों में उद्धृत किया गया हैं। यहां सिर्फ इतना ही कहना है कि कुछ संशोधनकर्ताओं ने आंख का नंबर कम करने के लिये इसका सफल प्रयोग होता है ऐसा प्रबंध में प्रत्यक्ष प्रयोग द्वारा विश्लेषित किया है। 'अविलेक्षण' याने नजर धुंधली होना तथा शुष्कनेत्रता (Optic atrophy) में भी इसका प्रयोग वांछनीय है।

स्वेद विज्ञानीय विषय में

स्वेदन विषय इस ग्रंथ में पृष्ठ १३५ से १८६ तक अति विस्तार पूर्वक वर्णित है। स्वेद के अनेक प्रकारों का वर्णन चरक, सुश्रुत तथा वाग्भट के आधार पर किया गया है। वहां एक खास विषय काश्यप के अनुसार कथनीय था जो रह गया है।

काश्यप ने बालकों को ध्यान में रखकर स्वेदन कैसे किया जाना चाहिये इसका सुंदर वर्णन दिया है। काश्यप कहते हैं—

''जन्म प्रभृति बालानां स्वेदभष्ट विधं भिषग्।
प्रयुंजीत यथाकालं रोगदेहं व्यपेक्षया।।
हस्तस्वेदं प्रदेहश्च नाड़ी प्रस्तर संकराः।
उपनाहावगाहाश्च परिषेकस्तथाष्टमः।।
जातस्य चतुरो मासान् हस्तस्वेदं प्रयोजयेत्।
गलकर्ण शिरोमन्या कर्णाक्षि चिंबुकोरपिसि।।
अभिष्यंदात् समुच्छ्रने प्रदेह स्वेद इपयते।।''

काश्यप संहिता—स्वेदाध्याय

अर्थात् बालकों में जन्म से लेकर आठ प्रकार के स्वेद प्रयुक्त किये जाते हैं। वे हैं— १. हस्तस्वेद २. प्रदेह स्वेद ३. नाड़ी स्वेद ४. प्रस्तर स्वेद ५. संकर स्वेद ६. उपगाह स्वेद ७. अवगाह स्वेद ८. परिषेक स्वेद। जन्म के बाद चार मास के आयु तक के बालकों में हस्त स्वेद करें। यह गले पर, शिर पर, मन्या पर, कान पर, आंख पर, दाढ़ी पर (हनुपर) और उर पर करे। [दो हाथों को रगड़ कर गरमी पैदा कर आंख पर स्वेद करे। मृदु आंच पर हाथ गरम कर मन्या, उरस, गला, कान इत्यादि अवयवों पर स्वेद करे, अभिष्यंद के द्वारा शोथ उत्पन्न हो तो प्रदेह (लेप) प्रकार का स्वेद करे।

काश्यप संहिता में 'प्रस्तर स्वेद' का प्रकार अलग पद्धति से वर्णित है। चरक संहिता में शयन प्रमाण का बड़ा पत्थर (प्रस्तर) लेकर उसे भिन्न-भिन्न प्रकार से गरम कर आतुर को उस पर सुलाकर स्वेदन करने का निर्देश है। काश्यप ने प्रस्तर का अर्थ पत्थर नहीं किया। प्रस्तरण, आस्तरण, संस्तरण— यानि कोई वस्तु बिछाने के अर्थ में लिया है। कहते हैं—

''उष्णान् पुलाकानास्तीर्य पायसं कृशसदिका।
वाससांतरिते बालमभ्यक्तं शायर्यत्सुखम्।।
पंचागुलोरु बूकार्क पत्रैर्वा स्नेहितोष्णितैः।
प्रस्तर स्वेद मित्यादुरभीक्ष्ण परिवर्तिनः।।''

अर्थात् गरम-गरम पुलाक (धान्य), अथवा पायस खिचड़ी इत्यादि को कपड़े पर बिछाकर बालक को अभ्यंग कराकर उस कपड़े में लपेट कर स्वेदन करें। अथवा एरंड पत्र, अर्कपत्र, इत्यादि को स्वेद के साथ गरम कर आस्तरण कर उस पर लिटाकर स्वेदन करें। इस तरह बारंबार ढँडे हुए पत्रादि को बदलकर स्वेद करे। इसी प्रकार का वर्णन अष्टांग संग्रह में वाग्भट ने दिया है और उसे संस्तर स्वेद कहा है।

वमन विज्ञान के विषय में—वमन के बारे में विस्तृत वर्णन पृष्ठ १९८ से २६० तक दिया गया है। यहां एक दो बातें संक्षेप में करनी है। छोटे बच्चों में शोधन-वमनादि कैसे करे ? काश्यप कहते हैं—

''शिशोर्व्याधौ समुत्पन्ने धात्रीणामेव शोधनम्।''

(वमन विरेचन सिद्धि अध्याय)

अर्थात् बालकों को रोग उत्पन्न हो तो धात्री का ही शोधन करना चाहिए। यहां धात्री शब्द से मां अथवा बालकों को स्तनपान कराने वाली दाई माँ ऐसा अर्थ होता है। यह सूत्र स्तन्यप अर्थात् माँ के दूध पर रहने वाले बालकों के लिये यानी १ मास से ७-८ मास तक के उम्र के बालकों के लिये हैं। साधारणतः बालकों को इस उम्र में दुष्ट स्तनपान के द्वारा रोग होते हैं। अतः धात्री का शोधन महत्त्व रखता है। आगे फिर से कहते हैं—

उभयोस्तु गदाः मम्यक् शोधनं कुरूते भिषग्।
तदारोग्यं भवत्याशु शिशोर्सेश्वा यथाश्मनि।।
दोषाणामाशयो धात्री भूधरा सरितामिव।।

अर्थात् दोनों के रोग में जो वैद्य शोधन करता हैं। उसी शिशु को तुर्त आरोग्य की प्राप्ति होती है। यह पत्थर पर लकीर की तरह शाश्वत सत्य बात है। दोषों का आश्रय स्थान बालकों में धात्री है, जैसे नदियों का आश्रय स्थान पर्वत होता है।

वमन विरेचन के बाद्र पेयादि क्रम-चरकादि सभी आचार्यों ने प्रवर-मध्य-अवर क्रम से ३, २ और १ अन्नकाल में देने का विधान दिया है।

अरुणदत्त ने खरनाद संहिता का एक संदर्भ दिया है— और उत्तम, मध्यम शोधन में ३ या २ अन्न क्रम और कनीयसी (अवर) शोधन में १ अन्न काल में पेयादि क्रम बनाया है।

''**खरनादे प्युक्तम्**— 'विरेके वमने श्रेष्ठे पेयादीनां क्रियाक्रमः। त्रिशो द्विशो मध्य में स्यादेकशश्च कनीयसी।'' यहां प्रवर के लिये श्रेष्ठ शब्द का उपयोग किया है। खरनाद संहिता के अनेक उद्धरणों के हेमाद्रि भी टीका में निर्दिष्ट करते हैं। उसे 'खारणादि' या 'खारण संहिता' नाम से उद्धृत किया गया है। खरनाद ने द्रव्यगुण, रसशास्त्र, शरीर, चिकित्सा पंचकर्म इत्यादि सभी विषयों में लिखा है क्योंकि उनके तत्तद मत संहिता में टीका में दिये गये हैं। दुर्भाग्य से यह संहिता अप्राप्य है।

वमन विरेचन देने पर उचित शोधन न हो तब क्या करे ? — कई बार वमन औषधि से विरेचन होता है और विरेचन औषधि से वमन होता है। अथवा दोनों भी क्रियाएं नहीं होती। इसे हीनयोग में लिया गया है। यह क्यों होता हैं, इसकी विषद चर्चा ग्रंथ में की गई है। ऐसी अवस्था में पुनः शोधन करने का निर्देश दिया गया है। पहली बार क्या गलती हुई थी इसका (अतिक्रम) चिंतन कर उस भूल का सुधार करना चाहिये। यह 'स्मरन्पूर्व अतिक्रमम्' रिसर्च का तरीका ग्रंथकार बताते हैं। पुनः इसमें भी अष्टांग संग्रह के कुछ प्रतीयों में और अलग प्रकार के निर्देश के श्लोक मिलते हैं जो हेमाद्रि ने टीका में दिये हैं। वे इस प्रकार हैं—

ऊर्ध्वाधो रेचनं युक्तं वैपरीत्येन जायते।
यदा तदा च्छर्दयतः सिचेतुष्मेथ वारिणा।।
पादौ शीतेन चोर्ध्वांगां विपरीतं विरेचने।
(पीते प्रस्कंदिते दोषाननिर्हत्य जगं गते।।
वमिते चौषधे सम्यक् पाययेत न तं पुनः।

मंदाग्निं बहु दोषं तु दृढ़ स्नेह गुणाशयम्।।
दुःशुद्धं तदह र्भुक्तं श्वो भूयः पाययेत् पुनः।।)

अर्थात् वमन अथवा विरेचन औषधि जब विपरीत प्रकार का शोधन करती है— (वमन से विरेचन और विरेचन से वमन प्रवृत्ति) तब वमन होने के बाद सिर पर ठंडे पानी से और पांव पर गरम पानी से सिंचन करे। यदि विरेचन होता हो तो पांव को पांवों को, ठंडे जल से और शिर को गरम जल से सिंचन करें। यदि प्रस्कंदन (यह शब्द विरेचन वाचक है) पिलाने पर औषधि जीर्ण होती है, वमन औषधि भी जीर्ण हो जाती है तब फिर से उसी समय शोधन न करे। जिसका अग्नि मंद हो, जो आतुर, दुर्बल हो, दोष अधिक बलवान हों और स्नेहाशय (आमाशय) बहुत क्रूर हो—उसे उस दिन भोजन कराकर दूसरे दिन फिर शोधनौषध देना चाहिये। क्योंकि इन्हें दोषों का यदि निर्हरण न किया जाये तो वे चिरकाल तक रोगी को कष्ट देते हैं या मार डालते हैं। (क्लेश संति चिरं ते हि हल्यु वैंनम निर्हताः।। (अ. हृ. सू. १८)

अष्टांग संग्रह ने औषधि तीक्ष्ण अथवा मृदु कैसी बनती है इसका विवेचन करते हुए कहा है कि— जो उचित देश में उचित काल में पैदा होती है। जल, अग्नि और कीटकृमि से प्रभावित नहीं होती, जो नई हो, मात्रा में अधिक दी गई हो, समानवीर्य युक्त द्रव्यों से जिसे भावना दी गई हो और रोगी को सम्यक् स्नेहन स्वेदन किया गया हो तो वह औषधि तीक्ष्ण हो जाती है। इसके विपरीत गुण वाली औषधि मृदु या मंद हो जाती है। व्याधि भी तीव्र, मध्य और मृदु ऐसे तीन प्रकार के होते हैं, इसमें बल को देखकर औषध प्रयुक्त करे। तीक्ष्ण में मृदु अथवा मध्योपध सात्म्य होकर जीर्ण होता है। इसलिये वमन या विरेचन औषध सात्म्य हो जाए ऐसी योजना न करे।

(अष्टांग संग्रह सू. अ. २७)

मृदु व्याधि लक्षणों में अति तीक्ष्णौषधि अत्यंत वमक या विरेचन करेगी। काश्यप कहते हैं—

यदा तु पितं रक्तं वा पुरीषं मिश्र मेव वा।
नमत्यविरसं शूली न सिद्ध्यति कुर्वतः।।

(त्रिलक्षणा सिद्धि अध्याय)

वमन में जब पित्त, रक्त और पुरीष की प्रवृत्ति होती है तब वह उपद्रव युक्त आतुर चिकित्सा करने पर भी सिद्ध नहीं हो सकता।

बस्ति विज्ञान विषय में— इस ग्रंथ में पृष्ठ ३४४ से ४४४ तक बस्ति विषय का अत्यंत विशद वर्णन किया गया है। काश्यप ने बस्ति विषय में 'चतुर्भद्र कल्प' दिया है। यह संख्या के विषय पर आधारित है।

चत्वारो बस्तयः पूर्वमंते चत्वार एव च।
तयोरास्थापनं मध्ये कल्पः सोऽयं निरत्ययः।।
द्वि स्त्रिवार्थ वशादेष क्तियमाणः सुखावहः।।

(बस्ति विशेषणीय अध्याय)

अर्थात् प्रथम चार अनुवासन बस्ति और अंतिम चार अनुवासन बस्तियां देकर बीच में चार निरूह या आस्थापन बस्ति दे। इस क्रम को चतुर्भद्र कल्प कहते हैं। अर्थवशात् याने अपनी-अपनी आर्थिक क्षमता देख कर यह क्रम २ बार या ३ बार किया जा सकता है।

बालकों के लिये वस्तुपयोगी शिशुस्नेह— काश्यप ने बालकों के व्याधियों में बस्ति देने के लिये विशिष्ट तैल की निर्माण विधि दी है, उस तैल को 'शिशु स्नेह' कहा गया है। इसकी विधि निम्नलिखित प्रकार की हैं—

त्रिफला, अश्वगंधा, भूतिक, दशमूल, पुनर्नवा, बला, गोक्षूर, खस, ... (इसके बाद कुछ द्रव्य छूट गये हैं। संभवतः दो-तीन होंगे। संहिता खंडित होने के कारण।) — लेकर उनको कूट कर चूर्ण बनाए। इस स्थूल चूर्ण में १ द्रोण जल (२०४८ तोला) डालकर पकावे। एक अष्टमांश भाग (२५६ तोला) शेष रहने पर उतार ले। फिर २ प्रस्थ तैल (१ प्रस्थ ६४ तोला × २ = १२८ तोला) डाले। २ प्रस्थ घृत-डाले, अब इसमें कुल के (१२८ तेल + १२८ घृत + २५६ क्वाथ = ५१२ × ४ = २०४८ तोला) चार गुना २०४८ तोला दूध डाले और निम्नांकित कल्क द्रव्य का मिश्रण डाले। सैंधव, यष्टीमधु, द्राक्षा, सौंफ, महा-सहा (माषपर्णी), कौंच के बीज, ककड़ी के बीज, विडंग, वचा, वासा, चांगेरी, जीवनीय गण की औषधियां, खरबूस (मरुवक) इनका समान भाग कल्क डालकर पकावे। इसे स्नेहासीक्त यानी २५६ तोला रहे तब तक पकावे। यह 'शिशु तैल' है। बालकों के बस्ति के लिये यह अत्यंत उत्तम तैल है, ऐसा काश्यप कहते हैं।

मंगल सिद्धि अध्याय

बस्ति व्याख्या विषय में— अनुवासन तथा आस्थापन दोनों की व्याख्या में पीछे कहा गया था कि जो—अंदर रहने पर भी (अनुवसन् अपि न दुष्यति) कोई दोष उत्पन्न नहीं करती वह अनुवसन बस्ति और आस्थापन-जो आयु की स्थापना करती या दोषों की स्थापना (दोषों की समतुला) करती है (तद्वयः स्थापनात् दोष स्थापनाद् वा आस्थापन मिति उच्यते-अ. सं.) उसे आस्थापन कहते हैं। निरूह के व्याख्या में शरीर का आरोहण (धातु वृद्धि) करने से, दोषों का निर्हरण करने से, अचिंत्य प्रभाव से अथवा इसमें ऊहा संभव न होने से (विवाद्य न होने से—न ऊहा-निरूह ?) इसे निरूह कहते है। (शरीर रोहणाद् दोष निर्हरणाद् अचिंत्य प्रभावात्तया वाऽस्मिन्नूहा संभवा वान्निरूह इति— अ. सं.)— इस तरह तीनों की व्याख्या कही थी। अष्टांग हृदय के टीकाकार हेमाद्रि ने अनुवासन की, एक और व्याख्या की है वह इस प्रकार है—

यतश्चासौ अनुवसन्नपि न दुष्यति अनुवासनपि वा दीयते इत्यनुवासनम्। वासनम्-भोजनं।

अर्थात् जो वासन भोजन के बाद दी जाती है वह अनुवासन बस्ति। वासन याने भोजन— उसके अनु— याने पीछे जो दी जाती है।

उत्तर बस्ति के बारे में हेमाद्रि ने एक और बात स्पष्ट की है। ''उत्तर बस्ति रपि स्नेहोऽनुवासनवत् शोधनों निरूह वदपि च केचिदाहुः।'' अर्थात् उत्तर बस्ति भी स्नेह द्वारा अनुवासन के समान तथा निरूह की जैसी शोधन प्रकार से की जाती है ऐसा कोई (विद्वान)

कहते हैं। यहां किसी अज्ञात विद्वान का मत देकर निरूह—यानि क्वाथ प्रकार की बस्ति, उत्तर बस्ति में देने का विधान दिया है। ग्रंथ में निरूह उत्तर बस्ति विधान है— पर यहां हेमाद्रि ने 'निरूह वदपि' ऐसा कह कर एकीय मत दिया है जिससे अर्थापाति द्वारा उत्तर बस्ति में क्वाथ-निरूह देना बहुत उचित नहीं है ऐसा अर्थ निकलता है। इस ग्रंथ में हमने उत्तर बस्ति में क्वाथ देना बहुत उचित नहीं है और वह भयजनक है ऐसा मत व्यक्त किया था उसकी पुष्टि ही होती है।

बस्तिनेत्र निर्माण में खरनाद संहिता का योगदान

खरनाद या खारण के अनेक उद्धरण टीका में चक्रपाणि-अरुणदत्त और हेमाद्रि द्वारा दिये गये हैं। यह संहिता पर्याप्त प्राचीन और मान्यता प्राप्त होगी यह निःसंशय प्रतीत होता है। अन्यथा चक्रपाणि-अरुणदत्त या हेमाद्रि सदृश विद्वान टीकाकार उसका संदर्भ अपने समर्थन में न देते। खरनाद का संदर्भ इस प्रकार है—

बस्ति नेत्र मृजु श्लक्ष्ण सुवृतं गुलिका मुखं।
भवेद् गोपुच्छ संस्थानं सुप्रवाहं त्रिकर्णिकम्।।
या त्रिभाग प्रणयने मर्यादा कर्णिका भवेत्।
द्वे कार्णिके चोपरिष्ठाद् बस्त्याधारे यथां तरे।।
स्वांगुष्ठक परीणाह मूलं नेत्रस्य शस्यते।
मध्यं त्वनामिका तुल्यमग्रं तुल्य कनिष्ठक।।
स्वेनांगुलि प्रमाणे न दैर्ध्य स्याववद्वादशांगुलं।
कर्कंधु प्रवहं छिद्रं श्रेष्ठ मन्यद्यथा वयः।।
विंशद् द्वादश षड्वर्षे द्वादशाष्ट षड्गुलं।।
कर्कं धुक सतोनाग्र मुग्द छिद्र वहं स्मृतम्।। इति ।।

इस वर्णन में चरक वाग्भट के तुल्य वर्णन होने से इसका पुनः स्पष्टीकरण नहीं किया जाता।

स्नेह बस्ति हमेशा भोजन के बाद ही देनी चाहिये। स्नेह बस्ति का प्रकार मात्रा बस्ति निरापद और किसी को भी किसी भी काल में दी जाती है। फिर भी अजीर्णी को मात्रा बस्ति देने का निषेध है। अष्टांग संग्रह में इस विषय में कहा है—

तस्य भेदो मात्रा बस्तिः। स पेय स्नेह हस्द मात्रा तुल्यः, सेध्यः सदात्र माधु तौलिक वत्। बाल वृद्धाध्व भार यान व्यायाम चिंता-स्त्री नित्य नृपैश्वर सुकुमार दुर्बला निल भग्नल्पाग्निभिर्निष्परिहारतया सुखो बल्यो वर्ण्यः सृष्ट मलो दोषघ्नश्च। तथापि तौ नाजीर्णे योज्यो। ग च दिवा स्वप्न स्तयोः सेभ्यः।।

अर्थात् स्नेह बस्ति का भेद मात्रा बस्ति है। वह ह्रस्व स्नेह मात्रा के प्रमाण में दी जाती है। वह सदा सर्व काल की जा सकती है। जैसे माधुतैलिक बस्ति सदा दी जाती है। बालक, वृद्ध, भारवहन से श्रांत, व्यायाम से श्रांत, चिंता से थके हुए, नित्य स्त्री सेवन करने वाले, राजाओं, सुकुमार लोक, दुर्बल लोक, वात पीड़ित, भग्न पीड़ित, मंदाग्नि वाले, सभीयों को कोई परहेज (पथ्य) के बिना इसका प्रयोग किया जा सकता है। यह

सुखकारक है, बल उत्पादक है, वर्ण प्रसादन करने वाली है, मन को सर्षन करती है और दोष नाशक है। फिर भी जिसे अजीर्ण हुआ हो उसे नहीं देनी चाहिये, और जो दिन में सोकर उठा हो उसे भी नहीं देनी चाहिये।

स्नेह बस्ति अभुक्त में क्यों न दे ? — अभुक्त अर्थात् जिसने भोजन न किया हो उसे स्नेहबस्ति न देने का विधान है। देने से वह ऊर्ध्वमार्ग में प्रवृत्त होकर वमन कराती है यह पहले देखा गया है। उसी तरह भुक्तवान को निरूह देने से बस्ति अन्नावृत हो जाती है। इस विषय में अष्टांग संग्रह में शारीर क्रिया (Physological action) का बहुत सुंदर वर्णन किया है। वह इस प्रकार है—

''अभुक्ते रिक्त कोष्ठस्य प्रयुक्तमनु वासनम्।
सरदूरग सूक्ष्मत्वैः क्षिप्रमूर्ध्वं प्रपद्यते।।
तेन वायोर्जयो न स्यात् वातघामन्यतिष्ठता।
कायाग्ने राशु नाशस्तु विशेषादतिवर्तिना।।
स्नेहः सद्योऽसिताहाररुद्धे चामाशयेऽनिलम्।
पक्वस्थं हंति पक्ववस्थश्चवते चान्नपाकतः।।
निरूहश्च समीरश्च तीक्ष्णवेगावुभावपि।
तावन्नमूर्चच्छितौ तीक्ष्णाऽवधोऽन्नेन सहा गतौ।।
ऊर्ध्व वा शकृता सार्द्ध संस्थितौ कोष्ठ एव वा।
समलाहारविष्टवधौ हरेतामाशु जीवितम्।।
भुक्तवाननु वास्योऽस्मान्न निरूहयोग भुक्तवान।।''

अर्थात्—भोजन न किये हुए का कोष्ठ रिक्त होता है। ऐसी अवस्था में अनुवासन देने पर उनके (स्नेह के) सर, दुरग (दूरं गच्छति इति दूरगः)— दूर जाने के स्वभाव से, सूक्ष्मत्व से (सूक्ष्मस्तु सौक्ष्म्यात् स्रोतस्वनुचरः स्मृतः) तुर्त ही ऊपर के मार्ग में (आमाशय की ओर) आ जाती है। इसलिये वात को जीत नहीं सकती क्योंकि वह वात के स्थान में (पक्वाशय में) ठहर नहीं सकती। ऊपर (आमाशय-ग्रहणी-अग्निस्थान) आने से कायाग्नि को तुर्त नष्ट करती है। क्योंकि अतिवर्ति (अधिक स्नेह) स्नेह अग्नि नाशक होता है। भोजन के बाद तुर्त देने पर आमाशय में अन्न होने से रास्ता अवरूद्ध होने से वह पक्वाशय में ही रहती है, वहां वात का स्थान होने से वात का नाश करती है और मल का चवन कराती है। निरूह बस्ति और वात दोष दोनों को तीक्ष्ण वेग ही कहा है— जिससे भोजन के बाद अन्न के साथ वह मूर्च्छित होती है— और अन्न को लेकर नीचे उतरती है, अथवा मल को लेकर ऊर्ध्व में (आमाशय में) रह जाती है। मल और अन्न के साथ स्तंभ होकर (अलसक) मृत्युकारक हो जाती है। इस कारण से अनुवासन हमेशा भोजन के बाद और निरूह हमेशा भोजन के बिना देना चाहिये।

भोजन कैसा हो और कैसा न हो इसके नियम पृष्ठ ३९२ पर दिये हैं। अष्टांग संग्रहकार ने इसमें कुछ परिवृद्धि की है— वह इस तरह—

''अति स्निग्धाशिनोहयुयम मार्ग संसर्गात् स्नेहो मदमूर्च्छाग्नि—

साद हृल्लासान् जनयति। रुक्षाशिनो
विष्टंभं बलवर्ण हानिं च अल्पमात्र द्रवाशिनो विसृष्ट-
विण्मूत्रस्य चानावृतो न तदावरणाद्वयापदम्। चिर–
मशितवतो विदाहाभिमुख भक्तस्य ज्वरं कुर्यात्।''

अर्थात् अति स्निग्ध भोजन करने (के बाद की बस्ति) उभयमार्ग, संसर्ग से स्नेह बस्ति मद, मूर्च्छा, अग्निमांद्य, हृल्लास उत्पन्न करती है। रुक्ष भोजन करने पर विष्टंभ कर बल, वर्ण का नाश करती है। अल्प और द्रव भोजन करने से दी हुई बस्ति बिना आवरण की गुणवान होती है। बहुत देर तक खाने पर (अधिक खाने पर) भोजन का विदग्ध पाक होकर ज्वर उत्पन्न होता है।

नस्य विषय में— काश्यप संहिता में नस्य के विषय में निम्नलिखित श्लोक मिलते हैं—

''बृंहण कर्शनं चैव द्विविध नस्य कर्म तु।
बृंहणं वातरुक् प्राये कफाधिक्ये तु कर्शनम्।।
त्रिलक्षणासिद्धि अध्याय
शोधनं पूरणं चैव द्विविधं नस्य मुच्यते।
नस्य कर्मणि बालानां स्तन्यपानां विशेषतः।
कटुतैलं प्रयुंजीत घृतं वा सैंधवान्वितम्।।
नस्तकर्मीय सिद्धि अध्याय

अर्थात् बृहण और कर्शन ऐसे नस्य के दो प्रकार है। वातजन्य रुजाओं (रोगों) में बृंहण और कफ जन्य अथवा कफाधिक रोगो में कर्शन नस्य देवे। नस्तकर्मीय सिद्धि अध्याय में शोधन और पूरण प्रकार से दो नस्य प्रकार दिये हैं। बालकों को नस्य देने के कटु तैल (सरसू का तैल) का प्रयोग अथवा सेंधव मिश्रित घी का प्रयोग करें। खास करके जो स्तन्यप-स्तनपान करनेवाले बालक हैं उनमें वह विशेष हितकर है।

पंचकर्म पश्चात्कर्म

पंचकर्म के बाद जो पश्चात् कर्म है उसका विशद वर्णन इस ग्रंथ में किया है। पेयादि संसर्जन क्रम, शमनोषध प्रयोग और रसायन ये मुख्य कर्म बाद में किये जाते हैं। इसमें संसर्जन क्रम ग्रंथ में दिया है। शमन औषध तत्तद रोगानुसार करना होता है। रसायन सेवन यह एक मुख्य पश्चात्कर्म है। रसायन के लिये ही विशेष कर पूर्ण पंचकर्म शुद्धि करना अभिष्ट होता है। रसायन विज्ञान के ऊपर अनेक ग्रंथ लिखे गये हैं। फिर भी पंचकर्म को ध्यान में रखकर यहां अतिसंक्षिप्त नोंद दी जाती है।

रसायन सेवन—रसायन तथा वाजीकरण ये आयुर्वेद शास्त्र के विशिष्ट विषय है। आदि काल से मनुष्य का स्वभाव दीर्घजीवन और स्वस्थ जीवन प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील रहा है। चरकादि संहिताओं में इस विषय पर खास अध्याय लिखे गये हैं। चरक ने चिकित्सा स्थान का प्रथम अध्याय रसायन पर ही लिखा है जिसमें ४ पाद स्वरूप उप-अध्याय है। वे उप-अध्याय इस प्रकार के हैं— (१) अभयामलकीय रसायन पाद—जिसमें हरीतकी

T.M.I. & R.C.S.
LIBRARY
Ayurvedic Medical College, Kharghar

और आमलकी के रसायनों का वर्णन है। (२) प्राणकामीय रसायन पाद—जिसमें प्राण की कामना करने वालों के लिये रसायन कहें गये हैं— जिसमें वृद्धत्व का दूर रखने के लिये, निद्रा, तंद्रा, श्रम अशक्ति इत्यादि को दूर करने के उपाय है। (३) कर प्राचीतीय रसायन पाद—इसमें अपने हाथों से वृक्ष के ऊपर से आंवले को निकाल कर सेवन करने की विधि और उसका फल बताया है। (४) आयुर्वेद समुत्थानीय रसायन पाद— आयुर्वेद उत्थान के लिये, जमदग्नि, अंगिरा, अगस्ति इत्यादि ऋषियों को उनके जरादि रोगों के लिये ब्रह्मसुवर्चलादि जिन दिव्यौषधियों का ज्ञान दिया उसका वर्णन है।

सुश्रुत ने भी चिकित्सा स्थान के २७ से ३० तक अध्यायों में रसायन का वर्णन दिया है। जिसमें (१) सर्वोपद्यात शमनीय रसायन (२) मेधायुष्कामीय रसायन (३) स्वभाव व्याधि प्रतिषेधीय रसायन तथा (४) निवृत्त संतापीय रसायनों का वर्मन है। प्रथम अध्याय में सभी व्याधिओं के शमन करने वाले रसायन, दूसरे मेधाशक्ति और आयुष्य बढ़ाने वाले रसायन, तीसरे अध्याय में स्वभावजन्य रोग निद्रा, क्षुधा, तृष्णा, जरादि को दूर करने वाले रसायन, और चौथे में ज्वरादि शारीरिक तथा काम क्रोधादि मानसिक व्याधि को दूर करने वाले रसायनों का वर्णन है।

रसायन क्या है ? — जो औषधि स्वस्थ व्यक्ति के लिये उर्जा बढ़ाने वाली होती है उसे रसायन कहते हैं।

''स्वस्थस्योर्जस्करं यत्तु तद् वृष्यं तद् रसायनं।
प्रायः प्रायेण रोगाणां द्वितीयं प्रशमे गतम्।।'' च. चि. १-१-५

रसायन स्वस्थ पुरुषों की शक्ति बढ़ाने वाला होता है लेकिन रोगहरत्व उसमें नहीं होता ऐसा नहीं है। अतः प्रायः शब्द जोड़ दिया है। रसायन औषधि रोगहर हो सकती है लेकिन प्रत्येक रोगहर औषधि रसायन होगी ऐसा नहीं है। डल्हण ने रसायन की व्याख्या स्पष्ट करते हुए कहा है— जो रसधातु का पोषण करे, अथवा औषध में रहने वाले रस, वीर्य, विपाक, प्रभाव, वयस्थापन, धातुस्थैर्य कर भावों को प्राप्त करने वाले जो उपाय है उसे रसायन कहते हैं।

रसायन के गुणकर्म— रसायन द्वारा दीर्घायु तथा अनेक गुणों की प्राप्ति होती है। कहा है—

दीर्घमायुः स्मृतिर्मेधामारोग्यं तरुणं वयः।
प्रभावर्ण स्वरौदार्य देहेंद्रिय बल परं।।
वाक्सिद्धिं प्रणतिं कांतिं लभते ना रसायनात्।
लाभोपायोहि शस्तानां रसायनीनां रसायनं।।

च. चि. १-१-७, ८

अर्थात् रसायन चिकित्सा से दीर्घायु प्राप्ति होती है। स्मरण शक्ति की वृद्धि होती है, शरीर तथा इंद्रियों का बल बढ़ता है, मनुष्य का आरोग्य तथा तारुण्य कायम रहता है, प्रभा, वर्ण, स्वर को बढ़ाता है। वाक् सिद्धि प्राप्त होती है, शरीर की तेजस्विता बढ़ती है। रसादि धातुओं की वृद्धि होती है।

रसायनोपयोगी द्रव्य— रसायन के लिये अनेक द्रव्यों का प्रयोग वर्णित है। जो निम्नांकित है।

१. आमलकी	२. हरीतकी	३. बिभीतक
४. त्रिफला (तीनों का संयुक्त कल्प)	५. पिप्पली	६. भिलावा
७. विडंग	८. बला-अतिबला	९. शंखपुष्पी
१०. ब्राह्मी	११. विदारी गंधा	१२. शतावरी
१३. अश्वगंधा	१४. जीवंती	१५. वचा
१६. ब्रह्म सुवर्चला	१७. ऐंद्री	१८. सुवर्ण क्षीरा
१९. सूर्य मंडला	२०. काष्ठ गोधा	२१. सर्पा
२२. छत्रा	२३. अतिछत्रा	२४. सोमवल्ली— ये १६ से २४ तक संदिग्ध दिव्यौषधियां हैं।
२५. लौह	२६. सुवर्ण	२७. रजत
२८. शिलाजतु	२९. सुवर्ण माक्षिक	३०. दूध, जल, मद्य, घृत इत्यादि।

अनात्मवान (मन चयन हो ऐसा), आलसी, दारिद्री, प्रमादी, व्यसनी, पापी, भेषजावमानी लोगों को रसायन नहीं देना चाहिये।

प्रकार— कुटि प्रावेशिक और वातातपिक भेद से रसायन दो प्रकार के हैं। कुटि विशिष्ट प्रकार के ऊँचाई, लंबाई, गोलाई के माप से बनाई जाती है जिसमें पंचकर्म से शरीर शुद्धि कराकर आतुर को सम्पूर्ण काल उसी में रह कर रसायन सेवन करना होता है। ब्रह्मचर्य पालन और बाह्य वातावरण से सम्पूर्ण पृथक् रहकर अत्यंत पथ्य भोजन के साथ रसायन सेवन करना होता है।

कुटि प्रावेशिक रसायन काल १ मास, २ मास या वैद्य के निर्देश के अनुसार अधिक भी हो सकता है।

वातातपिक रसायन यानि जो भी जिस समय का ऋतु हो उसी में रहकर लेने योग्य रसायन। इसमें बहुत अधिक पथ्य और नियमों का बंधन नहीं होता। अतः अधिकतर वैद्य इसका ही प्रयोग करते हैं। फिर भी कुटि प्रावेशिक रसायन अधिक श्रेष्ठ माना गया है।

''तयोः श्रेष्ठतरः पूर्वो विधिः स तु सुदुष्करः।।'' च. चि. १-४-२८

डल्हण ने चरक सुश्रुत के पाठ को संयुक्त कर १. काम्य रसायन, २. नैमित्तिक रसायन, और ३. आजस्त्रिक रसायन ऐसे ३ भेद किये हैं। प्राणकामीय, मेधा कामीय, आयुष्कामीय, श्री कामीय इत्यादि का समावेश प्राण कामीय में किया गया है। नैमित्तिक रसायन में रोग नाश करने की दवा—शिलाजतु-भल्लातक इत्यादि का समावेश किया है और आजस्त्रिक रसायन में दूध, घृत, मध इत्यादि का समावेश है।

जल, दूध, मध और घी के निम्नांकित संयोग डल्हण ने रसायन के लिये उद्धृत किये हैं—

१. केवल ठंडा पानी (शीतोदक)
२. केवल दूध

4073
I.M.T. & R.C.S.
LIBRARY
केवल घी
केवल मध
4073
Ayurvedic Medical College, Kharkhar

६. जल + दूध का मिश्रण
६. जल और मध का मिश्रण
७. जल और घी
८. दूध और मध का मिश्रण
९. दूध और घी का मिश्रण
१०. मध और घृत का मिश्रण
११. जल + दूध + घृत का मिश्रण
१२. जल + दूध + मध का मिश्रण
१३. दूध + मध + घृत का मिश्रण
१४. जल + मध + घृत का मिश्रण

डल्हण ने संशोधन और संशमन प्रकार से दो भेद भी वर्णित किये हैं। नागबलादि रसायन संशमन के उदाहरण हैं।

रसादि धातु के लिये निम्नोक्त रसायन प्रशस्त है—

१. रस धातु के लिये—शतावरी, बला, पिप्पली
२. रक्त धातु के लिये—लौह, सुवर्ण माक्षिक, आमलकी, इत्यादि
३. मांस धातु के लिये—मांसरस, शतावरी, अश्वगंधा, इत्यादि
४. मेदो धातु के लिये—शिलाजतु, अश्वगंधा
५. अस्थि धातु के लिये—अजास्थि, गुग्गुलु
६. मज्जा धातु के लिये—मेध्य, रसायन, शंख, पुष्पी, ब्राह्मी
७. शुक्र धातु के लिये—आत्मगुप्ता, अश्वगंधादि, वृष्य योग
८. कफ संशमन—भल्लातक, पिप्पली, त्रिफला
९. पित्त संशमन—आमलकी, शतावरी, अमृता
१०. वात संशमन—पिप्पली, अश्वगंधा, सुवर्ण योग इत्यादि

चरक संहिता में ब्राह्म रसायन, च्यवनप्राश, विडंगावलेह, भल्लातक रसायन, पिप्पली रसायन, बला, शतावरी इत्यादि के रसायनों के अनेक कल्प दिये हैं, वे वहां से देख लेना चाहिये।

पंचकर्म चिकित्सा के बाद ही रसायन चिकित्सा अधिक फलप्रद होती है यह पहले स्पष्ट किया ही है।

इस तरह रसायन विधि का संक्षेप है। पंचकर्म विज्ञान में विषय प्रवेश से लेकर पश्चात्कर्म तक जो कुछ महत्त्व की बातें अवशिष्ट थी उसका यहां 'परिशिष्ट' में संक्षेप से उल्लेख किया है।

परिशिष्ट सम्पूर्ण:

बैद्यनाथ की उपलब्ध पुस्तकें

"बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन

आयुर्वेद-सारसंग्रह

पं. वेणी प्रसाद वैद्य

रस-भस्मों की सेवन विधि

वैद्यराज पं. रामनारायण शर्मा

आरोग्य प्रकाश

वैद्यराज हकीम दलजीत सिंह

यूनानी-चिकित्सा सार

यूनानी सिद्धयोग संग्रह

वैद्य रणजितराय देसाई

आयुर्वेदीय क्रिया शरीर

आयुर्वेदीय हितोपदेश:

वैद्य हरीदास श्रीधर कस्तुरे

आयुर्वेदीय पंचकर्म विज्ञान

यादवजी त्रिकमजी आचार्य

सिद्धयोग संग्रह

Y.M.T. & R.C.S.
LIBRARY
Homoeopathic Medical College, Kharghar

वैद्य श्री दुर्गाप्रसाद शर्मा

वनौषधि शतक

Baidyanath Medicines Health Guide

Therapeutic Guide to Ayurvedic Medicine

औषध सेवन विधि

रवीन्द्र शास्त्री आयुर्वेदाचार्य

किशोर रक्षा और ब्रह्मचर्य

उपचार पद्धति और पथ्य

पं. विश्वनाथ जी द्विवेदी

वैद्य सहचर

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

मोटापन कम करने के उपाय

डॉ. लक्ष्मीनारायण शर्मा

यौवन-विज्ञान पर नया प्रकाश

डॉ. लक्ष्मीकान्त

शरीर क्रिया विज्ञान एवं सामुदायिक स्वास्थ्य
आरोग्य विज्ञान तथा जन-स्वास्थ्य